

क्या बालू की भीत पर खड़ा है

हिंदू धर्म ?

डा. सुरेंद्र कुमार शर्मा 'अज्ञात'

क्या बालू की भीत पर खड़ा है

हिंदू धर्म?

डा. सुरेंद्र कुमार शर्मा 'अज्ञात'

विश्व बुक्स

ISBN: 978-81-7987-466-0
विप्र : 998.212
प्रकाशक एवं मुद्रक

एम-12, कनाट सरकस, नई दिल्ली-110001
सभी विवादों का निपटारा केवल दिल्ली की अदालतों में होगा.

● Hindi ● Indology ● Kya Balu Ki Bheet Par Khada Hai Hindu Dharm ● Dr. Surendra Kumar Sharma 'Ajnat'

Vishv Vijay Pvt.Ltd.
M-12, Connaught Circus, New Delhi-110001
Contact Office :
A-36, Site-IV, Sahibabad, Ghaziabad-201010, UP (INDIA)
Ph. +91-0120-4129946, 4111552, 4111553
e-mail : mybook@vishvbook.com: www.vishvbook.com
feedback@vishvbooks.org

समर्पण

तीन ऋणों में से ऋषि ऋण से अपने को उऋण करने हेतु मेरा यह तुच्छ प्रयास है और वेद के शब्दों में अपने शब्द मिला कर उन के लिए प्रणामांजलि प्रस्तुत है:

इदं नमः ऋषिभ्यः

पूर्वजूभ्यः

पूर्वेभ्यः

वर्तमानेभ्यः

उत्तरेभ्यः

पथिकृद्भ्यः

अर्थात उन ऋषियों को नमस्कार हो, जिन्होंने मानवता का पथ प्रशस्त किया, जो हमारे पूर्वज थे, जो पूर्वज न होते हुए भी हम से पहले आए हैं, जो वर्तमान में विद्यमान हैं तथा जो हमारे बाद भविष्य में होंगे.

विनीत

सुरेंद्र कुमार शर्मा 'अज्ञात'

कहां क्या है?

भूमिका

मैक्समूलर ने 1866 में भविष्यवाणी की थी कि मेरे ऋग्वेद के संस्करण के प्रकाशित होने के बाद पिछले तीन हजार वर्षों से चले आ रहे हिंदुओं के धर्म की जड़ उखड़ जाएगी और हिंदू शरीर के ही हिंदू रहेंगे, उन के दिलोदिमाग पश्चिमी ईसाई ढंग के हो जाएंगे.

मैक्समूलर साहब चले गए, परंतु हिंदू धर्म, अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद, अक्षुण्ण चलता जा रहा है. हिंदू धर्म का स्थान ईसाइयत नहीं ले सकी. सब पापड़ बेलने के बाद भी ईसाई भारत की जनसंख्या का मात्र 2.4 प्रतिशत हैं.

हिंदू धर्म एक विशाल, प्राचीन एवं बारामासी प्रवाह है, जिस के महासागरीय आयाम हैं. परंतु प्राचीनता अपनेआप में महानता नहीं होती, यदि वह असंवेदनशील हो गई हो, यदि वह जड़ीभूत हो गई हो, यदि वह अलाभकारी ही नहीं हानिकारक भी बन चली हो. तभी तो कई बार प्राचीन इमारतों को गिराना पड़ता है, उन के खुदबखुद गिर कर जानलेवा सिद्ध होने का खतरा जो बना रहता है.

तो क्या मैक्समूलर ठीक था! यदि वह ठीक होता तो हिंदू धर्म कब का खत्म हो गया होता. वस्तुतः हिंदू धर्म का विराट महाकाव्यात्मक स्वरूप किसी प्रश्न का उत्तर 'हां' या 'न' में देने की अनुमति नहीं देता.

मेरी दो पीढ़ियां हिंदू धर्म से सक्रिय रूप में जुड़ी हुई हैं. मेरे पिता शास्त्रार्थ महारथी पं. अमरनाथ शास्त्री 'प्रतिवादी भयंकर', सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा पंजाब (लाहौर) से संबद्ध रहे. वे त्यागमूर्ति पं. गोस्वामी गणेशदत्त जी के साथ धर्म प्रचार का काम करते रहे और आर्यसमाजियों से शास्त्रार्थ करते रहे. स्मरण रहे, उन के हाथों पराजित हो कर 1936 में फतहगढ़ चूडियां (पंजाब) में प्रसिद्ध आर्य समाजी विद्वान शास्त्रार्थ महारथी पं. मनसाराम ने 1875 के 'सत्यार्थ प्रकाश' को मंच पर ही आग लगा दी थी!

1971 में एम.ए. (संस्कृत) में विश्वविद्यालय में प्रथम रहने के बाद मैं हिंदू धर्म के विविध आयामों का अध्ययन करने में जुट गया और पिछले 35-36 वर्षों से यह क्रम निरंतर जारी है.

दो विचारधाराएं

पिता जी प्रचार करते रहे. हिंदू धर्म की सेवा का उन का तरीका था. उन के लिए

जो कुछ भी पुराना था, सही था, खरा सोना था. मैं ने भी उन का अनुसरण किया. उन के पुस्तकालय में हिंदू धर्म के मूल प्राचीन ग्रंथों के अतिरिक्त आर्य समाज के खंडनपरक और सनातनधर्म के मंडनपरक ग्रंथ भी थे. उन दोनों विचारधाराओं को आत्मसात करने पर मुझे लगा कि अनेक बातें आर्य समाज ठीक कह रहा है. हर पुरानी चीज ठीक नहीं है: 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्.' यदि ग्राह्य और त्याज्य का विवेक न किया गया तो परिणाम अच्छा नहीं होगा. आधुनिक विचारों के आलोक में इस सब का विश्लेषण होना चाहिए. प्राचीन काल में या मध्ययुगीन परिस्थितियों में जो बात चल सकती थी, आधुनिक वैज्ञानिक व मानवतावादी युग में उस का चल पाना लगभग असंभव है.

यह अहसास हिंदू मनीषा को वैसे 19वीं शताब्दी में ही होना शुरू हो गया था. राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, स्वामी विवेकानंद आदि विभूतियों ने अपनेअपने ढंग से और अपनीअपनी परिस्थितियों के अनुरूप आधुनिकता द्वारा प्रस्तुत चुनौतियों का प्रत्युत्तर देने का प्रयास किया था.

निंदा और स्तुति

कुल मिला कर वे हिंदू धर्म को अपनेअपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते रहे और उस के असुविधाजनक परंपरागत स्वरूप का कई तरह से सामना करते रहे–कभी किसी बात को 'प्रक्षेप' (बाद में विधर्मियों द्वारा जोड़ी गई) बताया गया, कभी शब्दों के अर्थों को बदलने का प्रयास किया गया, कभी एक प्रथा (सती प्रथा) को निंद्य घोषित किया गया तो कभी दूसरी (अस्पृश्यता) को. कई चीजों को सीधे भी उन्होंने त्याज्य घोषित किया. इसी तरह कई नई चीजों को शुरू किया गया तो कई नई चीजों को पुरानी चीजों का ही पुनरुद्धार बताया गया. विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा आदि की शुरुआत की गई.

यह प्रक्रिया निरंतर चलती है. समयसमय पर इस के विभिन्न आयाम उभरते हैं. मुझे लगा कि मैं हिंदू धर्म की सेवा कुछ इस ढंग से करूं ताकि इसे मानने वाला समाज वैज्ञानिक विचारधारा संपन्न, शक्तिशाली और सब तरह की हीन भावना से रहित हो कर विश्व में अपना अनुपम अस्तित्व ले कर अग्रसर हो सके. यह काम न तो एक व्यक्ति का है और न एक निश्चित समयावधि में संपन्न होने वाला है. फिर भी, यह सोच कर मैं इस में जुट गया कि कुछ न करने की अपेक्षा कुछ करना कहीं ज्यादा श्रेयस्कर है.

समयसमय पर एक सीमित अंश पर मैं अपना ध्यान केंद्रित करता रहा. उदाहरणार्थ, इतिहास को लिया जा सकता है. हम क्यों मुट्ठीभर हमलावरों के आगे घुटने टेकने के लिए विवश होते रहे? क्यों पिछले दोढाई हजार वर्षों में ज्यादा समय हम गुलाम ही बने रहे? क्यों शक, कुषाण, हूण, तुर्क, मुगल, पुर्तगाली, अंगरेज इस देश को साफ्ट टारगेट समझ कर यहां आते रहे और क्यों हम सदा साफ्ट स्टेट ही सिद्ध हुए? हम क्यों अपने मंदिरों, अपनी देवमूर्तियों आदि की सुरक्षा नहीं कर पाए? क्यों यहां के इनसानों–पुरुषों, स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों आदि–को गुलाम बना कर

हमलावर ले जाते रहे और उन्हें गजनी आदि के बाजारों में पशुओं की तरह बेचते रहे?

जब इस तरह के असुविधाजनक प्रश्न उठाए गए और उन के उत्तर ढूंढ़ने के प्रयत्न मैं ने 'सरिता' में प्रकाशित अपने लेखों में किए तो हिंदू समाज के एक बहुत बड़े वर्ग ने, विशेषतः नई पीढ़ी ने, उन का विशेष तौर पर स्वागत किया, क्योंकि उन्होंने उन के अंदर सोए पड़े हिंदुत्व को अंगड़ाई लेने के लिए विवश कर दिया था. वे अतीत की केंचुल उतार कर भविष्योन्मुख होने में गर्व महसूस करने लगे थे.

इन पंक्तियों का लेखक और इस पुस्तक के प्रकाशक दोनों सनातनधर्मी हैं. अथर्ववेद में कहा गया है:

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः

– **अथर्ववेद, 10/8/23.**

अर्थात वे उसे सनातन कहते हैं, जो आज भी सदा नवीकृत है.

इसी सनातन की बात बुद्ध भी करते हैं, जब वे धम्मपद में कहते हैं.

एस धम्मो सनन्तनो/एष धर्मः सनातनः

– **धम्मपद, यमकवग्गो, गाथा 5.**

अर्थात यह धर्म सनातन है.

स्पष्ट है कि वेद के अनुयायी हों या बुद्ध के–वे सब सनातनधर्मी हैं.

सनातन धर्म

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि चार्वाक दर्शन यद्यपि नास्तिक दर्शन है तथापि वह भी सनातनधर्मी है, क्योंकि प्राचीन दार्शनिक चर्चाओं में जैन और बौद्ध विद्वान अनेक स्थलों पर वैदिकों से कहते हैं कि 'तुम्हारे चार्वाकों ने' ऐसा कहा है: युष्मद्यूथिनः पठंति (स्याद्वाद मंजरी, श्लोक 11). किसी वैदिक विद्वान ने प्रत्युत्तर में न तो कभी यह कहा है कि चार्वाक हमारा नहीं है और न ही उन्होंने कभी जैनों या बौद्धों से 'तुम्हारे चार्वाकों ने' ऐसा कहा है.

सनातनधर्मी के लिए किसी डॉगमे को मानना जरूरी नहीं है. वह सनातनधर्मी परिवार में जन्मा हो, अपने को सनातनधर्मी मानता हो और सांख्य, वेदांत, न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्ध, चार्वाक, मीमांसा आदि किसी भी दर्शन को मानता हो, बस, उस के सनातनधर्मी होने के लिए पर्याप्त है. कोई मुसलमान, ईसाई या यहूदी न अपने को सनातनधर्मी कहता है, न उपर्युक्त दर्शनों में से किसी को मानता है और न सनातनधर्मी परिवार में जन्मा होता है. अतः हमारी सनातनधर्मी की परिभाषा न उस पर चरितार्थ होती है और न किसी परंपरागत सनातनधर्मी को नकारती है.

यह सनातनधर्मी समाज ही हिंदू समाज है, क्योंकि इस की विरासत एक समान है. इस विशाल समाज का यदि क्षय होता है तो हम सब मरते हैं. यदि आतंकवादी हिंदुओं को निशाना बनाते हैं तो कोई भी हिंदू उन का शिकार हो सकता है, चाहे उस की विचारधारा दूसरे हिंदू से इस या उस अर्थ में थोड़ी बहुत भिन्न ही क्यों न हो!

इस तरह स्पष्ट है कि हिंदू समाज के सदस्य के नाते हर हिंदू को अपने समाज की नियति भोगनी होगी. यदि हिंदू समाज कमजोर है, जातिपांति में बंटा हुआ है,

अंधविश्वासी है, विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है, आर्थिक दृष्टि से विपन्न है तो समाज के तौर पर हमारा कोई भविष्य नहीं है, हालांकि व्यक्तिगत तौर पर कुछ लोग अपवाद हो सकते हैं. लेकिन जब हम समाज की बात करते हैं, तब अपवादों की कोई प्रासंगिकता नहीं रह जाती.

यह ठीक है कि किसी भी समाज के सब सदस्य एक समान नहीं होते. परंतु समाज की नियति एक सी ही होती है. आतंकी घटनाएं आए दिन इस तथ्य को रेखांकित करती हैं. व्यक्तिगत तौर पर संभव है कुछ अपवाद रहे हों, परंतु इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि इस समाज की हैसियत इतिहास में वैसी ही रही है जैसी व्यायामशाला में टंगे रेत के उस बोरे की होती है, जिस पर कोई भी नौसिखिया मुक्केबाज धौल जमा कर चला जाता है. सिकंदर से ले कर अहमदशाह अब्दाली व नादिरशाह तक सब एक समाज के तौर पर हमें रौंदते चले गए हैं. अंगरेज, डच और फ्रांसीसी भी यही करते रहे हैं.

स्वस्थ समाज की रचना

अतः हमारा कल्याण तभी संभव है जब हम एक समाज के तौर पर स्वस्थ, सशक्त और प्रगतिशील हों. व्यक्तिगत तौर पर आप चाहे कुछ हों, उस से खास अंतर नहीं पड़ता. यदि सारा समाज अंधविश्वासों की दलदल में आकंठमग्न हो, यदि वह हास्यास्पद कुरीतियों का शिकार हो, यदि वह भाषावाद और प्रांतवाद के आधार पर बंटा हुआ हो, यदि जातिवाद के नाम पर विघटित हो चुका हो, यदि वह तर्कशीलता से कोसों दूर हो, यदि वैज्ञानिक विचारधारा उस के पास से न गुजरने पाती हो, तो आप की व्यक्तिगत उपलब्धि सामाजिक संदर्भों में कोई अर्थ नहीं रख सकती.

इतिहास के विभिन्न दौरों में व्यक्तिगत तौर पर हमारे यहां विद्वान भी थे, योद्धा भी थे और दूरदर्शी भी थे. परंतु वे हारों की दास्तान को एक कटु यथार्थ बनने से रोक पाने में एकदम असफल रहने के लिए मानो अभिशप्त थे, क्योंकि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता. वे समाज को वहीं का वहीं छोड़ कर खुद आगे बढ़ने का प्रयास करते रहे.

यही कारण है कि समाज के सुधार का, उस के नवनिर्माण का, उस की उन्नति का सारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में कहीं कोई धीमा सा स्वर भी नहीं सुनाई पड़ता. उलटे ऐसे स्वर जरूर सुनाई पड़ते हैं कि आम लोगों की बुद्धि में भेद मत पैदा करो, उन्हें अज्ञानियों की तरह कामों में उसी तरह लगे रहने दो जैसे वे पहले से लगे चले आ रहे हैं–(गीता 3/26). ऐसे में समाज के उत्थान व उद्धार की क्या कोई आशा बचती है?

कई दोस्तों का कहना है कि पिछले दिनों गणेशजी की मूर्तियों को दूध पिलाने का जो सामूहिक प्रयास हुआ था, वह समाज की सोई हुई सामूहिक चेतना को जगाने का ही एक प्रयास था. हमें ऐसे प्रयासों का समर्थन करना चाहिए.

इस बारे में हमारा मानना है कि इस तरह के क्षणिक प्रयास क्षणिक सामूहिकता तो पैदा करते हैं, परंतु वे सामूहिक चेतना जागृत नहीं कर सकते; क्योंकि जागृति से

इन का कोई संबंध ही नहीं है. ये तो अंधविश्वास को हवा दे कर जागे हुए को भी सुलाने की कोशिश करते हैं. इसीलिए न पिछले दिनों के दूध पिलाने से कुछ हुआ, न पिछले सालों में दूध पिलाने से. इस से हिंदू समाज दूसरों की नजरों में केवल हास्यास्पद ही बना है. जागृति के ऐसे विद्रूपों से समाज का सुधार नहीं हो सकता.

समाज की जागृति व सामूहिक चेतना के लिए हमें इस्राइल की ओर देखना होगा. उस समाज से हिंदू समाज बहुत कुछ सीख सकता है. जैसी सामूहिक चेतना, परस्पर एकजुटता और कुछ कर गुजरने की भावना उस समाज में दृष्टिगोचर होती है, वैसी यदि हमारे समाज में रही होती तो हमारा इतिहास कुछ दूसरा ही होता.

समाज की उपेक्षा

कुछ 'दोस्तों' ने सुझाव दिया है कि भाई आराम से प्रोफेसरी करो, समाज तो ऐसे ही रहेगा, इस के लिए चिंता करनी छोड़ो और जीवन का आनंद लो.

मुझे लगता है, जिस समाज में ऐसे मित्र हों, उसे दुश्मन ढूंढ़ने की जरूरत नहीं. यही घोर व्यक्तिवाद तो हमारे साथ हजारों सालों से चिपका हुआ है, यहां घर किए हुए है और घुन की तरह हमें अंदर से खाए जा रहा है. व्यक्तिगत मुक्ति/मोक्ष की प्राप्ति में एकएक आदमी लगा रहा, परंतु समाज के सामूहिक उत्थान की कभी किसी को सुध नहीं आई; जबकि वास्तविकता यह है कि यदि समाज स्वस्थ होगा तो व्यक्ति भी स्वस्थ होगा; यदि समाज सशक्त होगा तो व्यक्ति भी सशक्त होगा; परंतु यदि समाज कमजोर होगा तो व्यक्तिगत तौर पर तगड़ा व्यक्ति भी नहीं बचेगा.

अतः समाज के शक्तिशाली होने का अर्थ है: हर व्यक्ति का शक्तिशाली होना. व्यक्ति का प्रबुद्ध स्वार्थ इसी में है कि समाज शक्तिशाली, स्वस्थ और वर्चस्वी हो. इसीलिए हम हिंदू समाज को सब तरह से संपूर्ण देखना चाहते हैं, इस की बुराइयों को दूर करना चाहते हैं, इस का नवनिर्माण करना चाहते हैं, इसे सुधरे हुए रूप में देखना चाहते हैं. व्यक्ति तो आज है, कल नहीं, परंतु हिंदू समाज अक्षय वट के समान सनातन सा है. वह सदा है, सदा रहेगा. अतः इस की चिंता करना हमारा परम कर्त्तव्य है.

इस सुधारवादी अभियान को हर हिंदू की सहूलियत की अपेक्षा है. यह कुछ नेताओं या कुछ लोगों के नहीं, बल्कि समग्र समाज के सहभागी होने पर ही अपनी तार्किक परिणति तक सफलतापूर्वक पहुंच सकता है.

प्रस्तुत पुस्तक द्वारा उन सब हिंदू हितैषी लोगों का आह्वान किया जा रहा है जो इस विराट हिंदू समाज के सुधार में अभिरुचि रखते हैं. यह पुस्तक मेरी दशकों की साधना का परिणाम है. यह सुधार के अभिलाषी के लिए एक एजेंडा मात्र है. इस में प्राचीनतम ग्रंथ से शुरू कर के आधुनिक युग के ग्रंथों तक को खंगाला गया है, ताकि उन कमियों, बीमारियों, कुरीतियों आदि की प्रामाणिक निशानदेही की जा सके. मेरा मुख्य उद्देश्य समस्या को प्रस्तुत करना है, क्योंकि आज की परिस्थितियों में समाधान से भी बढ़ कर समस्या की निशानदेही, हो चुकी है.

जिस तरह का उदासीनतापूर्ण रवैया हमारी युवा पीढ़ी का और जिस तरह का व्यवहार धर्म के धंधेबाजों का देखने को मिल रहा है—उस सब के मद्देनजर हम कह

सकते हैं कि समाज की समस्याओं की घोर उपेक्षा हो रही है और भविष्य में यह और ज्यादा होगी. ये अच्छे आसार नहीं हैं, क्योंकि उपेक्षा और उदासीनता तो जानीदुश्मन से भी ज्यादा खतरनाक और जानलेवा होती हैं.

यदि समाज के भावी कर्णधार और कल के नेता—हमारा युवा वर्ग—इस उपेक्षा व उदासीनता से छुटकारा पा कर समाज के प्रति अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं, यदि इस की हालत की ओर ध्यान देते हैं, तो इस समाज का भला हो सकता है. जो भी लोग इस ओर ध्यान देंगे, न वे नशों में गर्क होंगे, न पतनशील पश्चिमी रंगढंग में. वे देश के स्वाभिमान से प्रेरित हो कर कुछ रचनात्मक कर गुजरने के लिए लालायित होंगे; ठीक उसी तरह जिस तरह स्वतंत्रतासंग्राम के दौरान इस देश के युवावर्ग ने किया था.

स्वतंत्र देश व स्वतंत्र समाज को रचनात्मकता व प्रगति के पथ पर ले कर जाना और उस की कमियों, त्रुटियों, बुराइयों आदि को दूर करना उतना ही महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य है जितना देश को स्वतंत्र कराना था. स्वतंत्रता और स्वातंत्र्योत्तर स्थिति दोनों ही महत्त्वपूर्ण होती हैं.

यदि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारी रचनात्मकता रुक जाती है, हमारा अच्छेबुरे का विवेक काम करना बंद कर देता है, हम अपने को सुधारने का पथ त्याग देते हैं तो यह स्वतंत्रता के छिन जाने का ही मानो हम प्रबंध करते हैं! किसी प्रबुद्ध हिंदू से ऐसी दुराशा नहीं की जा सकती.

हमारा यह प्रयास हर प्रबुद्ध हिंदू को उस के सुधारवादी यत्नों में सहायता पहुंचाना मात्र है, उसे बीमारी के अस्तित्व की ओर आकृष्ट करना, बीमारी के बारे में यथामति विवरण उपलब्ध कराना, उस की भ्रांतियों का यथाशक्ति निवारण करना, उसे ईमानदारी से प्रामाणिक सूचनाएं उपलब्ध कराना, अपने दशकों के स्वाध्याय के फलों व निष्कर्षों से उसे लाभान्वित करना, प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों ढंगों से विराट हिंदू समाज के उज्ज्वल भविष्य की प्रक्रिया में योगदान करना आदि कुछ ऐसे उद्देश्य हैं जिन की पूर्ति के लिए यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है.

यह बात तो परवर्ती समीक्षक ही भलीभांति निर्धारित करेंगे कि हम अपने उद्देश्य की किस मद में, किस सीमा तक व किस अनुपात में सफल हुए हैं. वर्तमान में लेखक और प्रकाशक को इस बात का ही संतोष है कि वे अपने समाज के प्रति यथामति और यथाशक्ति कुछ सकारात्मक व रचनात्मक कार्य कर रहे हैं.

विदेशों से तुलना

दुनिया के देश उन्नति इसलिए कर पाए कि वहां वैचारिक खमीर काफी देर पहले ही उठना शुरू हो गया था. जर्मनी में मार्टिन लूथर ने पोप और उस के प्रतिनिधियों को 16वीं शताब्दी में ही चुनौती दे दी थी. उस ने कहा—'हम लोग चोर को फांसी देते हैं, ठगों को तलवार के घाट उतारते हैं तो अधःपतन के मुख्य कारण—पोप और पादरियों—को हर प्रकार के दंड से क्यों न दंडित करें? यदि अग्नि वर्तमान रही तो किसी न किसी दिन मैं पोप के समस्त नियमों को जला दूंगा.'

लूथर ने आवाज उठाई कि वर्तमान मठों की संख्या दस प्रतिशत कम कर देनी चाहिए. इन में रहने वाले यदि प्राप्त लाभों से संतुष्ट न हों तो उन्हें इन से संबंध तोड़ने की स्वतंत्रता होनी चाहिए.

लूथर ने लोगों को समझाया कि तीर्थ यात्राओं तथा धार्मिक अवकाशों से दैनिक कार्य की हानि होती है. इस से आर्थिक नुकसान होता है.

लूथर के साथी हूटन ने सम्राट से कहा था–'पोप का पद समाप्त कर देना चाहिए, इस धर्मसंस्था की संपूर्ण संपत्ति राज्य में मिला लेनी चाहिए और सौ में से निन्यानवे पादरियों को व्यर्थ समझ कर निकाल देना चाहिए. केवल यही तरीका है जर्मनी के पादरियों तथा उन की बुराइयों से मुक्ति पाने का. उन की संपत्ति जब्त करने से राज्य की पुष्टि होगी, उस की आर्थिक दशा उन्नत होगी और उस पैसे से सेना को शक्तिशाली बना कर देश की रक्षा की जा सकेगी.'

आखिर लूथर ने पोप के सब नियम जला डाले. इस के साथ ही इंग्लैंड में भी उस के मत–प्रोटेस्टेंट मत–का प्रवेश होने लगा. अष्टम हेनरी ने 1534 ई. में पार्लियामेंट के द्वारा पोप के पर कतरवा दिए. उस ने राजा को समस्त पादरी नियुक्त करने का तथा उस राशि को अपने पास रखने का अधिकार दे दिया जो पहले पोप के पास रोम भेजी जाती थी. साथ ही राज्य के हर कर्मचारी के लिए यह शपथ लेना अनिवार्य बना दिया गया कि वह पोप के आधिपत्य को स्वीकार नहीं करेगा!

हेनरी ने मठों की धार्मिक अवस्था की जांच करने के लिए निरीक्षक भेजे. मठाधीश महंत आलसी और दुष्ट थे. जब छोटेछोटे मठों की संपत्ति जब्त की गई तो धर्म के इन ठेकेदारों–संतों, महंतों आदि–ने विद्रोह करवा दिया. राजा ने वे सब मठाधीश मौत के घाट उतार दिए जो इस विद्रोह में शामिल हुए थे. उन की संपत्ति जब्त कर ली गई. भय के मारे दूसरों ने भी स्वीकार कर लिया कि हम लोग दुराचारी हैं और उन्होंने अपनेअपने मठ राजा को सौंप दिए. मठों की सारी सामग्री बेच दी गई. भूमि को या तो राजा ने अपने कब्जे में ले लिया या फिर बेच दिया.

इन मठों के नाश के साथ ही साथ धर्ममंदिरों की उन प्राचीन मूर्तियों तक को तोड़ दिया गया जिन्हें पोप का आशीर्वाद प्राप्त था. यहां तक कि गिरजाघरों में लगे रंगीन शीशे भी तोड़ दिए गए, क्योंकि बहुधा उन में भी मूर्तियां बनी रहती थीं. चुनाव की प्राचीन प्रथा को तोड़ कर अब यह निश्चित हुआ कि राजा स्वयं ही बिशप को नियुक्त करेगा.

इस मामले में कई अभूतपूर्व कदम उठाए गए. कैंटरबरी के महात्मा (साधु) टामस की मूर्ति तोड़ डाली गई और उस (महात्मा) की हड्डियां जला दी गईं. वेल्स में काठ की एक मूर्ति की पूजा होती थी. उसे तोड़ कर एक ऐसे साधु को जलाने के लिए इस्तेमाल किया गया जिस ने राजा की आज्ञा न मान कर पोप की आज्ञा मानी थी.

इस तरह धर्मगुरु के चंगुल से मुक्त होने और उसे सत्ताच्युत करने के बाद ही इंग्लैंड विज्ञान में प्रगति कर सका. 18वीं शताब्दी के अंतिम और 19वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में वहां हुई औद्योगिक क्रांति उसी वैचारिक व धार्मिक क्रांति का

फल थी जिस के बीज पिछली–16वीं, 17वीं–शताब्दियों में बो दिए गए थे.

19वीं शताब्दी में यूरोप के अनेक देशों में स्वतंत्र चिंतकों, वैज्ञानिकों, आविष्कारकों आदि को तंग किया जाता था. वे सब इंग्लैंड पहुंच कर निर्भय हो कर अपनाअपना काम आगे बढ़ा पाए, क्योंकि वहां वैचारिक स्वतंत्रता थी, कठमुल्लापन नहीं था. जिस मार्क्स के विचारों को मानने वालों का पिछली शताब्दी में (1990 तक) आधी से ज्यादा दुनिया पर राज रहा, वह भी इंग्लैंड में आ कर ही अपने युगांतरकारी चिंतन को तर्कसंगत परिणति तक पहुंचा पाया था. मार्क्स को 1843 में जर्मनी छोड़ कर पैरिस जाना पड़ा. वहां से उसे जब निकाल दिया गया तो वह ब्रुसेल्स में आ गया. परंतु जब उसे वहां से भी निकाल दिया गया तब वह 1849 में लंदन आ गया और सारी उमर वहीं रह कर अपने शोध कार्य को पूरा करता रहा.

यह एक उदाहरण है. ऐसे और उदाहरण भी दिए जा सकते हैं.

यहां यह उल्लेखनीय है कि इंग्लैंड प्रोटेस्टेंट धार्मिकता का भी गुलाम नहीं बना; बल्कि यह विश्वभर में धर्मनिरपेक्षतावाद (सेक्यूलरिज़्म) की जन्मभूमि बना.

1851 में जैकेब होलियोक ने इस शब्द (सेक्यूलरिज़्म) का सर्व प्रथम प्रयोग किया और इसे एक आंदोलन का रूप दिया.

धर्मनिरपेक्षता का जन्म

ध्यान रहे, होलियोक का धर्मनिरपेक्षतावाद हमारा भारतीय धर्मनिरपेक्षतावाद नहीं था. यह तो वस्तुतः छद्म धर्मनिरपेक्षतावाद है. वास्तविक धर्मनिरपेक्षतावाद सांसारिक समस्याओं के समाधान में ईश्वर सहित किसी अलौकिक सत्ता के हस्तक्षेप अथवा उस की प्रासंगिकता को स्वीकार नहीं करता. इसी कारण यह अलौकिक सत्ताओं पर अनिवार्यतः आधारित धर्म का निषेध करने वाला सिद्धांत माना जाता है.

होलियोक के धर्मनिरपेक्षतावाद (सेक्यूलरिज्म) की व्याख्या करते हुए डा. वेद प्रकाश वर्मा लिखते हैं–'उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि धर्मनिरपेक्षतावाद एक विशेष प्रकार का मानवतावादी जीवन-दर्शन है जो धर्म तथा अध्यात्मवाद का निषेध करते हुए नैतिकता, शिक्षा, राजनीति, प्रशासन, कानून आदि को इन दोनों से पूर्णतः स्वतंत्र मानता है और जो मनुष्य को अलौकिक या दैवी शक्तियों पर आश्रित रहने के स्थान पर पूर्णतः आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा दे कर उस के वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण के लिए मार्ग प्रशस्त करता है.' (धर्मदर्शन की मूल समस्याएं, संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण, पृ. 492)

होलियोक ने धर्मनिरपेक्षतावाद के द्वारा इंग्लैंड के वातावरण को तर्कसंगत, वैज्ञानिक दृष्टि संपन्न, कट्टरतामुक्त और विरोधी विचारों के प्रति सहिष्णु बनाया तो ब्रैडलाफ ने कानूनों को धर्मों की जकड़बंदी से मुक्त करवाने में अपना योगदान दिया. उन्होंने अपने प्रयत्नों से ईश्वर के नाम पर शपथ लेने की बाध्यता खत्म करवाई और 'ओथ्स बिल' पारित करवाया, जिस से ईश्वर की सत्ता में विश्वास न करने वालों के लिए सत्यनिष्ठा के नाम पर शपथ लेना संभव हो गया.

डार्विन की खोजें

ऐसे वातावरण में ही डार्विन का विकासवाद का युगांतरकारी सिद्धांत विकसित हो सका, जिस ने सारे संसार के परंपरागत चिंतन की चूलें हिला दीं.

भारत में ऐसा वातावरण कभी नहीं बना है. यही कारण है कि यहां आ कर बसने की इच्छा किसी विदेशी विचारक और वैज्ञानिक ने कभी जाहिर नहीं की. इस के विपरीत भारत के आला दिमाग भी जिस शिखर को विदेशों में जा कर छूते हैं, उसे भारत में छूने में वे एकदम असफल रहते हैं, हालांकि गाया यह जाता है कि यहां की धरती को ऋषियोंमुनियों, पीरोंफकीरों, गुरुओंभगतों आदि के चरणस्पर्श का गौरव प्राप्त है!

डा. हरगोविंद खुराना भारत में किसी गिनती में नहीं होते, परंतु विदेश में अपने अनुसंधान से नोबेल पुरस्कार प्राप्त करते हैं. कल्पना चावला भारत में कुछ भी नहीं सिद्ध होती हैं, परंतु अमेरिका में एक सितारे की भांति चमकीं.

हमारे कैसेकैसे प्रश्न

अपने यहां यह प्रश्न कभी नहीं उठता कि ऐसा क्यों है? हमें ऐसे प्रश्न क्या कभी परेशान करते हैं? हमें तो दूसरी तरह के प्रश्न ही परेशान करते हैं, जैसे अभिनेता संजय दत्त ने अपने पिता सुनील दत्त की अस्थियों का विसर्जन ऋषिकेश में कर दिया तो हरिद्वार में बवाल खड़ा कर दिया गया. ऋषिकेश के परमार्थ निकेतन के जिस स्वामी चिदानंद मुनि ने अस्थिविसर्जन कराया था, उस का पुतला फूंका गया. यह तब है जब ब्रिटेन में बसे लाखों भारतीयों ने अब हरिद्वार में अपने परिजनों की अस्थियां डालने आने के बजाय उन्हें लस्टरशायर की सोर नदी में प्रवाहित करना शुरू कर दिया है और जब शिकागो की डीपाल यूनिवर्सिटी के 23 वर्षीय छात्र हेमंत मेहता ने अपनी आस्था इंटरनेट पर बाकायदा बोली लगा कर बेच दी है और अब वह बोली लगाने वाले जिम हैंडरसन के निर्देशों के मुताबिक चर्च की सेवा कर रहा है.

हमें परेशानी इसलिए होती है कि मलयाली फिल्म अभिनेत्री मीरा ने राजराजेश्वर मंदिर में पूजा अर्चना कर ली है. हमें परेशानी इसलिए होती है कि कन्नड़ अभिनेत्री जयमाला सबरीमाल मंदिर के गर्भगृह तक चली गई है और मई 2007 में एक हिंदू केंद्रीय मंत्री की ईसाई पत्नी केरल के गुरुवयूर मंदिर में अपने पति के साथ पूजा के लिए प्रविष्ट हो गई है. यानी एक गैर हिंदू औरत (जासमीन मीरा) हिंदू मंदिर में प्रवेश कर गई है. धर्मध्वजियों को यह नहीं दिखाई देता कि एक गैर हिंदू ने हिंदू की आस्था को अपनाया है. बवाल यदि मीरा के सहधर्मी मचाते तो समझ में आता भी. किसी मसजिद या चर्च में किसी हिंदू के जाने पर तो बवाल नहीं उठता.

हम सबरीमाल मंदिर में एक औरत–अभिनेत्री–के प्रवेश से परेशान हैं, क्योंकि उक्त मंदिर में स्त्री का, विशेषतः उस उमर की स्त्री का जिसे मासिक धर्म होता हो–12

से 50 तक की आयु की स्त्री का–प्रवेश उस के स्त्रीत्व के कारण वर्जित है! यानी सुपरसोनिक युग में हमारे यहां स्त्री आज भी अछूत है!

हमारे यहां धर्मध्वजियों ने सचेतन तौर पर इस बात का ध्यान रखा है कि कोई ऐसा विचार पनपने ही न पाए जिस से उन की सत्ता को चुनौती मिले. मनोज मिश्र ने ठीक ही कहा है–'हम कपिल के सांख्यवाद और पतंजलि के योगदर्शन पर ही इतराते रह गए और यूरोप भाप के इंजन का आविष्कार कर आगे बढ़ गया. हम पुष्पक विमान के सपने रखते रहे और दूसरे देश हवाई जहाज बना कर हमारे आसमान पर चक्कर लगाने लगे. हम योगवाशिष्ठ पर न्योछावर होते रहे और न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत खोज कर भौतिकशास्त्र को नई दिशा दे दी. हमें स्वीकारना होगा कि थोथे दंभ ने हमें कहीं का नहीं छोड़ा.' (दैनिक अमर उजाला, 21-7-06)

छद्म व यथार्थ हिंदुत्व

हमें छद्म हिंदुत्व और यथार्थ व प्रबुद्ध हिंदुत्व के अंतर को समझना होगा, क्योंकि छद्म हिंदुत्व हिंदुत्व के दुश्मनों से भी ज्यादा हानि पहुंचाने वाला है. छद्म हिंदुत्व शोर मचा सकता है, प्रदर्शन कर सकता है, कानूनव्यवस्था की समस्या पैदा कर सकता है, अल्पसंख्यकों को कोस सकता है, परंतु वह बौद्धिक रूप में इतना सक्षम नहीं है कि यथार्थ हिंदुत्व की समस्याओं को पहचान तक सके, उन के समाधानों की तो बात ही छोड़िए.

यथार्थ हिंदुत्व हिंदू समाज के वास्तविक कल्याण से प्रेरित है, न कि वह सत्ताप्राप्ति की लालसा का कोई मुखौटा है. यदि हिंदू समाज अपनी कमियों, कमजोरियों, न्यूनताओं आदि का साक्षात्कार करेगा, तभी उन्हें दूर करने की सोचेगा. परंतु यदि हम उसे उन की ओर उन्मुख ही न होने दें और उसे 'शत्रुओं'– अल्पसंख्याओं–के प्रति ही विष वमन करने के निरर्थक प्रयास में लगाए रखें तो इस से हिंदू समाज का भला कैसे हो सकता? अपनी कमियों, कमजोरियों से मुंह फेरना तो वैसे ही इनसानी फितरत है, अब यदि उसे उन से प्रयत्नपूर्वक विमुख रखने वाले कथित हितैषी भी मौजूद हों तो फिर उस के उन की तरफ उन्मुख होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होगा.

यथार्थ हिंदुत्व आत्मालोचन की दृढ़ चट्टान पर खड़ा है. वह हिंदू समाज को अपने अंदर अर्थात अपने धर्म, अपने धर्म ग्रंथों, अपने समाज के अंदर झांकने के लिए, आत्मनिरीक्षण व अपनी आलोचना आप करने के लिए प्रेरित करता है और अवसर जुटाता है, ताकि अपने दोषों से मुक्ति का उपाय ढूंढ़ा जा सके. यह काम कठिन और अप्रिय जरूर है, परंतु कल्याणकारी और लाभकारी भी है.

छद्म हिंदुत्व हिंदू की चापलूसी कर के, उसे लोकलुभावन बातें सुना कर अपना नेतृत्व स्थापित करता है या फिर अल्पसंख्यकों के विरुद्ध विष वमन कर के अपने को हिंदू का प्रिय बनाना चाहता है. मानसिक आलस्य से ग्रस्त जो हिंदू इन के बहकावे में आता है, वह क्या अपना या समाज का कुछ बनाता, संवारता है?

वाल्मीकि अपनी रामायण में कहते हैं कि मीठीमीठी बातें करने वाले तो दुनिया

में बहुतेरे लोग होते हैं, परंतु सत्पथ बताने वाली बातें करने और सुनने वाले दुर्लभ होते हैं, क्योंकि वे बातें चिकनीचुपड़ी नहीं होतीं:

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः.

– रामायण, युद्धकांड, 16/20

महाभारत में कहा गया है कि सत्य बोलना श्रेयस्कर है, परंतु हित की बात करना उस से भी ज्यादा श्रेयस्कर है. जो सभी प्राणियों का सर्वोच्च हित है, वही सत्य है.

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्,
यद् भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम.

– महाभारत, शांतिपर्व, 329/13.

इन वचनों के आलोक में यदि हिंदुत्व पर विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि गुजरात के ही नहीं, सारे हिंदुस्तान के मुसलमानों के विरुद्ध दंगा भड़काने पर भी हिंदू का भला नहीं होगा; उड़ीसा के ही नहीं, बल्कि सारे भारत के पादरियों को मारने से भी एक हिंदू का भला नहीं होगा. यह सारा छद्म हिंदुत्व है.

इस के विपरीत, जिस काम से हिंदू समाज अपने खोए हुए स्वाभिमान को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हो, जिस से उस में रचनात्मकता आए, उस की ज्ञानवृद्धि हो, जिस से वह आत्मविश्वास अर्जित करे, अपने घर को सुव्यवस्थित कर सके, अपनी कमियों व कमजोरियों को पहचान कर उन पर विजय प्राप्त कर सके—वह सब यथार्थ व प्रबुद्ध हिंदुत्व है.

यथार्थ हिंदुत्व ही मानवता की सेवा का व्यावहारिक मार्ग है. अस्सी पचासी करोड़ हिंदू, मानवता का बहुत बड़ा एकाश्म है—यदि हम इसी मानवता की ठीक से सेवा कर सकें तो यह कोई छोटी उपलब्धि नहीं होगी.

कहा गया है—विद्यादानं महादानम्. **अर्थात विद्या देना, ज्ञान देना उत्तम दान है. अपने अतीत को अच्छी तरह समझना, उसे सही परिप्रेक्ष्य में देखना, तदनुसार अपने वर्तमान और भविष्य की रूपरेखा निर्धारित करना तथा जहांजहां अपेक्षित हो, अपनी कमियों को दूर करना व सद्‌गुणों को अर्जित करना, अपने प्रत्युत्तरों को युगानुरूप बनाना, दृष्टिकोण को तर्कसंगत और वैज्ञानिक बनाना व इस सब के संदर्भ में सारे समाज की यथासंभव व यथाशक्ति सहायता करना भी यथार्थ हिंदुत्व का अभिन्न अंग है. इस के बिना हिंदू समाज का भला नहीं हो सकता.**

हमें हमलावर मुसलमानों ने उतना नहीं मारा, जितना हम अपनी कमजोरियों के कारण मरे हैं. उन कमजोरियों को दूर कर लो, तुम भी विश्व में महाशक्ति बन सकते हो. अमेरिका या कोई दूसरा देश कहीं से पट्‌टा लिखा कर नहीं लाया है कि वही महाशक्ति बन सकता है, दूसरे नहीं. बस, हिंदुत्व के यथार्थ स्वरूप को हृदयंगम कर के तुम्हारे एक अंगड़ाई भर लेने की देर है.

कुछ छद्म धर्मनिरपेक्षतावादियों ने मुझ पर आरोप लगाना शुरू कर दिया कि

बाबरी मसजिद गिराने वाले लोगों को बौद्धिक व मानसिक तौर पर तैयार करने में मेरे लेखों व 'सरिता' का भी योगदान रहा है.

इस तरह के आरोप लगाने वालों का परिप्रेक्ष्य मुझे सही प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इतिहास के किए को अनकिया करने का उपर्युक्त तरह का दृष्टिकोण मेरा या 'सरिता' का कदापि नहीं रहा. अपने इतिहास को खंगालना, अपनी पराजयों का विश्लेषण करना तथा अपनी कमियों व कमजोरियों को पहचानना एक बात है और पुरानी व ऐतिहासिक इमारतों–वे धार्मिक हों या दूसरी- को गिराने की वकालत करना इस से सर्वथा भिन्न बात है. मैं पहली कोटि का ही काम करता रहा हूं, दूसरी कोटि मेरा क्षेत्र कदापि नहीं रही है.

कमजोरियां, कमियां जो भी हमारी पराजयों व हमारी अवनति के लिए उत्तरदायी हैं, वे हमारी थीं और हमें ही उन्हें दूर करने के बारे में सोचना था. यह न तो किसी के विरुद्ध भड़काहट पैदा करना था और न इस से किसी को किसी तरह का खतरा महसूस होना चाहिए था. यह असहिष्णुता नहीं, आत्मसुधार का मार्ग है. इस पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है, यदि हिंदू समाज अपने नकारात्मक पहलुओं का परित्याग कर के सकारात्मकता से सराबोर होता है. यह हिंदू बहुल देश है. यदि यह समाज बीमार रहेगा तो उस से क्या अल्पसंख्याएं स्वस्थ रह पाएंगी? गीता में कहा गया है: वे और तुम एक दूसरे से सद्व्यवहार करते हुए, एक दूसरे की प्रगति करते हुए परम श्रेय: को प्राप्त करो–परस्परं भावयंत: श्रेय: परमवाप्स्यथ. (गीता 3/11)

प्रथाओं का परित्याग

आज हिंदू धर्म कई उन प्रथाओं को त्याग चुका या त्याग रहा है जो कभी धर्म थीं, यथा सती प्रथा, छूतछात, जाति आधारित भेदभाव, शूद्रों को शिक्षा से वंचित रखना, बाल विवाह आदि. इसी तरह जो चीजें पहले निषिद्ध थीं, जैसे शूद्रों का सार्वजनिक कुंओं आदि का प्रयोग, देव मंदिरों में प्रवेश, विधवा का पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा आदि, उन्हें अपना चुका है.

हिंदू समाज अब शास्त्रों (संस्कृत में लिखी हर पुस्तक) को आंखें मूंद कर नहीं, विवेकपूर्वक पढ़ने में विश्वास करता है. अंधश्रद्धा का स्थान बुद्धिवाद और वैज्ञानिक चिंतन लेने लगा है और उस में आत्मचेतना का भाव दृष्टिगोचर होता है. एक तरह से देखा जाए तो हिंदू धर्म प्राचीन के नवीकरण की प्रक्रिया को अपनाए है. कुछ पुरानी बातें छूट रही हैं और कुछ नई बातें जुड़ रही हैं. इस तरह यह चिर युवा बन रहा है. कायाकल्प की यह प्रक्रिया बहुत धीमी है. इसे कुमार्ग की ओर ले जाने के भी कई शिविरों से प्रयास किए जा रहे हैं जो चिंता का विषय है.

कुछ वर्ग अपने को हिंदू मानने के लिए ही तैयार नहीं हैं. वे इस बाड़े से बाहर जा चुके हैं, कुछ जा रहे हैं और कुछ जाने के लिए हाथ पैर मार रहे हैं. स्वामी विवेकानंद द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन वालों ने सर्वोच्च न्यायालय तक इस बात के लिए कानूनन लड़ाई लड़ी कि उन्हें हिंदू न माना जाए. यह अलग बात है कि वे इस

में सफल नहीं हुए. परंतु इस से उन की इस से बाहर निकलने की इच्छा खत्म नहीं हो जाती, क्योंकि उन की घुटन यथावत बरकरार है.

कुछ हिंदू धर्मपरिवर्तन कर के इसलाम, ईसाई धर्म आदि को अपना रहे हैं. इस में जातिपांति की भेदभावपूर्ण व्यवस्था की भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता. कुछ दलित हिंदुओं ने गाय के मुकाबले भैंस को खड़ा किया है और अपने विरोध के स्वर को मुखरित किया है. आतंकवाद का दैत्य देश के विभिन्न इलाकों में दनदना रहा है और उस का लक्ष्य मुख्यतः हिंदू धर्म व हिंदू समाज ही है. इस तरह की और भी बहुत सी नकारात्मक चुनौतियां हमारे सामने हैं. इस का मतलब साफ है कि बहुसंख्यक समुदाय के रूप में हिंदू समाज को अभी बहुत कुछ करना है.

जो लोग हिंदू धर्म को पीछे की ओर मोड़ना चाहते हैं और इसे पुरातनपंथी बनाए रखने में ही हित देखते हैं, वे अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए इस विराट राष्ट्रीय समाज से धोखा कर रहे हैं. वे यद्यपि हिंदूहितैषी होने का दम भरते हैं तथापि वास्तव में वे हैं इस के लिए दुश्मन ही—आस्तीन के सांप.

जरूरत है पुरातन को जाननेसमझने की

जरूरत पुरातनपंथी बनने की नहीं, पुरातन को जानने और समझने की है. जो लोग हिंदू धर्म का केवल एक मुद्दा ले कर राजनीति करते हैं, वे भी वस्तुतः हिंदुत्व को जागृत करने के स्थान पर उसे अति संकुचित बना रहे हैं. हिंदुत्व उसी तरह है जैसे भारतीयता है, जैसे कश्मीरियत है, जैसे पंजाबियत है. अतः हिंदूमात्र के प्रति समानता व भाईचारे को व्यवहार में लाए बिना हिंदुत्व को जागृत कैसे किया जा सकता है? यह सब जातिवाद को खत्म किए बिना कैसे संभव है? ऐसे नहीं चल सकता कि आप के एक हाथ में जातिवाद हो और दूसरे में हिंदुत्व, क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं. यदि जातिवाद है तो हिंदुत्व का अहसास जागरित हो ही नहीं सकता.

यही कारण है कि हजारों सालों से जातिवाद के ही विभिन्न रूप व स्तर हमारे यहां रहे हैं, हिंदुत्व की भावना के दर्शन कदापि नहीं हुए. 21वीं शताब्दी भेदभावपूर्ण, विघटनकारी, अमानवतावादी और असमतावादी जातिपांति की शताब्दी नहीं हो सकती. इसे हिंदुत्व की शताब्दी बनाना होगा—सारे हिंदू समाज में समरसता लानी होगी और इसे एक सूत्र में बांधना होगा.

यह काम रचनात्मक ढंग से करना होगा, न कि सांप्रदायिक उन्माद या तर्कहीनता के आलम द्वारा. इस लक्ष्य को हिंदुओं को अतीतवादी बना कर या अतीत के प्रति उन्हें अस्वस्थ मोह के शिकार बना कर हासिल नहीं किया जा सकता, बल्कि इसे तो अतीत के प्रति भावुकतापूर्ण रुख को त्याग कर और उस के प्रति स्वस्थ व तटस्थ आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपना कर ही हासिल किया जा सकता है.

इस के लिए जरूरी है कि युवा पीढ़ी को कुछ कठमुल्ला किस्म के डागमें थमाने व उसे कुछ निरर्थक प्रतीकों को उछालने के काम में लगाने के स्थान पर अपने प्राचीन ग्रंथों को पढ़ने व समझने की ओर प्रेरित किया जाए. आज लगभग हर ग्रंथ का हिंदी

में अनुवाद सुलभ है. जिन के अनुवाद अभी उपलब्ध नहीं हैं, उन्हें भी सुलभ करवाया जाए. हां, अनुवादों को अपनी अपेक्षा के अनुसार विकृत न किया जाए. न कहीं गंदगी को छिपाने के लिए उस पर चूना पोता जाए, न असुविधाजनक अंशों के अनुवाद को छोड़ा जाए. जो है, जैसा है, उसे वैसे का वैसा ही युवा पीढ़ी को उपलब्ध कराया जाना चाहिए.

इतिहास के विभिन्न युगों में जो कुछ होता रहा है, जैसा कुछ किया जाता रहा है, उस सब के रूबरू युवा पीढ़ी को होने देना चाहिए. यदि एकलव्य का अंगूठा कटा है, यदि शंबूक की हत्या हुई है, यदि सीता के साथ ज्यादती हुई है, यदि शूद्र के कानों में लाख और सीसा पिघला कर डालने के आदेश धर्म ग्रंथों में अंकित हैं, यदि पशुओं की बलियां यज्ञों में दी जाती रही हैं और यदि यहां नियोग जैसी प्रथाओं का बोलबाला रहा है तो इस सब से युवा पीढ़ी को परिचित होने दो–डरते क्यों हो? उन महान ग्रंथों के उन दिव्य पृष्ठों को छिपाते क्यों हो? उन के दिव्य शब्दों को ले कर झिझकते क्यों हो? तरहतरह के पापड़ क्यों बेलते हो? क्या यह सोच कर कि युवा पीढ़ी क्या कहेगी? वह क्या कहेगी क्या नहीं, इस शर्म के मारे उन्हें अज्ञान के अंधकार में रखना कहीं ज्यादा शर्मनाक होगा और खतरनाक भी. जब वे अन्य साधनों से सच्चाई जानेंगे, जब विधर्मी उन तथ्यों को उद्घाटित कर के उन्हें बहकाएंगे तब वे हमारे हाथों से बाहर हो जाएंगे, क्योंकि तब उन्हें हमारे चरित्र एकदम अविश्वसनीय लगेंगे.

यह स्थिति उन्हें कड़वेकुरूप सत्य से परिचित कराने की स्थिति से बदतर सिद्ध होगी. यदि आज उन्हें उस सब से साक्षात्कार करने दें तो विधर्मियों की इस तरह की कोई भी संभावित चाल सफल नहीं हो सकती.

उन्हें शास्त्रों को पढ़ाओ, इस के लिए उन्हें प्रेरणा दो. यदि संस्कृत नहीं पढ़ते, उन्हें हिंदी आदि अपनी आधुनिक भाषाओं में अनुवाद पढ़ाओ. उन्हें अतीत के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाने दो. तभी वे अपनी जड़ों से, अपनी स्वस्थ व मानवीय विरासत से जुड़ सकते हैं.

कोई सभ्यता पूरी की पूरी न सही होती है, न गलत. यह निर्णय परवर्ती लोग ही कर सकते हैं कि कहां क्या ठीक था और कहां क्या गलत था. सारे के सारे को सही या ठीक रटते जाना तो उन लोगों के साथ भी अन्याय और बलात्कार करना है जिन्हें हम श्रेष्ठ और आदर्श मानते हैं. जरा उपनिषदों को खोलो तो. उन को बिना पढ़े ही उन की विरुदावली गाते रहने से न वे महान बन जाएंगे और न उन के उत्तराधिकारी होने के नाते हम.

तैत्तिरीयोपनिषद का ऋषि घोषणा करता है और शिष्य को समझाते हुए कहता है :

> यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि.
> यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि
>
> –तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11

अर्थात हमारे जो कर्म निर्दोष हों, तुम्हें उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए, दूसरों का नहीं. हमारे जो अच्छे आचरण हों, तुम्हें उन्हीं का सेवन करना चाहिए, दूसरों का नहीं.

ऋषि अपनेआप को जानता है. वह दंभी नहीं है. उसे ज्ञात है कि उस के कुछ आचरण गलत हो सकते हैं. मानवीय कमजोरी उस से किन्हीं क्षणों में दोषपूर्ण कार्य करवा सकती है. कोई दूध का धुला नहीं होता. अतः वह अपना आकलन स्वयं ही कर देता है और उसे इस पर किसी तरह की शर्म महसूस नहीं होती. वह जानता है कि शिष्य की अपनी भी बुद्धि है.

यदि मैं अपने को शब्दों द्वारा अतिमानव बना कर पेश करता हूं तो उस समय मैं उसे कैसे मुंह दिखाऊंगा जब किसी सदोष काम को करता हुआ देखा जाऊंगा? अब अपने उन्हीं आचरणों को अनुकरणीय घोषित कर के, जो निर्दोष हैं, अच्छे हैं, वह जितना ऊंचा उठ गया है, उतना शायद वह कदापि न उठता यदि वह इस तरह कहता–'मेरे सारे कर्म, सारे आचरण अच्छे हैं, अतः तुम्हें उन सब का अंधानुसरण करना चाहिए.'

हिंदू धर्म में, हिंदू धर्म ग्रंथों में, सब कुछ है, अच्छा भी और वह भी जिसे आज अच्छा कहना कठिन है. उस में तैत्तिरीय उपनिषद के ऋषि का कथन है, उस में निरुक्त के ऋषि का कथन है कि 'तर्क' ही तुम्हारा देवता होगा.

निरुक्त कहता है कि जब ऋषि लोग दुनिया से उठने लगे, तब उन से मनुष्यों ने पूछा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा? इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि अब तर्क ही तुम्हारा ऋषि हुआ करेगाः

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को
न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्.

–निरुक्त 13/13

अर्थात पूर्व काल में उठ रहे ऋषियों को देख कर मनुष्य देवताओं से बोले, 'कौन हम में ऋषि होगा?' उन को उन्होंने यह तर्क दिया.

इसी तरह भागवत पुराण ने सावधान करते हुए लिखा कि

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्.
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत्..

– श्रीमद्भागवत पुराण 10/33/32

अर्थात सामर्थ्य वालों का वचन तो सर्वांश में सत्य होता है, परंतु उन का आचरण एक सीमा तक ही (अनुकरणीय होता है.) सर्वसाधारण को सामर्थ्य वाले महानुभावों के उपदिष्ट मार्ग पर तो चलना चाहिए, परंतु उन का आचरण सर्वांश में अनुकरणीय नहीं मानना चाहिए. यही बुद्धिमानों के लिए उचित है.

इस के साथ ही उन में यह भी लिखा मिलता है :

(क) अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः

– गौतम धर्म सूत्र 2/3/4

अर्थात यदि शूद्र किसी को वेद पढ़ते सुन ले तो उस के कानों में पिघला हुआ रांगा/सीसा और लाख डाल देनी चाहिए, यदि शूद्र वेदमंत्र का उच्चारण करे तो उस की जीभ कटवा देनी चाहिए और यदि वह वेदमंत्र को याद कर ले तो उस का शरीर चिरवा डालना चाहिए.

(ख) तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः.

– ब्रह्मसूत्र 2/1/11

अर्थात तर्क अप्रतिष्ठित है, वह स्थिर नहीं होता, क्योंकि एक कुशल विद्वान के तर्क को कोई दूसरा ज्यादा कुशल विद्वान काट देता है.

(ग) तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो भिन्ना नैको मुनिर्यस्य,
मतं न भिन्नं, महाजनो येन गतः स पन्थाः.

– महाभारत, शांतिपर्व

अर्थात तर्क का कोई पक्का आधार नहीं होता, श्रुतियों (वेदमंत्रों) में भिन्नभिन्न विचार हैं, कोई ऐसा मुनि नहीं जिस का मत सब को मान्य हो. अतः ज्यादा लोग जो काम कर रहे हों, वही रास्ता है. अर्थात, भीड़वाद का अनुसरण करो.

नकारात्मकता और सकारात्मकता

यहां एक साथ नकारात्मक और सकारात्मक बातें उपलब्ध होती हैं. इस में न कोई लज्जा की बात है और न इन्हें छिपाने की कोई जरूरत है. इन्हें 'प्रक्षिप्त' कह कर न अपनी चमड़ी बचाने की आवश्यकता है और न इन के अर्थ बदल कर बौद्धिक छल करने की तथा न धर्म के नाम पर अधार्मिक रास्ते का अवलंबन करने की बाध्यता है; क्योंकि हर ग्रंथ किन्हीं विशेष परिस्थितियों की उपज होता है, जो उस की विषयवस्तु को प्रभावित भी करती हैं और उस में प्रतिबिंबित भी होती हैं.

रामकथा एक ही है. परंतु जब वाल्मीकि लिखते हैं, तब क्योंकि उन का व्यक्तित्व और उन की परिस्थितियां भिन्न हैं, अतः जो 'वाल्मीकीय रामायण' लिखी जाती है, वह तुलसीदास की रचना से अनेक दृष्टियों से भिन्न है. जहां वाल्मीकि का विजन स्पष्ट होने के कारण उस में शंबूकहत्या का प्रकरण बिना दुराव छिपाव के सविस्तार अंकित है, वहीं तुलसी के 'रामचरितमानस' से वह एकदम गायब है. तुलसी उसे छोड़ कर उस घटना को छिपाने में लगे हैं. कारण स्पष्ट हैः तुलसी का विजन वाल्मीकि की तुलना में संकुचित है, और परिस्थितियां भिन्न हैं.

समस्या तब पैदा होती है जब परिस्थितिविशेष की उपज को, बदली परिस्थितियों में भी न केवल सामान्य वस्तु, बल्कि आदर्श वस्तु भी बना कर थोपा जाता है. कालक्रम के विपरीत जब ऐसी स्थिति पैदा कर दी जाती है, तब मानवीय मनोविज्ञान

उस को सहज में स्वीकार नहीं करता. निहित स्वार्थ तब उस पर कई तरह की रहस्यमयता की लीपापोती करते हैं, उसे पढ़ने योग्य पुस्तक के स्थान पर पूज्य और आले में रखी जाने वाली वस्तु बना देते हैं. उन का उद्‌देश्य बस यह होता है कि लोग इसे मानते रहें और उस के प्रवक्ता या व्याख्याकार के रूप में 'जो कुछ हम कहें,' उसे उस 'पुस्तक का आदेश' मान कर, बिना मुंह खोले, बिना किंतु परंतु किए, आंखें बंद कर के उस के आगे नतमस्तक होते रहें.

हम कहते हैं कि तब तक नतमस्तक होने का कोई विशेष महत्त्व नहीं जब तक आप उस की महानता से कायल नहीं होते. कायल कोई तभी होगा जब उस की विषय वस्तु उसे प्रभावित करेगी. यह तभी संभव है यदि वह उस का अध्ययन करे, उस का स्वाध्याय करे. यदि वह कायल होगा तो वह नतमस्तक होने से आगे जा कर दंडवत भी कर सकता है.

परंतु निहित स्वार्थ अध्ययन के लिए कभी किसी को प्रोत्साहित नहीं होने देना चाहते. यदि वे अनुमति देंगे भी तो अपनी तरह से काट छांट कर के, अर्थ बदल कर, कुछ हिस्से छोड़ कर और कुछ को जाली बता कर तैयार किए गए संस्करण—रीमिक्सिड व रीमेड—को पढ़ने की ही. वह भी आधे मन से, क्योंकि उन्हें डर रहता है कि संभव है कुछ अंश अब भी इस में ऐसे रह गए हों जो हमारे लिए असुविधाजनक सिद्ध हो सकते हों. यह स्थिति पतन की पराकाष्ठा है, जो आत्मविश्वासहीनता और सुधार की संभावनाशून्यता की द्योतक है.

उन्हें लगता है कि यदि लोगों को 'यह' पता चल गया, यदि उन्हें 'वह' पता चल गया तो 'हमारे' धर्म का क्या बनेगा? क्योंकि पूर्वजों के आज आपत्तिजनक प्रतीत होने वाले आचरण के लिए वे अपने आप ही शर्मसार होते हैं और धर्म ग्रंथों के आज असुविधाजनक प्रतीत होने वाले आदेशों के लिए वे अपने को आप ही दोषी मानते हैं!

मानसिक कुलीपन

यह दूसरों के दायित्व को खामखाह खुद पर ढोने व ओढ़ने की मानसिकता भी स्वस्थ मानसिकता नहीं है. यह तो निरा कुलीपन है—मानसिक कुलीपन. तैत्तिरीय उपनिषद का ऋषि इस से मुक्त है. इसीलिए वह अपने केवल अच्छे आचरण के अनुसरण की बात करता है. इसी तरह यदि युवा पीढ़ी को धर्म ग्रंथों के अध्ययन के लिए प्रेरित करने के साथ ही यह भी समझा दिया जाए कि ये पूरे के पूरे ग्रंथ कम से कम आज आदर्श नहीं हैं, इन में से जो श्रेष्ठ और निर्दोष है, वही आज हमारे लिए आदर्श है, उसे ही हम मानते हैं—शेष की ऐतिहासिक महत्ता है, आदर्शिक नहीं, तो सारा लफड़ा ही हल हो जाए, सारा मनोवैज्ञानिक तनाव ही दूर हो जाए और सारी बौद्धिक उठापटक ही खत्म हो जाए.

शास्त्रों अर्थात धर्म ग्रंथों के प्रति हमारा दृष्टिकोण मूलतः गलत है. वे तो जैसे हैं, वैसे हैं ही. वस्तुतः जब हम स्वयं शास्त्रों से भी बढ़ कर ज्यादा शास्त्रवादी बनने का ढोंग करते हैं, तब स्थिति उलझती है.

दूसरे, आज के बदले हालात में जो निंदनीय और प्रशंसनीय है, उसे जब दूसरे हालात में लिखे गए ग्रंथों में हम नहीं पाते तो भी परिप्रेक्ष्य के गलत होने के कारण, हमें परेशानी होती है. जो आज विधवा विवाह का औचित्य मानते हैं, वे विधवा विवाह विरोधी प्राचीन पोथों में जब उसे नहीं पाते तो कई तरह से हाथपैर मारते हैं. प्राचीन पोथों में बहुविवाह की प्रथा सामान्य है, परंतु आज उन बहुपत्नियों वाले आदर्शों/नायकों को एकपत्नीव्रती बनाने के लिए कवायद की जाती है. आज जिस पशु का मांस खाना निषिद्ध है, प्राचीन पोथों में जब उस के मांस को खाने का वर्णन उपलब्ध होता है तब हमारा अज्ञानी शाकाहार उबाले खाने लगता है.

विक्षिप्त हिंदुत्व

कहने का भाव यह है कि अपनी आज की मान्यताओं के अनुरूप हम उन ग्रंथों को देखने की उत्कट इच्छा से प्रेरित हो कर उन में लिखे को अनदेखा करना चाहते हैं. यदि कोई उन में लिखे परंतु जानबूझ कर अनदेखा किए गए अंश को हमें दिखा दे तो हम दोष उन ग्रंथों को न दे कर उस दिखाने वाले का बताने लगते हैं: 'इस ने अर्थ गलत किया है, इस का वास्तविक अर्थ 'यह' है. उस ग्रंथ में यह बात हो ही नहीं सकती'.

वे जो चीज उन में देखना नहीं चाहते, वे समझते हैं कि उसे न देखने से वह खुद ब खुद बदल जाएगी. अज्ञानता के कारण जो बात उन्हें पता नहीं होती, वही जब धर्म ग्रंथ में उन्हें दिखा दी जाती है तो वे भौचक्के रह जाते हैं और इसे धार्मिक भावना को ठेस पहुंचाना रटने लगते हैं—इस पर भी तुर्रा यह कि इस कथित ठेस पहुंचाने के लिए दोषी भी वे केवल दिखाने वाले को ठहराते हैं, जब कि असली दोषी के आगे वे यथापूर्व नतमस्तक होते रहते हैं. यह यथार्थ हिंदुत्व नहीं हैं, यह प्रबुद्ध हिंदुत्व नहीं है, यह तो विक्षिप्त हिंदुत्व ही हो सकता है.

उन्हें हिंदू धर्म पर खतरा मंडराता हुआ दिखाई देने लगता है, उन्हें लगता है कि वे बातें पढ़ कर लोग हिंदू धर्म को छोड़ कर ईसाई बन जाएंगे, मुसलमान बन जाएंगे. हिंदू धर्म रसातल में चला जाएगा. क्या हिंदू धर्म इतना ही कच्चा धागा है? क्या उस का कोई ठोस आधार नहीं? क्या लोग केवल इसलिए हिंदू बने हुए हैं कि उन्होंने 'इस तरह की बातें नहीं पढ़ी हैं,' नहीं तो कब के मुसलमान या ईसाई बन गए होते? क्या हिंदू धर्म बालू की भीत पर खड़ा है? क्या चुल्लू भर पानी में ईमान बह जाएगा? क्या अर्थ बदली जैसे बौद्धिक छल, प्रक्षेपवाद जैसी बौद्धिक बेईमानी आदि के बिना हिंदू धर्म के लिए खतरा पैदा हो जाएगा? आखिर यह कथित खतरा है किस से और क्यों हैं?

कुछ वर्ष पूर्व पुरी के शंकराचार्य ने एक पत्रिका को दिए साक्षात्कार में जब कहा था कि छुआछूत शास्त्रों में आदिष्ट है, जब उन्होंने या एक अन्य शंकराचार्य ने कोलकाता विश्वविद्यालय के एक समागम में एक स्त्री द्वारा वेदमंत्र उच्चारण पर यह कह कर आपत्ति की थी कि स्त्री का वेद पढ़ना शास्त्रों के विपरीत है और जब कांची कामकोटि के शंकराचार्य ने यह कह कर कि शास्त्रों में यज्ञ के लिए गोवध का आदेश

मौजूद है, उस बयान पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया था जिसे आर्य समाज के नेता स्वामी विद्यानंद सरस्वती लिख कर लाए थे तो काफी होहल्ला मचाया गया कि यह कह दिया, वह कह दिया. परंतु शंकराचार्य शास्त्रों की दृष्टि से बिलकुल सही थे. उन्होंने न अर्थ बदले थे, न प्रक्षेपवाद का सहारा लिया था और न ही अन्य किसी प्रकार का बौद्धिक छलकपट किया था; क्योंकि उन्हें न हिंदू धर्म को खतरा महसूस हुआ था और न ही अधार्मिक तरीके से धर्म की तथाकथित सुरक्षा की बात ही उन्हें भाई थी.

कई लोग कह देते हैं कि हर ग्रंथ से आपत्तिजनक अंश को निकाल बाहर करना चाहिए. परंतु यह बहुत गलत काम होगा. यह ऐतिहासिक बपौती से छेड़छाड़ होगी और भावी पीढ़ियों से धोखा. हर ग्रंथ उसी रूप में रहना चाहिए, जिस में वह है और उस के वही अर्थ करने चाहिए जो सदियों से उस के लोग करते व मानते चले आ रहे हैं तथा जो बिना खींचातानी के आमतौर पर उस के बनते हैं, भले ही वे कइयों को हजम न होते हों. तभी हम अपने अतीत को भलीभांति जान पाएंगे, तभी भावी पीढ़ियां अपने पूर्वजों के सांस्कृतिक जीवन की सही झलक पा सकेंगी. बस, उन ग्रंथों के प्रति केवल दृष्टिकोण सही करने की जरूरत है, केवल परिप्रेक्ष्य के बदलने की आवश्यकता है. उन्हें अतीत के अभिलेख समझ कर पढ़ा जाए, न कि वर्तमान के लिए अनिवार्यतः, अपरिहार्यतः व सर्वांशतः अनुकरणीय आदर्श ग्रंथ!

यदि ऐसा नहीं होगा तो हर बात पर, हर ग्रंथ के संदर्भ में स्थिति विवादास्पद ही बनी रहेगी. अभी पिछले दिनों एक हिंदूवादी संगठन ने गीता को राष्ट्रीय ग्रंथ घोषित करने का प्रस्ताव पेश किया है, परंतु गीता के इस कथन का वह संगठन क्या करेगा जिस में स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों को पापयोनि (पाप से पैदा होने वाले) कहा गया है:

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः.
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम्..

– गीता 9/32

अर्थात हे अर्जुन, मेरा आश्रय लेने से पापों से उपजे ये लोग–स्त्रियां, वैश्य और शूद्र–भी परम गति को प्राप्त होते हैं.

यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि कई लोगों ने पहले ही इस श्लोक का अर्थ बदलने के प्रयास आरंभ कर रखे हैं. वे कहते हैं कि श्लोक का अर्थ है: हे अर्जुन, मेरा आश्रय लेने से पापयोनियां, स्त्रियां, वैश्य और शूद्र भी परम गति को प्राप्त होते हैं.

हम अपनी ओर से इस प्रयास को चुनौती देने के लिए कोई तर्क प्रस्तुत नहीं करना चाहते. अतः यहां हम गीता के प्राचीनतम उपलब्ध भाष्य, शंकर भाष्य, को उद्धृत करना चाहते हैं जिसे हिंदू धर्म के आदरणीय विद्वान आदि शंकर ने 8वीं शताब्दी में लिखा था. वे लिखते हैं:

पापयोनय: पापा योनिर्येषां ते पापयोनिय:; पापजन्मान:.
के त इत्याह स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः
– गीता 9/32 पर शंकर भाष्य

अर्थात पापयोनि, पापमय है योनि जन्म जिन का अर्थात पापी जन्मवाले. वे कौन हैं? इस का उत्तर है–स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्र.

यहां आदि शंकराचार्य ने विशेष तौर पर प्रश्न उठा कर कि पाप योनि कौन हैं, बताया है कि स्त्रियां, वैश्य और शूद्र पापयोनि हैं. इस के आलोक में कथित राष्ट्रीय ग्रंथ के पक्षधरों को यदि कोई चुनौती देता है तो उसे कोई कैसे दोष दे सकता है?

पालि त्रिपिटक का यदि अवलोकन करें तो हम बुद्ध को यह कहते हुए पाते हैं–'एहि पस्सिक' **(आओ, मेरे धर्म की पहले जांच परख कर लो). वे निमंत्रण देते हैं कि इसे स्वीकार करने से पहले जांचपड़ताल करो. सब कुछ सामने पड़ा है. भलीभांति परखो.**

'तत्त्वसंग्रहपंजिका' में बुद्ध के मुंह से कहलवाए गए एक श्लोक में कहा गया है:

तापाच्छेदाच्च निकषात्सुवर्णमिव पंडिता इह,
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्..
– तत्त्वसंग्रह पंजिका

अर्थात जैसे सोने को तपा कर, काट कर और कसौटी पर रगड़ कर उस की परीक्षा की जाती है, उस के शुद्ध अथवा मिलावटी होने का निर्णय किया जाता है, उसी प्रकार हे पंडितो, हे भिक्षुओ, मेरे वचनों को जांचपरख कर स्वीकार करो. उन्हें मेरे प्रति सम्मान की वजह से मत स्वीकार करो.

इस तरह के वचन किसी कथित हिंदू संगठन, हिंदू नेता, हिंदू धर्माचार्य आदि के मुंह से, किसी ग्रंथ से, क्यों नहीं कभी निकले? वे अर्थ बदलने, प्रक्षेप घोषित करने आदि के मामले में इतने मुखर होने के बावजूद पूर्वोक्त तरह के वचनों के संदर्भ में मूक व मौन क्यों हैं? क्या इसलिए कि उन्हें बौद्धधर्म चट्टान पर और हिंदू धर्म बालू की भीत पर खड़ा प्रतीत होता है? यह आत्मविश्वासहीनता का आलम क्यों? बौद्ध भारतीय जनसंख्या के केवल 0.08 प्रतिशत हैं. बुद्ध उन सब चीजों/ बातों का विरोध करते थे, जिन्हें आज ऐसे हिंदू छिपाना चाहते हैं जिन का या तो परिप्रेक्ष्य सीधा नहीं है या फिर जिन के स्वार्थों की पूर्ति उन स्थलों को छिपाने में ही सुरक्षित है.

यदि हिंदू धर्म ग्रंथों और वर्तमान हिंदू धर्म व इस के भविष्य पर एक नजर डालें तो पाएंगे कि अनेक वर्तमान कुरीतियों की जड़ें प्राचीन ग्रंथों में हैं, कि हमारी चिंतन धारा उन्हीं की छाया से ग्रस्त है, कि हमारे सामाजिक व धार्मिक सुधारों के प्रयत्नों के मार्ग में उन्हीं द्वारा अनुकूलित मानसिकता आड़े आ रही है, कि उन में कई ऐसी धार्मिक व सामाजिक प्रथाएं व उक्तियां हैं जिन की वजह से आज कई लोग शर्मसार होना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, कि उन में ऐसी कई बातें हैं कि यदि उन को सामने लाया जाए तो धर्म के धंधेबाज धर्म को खतरे व ठेस की दुहाई देने लगते हैं, (क्योंकि धर्म

के धंधेबाज आमतौर पर थोड़े बहुत पूजापाठ और थोड़े बहुत किस्से कहानी को ही धर्म समझते हैं. उतने से ही जब उन का हलवा मंडा बढ़िया चल जाता हो तो उस से ज्यादा कुछ स्वाध्याय कोई क्यों करे?) और उस से उन्हें धर्मरक्षा के लिए चंदा व फंड इकट्ठा करने का बहाना भी मिल जाता है.

जो धर्म को धंधे के तौर पर नहीं देखते, जिन के लिए हिंदू समाज का उज्ज्वल भविष्य सर्वोपरि है, वे, स्पष्ट है, धर्म के धंधेबाजों को फूटी आंख भी नहीं सुहाते, क्योंकि उन्हें लगता है कि ये तो हमारे पेट पर लात मारते हैं, लोगों को जागरित करते हैं, उन का दृष्टिकोण वैज्ञानिक बनाते हैं और उस तरह के जागे हुए लोग फिर न अंधविश्वासी रहते हैं, न हमारी हर बात पर विश्वास करने वाले सहजविश्वासी.

हमारा उद्देश्य न किसी के पेट पर लात मारना है, न किसी की दुकानदारी बंद कराना है. हम तो व्यापक हिंदू हितों के मद्देनजर एक विनम्र सेवक की तरह इस विराट समाज के प्रति अपने दायित्व का निर्वहन मात्र कर रहे हैं.

कई मित्र यह प्रश्न उठाते हैं कि जिस तरह तुम हिंदू धर्म पर लिखते हो, उसी तरह दूसरे धर्मों पर क्यों नहीं लिखते?

यह प्रश्न बहुत बार जिज्ञासावश नहीं उठाया जाता, इस के पीछे एक दूसरी ही मनोवृत्ति काम करती हुई दिखाई दे जाती है. वस्तुतः जब उन के पास कोई रचनात्मक तर्क नहीं रहता, वे यह कहने के लिए उपर्युक्त प्रश्न किया करते हैं कि तुम हिंदुओं की 'आलोचना' तो करते हो, परंतु यदि तुम इसी तरह मुसलमानों आदि की आलोचना करोगे तो वे तुम्हें छठी का दूध याद दिला देंगे. तुम उन की आलोचना इसलिए नहीं करते क्योंकि तुम उन से डरते हो. हिंदू तो बेचारे सुशील हैं, कुछ कहते नहीं. अतः उन की आलोचना करते रहते हो, आदि.

इस विषय में मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूं कि उपर्युक्त तरह की मानसिकता हिंदू समाज को सुधरे हुए रूप में देखना नहीं चाहती. जो लोग अपने समाज को, अपने धर्म को सुधार कर श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं, वे इस तरह की पराजित व हताश मानसिकता के शिकार नहीं होते.

मैं हिंदू समाज के बारे में इसलिए लिखता हूं, क्योंकि यह मेरा अपना समाज है, मेरा अपना परिवार है. अपने परिवार की बेहतरी के लिए हर वह व्यक्ति यत्नशील होता है जिसे उस के प्रति अपनी जिम्मेदारी का अहसास होता है. यदि हम अपने परिवार के भले-बुरे के प्रति संवेदनशील नहीं हैं, तो हमें वस्तुतः इनसान कहलाने का भी अधिकार नहीं है.

अपने परिवार के भले-बुरे के प्रति जो भी व्यक्ति सावधान होता है, वह उस की कमियों को पहचान कर उन्हें दूर करने का प्रयास करता है. परिवार के सदस्यों में यदि कोई बुरी आदत है, यदि कोई कमी है, तो वह उन्हें इस के लिए झिड़कता है, फटकार भी लगाता है; परंतु सदा इस भावना से कि वे ठीक हो जाएं और परिवार के प्रतिष्ठित सदस्य बनें. उस की समालोचना हमेशा, निरपवाद रूप में, सद्भाव और सद्भविष्य से प्रेरित होती है.

इस के पीछे यह भावना कदापि नहीं होती कि परिवार का वह आलोच्य सदस्य

नष्ट हो जाए, परिवार का सत्यानाश हो जाए और परिवार दूसरों की दृष्टि में हास्यास्पद बन जाए.

दूसरे, इस का एक अन्य कारण भी है. यदि कोई एक समाज का व्यक्ति दूसरे समाज के सुधार के लिए काम करता है तो वह एक तरह से अनधिकार चेष्टा करता है. वह अपने काम द्वारा यह संदेश देता हुआ प्रतीत होता है कि उस समाज में कोई इतना समझदार नहीं है कि अपने समाज के सुधार के लिए यत्न कर सके, अतः मैं उस का सुधार कर रहा हूं! यह दंभ है. मुझे इस से घृणा है.

तीसरे, दूसरे के यहां सुधार का कार्यक्रम चलाने के लिए वही जा सकता है, जिस ने पहले अपने यहां सब कुछ सुधार लिया हो. इस दृष्टि से देखने पर पाता हूं कि अपने यहां अभी बहुत कुछ करने योग्य है, अपने घर को ऐसे ही छोड़ कर दूसरों के यहां सुधार का काम करने के लिए जाना तो ठीक वैसा ही होगा जैसा घर के बड़े बूढ़ों को भूखे रख कर मीडिया में नाम चमकाने के लिए बाहर फूड पैकेट दान करते फिरना.

आप का दान करना तभी ठीक कहा जा सकता है, जब आप पहले अपने घर के (बड़े-बूढ़े) सदस्यों को भरपेट भोजन करा लें. जब मैं अभी अपने घर को ही नहीं सुधार पाया, जब अभी पहला ही ऐजंडा पूरा नहीं हुआ तो फिर दूसरे समाजों/धर्मों के लिए मैं क्या कर सकता हूं?

संकीर्णतावाद बनाम मानवतावाद

कोई कह सकता है कि यह 'संकीर्णतावाद' है. मेरा कहना है कि यदि 80-85 करोड़ हिंदुओं की बात करना संकीर्णतावाद है तो मुझे वह भी स्वीकार है. वैसे मैं नहीं समझता कि उन लोगों की बात करना जो विश्व की जनसंख्या का 7वां, 8वां भाग हों (क्योंकि विश्व की जनसंख्या का हर 7वां या 8वां आदमी हिंदू है), संकीर्णतावाद है. यह तो वस्तुतः मानवतावाद है. मानवता की इतनी बड़ी इकाई की बात करना किसी भी तरह संकीर्णतावाद नहीं हो सकता.

मानवतावाद को जब हम व्यवहार में लाते हैं तो हम उतनी मानवता की ही सेवा कर पाते हैं जितनी हमारे प्रत्यक्ष और परोक्ष संपर्क में आती है. हम किसी अमूर्त मानवता की सेवा नहीं कर सकते. संकीर्णतावाद तब होता है जब हम मानवता के एक अंश को अनुचित महत्त्व देते हैं और शेष के प्रति पूर्वाग्रहग्रस्त हो जाते हैं. परंतु समाजसुधार के लिए एक अंश तक अपने को सीमित करने का अर्थ न तो किसी को अनुचित महत्त्व देना है और न किसी दूसरे के प्रति पूर्वाग्रहग्रस्त होना है. यह तो इतना ही है कि क्योंकि एक समय में सब के संदर्भ में सक्रिय हो पाना असंभव है, अतः श्रमविभाजन कर लें. श्रमविभाजन ऐसी वास्तविकता है जिस से हम चाह कर भी पीछा नहीं छुड़ा सकते. हां, यह तब दोषपूर्ण व्यवस्था का रूप धारण करता है जब श्रम के विभाजन के साथसाथ श्रमिक का भी विभाजन किया जाने लगे और उस श्रम से लाभान्वित होने वाले का भी; तथा वह भी अन्यायपूर्ण व अतर्कसंगत ढंग से.

हम न तो यह कहते हैं कि दूसरे समाज/धर्म हम से घटिया हैं, न यह कि उन्हें हमारे वर्चस्व को स्वीकार करना ही होगा. इसी तरह हम यह भी नहीं कहते कि उन

समाजों के समाजसुधारक हम से हीन हैं या वे हमारे समाजसुधारकों से अवश्य प्रेरणा ग्रहण करें. अतः संकीर्णतावाद का दोषारोपण करना, सरासर अन्याय है.

दूसरे समाजों में यदि कोई बुराई है तो उस का हल उस समाज के हितैषी खोजेंगे. जो बीमार है, उसे दवाई खानी ही होगी. अब यदि वह कड़वी है और कोई रोगी इसी आधार पर यदि डाक्टर से यह कहे कि 'तुम मुझे तो यह खिला रहे हो, 'क' को खिला कर दिखाओ...तुम उसे नहीं खिलाओगे, क्योंकि तुम उस से डरते हो' तो उस के इस प्रलाप की ओर क्या कोई ध्यान देगा? डाक्टर तो क्या, उस रोगी के अपने परिजन भी इस कुतर्क के लिए उसे फटकार ही डालेंगे!

यदि कोई मित्र इस रोगी की तरह सोचता हो तो उसे इस तरह की बातें करने और हिंदू समाज के हितचिंतक होने का ढोंग रचने के बजाय उस तरह का प्रयास करना चाहिए जिस से उस का अपना परिप्रेक्ष्य दुरुस्त हो सके. हिंदू समाज को हर हिंदू की जरूरत है, परंतु स्वस्थ मानसिकता वाला हिंदू ही इस के किसी काम आ सकता है. जिस की अपनी मानसिकता अस्वस्थ हो, वह तो इस के स्वास्थ्य के लिए भी खतरा ही बढ़ा सकता है.

जो लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि तुम दूसरे समाजों के बारे में उस तरह क्यों नहीं लिखते जैसे हिंदू समाज के बारे में लिखते हो, वे वस्तुतः न तो यह चाहते हैं कि हिंदू समाज का सुधार हो और न यह चाहते हैं कि दूसरे समाज सुधरें. वे केवल यथास्थितिवाद चाहते हैं ताकि उन के निहित स्वार्थों की निर्बाध पूर्ति होती रहे. ये वे लोग हैं जो दूसरे समाजों की जिन बातों के लिए निंदा करते नहीं अघाते, उन्हीं बातों को हिंदू समाज में देख कर भी अनदेखा करने में सिद्धहस्त हैं.

हिंदुओं की कमजोरियों पर परदा डाल कर दूसरों की निंदा करने की यह विकृत मनोवृत्ति वस्तुतः हिंदू समाज को आत्मतुष्ट बनाती है और दूसरों को चिढ़ाती है. इस से न हिंदुओं का भला होता है, न दूसरों का.

1926 ई. में शहीदे आजम भगतसिंह, सुखदेव आदि ने 'नौजवान भारत सभा' की स्थापना की थी. इस सभा द्वारा सब धर्मों की बुराइयों पर खुल कर चोट की जाती थी. परंतु इस संबंध में नीति यह रखी जाती थी कि जो जिस धर्म में पैदा हुआ हो, वह उस धर्म की बुराइयों का वर्णन करे, ताकि किसी प्रकार की गलतफहमी की गुंजाइश न रहे. (मन्मथ नाथ गुप्त, क्रांतिदूत भगतसिंह और उन का युग, द्वितीय संस्करण 1975 पृ. 123)

श्री गुप्त अपनी दूसरी पुस्तक 'क्रांतिकारी आंदोलन का वैचारिक इतिहास' (1980 ई.) में लिखते हैं कि शहीदेआजम भगतसिंह, अमर शहीद चंद्रशेखर आजाद आदि ने...प्रत्येक धर्म को मानने वालों के लिए यह जरूरी समझा कि वह क्रांतिकारी तभी समझा जाएगा जब वह सार्वजनिक रूप से अपने धर्म की कमियों का पर्दाफाश करेगा...इस मामले में भगतसिंह, भगवतीचरण, चंद्रशेखर आजाद की 'नौजवान भारत सभा' सारे पिछले क्रांतिकारियों को पीछे छोड़ आई थी.(पृ. 206)

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे क्रांतिकारियों, देशभक्तों, स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानियों की परंपरा भी यही रही है कि धर्म की कमियों/कमजोरियों/बुराइयों को

छिपाया नहीं जाना चाहिए; बल्कि उन्हें सब के सामने रखना चाहिए ताकि समाज व धर्म का सुधार हो सके. इस के साथ ही वे इस बात को भी अनिवार्य बनाते हैं कि किसी को दूसरे के धर्म की बुराइयों/कमियों आदि की चर्चा न कर के खुद अपने धर्म की बुराइयों, कमियों आदि की चर्चा करनी चाहिए.

इस में डरनेडराने की कोई बात नहीं थी. डरते तो वे गोली और फांसी से भी नहीं थे. बस, वे समझते थे कि यदि आदमी अपने धर्म की बुराइयों आदि की चर्चा न करके, दूसरे के धर्म की बुराइयों की चर्चा करेगा तो इस से गलतफहमी पैदा होने की गुंजाइश बन जाती है. जहां गलतफहमी की गुजाइश होगी, वहां सुधार का अंतिम लक्ष्य दुष्प्रभावित होगा. अतः अपने ही धर्म की कमियों, बुराइयों आदि की आदमी को चर्चा करनी चाहिए. यही क्रांतिकारियों का सुविचारित मत है और यही इस देश/समाज/धर्म पर हंसतेहंसते कुर्बान हो जाने वाले शहीदों का मार्ग है.

कुम्हार जब मिट्टी के बरतन बनाता है, तब वह एक हाथ से उसे ऊपर से थोड़ाथोड़ा पीटता है, थपथपाता है; परंतु उस का दूसरा हाथ अंदर से उसे पूरी तरह से थामे रहता है ताकि वह अंदर को धंस कर नष्ट न हो जाए. वह यह सब इसलिए करता है कि उस का उद्देश्य एक नए बरतन का निर्माण करना होता है, न कि ध्वंस.

समाजसुधारक भी एक तरह से कुम्हार की ही भूमिका निभाता है. वह समाज का विनाश नहीं, नवनिर्माण करना चाहता है. वह कुम्हार की तरह जब समाज को किसी बुराई के लिए डांटता है तो अंदर से उस की सहानुभूति उसी के साथ रहती है. जिस तरह बिना अंदर से पूरी तरह थामे कुम्हार बरतन बना ही नहीं सकता, उसी तरह बिना अपनी सारी सहानुभूति समाज के साथ किए, कोई समाजसुधार के लिए प्रवृत्त हो ही नहीं सकता.

केंद्रबिंदु यही सहानुभूति और संवेदना है जिस के बिना समाजसुधार की परियोजना की आधारशिला रखी ही नहीं जा सकती. इस के बिना जब कोई आलोचना करता है तो वह मिट्टी के उस गीले बरतन को, अंदर से थामे बिना ही, बाहर से पीटने लगता है! आलोचना और समालोचना में यही अंतर है!

मैं जब हिंदूसमाज की समालोचना करता हूं तो वह परिवार के प्रति उत्तरदायित्व समझने वाले एक सदस्य के नाते ही की जाती है; क्योंकि मेरी सारी सहानुभूति इस के साथ होती है, क्योंकि मैं इस में जन्मा, इस में पला और यही मेरे इर्दगिर्द है. इसीलिए मैं इस की कमियों से भी परिचित हूं और इसीलिए उन्हें दूर करने की मन में तीव्र इच्छा भी जागृत होती है.

मैं जिस समाज का अभिन्न अंग नहीं हूं, उस के साथ मेरी सहानुभूति औपचारिक ज्यादा होगी, स्वाभाविक कम. यह मानवीय मनोविज्ञान की विवशता है. अतः अपने समाज की बेहतरी के लिए जैसा जज्बा पैदा होना स्वाभाविक है, वैसा दूसरे समाज के संदर्भ में कम ही पैदा हो पाता है. इसीलिए दुनिया में शायद एक भी समाजसुधारक ऐसा नहीं मिलेगा जिस ने किसी दूसरे समाज के सुधार के लिए कभी बीड़ा उठाया हो, ऐसा एक भी स्वतंत्रतासेनानी नहीं मिलेगा जो किसी दूसरे देश को स्वतंत्र कराने के लिए फांसी पर चढ़ा हो!

स्वाभाविक सहानुभूति जिस दूसरे समाज के प्रति पैदा नहीं होती, उस की बेहतरी के लिए आप भलीभांति काम भी नहीं कर सकते. इसीलिए मैं दूसरे समाज/समाजों के बारे में नहीं लिखता हूं. मैं उसी समाज के बारे में लिखता हूं और लिख सकता हूं जो मेरा है, जिस के साथ मेरी सारी सहानुभूति है और जिस के भविष्य से मेरा भविष्य पृथक् नहीं किया जा सकता.

हिंदू समाज को अपने धर्म और धर्मग्रंथों की स्वयं सुध लेनी होगी. हर हिंदू को चाहिए कि वह अपने धर्मग्रंथों का स्वाध्याय करे. हमारे धर्म की छोटी से छोटी बात भी मूल रूप में संस्कृत में निबद्ध है. अतः हर हिंदू के लिए संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य है. वह हिंदू ही क्या जिसे थोड़ीबहुत संस्कृत भी न आती हो!

आज वैसे हिंदी में बहुत से ग्रंथों का अनुवाद उपलब्ध है. इस पुस्तक के प्रकाशक ने चारों वेद हिंदी में अनूदित रूप में प्रकाशित किए हैं. संस्कृत न जानने वाले हिंदू के लिए जरूरी है कि वह उन्हें पढ़े. यह सनातन घोष है कि 'ऋते ज्ञानान्मुक्तिः' (बिना ज्ञान के कल्याण नहीं). धर्मग्रंथों का स्वाध्याय हमारी अनेक भ्रांतियों, मिथ्या दृष्टियों को दूर करेगा और हमें अपना पथ प्रशस्त करने में सहायता देगा.

निहित स्वार्थी तत्त्व धर्मग्रंथों के बारे में आम हिंदू के अज्ञान का ही अनुचित लाभ उठा कर उसे भ्रम में डालते हैं और उस का बौद्धिक व आर्थिक शोषण करते हैं. वे कहते हैं: हमारे प्रवचन सुनो; परंतु हम कहते हैं: अपने धर्मग्रंथों का स्वाध्याय करो, वेदों को पढ़ो; गीता को पढ़ो; रामायण और महाभारत को पढ़ो; विभिन्न दर्शनशास्त्रों को पढ़ो; पुराणों आदि को पढ़ो; यहां तक कि सभी धर्मग्रंथों को पढ़ो. उन्हें (धर्मग्रंथों को) अंधश्रद्धा से नहीं, विवेकपूर्वक पढ़ो, क्योंकि यदि आंखें बंद कर के पढ़ोगे तो कोई लाभ नहीं होगा. इसीलिए कहा गया है:

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः

अर्थात शास्त्र पढ़ कर भी आदमी मूर्ख का मूर्ख रह जाता है.

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्?
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति?

अर्थात जिस के पास अपनी बुद्धि (प्रज्ञा/विवेक) नहीं है, शास्त्र उस का क्या भला करेगा? जिस के पास आंखें नहीं हैं, दर्पण से उसे क्या लाभ प्राप्त हो सकता है?

इस बात का महत्त्व नहीं होता कि आप कितनी दूर तक चले हैं, बल्कि असली महत्त्व इस बात का होता है कि आप किस दिशा में चले हैं. इसी तरह ग्रंथों को पढ़ने का तब तक कोई महत्त्व नहीं होता जब तक उन्हें भलीभांति, सही परिप्रेक्ष्य में, न पढ़ा जाए:

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्, निरुक्त

– 1/18

अर्थात जो वेद को पढ़ कर भी उस के अर्थों को भलीभांति नहीं समझता, वह स्थाणु (ठूंठ) मात्र है, और केवल शब्दों का भार ढोता है.

अतः वैज्ञानिक दृष्टि से धर्मग्रंथों का स्वाध्याय करो और उन के मर्म तक पहुंचो.

धर्मग्रंथों में कौन-सा सनातन अंश है और कौन सा तात्कालिक, यह भी देखना और समझना होगा. कौन सी बातें धर्म हैं और कौन सी इतिहास, तथा कौन सी मिथ्याहास—यह विवेक भी करना होगा.

जिन चीजों को अपनाने के कारण हम लाभान्वित हुए हैं, उन चीजों को निःसंकोच अपनाना होगा, भले ही उन्हें अपनाने के कारण दुनिया हमारा मजाक उड़ाए. परंतु जिन चीजों को अपनाने के कारण हम इतिहास में मुंह की खाने को विवश होते रहे हैं, उन्हें त्यागना होगा, भले ही हमारा उन से अंधा मोह क्यों न हो.

जातिपांति, सामाजिक अन्याय, इलाकावाद, भाषावाद, लिंगगत भेदभाव, विभिन्न रंगों के अंधविश्वास आदि को छोड़ना होगा, क्योंकि इन से हिंदूसमाज ने अतीत में भी हानि उठाई है और वर्तमान में भी उठा रहा है.

वैज्ञानिक दृष्टिकोण व सही परिप्रेक्ष्य ही हमारे मार्ग को आलोकित कर सकते हैं. हमें अतीतजीवी नहीं, भविष्योन्मुख होना होगा.

धर्म के नाम पर बड़ेबड़े धन फूंकने वाले निरर्थक आयोजन आए दिन देखने को मिलते हैं. ऐसे कई आयोजन तो अनेक स्थानों पर वार्षिक कर्मकांड बन गए हैं. इन से न धर्म को कोई लाभ पहुंचता है, न समाज को. इन के स्थान पर उस अकूत धनराशि को धर्मग्रंथों के प्रकाशन और कम मूल्य पर उन के वितरण पर खर्च किया जाए तो हिंदूधर्म और हिंदूसमाज को पर्याप्त लाभ हो सकता है.

आज बहुत से ऐसे ग्रंथ हैं जो सदियों से पांडुलिपि के रूप में मठों, पुस्तकालयों आदि में बंद पड़े हैं. ऐसे भी ग्रंथ हैं जो दशकों पूर्व कभी छपे थे, परंतु बाद में अप्राप्य हो गए. इसी तरह ऐसे भी अनेक ग्रंथ हैं जिन के हिंदी आदि अन्य भाषाओं में अनुवाद अभी तक हुए ही नहीं हैं. ऐसे ग्रंथ भी कम नहीं हैं जो तिब्बती भाषा में अनूदित रूप में तो उपलब्ध हैं, परंतु जिन के मूल संस्कृत ग्रंथ लुप्त हो चुके हैं. ऐसे तिब्बती ग्रंथों के भी हिंदी में अनुवाद होने चाहिए. इस तरह बहुत सा प्राचीन हिंदू साहित्य है जो आर्थिक कमी और हमारी आपराधिक उपेक्षा के कारण न आम आदमी तक पहुंचा है, न विद्वानों तक.

यदि व्यर्थ के धार्मिक आयोजनों में धन को फूंकने के स्थान पर इस काम में लगाया जाए तो यह एक क्रांतिकारी कदम सिद्ध हो सकता है.

शास्त्र की अपनी सीमाएं भी हैं. हर शास्त्र मनुष्य की रचना है. भारतरत्न डा. भगवानदास ने अपनी पुस्तक 'विविधार्थ' (पृ. 108) में एक श्लोक लिखा है; जो इस प्रकार है:

न जातु जनयन्तीह शास्त्राणि मनुजान् क्वचित्,
मनुजा एव शास्त्राणि रचयन्ति पुनः पुनः..

अर्थात शास्त्र कभी मनुष्यों को पैदा नहीं करते, बल्कि मनुष्य ही शास्त्रों को बारबार रचते हैं.

हमारे षड् (छः) दर्शनों में से पांच पर संस्कृत में विद्वत्तापूर्ण टीकाएं लिखने वाले 9वीं शताब्दी के वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि हमें शास्त्र की अपनी सीमाओं को पहचानना होगा. सौ शास्त्र इकट्ठे हो कर भी घट (घड़े) को पट (वस्त्र) नहीं बना सकते– न हि श्रुतीनां शतमपि घटं पटयितुमीष्टे. (भामती)

प्रसिद्ध नैयायिक भासर्वज्ञ (9वीं शताब्दी) ने न्यायभूषण नामक अपने ग्रंथ में लिखा है कि यदि कोई ऋषि किसी शास्त्र में कोई ऐसा सूत्र लिख देता है, जिस में किसी पदार्थ की बाबत ऐसी बातें हों जो वास्तव में उस में हैं ही नहीं, तो इस का मतलब यह नहीं है कि वह पदार्थ उस ऋषिमुनि या शास्त्रकार के भय से अपना स्वरूप बदल लेगा. वह अपना स्वरूप कदापि नहीं बदलेगा; बल्कि शास्त्रकार को ही अपनी बात पदार्थ के स्वरूप के अनुरूप बदलनी होगी, संशोधित करनी होगी:

न खलु वै सूत्रकारनियोगभयात् पदार्थाः स्वधर्मं हातुमर्हंति.

–न्यायभूषण, पृ. 98

शास्त्र को आंखें खोल कर पढ़ने में, उस की सीमाओं को भलीभांति समझ कर चलने में, ही भलाई है; अन्यथा हानि की पूरी संभावना है. मनुस्मृति के प्रसिद्ध संस्कृत टीकाकार कुल्लूकभट्ट (12वीं शताब्दी) ने मनुस्मृति 12/113 की व्याख्या में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करके कहा है कि सहीगलत का निर्णय केवल शास्त्र के आधार पर नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि युक्तिहीन विचार को ले कर चलोगे तो धर्म की हानि ही होगी, उस का लाभ नहीं होगा:

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः,
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते.

–मनुस्मृति 12/113 पर कुल्लूक भट्ट की मन्वर्थमुक्तावली नामक संस्कृत टीका

इसी से मिलतीजुलती बात महाभारत में भी कही गई है:

तस्मात् कौन्तेय! विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये,
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना.

–शांतिपर्व 141/142

अर्थात हे अर्जुन, विद्वान व्यक्ति को धर्मअधर्म का निश्चय बुद्धिपूर्वक करना चाहिए और उसे तदनुसार ही व्यवहार करना चाहिए.

ध्यान रहे यहां महाभारत ने धर्मअधर्म के निर्णय में शास्त्र का नाम तक नहीं लिया है.

महाभारत ने स्पष्ट तौर पर घोषणा की है कि धर्म सदा एक सा नहीं होता. वह अवस्था (हालात) के अनुसार बदलता है:

न त्वेवैकांतिको धर्मः, धर्मो हि आवस्थिकः स्मृतः

–शांतिपर्व

इसलिए जब यह कहा जाता है कि कर्त्तव्यअकर्त्तव्य के मामले में शास्त्र ही प्रमाण है:

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ

–गीता

तब यह प्रश्न भी साथ ही पैदा होता है कि शास्त्र और अशास्त्र के मामले में क्या प्रमाण है:

किंतु किं मे प्रमाणं स्यात्, शास्त्राशास्त्रविनिर्णये?

इस का उत्तर देते हुए मणिभद्र (गुणरत्न से पूर्व, पर समय अनिश्चित) और गुणरत्न (1409 ई.) षड्दर्शनसमुच्चय (8वीं शताब्दी की रचना) की अपनीअपनी संस्कृत टीका में एक श्लोक उद्धृत करते हैं, जिस में कहा गया है कि यदि कोई बात सच्ची है, ठीक है तो उस पर बुद्धिपूर्वक विचार करना चाहिए. जो लोग शास्त्रों की बातों पर विचार करने से कतराते हैं, वे अवश्य यह समझते हैं कि वहां कहीं खोट है. क्या खरा सोना कभी कसौटी पर कसे जाने से डरता है?

अस्ति वक्तव्यता काचित्तेनेदं न विचार्यते,
निर्दोषं कांचनं चेत्स्यात् परीक्षया बिभेति किम्?

– षड्दर्शनसमुच्चय, कारिका 44 की व्याख्या

प्रबुद्ध हिंदुत्व का यही निष्कर्ष है कि शास्त्र हमारे साधन हैं, साध्य नहीं. साधन यदि सदोष हों तो उन्हें दोषरहित बनाने का यत्न करना चाहिए. सदोष साधनों से निर्दोष साध्य की प्राप्ति असंभव है. इसीलिए योगवसिष्ठ में कहा गया है:

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि,
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना.

अर्थात यदि युक्तियुक्त वचन बालक भी कहे तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए. युक्तिहीन व बेसिरपैर की बातें तिनके की तरह त्याग देनी चाहिए, भले ही वे ब्रह्मा ने कही हों.

हिंदू समाज के इन मनीषियों के इन सनातन वाक्यों के आलोक में ही शास्त्र, धर्म आदि पर बुद्धिवादी व वैज्ञानिक दृष्टि से विचार संभव है. अतः ये व ऐसे अन्य वचन ही सदा मेरे पथप्रदर्शक रहे हैं.

पिछले 35-36 सालों से हिंदू धर्म के विविध आयामों पर समयसमय पर जो खोज भरपूर लेख लिखे गए और 'सरिता' में प्रकाशित होते रहे, उन्हें, विषय की प्रासंगिकता, असंदिग्ध उपयोगिता व उपादेयता के अनुसार चयनित कर के, पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि पाठक विषय की गंभीरता पर खुले मन से मनन कर सकें. मुझे लगता है, यह यथार्थ हिंदुत्ववादी अध्ययन 21वीं शताब्दी में नितांत प्रासंगिक रहेगा.

विज्ञ पाठकों को निमंत्रण देते हुए हर्ष हो रहा है कि वे आगे के पृष्ठों के अध्ययन के उपरांत खुद ही इस बात का निर्णय करें कि क्या हिंदू धर्म बालू की भीत पर खड़ा है?

यहां बाबूजी (तत्त्वलीन विश्वनाथजी, सरिता व दिल्ली प्रेस पत्रिका समूह के संस्थापक एवं संपादक) का स्मरण हो आना नितांत स्वाभाविक है, क्योंकि यथार्थ व प्रबुद्ध हिंदुत्व के उस पुरोधा ने ये सब लेख न केवल 'सरिता' में प्रकाशित किए, बल्कि अनेक लेख लिखने के लिए उन्होंने समयसमय पर मुझे प्रेरित भी किया था. मैं प्रूफ जांचने में सहयोग के लिए श्रीमती सोमा सबलोक का भी आभारी हूं.

इस के अतिरिक्त मैं मानव अज्ञात (बेटा), अंजू (पुत्रवधू) और अभिनव शर्मा (बेटा) का भी आभारी हूं तथा अपनी प्रिय व नन्ही पोतियों–प्रियंका व स्नेहा–के प्रति भी अपना स्नेह अंकित करना चाहता हूं. परंतु इस पुस्तक में प्रतिपादित विचारों के लिए मैं स्वयं उत्तरदायी हूं. उन के लिए मेरे सिवा कोई अन्य किसी भी तरह जिम्मेदार नहीं है.

– डॉ. सुरेंद्र कुमार शर्मा 'अज्ञात'

भारतीय जीवन में पलायनवाद

पलायनवाद का अर्थ है–जीवन की विषमताओं से घबरा कर, डर कर या ऊब कर संसार से मुंह मोड़ लेना और अपने ही सपनों की दुनिया में खो जाना या खोने का प्रयास करना. कोई प्राणी दुखी होना नहीं चाहता. सब दुख से दूर भागते हैं. लेकिन प्रत्येक व्यक्ति का दृष्टिकोण भिन्न होने के कारण, जो वस्तु एक के लिए दुखदायी है, वह दूसरे के लिए आवश्यक रूप से दुखदायी नहीं है. दूसरे, जितनी सहनशीलता एक व्यक्ति में है, उतनी जरूरी नहीं कि दूसरे में भी हो. अतः दुखों से भागने की दिशाएं भिन्नभिन्न हो जाती हैं. फिर भागने वाले की परिस्थिति भी उस की दौड़ को प्रभावित करती है.

भारतीय जीवनपद्धति में पलायनवाद बहुत सम्मानित रूप में विद्यमान रहा है–अद्वैतवाद (वेदांत), भक्ति, मुक्ति आदि के रूप में.

वैदिक काल में जीवन की जटिलता

वैदिक काल में जीवन की जटिलता अपेक्षाकृत बहुत कम थी. फिर भी सोमरस जैसे मादक द्रव्य, जो उन्हें जीवन की वास्तविकता से दूर ले जाते थे, उस समय के आर्यों के जीवन में इतने घुलमिल गए थे कि पूजापाठ, हवनयज्ञ आदि तक में इन का प्रयोग होने लगा था. इतना ही नहीं, अपनी मादकता के कारण सोम ने देवता की पदवी भी ग्रहण कर ली थी. सोम के पौधे की प्रसन्नता के लिए 'सोमयज्ञ' भी होने लगे थे.

परमात्मा की जड़ें इस देश में बहुत गहरी गई हुई हैं. परमात्मा की कल्पना पलायनवाद का ही एक रूप है, क्योंकि इस के पीछे भय की भावना ही काम करती है. बरट्रेंड रसेल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मैं ईसाई क्यों नहीं हूं?' में धर्म के विषय में जो शब्द कहे हैं, वे परमात्मा की कल्पना पर भी अक्षरशः सत्य उतरते हैं. उन्होंने लिखा है : "मैं समझता हूं कि धर्म का प्रथम और प्रमुख आधार भय है. इस में कुछ तो अज्ञात भय काम करता है और कुछ यह भावना कि हमारे पास बड़े भाई जैसा एक सहायक हो जो हर मुसीबत में हमारी सहायता करे. सारे प्रपंच का आधार भय है."

परमात्मा के नामस्मरण में समय बिताना और उसी की कल्पना में संसार की अनुभूति से इनकार करना धर्म और परमात्मा के सिद्धांत का वास्तविक मनोवैज्ञानिक आधार है.

गीता का कर्मवाद

गीता में 'कर्म' का नाम बारबार आया है. जीवन के प्रति किसी को प्रेरित करने के लिए जब उपदेश दिया जाता है तो प्रायः गीता उद्धृत की जाती है. पर गीता का तथाकथित कर्म 'ब्रह्मार्पण' (कर्त्तव्य व कर्म का दायित्व भगवान पर डाल दो) में समाप्त हो जाता है. गीता का स्पष्ट उद्‌घोष है कि ब्रह्म रूपी अग्नि में ब्रह्मरूप आहुति ब्रह्म के लिए ब्रह्म के द्वारा दी जाती है और वह ब्रह्म को पहुंच जाती है (गीता 4/24).

तात्पर्य यह है कि सब प्राणियों में ब्रह्म है, जो सब कुछ करता है. जीवात्मा कूटस्थ अर्थात तट पर बैठ कर देखने वाला है. उस का संसार से, उस के क्रियाकलाप से कोई संबंध नहीं है. तभी तो संसार से निर्लिप्त रहने के लिए कहा गया है—

'पद्‌मपत्रमिवांभसा'—

अर्थात जैसे कमल का पत्र पानी में निर्लिप्त रहता है.

कोई काम कर लो और लग जाओ अपने निर्लिप्त होने का राग अलापने, मढ़ दो सब काम ब्रह्म के माथे. इस से स्पष्ट है कि गीता का दर्शन 'उत्तरदायित्व को दूसरे पर डालना' है.

अब भक्ति को लीजिए! किसी देवी—पार्वती, दुर्गा, सीता, राधा आदि के कल्पित रूप में खो जाना या किसी देव/रूपवान पुरुष—राम, कृष्ण, विष्णु आदि के लुभावने रूप में अपने को भूल जाना यही तो भक्ति है. यह 'खो जाना' ही दुनिया से भागना, यथार्थ से मुंह मोड़ना है.

पतंजलि का योग

पतंजलि का योग, जिसे 'राजयोग' कहा जाता है, दुनिया के अहसास से इनकार की कोशिश है. प्राणायाम और समाधि का विधान क्या है? आंतरिक उपकरणों द्वारा दुनिया की सुधबुध भुलाना. योगी लोग दुनिया से भाग कर वनों, पर्वतों में पहुंच कर दुनियावी अहसास भुलाने के लिए समाधि का प्रयोग करते थे.

न्यायदर्शन की आदर्श स्थिति मनुष्य का सब प्रकार से निष्क्रिय होना ही है.

सांख्य दर्शन का कहना है कि पुरुष (आत्मा) अकर्त्ता, साक्षी और निर्विकार है. संसार और उस के सब कामकाज प्रकृति रूपी नटी के खेल हैं. जब प्रकृति को पता चलता है कि उसे पुरुष (आत्मा) ने देख लिया है तो वह पुरुष के सामने से सदा के लिए अपना तानाबाना हटा लेती है. तात्पर्य यह है कि जो कुछ हम करते हैं, वह हम नहीं करते; बल्कि प्रकृति करती है, हम तो अकर्त्ता हैं. यह दुनिया से भागने और अपने उत्तरदायित्व को दूसरों पर थोपने का स्पष्ट उपदेश है.

भारत का मुख्य दर्शन

भारत का मुख्य दर्शन अद्वैत वेदांत है. इस के बहुत गुण गाए गए हैं और गाए

जा रहे हैं. इस का लक्ष्य भी वही है जो दूसरे भारतीय दर्शनशास्त्रों का है. यह दर्शन अनुत्तरदायित्व की भावना को पुष्ट कर मनुष्य को उन्मत्त बना देता है, जिसे शास्त्रीय परिभाषा में 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है. इस दर्शन के मुख्य सिद्धांत हैं : जगन्मिथ्या, ब्रह्म सत्यम्, अर्थात यह संसार मिथ्या है और ब्रह्म ही सत्य है. यह दृश्यमान जगत बुद्धि का भ्रम है. जैसे कोई व्यक्ति भ्रमवश शुक्ता (सीपी) को चांदी समझने लगे, वैसे ही बौद्धिक भ्रमवश यह दृश्यमान जगत आभासित हो रहा है.

तत्त्वमसि

छांदोग्योपनिषद्

अर्थात तुम जो कुछ हो, असल में वह कुछ नहीं हो. असल में तुम तत् (ब्रह्म) हो. संसार है ही नहीं. हम हम नहीं, प्रत्युत एक कल्पित वस्तु (ब्रह्म) हैं.

तांत्रिक, वाममार्गी, सिद्ध आदि दुनिया के झमेलों को त्याग कर सुरासुंदरी के चक्कर में संसार से पलायन करते थे.

बुद्धधर्म तो प्रत्यक्षतः था ही पलायनवादी. दुनिया की विषमताओं से घबरा कर क्या गौतम वनों में नहीं भागे? उन का धर्म, उन की शिक्षा भी दुनिया से मुंह मोड़ने की है–'इच्छा का त्याग करो.'

यहां की कोटिकोटि जनता की श्रद्धा के पात्र ऋषिमुनि भी तो सक्रिय जीवन से भाग कर वनों और पर्वतों में छिप कर रहा करते थे.

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपने ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' में ठीक ही लिखा है–"निवृत्ति और अवसाद भारत की सनातन परंपरा में विद्यमान थे. आर्यों के आने के बाद यहां उत्साह की एक प्रबल तरंग अवश्य उठी, किंतु वैदिक आशावाद और उत्साह की प्रबलता चिरस्थायी नहीं हो सकी. जो लोग उत्साह की ऋचाएं रचते थे, स्वयं वे ही अवसाद का गीत गाने लगे." (पृष्ठ 42)

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय जीवन परंपरा से ही पलायनवादी रहा है.

पलायनवाद

पलायनवाद, जैसा कि इस शब्द से ही स्पष्ट है, जीवन की वास्तविकताओं से दूर भागना और किसी ऐसी रेशमी चीज की बनी छत के नीचे आश्रय ग्रहण करना है, जिस से सपनों का निर्माण होता है. कष्ट से सभी दूर भागते हैं, लेकिन जब किसी न किसी तरह से उस से सामना हो ही जाता है तो वह अपना अलग रुख अपनाता है. भिन्नभिन्न प्रतिक्रियाएं होती हैं, क्योंकि सब लोगों में समान सहनशीलता नहीं होती.

इस के अतिरिक्त, यदि किसी बात से किसी को कष्ट होता है तो यह आवश्यक नहीं कि दूसरों को भी उस से कष्ट हो. किसी व्यक्ति के रुख का निर्धारण करने में वातावरण का भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है. यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के सब से अधिक अनुरूप पलायन मार्ग अपनाने की इच्छा करता है.

भारतीय मस्तिष्क पर अद्वैतवेदांत, भक्ति और मोक्ष के रूप से विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों का हमेशा से प्रभाव रहा है. वैदिक काल में जीवन अपेक्षाकृत सादा था, तथापि सोमरस जैसे मादक द्रव्यों का भारतीय जनजीवन में एक विशिष्ट स्थान था. सब प्रकार के समारोहों और कर्मकांडों में इस का इतना अधिक प्रयोग किया जाता था कि अत्यधिक आनंददायक होने के कारण सोमरस को देवता का स्तर प्राप्त हो गया था और इस का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए सोमयज्ञ का विधान किया गया था.

भारतीय मस्तिष्क में ईश्वर के अस्तित्व का सिद्धांत अत्यंत गहरे जड़ जमाए हुए है और यह सिद्धांत पलायनवाद पर आधारित है. इस का मूल वह भय है जो अपनी जड़ गहराई तक जमाए हुए है. रसेल ने अपने ग्रंथ 'मैं ईसाई क्यों नहीं हूं?' में इस मत का पूर्ण समर्थन किया है.

अज्ञात का भय

प्रेरक शक्ति अज्ञात का भय है और इस विचार से भी व्यक्ति को संतोष पहुंचता है कि "विपत्तियों से रक्षा के लिए एक सर्वोच्च रक्षक शक्ति हमेशा विद्यमान है."

समय गुजारने के लिए ईश्वर का नाम जपना और अपने चारों ओर स्थित संसार के अस्तित्व से इनकार करना इसी विचारधारा का मनोवैज्ञानिक समर्थन करना है.

'कर्म' शब्द का गीता में बारबार उल्लेख किया गया है. जब कभी भी किसी को

कर्मप्रधान जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करना होता है, अकसर इस के श्लोकों को उद्धृत किया जाता है. लेकिन गीता का तथाकथित कर्म भी ब्रह्मार्पण या ईश्वर में लीन हो जाने के लिए होता है.

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म सभी व्यक्तियों में विद्यमान है, जो स्वयं को कर्म के रूप में प्रकट करता है और एक शांत सुदूर स्थित दर्शक की भांति किनारे पर खड़ा हो कर सब कुछ देखता रहता है. वह संसार या उस के कार्य के प्रति उदासीन रहता है. यही कारण है कि संसार से विरक्ति का उपदेश दिया गया है. एक उपमा देते हुए आदर्श व्यक्ति की तुलना उस कमल के साथ की गई है, जो कीचड़ में उगने पर भी उस से दूर रहता है. दूसरे शब्दों में, हम से कर्म करने और फल ब्रह्म पर छोड़ देने के लिए कहा जाता है. स्पष्टतः गीता का सार यह है कि इस प्रकार किया गया कर्म करने वाले को बांध नहीं पाता.

अब हमें भक्ति पर विचार करना चाहिए. दुर्गा, सीता, राधा तथा इसी प्रकार की अन्य आकर्षक देवियों का एक भव्य संसार अथवा राम, कृष्ण, विष्णु तथा इसी प्रकार के अन्य देवताओं का एक रंगीन नजारा है. उन के आकर्षण में खो जाइए और अपने चारों ओर के संसार को भूल जाइए. आम आदमी की भाषा में इसे भक्ति कहा जाता है. यह संसार और वास्तविकता की ओर से अपनी आंखें बंद कर लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं.

पंतजलि का योग या राजयोग भी संसार की वास्तविकताओं से इनकार करने का प्रयास है. समाधि या प्राणायाम में, योगी अपने ध्यान को संसार से खींच लेने का प्रयास करते थे. वे संसार को छोड़ देते थे और सुदूरदर्शी किन्हीं गुफाओं या जंगलों में आश्रय ले लिया करते थे.

न्याय शास्त्र में भी आदर्श स्थिति बिलकुल कर्म न करने की मानी जाती है.

संसार से दूर भागना

सांख्यशास्त्र के अनुसार, आत्मा अपरिवर्तनीय, द्रष्टा मात्र और कर्म शून्य है. संपूर्ण संसार और उस का संचालन जादूगर के तमाशे जैसा है. जब ब्रह्म अथवा ईश्वर को यह विश्वास हो जाता है कि आत्मा (व्यक्ति) ने सब कुछ देख लिया है तो वह उस के भ्रम का हमेशा के लिए निवारण कर देता है. सीधे शब्दों में, हम जो कुछ भी करते हैं, वह हम खुद नहीं करते, वह सर्वोच्च सर्वव्यापी शक्ति द्वारा किया जाता है. हम निष्क्रिय रहते हैं, स्पष्ट रूप से यह संसार से दूर भागना और जिम्मेदारी दूसरों पर डालना है.

भारत का सर्वप्रमुख दर्शन अद्वैत है. इस की आज तक प्रशंसा की जाती रही है और अब भी की जाती है. यह अन्य आदर्शों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं. इस से गैरजिम्मेदारी की भावना पैदा होती है और व्यक्ति उदासीन हो जाता है, जिसे वैदिक भाषा में 'मुक्ति' कहा जाता है.

इस का प्रमुख सिद्धांत यह है कि संसार मिथ्या है, ब्रह्म ही सत्य है. हम जो संसार देखते हैं वह हमारी मिथ्या धारणा है, रेगिस्तान में मृगतृष्णा मात्र. हम वह नहीं हैं जो

प्रतीत होते हैं. वास्तव में हम ब्रह्म या चरम सत्य ही हैं. संसार में सत्य बिलकुल नहीं और हम भ्रम अर्थात माया के एक भाग मात्र हैं.

तांत्रिकों, वाममार्गियों, सिद्धों तथा अन्य लोगों ने भी संसार की ओर अपनी पीठ की और 'दैवी' धुएं में सब कुछ भूल बैठे.

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म स्पष्टतः पलायनवादी था क्योंकि जीवन के दुखों से पीड़ित हो कर स्वयं गौतम ने जंगलों में शरण ली थी. उन के उपदेश भी हमें उसी दिशा में ले जाते हैं: 'इच्छा छोड़ो', 'तृष्णा त्यागो' व 'महत्त्वाकांक्षा छोड़ो.' ऋषि, जनसाधारण के आदर्श, भी सक्रिय जीवन से विमुख हो गए और उन्होंने गुफाओं या घने जंगलों में आश्रय ले लिया. इसीलिए रामधारी सिंह 'दिनकर' लिखते हैं कि निवृत्ति और अवसाद भारत की सनातन परंपरा में विद्यमान थे. आर्यों के आने के बाद यहां उत्साह की एक प्रबल तरंग अवश्य उठी, किंतु, वैदिक आशावाद और उत्साह की प्रबलता चिरस्थायी नहीं हो सकी. जो लोग उत्साह की ऋचाएं रचते थे, स्वयं वे ही अवसाद का गीत गाने लगे. (संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 42)

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय जीवन अत्यंत प्राचीन काल से पलायनवादी रहा है.

जहां नारियों की पूजा होती है

भारतीय संस्कृति के व्याख्याता जब नारियों के विषय में बात शुरू करते हैं तो प्राय: मनु का एक श्लोक उद्धृत करते हैं. श्लोक है:

"यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता:.
यत्रैतास्तु न पूज्यंते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:."

–मनु 3/56

अर्थात जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवताओं का निवास होता है और जहां इन की पूजा नहीं होती, वहां सब क्रियाएं निष्फल होती हैं.

वे इस प्रशंसात्मक श्लोक में भारतीय संस्कृति के नारी विषयक दृष्टिकोण को समाहित कर देते हैं और निर्णय देते हैं कि भारतीय संस्कृति में नारी सदैव सम्मानित पद की अधिकारिणी रही है.

उक्त मत प्रस्तुत करने वालों का वास्तविक आशय क्या होता है, वे क्या सोच कर तथाविध निर्णय देते हैं, यह हमारी समझ से बाहर है. यदि हम भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि, उपलब्ध अभिलेखों का तर्कपूर्ण व तटस्थतापूर्वक विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि वास्तविकता कुछ और ही रही है.

वेदों में

हम भारतीय संस्कृति के प्राणभूत और प्राचीनतम अभिलेख ऋग्वेद से श्रीगणेश करते हैं. ऋग्वेद में लिखा है: इंद्र ने स्वयं कहा, "स्त्री के मन को शिक्षित नहीं किया जा सकता. उस की बुद्धि तुच्छ होती है." (ऋ. 8/33/17). इसी पुस्तक में अन्यत्र लिखा है: "स्त्रियों के साथ मैत्री नहीं हो सकती. इन के दिल लक्कड़बग्घों के दिलों से क्रूर होते हैं." (ऋ. 10/95/15)

अथर्ववेद के एक मंत्र (18/3/1) से ज्ञात होता है कि स्त्रियों को फुसला कर, परंपरा की दुहाई दे कर और प्राचीन धर्मों का नाम ले कर मृत पति के साथ जिंदा जलने के लिए कहा जाता रहा है. इस मंत्र पर माधवाचार्य का प्राचीन भाष्य उपलब्ध है. ('चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावलि:' प्रथम भाग, पृ. 224-25).

वेदों के बाद, उन के व्याख्यान रूप, ब्राह्मण ग्रंथ आते हैं. इन में एक 'ऐतरेय ब्राह्मण' नाम का ग्रंथ है जिस का रचनाकाल 2500 ई.पू. बताया जाता है. (रामगोविंद

त्रिवेदी रचित 'वैदिक साहित्य', पृ. 520). इस पुस्तक में हरिश्चंद्रनारद संवाद में नारद कहता है:

'कृपणं ह दुहिता.'

–ऐ. ब्रा. 7/3/1

अर्थात पुत्री कष्टप्रदा, दुखदायिनी होती है.

पुत्री नारी का ही एक रूप है. उस के एक रूप के प्रति जो तिरस्कारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, वही उस के समग्र के प्रति भी समझना चाहिए. 'ऐतरेय ब्राह्मण' के उक्त अंश पर भाष्य करते हुए एक पुराने विद्वान भाष्यकार, सायणाचार्य ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है :

"संभवे स्वजनदु:खकारिका संप्रदानसमयेऽर्थदारिका.
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितुः."

अर्थात जब कन्या उत्पन्न होती है, तब स्वजनों को दुख देती है, जब इस का विवाह करते हैं, तब यह धन का अपहरण करती है. युवावस्था में यह बहुत सी गलतियां कर बैठती है, इसलिए दारिका अर्थात लड़की पिता के हृदय को चीरने वाली कही गई है–'हृदयदारिका पितुः.'

यास्काचार्य का निरुक्त

ईसा से लगभग 800 वर्ष पहले आचार्य यास्क ने 'निरुक्त' नाम की एक पुस्तक लिखी थी. उस का वैदिक साहित्य में बहुत ऊंचा स्थान है. इस में नारी के एक रूप, बेटी के विषय में लिखा है : 'बेटी को दुहिता इसलिए कहा जाता है कि वह 'दुर्हिता' (बुरा करने वाली) और 'दूरेहिता' (उस से दूर रहने पर ही भलाई) है. वह 'दोग्धा' (मातापिता के धन को चूसने वाली) है. (निरुक्त, अ. 3, ख. 4).

इसी पुस्तक के अगले अध्याय में 'कन्या' शब्द की निरुक्ति देते हुए आचार्य यास्क ने लिखा है "कन्या को कन्या कहने का मतलब यह है कि ज्यों ही वह पैदा होती है, त्यों ही यह चिंता उत्पन्न होने लगती है कि इसे किस के गले मढ़ेंगे:

'क्वेयं नेतव्या'.

–निरुक्त 4/15

इन उद्धरणों से तत्कालीन भारतीय संस्कृति की नारी के जन्म के प्रति कलुषित दृष्टि का पता चलता है.

रामायण

कालक्रम से अब हिंदुओं की बाइबिल 'रामायण' का समय आता है. 'रामायण' में नारी को मानवीय स्तर पर न ले कर अमानवीय स्तर पर ज्यादा लिया गया है. उस के चरितनायक के पिता दशरथ का तीनतीन स्त्रियों से विवाह करना

यह घोषित करता है कि तत्कालीन संस्कृति में नारी पुरुष की संपत्ति थी, उस की विलासभूमि थी. यदि इस तथ्य को झुठलाने के लिए कोई यह कहे कि संतान प्राप्ति के लिए तीन बार शादी की गई तो भी बात बनती नहीं. जिस गुरु के आशीर्वाद से तीन स्त्रियों में संतानोत्पत्ति हो सकती है, वही गुरु पहले भी, पहली ही रानी में, ऐसा कर सकता था. यह बात नहीं है कि दूसरे विवाह की अनुमति कुलगुरु से न ली गई हो.

थोड़ी सी उकसाहट में राम के आदेश पर लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा की नाक काट देना भी यही दर्शाता है कि तत्कालीन आर्य संस्कृति में नारी के साथ सहानुभूति के साथ व्यवहार नहीं किया जाता था.

कोटिकोटि भारतीय जनता की श्रद्धा की पात्र सीता के साथ भी यही कुछ किया गया. रावण से सीता को मुक्त करा कर भारतीय संस्कृति के प्रतीक राम ने उस के साथ सहानुभूतिपूर्ण बरताव नहीं किया, प्रत्युत उसे अग्निपरीक्षा के लिए बाध्य किया.

जिस बात की आशंका थी, राम ने वह भी कुछ समय बाद कर दिखाई. एक धोबी के घर से गुप्त रूप में सुने व सीता पर लगाए गए लांछन को ले कर राम ने उसे अर्थात सीता को निर्वासित कर दिया.

राम के इस उपेक्षापूर्ण आचरण का समाधान प्रस्तुत करते हुए कई रामभक्त कहते हैं कि राम का यह पग सिद्ध करता है कि वह अपनी प्रजा के एक छोटे से नागरिक की भावना का भी ध्यान रखते थे. उन के मन में राम का यह आचरण भारतीय राजतंत्र का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है. परंतु उन का कथन राम के चरित्र को हास्यास्पद बना देता है.

उर्मिला के विषय में लक्ष्मण की उपेक्षा भी यही सिद्ध करती है कि उस समय नारी से मानवीय स्तर पर व्यवहार नहीं किया जाता था.

महाभारत

'महाभारत' की नारी की स्थिति भी रामायण की नारी की स्थिति से अच्छी नहीं है. 'महाभारत' के चरितनायकों का चरित्र इस विषय में सब से प्रथम आता है. उन्होंने नारी को विलास का साधन माना. इस आचरण का औचित्य प्रतिपादित करने के लिए 'महाभारत' में कई समाधान दिए गए हैं, जो 'पौराणिक समाधान' के सिवा कुछ नहीं. कुमारिल भट्ट ने पांचों पांडवों के इंद्रांश होने की कल्पना की और लिखा कि पांचों पांडव मिल कर एक इंद्र बनता है, अतः पांचों से उपभुक्त द्रौपदी एक ही इंद्र से उपभुक्त है. ये पौराणिक समाधान कितने दुर्बल हैं!

जुए में सब कुछ हार कर युधिष्ठिर द्रौपदी को दांव पर लगा कर उसे भी हार बैठता है. जब द्रौपदी को दुर्योधन के दरबार में उपस्थित करने के लिए दुश्शासन राजमहल में पहुंचता है तो वह चिल्ला उठती है, "जुए में हार चुके पुरुष के पास ऐसा कौन सा अधिकार है कि वह अपनी पत्नी को दांव पर लगा दे और उसे दूसरों की गुलाम बना दे?" उस का यह चीत्कार तत्कालीन शोषित नारी के चित्र को प्रतिबिंबित करता है.

अब हम 'मनुस्मृति' के कुछ श्लोक प्रस्तुत करते हैं जिन से मनु के नारी विषयक विचार पूर्णतः स्पष्ट हो जाएंगे और सामान्य व्यक्ति को ज्ञात हो जाएगा कि जहां नारियों की पूजा होती है....कह कर उस की प्रशंसा करने वाले मनु की, नारियों के प्रति कैसी राय थी.

निम्नलिखित स्थल मनु के नारी विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने में समर्थ होंगे :

1. पुरुषों को खराब करना स्त्रियों का स्वभाव ही है, अतः बुद्धिमानों को इन से बचना चाहिए. (2/213)
2. पुरुष विद्वान हो, चाहे अविद्वान, स्त्रियां उसे बुरे रास्ते पर डाल देती हैं. (2/214)
3. चाहे माता हो, चाहे बहन हो, चाहे अपनी लड़की हो, इन के पास एकांत में नहीं बैठना चाहिए. इंद्रियां कई बार विद्वानों को भी खींच कर बुरे रास्ते पर ले जाती हैं. (2/215)
4. ललाई लिए भूरे रंग वाली, छः उंगलियों वाली, ज्यादा बालों वाली, बिना बालों वाली, ज्यादा बोलने वाली स्त्री के साथ विवाह न करे. (3/8)
   (वे क्या करें? क्या मातापिता उन्हें सारी उमर घर में रख सकेंगे? क्या वे आत्महत्या कर लें? क्या वे पेशा करने वाली वेश्याएं बन जाएं?)
5. जिन का कोई भाई न हो, उस के साथ विवाह न करे. (3/11)
   (इस में उस बेचारी लड़की का क्या कसूर है कि उस का कोई भाई नहीं है?)
6. पुरुषों को दिनदात स्त्रियों की देखभाल करनी चाहिए. (9/2)
7. कुमारावस्था में पिता उस की देखभाल करता है, युवावस्था में पति और बुढ़ापे में पुत्र. नारी स्वतंत्र नहीं की जानी चाहिए. स्त्रियों को जराजरा सी बातों से बचाना चाहिए, नहीं तो दोनों कुलों की बदनामी होती है. (9/3,5)
8. स्त्रियों को घर के कामों और धर्म के कार्यों में व्यस्त रखना चाहिए ताकि वे खाली समय प्राप्त न कर सकें. (9/11)
9. स्त्रियों को बचा कर रखना चाहिए. वे सुंदर या कुरूप का भी ध्यान नहीं करतीं. वे किसी भी पुरुष की हो जाती हैं. (9/14)
10. स्त्रियों में क्रोध, कुटिलता, द्वेष और बुरे कामों में रुचि स्वभाव से ही होती है. (9/17)
11. स्त्रियों के संस्कार वेदमंत्रों से नहीं करने चाहिए. वे मूर्ख होती हैं. वे अशुभ होती हैं. (9/18)
12. विधवा स्त्री का दोबारा विवाह नहीं करना चाहिए. यदि किया जाए तो धर्म का नाश होगा. (9/64)

13. यदि सगाई के बाद ही भावी पति मर जाए, कन्या को उस (पति) के छोटे भाई से ब्याह दे. (9/69)

मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में स्त्रियों के दायभाग के विषय में जो पक्षपातपूर्ण विधान उपलब्ध हैं, वे किसी भी व्यक्ति में करुणा जागृत कर सकते हैं. 'लेक्चर्स आन धर्मशास्त्र' के पृष्ठ 42 से 63 तक पढ़ कर संक्षेप में हम इस विषय में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं. उस समय स्त्रियों को अचल संपत्ति का अधिकार प्राप्त नहीं था.

पौराणिक साहित्य

पुराणसाहित्य में बहुत से ऐसे प्रकरण उपलब्ध हैं जिन में बाल विधवाओं को सिर मुंडवा कर और श्वेत वस्त्र पहन एकांत में रहने के आदेश दिए गए हैं. भागवत पुराण में तो यहां तक लिखा है कि पति चाहे लंगड़ा हो, चाहे अंधा, चाहे कुबड़ा हो, चाहे कोढ़ी, स्त्री को उसे छोड़ने का अधिकार नहीं है.

भारतीय इतिहास में कौटिल्य और उस के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' का कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है. अतः ऐसे आचार्य के नारी विषयक विचार जानने की उत्सुकता उत्पन्न हो जाना स्वभाविक ही है. 'चाणक्यनीतिदर्पण' में चाणक्य ने लिखाः

1. "अग्नि, पानी, स्त्री, मूर्ख व्यक्ति, सर्प और राजा से सदा सावधान रहना चाहिए. क्योंकि ये सेवा करतेकरते ही उलटे फिर जाते हैं अर्थात प्रतिकूल हो कर प्राण हर लेते हैं." (14/12)
2. "स्त्रियां एक के साथ बात करती हुई दूसरे की ओर देख रही होती हैं और दिल में किसी तीसरे का चिंतन हो रहा होता है. इन्हें किसी एक से प्यार नहीं होता." (16/2)
3. "स्त्रियां कौन सा दुष्कर्म नहीं कर सकतीं?" (10/4)
4. "झूठ, दुस्साहस, कपट, मूर्खता, लालच, अपवित्रता और निर्दयता स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं." (2/1)

पंचतंत्र आदि प्रसिद्ध ग्रंथों में ऐसी कथाएं विद्यमान हैं जिन का उद्देश्य नारी को मूर्ख और मूढ़ सिद्ध करना है.

छठी शताब्दी में भर्तृहरि नामक एक राजा हुआ है, जो एक कवि, नीतिवेत्ता और योगी के रूप में विख्यात है. उस ने अपने 'शृंगारशतक' और 'वैराग्यशतक' में स्त्रियों के लिए बहुत घटिया किस्म के विशेषण प्रयुक्त किए हैं, उन की बहुत भर्त्सना की है और उन्हें बहुत नीच सिद्ध करने का प्रयास किया है. उस ने 'शृंगारशतक' के 76वें पद्य में लिखा है:

"स्त्री संशयों का भंवर, उद्दंडता का घर, उचितानुचित काम की शौकीन, बुराइयों की जड़, कपटों का भंडार, अविश्वास की पात्र होती है. महापुरुषों को सब बुराइयों से भरपूर स्त्री से दूर रहना चाहिए. न जाने धर्म का संहार करने के लिए स्त्री की सृष्टि किस ने कर दी!"

आठवीं सदी के महान हिंदू दार्शनिक शंकराचार्य ने स्त्रियों के विषय में जो विचार अभिव्यक्त किए हैं, उन्हें पढ़ कर आज खयाल आता है कि इस अद्वैतवादी

की अकल को क्या हो गया था! अपनी 'प्रश्नोत्तरी' में उस ने स्पष्ट लिखा है कि नारी नरक का द्वार है.

तेरहवीं शताब्दी के बाद संत कबीर जैसे मार्गदर्शकों ने बहुत प्रभावशाली ढंग से परिवर्तन का चक्र चलाया, परंतु उन के स्त्री विषयक विचार वही रहे जो भर्तृहरि और शंकर के थे. कबीर ने लिखा है:

"नारी तो हम हू करी, कीन्हा नहीं विचार.
जब जानी तब परिहरी, नारी सकल विकार."
"नारी की झांईं परत, अंधा होत भुजंग.
कबिरा तिन की क्या गति, नित नारी के संग."

तुलसीदास के नारी-विषयक विचार नितांत निम्नस्तर के हैं. वह लिखता है:

"ढोल गंवार शूद्र पसु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी."

'रंडी' और 'रांड'

हमारी भाषा में 'रंडी' और 'रांड' दो शब्द हैं. 'रंडी' का अर्थ 'शिक्षार्थी हिंदी शब्दकोश' (पृ. 688) में इस प्रकार लिखा है–'1. धन ले कर व्यभिचार करने वाली स्त्री, वेश्या. 2. विधवा.' यही अर्थ इस शब्द के 'प्रामाणिक हिंदी कोश' (पृ. 694) में दिए गए हैं. पंजाबी भाषा में भी 'रंडी' शब्द एक साथ विधवा और वेश्या का वाचक माना गया है.

'रांड' शब्द भी वेश्या और विधवा दोनों को एक साथ अभिहित करता है. 'वृहत् हिंदी कोश' (पृ. 951) में इस का अर्थ इस तरह लिखा है–"बेवा, विधवा, जिस स्त्री का पति मर चका हो; वेश्या, रंडी." यही अर्थ 'प्रामाणिक हिंदी कोश' के पृष्ठ 704 पर देखे जा सकते हैं.

विधवा और वेश्या के लिए एक ही शब्द का होना विधवा को वेश्या और वेश्या को विधवा समझने के समान है, जो सर्वथा निंदनीय है. क्या हर विधवा वेश्या होती है? या, क्या हर वेश्या विधवा होती है? फिर दोनों के अंतर को धूमिल करने वाला, दोनों का वाचक एक ही शब्द क्यों रखा गया है? क्या यह हिंदू/भारतीय विधवाओं का अपमान नहीं?

काशी की बाबत एक लोकोक्ति प्रचलित है–'रांड सांड़ सीढ़ी संन्यासी, इन से बचे तो सेवे काशी.' यहां काशी में रांडों, सांड़ों, सीढ़ियों और संन्यासियों की बहुतायत अभिव्यक्त की गई है. परंतु यहां प्रश्न उठता है कि 'रांड' का क्या अर्थ लिया जाए–वेश्या या विधवा? और जो भी अर्थ लिया जाए, वह क्यों लिया जाए अर्थात उसे किस आधार पर स्वीकार किया जाए? ऐसे प्रसंगों में एक निश्चित अर्थ का अभाव बुरी तरह अखरता है.

ऋग्वेद में 'विधवेव देवरम्' (10-40-2) आता है. इस का अर्थ करते हुए स्वामी दयानंद सरस्वती ने लिखा है–"जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ संतानोत्पत्ति करती है,

वैसे ही तुम भी करो." फिर उन्होंने निरुक्तकार यास्क के अनुसार 'देवर' शब्द का अर्थ बताते हुए लिखा है–"विधवा का जो दूसरा पति होता है, उस को 'देवर' कहते हैं." (देखें, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, नियोग प्रकरण)

मुझे यह समझ नहीं आता कि विधवा और वेश्या को एक ही शब्द द्वारा अभिहित करने के पीछे काम करने वाली मानसिकता विधवा के प्रति अतिशय घृणा से प्रेरित है या प्रच्छन्न कामुकता से. जो भी हो, यह हमारे सांस्कृतिक व मनोवैज्ञानिक जीवन पर एक कलंक से कम नहीं है. इसे हटाए बिना भारतीय/हिंदू विधवाओं के अपमान के नाम पर 'वाटर' फिल्म के विरोध में गंगा में डूबकर या अपने को आग लगाकर आत्महत्या करने के प्रयास हमें अपराध बोध से मुक्ति नहीं दिला सकेंगे.

यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि रंडी और रांड का पुल्लिंग रंडुवा या रंडुआ है, जो केवल इतना अर्थ देता है–'वह जिस की पत्नी की मृत्यु हो चुकी हो.' इस के साथ कोई दूसरा अर्थ नहीं जुड़ा हुआ है. होना तो यह चाहिए था कि रंडुवा/रंडुआ वेश्यागामी का अर्थ देता, जैसे रांड/रंडी वेश्या का अर्थ देते हैं; परंतु ऐसा नहीं है. क्या ऐसा इसलिए नहीं हो सका कि भाषा भी मर्द की दासी है? या, मर्द ने अपने वाचक शब्द के साथ अपमानजनक अर्थ को श्लिष्ट नहीं होने दिया?

पंचतंत्र, जो चौथी शताब्दी ई. की रचना मानी जाती है, में 'रंडा' शब्द वेश्या के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है :

रंडे पंडितमानिनि

–1/392

इसी तरह यह शब्द ग्यारहवीं शताब्दी में रचित संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदयनाटकम्' में भी प्रयुक्त हुआ है :

तां रंडां पाखण्डेषु नियोजय

–2/38

इसी नाटक में 'रंडा' शब्द विधवा के लिए भी प्रयुक्त हुआ है–

रंडा: पीनपयोधरा:

–3/18

स्पष्ट है, पंचतंत्र पिछले सोलह सौ वर्षों से 'रंडा' शब्द को वेश्या के लिए प्रयुक्त करता चला आ रहा है. बाद में यही विधवा के लिए प्रयुक्त होने लगा, जैसा कि 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक से स्पष्ट है. यह कटु तथ्य नारी के प्रति हमारे दृष्टिकोण का ही परिचायक है.

इस सर्वेक्षण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि इस देश में नारी के साथ पूर्ण मानवीय स्तर पर, अतीत में, कभी व्यवहार नहीं किया गया. काश, इस प्रकार की भ्रामक रचनाएं हमारे यहां न होतीं.

रक्त सने पृष्ठ

आज तक उपलब्ध वाङ्मय में मांस के पक्षविपक्ष में काफी कुछ कहासुना गया और कहासुना जाता है. इस दृष्टि से यदि प्राचीन भारतीय वाङ्मय का अध्ययन करें तो अनेक आश्चर्यजनक तथा बीभत्स तथ्य मालूम होते हैं, यथा गौओं को मारना, गोमांस खाना, चरबी से हवन करना, अलगअलग किस्म के मांस से देवों और पितरों की तृप्ति की अवधि निर्धारित करना, ऋषिमुनियों द्वारा कुत्ते आदि का मांस खाना इत्यादि.

किस्सा शुनःशेप का

कालक्रम के अनुसार पहले वेदों का पर्यालोचन किया जाना संगत होगा. ऋग्वेद (I-24-12 से 15) में 'शुनःशेप' नामक पुरुष का वर्णन है, जिसे नरमेध यज्ञ में बलि चढ़ाने की तैयारी है. महाभारत (अनुशासन पर्व, अ. 3) से पता चलता है कि वह ऋचीक उर्फ अजीतगर्त का पुत्र था. इसे राजा हरिश्चंद्र के यज्ञ में बलि देने के लिए लाया गया था.

मनुस्मृति (10/105) की 'मन्वर्थमुक्तावली' नाम की एक प्राचीन संस्कृत व्याख्या से पता चलता है कि उक्त शुनःशेप को उस के पिता अजीगर्त ने यज्ञ में बलि देने के लिए हरिश्चंद्र के हाथों स्वयं बेचा. इतना ही नहीं, वह 100 गौओं के बदले यज्ञ में उस की बलि भी स्वयं अपने ही हाथों देने के लिए तैयार हो गया था. यह है पितापुत्र के मधुर संबंधों की शिक्षा जो हमारे 'पूज्य' धर्मग्रंथ हमें देते हैं और जिन को बिना पढ़ेसुने औसतन हिंदू इन के गुण गाते नहीं अघाते.

ऋग्वेद के व्याख्यान रूप 'ऐतरेय ब्राह्मण' में यह कथा कुछ इस ढंग से चित्रित की गई है कि कई नए तथ्य अवगत होते हैं. उक्त पुस्तक (सप्तम पंचिका, अ. 3) में लिखा है कि राजा हरिश्चंद्र की कोई संतान नहीं थी. इसलिए उन्होंने वरुणदेव की उपासना की. वरुण ने प्रसन्न हो कर वर दिया, 'संतान तो होगी पर बलि देनी होगी.'

राजा को रोहित नाम का लड़का तो हुआ पर लड़के की बलि देने की बात राजा टालने लगा. अंत में राजा को रोग ने पकड़ लिया. तब राजा ने अजीगर्त ऋषि के पुत्र शुनःशेप को खरीद कर उस की बलि देना तय किया. यज्ञ का समारंभ हुआ. वरुण की स्तुति कर शुनःशेप ने मुक्ति पा ली (अन्यथा उस का कबाब बना दिया जाना था). हरिश्चंद्र भी नीरोग हो गए. शुनःशेप ने लोभी पिता का त्याग कर दिया और

विश्वामित्र ने उसे पुत्र के रूप में अपना लिया. (वैदिक साहित्य, पृष्ठ 183-184). यह कथा इसी रूप में 'शांखायन ब्राह्मण' (15-17) और 'ब्रह्मपुराण' (अ. 104) में भी उपलब्ध होती है. ऐसे ही प्रसंग आज तक लोगों से लोमहर्षक नरसंहार करवाते आए हैं.

ऋग्वेद (10-86-14) में इंद्रदेव को अपनी हांकते हुए देखिए :

उक्ष्णो हि मे पंचदश साकं पचन्ति विंशतिम्, उताहमद्मि
पीव इदुभा कुक्षी पृणंति मे विश्वस्मादिंद्र उत्तर.

अर्थात मेरे लिए इंद्राणी द्वारा प्रेरित यज्ञकर्ता लोग 15-20 बैल मार कर पकाते हैं, जिन्हें खा कर मैं मोटा होता हूं. वे मेरी कुक्षियों को सोम से भी भरते हैं.

गोहत्या

ऋग्वेद (10-89-14) से स्पष्ट होता है कि गोहत्या ऐसी मामूली बात थी कि बातचीत में उपमा के लिए इस का प्रयोग होता था. देखिए :

मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः पृथिव्या आपृगमुया शयंते.

अर्थात हे इंद्र, जैसे गोहत्या के स्थान पर गौएं काटी जाती हैं, वैसे ही तुम्हारे इस अस्त्र से मित्रद्वेषी राक्षस लोग कट कर पृथ्वी पर सदा के लिए सो जाएं.

ऋग्वेद (5-29-7, 8-12-8 और 8-66-10) में देवताओं द्वारा बहुत सी भैंसें खाने का वर्णन है. आगे बढ़ने से पूर्व यहां यह संकेत कर देना उचित होगा कि आर्य लोग जो कुछ अपने देवताओं के लिए उपहारस्वरूप अर्पित करते थे या जो कुछ यज्ञों में व्यवहृत करते थे, उसे वे स्वयं भी खाया करते थे, क्योंकि यज्ञ में स्वाहा होने से बचे पदार्थ को खाना परमपुण्य माना गया है (गीता 3/13). वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड (103/30) से पता चलता है कि लोग स्वयं जो खाते हैं वही कुछ खाने वाले देवताओं की कल्पना कर लेते हैं. मांसाहारी मांसभोजी देवता कल्पित करते हैं और शाकाहारी शाकभोजी.

यजुर्वेद के 21वें अध्याय के 43वें मंत्र में कहा गया है, 'अश्विनी कुमारों के लिए बकरे की ताजी चरबी से यज्ञ करना चाहिए.' (उवट व महीधर भाष्य) और भी, 'जो इस संसार में बहुत पशु वाला होम कर के हुतशेष का भोक्ता (होम करने से बची सामग्री को खाने वाला), वेदवित्...मनुष्य हो, सो प्रशंसा को प्राप्त होता है.' (यजुर्वेद 19/20, स्वामी दयानंदकृत भाष्य).

यहां हम दयानंद स्वामी–वेदों के आधुनिक महापंडित–की प्रसिद्ध पुस्तक 'सत्यार्थप्रकाश' के 1875 के संस्करण का भी एक उद्धरण प्रस्तुत कर दें तो असंगत न होगा. उक्त पुस्तक में प्रस्तुत विषय में इस तरह छपा था, "जहां गोमेधादिक यज्ञ लिखे हैं, वहां पशुओं में नरों का मारना लिखा है, क्योंकि जैसे पुष्ट बैल आदि नरों में हैं, वैसे गाय आदि नहीं होते. जो बंध्या गाय होती है उस का भी गोमेध में मारना लिखा है (देखें स. प्र., 1875, पृ. 303, दयानंद भावचित्रावली पृष्ठ 28 पर उद्धृत).

पुरुषमेध

यजुर्वेद अध्याय 31 में 'पुरुषमेध' यज्ञ (जिस में नरबलि दी जाती थी) का विवरण उपलब्ध होता है—भूतकालिक क्रियाओं में वहां नवम मंत्र में लिखा है:

तं यज्ञं वर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रत:,
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये.

अर्थात उस यज्ञार्थ पुरुष रूपी पशु का जल छिड़क कर प्रोक्षण किया. उस से देवताओं और ऋषियों ने पूजा की.

14वें मंत्र में पुन: स्पष्ट लिखा है, 'यज्ञ में पुरुष के मांस को हवि: बनाया गया.'

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत.

—यजु. 31/14

उवट भाष्य:

यत् यस्मात्कारणात् पुरुषेण हविषा हविर्भूतेन देवा इन्द्रादय:
यथा यज्ञं अतन्वत विस्तारितवन्त:.

अर्थात जिस कारण पुरुष रूपी हवि (हवन सामग्री) से इंद्रादि देवों ने यज्ञ का विस्तार किया.

देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबन्धन्पुरुषं पशुम्

—यजु. 31/15

उवट भाष्य:

देवा इन्द्रादय: यथा यज्ञं पुरुषमेधाख्यं
विस्तारयन्त: पुरुषं पशुं अबन्धन् हतवन्त:.

अर्थात इंद्र आदि देवताओं ने पुरुषमेध (नरमेध) नामक यज्ञ का विस्तार किया और उन्होंने पुरुष रूपी पशु का वध किया.

अथर्ववेद में मांस और शराब ऐसे प्रयुक्त हुए हैं कि उन से तात्कालिक समाज में दोनों के मान्यता प्राप्त स्वरूप का सहज ही अनुमान किया जा सकता है. साधारण बातचीत में उपमाएं देने में ये दोनों सामान्यतया प्रयुक्त हुए हैं. उदाहरणार्थ 'तुम्हारा मन जैसे मांस में, जैसे शराब में रमता है, वैसे ही तेरा मन बच्चे में भी रमे' (अथर्व. 6/70/1).

'अपूपों (मालपूओं) व मांस वाले चरु को वेदि पर लाओ, जिस में से हमें देवों को भाग देना है' (अथर्व. 18/4/20).

'तेरे लिए जिस मक्खन, भात और मांस को देता हूं, वह तुम्हारे लिए स्वधा वाला, मधुरता से पूर्ण और घी से परिपूर्ण होवे (अथर्व. 18/4/42). इसी प्रकार अथर्व. 12/2/7 आदि स्थल भी द्रष्टव्य हैं.

गृह्यसूत्रों में शूलगव यज्ञ में गोबलि देने का विधान है (बौधायन गृह्यसूत्र 2,7). शूलगव का अर्थ स्पष्ट करते हुए काठक गृह्यसूत्र के व्याख्याता देवपाल ने लिखा है–इस में प्रयुक्त की जाने वाली सामग्री शूल पर पकाए गए गौ के अंग होते हैं. शांखायन गृह्यसूत्र (4/17/3) के अनुसार इस में सांड का संज्ञपन (नाकमुंह बंद कर के पशु को मारना) कर के रुद्र का यजन किया जाता है. धान्य के तुष, पशु की पूंछ, खाल, सिर तथा पैरों का अग्नि में होम किया जाता है और पशु के रक्त को सांपों के निमित्त अर्पित किया जाता है. अंत में एक बछड़ा भावी शूलगव के लिए छोड़ दिया जाता है.

बौ. गृ. सूत्र के अनुसार अरण्य में स्थापित अग्नि में गौ की वपा (चर्बी) और मांसखंडों को शूलों पर भून कर एक छोटे पात्र में पकाया जाता है तथा अग्नि के भिन्नभिन्न अंगों में भिन्नभिन्न देवीदेवताओं के निमित्त आहुतियां दी जाती हैं.

बलिप्रथा

'गोपथ ब्राह्मण' (3/18) में बताया गया है कि बलि पशु के किसकिस भाग को पाने का कौनकौन अधिकारी है. उस के अनुसार, 'जीभ, गला, कंधा, नितंब और टांगें पुरोहित के लिए हैं. यजमान पीठ का भाग लेता है, उस की पत्नी पेडू का भाग.' 'ऐतरेय ब्राह्मण' में भी इसी प्रकार का वर्गीकरण उपलब्ध होता है. 'शतपथ ब्राह्मण' (3/1/2/21) में पुरोहितों के इस पारस्परिक विवाद पर कि मांस बैल का खाना चाहिए या गाय का, याज्ञवल्क्य निर्णय देते हैं, 'दोनों में जो नरम हो, मैं तो उसे खाता हूं.'

तदु होवाच याज्ञवल्क्योऽश्नाम्येवाहमंसलं चेद् भवतीति.

वेदों के एक पुराने भाष्यकार महीधर ने अपने भाष्य में लिखा है कि गोमेध यज्ञ में मारी गाय के रक्त व हड्डी से दूध और कपूर बन जाते हैं. इसी यज्ञ पर प्रकाश डालते हुए संस्कृत के एक विश्वकोश 'शब्दकल्पद्रुम' में लिखा है, 'गाय का संपूर्ण प्रयोग बकरे की तरह होना चाहिए. गोमेध के फलस्वरूप यजमान को स्वर्ग और मृत गाय को गोलोक की प्राप्ति होती है.'

ऐसे बूचड़खानों के आंगन जैसे खून और मांस से लथपथ पृष्ठों को देख कर भी अनदेखा कर देने वाले श्रद्धांध वैदिक कहते हैं, 'यह सब हिंसा नहीं प्रत्युत अहिंसा ही है क्योंकि वेद इसे कहीं हिंसा नहीं कहते. हिंसा और अहिंसा का निर्णय वेदों को करना है. वह हिंसा जिस की आज्ञा वेद दें या जो हिंसा यज्ञों में की जाती है, वह हिंसा नहीं होती.'

निरुक्त के प्रथम अध्याय से हमें एक और परस्पर विरोधी एवं आत्म व लोकप्रवंचक बात पता चलती है. वहां एक वेदविरोधी कहता है, "वेद और उस के विधान सदोष हैं क्योंकि जब यज्ञ में पशु मारा जाता है तो जो मंत्र तब पढ़ा जाता है उस का अर्थ होता है–'हे खड्ग, इस पशु को मत मार."

इस आक्षेप का उत्तर देते हुए वेदों के मर्मज्ञ यास्क ने लिखा है :

आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत

अर्थात वेदों का आदेश ऐसा ही है, अतः यह अहिंसा ही है.

यानी ये पशु को मार कर भी यही कहते हैं कि यह मरा नहीं, क्योंकि वेद इसे मरा हुआ नहीं कहते. उक्त स्थल पर भाष्य करते हुए छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर ने प्राचीन उक्ति उद्‌धृत की है:

या वेदविहिता हिंसा न सा हिंसा प्रकीर्तिता,

अर्थात जो कत्ल व गारत वेदों द्वारा विहित है, उसे कत्ल व गारत नहीं कहा जा सकता.

'ब्रह्मविद्या के भंडार' और भारतीय दर्शन के आधार उपनिषद् भी उस कत्लेआम की शिक्षा देने से परहेज नहीं कर सके. बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है :

> अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पंडितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रवीत सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा.
>
> –बृहद उपनिद. 6/4/18

अर्थात, जो यह चाहे कि मेरा पुत्र सभाओं में वाग्मी और सब वेदों में पारंगत हो तथा शतायु हो, उस दंपती को चाहिए कि वे बैल व सांड का मांस पका कर, घी और भात मिला कर खाएं.

मार्गदर्शक विधि संहिताएं

वैदिककाल के उत्तरवर्ती समय में गृह्यसूत्रों का प्रणयन हुआ, वे गृहस्थ जीवन की मार्गदर्शक विधिसंहिताएं हैं. उन में यज्ञों, दैनिक, मासिक व पाक्षिक–सब प्रकार के कृत्यों के निर्देश प्रस्तुत किए गए हैं. उन का अध्ययन हमें प्रस्तुत विषय में बहुत ही सहायता प्रदान कर सकता है. 'आपस्तंबगृह्यसूत्र' (रचना काल 1400 ई. पू. देखें 'वैदिक साहित्य, पृ. 522) में लिखा है कि 'जब वेदज्ञ ब्राह्मण, कोई स्नातक या आचार्य घर पर आए, उस का मधुपर्क' से सम्मान करे. मधुपर्क दाता गाय उस के समक्ष करे, यदि वह आज्ञा दे तो 'गौरस्य पहतपा' इत्यादि मंत्र पढ़ कर उसे मार कर आगंतुक को दे' (देखें उक्त पुस्तक, 13/5/15 से 17).

इसी प्रकार 'मानव गृह्यसूत्र' के पु. 1/9/19 से 22 में लिखा है कि 'मधुपर्क में गाय मार कर भिन्नभिन्न गोत्र वाले चार ब्राह्मणों को भोजन कराए.' वहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि वेद का कथन है कि मधुपर्क मांसरहित नहीं हो सकता' (देखें 21वां सूत्र : 'नामांसो मधुपर्क इति श्रुतिः). इसी पुस्तक में समावर्तन संस्कार के विधान में लिखा है कि 'पूर्णिमा व अमावस्या को पशुयाग करे. यज्ञ से अवशिष्ट मांस, शहद और क्षर लवण आदि को खा जाए' (1/3/19–20)

'आश्वलायन गृह्यसूत्र' (रचना काल 1200 ई. पू. देखें. 'वैदिक साहित्य' पृ.

521, में लिखा है, 'बैलादि के मांस से तुम्हारी जितनी तृप्ति होती है, उतनी ही विद्याध्ययन से भी हो' (1/1/5), 'पशु के ग्यारह शरीरांशों को पका कर, उस के दिल को शूल में गाड़ कर और तपा कर स्थालीपाक से पहले हवन करे' (आ. गृ. 1/11/12). 'जब बच्चा छः मास का हो जाए, उस के मुंह में अन्न डालना चाहिए. जो अन्नादि की कामना रखता हो उसे चाहिए कि वह बच्चे के मुंह में बकरे का मांस डाले, जो ब्रह्मवर्चस चाहता हो वह तित्तिर का शोरवा डाले' (आ. गृ. 1/16/1 से 3), 'दूसरे दिन अष्टमी को पशु और स्थालीपाक से हवन करे' (आ. गृ. 2/4/7), 'अष्टमी को जो पशु मारा जाए, उसी का मांस ब्राह्मणों को परोसे' (आ. गृ. 2/5/2).

मधुपर्क

'पारस्कर गृह्यसूत्र' (रचना काल 1000 ई. पू.) में लिखा है, "आचार्य, ऋत्विक, वैवाह्य, राजा, प्रियजन आदि उत्कृष्ट जाति के हों अथवा समान जाति के और स्नातक अर्घ्य (पूज्य) होते हैं. इन में से कोई जब किसी के घर आए तो गृहपति को चाहिए कि इन का मधुपर्क आदि के द्वारा सत्कार करे. सत्कार मांस के बिना नहीं होता. अतः इस के लिए गवालंभ (गोवध करना) करने के लिए कहा है. मधुपर्क प्राशन हो जाने पर गृहपति खड्ग और गौ पूज्य व्यक्ति के सामने करे. अर्घ्य यदि मांस खाने वाला हो तो मारने की आज्ञा दे. यदि वह निरामिषभोजी हो तो छोड़ देने की आज्ञा दे. यज्ञ और विवाह में छोड़ने की आज्ञा नहीं देनी चाहिए...देखिए 'पारस्कर गृह्यसूत्र, अर्हण प्रकार निरूपण' (उत्तर रामचरित, चौखंबा प्रकाशन, 1966 का संस्करण, पृष्ठ 409 पर काशी हिंदू विश्वविद्यालय के संस्कृत प्राध्यापक कांतानाथ तेलंग की टिप्पणी).

वैदिक कर्मकांड के महाविद्वान कुमारिल भट्ट के शिष्य महाकवि भवभूति ने अपने विख्यात नाटक 'उत्तररामचरितम्' के चतुर्थ अंक के विष्कंभक में लिखा है कि भगवान (?) वाल्मीकि के आश्रम में भगवान (?) वसिष्ठ पहुंचे तो दो वर्ष की गाय को कत्ल कर के उन का सत्कार किया गया. दंडायन के मुख से नाटककार ने कहलवाया है, "मधुपर्क मांस के साथ देना चाहिए. इस वेदवाक्य का विशेष सम्मान करने वाले गृहस्थ लोग वेदज्ञ अतिथि के लिए दो साल की बछिया या बड़े बैल को पकाते हैं. धर्मसूत्रकार इस प्रकार के कृत्य को धार्मिक कर्म कहते हैं" (देखें उक्त नाटक, चतुर्थ अंक).

इस स्थल पर व्याख्या करते हुए 'चंद्रकला' नामक संस्कृत व्याख्या में 'याज्ञवल्क्य स्मृति' का एक श्लोकार्ध उद्धृत किया गया है:

महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्.

अर्थात, बड़ा बैल या बड़ा बकरा वेद के विद्वान के निमित्त करे, उस के लिए खाने को जुटाए. (देखें चौखंबा प्रकाशन के 'उत्तररामचरितम्' चंद्रकला व्याख्या सहित का पांचवां संस्करण, पृ. 207). ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी अपने को भारतीय संस्कृति के प्रतीक मान कर चलने वाले कुछ तथाकथित धार्मिक नेता आए

दिन गोरक्षा का कोहराम मचाते रहते हैं और जीवित मानवों की अनिवार्य आवश्यकताओं को दृष्टिविगत करते रहते हैं.

इस बारे में आर्यसमाजी संन्यासी स्वामी विद्यानंद सरस्वती अपनी पुस्तक में जो कुछ लिखते हैं, मैं उसे ही यहां उद्धृत करना चाहूंगा. वे लिखते हैं :

''सरदार वल्लभभाई पटेल के जन्मस्थान करमसद (गुजरात) में कांची कामकोटि पीठाधीश जगद्गुरु शंकराचार्य श्री जयेंद्र सरस्वती ठहरे हुए थे. हम ने उन से भेंट की और कहा कि जब हम लोग गोवध पर प्रतिबंध लगाने की मांग करते हैं तो प्रायः कहा जाता है कि जब हिंदू शास्त्रों में अनेकत्र गोवध का विधान है तो आप किस मुंह से यह मांग करते हैं. जगद्गुरु के नाते हिंदू धर्म में आप का विशिष्ट स्थान है, अतः यदि आप की ओर से निम्नाशय का एक वक्तव्य प्रसारित हो जाए तो बड़ा लाभ होगा :-

'हिंदू शास्त्रों में कहीं भी गोवध का विधान नहीं है. यदि कहीं इस के विपरीत अर्थात गोवध का प्रतिपादक उल्लेख मिलता है तो वह स्वार्थी लोगों के द्वारा किए गए प्रक्षेपों अथवा अशुद्ध अर्थों के कारण है. उन्हें प्रमाण नहीं माना जा सकता.'

श्री शंकराचार्य जी ने उत्तर दिया कि हम अपने वक्तव्य में इतना ही लिख सकते हैं कि 'हिंदू शास्त्रों में गोमांस खाने का विधान नहीं है.' जब हम ने उन से इस का स्पष्टीकरण करने के लिए कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'वेदादि शास्त्रों में यज्ञ के निमित्त गोहत्या का स्पष्ट विधान है. जहां कहीं गोवध का निषेध किया है वह मांस न खाने के उद्देश्य से किया गया है. यज्ञ में आहुति देने के लिए गोहत्या का निषेध कहीं नहीं है. सर्वत्र उस का प्रतिपादन किया है. शास्त्रों में ऐसा गौ के हितार्थ किया गया है, क्योंकि यज्ञ में आहुति डालने के लिए मारी गई गौ को स्वर्ग की प्राप्ति होती है.' (वेदार्थ भूमिका, पृ. 20)

नदी पूजा के लिए भी मद्य और मांस

'वाल्मीकि रामायण' से पता चलता है कि गंगा जैसी सात्विक नदी की पूजा के लिए भी मद्य और मांस ही उपयुक्त सामग्री बन गए थे. रामायण की नायिका सीता गंगा पार कर के ज्यों ही विदा होने लगी, वह गंगा से वादा करती है, "हे, देवि, मैं अपनी इस नगरी को वापस आ कर तुम्हारी शराब के हजारों घड़ों और मांस मिश्रित ओदन से पूजा करूंगी." (वा. रा., अयोध्या कांड, 52/89 गीता प्रेस, गोरखपुर प्रकाशन). और अन्यत्र सीता के ससुर दशरथ ने सीता के पति व देवर उत्पन्न करने के लिए जो तथाकथित 'पुत्रेष्टियज्ञ' किया था, उस में 300 पशु और पक्षी यज्ञयूपों से बलि देने के लिए बांधे थे. इतना ही नहीं, उस यज्ञ में कौसल्या ने तीन बार तलवार चला कर एक घोड़े को कत्ल किया. उस घोड़े की चरबी को ऋत्विक (पुरोहित) ऋष्यश्रृंग ने शास्त्र विधान के अनुसार पकाया. उस की गंध में दशरथ के सब पाप नष्ट हो गए (देखें वा. रा. बालकांड, 14/31 से 36).

इसी रामायण के उत्तरकांड, सर्ग 42 से पता चलता है कि 'सीता को रामचंद्र ने अपने हाथों मैरेय (गुड़ और धौ के फूलों से बनी शराब) पिलाई' (18-19),

'तब सेवक राम के खाने के लिए तरहतरह के मांस और मिष्ठान्न ले आए, (19-20). अयोध्याकांड (सर्ग 56/23) से पता चलता है कि राम ने मृगमांस मंगवा कर पर्णकुटी की पूजा की और वह मृग लक्ष्मण के हाथों मरवाया गया. अरण्यकांड (सर्ग 47) में सीता रावण से कहती है, "अभी मेरा पति बहुत से काले मृगों, गोहों और सूअरों का मांस ले कर आ जाएगा" (श्लोक 23). अयोध्याकांड (सर्ग 91/52) में लिखा है कि भरत के साथ आए अयोध्यावासियों का सत्कार करते हुए ऋषि भरद्वाज ने शराबियों के लिए शराब और मांस खाने वालों के लिए अच्छेअच्छे मांस जुटाए.

महाभारत में मांस भक्षण

महाभारत (वर्तमान स्वरूप 50 ई. में वर्तमान था–देखें सी.वी. वैद की पुस्तक–महाभारत : ए क्रिटिसिज्म, पृ. 10) के शांतिपर्व, अ. 141 में आता है कि विश्वामित्र चांडाल के घर से मरे हुए कुत्ते का मांस चुरा कर खा गए. ऐसी अन्य मिसालें 'मनुस्मृति' से ली जा सकती हैं.

'अजीगर्त ऋषि अपने बेचे गए पुत्र की बलि भी खुद देने के लिए तत्पर हो गया' (मनु. 10/105)

'ऋषि वामदेव ने कुत्ते का मांस खा लिया.' (मनु. 10/106)

महाभारत में भीमसेन के लिए मांस के टोकरे लाने का उल्लेख भी स्पष्ट करता है कि वे लोग भोजन में मांस को समाविष्ट करते थे (देखें महाभारत शल्यपर्व, अ. 30, श्लोक 23 और 34). महाभारत सभापर्व अ. 22 से पता चलता है कि पशुमांस के समान ही उन दिनों नरमांस भी बलि और यज्ञ के लिए प्रयुक्त होता था. यज्ञशेष को खाने का विधान है:

यज्ञशिष्टाशिन: संतो मुच्यंते सर्वकिल्विषै:

–गीता 3/13

अर्थात यज्ञ में स्वाहा करने से बची सामग्री खाने से सब पाप नष्ट हो जाते हैं. अत: वे शायद नरमांस भी खाते होंगे.

रंतिदेव नामक महादानी और यज्ञकर्ता की रसोई में मांस भोजन बनता था (महाभारत, शांतिपर्व, अ. 29). उस के यहां नित्य दो हजार गौएं मारी जाती थीं (महाभारत, वनपर्व, अ. 207, श्लोक 9), शांतिपर्व 29/127, से पता चलता है कि एक दिन अतिथियों के लिए इस ने 21,000 गौएं मारीं. इतना ही नहीं, इस ने गोमेध यज्ञ में इतनी गौएं मारीं कि उन के रक्त, मांस और चरबी से एक नदी बह निकली जो 'चर्मण्वती' कहलाई (देखें महाभारत, शांतिपर्व, 29/123 और मेघदूत के 45वें श्लोक की मल्लिनाथ कृत संस्कृत व्याख्या).

भीष्मपितामह कहते हैं कि जिस मांस को प्रोक्षण द्वारा (अर्थात मंत्र पढ़ कर, पानी छिड़क कर) शुद्ध न किया हो वह नहीं खाना चाहिए' (महाभा. अनुशासनपर्व, अ. 115). अगस्त्य ने अपने तप से पशुओं को प्रोक्षित कर के पवित्र बना दिया है.

इस से मांस के उपयोग से देवता और पितरों की क्रियाएं भ्रष्ट और पापजनक नहीं होतीं, प्रत्युत न्यायानुकूल हैं. पितर भी मांस से तृप्त हो कर प्रसन्न होते हैं (महाभारत, अनुशा. पर्व, 115/59 से 60) "भीष्म बोले, 'हे परंतप, मांसरस से बढ़ कर अच्छा पदार्थ दुनिया में नहीं है. दुर्बलों, दुखितों और थकेमांदों के लिए यह बहुत उपयोगी है. यह प्राणों को बढ़ाता है और बहुत शीघ्र पुष्टि करता है. हे परंतप, मांस से अधिक भक्ष्य भी कोई नहीं है" (महाभारत, अनुशासन पर्व, 6/7 से 10).

महाभारत का ब्राह्मण-व्याध-संवाद भी तात्कालिक समाज में मांस के मान्यता प्राप्त होने का द्योतक है. महाभारत से बहुत ज्यादा मात्रा में इस विषय में संदर्भ एकत्र किए जा सकते हैं. ये सब वर्णन इतने खून और मांस से सने हैं कि बूचड़खाने के बुलेटिन से लगते हैं.

मांस के विषय में मनु के सिद्धांत कई जगह बहुत उद्दंड से हैं. उन्हें पढ़ कर भी न जाने क्यों, परंपरावादी उसे 'धर्मशास्त्र' ही कहते और मानते आ रहे हैं. उस ने यहां तक लिखा है, "मांस खाने में कोई दोष नहीं, इस में प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है." (5/56).

"खरीद कर या देवताओं को भोग लगा कर मांस खाने वाला दोष को प्राप्त नहीं होता." (5/32).

"श्राद्ध और मधुपर्क के समय शास्त्र विधिविधान के अनुसार प्रस्तुत मांस को न खाने वाला मनुष्य 21 बार पशुयोनि में जन्म लेता है" (5/35).

"प्रजापति ने यज्ञार्थ पशु रचे हैं, अतः यज्ञों में पशु वध करने पर हत्या का दोष नहीं लगता. यज्ञों में मारे हुए पशु, पक्षी और कछुए आदि जानवर आगामी जन्मों में उत्कृष्ट योनियों में जन्मते हैं" (5/9/40).

"प्रजापति ने यह सब कुछ स्थावर व जंगम प्राणियों के खाने के लिए ही रचा है. चरों के भोजन अचर हैं, हाथ वालों के हाथरहित" (5/29/9).

"कुत्ता, बंदर आदि जिन जानवरों के पांचपांच नख होते हैं, उन में से साही, शल्यक, गेंडा, गोह, कछुआ, और एक दांत वालों में ऊंट को छोड़ कर गाय आदि सब भक्ष्य हैं." (मनु. 5/18)

स्मृतियों में मांस

इतना ही नहीं, मनु ने श्राद्ध के प्रसंग में अलगअलग मांसों से पितरों की कितनीकितनी तृप्ति होती है, यह भी लिखा है : "मछली का मांस ब्राह्मणों को श्राद्ध में खिलाने से पितरों की तृप्ति दो मास के लिए होती है और हरिण का मांस खिलाने से तीन मांस के लिए" (3/268). "बकरे के मांस से छः महीने तक तृप्ति रहती है और कछुए तथा खरगोश के मांस से 11 महीने तक. गैंडे के मांस से 12 वर्ष तक तृप्ति होती है" (3/269—70—71).

वर्तमान हिंदू धर्म अधिकांशतः पुराणों पर आधारित है. पुराणों में मांस भक्षण कोई बुराई नहीं रहा, प्रत्युत केवल मांस खाने वाले देवताओं की कल्पना कर ली गई—भैरव, कालिका, चंडी आदि. देवी कालिका की पूजा सामग्री देखें—सिंह पर

सवारी करने वाली देवी की मालती के फूलों, दीपों, पशुओं की बलियों, शराब, मांस और चरबी से पूजा करें. (देखें भविष्य पुराण, उत्तर पर्व, 61/51 से 52).

पुराणों में मांस भक्षण

'मार्कंडेय पुराण' का 'दुर्गासप्तशती' नामक एक अंश है जो स्वतंत्र पुस्तक के समान ही है, यथा गीता महाभारत होते हुए भी स्वतंत्र ग्रंथ है. इस की तांत्रिकों, पौराणिकों और देवीभक्तों में बड़ी महिमा है. उक्त पुस्तक के आठवें अध्याय में रक्तबीज राक्षस के वध के प्रसंग में लिखा है कि कालिका ने उस का गला छेदा और उस का गरमगरम रक्त पीने लगी (श्लोक 59).

इस तरह के देवीदेवताओं के उपासक यदि स्वयं मांस भक्षण करते हों तो क्या गलत अनुमान हो सकता है क्योंकि सिद्धांत यह है कि

यदन्नः पुरुषस्तदन्ना स्याद् देवताः,

–निदानसूत्र 10/9

'यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः'

–वा.रा. अयोध्याकांड, 103/30

अर्थात जो अन्न आदमी स्वयं खाता है, वही अपने देवताओं के लिए कल्पित करता है. उन के लिए मांस की कल्पना करने वाले स्वयमपि आमिषभोजी ही रहे होंगे.

'ब्रह्मवैवर्त पुराण' के प्रकृति खंड, (61/96) में लिखा है कि पांच करोड़ गायों का मांस ब्राह्मण लोग खाते हैं. इसी पुस्तक के जन्मखंड, अ. 105 में रुक्मिणी के विवाह की सामग्री के रूप में एक लाख गाय, दो लाख हिरन, चार लाख खरगोश, चार लाख कछुए, 10 लाख बकरे और 16 लाख भेड़ें मारने का प्रस्ताव उस के भाई रुक्मी द्वारा रखा गया.

तांत्रिक साहित्य में मांस भक्षण

बौद्धधर्म के विकसित रूप तांत्रिकों के प्रायः सभी संप्रदाय शाक्त, शैव, कापालिक, कालमुख आदि मांस और मद्य को सम्मान व चाहत की दृष्टि से देखते हैं. उन की गर्हणीय उपासना पद्धतियों में इन दोनों पदार्थों का अनन्य उपयोग हुआ है. उन के काली, भैरव आदि देवता भी उक्त दोनों पदार्थों के सहारे जीवित रहते हैं. आज भी कई मंदिरों में और उन की दीवारों पर, बाहर की ओर, यदाकदा काली और भैरव की जो मूर्तियां व चित्र दिखाई पड़ते हैं, उन के एक हाथ में नरमुंड और दूसरे में मानवीय रक्त से भरा खप्पर दिखाई पड़ता है. इन संप्रदायों का जो लिखित वाङ्मय उपलब्ध होता है, उस में भी मांस आदि की मुक्त कंठ से प्रशंसा दृष्टिगोचर होती है. 'कालीतंत्र' नामक पुस्तक में लिखा है, "मांस, मद्य, मछली, मुद्रा और मैथुन ये पांच मकार युगयुग में मोक्ष देने वाले हैं." (देखें सत्यार्थ प्रकाश, ग्यारहवें समुल्लास में उद्धृत श्लोक). 'हठयोग प्रदीपिका' नामक पुस्तक में लिखा है, "जो

नित्य प्रति गोमांस खाए और शराब चढ़ाए, मैं उसे कुलीन समझता हूं, बाकी तो कुलकलंक हैं"

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्.
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः..

–हठयोगप्रदीपिका 3/47

तुलसी स्वयं तो संभवतः मांसाहारी न थे, पर उन्होंने अपने चरितनायक, आदर्शमानव के विषय में लिखा है.

'बंधु सखा संग लेहिं बोलाई,
बन मृगया नित खेलहिं जाई.
पावन मृग मारहिं जिय जानी.

–रामचरित मानस, बालकांड, दोहा 204 के बाद

अर्थात 'राम हर रोज अपने साथियों के साथ मृग मारा करते थे.'

इसी बालकांड में भानुप्रताप प्रसंग के अंतर्गत लिखा है:

'बिबिध मृगन्ह कर आमिष रांधा,
तेहि महुं विप्र मांसु खल सांधा.'

अर्थात 'कई प्रकार के मृगों का मांस पकाया गया, उस में नीच आदमियों ने ब्राह्मणों का मांस भी मिला दिया.'

इस सर्वे से ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति में बुद्ध और महावीर के

'अहिंसा परमो धर्मः'

के देश में मांस भोजन का एक वांछनीय घटक रहा है और उस के लिए गाय, गोह, खरगोश, साही, गैंडा, मृग, मछली, बैल, घोड़ा, भेड़, बकरा, कछुआ और मानव आदि सब के गले पर निर्ममतापूर्वक छुरी चलाई गई. इसे देवताओं, पितरों, वेदज्ञविद्वानों और स्नातकों के सत्कार के लिए भी उपयुक्ततम माना गया है.

नरबलि

समाचारपत्रों में आए दिन नरबलि कांडों के समाचार पढ़ने को मिलते हैं. हर कांड अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा ज्यादा घृणास्पद, जघन्य, बीभत्स, क्रूर एवं हृदयविदारक होता है.

कुछ साल पहले दीनानगर में दुर्गा देवी को प्रसन्न करने के लिए एक छोटे बच्चे के अनेक टुकड़े कर दिए गए थे. उस के बाद महाराष्ट्र में 15 महीनों के अल्पकाल में एक ही व्यक्ति द्वारा 11 लड़कियों के गुप्तांगों का रक्त निकाल कर देवी को खुश करने की अमानुषिक और पाशविक कुचेष्टा की गई ताकि उसे जमीन में छिपा गुप्त खजाना दिखाई पड़ जाए. इस के कुछ दिनों बाद एक युवक ने हिमाचल में ज्वालाजी के स्थान पर देवी के आगे अपनी जिह्वा काटने का दुस्साहस किया.

दो घटनाएं और

इस के बाद लगातार दो घटनाएं फिर हुईं. आगरा से आए एक परिवार के एक लड़के ने ज्वालामुखी देवी को अपने भाई की बलि चढ़ा दी. नकोदर में छोटे से बच्चे के सिर और पेट में कीलें ठोक कर उस की बलि चढ़ाए जाने का दुखद समाचार अखबारों में प्रकाशित हुआ था. अप्रैल, 1977 के पूर्वार्द्ध में दो और ऐसे नृशंस कांड हुए थे. इंदौर पुलिस ने एक 25 वर्षीय युवक को अपनी मां की काली देवी को बलि चढ़ाने के अपराध में गिरफ्तार किया था. पीलीभीत में एक व्यक्ति ने अपने ही परिवार के छः सदस्यों को देवी की प्रसन्नता के लिए कत्ल कर दिया था.

ये कुछ उदाहरण हैं जो अपनी अमानुषिकता और क्रूरता की पराकाष्ठा के कारण लोगों की स्मृति में ताजा हैं. ऐसी घटनाओं की कोई गिनती ही नहीं जो समाचारपत्रों में छपने से रह जाती हैं.

इस नरबलि का पाशविक कुकर्म क्यों? इस का उत्तर हमारे धर्म ग्रंथों में निहित है.

वेदों में प्राकृतिक शक्तियों को देवता कह कर पुकारा गया है. इन देवताओं की कथित प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए इन्हें तरहतरह के प्रलोभन दिए गए हैं. जो चीजें तत्कालीन वन्य आर्यों को प्रिय थीं, उन की कल्पना में वे चीजें उन के देवताओं को भी प्रिय थीं. इसलिए उन्होंने अपनी प्रिय चीजें देवताओं को अर्पित कर उन की

प्रसन्नता प्राप्त करने की कोशिशें कीं. उन्होंने सोमरस से ले कर गाय, अश्व और मानव तक सब कुछ देवताओं की प्रसन्नताप्राप्ति के लिए दांव पर लगा दिया.

देवताओं को प्रसन्न करने की रस्म

देवताओं को कोई चीज अर्पित करने की रस्म को वे लोग 'यज्ञ' व 'मेध' कहा करते थे (निघंटु 3/17). जो चीज दी जाती थी, उस का नाम पहले जोड़ दिया जाता था. जिस यज्ञ या मेध में मानव अर्पित किए जाते थे, उसे 'नरमेध' या 'पुरुषमेध' कहते थे.

नरमेध की व्याख्या करते हुए संस्कृत के विश्वकोश 'शब्द कल्पद्रुम' में लिखा है:

नरमेधः पुं. (मिध्‌हिंसायाम्+भावे घञ्, नराणां पुरुषाणां
मेधो हिंसनम्-यत्रनरवधात्मकयज्ञविशेषः

अर्थात 'नरमेध' शब्द 'मिध्' धातु से बना है, जिस का अर्थ है–हिंसा. अतः नरमेध वह यज्ञ विशेष है जिस में पुरुषों व नरों का वध किया जाता है.

नरमेध की महिमा का वर्णन करते हुए यजुर्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार महीधर (सत्रहवीं सदी) ने अपने भाष्य में लिखा है:

ब्राह्मणराजन्ययोरतिष्ठाकामयोः
पुरुषमेधसंज्ञको यज्ञो भवति.

–यजुर्वेद, महीधर भाष्य 30/2

अर्थात जो ब्राह्मण या क्षत्रिय देवताओं से भी ऊंचे रुतबे तक पहुंचना चाहते हों, उन्हें पुरुषमेध यज्ञ करना चाहिए.

ऋग्वेद से पता चलता है कि यह यज्ञ संतानप्राप्ति के लिए किया जाता था. वहां शुनःशेप नामक एक व्यक्ति को (संतानप्राप्ति हेतु) बलि चढ़ाने का जिक्र मिलता है. उस की बलि देने के लिए उसे यज्ञमंडप के स्तंभ से बांध दिया गया था. यह अलग बात है कि उस ने वरुण की स्तुति की, उसे प्रसन्न किया और वरुण ने दयार्द्र हो कर उसे मौत के मुंह से बचा दिया.

शुनःशेपो ह्यह्वद्‌गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः
अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो विमुमोक्तुं माशान्

–ऋग्वेद, 1/24/13

अर्थात शुनःशेप ने घृत और तीन काठों में आबद्ध हो कर अदिति के पुत्र वरुण का आह्वान किया. विद्वान और दयालु वरुण ने शुनःशेप को मौत के मुंह से बचाया.

ऋग्वेद के व्याख्यान रूप 'ऐतरेय ब्राह्मण' (सप्तम कंडिका, अध्याय 3) में इस प्रसंग को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि राजा हरिश्चंद्र की कोई संतान न थी, अतः उस ने वरुण देवता की मनौती की. वरुण ने प्रसन्न हो कर कहा, "तुम्हारे संतान तो होगी, लेकिन तुम्हें बलि देनी होगी."

राजा के रोहित नाम का बेटा जन्मा. वरुण को दिए गए वचन की पूर्ति के लिए उस ने अजीगर्त ऋषि के पुत्र शुनःशेप को खरीद कर बलि चढ़ाना तय किया. उसे यज्ञ में काटने के लिए नियुक्त व्यक्ति को 100 गौएं दी गईं. जब बलि चढ़ाने में कुछ ही क्षण शेष थे, तब शुनःशेप ने वरुण की स्तुति की और उसे प्रसन्न कर अपनी जान बचाई.

शांखायन ब्राह्मण (15-17) और ब्रह्मपुराण (अध्याय 104) में भी यही विवरण उपलब्ध होता है. ब्रह्मपुराण में इतना अंतर है कि शुनःशेप को विश्वामित्र ने अपना ज्येष्ठ पुत्र बना कर बचाया था, न कि वरुण ने उस की रक्षा की.

यहां यह बताना उचित है कि इसी विश्वामित्र पर जब नरमेध का भूत सवार हुआ तो उस ने अपने प्रत्येक बेटे को बलि पशु बनने के लिए कहा था. विश्वामित्र के 100 बेटे थे. जब कोई भी इस धार्मिक कृत्य में अपनी हत्या करवाने के लिए तैयार न हुआ तो उस ने उन्हें शाप दे डाला कि जाओ, तुम नीच बन जाओ और एक हजार साल तक कुत्ते के मांस पर गुजारा करो. (वाल्मीकि रामायण).

स्पष्ट है कि संतान की प्राप्ति के लिए किसी दूसरे के बच्चे की बलि चढ़ाना वैदिक काल में प्रचलित था. बाद में, देवताओं से भी ऊंचा स्थान प्राप्त करने के लिए इसे प्रयुक्त किया जाने लगा.

यजुर्वेद में तीसवां अध्याय तो पूरी तरह 'पुरुषमेध' पर ही है. महीधर ने इस अध्याय पर भाष्य करते हुए लिखा है कि इस यज्ञ में 184 पुरुष प्रयोग में लाए जाते थे. उन्हें यज्ञ मंडप के स्तंभों से बांध दिया जाता था. फिर उन के चारों ओर अग्नि घुमाई जाती थी. बाद में 'यह ब्रह्मा के लिए है,' 'यह क्षेत्र के लिए है' कह कर प्रत्येक को देवों के लिए चढ़ाया जाता था. तत्पश्चात उन्हें स्तंभों से खोल दिया जाता था (यजुर्वेद 30/22 पर महीधर भाष्य).

डा. रमेशचंद्र मजूमदार ने पुरुषमेध का विवरण कुछ अलग ढंग से दिया है—जिस पुरुष को पुरुषमेध में बलि चढ़ाना होता था, उसे एक साल पहले से स्वतंत्र घोषित कर दिया जाता था. वर्ष भर वह हर तरह की इच्छापूर्ति बेरोकटोक करता था. साल के बाद उस की मालिश की जाती. फिर उसे मार दिया जाता और उस का मांस पका लेते थे. (एनशेंट इंडिया, पृ. 85-86)

आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद सरस्वती ने जैसे और कई जगह वेदों के अर्थ अपने ढंग से किए हैं, वैसे ही 'नरमेध' के विषय में एक अजीब सी व्याख्या 1875 में छपी अपनी पुस्तक 'सत्यार्थप्रकाश' में उदधृत की है:

जहांजहां नरमेधादिक लिखे हैं, वहांवहां पशुओं में नरों का मारना लिखा है. इस अभिप्राय से नरमेध लिखा है, मनुष्य नर को मारना कहीं नहीं. (सत्यार्थप्रकाश (1875) पृ. 303 पं. 6)

इस पर टिप्पणी करते हुए स्वामी दयानंद के पूर्व शिष्य व सहयोगी पं. भीमसेन शर्मा का कहना है: यहां 'नरमेध' शब्द का अर्थ मनुष्य की हिंसा के निषेधार्थ (निषेध के लिए) बुद्धिमानी से तो अवश्य किया गया है, परंतु मंत्र ब्राह्मणात्मक वेद

(संहिताओं और ब्राह्मण ग्रंथों) के अनुकूल नहीं है, क्योंकि यह पुरुषमेध यज्ञ के विधान के सर्वथा विरुद्ध है. (नरमेध यज्ञ मीमांसा, 1922, पृ. 6)

'यजुर्वेद' के एक मंत्र में पुरुषमेध का प्राचीन इतिहास इस तरह प्रस्तुत किया गया है:

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अवधनन् पुरुषं पशुम्.

–यजु. 31/15

अर्थात इंद्र आदि देवताओं ने पुरुषमेध किया और पुरुष नामक पशु का वध किया. यही बात शतपथ ब्राह्मण (1/2/1/6) और ऐतरेय ब्राह्मण (2/8) में कहीं गई है.

'अथर्ववेद' में स्पष्ट शब्दों में पांच प्राणियों को देवता के लिए बलि दिए जाने योग्य कहा है:

तवेमे पंच पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः

–अथर्व.11/29/2

अर्थात हे पशुपति देवता, तेरे लिए गाय, घोड़ा, पुरुष, बकरी और भेड़–ये पांच पशु नियत हैं.

यहां यह स्मरणीय है कि गीता आदि में यज्ञों में प्रयुक्त किए गए पदार्थों को खाने का विधान किया गया है. पिछली शताब्दी के ऋषि दयानंद तक ने इस बात का अपने यजुर्वेद भाष्य (19-20) में समर्थन किया है: "इस संसार में बहुत पशु वाला होम कर के हुतशेष (अग्नि में स्वाहा करने से शेष पदार्थ) का भोक्ता मनुष्य प्रशंसा को प्राप्त होता है."

पुरुषमेध में प्रयुक्त होने वाले पुरुषों को भी यदि खाया जाता रहा हो तो इस में कोई आश्चर्य नहीं. इस यज्ञ शेष को खाने के पुण्य से उन्मत्त हो कर ही कुछ वर्ष पहले पंजाब के दीनानगर में हुए जघन्य नरबलि कांड के अपराधी जिस समय पुलिस द्वारा धर दबोचे गए थे, उस समय वे बलि चढ़ाए गए बच्चे के मांस को पकाने की तैयारी कर रहे थे.

जघन्य कुकृत्य

नरमेध व पुरुषमेध नामक इस अति जघन्य एवं बीभत्स कुकृत्य के विरुद्ध वैदिक काल से ही मानवतावादी बुद्धिवादियों अर्थात चार्वाक-मतावलंबियों ने आवाज उठाई. उन के अथक प्रयत्नों से पुरोहित वर्ग का होश ठिकाने आना शुरू हुआ. परिणामस्वरूप पुरोहितों ने ब्राह्मण ग्रंथों में पुरुषवध के रूपक बनाए और अपने अनुचरों से कहा कि जौ और यव ही पुरुष हैं. उन का पीसा गया रूप पुरुष के रोम हैं. उन में पानी मिलाना ही चमड़ी है. उन को गूंधना ही मांस है. उन का पका रूप ही हड्डियां हैं (शतपथब्राह्मण 1/2/1/7).

तात्पर्य यह है कि चार्वाकों के मानवतावादी और लाजवाब तर्कों से विवश हो

कर पुरोहितों ने असली पुरुष की जगह जौ और यव को पुरुष का नाम दिया और उन अनाजों की बलि दे कर अपनी इनसानी बलि देने की पाशविक वृत्ति का तुष्टीकरण किया.

पुरोहितों का दबदबा

कुछ समय के बाद पुरोहित वर्ग ने राजसत्ता के बल पर चार्वाक मतावलंबियों को खदेड़ दिया और फिर अपने कुकर्म शुरू कर दिए. इन का दबदबा था कि इन्होंने बुद्ध जैसों के मुंह से कहलवा डाला किः

पुत्तदारांपि चे हंत्वा देति दानं असंअतो.
भुंजमानो पि सप्पंनों न पापेन उपलिप्पति ..

–जातक पालि, जिल्द पहली, पृ. 64

अर्थात यदि व्यक्ति पत्नी और पुत्र को मार कर दान कर दे तो उस नरमांस को खाने वाले बुद्धिमान को पाप नहीं लगता.

हां, जैनियों ने इस स्थिति का अवश्य विरोध किया. शीघ्र ही हिंदू राजाओं को अपने हथियार बना कर पुरोहित वर्ग ने हजारों जैनियों और बौद्धों को मौत के घाट उतरवा दिया. दक्षिण के मंदिरों में बने भित्तिचित्र और 'शंकरदिग्विजय' जैसी पुस्तकें इस के जीतेजागते प्रमाण हैं.

महाभारत (सभापर्व, अध्याय 22) में जरासंध नामक राजा द्वारा रुद्र देवता को बलि चढ़ाने के लिए इकट्ठे किए हुए बहुत से पुरुषों का जिक्र मिलता है. वाल्मीकि रामायण (7/77) में शव खाने वाले देवता तक दिखाई पड़ते हैं, जो विमानों में घूमा करते थे और जिस जगह शव मिलता, वहीं उतर कर उदरपूर्ति करने लगते थे.

मानवता के पक्षधरों को बुरी तरह कुचल कर शंकराचार्य ने अपने भाष्य में लिखा है–

शास्त्रहेतुत्वाद् धर्माधर्मविज्ञानस्य शास्त्राच्च हिंसानुग्रहात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितः. तस्माद्विशुद्धं कर्म वैदिकं शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वात् अनिंद्यमानत्वाच्च.

–ब्रह्मसूत्र 3/1/15, शंकरभाष्य

अर्थात धर्मअधर्म का निर्णय शास्त्रों से होता है. शास्त्रों में हिंसामय ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों का विधान है, अतः वह हिंसा धर्म ही है.

इसी ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में भक्ति मार्ग के बहुत बड़े आचार्य रामानुज ने अपना तर्क पेश करते हुए लिखा हैः

पशोर्हि संज्ञपननिमित्तां स्वर्गलोकप्राप्तिं वदन्तं शब्दमामनन्ति. हिरण्यशरीर उर्ध्वं स्वर्गं लोकमेति. इत्यादिकम्. अतिशयाभ्युदयसाधनभूतो व्यापार अल्प दुःखदोऽपि न हिंसा, प्रत्युत रक्षणमेव.

अर्थात शास्त्रों में कहा है कि जिस की यज्ञहेतु हत्या की जाती है, वह सुवर्ण का शरीर धारण कर के स्वर्ग को जाता है. इस तरह यज्ञ में मारा जाने वाला थोड़ा कष्ट सह कर बहुत लाभ प्राप्त करता है, अतः यह उस के भले की ही बात है.

इसी स्वर को मनु ने और ज्यादा मुखरित करते हुए लिखाः

यज्ञे वधोऽवधः

–(5/39)

अर्थात यज्ञ में किया गया वध, वध नहीं होता.

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे.
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ.

–मनु 5/44

अर्थात जिस हिंसा का वेदों में विधान किया गया है, वह हिंसा न हो कर अहिंसा ही है, क्योंकि हिंसा अहिंसा का निर्णय वेद करता है.

इस तरह की परंपरा में कई ऐसे संप्रदाय उठे, जिन की विशेषता ही नरमेध करना थी. कापालिक और पाशुपत ऐसे ही संप्रदाय थे. ये चामुंडा व काली माता की पूजा करते और नरबलियां दिया करते थे. (देखें हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत मध्यकालीन धर्म साधना, पृ. 45).

इसी काल के लगभग पुराणों की रचना प्रारंभ हुई. इन में ऐसी कहानियां अंकित की गईं जिन से जनसाधारण के मन में यह भाव घर कर जाए कि नरबलि से बहुत मनोरथ सिद्ध होते हैं.

शिवपुराण (रुद्र संहिता युद्ध खंड, अध्याय 48) में आता है कि शिवजी शुक्राचार्य को निगल गए. मार्कंडेय पुराण में कालिका देवी गले में छेद कर गरम लहू पीती हैं (दुर्गा सप्तशती अध्याय 8, श्लोक 59). इसी तरह देवी भागवत (षष्ठ स्कंध अध्याय-3) में पुत्र प्राप्ति का साधन बताते हुए लिखा है:

प्रार्थनीयस्त्वया पुत्रः कस्यचिद्द्विजवादिनः.
द्रव्येन देहि यज्ञार्थं कर्त्तव्योऽसौ पशुःकिल.

–देवी भगवत 6/3/13

अर्थात द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का पुत्र यज्ञ में पशु की तरह मेरे हेतु बलि चढ़ाने से तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा.

ब्रह्मवैवर्त पुराण में तो इस पैशाचिक लीला का अथ से इति तक विधिविधान भी लिखा मिलता है. काफी हद तक यह विधान आज भी नरबलियों के लिए अपनाया जाता है:

पितृमातृविहीनं च युवकं व्याधिवर्जितम्.
विवाहितं दीक्षितं च परदारविहीनकम्ः.

अजारजं विशुद्धं च सच्छूद्रमूलकं वरम्.
तद्बन्धुभ्यो धनं दत्वा क्रीतं मूल्यातिरेकतः.
स्नापयित्वा च तंधर्मी सम्पूज्य वस्त्रचन्दनैः.
माल्यैर्धूपैश्च सिंदूरैर्दधिगोरोचनादिभिः.
तं च वर्षं भ्रामयित्वा चरद्वारेण यत्नतः.
वर्षान्ते च समुत्सृज्य दुर्गायै तं निवेदयेत्.
अष्टमी नवमी सन्धौ दद्यान्मायातिमेव च.
इत्येवं कथितं सर्वं बलिदानं प्रसंगतः.
बलिं दत्वा च स्तुत्वा च धृत्वा च कवचं बुधः.
प्राणम्य दंडवद् भूमौ दद्यात् विप्राय दक्षिणाम्.

–ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृति खंड दो, 64/101 से 106

अर्थात बलिदान देने वाले को चाहिए कि वह एक ऐसा युवक लाए जिस के मांबाप न हों, उसे कोई शारीरिक रोग न हो, वह विवाहित हो. उस का परनारी से संबंध न हो अर्थात वह सदाचारी हो, व्यभिचार से उस का जन्म न हुआ हो. उस के बंधुओं को विशेष धन दे कर उस युवक को खरीद ले. उस बलि दिए जाने वाले युवक को स्नान कराए तथा वस्त्र, चंदन, सिंदूर, दही, गोरोचन आदि से उस की पूजा करे. अपने नौकर द्वारा उसे एक साल तक बाहर इधरउधर घुमाए. वर्ष के अंत में अष्टमी और नवमी की संधि में उस युवक की दुर्गा को बलि चढ़ा दे. इस प्रकार बलिदान का उल्लेख किया गया है. बुद्धिमान पुरुष बलि दे कर, दुर्गा की स्तुति कर, दुर्गा-कवच धारण करे तथा भूमि पर लेट कर दंडवत करे. तत्पश्चात बलिदान करवाने वाले ब्राह्मण को दक्षिणा दे.

मौत का साया

पुराणकार ने लोगों के स्वस्थ, सदाचारी और विवाहित बच्चों को बकरों की तरह खरीदने व निर्दयतापूर्वक एक नौकर की देखरेख में साल भर रखने का जिक्र किया है. जिस युवक को खरीदा जाता था, क्या उसे और उस की पत्नी व बच्चों को पता नहीं चलता था कि अब उसे पशु की तरह एक साल घुमा कर देवी के नाम पर कत्ल कर दिया जाएगा? एक वर्ष उस के सिर पर हर समय मौत का साया मंडराता रहता था. सारे समाज को भी इस बात का पता रहता था कि अमुक नौजवान को उस के रिश्तेदारों से खरीदा गया है और साल भर बाद उस का खून किया जाएगा. जिस समाज में स्वस्थ, सदाचारी और विवाहित नवयुवकों को खरीद कर पत्थरों के आगे निर्विकार भाव से निर्ममतापूर्वक कत्ल किया जाता हो, उस देश व समाज का पतन क्यों न होगा? हजारों वर्षों की हमारी गुलामी इसी तरह की बुराइयों का परिणाम थी.

धर्म और परलोक के दीवाने शास्त्रकारों ने बलि के लिए देश के चुने हुए नौजवानों को कत्ल करने का विधान बहुत बारीकी से किया. उक्त पुराण में लिखा है:

शिशुना बलिना दातुर्हन्ति पुत्रं च चंडिका.
वृद्धेनैव गुरुजनं कृशेण बान्धवस्तथा.

अर्थात शिशु की बलि देने से यजमान के पुत्र का नाश होता है. बूढ़े की बलि देने से उस के गुरुजनों की मृत्यु होती है तथा कमजोर की बलि देने से बंधु नष्ट होते हैं.

यहां एक और बात ध्यान देने योग्य है.

स्वामी विवेकानंद और उन के श्रद्धालुओं की रचनाओं में प्राचीन भारत के गुणगान करते हुए जगहजगह यह लिखा मिलता है कि हमारे देश में कभी दास प्रथा नहीं थी. दूसरे देशों की तरह हमारे यहां कभी इनसान खरीदे व बेचे नहीं गए. अंगरेजों ने हमारा इतिहास बिगाड़ दिया है.

ऐसे लोगों को अपने धर्म ग्रंथ 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' के पूर्वोद्धृत श्लोक जरा ध्यान से पढ़ने चाहिए, जिन में मूल्य दे कर खरीदे गए युवकों को पत्थर की मूर्ति के आगे कत्ल करने का आदेश है.

यह वह समय था जब चार्वाक मतानुयायियों का एक तरह से नामोनिशान मिटा दिया गया था. फिर भी कहींकहीं विरोध का स्वर उठता था. चार्वाकों ने आक्षेप किए और इन लोगों ने पूछाः

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति,
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते.

अर्थात यदि यज्ञ में मारा गया प्राणी स्वर्ग को जाता है, यदि तुम लोग उस को अच्छी जगह पहुंचाते हो तो यज्ञ में अपने पिता को क्यों नहीं मार देते, जिस से वह बेचारा स्वर्ग के आनंदों का उपभोग कर सके?

लेकिन हिंदू राजाओं की छत्रछाया में निश्चिंत बैठे पुरोहितों का इस दलील से क्या बिगड़ सकता था? उन्होंने स्वाभाविक उद्दंडता और धृष्टतापूर्वक जवाब दियाः

कस्मान्न हिंस्यते? तादृश-मंत्र-विनियोगाभावात्,
यदि संप्राप्येत् तदा पितुरात्मनो वा संज्ञपने न कापि हानिः.

अर्थात तुम पूछते हो कि पिता को यज्ञ में क्यों नहीं मार देते. इस का जवाब है कि शास्त्रों में पिता को मारने का आदेश ही नहीं है. यदि होता तो उस को मारने में कोई हानि नहीं थी.

नरबलि का सब से ज्यादा प्रभावी प्रचार राजा मोरध्वज की कथा ने किया. यह पौराणिक कथा लाखों हिंदू घरों में सुनी व सुनाई जाती है. दशहरे के अवसर पर इस कथा पर आधारित झांकियां प्रस्तुत की जाती हैं. अन्य धार्मिक अवसरों पर भी इसे आधार बना कर नाटक खेले जाते है.'

कथा में आता है कि भगवान अपने एक भक्त राजा मोरध्वज के यहां साधु का वेश बना कर पहुंचे. उन्होंने राजा से कहा कि तुम और तुम्हारी रानी दोनों अपने हाथों से अपने बेटे को आरे से चीर कर और उस का मांस बना कर हमें भी खिलाओ एवं

स्वयं भी खाओ. ऐसा करते हुए तुम में से किसी की आंखों में आंसू नहीं आने चाहिए अन्यथा हम रुष्ट हो कर शाप दे देंगे. राजा ने बेटे को पाठशाला से बुलवाया, चीरा, पकाया और साधु को परोस दिया. साधु ने राजारानी को भी अपने बेटे का मांस खाने को मजबूर किया. जब उन्होंने उस का कुछ भाग खा लिया, तब वह साधु नारी से बोला, "अपने बेटे को आवाज दो."

रानी के पुकारने पर बेटा बाहर से उस कमरे में हंसते हुए प्रविष्ट हुआ. राजारानी बहुत खुश हुए. उन की हर मुराद पूरी हो गई. साधु अदृश्य हो गया. राजारानी मृत्यु के बाद स्वर्ग को प्राप्त हुए.

धार्मिक कथाओं का असर

यह कथा हर मास हिंदू घरों में ताजा होती है. हर पूर्णिमा को सत्यनारायण का व्रत लाखों हिंदू घरों में रखा जाता है. स्त्रियां, लड़कियां और बच्चे यह व्रत ज्यादा रखते हैं. व्रती लोग सत्यनारायण की कथा किया व सुना करते हैं. इस कथा के अंतिम अध्याय में व्रत का माहात्म्य बताते हुए लिखा है:

धार्मिकः सत्यसंधश्च साधुर्मोरध्वजोऽभवत्
देहार्धं क्रकचैश्छित्वा दत्वा मोक्षमवाप ह.

—सत्यनारायण कथा 5/22

अर्थात मोरध्वज धार्मिक राजा था. उस ने आरे से अपना बच्चा चीर कर भगवान को भेंट किया. इस से उसे मोक्ष की प्राप्ति हुई.

इस कथा ने नरबलि को आज तक जिंदा रखा है, यद्यपि अंगरेज सरकार ने 1845 ई. में एक्ट 21 के द्वारा इसे दंडनीय अपराध घोषित कर दिया था. 1841 में अंगरेज अफसरों को पता चला कि गंजाम जिले में और उड़ीसा के पर्वतीय क्षेत्र में खोंड जाति के लोग अपने खेतों को ज्यादा उपजाऊ बनाने के खयाल से प्रतिवर्ष सैकड़ों इनसानों की बलि देते हैं. उस साल बंगाल और मद्रास (अब चेन्नई) में 240 इनसानों की बलि दी गई थी.

खोंड लोगों के यहां बलि दिए जाने वाले लोगों का एक विशेष वर्ग था. उसे 'मरिहा' कहते थे. यह वर्ग उन लोगों का था, जिन्हें दूर के इलाकों से चुरा कर खोंड लोगों के पास बेच दिया जाता था. इन में बड़ी उम्र के लोग भी होते थे और बच्चे भी. (देखें—कैंब्रिज हिस्ट्री, भाग 5, आक्सफोर्ड हिस्ट्री, भाग 4, बुक 8 पृ. 593, कैंब्रिज शार्ट हिस्ट्री, भाग 3, पृ. 564).

इस के अतिरिक्त जगरातों में गाई व सुनाई जाने वाली कहानियों व दंतकथाओं ने भी जनसामान्य के मन में नरबलियों के चमत्कारों की धाक जमा रखी है. जगरातों में 'तारा रानी' का वृत्तांत गाया जाता है. वह सीधे तौर पर नरबलि का प्रचार है. इस में आता है कि राजा हरिश्चंद्र ने बच्चे को काट कर उस के मांस का प्रसाद तैयार किया. 'देवी' की कृपा से बच्चा पुनः जीवित हो गया और हरिश्चंद्र को देवी ने दर्शन दे कर उस की सब मनोकामनाएं पूर्ण कर दीं.

समाज विरोधी प्रचार

इस से बहुत से श्रद्धांध लोग प्रोत्साहन पा कर खतरनाक रास्ते की ओर बढ़ जाते हैं. दीनानगर में हुए नृशंस नरबलि कांड के बाद कई जगराता दलों ने 'तारा रानी' का वृत्तांत न गाने के प्रस्ताव पास किए थे. वे कुछ समय तक ही उस स्व-आरोपित प्रतिबंध पर अमल कर सके. सरकार को इस तरह के समाज-विरोधी प्रचार पर कानूनी प्रतिबंध लगाना चाहिए, क्योंकि इस से नरहत्या की प्रेरणा मिलती है.

इन जगरातों में ध्यानू भगत की कथा भी सुनाई जाती है. इस में आता है कि उक्त भक्त ने अपनी गरदन काट कर दुर्गा देवी को भेंट कर दी थी. देवी ने प्रसन्न हो कर उसे आशीर्वाद दिया, उसे जीवित किया और उस की सब कामनाएं पूरी कर दीं.

यह भी घातक शिक्षा देने वाली कथा है. इस से व्यक्ति को आत्मघात की प्रेरणा मिलती है. भावुक लोग सोचते हैं कि यदि हम अपना कोई प्रिय शरीरांग काट दें तो देवी प्रसन्न हो कर प्रकट हो जाएगी. उस के आशीर्वाद से सभी कामनाएं पूर्ण हो जाएंगी. ज्वालाजी के मंदिर में जिह्वा काट कर चढ़ाने की घटनाएं इस प्रकार की कथाकहानियों के दुष्प्रभावस्वरूप ही घटित होती हैं.

पाठ्य पुस्तकें भी जिम्मेदार

नरबलियों की पाशविक व क्रूरतम परंपरा को बनाए रखने में अन्य चीजों के साथसाथ पाठ्यक्रमों में निर्धारित पुस्तकें भी जिम्मेदार हैं. संस्कृत में हितोपदेश और पंचतंत्र नामक पुस्तकें बहुत लोकप्रिय व आकर्षक हैं. ये पाठ्यक्रमों में भी लगी हुई हैं. इन के अलावा हिंदी, अंगरेजी और भारतीय भाषाओं की पुस्तकों में भी इन में से कहानियां संकलित की जाती हैं.

इन में 'शूद्रक वीरवर' की कथा बहुत प्रसिद्ध है. इस में आता है कि वीरवर से लक्ष्मी कहती है कि यदि तुम अपने सर्वांग सुंदर बेटे की सर्वमंगला देवी के मंदिर में बलि चढ़ा दोगे तो तुम्हारे राजा का राज्य चिरस्थायी हो जाएगा. वह उस के कथन के मुताबिक बच्चे की बलि देने के बाद अपनी बलि भी चढ़ा देता है. देवी बहुत प्रसन्न होती है. उसे और उस के बच्चे को जीवित कर देती है. दूसरे दिन उसे कर्नाटक का राज्य भी इनाम में मिल जाता है.

यह कथा बहुत लुभावने ढंग से नरबलि और आत्मबलि की प्रेरणा देती है. इस तरह की कथा कहानियों को पढ़ने वाले बच्चों के अर्धचेतन मन में नरबलि की महिमा अनजाने में ही प्रतिष्ठित हो जाती है. इसी महिमा से वशीभूत हो कर वे जीवन में इस 'पुण्य कर्म' को कर बैठते हैं.

फिल्मों में मारकाट, बलात्कार और शराबनोशी के दृश्यों को हटाना जिस प्रकार समाज के लिए उपादेय है, उसी प्रकार बच्चों की पाठ्यपुस्तकों से नरबलियों को सराहने वाले कथांशों को निकाल फेंकना भी समाज के स्वास्थ्य के लिए नितांत अनिवार्य है.

आए दिन होने वाली लोमहर्षक घटनाओं को तब तक नहीं रोका जा सकता,

जब तक उपर्युक्त प्रकार का हमारा धार्मिक साहित्य हमारे लिए पूज्य एवं अनुकरणीय है. केवल बलि देने वालों को सजा देने से यह व्याधि हटने वाली नहीं. इस की जड़ को काटना होगा, तब जा कर कहीं इस से पीछा छूट सकता है.

इस की जड़ हैं वे पुरोहित, ज्योतिषी, चेले, तांत्रिक, औलिए आदि जो लोगों को संतान-प्राप्ति व गुप्त खजाने प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के पाशविक कुकृत्य करने की सलाहें देते रहते हैं. इस के साथ ही वे धार्मिक कहे जाने वाले ग्रंथ भी त्याज्य हैं जो ऐसे मामलों में पुरोहितों व ज्योतिषियों आदि के आधार ग्रंथ हैं.

इस ऋणात्मक इलाज के अलावा इस की धनात्मक चिकित्सा भी करनी होगी. जनता को वैज्ञानिक व बुद्धिवादी दृष्टि देनी होगी, जिस से वह अंधविश्वासों और धार्मिक रहस्यवाद की घनी धुंध से बच सके.

जो लोग और शास्त्र नरबलि से संतान प्राप्त करने या मनोकामनाएं पूर्ण होने की बातें करते हैं, वे मानसिक रूप से रुग्ण हैं. वे समाज के नंबर एक शत्रु हैं. ये जघन्य व क्रूर कर्मी लोग यह बुनियादी सच्चाई भूले हुए हैं कि कीचड़ द्वारा कीचड़ को साफ नहीं किया जा सकता. आचार्य चार्वाक ने ठीक ही कहा है.

यूपं छित्वा पशून्हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्.
यद्येवं गम्यते स्वर्गो नरकः केन गम्यते.

अर्थात यज्ञीय स्तंभ को काट कर, प्राणियों की हत्या कर के और पृथ्वी को खून से लथपथ कर के यदि स्वर्ग प्राप्त होता है तो बताओ आदमी नरक में किस तरह के कर्मों से जाता है?

संतान-प्राप्ति किसी की संतान नष्ट करने से नहीं हो सकती. किसी निर्धन की संतान को या किसी अनाथ बच्चे को अपना बना कर पालो, वही तुम्हारी संतान बन जाएगी. दूसरों के बच्चों में अपनी संतान को देखना भी संतान-प्राप्ति का तरीका है.

धन प्रप्ति के लिए भी नरबलि देना बेहूदा और मूर्खतापूर्ण काम है. धन पुरुषार्थ और उद्योग से प्राप्त होता है, न कि बलि देने से. यदि बलि देने से धन मिला करता तो दुनिया भर में कसाई लोग सब से ज्यादा धनी होते. वे नित्य प्रति अनगिनत बकरे, सुअर, मुर्गे, भेड़े, गौएं आदि पशुओं की बलि देते हैं, उन्हें खंडखंड करते हैं.

समाजसेवी और धार्मिक संस्थाओं को धर्म के नाम पर चले आ रहे इस अमानुषिक व क्रूर कर्म को रोकने के लिए जनता को सचेत करना चाहिए, ताकि स्वर्ग, संतान और धन की प्राप्ति की झोंक में वह नरक (कारागार) में ही न गिर जाए.

हिंदू धर्म और शूद्र

समाचारपत्रों में काशीपीठ के शंकराचार्य का एक वक्तव्य छपा था, जिस में कहा गया था कि "हिंदू धर्म में हरिजनों को नफरत की नजर से नहीं देखा गया है. इस का प्रमाण यह है कि भगवान राम ने शबरी के जूठे बेर खाए थे."

इस कथन को हिंदू धर्म ग्रंथों का स्वाध्याय करने वाला कोई व्यक्ति सच्चा नहीं मान सकता, क्योंकि हिंदू धर्म ग्रंथों में शूद्रों (जिन में तथाकथित हरिजनों के अतिरिक्त सभी अनुसूचित जातियां, पिछड़ी श्रेणियां और जनजातियां भी आ जाती हैं) के प्रति व्यक्त किए गए उद्‌गारों के कारण ही तो हिंदू धर्म के धर्मत्व पर संदेह होने लगता है. शायद इसी कारण श्री ल. र. बाली ने हिंदू धर्म पर लिखी अपनी पुस्तक का नाम 'हिदूइज्म: धर्म या कलंक?' रखा है.

मैं ने जब शंकराचार्य का उपर्युक्त वक्तव्य पढ़ा तो मेरे मनश्चक्षुओं के आगे धर्मशास्त्रों के वचन बिजली की तरह कौंध गए.

स्कंद पुराण, वैष्णव खंड, अध्याय 19 और ब्रह्मखंड, अ. 10 में दृढ़मति के उपाख्यान में कहा गया है:

उपदेशो न कर्त्तव्यो जातिहीनस्य कस्यचित्.
उपदेशे महान् दोष उपाध्यायस्य विद्यते..
यदि चोपदिशेद् विप्रः शूद्रं चैतानि कर्हिचित्.
त्यजेयुर्ब्राह्मणा विप्रं तं ग्रामाद ब्रह्मसंकुलात्..
शूद्राय चोपदेष्टारं द्विजं चाण्डालवत् त्यजेत्.
शूद्रं चाक्षरसंयुक्तं दूरतः परिजर्वयेत्..

अर्थात हीन जाति के व्यक्ति को कभी उपदेश नहीं देना चाहिए. यदि उपाध्याय उपदेश करेगा तो उसे बहुत दोष लगेगा. यदि कोई ब्राह्मण किसी शूद्र को उपदेश करे तो दूसरे ब्राह्मण उस का बहिष्कार करें, उसे चांडाल की तरह त्याग दें और गांव से बाहर निकाल दें. पढ़ेलिखे शूद्र को दूर से ही त्याग दें.

शूद्र को वेदों से बहुत ही सख्ती से दूर रखने का आदेश है. गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है:

अथ हास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां

श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः

–गौतम धर्म सूत्र 2/3/4

अर्थात यदि शूद्र वेदमंत्रों को सुन ले तो उस के कानों में रांगा और लाख पिघला कर डालनी चाहिए. वह यदि वेद के शब्दों का उच्चारण करे तो उस की जीभ चीर देनी चाहिए. यदि वह वेदमंत्रों को धारण कर ले, याद कर ले, तो उस के शरीर को कुल्हाड़े आदि से काट दें. (देखें, हरदत्त कृत मिताक्षरावृत्ति)

शूद्र यदि द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के साथ एक आसन पर बैठने, एक शैया पर सोने, एक रास्ते पर चलने और उन के बराबर की बातचीत करने की इच्छा करे तो उसे दंड देना चाहिए.

आसनशयनवाक्पथिषु समप्रेप्सुर्दण्ड्यः

–गौ.ध.सू. 2/3/5

मनु ने दंड को स्पष्ट करते हुए विधान किया है कि राजा ब्राह्मण के साथ एक आसन पर बैठे हुए शूद्र को तपाए गए लोहे से कमर में दगवा कर राज्य की सीमा से निकाल दे या उस के नितंबों को कटवा दे:

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः.
कट्यां कृतांको निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत्..

–मनु. 8/281

शूद्र को लूट लो

मनुस्मृति में शूद्र के साथ ऐसा व्यवहार करने का आदेश है जैसा एक डाकू अपने किसी शिकार के साथ करता है. शूद्र से जबरन छीनाझपटी का आदेश देते हुए कहा गया है:

आहरेत् त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः.
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः..

– मनु. 11/13

अर्थात यदि यज्ञ दो या तीन कारणों से, विशेषकर धनाभाव के कारण, पूरा न हो रहा हो तो उस की पूर्णता के लिए वैश्य के यहां से धन न मिलने पर (बलात्कार या चोरी से) धनवान शूद्र के यहां से धन लाए क्योंकि शूद्र का यज्ञ से कोई संबंध नहीं होता है. (देखें, मनुस्मृति, मणिप्रभा हिंदी टीका, पृ. 596).

ऐसा ही आदेश मनुस्मृति में अन्यत्र भी मिलता है:

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाहरेत्.
न हि तस्यास्ति किंचित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः..

– मनु. 8/417

अर्थात ब्राह्मण बिना विकल्प (सोचविचार) किए शूद्र के धन को ले ले, क्योंकि उस का निजी धन कुछ नहीं है और वह स्वामी के ग्रहण करने योग्य धन वाला है, अर्थात शूद्र के धन को ग्रहण करने का अधिकार उस के स्वामी को है.

हिंदू धर्मशास्त्रों ने शूद्र को जन्मजात दास घोषित कर रखा है. मनुस्मृति का कथन है कि शूद्र चाहे खरीदा हुआ हो या नहीं, उस से दास की तरह काम करवाए, क्योंकि विधाता ने उसे ब्राह्मणों की दासता करने के लिए ही रखा है:

शूद्रं तु कारयेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा.
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा..

–मनु. 8/413

शूद्रों से सूद की दर भी ज्यादा से ज्यादा लेने का धर्म ग्रंथ विधान करते हैं:

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पंचकं व शतं समम्.
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः..

–मनु. 8/142

अर्थात ब्राह्मण से दो प्रतिशत, क्षत्रिय से तीन प्रतिशत, वैश्य से चार प्रतिशत और शूद्र से पांच प्रतिशत सूद लें.

'मनुस्मृति' का आदेश है कि शूद्र केवल शूद्र वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकता है, जब कि ब्राह्मण अपने वर्ण के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण की स्त्री से भी विवाह कर सकता है; क्षत्रिय अपने वर्ण के अतिरिक्त वैश्य और शूद्र वर्ण की स्त्री के साथ तथा वैश्य अपने वर्ण के अतिरिक्त शूद्र वर्ण की स्त्री से शादी कर सकता है:

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते.
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः

–मनु. 3/13

शूद्रों के नाम दासांत हों

शूद्रों के नामों से भी दासता टपकनी चाहिए, ऐसे आदेश हिंदू धर्म ग्रंथों में विद्यमान हैं. धार्मिक विधान है कि उन के नामों के पीछे 'दास' शब्द होना चाहिए. उदाहरण के लिए:

शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्

–मनु. 2/32

दासः शूद्रस्य कारयेत्

–यमस्मृति

यही बात अन्य कई धर्म ग्रंथों में भी मिलती है.

धर्म शास्त्रों में ही शूद्रों के प्रति ऐसे भेदभावपूर्व आदेश दिए हों, ऐसी बात नहीं है. व्याकरण और काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में भी इसी तरह के आदेश मिलते हैं.

पाणिनि ने अपनी पुस्तक अष्टाध्यायी में लिखा है:

प्रत्यभिवादे शूद्रे

– 8/2/83

अर्थात बड़ा व्यक्ति प्रणाम किए जाने पर जब शूद्र के अभिवादन को स्वीकार करे तो अधिक उत्साह का प्रदर्शन न करे.

नाट्यशास्त्रीय विधान है कि रंगशाला के उत्तरपूर्व में शूद्रों के बैठने के लिए पृथक स्थान हो. वे वहीं बैठें (देखें, संस्कृत नाटक, पृ. 386). शूद्र पात्र रंगमंच पर श्याम रंग में आएं (वही, पृ. 394-95). नायक कुलीन होना चाहिए (साहित्य दर्पण 3/30). महाकाव्य में देवता अथवा सद्वंशीय व्यक्ति अथवा क्षत्रिय नायक हो सकता है (वही 6/3/64). नाटक में कुलीन पुरुषों की भाषा संस्कृत होनी चाहिए और अधम जाति के पात्रों की प्राकृत. अत्यंत अधम पात्रों चांडालादि की भाषा पैशाची या मागधी हो (देखें, दशरूपकम् 2/64-65).

शूद्र स्पर्श से अपवित्रता

हिंदू धर्म ग्रंथों का कथन है कि शूद्र से स्पर्श हो जाने पर उच्च जाति का हिंदू अपवित्र हो जाता है, अतः उस की छाया तक से दूर रहना चाहिए. संवर्त स्मृति में कहा गया है कि भंगी, पतित, मुर्दा, अंत्यज, मासिक धर्म वाली स्त्री और दस दिन के भीतर सूतिका स्त्री (जच्चा) का स्पर्श करने से आदमी अपवित्र हो जाता है. अतः वस्त्रों सहित स्नान करें–

चांडालं पतितं स्पृष्ट्वा शवमन्त्यजमेव च.
उदक्यां सूतिकां नारीं सवासः स्नानमाचरेत्..

यहीं बस नहीं, शूद्रों को देख कर भी उच्च जातीय हिंदू अपवित्र हो जाते हैं., ऐसा धर्मशास्त्रीय विधान है, पराशर स्मृति में कहा गया है:

चाण्डालदर्शने सद्य आदित्यमवलोकयेत्.

– पराशर स्मृति, 6/24

अर्थात भंगी/चांडाल को देख कर सूर्य के दर्शन करें, तब शुद्धि होती है.

व्यास स्मृति का कथन है:

वणिक् किरात कायस्थ मालाकार कुटुम्बिनः.
वेरट मेह चाण्डाल दास श्वपच कोलकाः.
एतेऽन्त्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः.
एषां संभाषणात्स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम्..

– व्यास स्मृति 1/11–12

अर्थात वणिक् (बनिया?), किरात, कायस्थ, माली, कुनबी, स्यारमार, कंजर, चांडाल, दास, श्वपच और कोली– ये सब अंत्यज हैं. इन से बातचीत करने पर स्नान से और इन्हें देखने पर सूर्यदर्शन से शुद्धि होती है.

शूद्रों के कई उपवर्गों के विषय में तो हिंदू धर्मग्रंथकारों के वचन बहुत ही ज्यादा आपत्तिजनक हैं. उदाहरण के लिए चांडाल और श्वपच नामक शूद्रों के उपविभागों के विषय में मनुस्मृति (अ. 10) के निम्नलिखित श्लोक पढ़ें:

चांडालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः.
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम्..
वासांसि मृतचेलानि भिन्नभांडेषु भोजनम्.
कार्ष्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः..
न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषोधर्ममाचरन्..
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह..
अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद् भिन्नभाजने.
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च..
दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः.
अबांधवं शवं चैव निरहरेयुरिति स्थितिः..
वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया.
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च..

–मनु 10/51–56

अर्थात चांडाल और श्वपच का निवास गांव के बाहर हो. इन के पात्रों को छुआ न जाए. कुत्ते और गधे इन का धन हों. मृतकों के वस्त्र इन के पहनने के वस्त्र हों. फूटे बरतनों में ये भोजन खाएं. कांसे के आभूषण पहनें. बाजार में न बैठें, काम के लिए आएं और काम कर के चले जाएं. धार्मिक व्यक्ति इन का स्पर्श न करें. इन के विवाह आदि अपनी जाति में ही हों. इन्हें टूटेफूटे बरतन में सेवक के हाथ से अन्न दिलाया जाए. ये लोग रात्रि में ग्राम और नगर में न घूमें. दिन में सरकारी चिह्नों से चिह्नित हो कर अपने कार्य के लिए जाएं. लावारिस लाशों को उठाएं. फांसी देने योग्य मनुष्यों को शास्त्रोक्त विधि और राजाज्ञा से फांसी पर लटकाएं. उन के वस्त्र, शय्या और आभूषण ये सब ले लें.

शूद्र के स्पर्श से न सिर्फ उच्च जातीय हिंदू अपवित्र होते हैं, बल्कि उन के देवता तक इस से नहीं बच पाते. वृद्ध हरीत स्मृति में कहा गया है:

प्रासाददेवहर्म्याणां चाण्डालपतितादिषु.
अंतः प्रविष्टेषु तथा शुद्धिः स्यात् केन कर्मणा..
गोभिः संक्रमणं कृत्वा गोमूत्रेणैव लेपयेत्..

अर्थात मंदिर, देवस्थान आदि के बाहर के आंगन में यदि चांडाल व पतित का प्रवेश हो जाए तो किस कर्म से शुद्धि होगी? गौओं के संक्रमण से अर्थात वहां गौएं

बांधने, उन के फिरने तथा बाद में गोमूत्र से लेपन करने पर उस की शुद्धि होती है.

यहां शूद्रों–मानव–की अपेक्षा पशु–गाय–के मूत्र को ज्यादा गरिमा दी गई है. कारिकावृत्ति (प्रायश्चित कांड) का कथन है कि यदि चांडाल शंकर या विष्णु के मंदिर की चारदीवारी में आ जाए तो उस का चारों ओर से सौसौ हाथ तक मार्जन करें. ग्राम के उत्सव में भी चांडाल का प्रवेश निषिद्ध है. यदि यह प्रायश्चित न किया गया तो देवमूर्ति की शक्ति की हानि होगी, राजा की मृत्यु होगी, ग्राम का नाश होगा और अन्न व चारा नष्ट होगा:

रुद्रस्य वाथ विष्णोर्वा प्राकाराभ्यंतरे यदि.
रजस्वलावधूश्चैव चांडालश्च समागतः..
ततो ग्रामोत्सवे हस्तशताभ्यंतरतो यदि.
तद् देवस्य कलाहानिः राज्ञो मरणमेव च..
तद् ग्रामस्य क्षयः प्रोक्तः सस्यानां नाशनं ध्रुवम्..

शूद्र के द्वारा मंदिर के भीतर के भाग को छूने से न केवल राजा का नाश होता है, बल्कि देश का भी नाश हो जाता है. लेकिन यदि वहां गोबर का लेप कर के दूसरी क्रियाएं की जाएं तो बचाव हो सकता है.

यहां फिर इनसान की अपेक्षा पशु के मल को गरिमा दी गई है. श्री पांचरात्र (पद्मतंत्र, चर्यापाद, अ. 18) में इस अनुष्ठान का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है:

स्पृष्टभागधनांगं चेत्स्पृष्टं वा कौतुकं यदि.
क्रियासमभिहारेण प्रायश्चितमिहोच्यते..
शोधयेन्मंदिरं पूर्वं गोमयालेपनादिभिः.
पुण्याहं वाचयित्वाथ ब्राह्मणांस्तत्र भोजयेत्..
स्वाध्यायं परिकुर्वीरन् ब्राह्मणा वेदपारगाः.
इतिहासपुराणानि पठेयुश्च दिवानिशम्..
कपिलाश्च प्रदेशेषु तत्र तत्राभिवासयेत्.
एवं मासादिकालेषु दोषगौरवलाघवम्..
अवेक्ष्य शोधिते धाम्नि ब्राह्मणांस्तोषयेद् धनैः.
प्रतिमानां यथायोगमुद्धारो वा नवीकृते..
कुर्यांत्ततो यथापूर्वं निमित्ते वा नवीकृते.
प्रतिष्ठाप्य यथाशास्त्रं स्नापयेत्कलशैरपि..
सहस्रेण पुरावृत्तदोषाणामपनुत्तये.
अंते महोत्सवः कार्यो न चेद्राष्ट्रनृपक्षयः..

अर्थात चांडाल, श्वपच और इन के तुल्य जो पुल्कस आदि तथा प्रतिलोम अंत्यज जातियां हैं, उन में से यदि कोई जगमोहन या मंदिर के भीतर के भाग को स्पर्श कर ले तो उस का क्रिया सहित प्रायश्चित यहां बताया जाता है. पहले मंदिर को गोबर आदि से लीप कर शुद्ध करें, फिर पुण्याह वाचन करवाएं. तत्पश्चात उस

स्थान में ब्राह्मण भोजन हो. वेदपाठी ब्राह्मण फिर वहां वेद का स्वाध्याय (पाठ) करें और साथ ही इतिहास पुराण का अखंड पाठ हो. उस मंदिर के आसपास योग्य स्थान में गौओं का निवास हो. इस प्रकार दोष के न्यूनाधिक होने से दो या चार मास तक ये सब क्रियाएं होती रहें. फिर उस मंदिर के इस प्रकार पवित्र होने पर पाठ करने वाले ब्राह्मणों को धन से संतुष्ट करें. यथायोग्य स्थापित प्रतिमाओं का उद्धार करें या नवीन प्रतिमाएं मंगवाएं. जैसे पूर्वकाल में प्रतिष्ठा हुई थी वैसे ही इन मूर्तियों की स्थापना करें और सहस्र घड़ों से मूर्तियों को स्नान करवाएं जिस से दोषों की निवृत्ति हो. इतना काम करने पर फिर महोत्सव करें. यदि ऐसा न किया जाएगा तो देश और राजा दोनों का क्षय होगा. (देखें पं. कालूराम शास्त्री रचित 'लीडरी पर प्लेग' पृ. 218/220).

शूद्रों से पशु का मलमूत्र श्रेष्ठ

इतना ही नहीं, शूद्रों के स्पर्श से अपवित्र हुए इनसानों को पवित्र होने के लिए गाय का मलमूत्र पीने को कहा गया है, यानी शूद्र का स्पर्श पशु का मलमूत्र पीने से भी निकृष्ट है.

संवर्त स्मृति का आदेश है कि तीर्थ, तालाब व नदी के जिस भाग में अंत्यज लोग अपना कार्य करते हैं, उस भाग का जल यदि कोई द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) धोखे से पी ले तो पंचगव्य (गाय का मलमूत्र आदि पांच पदार्थ) भक्षण से पवित्र होता है:

अन्त्यजैः स्वीकृते तीर्थे तडागेषु नदीषु च.
शुद्ध्यते पंचगव्येन पीत्वा तोयमकामतः.

–संवर्त. 186

पराशर का कथन है कि भंगी द्वारा बनवाई हुई बावड़ी आदि से यदि कोई ब्राह्मण आदि अज्ञान से जल पी ले तो वह 24 घंटे उपवास कर के शुद्ध होता है. भंगी के बरतन का जिस कुएं से स्पर्श होता है उस कुएं का जल यदि कोई पी ले तो वह तीन दिन रात गोमूत्रपान और गोमूत्र में भीगे हुए यवों (जौ) का भक्षण कर के शुद्ध होता है:

चाण्डालखातवापीषु पीत्वा सलिलमग्रजः.
अज्ञानाच्चैकनक्तेन त्वहोरात्रेण शुद्ध्यति..
चाण्डालभाण्डसंस्पृष्टं पीत्वा कूपगतं जलम्.
गोमूत्रयावकाहारस्त्रिरात्रात् शुद्धिमाप्नुयात्..

–पराशर स्मृति, 6/24-25

केवल वे लोग ही अपवित्र नहीं होते जो शूद्रों के स्पर्श से अपवित्र हुए कुएं आदि से पानी पीते हैं, बल्कि इस तरह अपवित्र हुए लोगों का संसर्ग करने वाले भी अपवित्र हो जाते हैं. आपस्तंब (अ. 3) ने लिखा है कि जो एक कुएं का पानी पी कर दूषित

हुए हैं, उन के स्पर्श तथा संसर्ग से दूषित मनुष्यों की एक दिनरात उपवास कर के पंचगव्य पीने से शुद्धि होती है:

कूपैकपानैर्दुष्टानां स्पर्शसंसर्गदूषणात्.
तेषामेकोपवासेन पंचगव्येन शोधनम्..

-आपस्तंब 3/4

हिंदू धर्मशास्त्रकारों ने न केवल शूद्रों और द्विजातियों में भेदभाव उत्पन्न किया, बल्कि स्वयं शूद्रों को भी आपस में फाड़ कर रखा ताकि वे कभी संगठित रूप में विद्रोह न कर उठें. पराशर का कथन है: भंगी के बरतन में धरे हुए जल को यदि कोई द्विजाति पी ले और ज्ञान होने पर यदि उसी समय वमन कर दे तो प्राजापत्य व्रत करे. यदि वमन न करे और वह जल शरीर में हजम हो जाए तो प्राजापत्य न कर के कृच्छ्र चांद्रायण व्रत करे. ब्राह्मण सांतपन व्रत, क्षत्रिय प्राजापत्य व्रत, वैश्य अर्ध प्राजापत्य व्रत और शूद्र चौथाई प्राजापत्य व्रत कर के शुद्ध होता है. अंत्यजों के बरतन का जल, दही और दूध प्रमाद से यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र पी ले तो ब्रह्मकूर्च उपवास करने से द्विजातियों का प्रायश्चित्त होता है और शूद्र उपवास एवं शक्ति अनुसार दान देने से शुद्ध होता है:

चाण्डालघटसंस्थं तु यस्तोयं पिबति द्विज:.
तत्क्षणात् क्षिपते यस्तु प्राजापत्यं समाचरेत्..
यदि न क्षिपते तोयं शरीरे यस्य जीर्यति,
प्राजापत्यं न दातव्यं कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ..
चरेत् सांतपनं विप्र: प्राजापत्यं तु क्षत्रिय:.
तदर्धं तु चरेद् वैश्य: पादं शूद्रस्य दापयेत्..
भाण्डस्थमंत्यजानां तु जलं दधि पय: पिबेत्.
ब्राह्मण: क्षत्रियो वैश्य: शूद्रश्चैव प्रमादत: ..
ब्रह्मकूर्चोपवासेन द्विजातीनां तु निष्कृति:.
शूद्रस्य चोपवासेन तथा दानेन शक्तित: ..

–पराशर स्मृति, 6/23–25, 29–30

लगभग यही बात अत्रिस्मृति में कही गई है. हां, उस ने प्रायश्चित्त का नुस्खा कुछ बदल दिया है.

चाण्डालान्नं यदा भुंक्ते चातुर्वर्ण्यस्य निष्कृति: .
चांद्रायणं चरेद् विप्र: क्षत्र: सांतपनं चरेत् ..
षड्रात्रमाचरेद् वैश्य: पंचगव्यं तथैव च.
त्रिरात्रमाचरेच्छूद्रो दानं दत्वा विशुद्ध्यति ..

–अत्रि स्मृति 173–174

अर्थात चारों जातियों में से किसी जाति का व्यक्ति यदि भंगी का अन्न खा ले

तो उस का प्रायश्चित्त इस प्रकार है—ब्राह्मण चांद्रायण व्रत करने, क्षत्रिय सांतपन व्रत करने, वैश्य छः रात्रि का उपवास कर के पंचगव्य पान करने और शूद्र तीन रात का उपवास कर के दान करने से शुद्ध होता हैं.

हिंदू धर्म ग्रंथों में शूद्र को केवल शूद्र वर्ण की स्त्री से विवाह का अधिकार है. शेष वर्ण अपनेअपने वर्ण की स्त्रियों के साथ विवाह करने के अतिरिक्त अपने से नीचे के वर्णों की स्त्रियों से भी विवाह कर सकते हैं. अर्थात शूद्रा से सभी विवाह कर सकते हैं. लेकिन शूद्रवर्ण की स्त्री के पेट से उत्पन्न संतान उस व्यक्ति की संपत्ति का हिस्सा उस व्यक्ति की अन्य उच्च वर्ण वाली पत्नियों से उपजी संतानों के बराबर नहीं ले सकती. मनु का विधान है कि पिता के धन से ब्राह्मण जाति की स्त्री का पुत्र तीन अंश, क्षत्रिय जाति की स्त्री का पुत्र दो अंश, वैश्य जाति की स्त्री का पुत्र डेढ़ अंश और शूद्र जाति की स्त्री का पुत्र एक अंश ले.

अंशं दायाद् हरेद् विप्र द्वावंशौ क्षत्रियासुतः,
वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत्.

—मनु. 9/151

शूद्र की हत्या करो

शूद्रों को जपहोम करने पर भी मृत्युदंड दिए जाने का धर्मशास्त्रीय आदेश है. अत्रि का कथन है कि राजा को चाहिए कि वह जपहोम करने वाले शूद्र का वध कर दे, नहीं तो उस का राज्य ऐसे नष्ट हो जाएगा जैसे पानी से आग नष्ट हो जाती है:

वध्यो राज्ञा स वै शूद्रो जपहोमपरश्च यः.
यतो राष्ट्रस्य हंताऽसौ यथा वह्नेश्च वै जलम् ..

—अत्रि स्मृति

वाल्मीकीय रामायण (हिंदी अनुवाद, गीता प्रेस, गोरखपुर) में पृ. 1024-25 पर आता है कि एक ब्राह्मण अपने मरे हुए बालक को ले कर राजा रामचंद्र के द्वार पर आया और उस की मृत्यु के लिए राजा को दोषी बताने लगा. तब नारद ने राम से कहा कि एक तपस्वी शूद्र के अधर्माचरण से इस ब्राह्मण बालक की मृत्यु हुई है (पृ. 1025-26.). पृष्ठ 1027 पर आता है कि राम को दक्षिण दिशा में सरोवर के तट पर एक तपस्वी नीचे को मुख कर के लटका हुआ और कठोर तपस्या करता हुआ दिखाई दिया.

उस से पूछने पर उस ने बताया कि मैं शूद्र जाति का हूं और स्वर्ग लोक में देवत्व प्राप्त करने के उद्देश्य से यह उग्र तप कर रहा हूं. पृष्ठ 1028 पर लिखा है: "श्रीराम, मैं झूठ नहीं बोलता. देवलोक पर विजय पाने की इच्छा से ही तपस्या में लगा हूं. आप मुझे शूद्र समझिए. मेरा नाम शंबूक है (3). वह इस प्रकार कह ही रहा था कि श्री रामचंद्र ने म्यान से चमचमाती हुई तलवार खींच ली और उसी से उस का सिर काट लिया (4). इस शूद्र का वध होते ही इंद्र और अग्नि सहित

संपूर्ण देवता 'बहुत ठीक, बहुत ठीक' कह कर भगवान श्रीराम की बारंबार प्रशंसा करने लगे."

अत्रि स्मृति के पूर्वोल्लिखित आदेश के प्रकाश में वाल्मीकीय रामायण का प्रसंग आश्चर्यजनक प्रतीत नहीं होता.

शूद्रहत्या मेढक मारने के तुल्य

शूद्रों को मारना मेढक, कौए व उल्लू को मारने के समान है, ऐसा धर्मशास्त्रीय कथनों से स्पष्ट है. मनु का कथन है: बिल्ली, नेवला, नीलकंठ, मेढक, कुत्ता, गोह, उल्लू और कौआ–इन में से किसी को मार कर शूद्रहत्या करने पर किए जाने वाला व्रत करें:

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मंडूकमेव च.
श्वगोधोल्लूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ..

–मनु. 11/131

शूद्रों के मुकदमे में केवल शूद्र गवाह बन सकता है. द्विजों के मुकदमे में शूद्र और शूद्रों के मुकदमे में द्विज गवाह नहीं बन सकते. यही नहीं, भंगी के मुकदमे में केवल भंगी गवाह हो सकता है:

शूद्राश्च संतः शूद्राणामंत्यानामंत्ययोनयः

–मनु. 8/68

शूद्रों को मारने के लिए जराजरा सी बात पर बहाने बनाए गए हैं. मनु का विधान है कि ब्राह्मण को यदि क्षत्रिय कटुवचन बोले तो उसे सौ पण का अर्थदंड हो, वैश्य बोले तो उसे डेढ़ या दो सौ पण का अर्थ दंड हो; लेकिन यदि शूद्र कटुवचन बोले तो वह मृत्युदंड के योग्य है. इस के विपरीत, यदि कोई ब्राह्मण किसी क्षत्रिय को कटुवचन बोले तो उसे 50 पण, वैश्य को बोले तो उसे 25 पण का अर्थदंड होना चाहिए. लेकिन यदि ब्राह्मण शूद्र को बोले तो ब्राह्मण को केवल 12 पण का अर्थदंड हो:

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दंडमर्हति,
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति..
पंचाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने,
वैश्ये स्यादर्धपंचाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ..

–मनु. 8/267-268

मतलब यह कि शूद्र अपराध करे तो ज्यादा दंड पाए, शूद्र के प्रति कोई अपराध करे तो कम से कम दंड पाए.

ब्राह्मणों के प्रति अपराध करने पर ही शूद्र की तबाही होती हो, ऐसी बात नहीं. मनु का आदेश है कि द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को दारुण वचन बोलने

वाले शूद्र की जीभ काट कर उसे दंडित करना चाहिए. यदि शूद्र द्विजातियों के नामों तथा जातियों का उच्चारण कर के, 'रे यज्ञदत्त, तुम नीच ब्राह्मण हो' इत्यादि कटुवचन बोले तो उस के मुंह में आग में लाल की हुई 10 अंगुल लंबी लोहे की कील ठूंस देनी चाहिए:

एक जातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन्.
जिह्वाया: प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि स: ..
नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वत:.
निक्षेप्योऽयोमय: शंकुर्ज्वलन्नास्ये दशांगुल: ..

–मनु. 8/270–271

शूद्र कोई बुरा काम करे, तब तो वह दंडित होगा ही; पर उसे अच्छा काम करने पर भी दंडित करने का विधान है. धर्मोपदेश करना अच्छा काम माना गया है. लेकिन मनु का कथन है कि जो शूद्र ब्राह्मणों को धर्मोपदेश करे, उस के मुख और कानों में गरम तेल डलवाया जाना चाहिए:

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वत:.
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रेश्रोत्रे च पार्थिव:..

–मनु. 8/272

यदि अंत्यज (शूद्र) द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को मारे तो जिस से मारे राजा उसी अंग को कटवा दे:

येन केनचिदंगेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमंत्यज:.
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम्..
पाणिमुद्यम्य दंडं वा पाणिच्छेदनमर्हति..

–मनु. 8/279–280

आदि शंकराचार्य ने, जिस के सभी आधुनिक शंकराचार्य प्रतिनिधि मात्र हैं, ब्रह्मसूत्र (1/3/34 एवं 38) पर भाष्य करते हुए विभिन्न प्रमाण उपस्थित कर के शूद्रों को श्मशान कहा है और उन के वेदमंत्र सुननेपढ़ने पर उन्हें दंडित करने की बात की है. पुराणों में भी शूद्र विषयक बहुत से आदेश मिलते हैं, वायुपुराण और ब्रह्मांड पुराण में शूद्रों के दो मुख्य काम बताए गए हैं–शिल्प और सेवा.

शिल्पाजीवं भृतिं चैव शूद्राणां व्यदधात्प्रभु:

–वायुपुराण 8/163, ब्रह्माण्ड पुराण 2/7/163

अर्थात ईश्वर ने शूद्रों के लिए दो ही काम बनाए हैं–शिल्पकारी और सेवा करना. मनुस्मृति में सेवा को अत्यंत निंदनीय कहा गया है–

सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्..

–मनु. 4/6

सेवा को श्ववृत्ति (दीनतापूर्वक कुत्ते के समान स्वामी की ओर देखना) कहा गया है, अतः इसे कभी न करे.

पुराण शूद्रों के धार्मिक शोषण को अक्षुण्ण बनाए रखने के प्रति बहुत सचेत हैं. विष्णु पुराण (श्रीधर भाष्य) में कहा है कि शूद्र का यज्ञ करवाने वाला ब्राह्मण नरक को प्राप्त होता है:

अयाज्ययाजकाश्चैव...नरके यांति

–विष्णु पुराण 2/6/18

यही बात विष्णु स्मृति (82/14) और मनुस्मृति (3/178) में भी कही गई है.

वायु और ब्रह्मांड दोनों पुराणों की दृष्टि में शूद्र इतना बुरा है कि उसे यदि श्राद्ध में बची ब्राह्मणों की जूठन दे दी जाए तो श्राद्ध का फल नष्ट हो जाता है. अतः जूठन शूद्र को देने का निषेध है:

शूद्रायानुपेताय श्राद्धोच्छिष्टं न दापयेत्.

–वायु पुराण 79/84

शूद्रायान्नमेतद्वै श्राद्धोच्छिष्टान्न दापयेत्

–ब्रह्मांड पुराण 3/15/56

यही बात मनुस्मृति (2/249) में भी कही गई है. मनुस्मृति में (3/156) में शूद्र को शिष्य बनाने वाले गुरु को निंदनीय घोषित किया गया है.

विष्णु पुराण में शूद्रों के एक उपवर्ग–चांडाल–को कुत्ते की श्रेणी में रखा गया है (देखें वि. पु. 3/11/55, वायुपुराण 78/67, ब्रह्मांडपुराण 3/14/78). इसी पुराण में अन्यत्र (3/16/13) कहा गया है कि यदि श्राद्ध के अन्न पर चांडाल की दृष्टि पड़ जाए तो देवता और पितर उसे स्वीकार नहीं करते.

उपरिलिखित आदेश शूद्रों (अनुसूचित जातियों आदि) के प्रति किस भाव के द्योतक हैं? शताब्दियों से इन आदेशों के लक्ष्य बने शूद्र भी जानते हैं कि आदेश किस भाव के द्योतक हैं, और खुद द्विजातीय लोग व उन के धर्मगुरु भी जानते हैं.

शूद्रों के प्रति ऐसे आदेशों की तीव्रता के सामने स्वामी दयानंद जैसे सुधारक की भी एक नहीं चली, बल्कि इन से अभिभूत हो कर उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' में यहां तक लिख दिया:

(क) ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना, और चांडालादि नीच भंगी, चमार आदि का न खाना. (दशम समुल्लास)

(ख) शूद्र के पात्र तथा उस के घर पर पका हुआ अन्न आपतकाल के बिना न खाएं. (दशम समुल्लास)

(ग) जो कुलीन शुभ लक्षणयुक्त शूद्र हो तो उस को मंत्रसंहिता (वेद) छोड़ कर सब शास्त्र पढ़ाएं. शूद्र पढ़े, परंतु उस का उपनयन (संस्कार) न करें, यह अनेक आचार्यों का मत है. (तृतीय समुल्लास).

(स्वामी दयानंद ने इस का वहां खंडन नहीं किया, अतः उन का भी यही मत सिद्ध होता है.)

(घ) शूद्र के नाम के साथ 'दास' शब्द लगाएं. (दयानंद रचित 'संस्कार विधि', पृ. 66)

धर्मग्रंथों के उपरिलिखित आदेशों के कारण ही तो ज्योतिर्मठ के शंकराचार्य ने 8 जनवरी, 1979 को भोपाल में छुआछूत मिटाने और अछूतों के मंदिर प्रवेश का कड़ा विरोध किया था. (देखें, भीमपत्रिका, 1 फरवरी, 1979). दूसरे कई धर्मगुरुओं ने वर्णाश्रम व्यवस्था की अनेक बार वकालत की है, जो हिंदू धर्म ग्रंथों के बिलकुल अनुकूल है.

पुरी के शंकराचार्य का कहना है कि हमारी जातिप्रथा अनादि है. यदि हरिजन अपना काम बदलेंगे तो उत्थान नहीं होगा. हरिजन संन्यास नहीं ले सकता. संन्यास लेना उस के लिए अपराध है. जो जातिपांति नहीं मानता, वह हिंदू नहीं. (देखें, रविवार, 1 से 7 अक्टूबर, 1978).

क्या राम ने जूठे बेर खाए?

शंकराचार्य का कहना है कि राम ने शबरी के जूठे बेर खाए थे. फिर शूद्रों से नफरत कैसी?

इस पर हमारा पूछना है कि किस रामायण में राम द्वारा शबरी के जूठे बेर खाने की बात लिखी हुई है? वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, आनंद रामायण, मंजुल रामायण, तुलसी रामायण, तत्त्वसंग्रह रामायण, रामचंद्रिका आदि किसी भी रामायण में शबरी के जूठे बेर खाने का उल्लेख नहीं है.

अध्यात्म रामायण में शबरी के निम्न जातीय होने की बात तो मिलती है, लेकिन राम द्वारा उस के जूठे बेर खाने की बात वहां भी नहीं मिलती.

तुलसी कृत 'रामचरितमानस' में केवल इतना आता है:

> शबरी के आश्रम पगु धारा.
> शबरी देखि राम गृह आए, मुनि के वचन समुझि जिय भाए.
> सरसिज लोचन बाहु विशाला, जटा मुकुट शिर उर बनमाना.
> श्याम गौर सुंदर दोउ भाई, शबरी परी चरण लपटाई.
> प्रेम मगन मुख वचन न आवा, पुनिपुनि पद सरोज शिर नावा.
> सादर जल लै चरण पखारे, पुनि सुंदर आसन बैठारे.
> कंद मूल फल सरस अति, दिए राम कह आनि.
> प्रेम सहित प्रभु खाएऊ बारहिं बार बखानि..
>
> –अरण्यकांड

अर्थात रामचंद्र मेरे घर आए हैं, यह देख कर शबरी को मतंग मुनि के राम दर्शन संबंधी वचन स्मरण हो आए. कमल समान नेत्र, विशाल भुजाएं, सिर पर जटाओं के मुकुट और गले में वनमाला धारण किए उन सांवले और गोरे दोनों भाइयों को देख

कर शबरी उन के चरणों में लिपट गई. वह प्रेम में ऐसी मग्न हुई कि उस के मुख से कोई वचन नहीं निकला. उस ने बारबार चरण कमलों में ही सिर नवाया. फिर जल ले कर आदरपूर्वक दोनों के चरण धोए और उन्हें सुंदर आसनों पर बैठाया. शबरी ने बहुत रसीले कंद, मूल और फल ला कर रामचंद्र जी को दिए. उन्होंने उन्हें स्वाद बखान कर प्रेम के साथ खाया.

यहां जूठे बेर देने या खाने का संकेत तक भी नहीं. कंद, मूल और फल आदि किसी भी जाति के लोगों से लेने पर किसी भी हिंदू धर्मशास्त्र में कोई पाबंदी नहीं है. अतः राम ने शबरी के कंद, मूल और फल खा कर किसी भी तरह न धर्मशास्त्र विरोधी कार्य किया और न क्रांतिकारी.

ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी जो लोग यह कहते हैं कि हिंदू धर्म में हरिजनों के प्रति समानता, प्रेम और मानवता का व्यवहार है, वे या तो धर्म ग्रंथों को बिना पढ़े ऐसा कहते हैं या हरिजनों को सदा के लिए शूद्र—चौथे दर्जे के नागरिक—बनाए रखना चाहते हैं या उन में इतना नैतिक साहस नहीं कि अपने धर्म ग्रंथों के मानवता के प्रतिकूल आदेशों को खुले तौर पर नकार सकें.

धर्म ग्रंथों के ऐसे 'प्रेममय' आदेशों के कारण शताब्दियों से शूद्र धर्म परिवर्तन करते आ रहे हैं. 1956 में डा. भीमराव अंबेडकर ने असंख्य अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म अपनाया और कहा, "मैं हिंदू धर्म रूपी नरक से छूट गया हूं."

पिछले दिनों में 558 शूद्र मुसलमान हुए हैं. दक्षिण भारत इसलामी सभा ने, जिस के तत्त्वावधान में इन लोगों ने धर्म परिवर्तन किया है, दावा किया है कि वह 1969 से अब तक 8,000 शूद्रों को मुसलमान बना चुकी है (देखें, सैकुलर डेमोक्रेसी, जुलाई, 1981). इन मुसलमान बने शूद्रों (अछूतों) से जब अनुसूचित जातियों व जन जातियों के क्षेत्रीय डायरेक्टर श्री के. आरमुगम ने बातचीत की तो उन्होंने कहा, "हम ने स्वाभिमान से जीवन व्यतीत करने के लिए हिंदू धर्म का त्याग किया है."

30 जुलाई 1981 के समाचारपत्रों में छपा था कि तमिलनाडु के चेंगलपट्ट जिले में कल्पक्कम स्थित परमाणु ऊर्जा निदेशालय के 700 हरिजन कर्मचारी हिंदू धर्म छोड़ कर इसलाम ग्रहण करेंगे, क्योंकि सवर्ण हिंदुओं द्वारा किए जा रहे अत्याचारों को रोकने के लिए तमिलनाडु सरकार अथवा (तत्कालीन) प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी से कई बार अपीलें की गईं, लेकिन कोई सुनवाई नहीं हुई.

यदि हिंदू धर्म में शूद्रों के लिए प्रेम और समानता का भाव होता तो उन में इस तरह धर्म परिवर्तन की बात न उठती.

अब भी समय है कि देश और समाज के भले के लिए हम धर्म ग्रंथों के नफरत फैलाने वाले आदेशों को ईमानदारी से नकार दें, उन्हें अमान्य घोषित करें और अपने व्यवहार में अपेक्षित परिवर्तन लाएं. इतिहास-सिद्ध गंदगी पर सिर्फ ऊपरी लीपापोती करने या लफ्फाजी से काम नहीं चलेगा.

भारत में दास प्रथा

भारतीय संस्कृति का महत्त्व बताते हुए प्राय: यह कहा जाता है कि यह संस्कृति समता पर आधारित रही है. यहां रोम या अमरीका की तरह इनसान को इनसान का दास नहीं बनाया जाता था. यहां गायभैंसों की तरह इनसानों की मंडियां लगा कर उन्हें बेचा नहीं जाता था. यह बात स्वामी विवेकानंद ने भी ठोकबजा कर कही थी.

यह भारतीय संस्कृति की प्रशंसा तो है, पर झूठी. ऋग्वेद से ले कर आज तक भारत में दासप्रथा अक्षुण्ण रूप में चली आ रही है, यद्यपि दासप्रथा को अपराध करार देने वाला कानून 1843 में पास कर दिया गया था.

ऋग्वेद से पता चलता है कि आर्यों ने यहां के मूल निवासियों को पराजित कर के अपना दास बना लिया था और वे उन्हें दास, दस्यु व शूद्र कह कर पुकारते थे. इन दासों व दासियों को बहुत बड़ी संख्या में उपहारस्वरूप दिया जाता था:

"शतं मे गर्दभानां शतमूर्णावतीनाम्.
शतं दासां अति स्रज:..

—ऋ. 8/56/3

अर्थात "तुम मुझे एक सौ गधे, एक सौ ऊन वाली भेड़ें और एक सौ दास भेंट में दो."

ऐतरेय ब्राह्मण (39/8) में आता है कि राजा ने राज्याभिषेक कराने वाले पुरोहित को दस हजार दासियां एवं दस हजार हाथी दिए.

ऐतरेय ब्राह्मण (सप्तम कंडिका, अ. 3) में ही आता है कि राजा हरिश्चंद्र की कोई संतान नहीं थी. अत: उस ने वरुण देवता की मनौती की. वरुण ने प्रसन्न हो कर कहा, "तुम्हारे संतान तो होगी, लेकिन तुम्हें उस के लिए बलि देनी होगी." राजमहिषी के रोहित नाम का बेटा जन्मा. राजा ने वरुण को दिए गए वचन की पूर्ति के लिए अजीगर्त ऋषि के पुत्र शुन:शेप को बलि चढ़ाने के लिए खरीदा, जैसे आज भी भक्त लोग बकरे व मुरगे बलि चढ़ाने के लिए खरीदते हैं.

यह कथा भारतीय संस्कृति में इतना ज्यादा महत्त्व रखती है कि इस का उल्लेख अनेक धर्म ग्रंथों में मिलता है, जैसे:

ब्रह्मांड पुराण (3/63), देवीभागवत (7/5/17), भागवत पुराण (9/7), ब्रह्म पुराण (अ. 104) और शांखायन (15/17).

ब्रह्मविद्या के भंडार और भारतीय दर्शनशास्त्र के प्राण कहे जाने वाले उपनिषदों में भी दासों व दासियों के दान के जिक्र मिलते हैं. छांदोग्य उपनिषद में एक ब्रह्मवेत्ता ऋषि एक राजा की पुत्री को दासी रूप में ग्रहण करने के पश्चात ही उस राजा को 'ब्रह्मज्ञान' देता है.

गृह्यसूत्रों में माननीय अतिथियों के चरण धोने के लिए दासों को नियुक्त करने की चर्चा हुई है. सम्राट अशोक ने अपने नौवें शिलाभिलेख के प्रज्ञापन में दासों एवं नौकरों की स्पष्ट चर्चा की है.

महाभारत में दासों एवं दासियों के दान की बहुत चर्चा हुई है. सभापर्व (52/45), वनपर्व (233/23) एवं विराट्पर्व (18/21) में युधिष्ठिर द्वारा 88,000 स्नातकों को, प्रति स्नातक 30 दासियों के हिसाब से, दासियां दी गईं. अर्थात कुल 26 लाख, 40 हजार दासियां दान में दी गईं:

अष्टाशीति सहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः.
त्रिंशद् दासीकः एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः..
—महाभारत, सभा, 52/45; वनपर्व 233/43 एवं विराट् पर्व 18/21

यह तो एक व्यक्ति का दिया दान है. शेष भारत में तब कितने करोड़ दासियां थीं, यह पता नहीं चलता. हां, अनुमान लगाया जा सकता है.

महाभारत (आदिपर्व, अ. 220) से पता चलता है कि विवाह के समय दामादों को अपनी कन्या के साथसाथ अन्य कलाएं और दासदासियां भी भेंट में दी जाती थीं. कृष्ण ने अपनी बहन सुभद्रा के दहेज में अर्जुन को अन्य चीजों के साथसाथ "सुंदर वेशों वाली, कांतिमयी, सुवर्ण के आभूषणों को धारण करने वाली, छोटेछोटे रोमों से युक्त, गोरे वर्ण वाली तथा सेवा में चतुर एक हजार अलंकृत स्त्रियां दी थीं."

स्त्रीणां सहस्रं गौरीणां सुवेषाणां सुवर्चसाम्
सुवर्णशतकण्ठीनामरोमाणां स्वलंकृताम्.
परिचर्यासु दक्षाणां प्रददौ पुष्करेक्षणः
—महाभारत, आदि पर्व, 220/49-50

जैसे अर्जुन को विवाह में पत्नी के अतिरिक्त एक हजार स्त्रियां दासियों व उपपत्नियों के रूप में दी गईं, ऐसे ही राम को सीता के अतिरिक्त जनक ने सौ कन्याएं और दासदासियां उपहार स्वरूप दी थीं:

ददौ कन्याशतं तासां दासीदासमनुत्तमम्.
—वा. रा. बाल. 74/5

राम को 'मर्यादा पुरुषोत्तम' सिद्ध करने वाले तुलसीदास ने भी राम द्वारा दहेज में दासदासियों को स्वीकार करने का उल्लेख किया है:

कहि न जाय कछु दायज भूरी. रहा कनक मणि मंडप पूरी..
गज रथ तुरग दास अरु दासी. धेनु अलंकृत काम दुहासी..
—बालकांड

अर्थात दहेज इतना अधिक था कि उस का वर्णन नहीं किया जा सकता. सुवर्ण और मणियों से मंडप भर गया. वहां हाथी, रथ, घोड़े, दास और दासियां, तथा अलंकारों से सजी हुई कामधेनु के समान बहुत सी गौएं थीं.

उपहार के रूप में स्त्रियां

यद्यपि पुरुषों को भी उपहार के रूप में दिया या बेचा जाता था तथापि यह बात निर्विवाद है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां ज्यादा इस काम में लाई जाती थीं. आज पुरुषों को तो दासों के रूप में कहींकहीं ही रखा जाता है, लेकिन कन्या का दान सारे भारत में आज भी निर्विकार भाव से किया जाता है. इस पर तुर्रा यह कि अत्याधुनिक फैशन कर के घमंड से भरी हुईं व अंगरेजी बोलने वाली लड़कियां भी अपने को दान में दिए जाने के विरुद्ध कभी आवाज नहीं उठातीं. पता नहीं, इस का उन के 'नारी स्वतंत्रता' कार्यक्रम में समावेश क्यों नहीं किया गया.

प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार, किसी परिवार में उत्पन्न होने वाली कन्या उस आभूषण के सदृश है जो किसी महाजन के यहां गिरवी रखा हुआ है और मांगे जाने पर उस के वास्तविक स्वामी को सौंप दिया जाता है. महाभारत में आता है कि ऋषि गालव ने अपने गुरु विश्वामित्र को 800 घोड़े गुरुदक्षिणा में देने थे, अतः वह राजा ययाति के पास गया. राजा ने उसे 800 घोड़े तो न दिए, पर अपनी कन्या दे दी और कहाः

> इयं सुरसुतप्रख्या सर्वधर्मोपचायिनी.
> सदा देवमनुष्याणामसुराणां च गालव.
> कांक्षिता रूपतो बाला सुता मे प्रतिगृह्यताम्
> अस्याः शुल्कं प्रदास्यन्ति नृपा राज्यमपि ध्रुवम्
>
> –महा. उद्योगपर्व, 115/2–3

अर्थात "देव, मेरी यह एक कन्या है. यह अपूर्व सुंदरी और सभी गुणों से संपन्न है. त्रिलोक में कोई ऐसा नहीं जो इसे वरण करने की इच्छा न रखता हो. इस में सुरों, असुरों, आर्यों और अनार्यों सब को मोह लेने की अभूतपूर्व शक्ति है. मैं अपनी यह पुत्री आप को अर्पित करता हूं. आप इसे किसी भी राजा के पास बेच कर सहज ही गुरुदक्षिणा जुटा सकते हैं."

राजा से उस 'हुंडी' को ले कर वह ऋषि अयोध्यानरेश हर्यश्व के पास पहुंचा और उस से शुल्क के रूप में दो सौ घोड़े ले कर उस ययातिकन्या माधवी को उस के यहां छोड़ आया. राजा से उस ने कहा, "आप इस में एक पुत्र उत्पन्न कर लें." (उद्योग. 116/15). उस के एक पुत्र पैदा हुआ. कालांतर में राजा से ऋषि ने माधवी को ले लिया और एक नया ग्राहक ढूंढ़ा. अब वह भडुवा राजा दिवोदास के पास गया और वहां भी दो सौ घोड़ों के बदले उस ने माधवी को एक पुत्र उत्पन्न करने के लिए दिवोदास को दे दिया. (उद्योग. 117/7). फिर वहां से उसे ले कर वह राजा उशीनर

के यहां पहुंचा. वहां उस ने चार सौ घोड़ों के बदले दो पुत्र उत्पन्न करने के लिए माधवी को राजा के सुपुर्द कर दिया. (उद्योग. 118/3-8)

कई प्रकार के दास

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से दासदासियों के विषय में विस्तार से पता चलता है. उस ने दासों के कई भेद किए हैं. यथा, (1) ध्वजहृत (युद्ध में बंदी बनाया हुआ). (2) आत्मविक्रयी (मुसीबत के समय अपने को बेच देने के कारण बना दास), (3) उदरदास (जो दासी के पेट से उत्पन्न हुआ हो), (4) आहितिक (कर्जा वापस न कर सकने के कारण बना दास, जैसा आज के बंधुआ मजदूर हैं) और (5) दंडप्राणित (राजदंड के कारण बना दास).

मनुस्मृति में दासों के निम्नलिखित सात भेद कहे गए हैं–(1) युद्धबंदी, (2) भोजन के लिए बना दास, (3) दासीपुत्र, (4) खरीदा हुआ, (5) मातापिता द्वारा दिया हुआ, (6) वसीयत में प्राप्त, (7) राजदंड के भुगतान के लिए बना हुआः

ध्वजाहृतो मुक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ.
पैत्रिको दंडदासश्च सप्तैते दासयोनयः.

–मनु. 8/415

नारद स्मृति में दासों के पंद्रह प्रकार कहे गए हैं–(1) घर में उत्पन्न, (2) खरीदा हुआ), (3) दान या किसी अन्य प्रकार से प्राप्त, (4) वसीयत से प्राप्त, (5) जिसे अकाल में बचाया हो, (6) किसी अन्य स्वामी द्वारा प्रतिश्रुत, (7) बड़े ऋण से मुक्त किया हुआ, (8) युद्धबंदी, (9) बाजी में हारा हुआ, (10) 'मैं आप का हूं.' कह कर दासत्व ग्रहण करने वाला, (11) संन्यास से च्युत, (12) जो अपने आप कुछ दिनों के लिए दास बना हो, (13) भोजन के लिए दास बना हुआ, (14) दासी के प्रेम से आकृष्ट दास, (15) अपने को बेच देने वालाः

गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः.
अनाकालभृतस्तद्वदाहितः स्वामिना च यः
मोक्षितो महतश्चर्णात् युद्धप्राप्तो पणेजितः.
तवाहमित्युपगतः प्रवज्यावसितः कृतः
भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव बड्वाहृतः.
विक्रेता चात्मनः शास्त्रे दासाः पंचदश स्मृताः

–नारदस्मृति, 26–28

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि दास बेचे जाते थे, गिरवी रखे जाते थे और उन की हत्या की जा सकती थी. उन के प्रति अमानवीय व्यवहार किया जाता था और वे किसी अदालत में जा कर न्याय की याचना नहीं कर सकते थे. कौटिल्य ने लिखा है कि हर स्वतंत्र परिवार उदरदास (दासी के पेट से उत्पन्न संतान) अवश्य रखता है.

यातनामय दास जीवन

दासों का जीवन बहुत यातनामय होता था. वे प्रायः बीमार रहते थे. स्वामी के यहां से भाग जाने के सिवा अक्सर उन के पास कोई और चारा न होता था. पर भागना उन्हें बहुत महंगा पड़ता था. राज्य कर्मचारी भगोड़े दास का पीछा करते थे और उसे पकड़ कर वापस स्वामी के हाथों सौंप देते थे. जो व्यक्ति स्वयं अपने आप को किसी के यहां गिरवी रखता था, यदि वह घबरा कर भाग जाता था तो उसे जीवन भर के लिए दास बना दिया जाता था. जिसे किसी दूसरे ने किसी के पास गिरवी रखा हो, उसे दो बार भाग जाने के बाद जीवन भर के लिए दास बना दिया जाता था.

मालिक दासियों के सतीत्व का स्वयं अपहरण करते थे और उन्हें दूसरों को भी पेश किया करते थे.

उन दिनों कई बार लोग आर्थिक संकट की स्थिति में अपने को या अपने परिवार को बेच दिया करते थे. प्रसिद्ध राजा हरिश्चंद्र के साथ ऐसा ही हुआ था. उसे अपनी पत्नी, बच्चे और अंत में अपने आप को बेचना पड़ा. (देखें मार्कंडेय पुराण, अध्याय आठ). ऐसे लोगों की संतान भी आगे उस क्रेता की दास समझी जाती थी. बहुत से व्यक्ति राजदंड अर्थात जुर्माना अदा न कर पाने पर भी दास बन जाते थे. उन के लिए नियम बनाया गया था कि इतना जुर्माना हो तो इतना समय अमुक के यहां दास बन कर काम करो.

दासों को एक व्यक्ति के पास से दूसरा व्यक्ति खरीदता था या मंडी में उन की नीलामी की जाती थी. ईसा की दूसरीतीसरी शताब्दी में रचे गए संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिकम्' में ऐसी ही मंडी का दृश्य वर्णित किया गया है. एक व्यक्ति दूसरे के उधार लिए हुए पैसे नहीं लौटा पाता. वह उसे पीट कर मंडी में ले जाता है और उसे नीलाम कर के अपने पैसे वसूल करता है.

दास के मुक्त होने का भागने के अतिरिक्त एक और ढंग यह था कि किसी दास को जितने में खरीदा गया हो, वह उतनी रकम मालिक को दे. पर दास के पास जो धन होता था, मालिक उसे अपना समझता था और हथिया लेता था. ऐसे में उस के पास मुक्ति की क्या कोई राह रह जाती थी!

दास के पास अभीष्ट धन प्राप्त करने के दो ही तरीके थे–(1) चोरी करना, (2) स्वतंत्र व्यक्तियों को बहका कर किसी के यहां बेच देना. पर ऐसे अपराध करने पर उन्हें कठोर दंड मिलता था. दूसरे, यदि कहीं दास जैसेतैसे धन का प्रबंध कर भी लेते थे तो मालिक उसे निष्क्रय मूल्य के तौर पर स्वीकार करने में आनाकानी करते थे और ऐसी मांगें प्रस्तुत कर देते थे जिन्हें पूरा करना उन के लिए असंभव हो. फलतः वे बाध्य हो कर दास ही बने रहते थे.

दासदासियों का क्रयविक्रय

आर्यभट्ट ने अपनी गणित की पुस्तक में हिसाब के सवाल लिखते हुए

998/6

दासदासियों के क्रयविक्रय का ऐसे उल्लेख किया है मानो वे सिर्फ विक्रेय पदार्थ ही हों. जैसे आज बच्चों की गणित की पुस्तकों में ऐसे सवाल होते हैं कि एक दरजन संतरों का मूल्य 75 पैसे है तो डेढ़ दरजन का मूल्य क्या होगा? ऐसे ही आर्यभट्ट ने लिखा है–"सोलह वर्ष की एक दासी 32 निष्क (एक पुराना सिक्का) में मिलती है तो 20 वर्ष की दासी का क्या दाम होगा?"

दासों से कैसे काम करवाए जाते थे, इस विषय में स्मृतियों से काफी सूचनाएं मिलती हैं. नारद स्मृति में आता है कि दासों से निम्नलिखित गंदे काम करवाए जाते थे–(1) घर बुहारना, (2) गंदे गड्ढों, मार्गों और गोबर स्थलों को स्वच्छ करना, (3) गुप्तांगों को खुजलाना या स्पर्श करना, (4) जूठा भोजन और मलमूत्र उठा कर फेंकना:

...अशुभं दासकर्मोक्तम्
गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनम्.
गुह्यांगस्पर्शनोच्छिष्टविण्मूत्रग्रहणोज्झनम्
इच्छत: स्वामिनश्चांगे ह्युपस्थानमथान्तत:.
अशुभं कर्म विज्ञेयम्

–नारद स्मृति. 4-6

हिंदुओं के देवीदेवता, पशुपक्षी, यहां तक कि उन की बुराइयां भी जातिपांति के आधार पर विभक्त हैं और उन में ब्राह्मणवाद की बदबू है. दासप्रथा भी इस का अपवाद नहीं है. याज्ञवल्क्य स्मृति: (2.183) और नारदस्मृति (39) में विधान किया गया है कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–ये तीनों वर्ण ब्राह्मण के और वैश्य व शूद्र क्षत्रिय के दास हो सकते हैं. परंतु क्षत्रिय किसी वैश्य या शूद्र का और वैश्य किसी शूद्र का दास नहीं हो सकता. कात्यायन के अनुसार ब्राह्मण किसी ब्राह्मण का भी दास नहीं हो सकता. किंतु यदि उसे होना ही पड़े तो वह पवित्र कार्य करेगा, पूर्वोक्त गंदे काम नहीं.

देवदासी प्रथा

दासता का एक और रूप सदियों से चला आया है. वह है–देवदासियां. मंदिरों, विशेषत: दक्षिण भारत के मंदिरों में देवदासियां रहती हैं. ये वे लड़कियां हैं जिन्हें उन के मातापिता बचपन में ही मंदिरों में चढ़ा देते हैं. वहीं ये जवान होती हैं. इन का देवता के साथ (उस की निर्जीव मूर्ति के साथ) विवाह कर दिया जाता है. इन में से कुछ सुंदर स्त्रियां पंडेपुजारियों के भोगविलास की सामग्री बनती हैं. शेष देवदर्शन को आए हुए यात्रियों आदि व अन्य लोगों की कामवासना को शांत कर के जीवननिर्वाह करती हैं.

तमिलनाडु के चिंगलपट जिले में कोरियों (कपड़ा बुनने वालों) में यह रिवाज रहा है कि वे अपनी सब से बड़ी, कहींकहीं पांचवीं, लड़की को किसी मंदिर में चढ़ा देते थे. इस प्रकार दान की हुई कन्या महाराष्ट्र में मुरल और तैलंग में 'वसब' कहलाती

है. तमिलनाडु व महाराष्ट्र में उन के भिन्नभिन्न नाम हैं, जैसे–योगिनी, भावनी, कलावंती, देवली, जोगती, मतंगीशरण आदि.

दक्षिण व पश्चिम के कतिपय भागों में तो विधवाओं को भी देवीदेवताओं तथा धार्मिक संस्थाओं को दान के तौर पर दे दिया जाता था. वे दुखी स्त्रियां वहां इन संस्थाओं से संबंधित अथवा असंबंधित नरपिशाचों की वासना एवं कामुकता का शिकार हो कर नारकीय जीवन बिताने को विवश होती थीं.

देवदासियों का एक और रूप भी था. वह था मंदिरों के लिए लड़कियां बेचना. इस तरह की लड़कियों के बड़ेबड़े समूह मंदिरों में रहते थे. देवदासियों की तरह उत्तरी भारत में मंदिरों में कई बार लड़के भी चढ़ा दिए जाते थे.

दासता के इस बहुमुखी रूप को भी हिंदू धर्म ग्रंथों का संरक्षण प्राप्त रहा है. भविष्य पुराण में कहा गया है कि जो भी स्त्रियों का समूह मंदिर को दान में देगा उसे सूर्यलोक की प्राप्ति होगी. इस सूर्यलोक की प्राप्ति के मिथ्या प्रलोभन के कारण भारतीय संस्कृति लड़कियों को मंदिरों में चढ़ाती रही. जब सोमनाथ के मंदिर को गजनी ने लूटा (ई.–1026) तब वहां 500 देवदासियां थीं. इसी तरह तंजौर मंदिर में 400 देवदासियां थीं. चीनी यात्रियों ने जगहजगह हिंदू मंदिरों में देवदासियां देखी थीं.

एक यूरोपीय यात्री श्री पाइस ने विजयनगर की यात्रा के पश्चात देवदासियों के विषय में लिखा था कि देवदासियों की बेटियां भी मंदिर की ही संपत्ति होती हैं.

यद्यपि 14 अगस्त, 1956 से देवदासी प्रथा कानूनन अवैध घोषित कर दी गई है, फिर भी यह प्रथा किसी न किसी रूप में हिंदू मंदिरों में मौजूद है.

भारतीय संस्कृति और भिक्षावृत्ति

भिक्षावृत्ति उन्मूलन कानून बने वर्षों हो चुके हैं, लेकिन भारत में प्रायः सर्वत्र बेरोकटोक भिक्षा मांगी जाती है और पुण्य अर्जन के लोभ में सर्वत्र श्रद्धापूर्वक दी जाती है. ये भिक्षा मांगने वाले तरहतरह के स्वांग रचते हैं, जिस से लोगों की करुणा, भावना को जाग्रत किया जा सके. हिंदू लोग न केवल उन से प्रभावित हो कर भिक्षा प्रदान करते हैं, बल्कि हिंदू धर्म के संस्कारों के वशीभूत हो कर भी ऐसा करते हैं.

पवित्र धर्म

हिंदू धर्म में भिक्षा को बहुत पवित्र कार्य कहा गया है. संपूर्ण जीवन में द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के लिए जो सोलह संस्कार माने जाते हैं उन में से तीन संस्कारों–उपनयन, वानप्रस्थ और संन्यास–में तो भिक्षा मांगने की शिक्षा दी जाती है.

उपनयन संस्कार बचपन में विद्यारंभ करने से पहले करने का विधान है. इस संस्कार के आरंभ से 25 वर्ष की अवस्था तक विद्यार्थी के लिए भिक्षा मांगने का विधान है. 50वें वर्ष में वानप्रस्थ है, 75वें वर्ष में संन्यास ग्रहण करने का विधान है. दोनों में फिर भिक्षावृत्ति अपनाने का आदेश है.

संक्षेप में, जीवन के पहले 25 वर्षों तक और फिर 50 वें से मृत्युपर्यंत भीख मांग कर जीवन निर्वाह करने का हिंदू धर्मशास्त्रों में विधान है. केवल गृहस्थाश्रम के 25 वर्षों में अन्य साधन अपनाने का नियम है. (यह शूद्रों पर लागू नहीं होता, केवल द्विजों के लिए है, शूद्र काम न करें तो जीवन ही न चले.)

विभिन्न धर्मशास्त्रों–स्मृतियों, धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों और संस्कार विधियों–में पूर्वोक्त तीनों संस्कारों के संदर्भ में भिक्षा के विभिन्न पक्षों पर हिंदू धर्माचार्यों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है.

उपनयन संस्कार अर्थात विद्यारंभ संस्कार के समय दंडधारण और अग्नि की प्रदक्षिणा कर के भिक्षा मांगने का विधान है. मनु ने इस प्रसंग में विस्तार सहित बताया है कि किस जाति का आदमी भिक्षा मांगते समय किस प्रकार आवाज लगाए और पहले किसकिस से भिक्षा मांगनी शुरू करेः

प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि.
भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः..
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्.

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्..
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत्.
समाहृत्य तु तद् भैक्षं यावदन्नममायया..
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः..

–मनुस्मति 2/48-51

अर्थात ब्रह्मचारियों को अग्नि की प्रदक्षिणा कर के विधिपूर्वक भिक्षा मांगनी चाहिए. भिक्षा मांगते समय ब्राह्मणजातीय ब्रह्मचारी भवति, भिक्षां देहि (भद्रे, भिक्षा दो) कहे, क्षत्रिय-जातीय ब्रह्मचारी भिक्षां भवति देहि (भिक्षा दो, भद्रे) कहे. और वैश्य-जातीय ब्रह्मचारी भिक्षां देहि भवति (भिक्षा दो, भद्रे) कहे. सर्वप्रथम भिक्षा माता या बहन या सगी मौसी या उस से जो अवश्य भिक्षा दे, मांगनी चाहिए. इस तरह मांग कर इकट्ठी की हुई भिक्षा को बिना किसी उत्कृष्ट वस्तु को छिपाए गुरु के सामने रख दे. गुरु की आज्ञा पाने के बाद उसे खाए.

भिक्षा में प्राप्त वस्तु

यही बात बौधायन धर्मसूत्र (1/2/17), याज्ञवल्क्य स्मृति (1/30), शांखायन गृह्यसूत्र (2/6/5-8), गोभिल गृह्यसूत्र (2/10/42-44), खादिर गृह्यसूत्र (2/4/28/31) जैसे पुराने और संस्कार विधि (पृ. 114-115, स्वामी दयानंद रचित), षोडश संस्कार विधि (पृ. 195, पं. भीमसेन शर्मा कृत) आदि अर्वाचीन ग्रंथों में कही गई है.

याज्ञवल्क्य स्मृति में भिक्षा में प्राप्त वस्तु को पवित्र कहा है (देखें 1/187). मनु ने कहा है–

भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता.

–मनु. 2/188

अर्थात भिक्षा मांग कर खाने का फल उपवास (व्रत) करने के समान है.

मनुस्मृति में ही अन्यत्र भिक्षा मांग कर खाने को सोमरस-पान के समान घोषित किया है:

सोमपानसमं भैक्ष्यं तस्माद् भैक्षेण वर्तयेत्

–मनु. अ. 2 के श्लोक 188 के बाद

अर्थात भिक्षा मांग कर खाना सोमरस पीने के समान पुण्यकार्य है. अतः हमेशा भिक्षा मांगे.

इन विधानों से स्पष्ट है कि धर्मशास्त्रकार पेशेवर भिखारी बनाने वालों की तरह ब्रह्मचारी अर्थात विद्यार्थी को भिक्षा मांगने की शिक्षा देने में बहुत सचेत थे. उन्हें ध्यान था कि यदि पहले दिन ही भिक्षा मांगने पर ब्रह्मचारी को कहीं से 'न' सुनना पड़ा तो वह हतोत्साहित हो कर भीख मांगना छोड़ सकता है. अतः उन्होंने पहले दिन ऐसे लोगों से भीख मांगने का विधान किया है, जो इनकार न करें. महामहोपाध्याय डा. पांडुरंग

वामन काणे ने लिखा है: "ब्रह्मचारी को भिक्षा देने में कोई आनाकानी नहीं कर सकता था, क्योंकि ऐसा करने पर किए गए सत्कार्यों से उत्पन्न गुण, यज्ञादि से उत्पन्न पुण्य, संतान, पशु, आध्यात्मिक यश आदि का नाश हो जाता है." (धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द 1, पृ. 226).

प्रथम दिन के बाद ब्रह्मचारी निम्नलिखित विधान के अनुसार भिक्षा मांगा करे:

वेदज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु.
ब्रह्मचार्याहरेद् भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम्..
गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबंधुषु.
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत्..
सर्वं वापि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे.
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत्..

–मनुस्मृति, 2/183–185

अर्थात वेदाध्ययन और पांच महायज्ञ करने वाले और अपने कर्म में श्रेष्ठ लोगों के घरों से जितेंद्रिय ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षा मांगे. वह गुरु के कुल, अपनी जाति वालों में और मामा, मौसी आदि कुल बांधवों से भिक्षा न मांगे. यदि भिक्षा मांगने योग्य दूसरा घर न मिले तब कुल बांधवों से मांगे. उन के अभाव में अपनी जाति वालों से और उन के अभाव में गुरु के कुल में भिक्षा मांगे, किंतु महापातकियों के घरों को छोड़ दे. उन के यहां से भिक्षा न मांगे.

भिक्षा मांगना अनिवार्य

भिक्षा मांगना ब्रह्मचारियों (विद्यार्थियों) के लिए इतना अनिवार्य कहा गया है कि इसे छोड़ने पर दंड का विधान है:

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्,
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत्

–मनु. 2/187

अर्थात यदि नीरोग रहते हुए भी ब्रह्मचारी सात दिन लगातार भिक्षा न मांगे और हवन न करे तो इस पाप से मुक्त होने के लिए अवकीर्णिव्रत करे.

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे.
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि..

–मनुस्मृति. 11/118

अर्थात रात में काने गधे की चरबी से चौरस्ते पर पाकयज्ञ की विधि से 'निर्ऋति' नामक देवता के नाम पर यज्ञ करे (मनु. 11/118, मणिप्रभा व्याख्या). यही बात बौधायन धर्मसूत्र (1/2/54) और विष्णु धर्मसूत्र (28/52) में कही गई है.

जिस तरह हिंदुओं के धार्मिक जीवन में उपनयन संस्कार का महत्त्व है, उसी तरह

गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थ संस्कार का महत्त्व है. जाबालोपनिषद् खंड चार का एक वचन शतपथब्राह्मण के नाम पर उद्धृत कर के स्वामी दयानंद ने अपनी पुस्तक 'संस्कार विधि' के 'वानप्रस्थ संस्कार' प्रकरण में लिखा है–

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्.
–1. शतपथब्राह्मणे

अर्थात मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति कर के गृहस्थ होवें. गृहस्थ हो के वनी अर्थात वानप्रस्थ होवें, और वानप्रस्थ हो कर संन्यास ग्रहण करें. (पृ. 268, आर्यसमाज शताब्दी संस्करण).

मनु ने लिखा है कि जब गृहस्थाश्रमी अपने शरीर के चमड़े को सिकुड़ा हुआ, बालों को पका हुआ और पौत्र के मुख को देख ले, तब वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे.

वानप्रस्थियों की भिक्षा

वानप्रस्थी के लिए भी भिक्षा मांग कर खाने का विधान है. मनुस्मृति में भिक्षा संबंधी विविध आदेश देते हुए कहा गया है:

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्.
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु..
ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्.
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा..

–मनु. 6/27-28

अर्थात जीवननिर्वाह के लिए वानप्रस्थी अन्य वानप्रस्थियों से भिक्षा मांगे. (एक भिखारी दूसरे से मांगे), उन का अभाव होने पर वन में रहने वाले दूसरे गृहस्थों से भिक्षा मांग कर खाए. वनवासी गृहस्थों के अभाव में ग्राम से पत्रों या सकोरों या हाथ में भिक्षा ला कर खाए.

वानप्रस्थ के बाद संन्यास संस्कार का क्रम आता है. यह अंतिम संस्कार से पहला संस्कार है. संन्यासियों का हिंदू धर्म में बहुत आदरणीय स्थान है. इसी से इस संस्कार की महत्ता स्पष्ट है. मनु का कथन है:

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः.
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्..

–मनु. 6/33

अर्थात अपनी उमर के तीसरे भाग को इस प्रकार वानप्रस्थ आश्रम में बिता कर चौथे भाग में सब विषयों को त्याग कर संन्यास ग्रहण करे.

शंख-रचित स्मृति में कहा गया है:

'वनवासादूर्ध्वं शान्तस्य परिगतवयसः परिव्राज्यम्.'

अर्थात वानप्रस्थ के बाद बुढ़ापे में शांतचित्त हो कर संन्यास ग्रहण करना चाहिए.

संन्यासियों की भिक्षा

संन्यासी (बूढ़ों) के लिए भी भिक्षा मांग कर खाने का विधान है–चरेद् भैक्षम् (मनु. 6/55). मनु ने संन्यासी को भिक्षा मांगने का नुस्खा बताते हुए लिखा है:

विधूमे सन्नमुशले व्यंगारे भुक्तवज्जने.
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्

–मनु. 6/56

अर्थात घरों में जब खाना पकाने के कारण पैदा हुआ धुआं समाप्त हो जाए, जब धान आदि कूटते समय होने वाला मूसल का शब्द बंद हो जाए, जब आग बुझ जाए, जब सब लोग भोजन कर चुके हों, जब खाने के पात्र–दोने, पत्तल आदि बाहर फेंक दिए गए हों, तब प्रतिदिन संन्यासी भिक्षा मांगने के लिए जाए.

एक अन्य धर्मशास्त्रीय कथन है कि संन्यासी के हाथ पर पहले जल दे, फिर भिक्षा दे बाद में पुनः जल दे. इस प्रकार दी गई थोड़ी सी भिक्षा भी पर्वत के समान विशाल बन जाती है और इस तरह दिया गया जल सागर दान करने के समान फल देता है:

यतिहस्ते जलं दद्यात् भिक्षादद्यात्पुनर्जलम्.
भैक्ष्मं पर्वतमात्रं स्यात्तज्जलं सागरोपमम्..

–पराशर स्मृति 1/53

नारद का कथन है कि भिक्षा मांगना आदि छः काम संन्यासी को उसी तरह अवश्य करने चाहिए जैसे साधारण व्यक्ति राजाज्ञा का पालन करता है:

भिक्षाटनं कर्तव्यानि षडेतानि सर्वथा नृपदण्डवत्

–धर्मसिंधु, पृ. 1003 पर उद्धृत

पराशर ने ऐसे गृहस्थों को धार्मिक अपराधी कहा है जो संन्यासी और ब्रह्मचारी को भिक्षा नहीं देते:

यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ,
तयोरन्नमदत्वा च भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्

–पराशर 1/51

अर्थात संन्यासी और ब्रह्मचारी–ये दोनों पकाए हुए अन्न की भिक्षा के अधिकारी हैं. इन दोनों को अन्न न दे कर स्वयं भोजन करने वाले का पाप चांद्रायण व्रत से दूर होता है. (शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन एक ग्रास भोजन उत्तरोत्तर कम कर के 15वें दिन निराहार रहना. कृष्णपक्ष के पहले दिन से एक ग्रास भोजन खाना शुरू कर के उत्तरोत्तर एक ग्रास बढ़ाते हुए 30वें दिन पूर्ण भोजन करना,

यह महीने का चक्कर है) लगभग यही बात सूतसंहिता (ज्ञानयोग खंड, 4/15-16) में कही गई है.

अन्य धर्मों में भिक्षा

ऐसा नहीं है कि केवल ब्राह्मणवादी हिंदू धर्म में ही भिक्षा मांग कर खाने को जीविका के साधन के रूप में अपनाया गया हो. मध्याह्न भिक्षा का विधान जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण–तीनों संप्रदायों के भिक्षुओं के लिए समान रूप से किया गया है. बौद्ध एवं जैन भिक्षुओं के आचार में उल्लेखनीय साम्य है. दोनों के ही नियमित भिक्षाटन करने संबंधी विचारों में समानता है. (जैन) श्रवण को भिक्षापात्र भी उपासक (गृहस्थ) से ही मांगना पड़ता है, (देखें, बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ. 150,54,58).

बौद्धों के भिक्षा संबंधी पक्ष पर प्रकाश डालते हुए डा. भीमराव अंबेडकर ने अपनी पुस्तक 'बुद्ध और उन का धम्म' में लिखा है, "भिक्षु के पास इन आठ चीजों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होना चाहिए.... (5) भिक्षापात्र...उसे मुख्य रूप से भिक्षा मांग कर खाना चाहिए. उसे 'भिक्षाजीवी' होना चाहिए...केवल भिक्षा ही वह डोरी थी जिस से भिक्षु और गृहस्थ परस्पर बंधे थे. भिक्षु भिक्षा पर आश्रित थे और गृहस्थ उन्हें भिक्षा देते थे." (पृ. 336, 338).

बौद्ध धर्म में दीक्षित होने वाला व्यक्ति 'भिक्षु' कहलाता था. आज भी गृहस्थ जीवन न जीने वाले बौद्ध, 'भिक्षु' ही कहलाते हैं. यह बड़ी अजीब बात है कि उन का नामकरण बौद्ध धर्म के किसी उच्च सिद्धांत या धर्म संबंधी किसी अन्य शिक्षा के आधार पर न कर के केवल उन की भोजन प्राप्त करने की विधि के आधार–भिक्षा–पर किया गया है, मानो वही बौद्धधर्म का सारतत्त्व हो: जो भिक्षा मांग कर खाए वह भिक्षु. यह किसी श्रेष्ठ धार्मिक शिक्षा के स्थान पर परोपजीविता को ही महिमा मंडित करने जैसा है. जैसे बुद्ध का अर्थ ज्ञानी है, वैसे ही बुद्धि या बौद्ध धर्म के किसी विशिष्ट गुण के आधार पर उस के पूर्णकालिक कार्यकर्ताओं का नामकरण करना कहीं ज्यादा श्रेयस्कर रहता. भिक्षु शब्द से तो ऐसे लगता है मानो भीख मांगना ही मुख्य और सब कुछ है; शेष कुछ भी नहीं.

जीवन निर्वाह के लिए भिक्षा

अपना जीवननिर्वाह करने के लिए ही भिक्षा मांगना धार्मिक तौर पर वैध नहीं बल्कि अन्य कई उद्देश्यों के लिए मांगना भी वैध है. विभिन्न धर्मशास्त्रों ने इस विषय में विधान किए हैं, उदाहरणार्थ निम्नलिखित कुछ स्थल देखे जा सकते हैं.

आपस्तंब गृह्यसूत्र का मत है कि निम्नलिखित कार्यों के लिए भिक्षा मांगी जा सकती है–आचार्य के लिए, अपने विवाह के लिए, यज्ञ करने के लिए, मातापिता के रक्षण के लिए, योग्य पुरुष के कर्त्तव्यों के विलोप को दूर करने के लिए. इन उद्देश्यों के लिए लोगों को यथाशक्ति भिक्षा देनी चाहिए:

भिक्षणे निमित्तमाचार्यो विवाहो यज्ञो–
मातापित्रोर्बुभूर्षाऽर्हतश्च नियमविलोपः,
तत्र गुणान् समीक्ष्य यथाशक्ति देयम्.

–आपस्तम्ब 2/5/10/1–2

यहां विवाह करवाने के लिए भी भिक्षा मांगने की अनुमति दी गई है. धर्मशास्त्रकार ने यह नहीं सोचा कि जो विवाह के लिए भिक्षा मांगता है, वह पत्नी और बच्चों का पेट कहां से पालेगा.

मनु का निर्देश

मनु का कथन है कि गुरु, नौकर तथा स्त्री की भूख मिटाने और देवताओं की पूजा के लिए भीख मांगेः

गुरुन् भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन् देवतातिथीन्
सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्.

–मनु. 4/251

आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन् गृह्णीयात् साधुतः सदा.

–मनु. 4/252, याज्ञ. 1/216

अर्थात अपनी आजीविका की इच्छा करता हुआ सर्वदा सज्जनों से भिक्षा मांगे.

मनु ने निम्नलिखित नौ प्रकार के लोगों द्वारा भिक्षा मांगने को भी धर्मसम्मत कहा हैः संतानार्थ विवाह का इच्छुक, यज्ञ करने का इच्छुक, पथिक, विश्वजित, जो यज्ञों में सारी संपत्ति दान कर चुका हो, गुरु एवं मातापिता को भोजन देने का इच्छुक, पढ़ने के लिए भोजनवस्त्र का इच्छुक, रोगी.

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम्
गुर्वर्थं, पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनः.
नवैतान् स्नातकान् विद्याद् ब्राह्मणान् धर्मभिक्षुकान्

–मनु. 11/1–2

यहां मनु ने संतानार्थ विवाह के चाहवान के अतिरिक्त पथिकों को भी भिक्षा मांगने का अनुमतिपत्र दे दिया है.

'सर्ववेदांतगश्च'

– महाभारत, शांतिपर्व, 165/1–2

महाभारत में यह कह कर सब उपनिषदों या वेदांतों के ज्ञाता को भी भीख मांगने की छूट दी गई है.

उपर्युक्त विधान अन्यान्य धर्म ग्रंथों में भी मिलते हैं, जैसे, याज्ञ. 1/216, गौतमधर्मसूत्र 5/19-20, अंगिरा स्मृति, गृहस्थरत्नाकर आदि.

खाद्यान्न ही नहीं, धातु आदि भी

भिक्षा में केवल खाद्यान्न मांगने का ही विधान नहीं, बल्कि सोना, चांदी और रत्न भी मांगे व दिए जा सकते हैं:

सुवर्णं रजतं रत्नं वा पात्रेऽस्य निवेदयेत्

–वसिष्ठ

गौतमधर्मसूत्र में कहा गया है कि गृहस्थ प्रतिदिन 'स्वस्ति' (कल्याण) शब्द का उच्चारण कर के और भिखारी के हाथ पर पहले पानी डाल कर भिक्षा दिया करे:

स्वस्तिं वाच्य भिक्षादानमप्पूर्वम्

–गौतम धर्म सूत्र 1/5/16

और इस पर हरदत्तकृत मिताक्षरावृत्ति कहती है:

'बलिहरणानंन्तरं भिक्षादानं कर्त्तव्यम्. स्वस्त्यस्त्विति
स्वस्तिवचनमुक्त्वा भिक्षोर्हस्ते पूर्वमापो दत्वा चेति.

मनु और याज्ञवल्क्य ने गृहस्थों को निर्देश दिया है कि वे भिक्षा आदर के साथ दिया करें:

भिक्षां च भिक्षवे दद्यात् विधिवद् ब्रह्मचारिणे

–मनु. 3/94

अर्थात ब्रह्मचारी, संन्यासी और भिक्षुक को ढंग से भिक्षा दें.

सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षा दातव्या सुव्रताय च.

–याज्ञ. 1/108

अर्थात भिखारी और ब्रह्मचारी को सत्कारपूर्वक भिक्षा देनी चाहिए.

मनु ने गृहस्थों को पुण्य का लालच देते हुए कहा है कि जो गृहस्थ विधिपूर्वक भिक्षा देता है, उसे वही पुण्य प्राप्त होता है जो गुरु को गाय दान देने पर मिलता है:

यत्पुण्यफलमाप्रोति गां दत्वा विधिवद् गुरोः,
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्वा द्विजो गृही.

–मनु. 3/95

माधवाचार्य (15वीं शताब्दी के लगभग) ने लिखा है:

यदन्नदानेन निजं शरीरं पुष्णंस्तपोऽयं कुरुते सुतीव्रम्,
कर्तुस्तदर्धं ददतोन्नमर्धमिति स्मृतिः संववृतेऽनवद्या.

–शंकरदिग्विजय 14/96

अर्थात जो भिक्षा देता है, उसे भिक्षा खाने वाले द्वारा किए पुण्य कार्यों का आधा

फल अपनेआप प्राप्त हो जाता है, ऐसा स्मृतियों में कहा गया है.

भिक्षा के प्रति श्रद्धा

जैसे इन धर्मशास्त्रों के वचन हिंदुओं को शताब्दियों से भिक्षा के प्रति श्रद्धालु बनाए हुए हैं, वैसे ही पुराणों, रामायण, महाभारत आदि के विभिन्न प्रसंग भिक्षा को अनिंद्य और धर्मसम्मत बनाने में सहायक हुए हैं. इन प्रसंगों को आज भी भावुकतापूर्ण ढंग से सुनाया और दोहराया जाता है. उदाहरणार्थ निम्नलिखित प्रसंगों की ओर संकेत किया जा सकता है:

भागवतपुराण में आता है कि इंद्र ने दधीचि मुनि से उस के शरीर की भिक्षा मांगी तो उस ने सहर्ष प्राण त्याग दिए:

मघवन् यात भद्रं वो दध्यंचमृषिसत्तमम्,
विद्याव्रतं तपः सारं गात्रं याचत मा चिरम्

−6/9/51

तथाभियाचितो देवैर्ऋषिराथर्वणो महान्,
मोदमान उवाचेदं प्रहसन्निव भारत

−6/10/2

एवं

कृतव्यवसितो दध्यङ्.ड.ाथर्वणस्तनुम्,
परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं संनयञ् जहो.

−6/10/11

अर्थात हे इंद्र, तुम्हारा मंगल हो. तुम अब ऋषिश्रेष्ठ दधीचि के पास जाओ. विद्या, व्रत एवं तप के प्रभाव से अत्यंत दृढ़ उन का शरीर उन से मांगो. विलंब न करो. तदनंतर इंद्र और दूसरे देवता महात्मा दधीचि के निकट गए और उन से उन का शरीर मांगा. दधीचि मुनि ने निश्चय कर के परब्रह्म के साथ आत्मा का ऐक्य स्थापित कर अपने शरीर को त्याग दिया.

कर्ण का दान

कर्ण के विषय में यह कथा सुनाई जाती है कि वह जप करते हुए मांगने पर ब्राह्मणों को कभी निराश नहीं करता था. वह अपने प्राण तक दे सकता था. उस की इस प्रतिज्ञा को ध्यान में रख कर इंद्र ने ब्राह्मण का रूप धारण कर उस से कवच और कुंडल ठगे, जिस के परिणामस्वरूप महाभारत के युद्ध में वह अर्जुन के हाथों मारा गया.

यस्मिन् काले जपन्नास्ते धीमान् सत्यपराक्रमः,
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत् तस्मिन् काले महात्मनः

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा पुत्रार्थे भूतभावनः,
ययाचे कुंडले वीरं कवचं सहांगजम्.
उत्कृत्य कर्णो ह्यददात् कवचं कुण्डले तथा.
–महाभारत, आदिपर्व 67/142-145

अर्थात जिस समय कर्ण जप किया करता था, उस समय कोई वस्तु ऐसी नहीं थी जिसे मांगने पर वह ब्राह्मणों को न दे सके. इंद्र अपने पुत्र अर्जुन की विजय के लिए ब्राह्मण बन कर कर्ण के पास उस के जन्मजात कवच और कुंडल मांगने आया. कर्ण ने शरीर से उखाड़ कर वे उसे दे दिए.

यद्यपि कर्ण को सूर्य ने इस विषय में पहले से सूचित कर दिया था कि इंद्र ब्राह्मण बन कर उसे ठगने आएगा और यदि उस ने उसे वे दे दिए तो उस की मृत्यु हो जाएगी; तथापि उस ने भिक्षुक को निराश न लौटाने के अपने प्रण की रक्षा की. रक्षा करते हुए अपने प्राण दे दिए:

उपायास्यति शक्रस्त्वां पांडवानां हितेप्सया,
ब्राह्मणच्छद्मना कर्ण कुंडलापजिहीर्षया.
यदि दास्यसि कर्ण त्वं सहजे कुंडले शुभे,
आयुषः प्रक्षयं गत्वा मृत्योर्वशमुपैषयसि,
–महाभारत, वनपर्व, 300/11,18

वाल्मीकि रामायण में भिक्षा

भिखारी सर्वत्र बेरोकटोक जा सकता है, अतः रावण सीता हरण के समय ब्राह्मण भिक्षु (=भिखारी) के वेश में गया और सीता ने उस का भली भांति अतिथि सत्कार किया, क्योंकि ब्राह्मण वेश में आए भिक्षु की उपेक्षा करना असंभव है:

रामस्य त्वन्तरं प्रेप्सुर्दशग्रीवस्तदन्तरे
उपतस्थे च वैदेहीं भिक्षुरूपेण रावणः
द्विजातिवेषेण हि तं दृष्ट्वा रावणमागतम्,
सर्वैरतिथिसत्कारैः पूजयामास मैथिली.
अशक्यमुद्द्वेष्टुमुपायदर्शनात्.
–वाल्मीकि रामायण, अरण्यकांड, सर्ग 46/8-9, 33, 35

भिक्षा और भिखारी के इस प्रसंग को तुलसी ने पर्याप्त स्पष्ट किया है और उस का ही ज्यादा प्रचार है. उस ने लिखा है:

शून्य बीच दशकंधर देखा,
आवा निकट यती के वेखा.
करि अनेक विधि छल चतुराई,
मांगी भीख दशानन जाई.

कह रावण सुनु सुंदरि बानी,
बांधी भीख न लेउं सयानी.
रेख लांघि सिर बाहर आई.

–राम चरित मानस, अरण्यकांड

अर्थात जब रावण ने इस बीच सूना स्थान देखा, तब यह संन्यासी के रूप में उस कुटिया के समीप आया. उस ने अनेक विधियों से चतुराई की बातें कीं और उस से भीख मांगी. रावण ने कहा, "हे सुंदरी, तुम चतुर हो. मेरी बात सुनो. मैं संन्यासी हूं. मैं बांधी हुई भिक्षा नहीं लेता." तब सीता लक्ष्मण द्वारा खींची गई रेखा के बाहर आई.

रावण यही चाहता था. वह उस का अपहरण कर के उसे ले उड़ा.

भिक्षा का महत्त्व

हमारे यहां भिक्षा का इतना महत्त्व रहा है कि जिस घर से कोई भिक्षा नहीं मांगता था, वह बहुत घटिया और निंदनीय समझा जाता था. मनु ने कहा है: महापापियों के घरों से भिक्षा नहीं मांगनी चाहिए. (2/185). इसी प्रभाव के अधीन आदि शंकराचार्य ने अपने बंधुबांधवों को शाप देते हुए कहा था, "मैं तुम्हें शाप देता हूं कि तुम्हारे घरों से संन्यासी भिक्षा नहीं मांगेंगे:"

शशाप स्वीयजनान् सरोषः, यतीनां न भवेच्च भिक्षा.

–शंकरदिग्विजय, 14/49

जब मंडन मिश्र के यहां शंकर पहुंचते हैं, तब उसे भी इसी प्रकार की धमकी देते हैं.

भैक्ष्यं प्रकुर्वे यदि वाददित्सुता

–वही 8/45

अर्थात यदि तुम मुझ से शास्त्रार्थ करोगे, तभी मैं तुम्हारे घर से भिक्षा मांगूंगा, अन्यथा नहीं.

जब शंकर अध्ययनकाल में एक गरीब ब्राह्मण के यहां भीख मांगने जाते हैं, तब ब्राह्मणी भिक्षा दे सकने का सामर्थ्य न होने के कारण अपने जन्म के व्यर्थ जाने की बात करती है:

विधिना खलु वंचिता वयं विपरीतुं बटवे न शक्नुमः,
अपि भैक्ष्यमकिंचनत्वतो धिगिदं जन्म निरर्थकं गतम्.

–वही. 4/23

हमारी संस्कृति में भिक्षा कितनी महत्वपूर्ण रही है, इस के लिए भाषागत अन्वेषण भी बहुत सहायक सिद्ध होता है. हमारे यहां अन्नाभाव के लिए, जिसे हिंदी में आजकल 'अकाल पड़ना' कह दिया जाता है, जो शब्द हजारों सालों से प्रचलित

है, वह है दुर्भिक्ष. इसी तरह, अन्न की बहुतायत के लिए 'सुभिक्ष' शब्द हजारों वर्षों से प्रचलित है.

अब तो सरकारी जनरल स्टोरों की पूरी शृंखला का भी नामकरण 'सुभिक्षा' कर दिया गया है, हालांकि वहां से हर चीज पूरी कीमत चुकाने पर ही मिलती है. क्या यह भिक्षा के प्रति हमारे अंधे मोह का एक और प्रमाण नहीं है?

'दुर्भिक्ष' शब्द का मनुस्मृति में प्रयोग मिलता है:

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रांतमद्विजम्
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्.

–मनुस्मृति 8/22

अर्थात जो राज्य शूद्रों और नास्तिकों से भरा हो, जहां ब्राह्मण न हों, वह दुर्भिक्ष (अन्नाभाव) और रोगों से पीड़ित हो कर नष्ट हो जाता है.

वैसे ये शब्द उपर्युक्त अर्थ में मनुस्मृति से भी बहुत पहले से प्रचलित हैं.

ई.पू. 150 में लिखे गए व्याकरण महाभाष्य में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया गया है, जिस में कहा गया है कि आकाश में चमक रही बिजली का रंग यदि सफेद हो तो अकाल पड़ता है:

दुर्भिक्षाय सिता भवेत्

–महाभाष्य

'सुभिक्ष' शब्द वाल्मीकि रामायण में रामराज्यवर्णन के प्रसंग में मिलता है. वाल्मीकि ने लिखा है:

काले वर्षति पर्जन्यः, सुभिक्षं विमला दिशः

–उत्तरकांड 99/13

अर्थात राम के राज्य में मेघ समय पर वर्षा करते थे, सदा सुकाल ही रहता था, कभी अकाल नहीं पड़ता था.

भिक्षा–सामाजिक बुराई

ये शब्द यद्यपि 'सुकाल' और 'अकाल' के अर्थों में हजारों वर्षों से प्रचलित हैं तथापि इन के शाब्दिक अर्थ भिक्षा से संबद्ध हैं. हिंदुओं के कुल चार आश्रमों में से तीन आश्रम भिक्षाजीवी थे. इन के अतिरिक्त पथिक आदि और भी बहुत से लोग भिक्षाजीवी थे.

इन सब लोगों को जब भिक्षा सरलता से मिल जाती थी अर्थात सुभिक्ष था, तब यह समझा जाता था कि देश में अन्न पर्याप्त है. जब इन्हें भिक्षा मुश्किल से मिलती थी, जब दुर्भिक्ष था, तब यह समझा जाता था कि देश में अन्नाभाव है. स्पष्ट है कि देश की खुशहाली या अकाल की स्थिति का पैमाना भी हमारे यहां भिक्षा ही रही है.

इन सब विधानों और आदेशों व कथाप्रसंगों ने हमारे खून में भिक्षा के प्रति एक

विशिष्ट, उदार एवं उदात्त भाव भर दिया है. साथ ही हम भिक्षा देने से पुण्य प्राप्त होने और अगले जन्म में कई गुणा ज्यादा मिलने के अंधविश्वास के वशीभूत हैं.

अतः हम निठल्लों को पालने में सामाजिक बुराई और राष्ट्रीय हानि देखने के स्थान पर यह समझते हैं कि हम ने बहुत अच्छा काम किया है और निठल्लों को उपेक्षा से देखने के स्थान पर यह समझते हैं कि ये परोपकारी महापुरुष हैं, क्योंकि इन्होंने हमें पुण्य प्राप्त करने का अवसर जुटाया है. ऐसे में यदि भिक्षावृत्ति उन्मूलन कानून किताबों में बंद पड़ा है तो क्या आश्चर्य?

इनसानी गरिमा इसी तथ्य में निहित है कि इनसान किसी के आगे हाथ न फैलाए, काम करे और रोटी खाए. यह तभी संभव है यदि धर्म और परलोक के चक्कर से निकल कर हम निठल्लों का पालन करना (अर्थात भिक्षा देना) बंद करें और समाज पर बोझ बने अकर्मण्य, परोपजीवी व मुफ्तखोरों को खूनपसीने से रोटी कमाना सीखने के लिए विवश करें.

राष्ट्रीय एकता और हिंदू धर्म

देश में कहीं असम की समस्या है, तो कहीं कश्मीर की, कहीं उत्तर और दक्षिण भारत का भेदभाव उभारा जा रहा है, तो कहीं 'भूमिपुत्रों' का नारा लगा कर भारत के ही नागरिकों को प्रदेश विशेष में विदेशी बनाया जा रहा है और कहीं राष्ट्रीय ध्वज का अपमान हो रहा है. इन सब के पीछे एक ही मनोवृत्ति काम कर रही है. वह है–सारे भारत को एक देश न समझने की मनोवृत्ति. इसे क्षुद्र प्रादेशिकतावाद कहें या पृथकतावाद, इस से खास अंतर नहीं पड़ता.

आर्य और अनार्य

इस मनोवृत्ति का मूल हमारी संस्कृति व हमारे धर्म में छिपा दिखाई पड़ता है. हमारे यहां आर्य और अनार्य का भेद बहुत पुराना है. ऋग्वेद में अनार्यों को दास, दस्यु अथवा असुर कहा गया है. उन के कुछ राजाओं के नाम इस प्रकार हैं–इलिबिस, धुनि, चुमुरी, पिप्रु, वर्ची, शंबर, शुष्ण, वेतसु, तुग्र, अर्बुद आदि. उन के कुछ कबीलों के नाम इस प्रकार हैं–शिम्यु, कीकट, अज, यक्षु और शिग्रु. ये अनार्य लोग काले रंग वाले (ऋ. 7/5/3 व 6), यज्ञ न करने वाले (ऋ. 8/70/11), आर्यों से भिन्न नियमों का पालन करने वाले (ऋ. 8/70/11) और मृदु वचन न बोलने वाले थे. (ऋ. 7/6/3).

आर्यों द्वारा अनार्यों के प्रदेश लूटने, नष्ट करने आदि का ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख है, उदाहरणार्थ ऋग्वेद के निम्नलिखित स्थल देखे जा सकते हैं:

(क) त्वं पिप्रुं मृगयं शूशवांसमृजिश्वने वैदथिनाय रन्धीः,
पंचाशत्कृष्णा नि वपः सहस्रात्कं न पुरो जरिमा वि दर्दः

–ऋ. 4/16/13

अर्थात हे इंद्र, तुम ने पिप्रु तथा प्रवृद्ध मृगय नामक असुरों को नष्ट किया था. तुम ने विदीथ के पुत्र ऋजिश्वा को बंदी बनाया था. तुम ने काले रंग वाले 50 हजार लोगों को मारा. जिस तरह बुढ़ापा रूप को नष्ट करता है, उसी तरह तुम ने अनार्य राजा शंबर के नगरों को नष्ट किया.

(ख) यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना, वृषणं वज्रदक्षिणं सख्याय हवामहे

–ऋ. 1/101/1

अर्थात जिस इंद्र ने ऋजिश्वा राजा के साथ कृष्ण नाम के असुर की गर्भवती स्त्रियों को मारा, उसे अपना सखा बनाने के लिए हम उस का आह्वान करते हैं.

(ग) अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः!
आवत्तमिंद्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त.

–ऋ. 8/85(96)/13

अर्थात 10 हजार सेनाओं के साथ शीघ्र जाने वाला कृष्ण नाम का असुर अंशुमती नदी के किनारे रहता था. इंद्र ने उस की सारी सेना नष्ट कर दी.

(घ) अध द्रप्सो अंशुमत्या उपस्थे अधारयत्तन्वं तित्विषाणः,
विशो अदेवीरम्या चरन्तीर्बृहस्पतिना युजेंद्रः ससाहे.

–ऋ. 8/85(96)/15

अर्थात द्रुतगामी कृष्ण अंशुमती नदी के पास दीप्तिमान हो कर शरीर धारण करता है. देवताओं को न मानने वाले उस कृष्ण का इंद्र ने बृहस्पति की सहायता से वध कर दिया.

(ङ) त्वं ह त्यत्सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र.

–ऋ. 8/85(96)/16

अर्थात हे इंद्र, तुम ने ही वह कार्य किया कि जन्मते ही तुम ने शत्रुशून्य कृष्ण, वृत्र, नमुचि, शंबर, शुष्ण, पणि आदि सात अनार्य राजाओं को नष्ट कर दिया.

(च) त्वं ह त्यदप्रतिमानमोजो वज्रेण वज्रिन् धृषितो जघंथ,
त्वं शुष्णस्यावातिरो वधत्रैस्त्वं गा इंद्र शच्येदविंदः.

–ऋ. 8/85(96)/17

अर्थात हे इंद्र, तुम ने यह कार्य किया हैः वज्रधर इंद्र, तुम ने संग्राम में कुशल हो कर शुष्ण के अनुपम बल को नष्ट किया है. तुम ने अपने आयुधों से शुष्ण का वध किया और गौएं प्राप्त कीं.

(छ) अकर्मादस्युरभि नो अमंतुरन्यव्रतो अमानुषः,
त्वं तस्या मित्रहन्वधर्दासस्य दंभय.

–ऋ. 10/22/8

अर्थात हे इंद्र, हमारे चारों ओर दस्यु दल हैं जो यज्ञादि नहीं करते. वे हम से भिन्न व्रतों व नियमों को मानते हैं. वे अमानुष हैं. हे इंद्र, तुम इस दस्यु जाति का विनाश करो.

(ज) किं ते कृण्वंति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपंति घर्मम्,
आनो भर प्रमगंदस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रंधया नः

–ऋ. 3/53/14

अर्थात हे इंद्र, अनार्य देशों में रहने वाले लोगों (कीकटाः) की गौओं का तुम्हें क्या लाभ है? उन का दूध सोम में मिला कर तुम पी नहीं सकते. उन ब्याज लेने वालों की संपत्ति हमारे पास आ जाए. निम्न कुलों में उत्पन्न व्यक्तियों को हमारे वश में कर दो.

'कीकट' शब्द की व्याख्या करते हुए यास्क (800 ई. पू.) ने अपनी पुस्तक 'निरुक्त' में लिखा है–

कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः

–नि. 6/32

अर्थात कीकट वह देश है जहां अनार्यों का निवास है. इस पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान पं. राजाराम शास्त्री ने लिखा है–"कीकट अनार्य जाति थी, जो बिहार में कभी रहती थी, जिस के नाम पर बिहार का नाम कीकट है." (निरुक्त, पृ. 321,1914 ई.). स्वामी दयानंद ने 'कीकटाः' का अर्थ करते हुए लिखा है–

'अनार्यदेशनिवासिषु म्लेच्छेषु **(अनार्यों के देशों में रहने वाले म्लेच्छ).**

ऐसे और बहुत से मंत्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं.

आर्यअनार्य विद्वेष का कारण

शतपथ ब्राह्मण से पता चलता है कि इस आर्यअनार्य विद्वेष का कारण भाषा का भिन्न होना भी था. वहां लिखा है–'वे अनार्य बर्बर अर्थात पीड़ा पहुंचाने वाली भाषा बोलने वाले होने के कारण 'हे अरयः' के स्थान पर 'हे अलवः' कहते थे–

तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदंतः पराबभूवुः

–शतपथ. 3/2/1/23

यह स्वाभाविक है कि आर्य लोग अनार्यों के अस्तित्व को अच्छा नहीं समझते थे. आर्यों ने ऐसे इलाकों को अपवित्र और आर्यों के निवास के अयोग्य घोषित कर दिया. निरुक्त (800 ई.पू.) में लिखा है कि कंबोज (हिंदूकुश पर्वत और तिब्बत व लद्दाख तक फ़ैला भूभाग) आर्य देश नहीं, यद्यपि वहां की भाषा आर्य भाषा प्रतीत होती है. (निरुक्त 2/2).

निरुक्त के भाष्यकार स्कंदस्वामी (7वीं शताब्दी) के अनुसार कंबोज उत्तरापथ में एक ऐसा ही इलाका है, जैसे मद्र नामक इलाका है–

कंबोजा नाम उत्तरापथे क्वचिज्जनपदाख्या मद्रादिवत्

–स्कन्द स्वामिकृता निरुक्तवृत्ति, 2/2

उस का यह भी कहना है कि वहां के रहने वाले म्लेच्छ (अनार्य) हैं जो स्त्री और पेय पदार्थों के प्रयोग के विषय में भिन्न तरह के विचार रखते हैं–

यथेष्टं विषयानुपभंजते म्लेच्छदेशत्वात् स्त्रियो
पेयगम्यागम्यादिव्यवहाररहिता इत्यर्थः

–निरुक्तवृत्ति 2/2

महाभाष्य (150 ई.पू.) का कथन है कि काठियावाड़ का इलाका आर्य देश नहीं. उस ने आर्यावर्त के बाहर के इलाकों को आर्यों के अयोग्य घोषित किया है. बौधायन धर्मसूत्र (1/1/31) का कहना है कि अवंति (धौलपुर का पश्चिमी इलाका), अंग (कौशिकी कच्छ के उत्तरी और गंगा के दक्षिणी किनारे पर आधुनिक भागलपुर के समीप का इलाका), मगध (दक्षिणी बिहार), सुराष्ट्र (काठियावाड़), दक्षिणीपथ (दक्षिण भारत), उपावृत्, सिंधु (सिंधु नदी के पास का इलाका) और सौवीर देश शुद्ध आर्य नहीं हैं.

बौधायन ने यह भी कहा है कि जो आरट्टक देश (पंजाब के उत्तरपूर्व में स्थित इलाका), कारस्कर, पुंड्र, सौवीर, अंग, बंग, कलिंग एवं प्रानून को जाता है, वह अपवित्र हो जाता है और सर्वपृष्ठ नामक यज्ञ करने पर ही शुद्ध होता है. कलिंग को जाने वाला वैश्वानर अग्नि में हवन कर के शुद्ध होता है:

आरट्टान्, कारस्करान् पुंड्रान् सौवीरान् कलिंगान्,
प्रानूनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठ्या वा.

–बौधायन 1/1/15

क्या राष्ट्रीय खंडता का मूल यही नहीं?

इस प्रकार के आदेश हिंदू धर्मग्रंथों में अनेक स्थानों पर मिलते हैं जिन में कुछ इलाकों को पवित्र और आर्यों के निवास योग्य कहा गया है तथा कुछ इलाकों को अपवित्र एवं द्विजों के निवास के अयोग्य बताया गया है. कहीं इन निषिद्ध इलाकों में दो दिन तक भी न रहने के आदेश हैं, तो कहीं उन इलाकों में तीर्थयात्रा के बिना जाने पर प्रायश्चित करने का विधान है और कहीं इन इलाकों में जाने वाले को शुद्ध करने के लिए बहुत कष्टसाध्य विधान हैं. उदाहरण के लिए निम्नलिखित स्थल देखे जा सकते हैं:

मनु का कथन है:

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदंतरम्,
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रवक्षते.

–मनु. 2/17

अर्थात सरस्वती और दृषद्वती–इन दो देवनदियों के मध्य में जो देश है, उसे देवनिर्मित देश 'ब्रह्मावर्त' कहते हैं:

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पंचाला सूरसेनकाः!
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनंतरः

–मनु. 2/19

अर्थात कुरुक्षेत्र, धौलपुर का पश्चिमी इलाका, पंचाल (गंगा यमुना का दोआबा या कन्नौज का समीपवर्ती भाग) और मथुरा का इलाका–यह 'ब्रह्मर्षि देश' है. यह ब्रह्मावर्त से कुछ कम पवित्र है.

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि,
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः.

–मनु 2/21

अर्थात हिमालय और विंध्य के बीच, कुरुक्षेत्र के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम का इलाका 'मध्यदेश' कहा गया है.

आर्यावर्त

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु, पश्चिमात्.
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः.

–मनु. 2/22

अर्थात पूर्वी समुद्र तथा पश्चिमी समुद्र और हिमालय तथा विंध्य के मध्य स्थित प्रदेश को विद्वान लोग 'आर्यावर्त' कहते हैं.

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः,
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः.

–मनु 2/23

अर्थात जहां पर काला मृग स्वभाव से ही विचरण करता है, वह 'यज्ञिय देश' है; इस के अतिरिक्त 'म्लेच्छ देश' है.

एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः,
शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः.

–मनु. 2/24

अर्थात द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) इन्हीं देशों में निवास करें. हां, शूद्र आजीविका के लिए अन्यत्र भी निवास कर सकता है.

दक्षिण भारत की निंदा

मनु ने स्पष्ट तौर पर दक्षिण भारत को 'म्लेच्छ देश' कहा है, क्योंकि विंध्य के उस पार के इलाके को उस ने आर्यावर्त की सीमा में नहीं माना और वहां द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को न बसने की सीख दी है.

बौधायन ऋषि का आदेश है:

सिंधुसौवीरसौराष्ट्रांस्तथाप्रत्यंतवासिनः.
अंगवंगकलिंगांश्च गत्वा संस्कारमर्हति..

–बौधायन, निर्णयसिंधु पृ. 202 से उद्धृत

अर्थात सिंधु, सौवीर, काठियावाड़, सीमांत प्रदेश, अंग (कौशिकी कच्छ के उत्तरी और गंगा के दक्षिणी किनारे पर आधुनिक भागलपुर के पास का इलाका), पूर्वी बंगाल और कलिंग में जाने पर आदमी अपवित्र हो जाता है. अतः उस का यज्ञोपवीत संस्कार फिर से होना चाहिए.

एक दूसरे धर्मशास्त्र 'देवल स्मृति' में कहा गया है:

त्रिशंकुं वर्जयेद् देशं सर्वं द्वादशयोजनम्.
उत्तरेण महानद्या दक्षिणेन नु कीकटम्..

–देवल स्मृति, 4

अर्थात त्रिशंकु देश में न जाए जो 12 योजन (108 मील) तक फैला हुआ है, जो महानदी के उत्तर में और कीकट (दक्षिण बिहार) के दक्षिण में है.

सिंधु-सौवीर-सौराष्ट्र-तथा प्रत्यन्तवासिनः.
कलिंगकौंकणान् वंगान् गत्वा संस्कारमर्हति.

–देवल स्मृति 16

अर्थात सिंधु प्रदेश, सौवीर प्रदेश, काठियावाड़, सीमा प्रदेश, कलिंग, कोंकण (केरल, तुलंग, सौराष्ट्रवासी, कोंकण, करकट, कर्नाटक, बर्बर आदि सात प्रदेश) और पूर्वी बंगाल में जा कर आदमी अपवित्र हो जाता है, अतः उस का संस्कार (शुद्धीकरण) करना चाहिए.

एक अन्य धर्मशास्त्रीय वचन है:

अंगवंगकलिंगेषु सौराष्ट्रमगधेषु च.
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति..

–व्याकरणचन्द्रोदय, तृतीय खंड, पृ. 509 पर उद्धृत

अर्थात अंग (गंगा के दक्षिणी किनारे पर बसा राज्य), पूर्वी बंगाल, कलिंग, कठियावाड़ और मगध (दक्षिणी बिहार) को यदि बिना तीर्थयात्रा के कोई जाए तो वह अपवित्र हो जाता है, अतः उस की शुद्धि की जानी चाहिए.

पुराणों में भी इसी तरह के आदेशात्मक वचन मिलते हैं:

कांचीकाश्यपसौराष्ट्रदेवराष्ट्रान्ध्रमत्स्यजाः.
कावेरी कोंकणा हूणास्ते देशा निन्दिता भृशम्..
सौराष्ट्रसिन्धुसौवीरमावन्त्यं दक्षिणापथम्.
गत्वैतान् कामतो देशान् कालिंगांश्च पतेद् द्विजः..

–आदित्य पुराण, स्मृतिचन्द्रिका से उद्धृत

यात्रा निषिद्ध

अर्थात कांची (कांजीवरम), काश्यप, काठियावाड़, देवराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, धौलपुर का पश्चिमी इलाका, कावेरी, कोंकण, (केरल, तुलंग, सौराष्ट्रवासी,

कोंकण, करहट, कर्नाटक, बर्बर–ये सात देश कोंकण हैं) और हूण ये बहुत निदिंत इलाके हैं. काठियावाड़, सिंधु, सौवीर, अवंति (नर्मदा का उत्तरी इलाका), दक्षिण भारत और कलिंग में यदि कोई द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) स्वेच्छा से जाता है तो पतित हो जाता है.

आर्यावर्तसमुत्पन्नो द्विजो व यदि वाऽद्विजः.
कर्मदा सिंधुपारं च करतोयां न लंघयेत्..
आर्यावर्तमतिक्रम्य विना तीर्थक्रियां द्विजः.
आज्ञां चैव तथा पित्रौरैन्दवेन विशुध्याति..

–आदि पुराण, परिभाषाप्रकाश के पृष्ठ 59 से उद्धृत

अर्थात आर्यावर्त (पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र और हिमालय तथा विंध्य के मध्य का भूभाग, न कि संपूर्ण भारतवर्ष, देखें मनुस्मृति 2/22) के रहने वालों को सिंधु, कर्मनाशा और करतोया नदियों को तीर्थयात्रा को छोड़कर वैसे कभी भी पार नहीं करना चाहिए. यदि वे उन्हें पार करें तो उन्हें चांद्रायणव्रत (इस में 15 दिन उत्तरोत्तर एक ग्रास घटाना होता है और अंतिम दिन निराहार रहना होता है. अगले 15 दिन उत्तरोत्तर एक ग्रास बढ़ाना होता है और अंतिम दिन 15 ग्रास का पूर्ण भोजन करना होता है. इस तरह यह महीने भर का चक्कर होता है) करना चहिए.

महाभारत पंजाब की निंदा करते हुए आदेश देता है:

पंच नद्यो वहन्त्येता यत्र पीलुवनान्युता.
शतद्रुश्च विपाशा च तृतीयैरावती तथा.
चंद्रभागा वितस्ता च सिंधुषष्ठा बहिर्गिर:
आरट्टा नाम ते देशा नष्टधर्मा न तान् व्रजेत्..
पंच नद्यो वहन्त्येता यत्र नि:सृत्य पर्वतात्.
आरट्टा नाम वाहीका न तेष्वार्यो द्वयहं वसेत्..

–महाभारत, कर्णपर्व, 44/31–33, 40–41

अर्थात जहां सतलुज, व्यास, इरावती (रावी), चंद्रभागा (चिनाब), वितस्ता (झेलम) और छठी सिंधु नदी बहती है. वहां आरट्टा (जट्ट/जाट) लोग रहते हैं. वे धर्महीन हैं. वहां व्यक्ति न जाए.

जहां पर्वत से निकल कर पांच नदियां बहती हैं, वह आरट्टा (जाट) नाम के पंजाबियों (वाहीक) का इलाका है. आर्य लोग वहां दो दिन भी न बसें.

इस पर टिप्पणी करते हुए श्री खुशवंतसिंह ने लिखा है–"जाटों में स्वतंत्रता और समानता की भावना थी. अतः उन्होंने ब्राह्मणवादी हिंदू धर्म को स्वीकारने से इनकार कर दिया और इस तरह वे गंगा के मैदानों के विशेषाधिकार संपन्न ब्राह्मणों की निंदा के पात्र बने जिन्होंने यह उद्घोषणा की थी कि 'किसी आर्य को पंजाब में दो दिनों तक भी नहीं रहना चाहिए.' (देखें, ए हिस्टरी आफ सिख्स, जिल्द 1, पृ. 15).

महाभारत (कर्णपर्व) में युगंधर नामक पर्वत प्रदेश और पंजाब के अच्युतस्थल नामक स्थान को इतना अपवित्र और घटिया कहा गया है कि वहां से गुजरते हुए यदि कोई आर्य पानी भी पी ले तो सीधा नरक को जाएगा:

युगन्धरे पयः पीत्वा, प्रोष्य चाप्यच्युतस्थले
तद्वद् भूतिलये स्नात्वा कथं स्वर्गं गमिष्यति

–महाभारत, कर्णपर्व 44/39-40

अर्थात युगंधर में पानी पी कर, अच्युतस्थल में निवास कर के और भूतिलय नामक स्थान में स्नान करने के बाद तुम स्वर्ग को कैसे प्राप्त करोगे? अर्थात नहीं प्राप्त कर सकते.

महाभारत, कर्णपर्व, अध्याय 45 में लिखा है–

मलं पृथिव्यां वाहीकाः,
स्त्रीणां मद्रस्त्रियो मलम्.
मानुषाणां मलं म्लेच्छाः
वृषला दाक्षिणात्याः स्तेना वाहीकाः,
संकरा वै सुराष्ट्राः
आरट्टजान् पंचनदान् धिगस्तु.

–महाभारत, कर्णपर्व 45/23, 25, 28, 38

अर्थात वाहीक (पंजाबी) लोग सारी धरती का गंद हैं, सारी दुनिया की स्त्रियों का गंद मद्र देश की स्त्रियां हैं. म्लेच्छ सब मानवों का गंद हैं. दक्षिण वासी लोग मूर्ख–शूद्र हैं. पंजाबी चोर हैं, सुराष्ट्र के लोग दोगले हैं. पंजाबियों को लानत है.

'ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तंड' का कथन है–

कर्णाटा निर्दयाश्चैव कोंकणाश्चैव दुर्जनाः,
तैलंगा द्रविडाश्चैव दयावन्तो जना भुवि.

–श्लोक 66

अर्थात कच्छ, कश्मीर, केरल, कर्नाटक, कांबोज, कामरूप, कलिंग, सौराष्ट्रादि देशों के लोग अभक्त, निर्दय हैं, राक्षस तुल्य हैं. तैलंग, द्रविड़, दयावंत हैं. (ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तंड, पृ. 8).

आभीरकका यवनाश्च भृंगा नाटास्तथा मालवदेशविप्राः
श्राद्धे विवाहे खलु यज्ञकर्मणि ते वर्जिता यद्यपि शंभुतुल्याः!!

पृथकतावाद को बढ़ावा

अर्थात अभीर देशीय (कोंकण के निचले हिस्से और ताप्ती नदी के पश्चिमी तट पर बसा इलाका), कंकदेशीय, यवन (मुसलिम) राज्यों के निवासी, हुसैनी और

मालवदेश (मध्य भारत का एक इलाका) के ब्राह्मण यद्यपि शिव के समान हों तथापि विवाह, यज्ञ और श्राद्धकर्म में इन्हें नहीं लेना चाहिए.

न केवल धर्मशास्त्रों और महाभारत व पुराणों में, बल्कि संस्कृत व्याकरण के ग्रंथों में भी ऐसे वाक्य उदाहरण स्वरूप दिए गए हैं जो प्रदेश विशेष के प्रति अपवित्रता और घृणा के भाव उत्पन्न करने में धर्मशास्त्रीय वचनों से कम शक्तिशाली नहीं. वे वाक्य कम से कम हजार डेढ़ हजार साल से संस्कृत पढ़ने वालों को आज तक पढ़ाए जा रहे हैं. व्याकरण का नियम है कि लिट्लकार (परोक्ष भूत) का प्रयोग तब होता है जब किसी बात से मुकरना हो या साफसाफ इनकार करना होः

अत्यन्तापह्नवे च लिड्वक्तव्यः

–वार्तिक

इस के उदाहरण स्वरूप जो वाक्य सातवीं सदी में लिखी गई 'काशिका' नामक व्याख्या में मिलते हैं, आज तक वही सब संस्कृत व्याकरणों में दिए जाते हैं. संभव है, काशिका से पहले भी यही प्रचलित रहे हों.

पहला उदाहरण है–कलिंगेषु स्थितोऽसि? (क्या तुम कलिंग देश में ठहरे हो?)

उत्तर में दूसरा वाक्य लिट् लकार में है–नाहं कलिंगान् जगाम, अर्थात, मैं तो कलिंग देश में कभी गया भी नहीं हूं.

दूसरा उदाहरण है–"दक्षिणापथं प्रविष्टोऽसि." अर्थात क्या तुम कभी दक्षिण भारत में गए हो? उत्तर में लिट् लकार में वाक्य है "नाहं दक्षिणापथं प्रविवेश" अर्थात मैं तो कभी दक्षिण भारत में प्रविष्ट भी नहीं हुआ. (काशिकावृत्ति, पृ. 209, प्रथम भाग.)

यहां 'जगाम' और 'प्रविवेश' लिट् लकार के रूप हैं.

इन वाक्यों को उद्धृत कर के कई व्याकरणों में किसी धर्म ग्रंथ का वचन उद्धृत कर के यह भी बताया गया है कि धर्मशास्त्र कलिंग और दक्षिण भारत में जाने को धर्मविरुद्ध कहता है, अतः ऐसे वाक्यों की रचना की गई है. संस्कृत व्याकरण के महापंडित श्री चारुदेव शास्त्री ने अपनी पांच जिल्दों में प्रकाशित 'व्याकरणचंद्रोदय' नामक पुस्तक की तीसरी जिल्द में ऐसा ही लिखा है.

विदेश की परिभाषाएं संकुचित

धर्म ग्रंथों में दी गई विदेश या देशांतर की परिभाषाएं बहुत संकुचित हैं. सौपचास मील दूर के इलाके को विदेश घोषित किया गया है. कई स्थानों पर तो पहाड़ के दूसरी ओर के इलाके को ही विदेश घोषित कर दिया गया है. बृहस्पति ने देशांतर (दूसरे देश) की परिभाषा देते हुए लिखा है–

महानद्यंतरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः,
वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद् देशांतरमुच्यते.
देशांतरं वदंत्येके षष्टियोजनमायतं,
चत्वारिंशद् वदंत्यन्ये त्रिंशदन्ये तथैव च.

अर्थात, महानदी या महापर्वत बीच में पड़ता हो और भाषा की भिन्नता हो तो दोनों तरफ एकदूसरे के लिए देशांतर हैं. कुछ लोगों का कहना है कि 60 योजन (आठ मील एक योजन) से आगे नया देश शुरू होता है, कुछ कहते हैं कि 40 योजन से आगे शुरू होता है, और कुछ कहते हैं कि 30 योजन से आगे शुरू होता है.

एक दूसरे मत को बृहस्पति ने उद्धृत किया है, जिस में 'देशांतर' के स्थान पर 'विदेश' शब्द का प्रयोग किया गया है. वहां विदेश की परिभाषा इस प्रकार की गई है:

"एकाहेन यत्रत्या वार्ता न श्रूयते स विदेश इति रत्नाकर:"

अर्थात एक दिन में जिस जगह की खबर न जानी जा सके, वह विदेश है.

'धर्मसिंधु' नामक धर्म ग्रंथ में देशांतर (दूसरे देश) की व्याख्या जातियों के आधार पर की गई है—

"देशांतरं तु विप्रस्य विंशतियोजनात्परम्,
क्षत्रियादे: क्रमेण चतुर्विंशत्त्रिंशत्षष्टियोजनै:!
केचिद् विप्रस्य त्रिंशद्योजनोत्तरं देशान्तरमाहु:!!

भाषा भेदसहितमहागिरिणा भाषाभेदसहितमहानद्या वा व्यवधानमपि देशांतरम्. यत्तु केचिद्भाषाभेदरहितमपि गिरिनदी व्यवधानं देशांतरमाहु: तद्योजनगतविंशत्यादिसंख्यायास्त्रिचतुरादिन्यूनत्वेऽपि देशांतरत्वसंपादकतया योज्यमिति भाति. अन्यथा महानदी-परपूर्वतीरवासिनामेकयोजनध्येऽपि देशांतरत्वापत्ते:.

—धर्मसिन्धु:, तृतीय परिच्छेद, पृ. 870-71

विभिन्न वर्णों के लिए देश की सीमा

अर्थात ब्राह्मण के लिए अपने निवासस्थान से 20 योजन, क्षत्रिय के लिए 24 योजन, वैश्य के लिए 30 योजन और शूद्र के लिए 60 योजन से दूर का इलाका 'देशांतर' (दूसरा देश) है. यदि महापर्वत या महानदी बीच में आ जाए और पर्वत या नदी के दोनों ओर रहने वालों की भाषा में भी अंतर हो तो वे दोनों तरफें ही दूसरा देश कहलाएंगी. जो यह कहा गया है कि चाहे भाषा में अंतर न भी हो, तो भी पर्वत या नदी की दोनों तरफें 'देशांतर' कहलाती हैं, वहां तात्पर्य यह है कि 20, 24, 30 और 60 योजन से कुछ योजन कम होने पर वे क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए देशांतर ही हैं. यदि ऐसा न माना जाएगा तब तो महापर्वत या महानदी की दोनों तरफों को देशांतर मानना पड़ेगा, जिस से एक आधे योजन पर ही दूसरा देश स्वीकार करना पड़ेगा.

धर्म ग्रंथों में देशविदेश

इन धर्मशास्त्रीय ग्रंथों की परिभाषाओं और व्याख्याओं से स्पष्ट है कि अपने

निवासस्थान से ज्यादा से ज्यादा 480 मील की दूरी तक ही स्वदेश है. वह भी सब के लिए नहीं. यह शूद्रों के लिए सीमा है. ब्राह्मण के लिए तो 160 मील के बाद ही दूसरा देश शुरू हो जाता है. क्षत्रिय के लिए 192 मील और वैश्य के लिए 240 मील से दूसरा देश शुरू हो जाता है. यदि कहीं पर्वत या नदी बीच में आ जाए तो उस की दोनों तरफें एकदूसरे के लिए विदेश बन जाती हैं.

इसी का फल यह है कि हिंदी आदि कई आधुनिक भारतीय भाषाओं में पड़ोसी या कुछ दूर के गांव व शहर के निवासी के लिए परदेशी या परदेसी (दूसरे देश का निवासी) शब्द का प्रयोग आज भी होता है. जब अपने गांव और उस के पासपड़ोस के इलाकों को छोड़ कर सब स्थान विदेश व देशांतर हों तब हजारों मील लंबे और हजारों मील चौड़े भारत कहे जाने वाले देश को एक देश कोई कैसे स्वीकार कर सकता है, विशेषत: तब जब धर्म ग्रंथ भी इस के विरुद्ध हों?

इसीलिए आदि शंकराचार्य ने इधरउधर घूमने, यहां तक कि तीर्थयात्रा की भी निंदा की है. अपने शिष्य पद्मपाद को उन्होंने कई कारण बताते हुए देशभ्रमण और तीर्थयात्रा से विमुख करने के उद्देश्य से कहा था–

> संभाव्यते क्व च जलं क्व च नास्ति पाथ:, शय्यास्थलं क्वचिदिहास्ति न च क्व चास्ति! शय्यास्थली जलनिरीक्षण सक्तचेता: पान्थो न शर्म लभते कलुषीकृतात्मा!! (5). ज्वरातिसारादि च रोगजालं बाधेत चेत् तर्हि न कोऽप्युपाय:! स्थातुं च गन्तुं च न पारयेत यदा तदा सहायोऽपि च विमुंचति तम्!! (6). स्नानप्रभाते न च देवतार्चनं क्व चोक्तशौचं क्व च वा समाधय:! क्व चाशनं कुत्र च मित्रसंगति: पान्थो न शाकं लभते क्षुधातुर:!!(7)
>
> –शंकरदिग्विजय, सर्ग 14

अर्थात यात्रा में कहीं जल की संभावना होती है और कहीं जल बिलकुल नहीं मिलता; कहीं लेटने को जगह मिलती है और कहीं नहीं. इस प्रकार यात्री का मन हमेशा स्थान, शय्या, जल आदि में लगा रहने से वह सदा बेचैन रहता है. उसे यदि ज्वर, अतिसार आदि रोग हो जाएं तो उन से छुटकारा पाने का कोई साधन नहीं होता. यात्रा में न तो प्रात: स्नान हो सकता है और न देवताओं का पूजन; न पवित्रता और न शुद्धि के नियमों का पालन और न ही समाधि लग सकती है. वहां भोजन और मित्र कहां से प्राप्त होंगे? यात्रा में तो भूखे को घास भी नहीं मिलता.

राष्ट्रभावना का अभाव

इस तरह के आदेशों ने सदियों से लोगों को प्रांतों के प्रति पूर्वाग्रहग्रस्त कर रखा है. इन्हीं के परिणामस्वरूप लोगों में संपूर्ण भारत के प्रति एक राष्ट्र की भावना उत्पन्न न हो सकी. यदि लोगों में थोड़ा बहुत एक राष्ट्र का भाव जागरित होता भी था तो वह या तो धर्म के हाथों कुचल दिया जाता था या राजधर्म के हाथों या धर्मांधता के हाथों.

भारत पिछले दोढाई हजार सालों के इतिहास में, सिवा थोड़े से समय के, कभी राजनीतिक तौर पर एक देश नहीं रहा. सदा छोटेछोटे राज्यों में बंटा रहा. हर राजा के सामने युधिष्ठिर और राम के राजसूय और अश्वमेध यज्ञ के 'आदर्श' थे. अतः हर राजा 'दिग्विजय' के चक्कर में रहता था. वह इसी ताक में रहता कि कम से कम पड़ोसी राज्यों की 'दिग्विजय' तो हो ही जाए. इस से विभिन्न राज्यों में लड़ाईझगड़ा रहता था, जिस के परिणामस्वरूप एक राज्य के लोग दूसरे राज्य को और वहां के लोगों को अपना शत्रु समझते थे. हर राज्य के लोग अपने इलाके के प्रति ही वफादार रहते थे. ऐसे में संपूर्ण देश को एक मान कर चलना न केवल कठिन था बल्कि असंभव भी था.

भारत के इतिहास से ऐसे ठोस प्रमाण मिलते हैं जो इस कथन को पुष्ट करते हैं कि न राजाओं ने और न उन की प्रजाओं ने ही कभी संपूर्ण देश के प्रति रुचि दिखाई. इस के विपरीत, कभी राजाओं ने अपने स्वार्थों के लिए या ईर्ष्यावश और कभी प्रजाओं ने राजाओं की धर्मांधता से तंग आ कर कभी देशी तो कभी विदेशी शक्तियों को यहां आने को आमंत्रित किया.

जब सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया तब आंभी ने पुरु से आपसी शत्रुता के कारण सिकंदर का साथ दिया. जब पुरु और शशिगुप्त सिकंदर से हार गए, तब स्वार्थवश वे सिकंदर के साथ चल पड़े और अपने देश को विदेशी के पैरों तले रौंदे जाने में उस के सहायक बने.

शालिशूक मौर्य कट्टर जैन था. उस की धर्मांधता के कारण प्रजा त्राहित्राहि कर उठी थी. इसी कारण उस ने ग्रीक के देमित्रियस बाख्त्री का स्वागत किया और उसे धर्ममित्र (धम्ममीत) कह कर सम्मानित किया.

अंतिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने सम्राट को कत्ल कर के जब राजगद्दी हथिया ली तो बौद्धों का कत्लेआम शुरू कर दिया. तब उन्होंने एक दूसरे विदेशी को बुलावा दिया. इस बार ग्रीक का ही मिनांद्र आ धमका.

शुंग वंश के अंतिम सम्राट देवभूति को उस के मंत्री वसुदेव ने मरवा कर सिंहासन पर अधिकार कर लिया. इस वंश के चार राजा हुए. उन के अत्याचारों के विरुद्ध जैनों ने शकों को हमला करने के लिए आमंत्रित किया.

जब 712 में सिंध के राजा दाहिर पर 17 वर्षीय मुसलमान लड़के मुहम्मद बिन कासिम ने हमला किया तब दाहिर की बौद्ध विरोधी नीति से तंग आए बौद्धों ने विदेशी मुसलमानों का साथ दिया.

राणा सांगा ने दिग्विजय के चक्कर में दिल्ली हथियाने के उद्देश्य से बाबर को न केवल दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया, बल्कि उस की सहायता भी की और देश की गुलामी पक्की करवा दी.

जब पानीपत के मैदान में 1761 में मराठों और अहमदशाह अब्दाली में मुठभेड़ होने को थी तो कई राजाओं ने इकट्ठे हो कर अब्दाली का सामना करने की ठानी. लेकिन ईर्ष्यावश और अपनी बात मनवाने के चक्कर में उन में आपसी तालमेल न हो सका, जिस से अब्दाली विजयी हो गया.

1857 में गोरखों और सिखों ने अंगरेजों की सहायता की.

भारतीय इतिहास से ऐसे अनेक प्रमाण जुटाए जा सकते हैं. यदि एक राष्ट्र की भावना होती तो कदापि ऐसा न होता. सारे प्राचीन इतिहास में एक भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता, जिस से सिद्ध हो कि कभी हम ने संपूर्ण देश के हित में बलिदान दिया था. दरअसल, हम ने राष्ट्रवाद 19वीं शताब्दी में पश्चिम से सीखा. 1947 तक हमारा अजीर्ण राष्ट्रवाद अंगरेज विरोधी भावना से जुड़ा था, अतः सीधा चलता रहा. लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात राष्ट्रवाद का मुलम्मा उतरने लगा. प्रांतीयताभाव, भाषावाद और पृथकतावाद जैसी प्रवृत्तियां पनपने लगीं.

ये प्रवृत्तियां हमारी स्वतंत्रता के लिए खतरा हैं. राजनीतिक स्वार्थों से ऊपर उठ कर उन का सामना करना चाहिए. इस के लिए विभिन्न मतावलंबियों और विभिन्न विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करना होगा तथा पृथकतावादी शक्तियों को सख्ती से कुचलना होगा.

इस के साथ ही जनता को धर्म और इतिहास के पूर्वाग्रहों से मुक्त करने और लोकतांत्रिक विश्वासों व मान्यताओं के प्रति आस्थावान बनाने के लिए शिक्षा पद्धति में अभीष्ट सुधार लाना होगा. धर्म और जाति के नाम पर भेदभाव उत्पन्न करने वाले धर्म ग्रंथों के प्रकाशन, सार्वजनिक प्रचार पर प्रतिबंध लगाना होगा. तभी भारत का भविष्य सुरक्षित रह सकता है, नहीं तो यह कभी भी खंडखंड हो सकता है.

प्राचीन भारत में गोहत्या एवं गोमांसाहार

भारत में आए दिन गोहत्या को ले कर मरणव्रतों व आंदोलनों की धमकियां दी जाती हैं और उस के विरुद्ध प्रस्ताव पास किए जाते हैं, लेकिन भारत में गौ सदा से पूज्य और अवध्य रही हो, ऐसी बात नहीं है. प्राचीन संस्कृत साहित्य में ऐसे बहुत से प्रमाण विद्यमान हैं जिन से स्पष्ट होता है कि गौ न सिर्फ यज्ञों में बलि के लिए काटी जाती थी, बल्कि विशिष्ट मेहमानों, वेदज्ञ विद्वानों आदि के स्वागत के लिए भी गोमांस जुटाया जाता था.

शायद इसीलिए आधुनिक युग के प्रसिद्ध हिंदू धर्मप्रचारक स्वामी विवेकानंद ने कहा था, "आप को यह जान कर हैरानी होगी कि प्राचीन कर्मकांड के मुताबिक वह अच्छा हिंदू नहीं जो गोमांस नहीं खाता. उसे कुछ निश्चित अवसरों पर बैल की बलि दे कर मांस अवश्य खाना चाहिए. (देखें 'द कंपलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद, जिल्द तीन, पृ. 536). इसी पुस्तक में पृष्ठ 174 पर स्वामी विवेकानंद ने कहा है, "भारत में एक ऐसा समय भी रहा है जब बिना गोमांस खाए कोई ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रह सकता था."

प्राचीन साहित्य में गोमेध नामक एक यज्ञ का वर्णन मिलता है, जिस में गौ की बलि दी जाती थी. इस यज्ञ का विवरण देते हुए संस्कृत के प्रसिद्ध विश्वकोश 'शब्दकल्पद्रुम' में लिखा है:

> गोमेधः यज्ञविशेषः, अत्र स्त्रीगोपशुः मंत्रेषु स्त्रीलिंगपाठात्. तस्य लक्षणम्–सप्तशफत्व–नवशफत्व–भग्नशृंगत्व–काणत्व–छिन्नकर्णत्वा–दिदोषराहित्यम्. तस्य प्रयोगः सर्वोऽपि छागपशुवत्. यजमानस्य स्वर्गः फलम्, गोश्च गोलोकप्राप्तिः.

अर्थात गोमेध–यह एक यज्ञ विशेष है. यहां 'गो' शब्द से स्त्री गोपशु अर्थात गाय अभिप्रेत है, न कि सांड़, बैल व बछड़ा, क्योंकि मंत्रों में स्त्रीलिंग का निर्देश है. उस गाय का यह लक्षण होना चाहिए: वह सात व नौ खुर वाली न हो, उस के सींग टूटे हुए न हों. वह न कानी हो, न कनकटी. उस का समूचा प्रयोग बकरे की तरह होना चाहिए अर्थात गाय के साथ वे ही सब व्यवहार किए जाएं जो बकरे के साथ किए जाते हैं. गोमेध का फल यजमान के लिए स्वर्ग और गाय के लिए गोलोक की प्राप्ति है.

यज्ञ में पशुओं के साथ व्यवहार

यज्ञ में बकरा, घोड़ा व गाय आदि पशु के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए, इस विषय में ऋग्वेद के प्राचीन व्याख्यान 'ऐतरेय ब्राह्मण' में इस तरह निर्देश किया गया है:

> उदीचीनां अस्य पदो निधत्तात् सूर्यं चक्षुर्गमयताद् वातं प्राणमन्ववसृजताद्. अंतरिक्षमसुं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमित्येष्वेवैनं तल्लोकेष्वादधाति.
>
> एकधाऽस्य त्वचमाच्छ्य तात्पुरा नाभ्या अपि शसो वपामुत्खिदता दंतरेवोष्माणं वारयध्वादिति पशुष्वेव तत् प्राणान् दधाति.
>
> श्येनमस्य वक्षः कृणुतात् प्रशसा बाहू शला दोषणी कश्यपेवांसाच्छिद्रे श्रोणी कवषोरूस्रेकपर्णाऽष्ठीवन्ता षड्विंशतिरस्य वङ्. क्रयस्ता अनुष्ठ्यो च्च्यावयताद्. गात्रं गात्रमस्यानूनं कृणुतादित्यंगान्येवास्य तद् गात्राणि प्रीणाति...ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनताद्...अस्ना रक्षः संसृजतादित्याह.
>
> –ऐ. ब्रा. 6/7

अर्थात इस पशु के पैर उत्तर की ओर मोड़ो, इस की आंखें सूर्य को, इस के श्वास वायु को, इस का जीवन (प्राण) अंतरिक्ष को, इस की श्रवणशक्ति दिशाओं को और इस का शरीर पृथ्वी को सौंप दो. इस प्रकार होता (पुरोहित) इसे (पशु को) दूसरे लोकों से जोड़ देता है. सारी चमड़ी बिना काटे उतार लो. नाभि को काटने से पहले आंतों के ऊपर की झिल्ली की तह को चीर डालो. इस प्रकार वह पुरोहित पशुओं में श्वास डालता है. इस की छाती का एक टुकड़ा बाज की शक्ल का, अगले बाजुओं के कुल्हाड़ी की शक्ल के दो टुकड़े, अगले पांव के धान की बालों की शक्ल के दो टुकड़े, कमर के नीचे का अटूट हिस्सा, ढाल की शक्ल के जांघ के दो टुकड़े और 26 पसलियां सब क्रमशः निकाल लिए जाएं. इस के प्रत्येक अंग को सुरक्षित रखा जाए. इस प्रकार वह उस के सारे अंगों को लाभ पहुंचाता है. इस का गोबर छिपाने के लिए जमीन में एक गड्ढा खोदें. प्रेतात्माओं को रक्त दें.

इस के अनंतर वही ब्राह्मण ग्रंथ बलि चढ़ाए गए पशु (गाय, बकरा आदि) के अंगों के बंटवारे का विधान करते हुए लिखता है:

> अथातः पशोर्विभक्तिस्तस्य विभागं वक्ष्यामः, इति. हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः श्येनं वक्ष उद्गातुः कण्ठः काकुद्रः प्रतिहर्तुर्दक्षिणा श्रोणिर्होतुः सव्या ब्रह्मणो दक्षिणं सक्थि मैत्रावरुणस्य सव्यं ब्राह्मणाच्छंसिनो दक्षिणं पार्श्वं सांसमध्वर्योः सव्यमुपगातृणां सव्योंऽसः प्रतिप्रस्थातुर्दक्षिणं दोर्नेष्टुः सव्यं पोतुर्दक्षिण ऊरूरच्छावाकस्य सव्य आग्नीध्रस्य दक्षिणो बाहुरात्रेयस्य सव्यः सदस्यस्य सदं चानूकं च गृहपतेर्दक्षिणौ पादौ गृहपतेर्व्रतप्रदस्य सव्यौ पादौ गृहपतिर्भार्यायै व्रतप्रदस्यौष्ठएनयोः साधारणो भवति.
>
> तं गृहपतिरेव प्रशिंष्याज्जाघनीं पत्नीभ्यो हरन्ति तां ब्राह्मणाय दद्युः स्कन्ध्याश्च

मणिकास्तिस्रश्च कीकसा ग्रावस्तुतस्तिस्रश्चैव कीकसा अर्धं च वैकर्तस्योन्नेतुरर्धं चैव वैकर्तस्य क्लोमा च शमितुस्तद्ब्राह्मणाय दद्यात्. यद्यब्राह्मणः स्याच्छिरः सुब्रह्मण्यायै यः श्वः सुत्यां प्राह तस्याजिनमिड़ा सर्वेषां होतुर्वा इति.

ता वा एताः षट्त्रिंशतमेकपदा यज्ञं वहन्ति षट्त्रिंशदक्षरा वै बृहती बार्हताः स्वर्गा लोकाः प्राणांश्चैव तत्स्वर्गांश्च लोकानाप्नुवन्ति प्राणेषु चैव तत्स्वर्गेषु च लोकेषु प्रतितिष्ठन्तो यन्ति, इति.

स एष स्वर्ग्यः पशुर्य एनमेवं विभजन्ति, इति. अथ येऽतोऽन्यथा तद्यथा सेलगा वा पापकृतो वा पशुं विमथ्नीरंस्तादृक्तत् इति. तां वा एतां पशोर्विभक्तिं श्रौतऋषिर्देवभागो विदां चकार तामु हाप्रोच्यैवास्माल्लोकादुच्चक्रामत् इति. तामु ह गिरिजाय बाभ्रव्यायामनुष्यः प्रोवाच ततो हैनामेतदर्वाङ्. मनुष्या अधीयतेऽधीयते ..1.. इति

–ऐतरेय ब्राह्मण, 31/1

अर्थात अब बलि चढ़ाए गए पशु के भिन्नभिन्न अंगों के विभिन्न पुरोहितों में बांटे जाने का प्रश्न उपस्थित होता है. हम इस का वर्णन करेंगे. जबड़े की दोनों हड्डियां और जिह्वा प्रस्तोता नामक पुरोहित को दी जानी चाहिए. बाज की शक्ल जैसी छाती उद्गाता को, गला और तालु प्रतिहर्ता को, कमर के नीचे का दाहिनी ओर का हिस्सा होतृ को, बायां हिस्सा ब्रह्मा को, दाईं जांघ मैत्रावरुण को, बाईं ब्राह्मणाच्छंसी को, दाहिने कंधे के साथ का हिस्सा अध्वर्यु को, बाएं कंधे के साथ का हिस्सा मंत्रोच्चारण में साथ देने वाले उपगाताओं को, बायां कंधा प्रतिप्रस्थाता को, दाएं बाजू का निचला हिस्सा नेष्टा को, बाएं बाजू का निचला हिस्सा पोता (पोतृ) को दिया जाए.

पशुओं के अंगों को बांटना

इसी तरह दाहिनी जांघ के ऊपर का हिस्सा अच्छावाक को, बाईं जांघ के ऊपर का हिस्सा अग्निधर को, दाएं बाजू के ऊपर का हिस्सा आत्रेय को, बाएं बाजू के ऊपर का हिस्सा सदस्य को, पीछे की हड्डी और अंडकोष यज्ञकर्ता गृहस्थ को, दायां पांव भोज देने वाले गृहपति को, बायां पांव भोज देने वाले गृहपति की भार्या को, ऊपर का होंठ गृहपति और उस की भार्या को आधाआधा देना चाहिए. पशु की पूंछ वे भार्याओं को देते हैं, परंतु यह उन्हें न दे कर किसी ब्राह्मण को देनी चाहिए.

गरदन पर के माणिक व तीन कीकस ग्रावस्तुत को, तीनों कीकस और पीठ के मांसल हिस्से का आधा भाग (वैकर्त) उन्नेता को, गदरन पर के मांसल हिस्से (क्लोम) का आधा और बाएं कान का कुछ भाग वध करने वाले को दिया जाए. यदि वध करने वाला स्वयं ब्राह्मण न हो तो वह किसी ब्राह्मण को दे दे. सिर सुब्रह्मण्य को. सोम यज्ञ में यज्ञ की बलि बने पशु का हिस्सा जो यज्ञभोज का है, वह सब पुरोहितों का है, केवल होतृ के लिए ऐच्छिक है.

बलि के पशु के इन सब टुकड़ों की संख्या 36 है. इतने श्लोकों से ही यज्ञ होता है, प्रत्येक टुकड़ा उस के एक चरण का प्रतीक है. इस प्रकार पशु के 36 हिस्से कर के वे इस लोक तथा स्वर्ग में जीवन लाभ करते हैं, और इस तथा उस अर्थात दोनों लोकों में प्रतिष्ठित हो कर चलते हैं.

जो लोग ऊपर कहे ढंग से पशु के मांस का बंटवारा करते हैं, उन के लिए यह स्वर्ग का सोपान बन जाता है. लेकिन जो इस से भिन्न प्रकार से बांटते हैं, वे पेटू/कुमार्गी और पापी हैं.

बलि के पशु का यह विभाग श्रुत के पुत्र देवभाग का आविष्कार है. जब वह इस जीवन से जा रहा था तो उस ने इस रहस्य को किसी को न बताया. किंतु किसी अलौकिक देवदूत ने बभ्रु के पुत्र गिरिजा को यह सब बता दिया. तब से मनुष्य इस का अध्ययन अर्थात पालन करते हैं.

'गोपथ ब्राह्मण' में भी

लगभग यही बात गोपथ ब्राह्मण (3/18) में कही गई है.

ऋग्वेद में इंद्रदेव इसी गोवध की ओर संकेत करते हुए कहते हैं:

> उक्ष्णो हि मे पंचदश साकं पचन्ति विंशतिम्,
> उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः.
>
> –ऋग्वेद 10/86/14

अर्थात मेरे लिए इंद्राणी द्वारा प्रेरित यज्ञकर्ता लोग 15-20 बैल मार कर पकाते हैं, जिन्हें खा कर मैं मोटा होता हूं. वे मेरी कुक्षियों को सोमरस से भी भरते हैं.

ऋग्वेद मंडल 10, सूक्त 89, मंत्र 14 से स्पष्ट होता है कि गोहत्या ऐसी मामूली बात थी कि बातचीत में उपमा के तौर पर भी इस का प्रयोग होता था. देखिए:

> मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः पृथिव्या आपृगमुया शयंते.

अर्थात हे इंद्र, जैसे गोहत्या के स्थान पर गौएं काटी जाती हैं, वैसे ही तुम्हारे इस अस्त्र से मित्रद्वेषी राक्षस लोग कट कर पृथ्वी पर सदा के लिए सो जाएं.

स्वामी दयानंद ने 1875 में छपे 'सत्यार्थ प्रकाश' में इसी गोमेध के विषय में लिखा था: जहां गोमेधादिक यज्ञ लिखे हैं, वहां पशुओं में नरों का मारना लिखा है, क्योंकि जैसे पुष्ट बैल आदि नरों में हैं, वैसे गो आदि नहीं होते. जो वंध्या गाय होती है, उस का भी गोमेध में मारना लिखा है.

(देखें: सत्यार्थ प्रकाश, सन 1875, पृ. 303, दयानंद भाव चित्रावली, पृ. 28 पर उद्धृत).

भारतीय विद्या भवन, मुंबई के तत्त्वावधान में छपी 'द वैदिक एज' नामक पुस्तक के पृष्ठ 387 पर डा. वी. एम. आप्टे ने लिखा है:

"ऋग्वेद के एक सूक्त (10/85) से जिसे विवाह सूक्त कहा जा सकता है, विवाह संस्कार के प्राचीनतम रूप का पता चलता है. दूल्हा और बारात दुलहन के घर

जाते थे (10/17/1), यहां दुलहन बारात के साथ मिल कर खाना खाती थी. मेहमानों को उस अवसर पर मारी गई गौओं का मांस परोसा जाता था. (10/85/13)"

'वैदिक इंडेक्स' (जिल्द 2, पृ. 145) में कहा गया है: "विवाह संस्कार के समय भोजन के लिए गौएं मारी जाती थीं." यही बात बनारस हिंदू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'वैदिक कोश' (पृ. 374) में कही गई है और ऋग्वेद के दशम मंडल के 85 वें सूक्त के 13वें मंत्र का हवाला दिया गया है.

शव दाह के लिए भी गोवध किया जाता था. ऋग्वेद (10/16/7) में आता है:

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व स प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च.

अर्थात मृत, तुम गोधर्म के साथ अग्नि शिखा स्वरूप कवच को धारण करो. तुम मेद और मांस से आच्छादित होओ. 'वैदिक कोश' (बनारस हिंदू विश्वविद्यालय प्रकाशन) के पृष्ठ 375 पर लिखा है: "अंत्य संस्कार के प्रसंग में गोवध आवश्यक जान पड़ता है. यहां उस के मांस से शव को ढकने का उल्लेख आता है. (ऋ. 10/16/7)"

गायों को मारना शुभ

श्री मुकंदीलाल ने अपनी पुस्तक 'काओ स्लाटर-हार्न्स आफ ए डाइलेमा' के पृष्ठ 18 पर लिखा है: "प्राचीन भारत में समारोहों में गौओं को मारना शुभ माना जाता था. दूल्हा और दुलहन वेदि के सामने लाल बैल की कच्ची खाल पर बैठते थे. वह खाल उस अवसर पर मारे गए बैल की ही होती होगी, जिसे उस अवसर पर खाने के लिए मारा जाता था. ऐसे ही राज्याभिषेक के समय भावी राजा को लाल बैल की ख़ाल पर बैठाया जाता था."

अन्नप्राप्ति की कामना से जो यज्ञ किए जाते थे, उन में इंद्र के लिए बैल पकाए जाते थे, ऐसा ऋग्वेद से पता चलता है:

अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्त्सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वमेषाम्.
पचन्ति ते वृषभां अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः.
—ऋग्वेद 10/28/3

अर्थात हे इंद्र, अन्न की कामना से जिस समय तुम्हारे लिए हवन किया जाता है, उस समय यजमान जल्दीजल्दी पत्थर के टुकड़ों पर सोमरस तैयार करते हैं. उसे तुम पीते हो. यजमान बैल पकाते हैं, तुम उन्हें खाते हो.

ऋग्वेद (7/19/8) में दिवोदास नामक एक वैदिक राजा का उल्लेख मिलता है. उस के नाम के साथ 'अतिथिग्व' विशेषण मिलता है. इस का अर्थ 'अतिथि के लिए गौ मारने वाला' किया गया है. (वैदिक कोश. पृ. 374)

यजुर्वेद में गाय की चरबी से पितरों को तृप्त करने और परिणामस्वरूप कामनाएं पूरी होने की बात कही गई है:

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थनिहितान्पराके.
मेदसः कुल्या उप तान्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सन्नमन्तां स्वाहा.

–यजुर्वेद 35/20

महीधर भाष्य

हे जातवेदः, जातं वेदो धनं यस्मात् स जातवेदाः तत्संबोधने हे जातवेदः, पितृभ्योर्थाय त्वं वपां धेनुसंबन्धि चर्मविशेषं त्वं वह प्रापय. पराके पराक्रान्ते दूरेऽपि यत्र यस्मिन्देशे निहितान्स्थापितानेनान्पितृन् त्वं वेत्थ जानासि तत्र वहेत्यर्थः. तस्याः वपायाः निःसृत्य मेदसः धातुविशेषस्य कुल्याः नद्यः तान् पितृन् प्रति उपस्रवंतु प्रसरंतु, किंच एषां दातृणामाशिषः मनोरथाः सत्याः अवितथाः सन्नमंतां प्रह्वीभवंतु स्वाहा, सुहुतमस्तु.

अर्थात हे जातवेद, पितरों के लिए तुम गाय के चर्म विशेष को ले जाओ. तुम दूर स्थित पितरों को जानते हो. उस चर्म विशेष से निकलने वाली मज्जा (चरबी) की नदियां पितरों की ओर बहें और उन के लिए दान करने वालों की सब कामनाएं पूरी हों.

ऋग्वेद के नौवें मंडल के चौथे सूक्त के प्रथम मंत्र के भाष्य की उत्थानिका (भूमिका) में चारों वेदों के भाष्यकार सायण ने लिखा है:

ब्राह्मणो वृषभं हत्वा तन्मांसं भिन्न-भिन्नदेवताभ्यो जुहोति. तत्र वृषभस्य प्रशंसा तदंगानां च कतमानि कतमदेवेभयः प्रियाणि भवन्ति तद् विवेचनम्. वृषभबलिहवनस्य महत्त्वं च वर्ण्यते. तदुत्पन्नं श्रेयश्च स्तूयते

–ऋग्वेद 9/4/1 पर सायणभाष्य

अर्थात ब्राह्मण वृषभ (बैल) को मारकर उस के मांस से भिन्नभिन्न देवताओं के लिए आहुति देता है. इस में वृषभ की प्रशंसा और उस के अंगों में से कौनकौन सा अंग किसकिस देवता के लिए प्रिय है–इस का विवेचन किया गया है और वृषभ की बलि दे कर हवन करने के महत्त्व का व उस से प्राप्त होने वाले श्रेय का वर्णन किया गया है.

बैलों की बलि

शतपथ ब्राह्मण (3/4/1/2) में लिखा है कि अतिथि के लिए महोक्ष (बड़ा बैल) मारना चाहिए. तैत्तिरीय ब्राह्मण (2/7/11/1) से पता चलता है कि अगस्त नामा एक यज्ञकर्ता ने 100 बैलों की बलि दी थी. यही बात पंचविंश ब्राह्मण (21/14/5) में कही गई है.

'शतपथ ब्राह्मण' (3/1/2/21) में पुरोहितों के इस परस्पर विवाद पर कि मांस बैल का खाना चाहिए या गाय का, याज्ञवल्क्य कहता है:

अश्नाम्येव अहं अंसलं चेद् भवतीति.

−3/1/2/21

अर्थात 'दोनों में से जो नरम हो, उसे मैं खा लेता हूं.'

गृह्यसूत्रों में शूलगव नामक यज्ञ का विधान है. काठक गृह्यसूत्र के व्याख्याता देवपाल के अनुसार इस संज्ञा का कारण इस में प्रयोज्य सामग्री शूल पर पकाए गए गौ के अंग होते हैं. आश्वलायन गृह्यसूत्र के व्याख्याकार नारायण के मत में इस कर्म के रुद्र से संबद्ध होने के कारण इसे शूलगव कहते हैं. इस में सांड़ का संज्ञपन (= नाकमुंह आदि बंद कर के, पशु को मारना संज्ञपन कहलाता है) कर के रुद्र के लिए यजन किया जाता है. पशु की पूंछ, खाल, सिर तथा पाद अग्नि में होम किए जाते हैं. पशु के रक्त को सर्पों के लिए अर्पित किया जाता है. बाद में एक बछड़ा भावी शूलगव के लिए छोड़ दिया जाता है.

बौधायन गृह्यसूत्र के अनुसार अरण्य में स्थापित अग्नि में गौ की वपा (चरबी) और मांसखंड़ों को शूलों पर भूनकर एक छोटे पात्र में पकाया जाता है तथा अग्नि के भिन्नभिन्न भागों में भिन्नभिन्न देवीदेवताओं के निमित्त आहुतियां दी जाती हैं. बौधायन गृह्यसूत्र (2/7) में शूलगव के समय गोबलि का विधान किया गया है.

कुछ लोगों का कहना है कि गोमेध का अर्थ गौ को मारना नहीं बल्कि गौओं को पालना था. यह बात प्राचीन प्रमाणों की विद्यमानता में एक कपोल कल्पना के अतिरिक्त ज्यादा महत्त्व नहीं रखती. जब ब्राह्मण ग्रंथों में स्पष्ट तौर पर पशु के प्रत्येक अंग को काट कर भिन्नभिन्न पुरोहितों और यजमानों में बांटने का जिक्र है तब इसे गोवध न कह कर और क्या कहा जा सकता है?

कुछ लोग वेद के कुछ ऐसे स्थलों को प्रमाणस्वरूप उद्धृत करते हैं जिन में गाय के साथ 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) विशेषण है. उस विशेषण से वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि गाय मारी नहीं जाती थी. परंतु उन का यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसे स्थलों में सिर्फ गाय विशेष के वध का निषेध है, न कि सभी गौओं के वध का निषेध है. उदाहरण के लिए निम्नलिखित मंत्र देखा जा सकता है:

दुहामश्विभ्यां पगो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय.

−ऋ. 1/164/27

अर्थात "यह गौ दोनों अश्विनीकुमारों के लिए दूध देती है. यह हमारा सौभाग्य बढ़ाए. यह मारने के योग्य नहीं है." यहां 'इमं' (यह) शब्द से गाय विशेष का बोध कराया गया है. बनारस हिंदू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'वैदिक कोश' में कहा गया है कि अघ्न्या कहे जाने के बावजूद गाय मारी जाती थी. धर्मशास्त्रों के पंडित डा. पांडुरंग वामन काणे ने लिखा है: "ऐसा नहीं था कि वैदिक समय में गौ पवित्र नहीं थी. उस की 'पवित्रता' के ही कारण वाजसनेयी संहिता (अर्थात यजुर्वेद) में यह व्यवस्था दी गई है कि गोमांस खाना चाहिए." (धर्मशास्त्र विचार, मराठी, पृ. 180)

वैदिक युग में गोमांसाहार

वैदिक युग में गोमांसाहार की विद्यमानता के कारण ही स्वामी विवेकानंद ने उसे 'स्वर्णयुग' कहा था. स्वामी विवेकानंदजी के जीवनीकार स्वामी निखिलानंद ने लिखा है: "स्वामी विवेकानंद ने पुराणपंथी ब्राह्मणों को उत्साहपूर्वक बतलाया कि वैदिक युग में गोमांसाहार प्रचलित था. जब एक दिन उन से पूछा गया कि भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कौनसा काल था तो उन्होंने कहा कि वैदिक काल स्वर्णयुग था, जब "पांच ब्राह्मण एक गाय चट कर जाते थे." (देखें, स्वामी निखिलानंद कृत 'विवेकानंद ए बायोग्राफी.' पृष्ठ 96)

उपनिषदों में भी गोमांस खाने का विधान मिलता है. 'बृहदारण्यकोपनिषद्' (6/4/18) में लिखा है:

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पंडितो विगीतः समतिंगमः शुश्रूषितां वाचं भषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रवीत् सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा.

अर्थात जो यह चाहे कि मेरा पुत्र सभाओं में वाग्मी (धाराप्रवाह बोलने वाला), सब वेदों में पारंगत हो तथा शतायु हो, उसे चाहिए कि वह और उस की पत्नी बैल व सांड़ का मांस पका कर घी और भात मिला कर खाएं.

कुछ लोग उपनिषद में आए बैल या सांड़ वाचक शब्दों–औक्ष, आर्षभ–का अर्थ बदलने की कोशिश करते हैं. कई पुराणपंथी पंडितों ने इन शब्दों का अर्थ जड़ीबूटियां किया है, लेकिन उन के ऐसे प्रयास न सिर्फ प्राचीन टीकाकारों और भाष्यकारों के विपरीत हैं, बल्कि उपहासास्पद भी हैं.

यह खुशी की बात है कि बृहदारण्यक उपनिषद पर एक ऐसे विद्वान का भाष्य विद्यमान है, जिसे लगभग 12-13 सौ साल पहले वेदविरोधी बुद्धमत को भारत से 'समूल नष्ट करने' व हिंदू धर्म की जड़ों को फिर से गहरे गाड़ने का श्रेय दिया जाता है. उस के प्रतिनिधि आज भी भारत की चार दिशाओं में धर्म के सर्वोच्च अधिकारियों के रूप में विद्यमान हैं.

वह व्यक्ति था–आदि शंकराचार्य. उस द्वारा किए हुए अर्थ आज तक सर्वमान्य चले आ रहे हैं. उन अर्थों के प्रकाश में 'औक्ष' और -'आर्षभ' शब्दों के अर्थों से किया जा रहा खिलवाड़ अपनेआप नग्न हो जाता है. शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद के इस विवादास्पद स्थल पर भाष्य करते हुए लिखा है:

'मांसमिश्रमोदनं मांसौदनम्. तन्मांसनियमार्थमाह–औक्षेण वा मांसेन. उक्षा सेचनसमर्थः पुंगवस्तदीयं मांसम्. ऋषभस्ततोऽप्यधिकवयास्तदीयमार्षभं मांसम्."

–बृहदारण्यकोपनिषद्, 6-4-18 पर शंकरभाष्य

अर्थात मांसमिश्रित ओदन (भात) को मांसौदन कहते हैं. वह मांस किस का होना चाहिए, इस बारे में कहा है–उक्षा का. उक्षा का अर्थ है–वीर्य सिंचन में समर्थ

बैल. उस का मांस होना चाहिए, या ऋषभ का. ऋषभ उक्षा से ज्यादा उमर के बैल को कहते हैं.

इस से अर्थ बदलने वालों के लिए जरा भी अवकाश नहीं रह जाता. स्पष्ट है कि उपनिषदों में वेदज्ञ, दीर्घायु और वाक्पटु पुत्र के चाहने वालों के लिए बैल के मांस को खाने का विधान है.

गृह्यसूत्रों में मधुपर्क का विधान है. मधुपर्क के संदर्भ में गृह्यसूत्रों में गाय को मारने और उसे खाने का उल्लेख मिलता है. कुछ गृह्यसूत्रों से संबंधित अंश इस प्रकार हैं:

'आपस्तंब गृह्यसूत्र' में लिखा है कि 'जब वेदज्ञ ब्राह्मण, कोई स्नातक या आचार्य घर पर आए, उस का 'मधुपर्क' से सम्मान करे. यदि वह आज्ञा दे तो 'गौरस्यपहतपा' इत्यादि मंत्र पढ़ कर उसे मार कर आगंतुक को दे.' (13-5-15 से 17)

'पारस्कर गृह्यसूत्र' (अर्हण प्रकार निरूपण) में लिखा है: 'आचार्य, ऋत्विक्, वैवाह्य, राजा, प्रियजन और स्नातक आदि उत्कृष्ट जाति के हों अथवा समान जाति के, वे अर्घ्य (पूज्य) होते हैं. इन में से कोई जब किसी के घर आए तो गृहपति को चाहिए कि उस का मधुपर्क आदि के द्वारा सत्कार करे. सत्कार मांस के बिना नहीं होता. अतः इस के लिए गवालंभ (गोवध करना) करने को कहा है. मधुपर्क प्राशन हो जाने पर गृहपति खड्ग और गौ पूज्य व्यक्ति के सामने करे. अर्घ्य, यदि मांस खाने वाला हो तो मारने की आज्ञा दे. यदि वह निरामिषभोजी हो तो छोड़ देने की आज्ञा दे. यज्ञ और विवाह में छोड़ने की आज्ञा नहीं देनी चाहिए...' (देखिए, उत्तर रामचरित, चौखंभा प्रकाशन, वाराणसी, 1966 का संस्करण, पृ. 406 पर काशी हिंदू विश्वविद्यालय के संस्कृत प्राध्यापक कांतानाथ शास्त्री तैलंग की टिप्पणी).

तीन या चार अष्टका श्राद्धों में से किसी में एक गाय काटने की व्यवस्था थी. (देखें, खदिर गृह्यसूत्र 3/4/1, गोभिल गृह्यसूत्र 33/10/16).

कुछ लोग कहते हैं कि मधुपर्क में मधु, दही आदि दिए जाते थे, न कि मांस. गोमांस के मधुपर्क में दिए जाने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता.

यह बात विद्यमान गृह्यसूत्रों के कथनों के सर्वथा विपरीत है, क्योंकि मानव गृह्यसूत्र (1-9-22) में स्पष्ट लिखा है: 'नामांसो मधुपर्क इति श्रुतिः.' अर्थात मधुपर्क मांसरहित हो ही नहीं सकता, ऐसा वेदों का मत है.

दूसरे, हमारे पास एक ऐसा प्रमाण मौजूद है जिस में संदेह के लिए कोई अवकाश रह ही नहीं जाता. वह प्रमाण है ऐसे व्यक्ति की रचना, जो शंकराचार्य से भी पहले या उस के समकालीन युग में वैदिक कर्मकांड को फिर से स्थापित करने वाले कुमारिल भट्ट का शिष्य था. यह व्यक्ति था भवभूति. भवभूति ने अपने विख्यात संस्कृत नाटक 'उत्तररामचरितम्' के चतुर्थ अंक के विष्कंभक में लिखा है कि वाल्मीकि के आश्रम में जब वसिष्ठ पहुंचे तो उन का सत्कार दो वर्ष की बछिया के मांस से किया गया.

इस पर वाल्मीकि के एक शिष्य सौधातकि को बहुत रोष हुआ. वह अपने सहपाठी भांडायन से कहता है, "यह वसिष्ठ तो कोई बाघ या भेड़िया है, क्योंकि यह

आते ही उस बेचारी कल्याणिका (बछिया) को चट कर गया." इस पर उस का सहपाठी शास्त्रसम्मत उत्तर देते हुए कहता है:

समांसो मधुपर्क इत्याम्नायं बहुमन्यमाना: श्रोत्रियाभ्यागताय वत्सरीं महोक्षं महाजं वा निर्वपन्ति गृहमेधिन:, तं हि धर्म्मसूत्रकारा: समामनंति.

अर्थात मधुपर्क मांसयुक्त होना चाहिए, इस वेदवचन का बहुत सम्मान करते हुए गृहस्थगण वेदज्ञ अतिथि के लिए बछिया व बड़ा बैल अथवा बड़ा बकरा भेंट करते हैं. इस वेदवचन को धर्मसूत्रों के रचने वाले भी अच्छी तरह मानते हैं.

इस स्थल की व्याख्या करते हुए 'चंद्रकला' नामक संस्कृत व्याख्या में 'याज्ञवल्क्य स्मृति' का एक श्लोकार्ध उद्धृत किया गया है–'महोक्षं व महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत.' **अर्थात बड़ा बैल या बड़ा बकरा वेद के विद्वान के निमित्त करे, उस के लिए खाने को जुटाए (देखें, 'उत्तररामचरितम्,' चंद्रकला व्याख्या सहित, चौखंभा प्रकाशन वाराणसी, पांचवां संस्करण, पृ. 207).**

इसी बात को और ज्यादा स्पष्ट करते हुए वसिष्ठ स्मृति में कहा गया है:

अथापि ब्राह्मणाय वा राजन्याय वा अभ्यागताय वा
महोक्षं वा महाजं वा पचेत्. एवमस्यातिथ्यं कुर्वन्तीति

–अ. 4

अर्थात अपने यहां यदि ब्राह्मण अथवा राजा अतिथि बने तो उस के लिए एक बड़ा बैल या बड़ा बकरा पकाना चाहिए. इस तरह अतिथि का सत्कार किया करते हैं.

झुठलाने का असफल प्रयास

कुछ लोग स्मृतियों में आए 'महोक्षं' अथवा 'महाजं' शब्दों का अर्थ औषधि विशेष बताते हैं. यह उन द्वारा अपने पूर्वजों को गोहत्या के 'पाप' से मुक्त कराने के वृथा प्रयास में झूठ बोलने का पाप अपने सिर लेने से अधिक और कुछ नहीं, क्योंकि वत्सरी (बछिया), महोक्ष (बड़ा बैल) या महाज (बड़ा बकरा) शब्दों का अर्थ यदि भवभूति को औषधि विशेष अभिप्रेत होता तो उसे खाने पर उस का एक पात्र वसिष्ठ की उपमा बाघ से न करता. क्या बाघ उक्त औषधि विशेष को खाते हैं? क्या चरक व सुश्रुत संहिता में बाघ का उक्त औषधि विशेष को खाना लिखा है?

दूसरे, 'वसिष्ठ स्मृति' के पूर्वोद्धृत श्लोक के पूर्ववर्ती श्लोक भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि उक्त स्मृतिकार को 'महोक्ष' व 'महाज' शब्दों के अर्थ पशुविशेष से अभिप्रेत हैं, न कि औषधि विशेष से. पूर्ववर्ती श्लोक इस प्रकार हैं:

पितृदेवातिथिपूजायां पशुं हिंस्यात्.
मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि. यज्ञे वधोऽवध:.

अर्थात पितृ, देव और अतिथि पूजा के अवसर पर मधुपर्क, यज्ञ और पितृकर्म

(श्राद्ध) व देव कर्म में पशु की हिंसा करे. यज्ञ में किया गया वध, वध नहीं होता.

अतः इन श्लोकों के बाद आए 'महाज' और 'महोक्ष' शब्द निःसंदेह 'बड़े बकरे' और 'बड़े बैल' के वाचक हैं.

एक बात और, संस्कृत में प्राचीन काल से अतिथि का पर्यायवाचक एक शब्द है—गोघ्न. इस का सीधा अर्थ है—गौ को मारने वाला. परंतु इस का पारिभाषिक अर्थ है: वह जिस के लिए गौ मारी जाए. यह शब्द इस तथ्य का परिचायक है कि अतिथि के लिए गौ मारी जाती थी. अतिथि के साथ गोवध का बहुत समय तक सीधा संबंध रहने के कारण दोनों में तादात्म्य स्थापित हो गया और अतिथि के लिए 'गौ मारने/मरवाने वाला' (गोघ्न) शब्द प्रचलित हो गया.

आपस्तंब धर्मसूत्र में कहा गया है कि श्राद्ध में यदि गौ का मांस परोसा जाए तो पितरों की एक साल के लिए तृप्ति हो जाती है. विभिन्न मांसों से होने वाली तृप्ति की विभिन्न अवधियां बताते हुए आपस्तम्ब ने लिखा है:

संवत्सरं गव्येन प्रीतिः, भूयांसमतो माहिषेण,
एतेन ग्राम्यारण्यानां पशूनां मांसं मेध्यं व्याख्यातम्.
खड्गोपस्तरणे खड्गमांसेनानन्त्यं कालम्.
तथा शतबलेर्मत्स्यस्य मांसेन वाध्रीणसस्य च.

—आ. ध. सू. 2/7/16/25 एवं 2/7/17/3

अर्थात श्राद्ध में गोमांस खिलाने से पितर एक वर्ष के लिए संतुष्ट हो जाते हैं. भैंस का मांस खिलाने से वे उस से भी ज्यादा समय के लिए संतुष्ट होते हैं. यही नियम खरगोश आदि जंगली पशुओं और बकरी आदि ग्रामीण पशुओं के मांस के विषय में है. यदि गैंडे के चर्म पर ब्राह्मणों को बैठा कर गैंडे का ही मांस खिलाया जाए तो पितर अनंत काल के लिए संतुष्ट हो जाते हैं. यही बात 'शतबलि' नामक मछली के मांस के विषय में है.

कुछ ऐसा ही वचन महाभारत में भी आया है:

गव्येन दत्तं श्राद्धे तु संवत्सरमिहोच्यते.

—अनुशासन पर्व, 88/5

अर्थात गौ के मांस से श्राद्ध करने पर पितरों की एक साल के लिए तृप्ति होती है.

पुराणों और स्मृतियों में श्राद्ध में परोसे गए मांस को न खाने वाले के लिए नरकगमन लिखा है. मनु ने लिखा है:

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांस नात्ति मानवः.
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम्..

—मनु. 5/35

अर्थात जो श्राद्ध और मधुपर्क में परोसे गए मांस को नहीं खाता, वह मर कर 21 जन्मों तक पशु बनता है.

क्रतौ श्राद्धे नियुक्तो वा अनश्नन् पतति द्विजः.

—मनु. 3/55

अर्थात यज्ञ और श्राद्ध में जो द्विज मांस नहीं खाता, वह पतित हो जाता है.

ऐसी ही बात कूर्मपुराण (2/17/40) में कही गई है. विष्णुधर्मोत्तरपुराण (1/40/49-50) में कहा गया है कि जो व्यक्ति श्राद्ध में भोजन करने वालों की पंक्ति में परोसे गए मांस का भक्षण नहीं करता, वह नरक में जाता है. (देखें, धर्मशास्त्रों का इतिहास, जिल्द 3, पृ. 1244)

महाभारत में गौओं के मांस के हवन से राज्य को नष्ट करने का जिक्र है. दाल्भ्य की कथा में आता है:

यदृच्छया मृता दृष्ट्वा गास्तदा नृपसत्तम
एतान् पशून् नय क्षिप्रं ब्रह्मबंधो यदीच्छसि
स तूत्कृत्य मृतानां वै मांसानि मुनिसत्तमः
जुहाव धृतराष्ट्रस्य राष्ट्रं नरपतेः पुरा.
अवाकीर्णे सरस्वत्यास्तीर्थे प्रज्वाल्य पावकम्
बको दाल्भ्यो महाराज नियमं परमं स्थितः.
स तैरेव जुहावास्य राष्ट्रं मांसैर्महातपाः..
तस्मिंस्तु विधिवत् सत्रे संप्रवृत्ते सुदारुणे.
अक्षीयत ततो राष्ट्रं धृतराष्ट्रस्य पार्थिव..

—महाभारत, शल्यपर्व, 41/8–9, 11–14

अर्थात इन मृत गौओं को यदि ले जाना चाहते हो तो ले जाओ. दाल्भ्य ने उन मृत गौओं का मांस काटकाट कर सरस्वती के किनारे अवाकीर्ण नामक तीर्थस्थल पर अग्नि जला कर हवन किया. विधिपूर्वक यज्ञ के संपन्न होने पर राजा धृतराष्ट्र का राज्य क्षीण हो गया.

शांतिपर्व में राजा विचरक्षु कटे हुए वृक्षों की तरह यज्ञ में कटे पड़े बैलों को देख कर और गौओं का विलाप सुन कर विचलित हो जाता है और उन के प्रति दया दिखाते हुए कहता है—गौओं का कल्याण हो.

छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम्.
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः
स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोके ततो निर्वचनं कृतम्.

—महाभारत, शांतिपर्व 365/1–3

महाभारत में रंतिदेव नामक एक राजा का वर्णन मिलता है जो गोमांस परोसने के कारण यशस्वी बना. महाभारत, वन पर्व (अ. 208 अथवा अ. 199) में आता है:

राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज.
द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं तदा.

अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा..
समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः.
अतुला कीर्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम.

–महाभारत, वनपर्व 208 199/8–10

अर्थात राजा रंतिदेव की रसोई के लिए दो हजार पशु काटे जाते थे. प्रतिदिन दो हजार गौएं काटी जाती थीं.

मांससहित अन्न का दान करने के कारण राजा रंतिदेव की अतुलनीय कीर्ति हुई.

इस वर्णन को पढ़ कर कोई भी व्यक्ति समझ सकता है कि गोमांस दान करने से यदि राजा रंतिदेव की कीर्ति फैली तो इस का अर्थ है कि तब गोवध सराहनीय कार्य था, न कि आज की तरह निंदनीय.

एक और पैंतरा

जो लोग आज ऐसे अनेक स्थलों के अर्थ किसी न किसी तरह बदलने की कोशिश करते हैं, वे भी पूर्वोद्धृत श्लोकों के अर्थ बदलने में अपने को पूर्णतया असमर्थ पाते हैं. यही कारण है कि उन्होंने इस स्थल के विरोध में एक और पैंतरा बदला है. उन का कहना है कि ये श्लोक सब प्रतियों में नहीं मिलते, अतः ये विधर्मियों द्वारा बाद में मिलाए गए हैं. लेकिन उन की यह बात सही नहीं, क्योंकि ये श्लोक शोधपूर्ण संस्करणों में मिलते हैं. उदाहरण के लिए ये श्लोक चित्रकला संस्करण के 208 वें अध्याय में हैं, और भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट संस्करण के 199 अध्याय में हैं. भारतीय विद्या भवन, मुंबई के प्रसिद्ध प्रकाशन, 'द हिस्ट्री एंड कलचर आफ दि इंडियन पीपल' में भी, जिस के मुख्य संपादक आर. सी. मजुमदार हैं, इन श्लोकों की वैधता स्वीकार की गई है. इस पुस्तक की जिल्द 2 में लिखा है: "महाभारत में आता है कि राजा रंतिदेव लोगों को मांस भेंट करने के लिए प्रतिदिन दो हजार सामान्य पशु और दो हजार गौएं मारा करता था." (पृ. 579)

दूसरे, रंतिदेव का उल्लेख महाभारत में अन्यत्र भी आता है. शांति पर्व, अध्याय 29, श्लोक 123 में आता है कि राजा रंतिदेव ने गौओं की जो खालें उतारीं, उन से रक्त चूचू कर एक महानदी बह निकली थी. वह नदी चर्मण्वती (चंबल) कहलाई.

महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात् संसृजे यतः.
ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी..

कुछ लोग इस सीधेसादे श्लोक का अर्थ बदलने से भी बाज नहीं आते. वे इस का अर्थ यह कहते हैं कि चर्मण्वती नदी जीवित गौओं के चमड़े पर दान के समय छिड़के गए पानी की बूंदों से बह निकली.

इस कपोलकल्पित अर्थ को शायद कोई स्वीकार कर ही लेता यदि कालिदास का 'मेघदूत' नामक प्रसिद्ध खंडकाव्य हमारे पास न होता. 'मेघदूत' में कालिदास ने एक जगह लिखा है–

व्यालंबेथाः सुरभितनयाऽऽलम्भजां मानयिष्यन्.
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रंतिदेवस्य कीर्तिम्.

यह पद्य पूर्वमेघ में आता है. विभिन्न संस्करणों में इस की संख्या 45 या 48 या 49 है. इस का अर्थ है: "हे मेघ, तुम गौओं के आलंभन (कत्ल) से धरती पर नदी के रूप में बह निकली राजा रंतिदेव की कीर्ति पर अवश्य झुकना."

इस में स्पष्ट तौर पर गौओं के आलंभन (कत्ल) के परिणामस्वरूप नदी के बहने का उल्लेख है. कुछ लोग इस पर भी कह सकते हैं कि आलंभ का अर्थ कत्ल नहीं है. उन्हें 'मेघदूत' के प्राचीन टीकाकार (समय लगभग 14वीं सदी) मल्लिनाथ की इस स्थल पर की गई टीका देखनी चाहिए.

मल्लिनाथ ने लिखा है:

पुरा किल राज्ञो रंतिदेवस्य गवालंभेष्वेकत्र संभृताद् रक्तनिष्यंदाच्चर्मराशेः काचिन्नदी सस्यन्दे. सा चर्मण्वतीत्याख्यायत इति.

अर्थात प्राचीन काल में राजा रंतिदेव ने गौओं का आलंभ (कत्ल) किया. उस के परिणामस्वरूप इकट्ठी हुई खालों से रक्त का प्रवाह नदी की तरह बहने लगा. वह रक्त की नदी चर्म (खालों) से बही थी, अतः 'चर्मण्वती' कहलाई.

महाभारत में भी अन्यत्र रंतिदेव के प्रसंग में 'आलंभ' शब्द का प्रयोग मिलता है. वहां लिखा है कि एक दिन राजा रंतिदेव के बहुत से मेहमान आ गए, अतः उस ने 20,100 गौएं कत्ल कीं:

सांकृते रंतिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे.
आलभ्यंत शतं गवां सहस्राणि चैक विंशतिः..

–शांतिपर्व, 29/179

लेकिन अर्थ बदलने को तत्पर धर्मरक्षक बंधु 'आलंभ' का अर्थ बदलते हुए कहते हैं कि आलंभ' का अर्थ है–"हाथ से छू कर दान कर देना, न कि कत्ल करना." इस अर्थ को स्वीकारा जा सकता था, बशर्ते कि धर्मशास्त्रों में कुछ एक श्लोक विशेष न मिलते. लेकिन क्योंकि वे श्लोक विशेष मिलते हैं, और उन के अर्थ सब लोग एक समान करते हैं–अर्थ बदलने वाले भी और हमारे जैसे दूसरे भी–अतः कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति 'छू कर दान देना' अर्थ स्वीकार नहीं कर सकता. वे श्लोक हैं परवर्ती काल में रचित स्मृतियों के. इन में कई ऐसे संस्कारों व रिवाजों की गणना की गई है कि जिन्हें कलियुग में निषिद्ध ठहराया गया है. आपस्तंब कल्पसूत्र पुराण में कहा गया है:

अश्वालंभं गवालंभं संन्यासं पलपैतृकम्.
देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पंच विवर्ज्जयेत्.

अर्थात 'अश्व का आलंभ, गौ का आलंभ, संन्यास, श्राद्ध में मांस परोसना, देवर से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करवाना–इन पांचों को कलियुग में न करे.' यह श्लोक ब्रह्मवैवर्तपुराण (अ. 115/112-13) में भी मिलता है.

धर्म ग्रंथों में हत्या के प्रसंग

इस श्लोक को संस्कृत के एक प्राचीन शब्दकोश 'शब्दकल्पद्रुम' में भी उद्धृत किया गया है, और 'आलंभ' का अर्थ उसी कोश में एक अन्य प्राचीन कोश–'अमरकोष' के हवाले से 'मारना' या 'वैध करना' लिखा गया है. कलियुग में उपर्युक्त पांचों के निषेध का कारण इन का आपत्तिजनक होना ही है. यदि इस में 'गवालंभ' का अर्थ 'गौ का वध करना' न हो कर उसे 'छू कर दान कर देना' ही होता तो इसे कलियुग में वर्जित न किया जाता, क्योंकि गोदान का विधान तो धर्म ग्रंथों में बहुत मिलता है, और वह दान अपने हाथ से ही किया जाता है, गौ का दान करने वाला अपने हाथ से ही दान ग्रहण करने वाले ब्राह्मण के हाथ में गाय देता है.

एक अन्य ग्रंथ 'बृहन्नारदीय' में लिखा है:

.....मधुपर्के पशोर्वधः, मांसौदनं तथा श्राद्धे,
नरमेधाश्वमेधकौ....गोमेधं मखं तथा,
इमान् धर्म्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुः मनीषिणः.

अर्थात मधुपर्क में पशु मारना, श्राद्ध में मांस और भात देना, नरमेध, अश्वमेध और गोमेध मख (यज्ञ) करना–ये सब कलियुग में वर्जित हैं.

यहां 'गोमेध' मख को कलिवर्ज्य लिखा है. 'मेध' का अर्थ है–हिंसा या वध. यह मेध् धातु से बना है, जो हिंसा वाचक है. गोमेध का अर्थ हुआ–गाय का वध. 'गोमेध मख' का अर्थ हुआ–ऐसा यज्ञ जिस में गाय का वध होता हो. स्पष्ट है, 'गवालंभ' का अर्थ है–गौओं को मारना. इस गोवध के कारण ही गवालंभ/गोमेध यज्ञ को कलियुग के लिए निषिद्ध घोषित किया गया है.

जिस तरह हिंदू ग्रंथों में गौओं और बैलों की हत्या के प्रसंग मिलते हैं, ऐसे ही बौद्ध साहित्य में भी मिलते हैं. बौद्ध जातकों में से ऐसे दो प्रसंग निम्नलिखित हैं:

एक निर्ग्रंथ (जैन) साधु बन गया. वहां पांच सौ विद्यार्थी अध्ययन करते थे. वह साधु गोह, बछड़ा और गाय मार कर खा गया. आश्रम में गाय थी और उस का एक बछड़ा भी था. पास में ही बिल में गोह रहती थी. उस ने सब को खा डाला. (त्तित्तिर जातक, पृ. 438).

जातक युग का हत्यारा

बैल की हत्या कर के यज्ञ करने का उल्लेख भी बौद्ध साहित्य में मिलता है. एक ब्राह्मण था जो वेदों का परम विद्वान था. उस ने वन में एक कुटिया बनाई. वहां अग्नि की स्थापना कर के और बैल मार कर उस ने उस के मांस की आहुति देने का निश्चय किया. कुछ शिकारी आए और ब्राह्मण की अनुपस्थिति में बैल को मार कर खा गए. ब्राह्मण गांव की ओर नमक लाने गया था. बैल को मार कर वह खाता ही, इसीलिए उस ने नमक के जुगाड़ को वाजिब समझा. उस की वह साध भी पूरी न हुई! बैल की हत्या कर के अग्निपूजा करना कोई विचित्र बात नहीं है. जहां फल, मूल, अन्न से भी

मांस सस्ता हो और सभी मांस खाते हों, वहां बैल, गाय, सूअर, गोह आदि का कोई महत्त्व नहीं. (नड्जुट्ठजातक, पृ. 144)

'जातक कालीन भारतीय संस्कृति' के लेखक का मत है: "जातक कथाओं में बैल गौ मारने वाले ब्राह्मण ही हैं. एक भी क्षत्रिय बैल या गऊ का वध पूजा या भोजन के लिए नहीं करता, वैश्य भी नहीं और न शूद्र या चांडाल ही गोहत्या करते हैं. ब्राह्मण ही जातक युग का गोहत्यारा वर्ण है." (पृ. 216).

ऊपर के प्रमाणों से, जो वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों, गृह्यसूत्रों, धर्मशास्त्रों आदि से लिए गए हैं, यह निःसंदेह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में गोहत्या और गोमांसाहार का प्रचलन था.

लेकिन आज हिंदू धर्म में इन दोनों को महापाप समझा जाता है. ऐसा कब से और क्यों है, यह प्रश्न स्वाभाविक तौर पर दिमाग में तैरने लगता है. इस का उत्तर बहुत सरल है. डाक्टर भीमराव अंबेडकर ने अपने शोध ग्रंथ 'द अनटचेबल्स' (पृष्ठ 148-154) में इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया है. उन्होंने लिखा है कि यह ब्राह्मणों की युद्धनीति का एक अंग है कि वे गोमांसाहारी न बने रह कर गोपूजक बन गए. 'गोपूजा' के रहस्य का मूल बौद्धों और ब्राह्मणों के मध्य 400 वर्षों तक चले संघर्ष में तथा उन उपायों में खोजना होगा जो ब्राह्मणों ने बौद्धों से बाजी मार ले जाने के लिए किए. यज्ञों में गोवध का विरोध कर के बौद्धों ने जनता के हृदय में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था. उन्हें हराने का एक ही तरीका था कि वे उन से एक कदम आगे बढ़ कर शाकाहारी बन जाते. वे शाकाहारी बने और जीते. इस का प्रमाण यह है कि गोहत्या गुप्त राजाओं के राज्यकाल में अपराध घोषित की गई थी.

डी. आर. भंडारकर का कहना है, "इस बात का हमारे पास शिलालेखों का अकाट्य प्रमाण है कि गोहत्या पांचवीं शताब्दी में भयानक पाप बनी. सब से पहला ऐसा उल्लेख गुप्त राजा स्कंदगुप्त के 465 ईसवी के ताम्रपत्र लेख में है." (सम आस्पैक्टस आफ एंशेंट कलचर (1940) पृ. 78) इस काल से पहले के धर्मशास्त्रों में गाय की हत्या अपराध नहीं थी. इसीलिए वसिष्ठ का कथन है:

'धेन्वनड्वाहौ मेध्यौ वाजसनेयने'

अर्थात वाजसनेय (यजुर्वेदियों) के मत में गाय और बैल मेध्य अर्थात भक्ष्य हैं. इसी प्रकार मनुस्मृति (5-18) में एक ओर दांत वालों में केवल ऊंट को अभक्ष्य कहा है–उष्ट्रांश्चैकतो दतः. इस में गाय को न केवल अभक्ष्य नहीं कहा गया, बल्कि मनुस्मृति में कई प्राचीन व्याख्याकारों ने स्पष्टतः गौ को भक्ष्य कहा है. मेधातिथि प्राचीनतम उपलब्ध भाष्यकार है उस ने लिखा है–

उष्ट्रवर्जिता एकतो दतो गोऽव्यजमृगा भक्ष्याः

–मनुस्मृति 5/18 पर मेधातिथि भाष्य

अर्थात ऊंट को छोड़ कर एक ओर दांतवालों में गाय, भेड़, बकरी और मृग भक्ष्य अर्थात खाने योग्य हैं.

एक दूसरे व्याख्याकार राघवानंद ने लिखा है–

एकतो दतः एकपंक्तिदन्तयुक्तान् गवादीन्

–मनुस्मृति 5/18 पर राघवानंद की टीका

अर्थात एक ओर दांतों की पंक्ति वालों में गाय आदि भक्ष्य हैं.

मनुस्मृति अध्याय 3 में गौ से बने मधुपर्क से पूजने की बात करती है.

तं...अर्हयेत्प्रथमं गवा

–मनु. 3/3

अर्थात उस की पहले गौ से पूजा करे.

इस पर एक प्राचीन भाष्यकार कुल्लूक भट्ट (1150-1300) ने लिखा है:

गोसाधनमधुपर्केण पूजयेत्.

अर्थात उस की गौ से बनने वाले मधुपर्क से पूजा करे.

मनुस्मृति का समय विद्वानों ने दूसरी शताब्दी के इर्दगिर्द माना है. इस के बाद धीरेधीरे गोहत्या के प्रति पापबुद्धि पैदा हुई, जिस का प्रमाण यह है कि मनुस्मृति के अध्याय ग्यारह के 59वें श्लोक में जिन मामूली पापों (उपपातकों) की सूची दी गई है, उन में गोवध को भी गिना गया है. यह श्लोक वृथा गोहत्या करने के संबंध में है, क्योंकि मनु, अध्याय पांच में एक ओर दांत वालों में सिर्फ ऊंट को अभक्ष्य घोषित करता है और शेष सब को भक्ष्य (खाने के योग्य) मानता है.

पांचवीं सदी से पूर्व

यहां यह उल्लेखनीय है कि मनु ने अध्याय 11 के श्लोक 54 में बड़े पापों (महापातकों) की भी गणना की है, लेकिन उन में गोहत्या को नहीं गिना गया है. मनु के अतिरिक्त आपस्तंब, याज्ञवल्क्य और दूसरे कई स्मृतिकारों ने भी गोहत्या को उपपातकों में ही गिना है. पांचवीं शताब्दी के लगभग गोहत्या महापाप बनी–गुरुहत्या और ब्राह्मणहत्या के तुल्य.

यहां यह संकेत करना मनोरंजक होगा कि यद्यपि पांचवीं शताब्दी के इर्दगिर्द गोहत्या महापाप बन गई थी, तथापि इस समय के बाद रचे गए पुराणों में गोवध और गोमांसाहार के कई उल्लेख मिलते हैं. संभवतः इन के लेखक वेद से ले कर पांचवीं शताब्दी से पहले तक बने ग्रंथों से प्रभावित थे, अथवा उन्होंने वे वर्णन कथानक के पांचवीं शताब्दी से पूर्व के काल से संबंधित होने के कारण किए. उदाहरणार्थ विष्णु पुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराण के निम्नलिखित स्थल देखे जा सकते हैं:

हविष्यमत्स्यमांसैस्तु शशस्य नकुलस्य च.
सौकरच्छागलैणेयरौरवैर्गवयेन च
औरभ्रगव्यैश्च तथा मांसवृद्ध्या पितामहा:.
प्रयांति तृप्तिं मांसैस्तु नित्यं वाध्रीणसामिषैः

–विष्णु पुराण 3/16/1–2

अर्थात हवि (हवन में छोड़ी जाने वाली आहुति के द्रव्य), मत्स्य (मछली), शशक (खरगोश), नकुल (नेवला), शूकर (सूअर), छाग (बकरा), कस्तूरिया मृग, कृष्ण मृग, गवय (वनगाय) और गाय के मांस से पितृगण क्रमशः एकएक मास अधिक लाभ करते हैं और गैंडे के मास से सदा तृप्त रहते हैं.

पंचकोटि गवां मांसं सापूपं स्वान्नमेव च
एतेषां च नदी राशि भुंजते ब्राह्मणान्मुने..

–ब्रह्मवैवर्त पु., प्रकृति खंड, 61/99–100

अर्थात पांच करोड़ गायों का मांस व मालपुए ब्राह्मण लोग खा गए.

प्रकृति खंड में महादेव सुयज्ञ नामक राजा का वर्णन करते हैं, जिस के राज्य में सुपक्व मांस ब्राह्मणों के लिए नित्य दिया जाता है.

सुपक्वानि च मांसानि ब्राह्मणेभ्यश्च पार्वति ..

– ब्रह्मवैवर्त पु., 50/13..

रुक्मिणी के भाई रुक्मी ने उस के विवाह की तैयारी के प्रसंग में कहा:

गवां लक्षं छेदनं च हरिणानां द्विलक्षकम्.
चतुर्लक्षम् शशानां च कूर्माणां च तथा कुरु..61..
दशलक्षं छागलानां भेटानां तच्चतुर्गुणम्..62..
एतेषां पक्वं मांसं च भोजनार्थं च कारय..63..

–ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्री कृष्णजन्मखंड, उत्तरार्ध. 105/61–63

अर्थात एक लाख गाएं, दो लाख हरिण, चार लाख खरगोश और चार लाख कछुए, दस लाख बकरे तथा उन से चौगुने भेड़ इन सब पशुओं का मांस पकवा कर भोजन तैयार करवाए.

आदि मनु के एक यज्ञ का वर्णन करते हुए 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' लिखता है:

ब्राह्मणानां त्रिकोटींश्च भोजयामास नित्यश:
पंचलक्षगवां मांसैः सुपक्वैर्घृतसंस्कृतैः.
चर्व्यैश्चोष्यैर्लेह्यपेयैर्मिष्टद्रव्यैः सुदुर्लभैः.

–ब्रह्मवैवर्त पु., प्रकृतिखंड 54/48,49

अर्थात मनु यज्ञ में तीन करोड़ ब्राह्मणों को भोजन करवाया करता था. उन्हें घी में तला और अच्छी तरह पका पांच लाख गौओं का मांस तथा दूसरे चूसने, चाटने और पीने योग्य दुर्लभ पदार्थ परोसे जाते थे.

कई लोगों का कहना है कि जोजो प्रमाण आप ने प्रस्तुत किए हैं, वे सब ठीक हैं, हमारे ग्रंथों में भी मिलते हैं; लेकिन ये वाममार्गियों द्वारा बाद में उन में घुसेड़े गए थे.

इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्राचीन भारत में ही नहीं,

बल्कि अभी पिछली कुछ सदियों तक शिक्षा परंपरागत रूप में गुरुमुख से ही प्राप्त की जाती थी. छापेखाने थे नहीं. अतः ग्रंथ गुरुओं के आश्रमों या राजाओं के पुस्तकालयों में ही रहते थे. किसी पुस्तक की एक प्रति प्राप्त करने में बहुत कठिनता का सामना करना पड़ता था. ऐसे में पुस्तक की हर प्रति में तथाकथित वाममार्गियों ने गोहत्या और गोमांसाहार विषयक श्लोक, कहानियां और अध्याय कैसे घुसेड़ दिए?

दूसरे, प्राचीन टीकाकारों और भाष्यकारों ने इन स्थानों पर निर्विकार भाव से व्याख्यान लिखे हैं और इन्हें कहीं भी प्रक्षिप्त व धर्मविरुद्ध नहीं कहा. इस के विपरीत, बीसवीं सदी के आरंभ तक स्वामी विवेकानंद जैसे प्रबल हिंदू धर्म प्रचारक इन का समर्थन करते रहे हैं. ऐसे में या तो यह मानना होगा कि भारत किसी समय सारे का सारा वाममार्गी बन गया था और हमारे पूर्वजों ने खुद ब खुद अपने ग्रंथों में परिवर्तन कर लिए थे या यह मानना होगा कि स्वामी विवेकानंद सहित दूसरे बहुत से टीकाकार व भाष्य करने वाले धर्मगुरु व धर्मप्रचारक वाममार्गी थे.

यदि पहले विकल्प को मानें तो स्वीकारना होगा कि हमारा वर्तमान हिंदू धर्म हमारे पूर्वजों के धर्म का विरोधी है और हमें प्राचीन धर्म ग्रंथ त्यागने होंगे. यदि दूसरा विकल्प मानें तो हमें स्वामी शंकराचार्य, विवेकानंद आदि धर्माचार्यों और उन की रचनाओं को नकारना होगा. लेकिन क्या तब हिंदू धर्म नाम की कोई चीज बचेगी?

तीसरा विकल्प, जो ज्यादा समीचीन प्रतीत होता है, वह यह है कि गोहत्या और गोमांसाहार एक ऐतिहासिक सच्चाई है, और इन का निषेध बौद्धों से संघर्ष के दौरान सामरिक नीति के तौर पर इतिहास के एक विशेष चरण में अपनाया गया. तब तो ब्राह्मणवाद जीत गया था, लेकिन गौ को जब सामरिक नीति के तौर पर विदेशी हमलावरों (मुसलमानों) ने प्रयुक्त किया जैसा कि प्रायः कहा जाता है, तब देश गुलाम हो गया और गोहत्यानिषेध देश को ले बैठा. आज इस के निषेध और प्रचलन पर वर्तमान परिस्थितियों के मद्देनजर पुनर्विचार होना चाहिए. इस समस्या को राजनीतिक लाभ उठाने या सांप्रदायिकता की आग भड़का कर लीडरी चमकाने के लिए प्रयुक्त करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए.

प्राचीन भारत में गोहत्या एवं गोमांसाहार

आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर

'प्राचीन भारत में गोहत्या एवं गोमांसाहार' शीर्षक लेख पर पाठकों की व्यापक प्रतिक्रिया प्राप्त हुई. एक आलोचक ने, जो नाम से स्वामी प्रतीत होते हैं, लेख को "निराधार, बेहूदा एवं अमान्य" कहा है. उन के विचार में "संदर्भ की दृष्टि से तो यह बहुत ही घटिया लेख है."

एक जगह उन्होंने लिखा है: ऋग्वेद/यजुर्वेद/अ. 7, सूक्त 104, मंत्र 2 में वह (वेद) स्वयं ही मांसाहारियों को शत्रु कैसे मान सकता है? देखिए–

'इंद्रसोमा समघशसमभ्यद्यं तपुर्यमस्तु चरुरग्निवां इव.
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरथ्चक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने.

अर्थात हे इंद्र, तुम राक्षसों को वशीभूत करो. तुम इन को अग्नि में पड़े चरु की भांति भस्म कर दो. तुम ऐसा करो जिस से ब्राह्मणों के वैरी, मांसाहारी, कटु भाषी, वक्रदृष्टि वाले राक्षसों से सदैव शत्रुता रहे.'

इसे पढ़ कर यह पता चल जाता है कि पत्र लेखक ने यह मंत्र दूसरे परान्नभोजियों और अध्यात्मवाद के नाम पर श्रद्धालुओं का शोषण करने वाले कुछ स्वामियों की भांति किसी लेख से रटा हुआ है न कि खुद वेद से पढ़ा है. यदि उन्होंने स्वयं वेद पढ़े होते तो उन्हें विदित होता कि यजुर्वेद में अध्याय, सूक्त और मंत्र नहीं हैं. रही बात ऋग्वेद की. उस में अष्टक, सूक्त और मंत्र हैं, लेकिन 7वें अष्टक में ऊपर वाला मंत्र है ही नहीं. यह मंत्र ऋग्वेद के 7वें मंडल में है.

जिस व्यक्ति को यह तक पता नहीं कि अमुक मंत्र ऋग्वेद का है या यजुर्वेद का, और जिसे वेद का ठीक से पता लिखना भी नहीं आता, वह वेदों का ज्ञाता कैसे हो सकता है? कुछ रटेरटाए मंत्रों (स्वामीजी, वेद के पद्य व गद्यांश 'मंत्र' कहलाते हैं, न कि सूक्तियां) या श्लोकों को वेदशास्त्र अनभिज्ञ परंतु श्रद्धालु जनता के सामने बोल कर अपने को या श्रद्धालुओं को धोखा दिया जा सकता है, परंतु विद्वानों को नहीं.

उपरिलिखित मंत्र और उस का अर्थ लिख कर लेख के इस आलोचक ने पूछा है–"क्या इस मंत्र से वेद का मांसाहार करने वालों के प्रति निंदनीय व्यवहार स्पष्ट नहीं है?"

इन महाशय ने मुझ से कहा है कि मैं इस का उचित सरलार्थ करूं. इस का उचित

सरलार्थ करने से पहले मैं यह निवेदन करना चाहता हूं कि पहले वेदमंत्र शुद्ध लिखना सीखना चाहिए, तब शुद्ध अर्थ हो सकता है. इन्होंने जो वेदमंत्र लिखा है, उस की पहली पंक्ति में पांच गलतियां हैं. पहली पंक्ति है:

"इंद्रासोमा समघशंसमभ्यघं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवां इव."

इसे इन्होंने इस प्रकार लिखा है:

इंदुसोमा समघशसमभ्यद्यु तपुर्यमस्तु चरुग्निवां इव."

रेखांकित स्थल अशुद्ध हैं. पांच शब्दों की एक पंक्ति में पांच गलतियां करने वाले उचित वेदार्थ क्या और कैसे जान सकते हैं?

इस मंत्र में अकेले इंद्र की स्तुति न हो कर उस के साथ ही सोम देवता की भी स्तुति की गई है. दूसरे, इस में 'क्रव्याद' की निंदा की गई है, न कि मांसाहारी की. 'क्रव्याद' का अर्थ है–'कच्चा मांस खाने वाला.' क्रव्य का अर्थ 'कच्चा मांस' है (देखें, आप्टे द्वारा संपादित, प्रैक्टिकल संस्कृतइंगलिश डिक्शनरी). इस मंत्र में ब्राह्मणों के द्वेषी और कच्चा मांस खाने वाले राक्षसों की निंदा की गई है, न कि सामान्य व्यक्ति की. सामान्य व्यक्ति का मांसाहार सिद्ध करने के लिए हम ने मूल लेख में अनेक वेदमंत्र दिए थे, जिन में से एक को भी इन्होंने छुआ तक नहीं, उन का खंडन करना तो एक ओर रहा. अपने पक्ष के मंडन में जिस एक मंत्र की दुम पकड़ी, उस में पांच अशुद्धियां, पते की गड़बड़ और अर्थ का अनर्थ किया है.

पूर्व धारणा से ग्रसित

जहां तक पांच ब्राह्मणों द्वारा एक गाय चट कर जाने की बात है, ये शब्द हमारे नहीं, ये तो स्वामी विवेकानंद जी के अंगरेजी वाक्य का अनुवाद मात्र है. इस के जिम्मेदार भी वही हैं.

यह कहना नितांत भ्रांत, अशुद्ध और बेईमानी है कि प्राचीन भारत में गोहत्या नहीं होती थी. आश्वलायन सूत्र में 'शूलगव' प्रकरण में भिन्नभिन्न रंगों की गायों के हनन का विधान है, जिसे गवामयन (एकाष्टका) कहते हैं, जो माघ मास में चार दिन मनाया जाता था. कात्यायन ने अतिरात्र (14/2/11) में इस विषय का विस्तृत वर्णन किया है.

प्राचीन भारत में होने वाले गोवध का उल्लेख धार्मिक और दूसरे साहित्य के अतिरिक्त आयुर्वेद की पुस्तकों में भी मिलता है. चरक संहिता (चिकित्सा स्थान, 19/4) में लिखा है:

> ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः.. अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामभावाद् गवालंभः प्रवर्तितः.

अर्थात दक्षयज्ञ के अनंतर, मनु के नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु, शर्याति आदि पुत्रों

के यज्ञों में 'वेदों में पशु मारने का आदेश है' ऐसा मान कर पशुओं का प्रोक्षण तथा कत्ल करना प्रारंभ हुआ. उस के पश्चात दीर्घकालीन यज्ञ करते हुए पृषध्र ने पशुओं की कमी के कारण यज्ञ में गौ का वध प्रारंभ कर दिया.

पारस्कर गृह्यसूत्र (क. 3, कां. 1, सूत्र 26 एवं 31) में अतिथि को गोघ्न (गोघाती) कहा गया है. यह शब्द संस्कृत के प्राचीन व्याकरण अष्टाध्यायी में भी मिलता है. पाणिनि ने एक विशेष सूत्र दिया है: दाशगोघ्नौ संप्रदाने (अष्टा. 3/4/73). इस का तात्पर्य यह है कि दानार्थक दाश धातु से संप्रदान अर्थ में अच् प्रत्यय होता है, एवं कर्मसंज्ञक गो उपपद रहते हिंसार्थक हन् धातु से संप्रदान अर्थ में क-प्रत्यय होता है.

'गोघ्न' यानी गौघाती की उपाधि

छठी व सातवीं शताब्दी में हुए काशिकावृत्ति के लेखकों ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है:

> आगताय तस्मै दातुं गां घ्नन्तीति गोघ्नोऽतिथिः,
> निपातनसामर्थ्यादिव गोघ्न ऋत्विगादिरुच्यते, न तु चाण्डालादि.
> असत्यपि च गोहनने तस्य योग्यतया गोघ्नः इत्यभिधीयते.
>
> –काशिका, प्रथम भाग, पृष्ठ 273–74, चौखंभा संस्कृत सीरीज प्रकाशन, वाराणसी

अर्थात 'गोघ्न' शब्द ऐसे बनता है: आए हुए अतिथि को देने के लिए, क्योंकि गाय मारी जाती है, अतः अतिथि को गोघ्न (गो हत्यारा) कहते हैं. पुरोहित आदि के आने पर भी गाय मारी जाती है, अतः उसे भी गोघ्न कहते हैं, न कि चांडाल आदि को. जब गाय न भी मारी जाती हो, तब भी वे 'गोघ्न' ही कहलाते हैं, क्योंकि वे गाय मरवाने के योग्य अधिकारी जो हैं.

पाणिनि की अष्टाध्यायी के भाष्यकार पतंजलि (समय 150 ई.पू.) के समय के भारत का अध्ययन करते हुए डा. प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने अपने शोध ग्रंथ 'पतंजलिकालीन भारत' (पृ. 592) में 'गोघ्न' शब्द की चर्चा करते हुए लिखा है: "समांस मधुपर्क के अधिकारी प्रायः श्रोत्रिय (वेदज्ञ) या ऋत्विक् (पुरोहित) ही होते थे. इन के आने पर विशेष रूप से गाय या बैल का वध किया जाता था और उस के मांस का भोजन उन्हें दिया जाता था, इसलिए ये अतिथि 'गोघ्न' कहलाते थे...स्वागतार्थ गोहनन के अधिकारी होने के कारण श्रोत्रिय 'गोघ्न' कहे जाते थे. गोघ्न शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए काशिकाकार ने भी इस बात की पुष्टि की है."

चौदहवीं शताब्दी के लगभग भट्टोजि दीक्षित ने 'वैयाकरण सिद्धांत कौमुदी' नामक ग्रंथ की रचना की थी, जो आज तक भारत के प्रायः हर विश्वविद्यालय में संस्कृत के छात्रों को व्याकरण के ग्रंथ के रूप में पढ़ाया जा रहा है. इस के 'उत्तरकृदंत' प्रकरण में 'दाशगोघ्नौ संप्रदाने' सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा मिलता है: 'गां हंति तस्मै गौघ्नोऽतिथिः' अर्थात उस के लिए गौ को मारते हैं, अतः अतिथि को गोघ्न कहते हैं. लगभग यही बात चतुर्वेदभाष्यकार सायण ने अपनी पुस्तक 'माधवीया

धातुवृत्तिः' में लिखी है: 'गौर्यस्मै दातुं हन्यते स गोघ्नः अतिथिः' (पृष्ठ 319) अर्थात जिसे देने के लिए गौ मारी जाती है, उसे 'गोघ्न' अथवा 'अतिथि' कहते हैं.

स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में अतिथि के लिए गौ मारी जाती थी.

कुछ लोग इस कड़वी असलियत को नकारने की कोशिश करते हुए कहते हैं कि गोघ्न में 'हन्' धातु का अर्थ मारना न हो कर 'प्राप्त करना' है.

यह बात सारी प्राचीन परंपरा और सब प्राचीन व्याख्याओं के एकदम विपरीत तो है ही, साथ ही तर्क विरोधी और बेहूदा भी है. 'प्राप्त करना' अर्थ मान कर यदि 'गोघ्न' का अर्थ किया जाए तो वह ऐसे होगा: "जिस के लिए गौ प्राप्त की जाए."

अब यहां प्रश्न उठते हैं:

क्यों प्राप्त की जाए? किस से प्राप्त की जाए? कैसे प्राप्त की जाए? क्या अतिथि के आने पर लोग गौ खरीदने चल पड़ते थे? क्या घर की पहले की गौओं के दूध से अतिथिसत्कार नहीं किया जा सकता था, यदि उस के लिए गाय दूध प्राप्ति के उद्देश्य से ही प्राप्त की जाती थी तो क्या प्राचीन भारत में हर एक के यहां गाय नहीं होती थी, जो अतिथि के आने पर प्रत्येक को दूसरों से गाय प्राप्त करने की जरूरत पड़ती थी? अतिथि के न आने पर भी तो लोग गाय लेते थे, प्राप्त करते थे. तब वे 'गोघ्न' क्यों नहीं कहे गए, यदि 'घ्न' (हन्) का अर्थ वास्तव में 'प्राप्त करना' ही था? सिर्फ अतिथि को ही 'गोघ्न' क्यों कहा गया?

'गोघ्न' का अर्थ गोहत्यारा ही

दूसरे, अतिथि को यदि गाय का दूध देना ही अभीष्ट होता तो अवश्य उस के लिए विशेषतः 'गोघ्न' शब्द घड़ने की क्या जरूरत थी? जैसे अतिथि को पानी, भोजन, बिस्तर और अन्य वस्तुएं जुटाई जाती थीं, वैसे ही यदि गाय से उस का दूध ही जुटाया जाना अभीष्ट होता तो अवश्य उस के लिए विशेष शब्द न बनता, क्योंकि ऐसी अन्य चीजों के अतिथि द्वारा प्रयोग किए जाने के लिए कोई विशेष शब्द नहीं मिलता. यदि जलघ्न, विष्टरघ्न, भोजनघ्न जैसे शब्द होते तो शायद गोघ्न में हन् धातु का अर्थ 'प्राप्त करना' कोई मान ही लेता.

इस स्थिति में और प्राचीन व्याख्याओं की विद्यमानता में गोघ्न का अर्थ गोहत्यारा ही माना जाएगा न कि "वह जिस के लिए गौ प्राप्त की जाती है."

आलोचक महोदय ने प्राचीन भारत में गौ विषयक सद्भाव सिद्ध करने के लिए बौद्ध ग्रंथ 'सुत्तनिपात' की दो गाथाएं (इन्हें श्लोक नहीं कहते, स्वामीजी) दी हैं और कहा है कि हिंदू व ब्राह्मण कभी गोवध नहीं करते थे.

उपदेश की जरूरत क्या थी

यह बात एकदम गलत है. बुद्धवचनों से इस के एकदम विपरीत स्थिति सिद्ध होती है. बुद्ध ने गौ से प्यार करने का उपदेश दिया है और उसे न मारने की बात की है. यदि उस समय गाय को आज की तरह सम्मान दिया जाता था और उस की हत्या नहीं की जाती थी तो बुद्ध को ऐसा उपदेश देने की क्या जरूरत थी?

दूसरे, बुद्ध के अहिंसा के सिद्धांत की हिंदू व ब्राह्मण धर्मशास्त्रकारों ने जी भर कर खिल्ली उड़ाई है.

शंकराचार्य ने बुद्ध को 'अनापशनाप बकने वाला दुनिया का दुश्मन' कहा है:

सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु.

–ब्रह्मसूत्र भाष्य 2/2/32

एक दूसरे हिंदू धर्मोद्धारक कुमारिल भट्ट ने बुद्ध के अहिंसा के उपदेश को 'कुत्ते की खाल में पड़े दूध जैसा निकम्मा' बताया है:

सन्मूलमपि अहिंसादि श्वदतिनिक्षिप्तक्षीरवदनुपयोगि.

–तंत्रवार्तिक

इस स्थिति में बताने की जरूरत नहीं कि बुद्ध के गोहत्या न करने के उपदेश की धार्मिक हिंदुओं ने क्या कदर की होगी.

बुद्ध के समय गौ के साथ कैसा बरताव होता था, इस के विषय में हम स्वयं कुछ न कह कर 'बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी' के प्रकाशन 'बुद्ध कालीन समाज और धर्म' से उद्धरण देना उचित समझते हैं. उस में लिखा है:

"यज्ञाग्नि में अश्व, वृषभ, बैल, गाय, भेड़ आदि विभिन्न पशुओं की आहुति देने के उल्लेख मिलते हैं....'पालिनिकाय' में गोघातक, मेषघातक, अजघातक, शूकरघातक, मृगलुब्धक, शाकुनिक तथा हत्यागृहों के उल्लेख से हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि समाज में मांसाहार के व्यापक प्रचार के फलस्वरूप अनेक पेशेवर जातियों का प्रादुर्भाव हुआ, जो पशुपक्षियों को पकड़ने, मारने तथा मांस विक्रय के कर्मों द्वारा अपना जीविकोपार्जन करती थीं.

"बौद्ध लेखकों ने अपने ब्राह्मणविरोध के कारण ब्राह्मणों द्वारा गोहत्या करने तथा गोमांस भक्षण का अतिरंजित वर्णन किया है. 'पालिनिकाय' में गोघातक तथा उस के अंतेवासी, गोहत्या स्थल (गोघातकसूनम्) तथा गोहत्या में प्रयुक्त छुरे के उल्लेख से प्रमाणित होता है कि गोमांस भक्ष्य था" (देखें, डा. मदनमोहन रचित 'बुद्ध कालीन समाज और धर्म,' पृष्ठ 68, 70).

बौद्ध साहित्य में ऐसे बहुत से संदर्भ मिलते हैं जिन से प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारत में न केवल गोहत्या होती थी बल्कि लोग गोमांस का आहार भी करते थे. 'महावग्ग' (4) में आता है कि षड्वर्गीय भिक्षु गोमांस खाते थे, 'तित्तिरजातक' (438) में आता है कि एक निर्ग्रंथ (जैन) साधु वन में गया. वहां पांच सौ विद्यार्थी अध्ययन करते थे. वह साधु गोह, बछड़ा और गाय मार कर खा गया. (देखें, जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 215). नङ्गुट्ठ जातक (144) में बैल की हत्या कर के यज्ञ करने का उल्लेख मिलता है.

पं. मोहनलाल महतो 'वियोगी' रचित 'जातक कालीन भारतीय संस्कृति' में आता है: "एक ब्राह्मण था, जो वेदों का परम विद्वान था. उस ने वन में कुटिया बनाई. वहां अग्नि की स्थापना कर के बैल मार कर उस के मांस की आहुति देने का निश्चय उस

ने किया. कुछ शिकारी आए और ब्राह्मण की अनुपस्थिति में बैल को मार कर खा गए. ब्राह्मण गांव की ओर नमक लाने गया था. बैल मार कर वह खाता ही, इसी लिए उस ने नमक का जुगाड़ करना वाजिब समझा. अभागे की वह साध भी पूरी नहीं हुई. बैल की हत्या कर के अग्निपूजा करने की चर्चा कोई विचित्र बात नहीं है. जहां फल, फूल, अन्न से भी मांस सस्ता हो और सभी मांस खाते हों, वहां बैल, गाय, सूअर, गोह आदि का कोई महत्त्व नहीं है." (पृष्ठ 215).

पंडितजी ने निष्कर्ष निकाला है कि "जातक कथाओं में बैल, गऊ मारने वाले ब्राह्मण ही हैं. एक भी क्षत्रिय बैल या गऊ का वध पूजा या भोजन के लिए नहीं करता, वैश्य भी नहीं और न शूद्र या चांडाल ही गऊ हत्या करते थे. ब्राह्मण ही जातक युग का गोहत्यारा वर्ण है." (वही, पृ. 216).

मनोरंजक तथ्य

यह बात काफी हद तक उचित भी प्रतीत होती है, क्योंकि गोमेध में पुरोहित का कार्य ब्राह्मण ही करता था और बलि के लिए गौ पर कृपा भी वही करता था–वही संज्ञपन (शस्त्रघात के बिना ही, पशु का मुंह बंद कर के श्वास रोक कर के उसे मारना) करता था.

यह बहुत मनोरंजक तथ्य है कि वेदों के मानने वाले और उन के मुताबिक गाय आदि पशु की बलि देने वाले इस हिंसा के कार्य को सदैव अहिंसा कहते रहे हैं, और पशु को कत्ल करना बलि चढ़ाए जाने वाले पशु पर अनुग्रह करना बताते रहे हैं. वेदों के एक प्राचीन भाष्यकार स्कंद स्वामी (समय 7वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) ने ऋग्वेद के एक मंत्र (1-1-4) पर भाष्य करते हुए लिखा है:

> "यज्ञे हि सर्वस्यानुग्रहो, न हिंसा, येऽपि हि तत्र पश्वादयो हिंस्यंते तेषामप्यनुग्रहमेव शिष्टा स्मरंति–
>
> ओषध्य: पशवो वृक्षास्तिर्यंच: पक्षिणस्तथा. यज्ञार्थं निधनं प्राप्ता: प्राप्नुवंत्युच्छ्रितीः पुनः.. तस्मादुपपन्नं हिंसावर्जितत्वम्."

अर्थात यज्ञ में सब का भला होता है, न कि किसी की हिंसा. जिन पशुओं की हत्या की जाती है, उन का भी भला ही होता है. पूर्वजों/शिष्टों का कथन है कि "जो ओषधियां, पशु, वृक्ष, पक्षी आदि यज्ञ में मारे जाते हैं, वे ऊंची गति को प्राप्त होते हैं." इस से सिद्ध है कि यज्ञ में की गई हिंसा अहिंसा ही है.

मनु ने भी यही बात कही है: वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति. अर्थात वेदों के मुताबिक की गई कत्लोगारत 'हिंसा' नहीं कहलाती.

> आर्यसमाजी संन्यासी स्वामी विद्यानंद सरस्वती अपनी पुस्तक में लिखते हैं: सरदार बल्लभभाई पटेल के जन्म स्थान करमसद (गुजरात) में कामकोटि पीठाधीश जगद्गुरु शंकराचार्य श्री जयेंद्र सरस्वती ठहरे थे. हम ने उन से भेंट की और कहा कि जब हम लोग गोवध पर प्रतिबंध लगाने की मांग करते हैं तो प्राय: कहा जाता है कि जब हिंदू शास्त्रों में अनेकत्र गोवध का विधान है तो आप

किस मुंह से यह मांग करते हैं. जगद्गुरु होने के नाते हिंदू धर्म में आप का विशिष्ट स्थान है, अतः यदि आप की ओर से निम्न आशय का एक वक्तव्य प्रसारित हो जाए तो बड़ा लाभ होगा:

'हिंदू शास्त्रों में कहीं भी गोवध का विधान नहीं है. यदि कहीं इस के विपरीत अर्थात गोवध का प्रतिपादक उल्लेख मिलता है तो वह स्वार्थी लोगों के द्वारा किए गए प्रक्षेपों अथवा अशुद्ध अर्थों के कारण है. उन्हें प्रमाण नहीं माना जा सकता.'

श्री शंकराचार्य जी ने उत्तर दिया कि 'वेदादि शास्त्रों में यज्ञ के निमित्त गोहत्या का स्पष्ट विधान है. जहां कहीं गोवध का निषेध किया है वह मांस न खाने के उद्देश्य से किया गया है. यज्ञ में आहुति देने के लिए गोहत्या का निषेध कहीं नहीं है. सर्वत्र उस का प्रतिपादन किया है. शास्त्रों में ऐसा गौ के हितार्थ किया गया है, क्योंकि यज्ञ में आहुति डालने के लिए मारी गई गौ को स्वर्ग की प्राप्ति होती है.'

...मेरे द्वारा वेदों में गौ के लिए 'अघ्न्या' तथा यज्ञ के लिए 'अध्वर' शब्दों का प्रयोग किए जाने...पर भी वे अपनी बात पर अडिग रहे. गोवध पर रोक के लिए आंदोलन के संदर्भ में श्री शंकराचार्य ने इतना और कहा कि यह मांग हम कलियुग के लिए कर रहे हैं. (वेदार्थ भूमिका, पृ. 20-21)

लगभग ऐसी ही बात स्वामी करपात्री ने अपने विशालकाय ग्रंथ 'वेदार्थ पारिजात' में कही है:

> याज्ञिकपशुवधोऽपि पशूनां स्वर्गप्रापकत्वात् पशुयोनिनिवारणपूर्वकहिरण्यशरीरप्राप्तिहेतुत्वात् पशूपकारक एव. (...) यज्ञे पशूनामुपयोगस्तु पशुकल्याणाय भवति (...) यस्मात् पशुरपकृष्टयोनेर्विमुक्तो देवयोनौ जायते.
>
> –वेदार्थ पारिजात, भाग–2, पृ. 1977–78

अर्थात यज्ञ में किया जाने वाला पशुवध भी पशुओं का स्वर्गप्रापक होने से तथा पशुयोनि निवारण पूर्वक दिव्यशरीर प्राप्ति कराने में कारण होने से पशु का उपकारक ही होता है. वह यज्ञीय पशु अपकृष्ट योनि से विमुक्त हो कर देवयोनि में उत्पन्न होता है.

जो कुछ यज्ञीयपशु के बारे में शंकराचार्य जयेंद्र सरस्वती और स्वामी करपात्री ने कहा है, वह शास्त्रों के सर्वथा अनुसार ही कहा गया है. वह कपोलकल्पित नहीं है. मनुस्मृति ने कहा है:

> ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यंचः पक्षिणस्तथा.
> यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः..
>
> –मनुस्मृति 5/40

अर्थात यज्ञ के लिए मृत्यु को प्राप्त होने वाली ओषधियां (व्रीहि आदि), पशु

(छाग आदि), वृक्ष, तिर्यक् (कछुआ आदि) और पक्षी जन्मांतर में उत्तम योनि को प्राप्त करते हैं.

इतना ही नहीं, मनु तो आदेश देते हैं कि मधुपर्क, यज्ञ, श्राद्ध और देवकार्य (देवताओं की पूजा) के लिए पशु का वध करना चाहिए:

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि. अत्रैव पशवो हिंस्या

–मनुस्मृति 5/41

अर्थात मधुपर्क, यज्ञ, पितृकार्य (श्राद्ध) तथा देवकार्य (देवताओं की पूजा आदि) के लिए ही पशु का वध करना चाहिए.

कई लोग कहते हैं कि यज्ञ के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द 'अध्वर' का अर्थ है कि इस में हिंसा का अभाव होता है. अतः यज्ञ में गाय आदि पशुओं की हिंसा कैसे हो सकती है?

यह बात सही नहीं है. 'अध्वर' शब्द की जो व्युत्पत्ति वे प्रायः प्रस्तुत करते हैं, वह निरुक्तकार यास्क ने शतपथ ब्राह्मण से आधेअधूरे रूप में उठा कर निरुक्त में दर्ज कर रखी है. अतः वह गुमराह करने वाली व्युत्पत्ति बन कर रह गई है. उस से लगता है मानो यज्ञ में हिंसा का अभाव होता था. परंतु जब हम शतपथ ब्राह्मण में दी गई पूरी व्युत्पत्ति को पढ़ते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि 'अध्वर' शब्द की व्युत्पत्ति में प्रयुक्त हिंसा का यज्ञ में होने वाली हिंसा से कोई संबंध न हो कर यज्ञ करने वालों की हिंसा से सीधा संबंध है. शतपथब्राह्मण में अध्वर की व्युत्पत्ति देते हुए कहा गया है:

देवान्ह वै यज्ञेन यजमानान्त्सपत्ना असुरा दुधूर्षांचक्रुः.
ते दुधूर्षन्त एव न शेकुर्धूर्वितुं ते पराबभूवुस्तस्माद् यज्ञोऽध्वरो नाम.

–शतपथ, 1/4/1/40

अर्थात जब देव यज्ञ कर रहे थे तो उन के शत्रु असुरों ने उस यज्ञ का विध्वंस करना चाहा, परंतु विध्वंस की इच्छा करते हुए भी वे विध्वंस न कर सके. वे हार गए. इसलिए यज्ञ का नाम अध्वर हुआ.

(देखें, शतपथब्राह्मणम्, पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत हिंदी टीका सहित, पृ. 78-79.)

इस से स्पष्ट है कि अध्वर को अध्वर इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यज्ञ करने वालों की हिंसा नहीं की जा सकी. इस का यज्ञ में की जाने वाली हिंसा से कोई संबंध नहीं.

सातवीं शताब्दी के भाष्यकार स्कंद स्वामी का कहना है कि अध्वर को अध्वर इसलिए कहते हैं, क्योंकि इस में की गई हिंसा, यज्ञ में मारे गए पशु आदि के प्रति वास्तव में अनुग्रह होती है, अतः वह हिंसा न हो कर अहिंसा ही होती है:

ध्वरणं ध्वरो हिंसा यस्मिन्नास्ति सोऽध्वरः, येऽपि हि तत्र पश्वादयो हिंस्यंते
तेषामप्यनुग्रहमेव शिष्टाः स्मरंति. तस्मादुपपन्नं हिंसावर्जितत्वम्.

–ऋग्वेद, 1–1–4 पर स्कंदभाष्य

अर्थात ध्वरण या ध्वर का अर्थ है–हिंसा, वह यज्ञ में नहीं होती, अतः उसे अध्वर कहते हैं. यज्ञ में जो भी पशु आदि मारे जाते हैं, शिष्ट लोग (= अधिकारी विद्वान) उन के मारण को मारे गए पशु आदि के प्रति अनुग्रह ही कहते हैं. इस तरह हिंसा का अभाव होने के कारण यज्ञ को अध्वर (= हिंसारहित) कहा जाता है.

यहां हिंसा को अनुग्रह बता कर भाष्यकार ने काफी क्रूर मजाक किया है. उस ने पशु की जा रही हत्या (हिंसा) को ही अहिंसा बता कर यज्ञ को अध्वर (= हिंसारहित) सिद्ध कर दिया है–तभी तो कहा हैः तस्मादुपपन्नं (इस तरह सिद्ध हो गया) हिंसावर्जितत्वम् (उस का हिंसारहित होना)!

चारों वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य ने भी अध्वर की व्याख्या की है. उस ने कहा है कि यज्ञ को अध्वर इसलिए कहते हैं, क्योंकि इस की राक्षस आदि हिंसा नहीं कर सकते, अर्थात उसे नष्ट नहीं कर सकते :

अध्वरं हिंसारहितम्. न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवंति.

–ऋग्वेद, 1–1–4 पर सायणभाष्य

अर्थात अध्वर = यज्ञ को हिंसारहित, कहते हैं क्योंकि अग्नि से सब तरफ से सुरक्षित यज्ञ की राक्षस आदि हिंसा करने में समर्थ नहीं होते.

यहां भी यज्ञ में होने वाली हिंसा की बात न कर के, स्वयं यज्ञ की हिंसा की बात की गई है.

इस तरह हम देखते हैं कि 'अध्वर' शब्द की तीन व्युत्पत्तियों में से दो तो उस में होने या न होने वाली हिंसा से किसी तरह संबद्ध ही नहीं हैं. एक व्युत्पत्ति जो उस में होने वाली हिंसा की बात करती है, वह उस हिंसा को ही अहिंसा कह कर यज्ञ को अध्वर सिद्ध करने में जुटी है. अतः 'अध्वर' शब्द की निरुक्त में दी गई आधीअधूरी व्युत्पत्ति से यज्ञ में हिंसा के अभाव को सिद्ध नहीं किया जा सकता और न ही उन बेजबान पशुओं की हत्याओं से इनकार किया जा सकता है जो हजारों सालों तक यज्ञ की बलिवेदी पर कत्ल किए जाते रहे.

कुछ लोग कहते हैं कि वेद तो स्पष्ट शब्दों में आदेश देता हैः

स्वधिते मैनं हिंसीः

अर्थात हिंसा मत करो.

ऐसे में यज्ञों में हिंसा कैसे हो सकती है? यह बात सही नहीं है. वेदों के व्याख्याकार यास्क तक ने इस बात का खंडन किया है, जो आप कह रहे हैं. उस ने लिखा है कि उक्त मंत्र (वाक्य) का प्रयोग कुल्हाड़ा चलाते हुए, हिंसा करते हुए किया जाता है. जब किसी पर उस की हिंसा के लिए हाथ से कुल्हाड़ा चलाते हैं, तब यह मंत्र पढ़ा जाता है. पर इसे हम हिंसा नहीं कह सकते, क्योंकि वेदों की नजरों में यह अहिंसा ही है–

आम ायवचनादहिंसा प्रतीयेत

–निरुक्त 1/16

ऐसा ही एक अन्य मंत्र है, जो हिंसा करते हुए पढ़ा जाता है; परंतु उस का अर्थ भी किए जा रहे काम के सर्वथा विपरीत होता है. वह है–

ओषधे त्रायस्वैनम्

(तैत्तिरीय संहिता 1/2/1, 1/3/5, 6/3/3, 6/3/9;)

(मैत्रायणी संहिता 1/2/1, 3/6/2, 1/2/14, 3/9/2, 1/2/16, 3/10/1;)

(शुक्लयजुर्वेद 4/1, 5/42, 6/15)

इस का अर्थ है–'हे कुशा घास के तिनको, इस की रक्षा करो.' परंतु यह मंत्र पढ़ा तब जाता है जब केशों को काटा जा रहा होता है; जब यज्ञ में बलि के पशु को बांधने के लिए, खंभा बनाने के लिए वृक्ष को काटा जा रहा होता है; जब पशु का पेट चीरा जा रहा होता है. इस विषय में आपस्तंब आदि श्रौतसूत्र देखे जा सकते हैं. मीमांसा–शाबर-भाष्यम्, युधिष्ठिर मीमांसककृत हिंदी व्याख्या सहित, का पृष्ठ 189 भी इस संदर्भ में देखा जा सकता है.

अतः स्पष्ट है कि "मैनं हिंसीः" जैसी बैसाखियों से यज्ञों में होने वाली पशुहिंसा पर परदा नहीं डाला जा सकता.

कुछ लोग कहते हैं कि 'आलंभ' शब्द का अर्थ मारना नहीं होता, बल्कि स्पर्श करना होता है. अतः गवालंभ यज्ञ में गाय की हत्या नहीं होती थी, बल्कि उसे छुआ मात्र जाता था.

यह बात सही नहीं है. चरक संहिता (19/4) में 'आलंभ' शब्द भी मिलता है और वह शब्द भी जिस का अर्थ है–स्पर्श करना. उन दोनों शब्दों को एक ही जगह पढ़ने पर सारी स्थिति अपने आप स्पष्ट हो जाती है:

आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालंभाय प्रक्रियंते स्म.

अर्थात आदिकाल में निश्चय से यज्ञों में पशुओं का समालभन (= स्पर्श) किया जाता था. वे आलंभन (= हिंसन (हत्या)) के लिए प्रकृत नहीं किए जाते थे.

इस से स्पष्ट है कि 'आलभ' और 'आलंभ' दो शब्द हैं. पहले का अर्थ है–स्पर्श और दूसरे का अर्थ है–हत्या. लेकिन शीघ्र ही आलभ शब्द में आलंभ शब्द का अर्थ घुलमिल गया. अतः व्याख्याकारों ने आलभ और आलंभ का अर्थ एक समान हत्या/हिंसन किया है.

प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान युधिष्ठिर मीमांसक ने लिखा है: उत्तरकाल में जब लंभ के अधिकांश प्रयोग नष्ट हो गए, तो पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों ने लंभ धातु से निष्पन्न भाषा में अल्पावशिष्ट प्रयोगों का लभ धातु में नुम् का आगम कर के अन्वाख्यान (= व्याख्या) कर दिया. इसी धातु-ऐक्यकल्पना के कारण आलंभ धातु का जो अर्थ था, वह आलभ का समझा जाने लगा. और इसी कारण उत्तरकाल में 'आलभते' (स्पर्श करता है), 'आलभेत' (= स्पर्श करे) पदों का अर्थ 'आलंभनं कुर्यात्' (= हिंसा करे) किया जाने लगा. (श्रौतयज्ञमीमांसा, पृ. 183)

इस परिचर्चा से स्पष्ट है कि न केवल 'आलंभ' का अर्थ 'हिंसन' (हत्या) है बल्कि उस का अर्थ अतिप्राचीन काल से ही 'स्पर्श करना' अर्थ देने वाले आलभ शब्द में भी संक्रमित हो चुका है. अतः आलंभ का अर्थ स्पर्श बताना तथ्यों के एकदम विपरीत और निर्मूल है.

कुछ लोगों का कहना है कि गाय का एक पर्याय है, 'अघ्न्या'. इस का शाब्दिक अर्थ है–जो न मारने योग्य हो. अतः गाय की यज्ञ आदि में बलि नहीं दी जाती थी.

. यह बात तथ्यों के आलोक में पूरी तरह सत्य सिद्ध नहीं होती. यह सही है कि अघ्न्या गाय का वाचक है. इस का एक अर्थ 'जो न मारने योग्य हो' भी है. परंतु यह पूरी सच्चाई नहीं है. अघ्न्या के शब्दार्थ निरुक्त में उपलब्ध हैं, परंतु वहां इस के एक नहीं दो अर्थ दिए गए हैं:–

अघ्न्याऽहंतव्या भवत्यघघ्नीति वा

–निरुक्त 11/43

अर्थात अघ्न्या का अर्थ है–न मारने योग्य, अथवा पापनाशिनी.

स्पष्ट है, अघ्न्या शब्द का अर्थ बताने वाला यास्क इस का एक ही अर्थ नहीं मानता. उस ने अंदाजे से इस के दो अर्थ दिए हैं. अतः उस के अहंतव्या (= न मारने योग्य) अर्थ को ही उछालना और उस के दूसरे अर्थ–पापनाशिनी–को छिपाना, क्या बौद्धिक बेईमानी नहीं कहा जाएगा?

ऋग्वेद में कई स्थलों पर गाय के लिए 'अघ्न्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है, परंतु कहीं भी उस के यज्ञ में या उस के बाहर हिंसन का निषेध नहीं किया गया है. ऋग्वेद के एक दो स्थल प्रस्तुत हैं:

अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरंती

–ऋग्वेद 1/164/40

अर्थात हे अघ्न्ये (गाय) घूमती हुई तू सदा घास खा और शुद्ध जल पी.

यहां गाय को घास खाने और शुद्ध पानी पीने की सलाह दी गई है. उस की हत्या व उस के हिंसन को प्रतिबंधित नहीं किया गया है.

दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं

–ऋग्वेद 1/164/27

अर्थात यह अघ्न्या (गाय) अश्वियों के लिए दूध दुहाए.

यहां 'इस' गाय की बात है और उस से दूध दुहाने की प्रार्थना की गई है. यहां भी उस के हिंसन का कोई निषेध नहीं है.

कुछ लोग यजुर्वेद के 16वें अध्याय के 43वें मंत्र का हवाला दे कर कहते हैं कि उस में गाय की हिंसा न करने की बात कही गई है.

उन का यह कथन बिलकुल गलत है, क्योंकि उक्त मंत्र में इनसान द्वारा होने वाले गोवध को रोकने की बात नहीं कही गई है. उस में तो केवल अग्नि देवता से प्रार्थना

की गई है कि वह गाय को अपनी लपटों में न ले, उस को न जलाए, उस की हत्या न करेः

अग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः...
गां मा हिंसीरदितिं विराजम्

–यजुर्वेद 13/43

अर्थात हे अग्नि, मैं पुनःपुनः नमनों से पूजा करता हूं. तुम विराज (दूध रूपी प्रकाश देने वाली) गाय की हिंसा मत करो.

ऐसी ही बात इसी अध्याय के 49वें मंत्र में भी कही गई है:

घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः

–यजुर्वेद 13/49

अर्थात हे अग्नि, लोगों के लिए घृत का दोहन करने वाली अदिति (= गाय) के प्रति आप हिंसा न कीजिए.

इस तरह की प्रार्थनाओं को गोवध-प्रतिबंधक आदेश नहीं कहा जा सकता. अतः इन के आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि वेद गोवध-निषेध का विधान करते हैं. इस के विपरीत ऋग्वेद का निम्नलिखित मंत्र गोवध की शत्रुवध से उपमा देता है, जो गोवध के सर्वत्र प्रचलित होने का प्रमाण है; क्योंकि सकारात्मक उपमा प्रसिद्ध और सर्वज्ञात व प्रचलित चीज/प्रथा आदि से ही दी जाती है, न कि प्रतिबंधित व निंदनीय आदि से. ऋग्वेद कहता है:

मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः पृथिव्या आपृगमुया शयंते

–ऋग्वेद 10/89/14

अर्थात जैसे गोहत्या के स्थान में गौएं काटी जाती हैं, वैसे ही तुम्हारे इस अस्त्र से निहित हो कर मित्रद्वेषी राक्षस लोग पृथ्वी पर गिरकर अनंत निद्रा में सो जाते हैं.

स्पष्ट है, यहां किसी नायक अथवा वीर के बारे में प्रशंसात्मक टिप्पणी है. इस में उपमा भी लोकप्रचलित और लोकअनुमोदित क्रिया की ही दी गई है. यह क्रिया गोवध को एक सामान्य व सर्वविदित तथ्य के रूप में प्रतिपादित करती है.

कुछ लोग अथर्ववेद के हवाले से कहते हैं कि उस में गोवध करने वाले को सीसे की गोली से मारने का आदेश दिया गया है.

उन का कथन तथ्यों के अनुरूप नहीं है, क्योंकि उक्त मंत्र में केवल गाय की बात न हो कर घोड़े और पुरुष की बात भी है. उस में यह भी कहा गया है कि जो 'हमारी' गाय, 'हमारे' घोड़े या हमारे आदमी को मारता है, उस को हम सीसे की गोली से बींधेंगे.

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि वा पूरुषम्.
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा..

–अथर्ववेद 1/16/4

अर्थात यदि तुम 'हमारी' गाय को, 'हमारे' घोड़े और हमारे आदमी को मारते हो तो हम तुम्हें सीसे की गोली से बींधेंगे ताकि तुम हमारे वीरों को नष्ट न कर सको.

यह गोवधनिषेध का आदेश न हो कर अपनी संपत्ति को क्षति पहुंचाने वाले के लिए धमकी है. इस से गोवध करने वाले को सीसे की गोली से मारने की बात सिद्ध नहीं होती, बल्कि यह सिद्ध होता है कि जो 'हमारी' गाय को मारता है, जो हमारे घोड़े को मारता है और जो हमारे आदमी को मारता है, उस को हम भी सीसे की गोली से मारेंगे. यदि कोई हमारी गाय को न मार कर किसी दूसरे की गाय को, किसी दूसरे के घोड़े को और किसी दूसरे के आदमी को मारे, तब? तब, स्पष्ट है, आप कुछ नहीं करेंगे, क्योंकि वेद केवल हमारी/ अपनी गाय को क्षति पहुंचाने पर उस के मालिक के क्रोध को अभिव्यक्त करता है. यह न तो इस बात का प्रमाण है कि तब गोहत्या नहीं होती थी और न इस बात का कि तब गोहत्या प्रतिबंधित थी.

यदि यह कहा जाए कि गाय के अवध्य (अहतव्या) होने के ही कारण उस के मारने वाले को गोली से बींधने की धमकी दी गई है, तो भी बात नहीं बनेगी; क्योंकि इस मंत्र में तो 'हमारे' घोड़े को मारने वाले को भी सीसे से बींधने की बात कही गई है. क्या घोड़ा और गाय एक समान हैं? क्या घोड़ा देवता भी है?

वस्तुतः उपर्युक्त तरह का क्रोध तब भी पैदा होता है, जब हानि किसी ऐसी चीज को पहुंचाई जाती है जो अवध्य (= अहंतव्य) नहीं भी होती. मुर्गीखाने वाले मुर्गियां इसलिए पालते हैं कि लोग उन्हें मार कर खाने के लिए खरीद सकें. उन्हें पहले ही दिन यह पता होता है कि मुर्गी मारे जाने के लिए ही हम पैदा कर रहे हैं. परंतु यदि कोई चोर उन्हें चुराता है, कोई आदमी उन्हें मुर्गीखाने में ही व्यर्थ मारता, या कोई कुत्ता उन्हें मार कर खाता है तो मालिक उन्हें अर्थात चोर, मारने वाले, कुत्ते आदि को गोली से उड़ाने के लिए तैयार हो जाता है और उस के मुंह से अथर्ववेदीय उक्ति के समान ही वाक्य निकलते हैं. पर क्या उस के वाक्यों को सुन कर यह मान लिया जाए कि वह इसलिए इतने क्रोध में आता है, क्योंकि मुर्गी अघ्न्या (अहंतव्या) होती है?

न मुर्गी अहंतव्या है, न उस की हत्या पर प्रतिबंध है; बल्कि उस के बिक जाने पर उस का मारा जाना एक तरह से अवश्यंभावी होता है. फिर भी उस के मालिक का, उस की गैरहाजिरी में, उस के मारे जाने पर आगबबूला होना इस बात का द्योतक है कि वह अपनी संपत्ति दूसरों के द्वारा विनष्ट किए जाने पर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है. यही बात पूर्वोद्धृत अथर्ववेदीय मंत्र के संदर्भ में चरितार्थ होती है. अतः उस से गोवधनिषेध का अस्तित्व किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता.

कुछ लोग कहते हैं कि वेदों में हर प्रकार की हिंसा का निषेध किया गया है. इस के प्रमाण के तौर पर वे निम्नलिखित मंत्रांश प्रस्तुत करते हैं:

(क) इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम् (यजुर्वेद 13/47)
(दो पैरों वालों और पशुओं के प्रति हिंसा न करें)

(ख) इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम् (यजुर्वेद 13/48)
(एक खुर वाले (घोड़े) के प्रति हिंसक मत होइए)

(ग) घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसी: (यजुर्वेद 13/49)

(घृत दोहन करने वाली गाय के प्रति हिंसा न कीजिए.)

(घ) मा हिंसी: उष्ट्रमारण्यम् (यजुर्वेद 13/50)

(आप जंगली ऊंटों की हिंसा मत करें)

ये चारों मंत्र क्योंकि आधेअधूरे प्रस्तुत किए गए हैं, अत: ये गुमराह करते हैं. यदि पूरे मंत्रों को पढ़ा जाए तो पता चलता है कि ये वास्तव में पक्षपातपूर्ण बात करते हैं. ये यदि एक के प्रति हिंसा न करने की बात करते हैं तो दूसरे के प्रति हिंसक होने की प्रार्थना भी करते हैं और प्रेरणा भी देते हैं. दूसरे, ये इनसान द्वारा की जाने वाली हिंसा की बात न कर के अग्नि देवता द्वारा की जाने वाली हिंसा से बचने की प्रार्थना मात्र हैं. ये देवता के आगे प्रार्थना हैं, न कि प्रतिबंध की घोषणाएं हैं.

पहले मंत्र को देखें:

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमान:.
मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद.
मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु.

–यजुर्वेद 13/47

अर्थात हे अग्नि, आप इन दोपायों और पशुओं के प्रति हिंसा न करें. आप हजारों नेत्रों वाले हैं. आप को यज्ञ के लिए प्रकट किया है. आप अन्न की बढ़ोतरी कीजिए. पशुओं की बढ़ोतरी कीजिए. आप हमें वैभव दीजिए. हम सुखी जीवन यापन करें. आप का क्रोध उस आदमी को पीड़ित करे जिस से हम द्वेष करते हैं.

यहां दो बातें स्पष्ट हैं–पहली यह कि अग्नि देवता से प्रार्थना की गई है कि वह 'इमं' (इन हमारे) दोपायों और पशुओं की रक्षा करे. यह अपने आदमियों और पशुओं की रक्षा की प्रार्थना है, न कि आदमी मात्र और पशु मात्र की. फिर यह प्रतिबंध नहीं, प्रार्थना है. अत: इस का विधानात्मक दृष्टि से कोई अर्थ नहीं है.

दूसरी यह कि यह मंत्र अहिंसावादी न हो कर हिंसावादी है, क्योंकि अंतिम भाग में इस में प्रार्थना की गई है कि अग्नि उन सब को नष्ट करे जिन से हम द्वेष करते हैं, वे चाहे आदमी हों या पशु.

अत: इस मंत्र से न हिंसावाद का निषेध सिद्ध होता है, न उस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध.

दूसरा मंत्र देखिए:

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु.
गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद.
गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं शुगृच्छतु.

–यजुर्वेद 13/48

अर्थात हे अग्नि, आप के घोड़े अत्यंत गतिशील हैं. वे हिनहिना कर अपनी स्फूर्ति दिखाते हैं. आप इस हमारे घोड़े के प्रति हिंसक मत होइए. आप जंगली बैलों

(जानवरों) को परेशान कीजिए. आप अपने ज्वालामय शरीर को बढ़ाइए. जिस से हम द्वेष रखते हैं, आप का क्रोध उसे पीड़ित करे.

यहां भी 'अपने' घोड़े को बचाने की प्रार्थना है, न कि सब जानवरों को बचाने की. यहां तो अन्य जानवरों के प्रति अग्नि देवता को हिंसक होने के लिए प्रेरित किया गया है–उस से प्रार्थना की गई है कि वह जंगली बैलों आदि को परेशान करे, उन की हिंसा करे. यह निरा हिंसावाद है.

यहां अपने पशुओं की रक्षा भी प्राणियों या जानवरों के प्रति दया न हो कर अपनी चल संपत्ति की सुरक्षा की स्वार्थप्रेरित भावना मात्र है.

अंतिम भाग में फिर उन के विनाश की कामना की गई है, जिन से अनबन है, द्वेष है. यह एक क्षुद्र व्यक्ति की प्रार्थना है, जो स्वार्थ से आगे न देख सकता है, न सोच सकता है. यह 'सर्वे भवंतु सुखिनः' **की भावना से कोसों दूर है. अतः यह मंत्र भी न हिंसा को प्रतिबंधित करता है और न अहिंसा का प्रचार.**

अब तीसरा मंत्र देखें:

इदं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये.
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्.
गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद.
गवयन्ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु.

–यजुर्वेद 13/49

अर्थात हे अग्नि, यह हमारी गाय हजारों सैकड़ों धाराओं का मूल स्रोत है. शरीर के बीच में घी छोड़ने वाली है. घृत का दोहन करने वाली है. परम व्योम में स्थित है. आप इस गाय के प्रति हिंसा न कीजिए. जंगली बैल, नीलगाय आदि दूसरे जानवरों की ओर आप को निर्देश दिया जाता है. आप अपने तन की बढ़ोतरी करते हुए अर्थात लपलपाती लपटों के साथ उन जानवरों (गवय=नील गाय) के साथ विराजिए, जिन से हम द्वेष करते हैं. उन के प्रति आप अपना क्रोध प्रकट कीजिए.

यहां इस/यह/हमारी गाय को बचाने की अग्नि देवता से प्रार्थना है, शेष जानवरों या गौओं के प्रति कोई सद्भावना इस मंत्र में प्रकट नहीं होती. उलटे, जंगली जानवरों–गवय (नीलगाय) आदि के प्रति अग्नि को उकसाया गया है ताकि वह उन्हें अपनी लपटों से नष्ट कर सके. इसी तरह उन्हें भी नष्ट करने की अग्नि से प्रार्थना है जिन से हमारी अनबन है, नोकझोंक है.

चौथा और अंतिम मंत्र इस प्रकार है:

त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्.
उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद.
उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु..

–यजुर्वेद 13/50

अर्थात हे अग्नि, आप सर्वप्रथम उत्पन्न हैं. आप परम व्योम में स्थित हैं. आप हमारे

प्रति हिंसक मत होइए. हम जंगली ऊंटों की ओर आप को निर्देश करते हैं. आप उन के साथ अपने तन की बढ़ोतरी कीजिए. आप उन ऊंटों और उन लोगों के प्रति अपना क्रोध कीजिए जिन से हम द्वेष करते हैं.

इस मंत्र में उस दावे के सर्वथा विपरीत बात कही गई है, जो किया जा रहा है. दावा किया गया है कि जंगली ऊंटों की हिंसा मत करो, परंतु मंत्र में कहा गया है कि हे अग्निदेवता, तुम जंगली ऊंटों की ओर क्रोधपूर्वक बढ़ो और उन्हें नष्ट करो. यह दावा या तो अज्ञानवश किया गया है, या सिर्फ अपनी बात को सिद्ध करने की धुन में झूठ का सहारा ले कर किया गया है. दोनों ही स्थितियों में यह निंदनीय है.

इस तरह हम देखते हैं कि चारों ही मंत्र न प्राणीमात्र, जानवरमात्र के प्रति अहिंसा की बात करते हैं और न किसी जानवर विशेष के वध को सामान्य तौर पर प्रतिबंधित करते हैं. इन में यदि किसी जानवर–गाय, घोड़ा आदि– की रक्षा की बात की गई है तो सिर्फ उस की जो वक्ता/प्रार्थनाकर्ता की चल संपत्ति है. अतः इन के आधार पर गोवध का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता. इन से तो उलटे अपनी व्यक्तिगत चल संपत्ति से अतिरिक्त जानवरों की हत्याओं का एक तरह से लाइसेंस दिया गया है!

कुछ लोग कहते हैं कि जैमिनि द्वारा रचित मीमांसादर्शन में, जिसे पूर्वमीमांसा भी कहा जाता है, यज्ञों के बारे में हिंसा, बलि आदि से संबद्ध सब संदेह दूर कर दिए गए हैं. अतः मुझे उस का अध्ययन करना चाहिए.

इस विषय में मेरा निवेदन है कि मीमांसादर्शन के प्राचीनतम उपलब्ध शाबर भाष्य में शबर ने लिखा है कि यज्ञों में जो पशु विहित हैं अर्थात जिस पशु का यज्ञ में विधान है, उस के साथ जो कुछ किया जाता है, वह पशुधर्म कहलाता है:

> संति च पशुधर्मा:–उपाकरणं, उपानयनं, अक्ष्णया बंध:,
> यूपे नियोजनम्, संज्ञपनं, विशसनमित्येवमादय:.
>
> –मीमांसादर्शन, 3/6/18 पर शबरभाष्य

अर्थात ये पशुधर्म हैं–उपाकरण (मंत्रपूर्वक पशु को छूना), उपानयनं (पशु को यूप के समीप ले जाना), अक्ष्णया बंध: (पशु के आगे के दाहिने पैर में और आधे सिर में रस्सी बांधना), यूपे नियोजनं (रस्सी से पशु को यूप (खूंटे) से बांधना) संज्ञपनं (मुंह, नाक आदि बंद कर के पशु को मारना), विशसनं (मारे गए पशु को काटना).

इन पशुधर्मों का विधान सवनीय पशु के प्रकरण में चौथे दिन किया गया है.

अपने 'मीमांसा शाबर भाष्यम्' संस्करण में प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान पं. युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं–इस प्रकरण में तथा अन्यत्र भी जैमिनीय सूत्रों में ऐसी झलक मिलती है (भाष्यादि में तो स्पष्ट है) जिस से यज्ञों में पशु को मारकर उस के अंगों से आहुतियां दी जाती हैं. मीमांसा सूत्र के आधारभूत ग्रंथ शाखाओं और ब्राह्मण ग्रंथों में कई स्थानों पर इस का स्पष्ट विधान मिलता है. (मीमांसा शाबरभाष्य, खंड 3, पृ. 1014)

मीमांसा दर्शन के सूत्र,

शमिता च शब्दभेदात्

−3/7/28

की व्याख्या के 'विवरण' में पं. युधिष्ठिर मीमांसक 'कुतुहलवृत्ति' पुस्तक के आधार पर लिखते हैं कि शमिता होता है पशु को मुखनासिका आदि बंद कर के मारने वाला ऋत्विक् (यज्ञ का पुरोहित). शमिता दो प्रकार के होते हैं—एक संज्ञपनकर्ता (मुखन-सिका बंद कर के पशु को मारने वाला), दूसरा विशसिता अर्थात उसे काटने वाला. (मीमांसा शाबरभाष्य, खंड 3, पृ. 1077)

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए शाबरभाष्य में कहा गया है कि:

"क्लोमा चार्द्धं वैकर्त्तनं च शमितु:. तद् ब्राह्मणाय दद्यात्"

अर्थात क्लोमा (पशु के अंग विशेष का नाम) और आधा वैकर्तन (पशु के अंग विशेष का नाम) शमिता का भाग होता है. उसे ब्राह्मण को दे दे.)

लगभग यही बात ऐतरेय ब्राह्मण (7/1) नामक प्राचीन ग्रंथ में मिलती है.

इस के 'विवरण' में पं. युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं—"ऐतरेय ब्राह्मण 7/1 में ज्योतिष्टोम आदि में मारे गए पशु का कौन सा भाग किस ऋत्विक् आदि का होता है, इस का विस्तार से वर्णन किया है. उसी में यह वचन भी किंचित् पूर्वापर पाठभेद से मिलता है. सायण की व्याख्यानुसार क्लोमा शब्द से हृदय का पार्श्ववर्ती मांस खंड अभिप्रेत है और विकर्तन से अन्य (वाम) स्कंध में स्थित प्रौढ़ मांस खंड अभिप्रेत है."

इस के बाद टिप्पणी करते हुए मीमांसक जी जो लिखते हैं, वह बहुत स्पष्ट और आंखें खोल देने वाला है. वह लिखते हैं—"ऐतरेय ब्राह्मण का इस मारे गए पशु के मांस खंड का बंटवारा यह स्पष्ट घोषित करता है कि ऐतरेय के मूल प्रवचन काल (अर्थात जब यह पहले लिखा गया) में अथवा उस के शौनक द्वारा पुनः संस्कार के काल में यज्ञों में पशु की बलि और यज्ञशिष्ट (यज्ञ के बचे पदार्थों को) प्रसाद रूप का भक्षण ब्राह्मण लोग करते थे."

कोई इसे प्रक्षेप कह सकता है, परंतु मीमांसक जी ने इस को प्रक्षेप (= बाद में किसी के द्वारा की गई मिलावट) मानने से स्पष्ट इनकार करते हुए आगे लिखा है—'अथवा यह पशुबलि और यज्ञीयमांसशेष (= यज्ञ में बचे मांस) का भक्षण उत्तरकाल का प्रक्षेप होगा. पर प्रक्षेप मानने के लिए कोई सुदृढ़ प्रमाण नहीं है.' (मीमांसा शाबर भाष्यम्, खंड 3, पृ. 1075)

मीमांसादर्शन के सूत्र, मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् (3/8/43), में कहा गया है कि सवनीय (यज्ञीय) पुरोडाश (आहुति की सामग्री) मांसमय होनी चाहिए.

कात्यायन श्रौत सूत्र (24/5/20) तथा आपस्तंब श्रौत सूत्र (23/11/11) में भी मांसमय पुरोडाशों का वर्णन आता है. वस्तुतः तांड्यब्राह्मण नामक उन से भी प्राचीन ग्रंथ में इस 36 वर्षीय यज्ञ (= सत्र) का उल्लेख इस प्रकार मिलता है:

एतेन गौरवीति शाक्तस्तरसपुरोडाशो यव्यावत्यां सर्वामृद्धिमार्ध्नोत्

−तांड्यब्राह्मण 25/7/1

अर्थात तरसमय (= मांसमय) पुरोडाशवाले गौरवीति नाम के शाक्त ने यव्यावती नाम की नदी के तट पर सत्र संपन्न कर के सब प्रकार की समृद्धि को प्राप्त किया था.

आपस्तंब श्रौत सूत्र (23-11-12 व 13) लिखता है:

संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति,
स यान् मृगान् हंति तेषां तरसा: पुरोडाशा: भवंति

अर्थात 36 वर्ष तक प्रतिदिन यज्ञ के बाद दिन की समाप्ति होने पर यजमान शिकार को जाता है और वह जिन मृगों को मारता है, उन के मांस के पुरोडाश होते हैं.

दूसरे शब्दों में, इस सत्र (36 वर्षीय यज्ञ) में यजमान 36 वर्ष मृग मार कर उन्हें, उन के मांस को अग्नि में झोंकता रहता था.

ऊपर हम ने दो तरह का–यज्ञ में अथवा यज्ञ के लिए–पशुवध देखा है : एक संज्ञपन (मुंहनाक आदि बंद कर के पशु को मारना), दूसरा शिकार में मृग आदि को यज्ञ के लिए मार कर लाना. परंतु तैत्तिरीय संहिता में एक तीसरा प्रकार भी लिखा गया है:

हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षस:

–तै. सं.

यज्ञ में उस पशु के पहले हृदय का, फिर सिर का, जीभ का और बाद में वक्ष:स्थल का छेदन करे.

यहां पशु को मारने की तीसरी विधि अंकित की गई है. आदि शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य के शुरू में अर्थात (1/1/1) पहले सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है:

यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियम:

अर्थात जैसे यज्ञों में पहले हृदय के छेदन का, बाद में जीभ आदि के छेदन का नियम है.

यहां उपमा दे कर शंकराचार्य ने उक्त नियम का एक तरह से समर्थन कर दिया है.

स्पष्ट है कि गोहत्या कर के भी उसे गौ के प्रति अहिंसा ही कहा गया. यह झूठ और क्रूरता की चरम सीमा है.

हम पर आरोप लगाया गया है कि हम ने अपने लेख में गोमांस भक्षण का प्रचार किया है, यह सरासर गलत है. हम ने अपने लेख में कहीं गोमांस भक्षण का प्रचार नहीं किया. हम ने केवल यह लिखा है कि प्राचीन भारत में एक समय गोहत्या होती रही है और हमारे प्राचीन धर्म ग्रंथों में गोहत्या व गोमांसाहार का विधान भी उपलब्ध है. ऐसे में राजनीतिक उद्देश्यों और सांप्रदायिकता फैलाने के लिए गोवध के प्रश्न

को उछालने की इजाजत देना अनुचित और देश के लिए अहितकर है. इस बात से प्रत्येक देशहितैषी और बुद्धिवादी व्यक्ति सहमत होगा.

हम ने अपने लेख में यह कहीं भी नहीं कहा है कि हमें इतिहास के एक विशिष्ट चरण की गोमांसाहार या गोमेध (गोवध) की प्रथा को अवश्य पुनरुज्जीवित करना चाहिए. किसी ऐतिहासिक चरण का आलोचनात्मक अध्ययन एक बात है, और उस को पुनर्जीवित करने के लिए प्रचार करना उस से बिलकुल अलग बात है, जिस से हमारा कुछ भी लेनादेना नहीं है.

सुदूर पूर्व के हिंदू साम्राज्य

भारत के पिछले दो हजार वर्षों के इतिहास को जब तथ्यों के आलोक में पराजयों का इतिहास कहा जाता है तो उन लोगों को बड़ी निराशा होती है, जिन्हें सदा यही सुनाया और पढ़ाया गया है कि हमारा सारे का सारा इतिहास स्वर्णिम और अद्वितीय है.

इस निराशा के आलम में डूबते हुए वे लोग ऐसे तिनके इकट्ठे करने शुरू कर देते हैं, जो, वे समझते हैं कि यह सिद्ध करने में उन का सहारा बनेंगे कि हमारा इतिहास विजयों का इतिहास रहा है. ऐसे तिनकों में से एक है, उन का यह कहना कि सुदूर पूर्व में हिंदुओं के बड़ेबड़े साम्राज्य रहे हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि हिंदू सदा पराजित ही नहीं होते रहे.

सुदूर पूर्व के तथाकथित हिंदू साम्राज्यों को हम ने ऐसा 'तिनका' कहा है, जिसे डूबता व्यक्ति सहारे के लिए पकड़ता है.

ऐसा इसलिए कि उन हिंदुओं से विदेशों में साम्राज्य स्थापित करने की क्या आशा की जा सकती है, जो अपने देश में ही एकछत्र साम्राज्य नहीं स्थापित कर सके. हिंदुओं को उन के धर्म ने सदा यही सिखाया कि देश का यह हिस्सा 'ऐसा', निंदनीय है, अतः वहां नहीं जाना चाहिए; देश का वह हिस्सा 'वैसा' निंदनीय है, अतः वहां नहीं जाना चाहिए.

अपवित्र प्रदेश

जिस भी ग्रंथ को उठाएं उसी में यही उपदेश मिलता है. प्रस्तुत हैं कुछ स्थलः

निरुक्त (800 ई. पू. के लगभग) का कहना है कि कंबोज (हिंदूकुश पर्वत और तिब्बत व लद्दाख तक फैला भूभाग) आर्य देश नहीं है (2/2).

महाभाष्य (150 ई.पू. के लगभग) का कथन है कि काठियावाड़ का इलाका आर्यदेश नहीं. उस ने आर्यावर्त के बाहर के प्रदेशों को आर्यों के रहने या जाने के अयोग्य घोषित किया है.

बौधायन (200 ई. पू.) का कहना है कि अवंति (धौलपुर का पश्चिमी या प्रयाग से पश्चिमोत्तर इलाका), अंग (कौशिकी कच्छ के उत्तरी और गंगा के दक्षिणी किनारे पर आधुनिक भागलपुर के समीप का इलाका), मगध (दक्षिणी बिहार), सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़), दक्षिणापथ (दक्षिण भारत), उपावृत, सिंधु (सिंध

नदी के पास का इलाका) और सौबीर देश (दक्षिणपश्चिमी पंजाब) शुद्ध आर्य देश नहीं हैं.

बौधायन ने आगे लिखा है कि जो आरट्टक देश (पंजाब के उत्तरपूर्व में स्थित इलाका), कारस्कर, पुंड्र, सौबीर, अंग, बंग (पूर्वी बंगाल), कलिंग (उड़ीसा) एवं प्रानून को जाता है, वह अपवित्र हो जाता है और सर्वपृष्ठ या पुनस्तोम नामक यज्ञ करने पर ही शुद्ध होता है. कलिंग को जाने वाला पैरों से पाप करता है. वह वैश्वानर यज्ञ करने से शुद्ध होता है.

अवंत्योऽगमगधाः सुराष्ट्रा दक्षिणापथाः
उपावृत् सिंधु सौवीराः एते संकीर्णयोनयः
आरट्टान् कारस्करान् पुंड्रान् सौवीरान् वंगान् कलिंगान्,
प्रानूनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठया वा.
पद्भ्यां स कुरुते पापं यः कलिंगान् प्रपद्यते,
ऋषयो निष्कृतिं तस्य प्राहुर्वैश्वानरं हविः

–बौधायन धर्मसूत्रम् 1/1/2

बौधायन के टीकाकार गोविंद स्वामी ने लिखा है कि आरट्ट आदि में न केवल प्रवेश करने से, अपितु वहां के लोगों से बोलने, उठनेबैठने आदि से भी पाप लगता है और इस के लिए यज्ञ आदि करना पड़ता है. कलिंग में जाने मात्र से ही पाप लगता है:

आरट्टादिषु न गमनादेव प्रायश्चित्तं किं तर्हि
संभाषणसहासनादिभिरपि. कलिंगे पुनर्गमनमात्रमिति विशेषः

–बौधायन धर्मसूत्रम् 1/1/2/15 की व्याख्या

मनु का कहना है:

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदंतरम्,
तं देवनिर्मितं देशं ,ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पंचाला सूरसेनकाः
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनंतरः
हिमवद्विंध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि,
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः
आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात् पश्चिमात्,
तयोरेवांतरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः

–मनुस्मृति,. 2/17–19, 21–22

अर्थात सरस्वती और दृष्द्वती नदियों के मध्य जो देश है, उसे देवनिर्मित 'ब्रह्मावर्त' देश कहते हैं.

कुरुक्षेत्र, धौलपुर का पश्चिमी इलाका, पंचाल (गंगायमुना का दोआबा या

कन्नौज का समीपवर्ती भूभाग) और मथुरा का इलाका–यह 'ब्रह्मर्षिदेश' है. यह ब्रह्मावर्त से कुछ कम पवित्र है.

हिमालय और विंध्य के बीच, कुरुक्षेत्र के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम का इलाका 'मध्यदेश' कहा जाता है.

पूर्वी और पश्चिमी समुद्र तथा हिमालय और विंध्य के मध्य स्थित प्रदेश को विद्वान 'आर्यावर्त' देश कहते हैं.

इस के बाद मनु कहता है कि काले रंग का मृग जिस इलाके में स्वभावतः चरता है, उस इलाके को यज्ञ के लिए उपयोगी एवं पवित्र समझें. उस के परे का इलाका म्लेच्छ देश है. द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) इन्हीं देशों में निवास करें. हां, शूद्र अपनी आजीविका के लिए कहीं भी निवास कर सकता है.

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः,
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः
एतान् द्विजातयो देशान् संश्रेयेरन् प्रयत्नतः,
शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः

–मनुस्मृति, 2/23-24

'देवलस्मृति' नामक धर्मशास्त्रीय एक अन्य ग्रंथ का आदेश है:

त्रिशंकुं वर्जयेद् देशं सर्वं द्वादश योजनम्,
उत्तरेण महानद्या दक्षिणेन तु कीकटम्.

–देवलस्मृति, 4

अर्थात त्रिशंकु देश में कभी न जाए, जो 12 योजन (108 मील के लगभग) तक फैला हुआ है, जो महानदी के उत्तर में और कीकट (दक्षिणी बिहार) के दक्षिण में है.

यही धर्म ग्रंथ पुनः कहता है कि सिंधु, सौवीर, काठियावाड़, सीमा प्रदेश, कलिंग, कोंकण (केरल, तुलंग, सौराष्ट्र का कुछ हिस्सा, कोंकण, करकट, कर्नाटक और बर्बर ये सात प्रदेश) और पूर्वी बंगाल में प्रवेश कर के आदमी अपवित्र हो जाता है. अतः उस का शुद्धीकरण करना चाहिए, उस का यज्ञोपवीत संस्कार फिर से होना चाहिए:

सिंधुसौवीरसौराष्ट्रांस्तथा प्रत्यंतवासिनः
'कलिंगकौंकणान् वंगान् गत्वा संस्कारमर्हति.

–देवलस्मृति, 16

एक अन्य धर्मशास्त्रीय वचन है कि अंग (गंगा के दक्षिणी किनारे पर बसा राज्य), पूर्वी बंगाल, कलिंग, दक्षिणी कठियावाड़ और मगध (दक्षिणी बिहार) को यदि बिना तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से कोई जाए तो वह अपवित्र हो जाता है. उस की शुद्धि की जानी चाहिए.

अंगवंगकलिंगेषु सौराष्ट्रमगधेषु च,
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति.

–व्याकरणचंद्रोदय, जिल्द 3, पृष्ठ 509 पर उद्धृत

पुराणों में इस तरह के आदेशों की बाढ़ आई हुई है.

आदित्यपुराण की घोषणा है कि कांची (कांजीवरम), काश्यप, दक्षिणी काठियावाड़, देवराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, धौलपुर का पश्चिमी इलाका, कावेरी, कोंकण और हूण—ये बहुत निंदित प्रदेश हैं. काठियावाड़, सिंधु, सौवीर, अवंति, दक्षिण भारत और कलिंग में यदि कोई द्विज स्वेच्छा से जाता है तो पतित हो जाता है:

कांचीकाश्यपसौराष्ट्रदेवराष्ट्रांध्रमत्स्यजाः,
कावेरीकोंकणा हूणास्ते देशा निंदिता भृशम्.
सौराष्ट्र सिंधु सौवीरमावंत्यं दक्षिणापथम्,
गत्वैतान् कामतो देशान् कालिंगांश्च पतेद् द्विजः

—आदित्यपुराण, स्मृतिचंद्रिका में उद्धृत

आदिपुराण का कहना है कि आर्यावर्त (पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र और हिमालय तथा विंध्य के मध्य का भूभाग, न कि संपूर्ण भारतवर्ष, देखें मनु 2/22) के रहने वालों को सिंधु, कर्मनाशा और करतोया नदियों को तीर्थयात्रा के अतिरिक्त कभी पार नहीं करना चाहिए. यदि कोई पार करे तो उसे चांद्रायण व्रत (इस में 15 दिन उत्तरोत्तर एक ग्रास भोजन घटाना होता है और अंतिम दिन निराहार रहना होता है. अगले 15 दिन उत्तरोत्तर एक ग्रास भोजन बढ़ाना होता है और 15वें दिन 15 ग्रास का पूर्ण भोजन करना होता है. इस तरह यह एक मास का चक्र होता है) करना चाहिए:

आर्यावर्तसमुत्पन्नो द्विजो वा यदि वाऽद्विजः,
कर्मदां सिंधुपारं च करतोयां न लंघयेत्.
आर्यावर्तमतिक्रम्य विना तीर्थक्रियां द्विजः,
आज्ञां चैव तथा पित्रोरैंदवेन विशुध्यति.

—आदिपुराण, परिभाषाप्रकाश के पृ. 59 पर उद्धृत

पंजाब की निंदा

महाभारत ने सारे पंजाब की निंदा करते हुए आदेश दिया है कि जहां सतलुज, व्यास, इरावती (रावी), चंद्रभागा (चिनाब), वितस्ता (झेलम) और छठी सिंधु नदी बहती है, वहां आरट्ट (जाट, पंजाबी में जट्ट) लोग रहते हैं. वे धर्महीन हैं. वहां आर्य न जाएं. जहां पर्वत से निकल कर पांच नदियां बहती हैं, वह आरट्ट नाम के लोगों का इलाका है, आर्य (हिंदू) वहां दो दिन भी न बसें:

पंच नद्यो वहंत्येता यत्र पीलुवनान्युत
शतद्रुश्च विपाशा च तृतीयैरावती तथा,
चंद्रभागा वितस्ता च सिंधुषष्ठा बहिर्गिरः
आरट्टा नाम ते देशा नष्टधर्मा न तान् व्रजेत्

पंच नद्यो वहंत्येता यत्र निःसृत्य पर्वतात्,
आरट्टा नाम वाहीका न तेष्वार्यो द्वयहं वसेत्.

–महाभारत, कर्णपर्व, 44/31-32, 40-41

इस पर टिप्पणी करते हुए खुशवंतसिंह ने लिखा है कि जाटों ने हिंदू धर्म को मानने से इनकार कर दिया था, अतः गंगा के मैदान के ब्राह्मणों ने घोषणा कर दी कि किसी आर्य को पंजाब में दो दिन तक भी नहीं बसना चाहिए. (ए हिस्टरी आफ सिख्स जिल्द 1. पृ. 15)

महाभारत में युगंधर नामक पर्वत और पंजाब के अच्युतस्थल नामक स्थान को इतना अपवित्र और घटिया कहा गया है कि वहां से गुजरते हुए यदि कोई आर्य (हिंदू) पानी भी पी ले तो सीधा नरक को जाएगा:

युगंधरे पयः पीत्वा प्रोष्य चाप्यच्युतस्थले
तद्वद् भूतिलये स्नात्वा कथं स्वर्गं गमिष्यति.

–महाभारत, कर्णपर्व, 44/39-40

अर्थात युगंधर में पानी पी कर, अच्युतस्थल में निवास कर और उसी तरह भूतिलय में स्नान कर के तुम स्वर्ग को कैसे प्राप्त करोगे? अर्थात नहीं प्राप्त कर सकोगे. नरक में जाओगे.

न केवल धर्मशास्त्रों, महाभारत और पुराणों में, बल्कि संस्कृत के व्याकरण ग्रंथों में भी ऐसे वाक्य उदाहरण स्वरूप दिए गए हैं जो प्रदेश विशेष के प्रति अपवित्रता और घृणा उत्पन्न व व्यक्त करने में धर्मशास्त्रीय वचनों से कम शक्तिशाली नहीं हैं. ऐसे वाक्य कम से कम हजार डेढ़ हजार साल से संस्कृत पढ़ने वालों को आज तक पढ़ाए जा रहे हैं.

व्याकरण का नियम है कि लिट् लकार (परोक्ष भूत) का प्रयोग तब होता है जब किसी बात से मुकरना हो या साफसाफ इनकार करना हो–

अत्यंतापह्नवे च लिड् वक्तव्यः

–वार्तिक

इस के उदाहरण के तौर पर जो वाक्य सातवीं सदी में लिखी गई 'काशिका' नामक व्याख्या में मिलते हैं, वही आज तक सब संस्कृत व्याकरणों में पाए जाते हैं. संभव है, काशिका से पहले भी यही उदाहरण प्रचलित रहे हों.

पहला उदाहरण इस प्रकार है:

कलिंगेषु स्थितोऽसि?

अर्थात क्या तुम कलिंग देश में ठहरे हो?

उत्तर में दूसरा वाक्य लिट् लकार में है:

नाहं कलिंगान् जगाम

अर्थात मैं तो कलिंग देश में कभी गया तक नहीं.

दूसरा उदाहरण है:

दक्षिणापथं प्रविष्टोऽसि?

अर्थात क्या तुम दक्षिण भारत में प्रविष्ट हुए हो?
उत्तर में लिट् लकार को प्रयुक्त करते हुए कहा है:

नाहं दक्षिणापथं प्रविवेश

अर्थात मैं ने तो दक्षिणापथ में कदम तक नहीं रखा, उधर मुंह तक नहीं किया.
(देखें, काशिका वृत्ति, प्रथम भाग, पृ. 209.)

इन वाक्यों को उद्धृत कर के कई व्याकरणों में किसी धर्मग्रंथ का वचन उद्धृत कर के यह भी बताया गया है कि धर्मशास्त्र कलिंग और दक्षिण भारत में जाने को धर्मविरुद्ध कहता है. अतः ऐसे वाक्यों की रचना की गई है. संस्कृत व्याकरण के महापंडित डा. चारुदेव शास्त्री ने अपनी पांच जिल्दों में प्रकाशित 'व्याकरणचंद्रोदय' नामक पुस्तक की तीसरी जिल्द में ऐसा ही लिखा है.

विदेश

जिन लोगों के लिए उन के धर्मग्रंथों के आदेशों के अनुसार, अपने देश के ही भिन्नभिन्न प्रदेश भौगोलिक अछूत हों, जहां प्रवेश करने, पानी पीने, रहने, लोगों से बोलने आदि से धर्म भ्रष्ट हो जाता हो, हिंदू पतित हो जाता हो और बड़े लंबेचौड़े हवनयज्ञ आदि के बाद ही शुद्ध होता हो, उन के लिए तो अपने गांव या कसबे के बाहर का प्रदेश भी स्वदेश का अंश न हो कर विदेश ही होगा. धर्म ग्रंथों ने इसे संभावना के क्षेत्र की बात न रहने दे कर पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है:

महानद्यंतरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः,
वाचो यत्र विभिद्यंते तद् देशांतरमुच्यते.
देशांतरं वदंत्येके षष्टियोजनमायतं,
चत्वारिंशद् वंदत्यन्ये त्रिंशदन्ये तथैव च.

–बृहस्पति

अर्थात महानदी या महापर्वत बीच में पड़ता हो और भाषा की भिन्नता हो तो दोनों तरफ एकदूसरे के लिए देशांतर अर्थात विदेश है. कुछ लोगों का कहना है कि 60 योजन के आगे नया देश शुरू हो जाता है, कुछ 40 योजन से आगे और कुछ 30 योजन से आगे नया देश मानते हैं.

बृहस्पति ने एक दूसरे मत को उद्धृत किया है जिस में 'देशांतर' के स्थान पर 'विदेश' शब्द का प्रयोग हुआ है और कहा गया है कि जिस स्थान से एक दिन में खबर न आ सके, वह विदेश होता है:

एकाहेन यत्रत्या वार्ता न श्रूयते स विदेश इति रत्नाकरः

अर्थात एक दिन में जहां की खबर न पता चले वह विदेश है, ऐसा रत्नाकर का मत है.

'धर्मसिंधु' नामक धर्म ग्रंथ में देशांतर (विदेश) की व्याख्या जातियों के आधार पर ही गई है:

> देशांतरं तु विप्रस्य विंशतियोजनात्परम्, क्षत्रियादेः क्रमेण चतुर्विंशत्त्रिशत्षष्टियोजनैः. केचिद् विप्रस्य त्रिंशद्योजनोत्तरं देशांतरमाहुः. भाषाभेदसहितमहागिरिणा भाषाभेदसहितमहानद्या वा व्यवधानमपि देशांतरम्. यत्तु केचिद् भाषाभेदरहितमपि गिरिनदी व्यवधानं देशांतरमाहुः तद् योजनगतविंशत्यादिसंख्यायास्त्रिचतुरादिन्यूनत्वेऽपि देशांतरत्वसंपादकतया योज्यमिति भाति.
>
> –धर्मसिंधुः, तृतीय परिच्छेद, पृ. 870–71

अर्थात ब्राह्मण के लिए अपने निवासस्थान से 20 योजन, क्षत्रिय के लिए 24 योजन, वैश्य के लिए 30 योजन और शूद्र के लिए 60 योजन से परे का इलाका 'देशांतर' है. यदि महापर्वत या महानदी बीच में आ जाए और पर्वत या नदी के दोनों ओर रहने वालों की भाषा में भी अंतर हो तो वे दोनों तरह के प्रदेश भी दूसरा देश कहलाएंगे. जहां यह कहा गया है कि चाहे भाषा में अंतर न भी हो तो भी पर्वत या नदी की दोनों तरफें देशांतर कहलाती हैं, वहां तात्पर्य यह है कि 20, 24, 30 और 60 योजन से कुछ योजन कम हो तो भी क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए देशांतर ही है.

इन धर्मशास्त्रीय ग्रंथों की परिभाषाओं और व्याख्याओं से स्पष्ट है कि अपने निवास स्थान से ज्यादा से ज्यादा 480 मील की दूरी तक ही स्वदेश है. यह भी सब के लिए नहीं. यह सीमा तो शूद्रों के लिए है. ब्राह्मण के लिए तो यह सीमा 160 मील है, क्षत्रिय के लिए 192 मील और वैश्य के लिए 240 मील है. इस के बाद उसउस जाति के लिए विदेश है.

यदि कहीं पर्वत या नदी बीच में आ जाए तो उस की दोनों तरफें भी एकदूसरे के लिए विदेश बन जाती हैं.

इसी का फल यह है कि हिंदी आदि कई आधुनिक भारतीय भाषाओं में पड़ोसी या कुछ दूर के गांव व शहर के निवासी के लिए परदेशी या परदेसी (दूसरे देश का निवासी) शब्द का प्रयोग आज भी होता है.

हिंदू धर्म के आदेशों के कारण जब धर्मभीरु हिंदू के लिए देश के हिस्से ही विदेश हैं तो सचमुच के विदेश के प्रति उस का कैसा दृष्टिकोण रहा होगा, यह समझना ज्यादा कठिन नहीं.

समुद्रयात्रा

दक्षिणपूर्व एशिया के जिन देशों को सुदूरपूर्व कहा गया है, वे सब न केवल

विदेश हैं, बल्कि समुद्र से सर्वतः घिरे हुए भी हैं और वहां पहुंचने के लिए समुद्रयात्रा करनी पड़ती थी, जबकि हिंदू धर्म ग्रंथों ने प्राचीन काल से ही समुद्रयात्रा को महापाप घोषित कर रखा है.

बौधायन ने लिखा है:

अथ पतनीयानि समुद्रसंयानं कृत्वा
चतुर्थकालामितभोजिनस्स्युस्सवनानुकल्पम्.
स्थानासनाभ्यां विहरंत एते त्रिभिर्वर्षैस्तदपहंति पापम्.

–बौ. धर्मसूत्र 2/1/2/1-2

अर्थात अब ऐसे कर्मों का विवेचन करेंगे, जिन से पतन होता है. समुद्र की यात्रा करना. इसे करने पर प्रायश्चित (पाप दूर करने के लिए अनुष्ठान) करे. भोजन केवल चौथी वेला में और थोड़ा सा ही करे, प्रातः, दोपहर और सायं स्नान करे, दिन में खड़ा रहे और रात्रि को बैठ कर ही बिताए. इस प्रकार तीन साल करता रहे. तब जा कर समुद्रयात्रा करने के पाप से छूटता है.

सामुद्रिकः ईदृशा ब्राह्मणा ज्ञेया अपांक्तेया युधिष्ठिर

अर्थात हे युधिष्ठिर, समुद्र की यात्रा करने वाला ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मणों के साथ एक पंक्ति में बैठ कर खाना खाने के योग्य नहीं होता. (महाभारत)

समुद्रयाजी, एतान्
विगर्हिताचारानपांक्तेयान् द्विजाधमान्.
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत्

–मनुस्मृति. 3/158,67

अर्थात समुद्र की यात्रा करने वाला. इन निंदित, पंक्ति में बैठाने के अयोग्य और अधम ब्राह्मणों को विद्वान् मनुष्य देवयज्ञ और श्राद्ध में भोजन न कराए.

डा. मोतीचंद्र लिखते हैं कि मनु का कहना है कि समुद्रयात्री के साथ कन्या का विवाह नहीं करना चाहिए क्योंकि वह जाति से बाहर माना जाता है. (सार्थवाह, पृ. 46) डा. पी.वी. काणे का मत है कि औशनस स्मृति ने भी ऐसा ही कहा है. (धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द 2, पृ. 995)

समुद्रयातुः स्वीकारः, इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः.

–बृहन्नारदीय पुराण

अर्थात समुद्र की यात्रा करने वाले को कलियुग में जाति में पुनः स्वीकार करना वर्जित है.

द्विजस्याब्धौ तु नौयातुः शोधितस्यापि न संग्रहः

–हेमाद्रि, आदित्यपुराण

अर्थात उस द्विज को, जिस ने समुद्रयात्रा की हो, प्रायश्चित आदि कर लेने के बाद भी कलियुग में स्वीकार करना वर्जित है.

वर्ज्यान् प्रवक्ष्ये, समुद्रयायी

–निर्णय सिंधुः, पृ. 303

अब मैं श्राद्ध में न बुलाने योग्य ब्राह्मण गिनाता हूं–समुद्र की यात्रा करने वाला.

समुद्रयात्रा स्वीकारः 13, इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः 16.

–धर्मसिंधु, तृतीय परिच्छेद; नारदपुराण 40.

अर्थात समुद्रयात्रा करना–यह कलियुग में विद्वानों द्वारा वर्जित है.

इन्हीं धार्मिक आदेशों के प्रभावाधीन हिंदू समुद्रयात्रा से डरते रहे हैं. गांधीजी को समुद्रयात्रा करने पर जातिच्युत किया गया था, यह सर्वविदित है.

ऐसे में वह व्यक्ति समुद्र की यात्रा कैसे कर सकता था, जो वास्तव में हिंदू हो? यह एक टेढ़ा प्रश्न है, जिस का उत्तर ढूंढ़ने का हर उस विद्वान ने प्रयत्न किया है, जिस ने सुदूरपूर्व के हिंदू 'साम्राज्यों' का अध्ययन किया है. उन प्रयत्नों को मुख्यतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं.

पहला मत

एक मत यह है कि ईसा की पहली दोतीन शताब्दियों में भारत राजनीतिक और सांस्कृतिक तौर पर उपद्रवग्रस्त था, क्योंकि मौर्यों का राजनीतिक केंद्रीकरण का कार्यक्रम बुरी तरह बिखर चुका था. मध्य एशिया के विद्रोही कबीलों के उत्तरपश्चिमी भाग पर आक्रमण हो रहे थे. इन में से कई लोग उत्तर में स्थायी तौर पर बस गए थे. जब भी नए आक्रमणकारी कबीले आते, हिंदुओं के पुराणपंथी विश्वासों की पकड़ कमजोर हो जाती और उन्हें समझौता करना पड़ता. उच्च जातियों के हिंदू अपनी धर्मभावना के कारण इन लोगों के संपर्क को बुरा समझते थे क्योंकि इन 'म्लेच्छों' का संसर्ग उन्हें धर्मभ्रष्ट व पतित कर सकता था.

जो लोग अपने समाज के ही कई हिस्सों को अस्पृश्य, अदर्शनीय और अभाषणीय समझते हों और उन्हें देखने, छूने एवं उन से बोलने से भी परहेज करते हों, वे दूसरे व विदेशी समाजों के 'म्लेच्छों' के संपर्क से बचने की कोशिश करें तो इस में आश्चर्य ही क्या है?

मौर्यों के बाद जो सब से महत्त्वपूर्ण आक्रमणकारी आए, वे थे–कुषाण. उन्होंने काफी समय तक शासन किया. उच्च जातियों के हिंदू अपने समाज के शूद्रों व अछूतों को अपने दबदबे के कारण गांवों के बाहर या निश्चित बस्तियों में बंद कर के उन के संपर्क से अपने को बचा सकते थे. परंतु इन म्लेच्छों को, जो शक्तिशाली थे और शासकवर्ग से संबंधित थे, वे उसी प्रकार नियंत्रित रूप में कैसे रख सकते थे?

इन 'म्लेच्छों' ने हिंदू धर्म के प्रतिद्वंद्वी बुद्धमत को अपना लिया. कुषाण नरेश कनिष्क ने बुद्धमत की चौथी संगीति (= सभा) का आयोजन किया, जिस से बौद्धों की गतिविधियां और ज्यादा तेज हो गईं. इस से हिंदू धर्म के लिए दोहरा खतरा पैदा हो गया–एक 'म्लेच्छों' का, दूसरा बौद्धों का.

ऐसे में कुछ अतिपुराणपंथी ब्राह्मण उत्तरभारत को छोड़ कर चले गए. वे ऐसी जगह जाना चाहते थे, जहां वे शांतिपूर्वक धर्मकर्म कर सकें और 'म्लेच्छों' के हमलों व संपर्क से बचे रह सकें. इन में से कुछ दक्षिण में बस गए, जहां द्रविड़ रहते थे. वहां पहले की शताब्दियों में आए नए ब्राह्मणों की देखादेखी अनेक द्रविड़ों ने उन के आचारविचार अपना लिए थे.

कुछ उस से भी आगे भारत की सीमाओं से बाहर समुद्र पार चले गए. यद्यपि वे धर्मभीरु थे और समुद्रयात्रा के विषय में धर्मशास्त्रों के आदेशों को जानते थे, तथापि वे इस आदेश का उल्लंघन कर के इसलिए दूर चले गए कि वहां उन्हें आए दिन म्लेच्छसंपर्क और 'धर्म-विरोधी' बौद्धों व जैनों का भय नहीं था. समुद्रयात्रा से होने वाले पाप को तो धर्मशास्त्रों में बताए गए अनुष्ठान द्वारा वे धो ही सकते थे.

इस मत का विश्लेषण करने पर जो बात उभर कर सामने आती है, वह यह कि सुदूरपूर्व में जो ब्राह्मण गए, वे अपने देश से डर के मारे भाग कर गए और जहां पहुंचे, वहां मात्र शरणार्थी के रूप में गए थे, न कि सांस्कृतिक विजय के लिए.

कुछ लोगों का कहना है कि उत्तरपूर्वी प्रशांत क्षेत्र के आदिवासी नेताओं ने ब्राह्मणों को उन की सांस्कृतिक उपलब्धियों एवं धार्मिक नेतृत्व के कारण स्वयं बुलाया था. यह मत कायल नहीं करता क्योंकि बिना अपने देश में धार्मिक तंगी महसूस किए वे धार्मिक आदेशों का उल्लंघन कर के, दूसरों को धर्म सिखाने विदेशों में नहीं जा सकते थे. यदि दूसरों को धर्म सिखाने की उन में इतनी ही उमंग होती तो वे पहले अपने समाज के शूद्रों को सिखाते. अपने यहां तो वे शूद्रों के कानों में सीसा और लाख डालते रहे. (देखें, गौतमधर्म सूत्र 2/3/4) ऐसे लोगों में अपरिचित व विदेशी समाजों को धर्म सिखाने की उमंग की आशा करना व्यर्थ है.

दूसरे, हर समाज का अपना अपना धर्म होता है. दूसरों को वह चाहे कितना घटिया प्रतीत हो, परंतु उस समाज को वह उतना ही प्रिय होता है, जितना कथित तौर पर बढ़िया धर्म उस के अनुयायियों को प्रिय होता है. कोई भी समाज अपने धर्म को छोड़ना नहीं चाहता. उसे जबरन छुड़ाया जाए तो लोग शहीद हो जाते हैं. आज भी कोई छोड़ने को तैयार नहीं. आज से सैकड़ों वर्ष पहले तो लोग इस मामले में आज से भी ज्यादा कट्टर थे.

अतः यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि ब्राह्मणों को सुदूरपूर्व के द्वीपों के आदिवासियों ने अपने धर्म को नष्ट करवाने और हिंदू धर्म को सीखने के लिए बुलाया होगा. यह मत तो डर कर भागने की घटना पर परदा डालने और पलायनकर्ताओं को सम्मानित नायकों के रूप में पेश करने के लिए गढ़ा गया प्रतीत होता है.

दूसरा मत

दूसरा मत यह है कि विदेशों में व्यापार करने से बहुत लाभ होता था, जो देश के अंदर प्राप्त होने वाले लाभ की तुलना में बहुत ज्यादा था. सुदूरपूर्व को तो सुवर्णभूमि कहा ही जाता था. अतः धन प्राप्ति के उद्देश्य से उधर जाना स्वाभाविक ही था. इसी धन-लोभ के कारण समुद्रयात्रा-निषेध के नियमों का उल्लंघन किया गया.

जब पहलेपहल कुछ व्यापारी उधर गए तो उन के साथ कुछ ऐसे ब्राह्मण भी हो लिए जो धर्मकर्मविहीन थे, जो एक तरह से जातिच्युत थे. जब देश में जीवननिर्वाह का प्रबंध ऐसावैसा ही हो और सम्मान भी न हो तो अपना भविष्य सुधारने के लिए उन का व्यापारियों के साथ सुवर्ण भूमि को चल पड़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं. धर्मकर्महीन ब्राह्मणों के लिए इस या उस धर्मशास्त्रीय आदेश का उल्लंघन क्या अर्थ रख सकता था?

बाद में इस तरह के ब्राह्मणों के भाईबंधु भी जाते रहे. लेकिन उन्हें हिंदू 'उपनिवेश' या 'साम्राज्य' स्थापित करने वाले नेता आदि कहना गलत है क्योंकि किसी तथाकथित उपनिवेश आदि की स्थापना इन का न उद्देश्य था और न वे ऐसा करने की बात सोच ही सकते थे.

स्पष्ट है कि जो पैसे के पुत्र समुद्रयात्रा कर के सुदूरपूर्व के देशों में पहुंचे, वे हिंदू धर्म के अनुसार, सही अर्थों में, 'हिंदू' नहीं रहे थे और जो ब्राह्मण उन के साथ गए वे अपने देश में भी 'हिंदू' नहीं थे, वे तो जाति-बहिष्कृत थे.

सफलता क्यों?

सुदूरपूर्व में उस समय अनेक प्रकार के लोग थे, परंतु उन में लगभग सभी भारत से वहां पहुंचे लोगों की तुलना में सभ्यता की दृष्टि से बहुत पीछे थे. वहां के आदिवासी अपने परिवारपालन तक सीमित थे. वहां चावल, केला और गन्ना पैदा होता था. कुछ लोग पशुओं का शिकार करते थे और कुछ मछली पकड़ते थे. वृक्षपूजा, भूतप्रेत आदि में विश्वास ही उन का धर्म था. कोई धार्मिक दर्शन या नैतिक नियमावली अभी उन में पैदा नहीं हुई थी. उन की अपेक्षा हिंदू काफी उन्नत हो चुके थे. वैदिक यज्ञयाग के बाद उपनिषद् और तत्पश्चात् बौद्धमत, जैनमत आदि पैदा हो चुके थे. बुद्धमत के कारण आम आदमी भी अनेक मामलों में काफी सचेत हो चुका था.

दूसरे, उस क्षेत्र में अभी तक लिपि का विकास नहीं हुआ था, जबकि हिंदू इस मामले में बहुत आगे बढ़े हुए थे.

तीसरे, राजनीतिक तौर पर हर कबीले का मुखिया अपने इलाके में शासक होता था. प्रतिष्ठित राजदरबार वाली कोई बात न थी. जो उस मुखिया को प्रभावित कर लेता, वह सम्मान का अधिकारी बन जाता.

हिंदुओं के लिए अपनी सभ्यता के अपेक्षाकृत उन्नत होने के कारण वहां सम्मानित अतिथि बन जाना बहुत आसान था. इन सम्मानित विदेशियों के आचारविचार रंगढंग का अनुकरण किया जाना भी स्वाभाविक था. वे जिन देवीदेवताओं को जैसे पूजते थे, जिन मान्यताओं और विश्वासों को महत्त्व देते थे, जिस सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक ढांचे को ठीक समझते थे, उसे स्थानीय लोगों, यहां तक कि मुखियाओं और सरदारों ने भी, धीरेधीरे अपनाना शुरू कर दिया, जैसे अकसर वैदेशिकता से मोहित एवं हीनभावना से ग्रस्त समाज करते ही हैं.

यह प्रक्रिया एक बार शुरू हो कर कैसे चरम परिणति को प्राप्त हुई, इस का

चित्र खींचते हुए रमेशचंद्र मजुमदार ने लिखा है: "दो या तीन भारतीय समुद्री जहाज किनारे लगते हैं. ये नव आगंतुक बहुमूल्य या विचित्र उपहार दे कर, बीमारी दूर करने का असली या नकली ज्ञान दिखा कर तथा बीमारी को रोकने या बुरी आत्माओं को भगाने की जादुई शक्ति जतला कर स्थानीय मुखियाओं के प्रिय बनते हैं. कई अपने को राजवंशों से संबंधित और बेशुमार धन के मालिक बताते हैं. इस सब का मुखियाओं और आम जनता पर बहुत प्रभाव पड़ता है और वे हिंदुओं को अपने से बढ़िया मानते हैं. हिंदू वहां अपना डेरा डाल देते हैं. उन की भाषा सीखते हैं और स्थानीय लड़कियों से शादियां करते हैं.

"आव्रजित हिंदुओं के नेता शादियों के लिए स्वभावतः मुखियाओं की या कम से कम उच्च परिवारों की लड़कियां चुनते हैं. इन पत्नियों को उन के पति अपने धार्मिक और नैतिक विचार एवं विश्वास तथा अपने सामाजिक रीतिरिवाज बताते व सिखाते हैं. उन से वे दूसरे स्थानीय लोगों में फैलते हैं.

"धीरेधीरे ये नए आचारविचार किनारे के प्रदेशों से आंतरिक प्रदेशों में और एक स्थान से दूसरे स्थान में फैल जाते हैं. अंततः ऐसी स्थिति आती है जब या तो राजा भी उन्हीं आचारोंविचारों को अपना लेता है या कोई आव्रजित हिंदू उस का प्रिय बन कर, उस का दामाद बनने में सफल हो जाता है.

"कई बार ऐसा भी होता है कि आव्रजित हिंदू उन स्थानीय लोगों के समर्थन से, जिन्होंने हिंदू आचारविचार, रंगढंग अपना लिया है, राजनीतिक परिवर्तन ले आते हैं और राजशक्ति हथिया लेते हैं." (देखें, रमेशचंद्र मजुमदार कृत एंशैंट इंडियन कौलोनाइजेशन इन साउथ ईस्ट एशिया, पृ. 8-9)

बस यही है तथाकथित उपनिवेशों और साम्राज्यों के उदय की कथा. यहां यह स्मरणीय है कि इन हिंदू 'उपनिवेशों' और भारत के किसी राज्य के मध्य कोई भी उल्लेखनीय राजनीतिक संपर्क नहीं था. न तो यहां के किसी राजा ने वहां अपने किसी प्रतिनिधि के द्वारा राज्य किया और न किसी ने वहां के किसी हिस्से को अपने राज्य में ही मिलाया.

1500 वर्ष के 'उपनिवेशवादी युग' में केवल एक बार ऐसा हुआ जब एक भारतीय हिंदू राजा 'राजेंद्र चोल' ने 1017 ई. में सुदूरपूर्व में इलाका जीतने के लिए जलसेना का प्रयोग किया.

हिंदुओं ने सेनाओं को भिड़ाने और युद्ध लड़ने की प्रवृत्ति को देश के अंदर ही परस्पर विनाशकारी युद्ध लड़ कर संतुष्ट कर लिया और यही उन की आदत बन गई.

साम्राज्य कहां गए?

जैसा पहले बताया है, उस समय सुदूरपूर्व के लोग हिंदुओं की अपेक्षा बहुत कम उन्नत थे. दूसरे, तब कोई दूसरा ऐसा प्रतिद्वंद्वी न था, जो वहां हिंदुओं के प्रयत्नों का विरोध करता या इन के प्रति आकृष्ट होने वालों को अपनी ओर आकृष्ट करने का यत्न करता.

परंतु ज्योंही वहां प्रतिद्वंद्वी इसलाम और ईसाइयत ने प्रवेश किया, हिंदुओं और

हिंदू धर्म को उड़ते देर नहीं लगी. जैसा कि पहले लिखा गया है, आव्रजित हिंदुओं के नेताओं ने जैसेतैसे झूठसच बोल कर कबीलों के मुखियाओं को अपना बनाया और उन के प्रभाव से शेष लोग भी उन की नकल करने लगे. इसी तरह जब इसलाम के प्रभाव में जावा, सुमात्रा, मलाया आदि देशों के राजा मुसलमान बन गए तो शेष लोग भी मुसलमान बन गए. जितनी आसानी से वे हिंदू बन गए थे, उतनी ही आसानी से उन्होंने हिंदूपन को छोड़ दिया. कंबोडिया में दास प्रथा के कारण जब तक दासों के पास कोई विकल्प न था, वे हिंदू बने रहे; परंतु जब इसलाम ने उन्हें समानता का उपदेश दिया, तब वे मुसलमान बन गए.

दरअसल, आव्रजित हिंदुओं ने समझौतावाद, अवसरवाद, चालाकी आदि से राजाओं, धनियों और व्यापारियों को अपने हाथ में रखा और उन से वैवाहिक संबंध बनाए. परस्पर संपर्क में कुछ न कुछ आदमी एकदूसरे से सीखता ही है, विशेषतः तब जब एक सम्मानित एवं ज्यादा उन्नत हो. ऐसे ही, जिस मूल निवासी ने एकआध हिंदू चीज ग्रहण कर ली, उसे भी हिंदू घोषित कर दिया गया. यदि किसी राजा ने ऐसा किया तो उस के राज्य को हिंदूराज घोषित कर दिया गया.

ऐसा उस समय के आव्रजितों ने अपने सुखमय जीवन के लिए किया, न कि हिंदू धर्म की 'मूलभूत भावना' के अनुसार, जो ऐसी किसी चीज का समर्थन नहीं करती. कहीं एकाध आव्रजित हिंदू किसी स्थानीय मुखिया या राजा आदि का दामाद बन गया तो उस ने भी कभीकभार सत्ता हथियाई. उस के राज्य को भी हिंदू राज्य घोषित कर दिया गया. ये तथाकथित साम्राज्य न तो वैसे थे जैसे मुगलों ने भारत में आ कर स्थापित किए और न वैसे थे जैसे अंगरेजों ने विदेशों में स्थापित किए. ये तो बहुत कुछ वैसे थे जैसे इटली को कोई इस आधार पर भारत के साम्राज्य का हिस्सा कहने की हिमाकत करे कि यहां का पूर्व प्रधान मंत्री वहां का दामाद था.

ये तथाकथित साम्राज्य या उपनिवेश हिंदुओं की वीरता, युद्धकुशलता व साम्राज्यस्थापित करने की क्षमता के परिचायक नहीं हैं. इस से संबद्ध व्यक्ति तो हिंदू धर्म के अनुसार हिंदू ही नहीं थे. इन तथाकथित हिंदू साम्राज्यों का नाम ले कर अपने ही देश में हिंदुओं की आएदिन की पराजयों को ढका नहीं जा सकता और न ही उन की बहादुरी की बेबुनियाद बातों से किसी को भरमाया जा सकता है.

यदि हिंदू वास्तव में साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ होते, यदि वास्तव में वे वीरता के साक्षात रूप होते, यदि इन की संस्कृति और धर्म सही अर्थों में महान होते तो अपने घर में, अपने देश में, वे इतनी ज्यादा संख्या में होते हुए भी हजारों वर्षों तक मुट्ठीभर हमलावरों के गुलाम न बने रहते. वे लोग बाहर क्या खाक साम्राज्य बनाएंगे जो खुद अपने देश के अभी कल ही (1947 में) टुकड़े करवा चुके हैं और जिन के खंडित देश के भी कई हिस्से चीन और पाकिस्तान ने वर्षों से हथिया रखे हैं?

भारतीय संस्कृति की कहानी शब्दों की जुबानी

जब प्राचीन भारतीय इतिहास की बात चलती है, तब कुछ लोग उस के कई तथ्यों से विचलित हो कर चिल्ला उठते हैं कि नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता. परंतु कुछ ऐसे मार्ग हैं, जिन का अनुसरण कर के अकाट्य सच्चाई को प्राप्त किया जा सकता है. प्राचीन शिलालेख, पुरातात्त्विक वस्तुएं, भाषाविज्ञान आदि कुछ ऐसे ही मार्ग हैं.

भाषाविज्ञान में ऐतिहासिक अर्थविज्ञान द्वारा शब्दों का अध्ययन कर के उन के पीछे छिपे अनेक ऐतिहासिक व सांस्कृतिक तथ्य उद्‌घाटित किए जा सकते हैं.

आर्यपारसी संघर्ष और असुर

आर्यों ने यहां के द्रविड़ आदि मूल निवासियों को पराजित कर भगाया, इस का प्रमाण ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में उपलब्ध होता है. अब यह बात सर्वमान्य हो चुकी है. अतः इसे झुठलाने की कोशिश मुट्‌ठीभर लोग ही कर रहे हैं.

लेकिन आर्यों के साथ पारसियों के भी संघर्ष हुए थे, यह बहुत कम लोग जानते हैं. इस तथ्य को ऐतिहासिक अर्थविज्ञान स्पष्ट करता है.

वेदों में एक शब्द है 'असुर', जो पारसियों की धर्मपुस्तक 'अवेस्ता' के 'अहुर' का (अहुर मज्दा) का आर्यीकृत रूप है. ऋग्वेद के अपेक्षाकृत प्राचीन मंत्रों में असुर को 'देवता' माना गया है और उस के आगे प्रार्थनाएं की गई हैं.

असुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि

–ऋ. 1/24/14

अर्थात हे असुर, हे प्रचेतः हे राजन, इस यज्ञ में निवास कर के हमारे किए हुए पाप को शिथिल करो.

त्वं राजेंद्र ये च देवा रक्षा नॄन् पाह्यसुर त्वमस्मान्.
त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्वं सत्यो वसवानः सहोदाः

–ऋग्वेद 1/174/1

अर्थात हे राजेंद्र, तुम संसार और सारे देवों के राजा हो. तुम मनुष्यों की रक्षा

करो. असुर, तुम हमारी रक्षा करो. तुम साधुओं के पालक, धनवान और हमारे उद्धारकर्ता हो. तुम सत्य और बल प्रदाता हो. तुम ने अपने तेज से सब को ढक लिया है.

इन मंत्रों से स्पष्ट है कि असुर को एक समय आर्य अपना देवता मानते थे, जबकि वस्तुतः यह पारसियों का देवता 'अहुर' था. आर्यों ने इसे उन्हीं से ग्रहण किया था. परंतु बाद में जब आर्यों और पारसियों में वैमनस्य पैदा हो गया, तब आर्यों ने 'असुर' के प्रति घृणा प्रकट करनी शुरू कर दी क्योंकि वह उन की घृणा के पात्र पारसियों का देवता था. यह घृणा असुर को बुराई का प्रतीक बना कर व्यक्त की गई. ऋग्वेद में ही इस के प्रमाण उपलब्ध हैं.

बृहस्पते तपुषाश्न व विध्य वृकद्वरसो असुरस्य वीरान्

—ऋ. 2/30/4

अर्थात इंद्र, अकेले ही तुम ने दृढ़मूल असुरों को उन के स्थानों से गिराया है.

इंद्राविष्णू शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रति असुरस्य वीरान्.

—ऋ. 7/99/5

अर्थात हे इंद्र और विष्णु, तुम ने वर्चि नामक असुर (राक्षस) के सौ और हजार वीरों को नष्ट किया है

इन मंत्रों में 'असुर' को शत्रु व बुराई का प्रतीक कहा गया है. उसे व उस की सेना का संहार करने वाले देवों की प्रशंसा की गई है. यह इस बात का प्रमाण है कि बाद में पारसियों से आर्यों के संबंध बिगड़ गए और वैमनस्यवश उन के देवता को दानव बना दिया गया.

इस की प्रतिक्रिया पारसियों में भी हुई. उन्होंने आर्यों के 'देव' और 'सुर' शब्दों पर प्रत्याक्रमण किया. देव आर्यों के लिए देवता था. परंतु पारसियों ने उसे 'राक्षस' बना दिया.

आज भी 'देवदानव' शब्द में देव का राक्षस अर्थ अवशिष्ट है. इसी देव से लोककथाओं के 'देअ' (राक्षस) की उत्पत्ति हुई.

रही बात 'सुर' की. पारसियों ने कहा 'सुर' (जिसे आर्य देवता कहते थे) वह होता है, जो सुरा पीए अर्थात शराबी. 'असुर' वह होता है, जो शराब आदि न पीता हो. इस विषय में असुरों के मत का प्रतिपादक एक श्लोक रामायण में उपलब्ध होता है:

सुराप्रतिग्रहाद् देवा सुरा इत्यभिविश्रुताः
अप्रतिग्रहणात्तस्या दैतेयाश्चासुरास्तथाः

—रामायण

अर्थात सुरा ग्रहण करने के कारण देव 'सुर' कहलाए. सुरा न ग्रहण करने के कारण दैतेय (दैत्य) 'असुर' कहलाए.

इस प्रकार के शब्द आर्य पारसी संघर्ष के अकाट्य प्रमाण हैं:

गोघ्न–अतिथि

आए दिन गोरक्षा के लिए आंदोलन चलाए जाते हैं. गऊ की पूंछ पकड़ कर वैतरणी पार होने के किस्से गाए जाते हैं. 'गोदान' को 'महादान' कहा जाता है, परंतु प्राचीन भारत में ऐसा नहीं था. तब गाय की बलि दी जाती थी, विशेष मेहमान के आने पर गाय का मांस वैसे ही पकाया जाता था, जैसे आज मांस खाने वाले लोग विशिष्ट अतिथि के आने पर मुर्गे या बकरे का मांस पकाते हैं.

जब इस तरह की ऐतिहासिक सच्चाई वाली बात की जाती है, तब प्राचीनतावादी लोग एकदम सन्नाटे में आ जाते हैं. न किसी प्राचीन पोथी को देखा होता है, न पढ़ा है, बस, सुनीसुनाई बातों को ले कर वे अपने को हिंदू धर्म के 'सर्वज्ञ' मान कर चल पड़ते हैं. उन की सब से बड़ी योग्यता यही होती है कि वे हिंदू मांबाप के यहां पैदा हुए हैं. बस, इतने मात्र से हजारों वर्षों के ज्ञानविज्ञान, इतिहास, सांस्कृतिक विकास आदि के ज्ञाता वे स्वयं को मान बैठते हैं.

परंतु भाषा में कुछ ऐसे शब्द विद्यमान हैं, जो इस बात का प्रमाण हैं कि भारत में कभी गोवध मांसाहार के लिए होता रहा है और वह सब धर्मसम्मत था.

पारस्कर गृह्यसूत्र (1/3/26 एवं 31) में अतिथि को गोघ्न (गोघाती) कहा गया है. यह शब्द संस्कृत के प्राचीन व्याकरण अष्टाध्यायी में भी मिलता है. पाणिनि ने एक विशेष सूत्र (नियम) दिया है–

दाशगोघ्नौ संप्रदाने

–अष्टा. 3/4/73

इस का तात्पर्य है कि दानार्थक दाश् धातु से संप्रदान अर्थ में 'अच्' प्रत्यय होता है एवं कर्मसंज्ञक गो उपपद रहने पर हिंसार्थक हन् धातु से संप्रदान–अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है.

छठी व सातवीं शताब्दी में हुए 'काशिका वृत्ति' नामक अष्टाध्यायी की प्राचीनतम उपलब्ध व्याख्या के लेखकों ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है:

आगताय तस्मै दातुं गां ध्नन्तीति गोघ्नोऽतिथिः,
निपातनसामर्थ्यादेव गोघ्न ऋत्विगादिरुच्यते, न तु चांडालादि.
असत्यपि च गोहनने तस्य योग्यतया गोघ्नः इत्यभिधीयते.

–काशिका, प्रथम भाग, पृ. 273–74, चौखंभा संस्कृत सीरीज प्रकाशन, वाराणसी 1969

अर्थात, 'गोघ्न शब्द ऐसे बनता है. आए हुए अतिथि को देने के लिए चूंकि गाय मारी जाती है. अतः अतिथि को गोघ्न (गो हत्यारा) कहते हैं. पुरोहित आदि के आने पर भी गाय मारी जाती है. अतः उसे भी गोघ्न (गो हत्यारा) कहते हैं, न कि चांडालादि को. जब गाय न भी मारी जाती हो, तब भी वे 'गोघ्न' ही कहलाते हैं, क्योंकि वे गाय मरवाने के योग्य अधिकारी जो हैं.

यहां काशिका व्याख्या ने कई बातें स्पष्ट कर दी हैं–गोघ्न (गोहत्यारा) का अर्थ

वह (व्यक्ति) है जिस के स्वागत में या जिसके खाने के लिए गाय मारी जाए, न कि वह जो वास्तव में उसे मारे. चंडाल गाय को मारता है, परंतु उसे गोघ्न नहीं कहते क्योंकि इस शब्द का प्रचलन ही उस व्यक्ति के लिए है जिस के लिए गाय मारी जाए. व्याकरण के सामान्य नियमों के अनुसार यह शब्द सिद्ध नहीं हो रहा था, अतः इस निपातित (= अनियमित) शब्द के लिए पाणिनि को विशेष सूत्र (नियम) बनाना पड़ाः कर्मसंज्ञक गो उपपद रहने पर हन् (हिंसा अर्थक) धातु से संप्रदान (= के लिए) के अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है.

पाणिनि के व्याकरण के साधारण नियम के अनुसार गोघ्न वह व्यक्ति था जो गाय की हत्या करे, परंतु व्यवहार में गोघ्न शब्द का जो अर्थ प्रचलित था, वह इस के नियमों से नहीं बनता था. व्यावहारिक अर्थ था—वह पुरोहित आदि अतिथि जिस के आने पर गाय मारी जाए. वह अतिथि इस अर्थ में गोहत्यारा था कि उस के आने पर उस के लिए गाय मारी जाती थी. यदि वह नहीं आता था, तो गाय नहीं मारी जाती थी. यहां गाय को मारने वाले का मारना कर्म (हनन) उस अतिथि पर स्थानांतरित हो गया जिस के आने पर व जिस के लिए हनन किया जाता था.

कई बार निरामिषभोजी पुरोहित आदि गाय की हत्या रोक भी देते थे, परंतु तब भी वे गोघ्न ही कहलाते थे, क्योंकि वे इस योग्य होते थे कि उन के लिए गोहनन किया जाए. यह तथ्य पुरोहित आदि और गोहत्या के अंतःसंबंधों की अटूटता का ही द्योतक है.

पाणिनि की अष्टध्यायी के भाष्यकार पतंजलि (समय 150 ई. पू.) के समय के भारत का अध्ययन करते हुए डा. प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने अपने शोधग्रंथ 'पतंजलिकालीन भारत' (पृ. 592) में 'गोघ्न' शब्द की चर्चा करते हुए लिखा है 'समांस मधुपर्क के अधिकारी प्रायः श्रोत्रिय (वेदज्ञ) या ऋत्विक् (पुरोहित) ही होते थे. इन के आने पर विशेष रूप से गाय या बैल का वध किया जाता था और उस के मांस का भोजन उन्हें दिया जाता था. इसलिए ये अतिथि 'गोघ्न' कहलाते थे. स्वागतार्थ गो हनन के अधिकारी होने के कारण श्रोत्रिय 'गोघ्न' कहे जाते थे. 'गोघ्न' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए काशिकाकार ने भी इस बात की पुष्टि की है.'

चौदहवीं शताब्दी के आसपास भट्टोजि दीक्षित ने 'वैयाकरण सिद्धांत कौमुदी' नामक ग्रंथ की रचना की, जो आज तक भारत के प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय में और निजी तौर पर भी संस्कृत के छात्रों को व्याकरण ग्रंथ के रूप में, पढ़ाया जा रहा है. इस के 'उत्तर कृदंत' प्रकरण में 'दाशगोघ्नौ संप्रदाने' सूत्र की व्याख्या करते हुए उस ने लिखा है—

'गां हंति तस्मै गोघ्नोऽतिथिः'

अर्थात अतिथि के लिए गौ को मारते हैं. अतः उसे 'गोघ्न' कहते हैं.

लगभग यही बात चतुर्वेद भाष्यकार सायण ने अपनी पुस्तक 'माधवीया धातुवृत्तिः' में लिखी है—

'गोर्यस्मै दातुं हन्यते स गोघ्नः अतिथिः'

–पृ. 319

अर्थात, जिसे देने के लिए गौ मारी जाती है, उसे 'गोघ्न' अथवा 'अतिथि' कहते हैं.

स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में अतिथि के लिए गौ मारी जाती थी. इसी से अतिथि के लिए 'गोघ्न' शब्द प्रचलित हो गया.

कुछ लोग इस कड़वी सच्चाई को नकारने की कोशिश करते हुए कहते हैं कि गोघ्न में 'हन्' धातु का अर्थ 'मारना' नहीं, बल्कि 'प्राप्त करना' है.

यह बात सारी प्राचीन परंपराओं और व्याख्याओं के एकदम विपरीत तो है ही, तर्क विरोधी भी है. यदि 'गोघ्न' का अर्थ 'प्राप्त करना' मान लिया जाए तो वह ऐसे होगा 'जिस के लिए गौ प्राप्त की जाए'.

अब यहां अनेक प्रश्न उठते हैं, जैसे, गौ क्यों प्राप्त की जाए? किस से प्राप्त की जाए? कैसे प्राप्त की जाए? क्या अतिथि के आने पर लोग गौ खरीदने चल पड़ते थे? यदि हां, तो 'गोघ्न' यजमान को कहना चाहिए था जो गाय प्राप्त करता था न कि अतिथि को. क्या घर की पहले की गायों के दूध से अतिथि का सत्कार नहीं किया जा सकता था? क्या दूसरे के यहां से गाय लाए बिना (यदि अपने घर दूध का प्रबंध न हो) अतिथि के लिए दूध नहीं लाया जा सकता था? फिर लोग अतिथि आगमन के बिना भी तो गाय लाते या खरीदते होंगे. फिर उन्हें 'गोघ्न' क्यों नहीं कहा गया, यदि 'हन्' (घ्न) का अर्थ वास्तव में यहां 'प्राप्त करना' ही था?

दूसरे, यदि अतिथि को गाय का दूध देना ही अभीष्ट होता तो उस के लिए विशेषतौर पर 'गोघ्न' शब्द गढ़ने की क्या जरूरत थी? जैसे अतिथि को पानी, भोजन, बिस्तर और अन्य वस्तुएं जुटाई जाती थीं, वैसे ही यदि गाय का दूध भी जुटाया जाना अभीष्ट होता तो उस के लिए विशिष्ट शब्द 'गोघ्न' नहीं बनना था क्योंकि ऐसी अन्य चीजों के अतिथि द्वारा प्रयोग में लाए जाने के लिए कोई विशेष शब्द नहीं मिलता है. यदि 'जलघ्न', 'विष्टरघ्न', 'भोजनघ्न' आदि शब्द भी होते, तो शायद 'गोघ्न' में 'हन्' धातु का अर्थ 'प्राप्त करना' कोई मान ही लेता.

इस स्थिति में और प्राचीन व्याख्याओं की विद्यमानता में 'गोघ्न' का अर्थ 'गोहत्यारा' ही माना जाएगा, न कि 'वह, जिस के लिए गौ प्राप्त की जाती है'. इस तरह 'गोघ्न' शब्द से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में अतिथि के लिए गाय मारी जाती थी. इसीलिए 'गोघ्न' का अर्थ 'अतिथि' हो गया.

ब्राह्मणबौद्ध संघर्ष

जिस तरह आर्यों का पारसियों से वैमनस्य था, उसी प्रकार बाद में ब्राह्मणों का बौद्धों से वैमनस्य हुआ. आज इस तथ्य पर पर्दा डालने के लिए यद्यपि यह कहा जाता है कि बौद्धधर्म तो हिंदू धर्म का ही एक अंग है, तथापि भाषाविज्ञान इस मामले में पूरी वस्तुस्थिति को उद्घाटित कर देता है.

अशोक ने बुद्धमत को राज्याश्रय दिया, जिस से ब्राह्मणों को हलवापूरी मिलनी बंद हो गई. इसलिए वे अशोक से क्रुद्ध हो गए. अशोक ने राज्यभर में जो शिलालेख लिखवाए थे, उन में अपने नाम के आगे 'देवानंपिय' (संस्कृत में-देवानां प्रियः) अर्थात 'देवताओं का प्यारा' विशेषण रखा था. चिढ़े हुए ब्राह्मणों ने व्याकरण ग्रंथों में यह नियम लिख दिया कि 'देवानां प्रियः' का अर्थ 'मूर्ख' होता है.

कात्यायन (150 ई. पू.) ने लिखा है–

'देवानां प्रिय इत्यत्र षष्ठ्या अलुक् वक्तव्यः'

अर्थात 'देवानां प्रियः' में षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं होता. परंतु 'देवप्रिय' में होता है. मतलब यह कि उस ने 'देवताओं के प्रिय' के अर्थ में 'देवप्रिय' शब्द रखा और 'देवानां प्रिय' का उस से भिन्न अर्थ कर दिया, क्योंकि यहां षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं होता. 'काव्यप्रकाश' (1050 ई.), जो संस्कृत साहित्यशास्त्र का ग्रंथ है, में इस का प्रयोग इस प्रकार मिलता है–

तेऽप्यतात्पर्यज्ञाः तात्पर्यवाचो युक्तेः देवानां प्रियाः

–पंचम उल्लास

अर्थात वे मूर्ख भी 'तात्पर्य वाचोयुक्ति' के तात्पर्य को न समझने वाले हैं. यहां प्रत्यक्षतः 'देवानां प्रियः' का 'मूर्ख' के अर्थ में प्रयोग किया गया है. यही अर्थ कात्यायन ने इस शब्द को दिया था.

इस के बाद तो भट्टोजि दीक्षित (1513-1593 ई.) ने अपने व्याकरणग्रंथ 'वैयाकरण सिद्धांत कौमुदी'–जो आज तक संपूर्ण भारत में संस्कृत व्याकरण का लोकप्रिय सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ माना जाता है और जिस का सर्वत्र पठनपाठन होता है– में कात्यायन के वार्तिक को संक्षिप्त कर के उस के साथ उस का अर्थ भी जोड़ दिया और लिखा–

'देवानां प्रिय इति च मूर्खे'

अर्थात 'देवानां प्रियः' यह मूर्ख का अर्थ देता है.

पिछले चार सौ वर्षों से वार्तिक का यही रूप सर्वत्र उद्‌धृत किया जा रहा है.

आप्टे के सन 1890 में बने 'संस्कृतअंगरेजी कोश' में इस शब्द का अर्थ 'बकरा', 'मूर्ख' आदि लिखा हुआ है.

इस विषय में स्वामी भगवदाचार्य लिखते हैं–'देवानां प्रिय' शब्द सम्राट अशोक के समय में मान वाचक तथा प्रतिष्ठासूचक था. बाद में वार्तिककार कात्यायन के समय में यह अप्रतिष्ठित शब्द बन गया.

षष्ठ्या आक्रोशे (6/3/21) पाणिनि के इस सूत्र पर आक्रोश अर्थ में ही *'देवानां प्रिय इति चोपसंख्यानम्'* इस वार्तिक से इस शब्द का अर्थ बिगाड़ा गया है. (देखें, स्वामी भगवदाचार्य, प्रथम भाग, पृ. 551-51).

इस तरह ब्राह्मण-बौद्ध संघर्ष में, परस्पर घृणा और द्वेष में अच्छाभला शब्द मूर्ख

का वाचक बन गया और इस अर्थ को बनाए रखने के लिए व्याकरण के ग्रंथों में एक विशिष्ट नियम भी बना दिया गया.

भद्र से भद्दा

'भद्र' शब्द 'सुंदर', 'कल्याणकारी' आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है, पालि भाषा में इस का रूप 'भद्द' बना, परंतु अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं आया पालिहिंदी कोश (पृ. 239) में 'भद्द' का अर्थ 'शुभ' दिया गया है.

इसी 'भद्द' से 'भदंत' शब्द बना जो बौद्ध भिक्षु के प्रति सम्मानार्थ प्रयुक्त किया जाता था. पालिहिंदी कोश के अनुसार इस का शब्दार्थ है–पूज्य, गौरवार्ह (पृ. 239).

बौद्ध जगत में भदंत पूज्य था, परंतु उस के विरोधी ब्राह्मणों ने भदंत के दर्शन को अशुभ घोषित कर दिया. इसी घृणा में ब्राह्मण 'भदंत' को 'भद्द' या 'भद्दा' कहने लगे. इस तरह भद्र का तद्भव 'भद्द' या 'भद्दा' अपने मूलार्थ से बिलकुल विपरीत अर्थ में प्रयुक्त होने लगा.

इस बात के पोषक प्रमाण प्राचीन संस्कृत साहित्य में विद्यमान हैं. एक बहुत प्राचीन संस्कृत नाटक है–'मृच्छकटिकम्'. उस के सातवें अंक में जब नायक चारुदत्त नायिका वसंतसेना से मिलने के लिए चलता है, तब उस के सामने से एक बौद्ध भिक्षु गुजरता है. उसे देख कर वह कहता है–

कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्?

अर्थात यह पहले ही अशुभ एवं मुंडित बौद्ध भिक्षु का दर्शन क्यों हो गया?

इस स्थल की व्याख्या करते हुए संस्कृत व्याख्याकार महाप्रभुलाल गोस्वामी ने लिखा है, "बौद्ध भिक्षु मुंडित होते हैं और उन का पूरा शरीर लगभग नंगा होता है. इन का दर्शन अमंगलकारी होता है."

अपनी बात के समर्थन में एक धर्मशास्त्रीय वचन गोस्वामी ने उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है:

अकेशं दुर्भगं नग्नमनपत्यं च पापिनम्,
पश्यन्नशुभमाप्नोति यात्रायां प्रातरेव वा.

(मृच्छकटिकम्, प्रबोधिनी-प्रकाश-व्याख्योपेतम्, पृ. 371, चौखंबासंस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1962)

अर्थात, जो व्यक्ति यात्रा के समय या प्रातः मुंडित, कुरूप, नंगे, संतानहीन और पापी को देखता है, उसे अशुभ की प्राप्ति होती है.

बौद्ध भिक्षु मुंडित, नंगे और संतानहीन होते थे. अतः इस श्लोक का पूरा नजला बौद्धों पर है. इस प्रकार के प्रचार के परिणामस्वरूप ही 'भद्र' का तद्भव 'भद्दा' 'अशुभ' का वाचक बन गया.

बुद्धमत के प्रति यह घृणा यहीं खत्म नहीं हुई. भाषाविज्ञान को कुछ अन्य प्रमाण भी मिले हैं:

एक शब्द है–'बुद्धू'. यह कहां से आ टपका? यह 'बौद्ध' शब्द का घृणात्मक रूप है. गुस्से में हम कहते हैं 'तुम्हें देखूंगा बच्चू'. यह 'बच्चा' शब्द का घृणात्मक रूप है. इसी प्रकार बुद्ध के अनुयायियों (बौद्धों) को घृणात्मक रूप में 'बुद्धू' कहा गया. ब्राह्मण पुरोहितों ने कहा, 'जो लोग इस नास्तिक बुद्ध के मत को मानते हैं, वे अपना परलोक बिगाड़ रहे हैं. जो अपना काम स्वयं बिगाड़ता है, वह मूर्ख होता है–स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता. चूंकि ये बौद्ध अपना परलोक स्वयं बिगाड़ रहे हैं, अतः मूर्ख हैं. पहले घृणा से 'बौद्ध' को 'बुद्धू' कहा, बाद में शब्द को बिगाड़ कर उन्हें 'मूर्ख' सिद्ध कर दिया गया.

उपर्युक्त बातों से सामान्य जनता 'बुद्धू' का अर्थ 'मूर्ख' समझने लगी. यही अर्थ आज तक प्रचलित है.

इस तरह हम देखते हैं कि 'देवानां प्रिय', 'भद्दा' और 'बुद्धू' शब्दों के आज तक प्रचलित अर्थ अपने पीछे ब्राह्मण-बौद्ध संघर्ष के एक लंबे इतिहास को लिए हुए हैं, जिसे कोई चाह कर भी झुठला नहीं सकता. ये हमारी धार्मिक 'सहिष्णुता' के मुंह बोलते प्रमाण हैं.

भारत के अतीत की महिमा गाते हुए प्रायः इसे 'दूध की नदियों का देश', 'सोने की चिड़िया' आदि कहा जाता है, परंतु 'सुभिक्ष' और 'दुर्भिक्ष' शब्द, जो बहुत प्राचीन काल से प्रचलित हैं और आज तक चले आ रहे हैं, इन दावों को झुठलाते हैं.

इन दोनों शब्दों में भिक्ष धातु आई है जो 'मांगने' का अर्थ प्रतिबिंबित करती है. 'दुर्भिक्ष' शब्द वैदिक काल का है. यह तैत्तिरीय आरण्यक (1/4/3) में उपलब्ध होता है. 'दुर्भिक्ष' का प्रचलित अर्थ है: अन्न का अभाव या अकाल. परंतु इस शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है: 'जब भिक्षा मुश्किल से मिलती है.' जब मांग कर खाने वाले लोगों को भिक्षा मुश्किल से मिले, तब भारतीय संस्कृति के व्याख्याकारों के मुताबिक 'दुर्भिक्ष' अर्थात 'अकाल' पड़ा होता है. आज दुनिया के विकसित देशों में भिक्षावृत्ति अपराध है. भारत में भी भिक्षा मांगना कानूनन अपराध है. यह भिक्षावादी भारतीय संस्कृति के व्याख्याकारों की नजरों में 'अकाल' की निशानी है!

यह बड़ी हैरानी की बात है कि संस्कृत में पर्यायवाची शब्दों की बहुतायत होने की डींगें मारने वालों के पास 'अन्नाभाव' के अर्थ में 'दुर्भिक्ष' के सिवा कोई शब्द ही नहीं है.

'दुर्भिक्ष' शब्द का प्रयोग व्याकरण महाभाष्य में भी मिलता है, जहां एक प्राचीन श्लोक उद्धृत कर के कहा गया है कि यदि आकाश में चमक रही बिजली का रंग सफेद हो, तो अकाल पड़ता है–दुर्भिक्षाय सिता भवेत् (महाभाष्य).

मनु का कहना है कि जो राज्य शूद्रों और नास्तिकों से भरा हो, जहां ब्राह्मण न हों, वह दुर्भिक्ष और रोगों से पीड़ित हो कर नष्ट हो जाता है:

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रांतमद्विजम्,
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्.

–मनुस्मृति 8/22

हितोपदेश (4/44) में अकाल से पीड़ित व्यक्ति के लिए 'दुर्भिक्षव्यसनिन्' शब्द प्रयुक्त किया गया है.

सुकाल की स्थिति को व्यक्त करने के लिए 'सुभिक्ष' शब्द रहा है. सुभिक्ष का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है–'जब भीख मिलना आसान हो.'

'सुभिक्ष' शब्द भी बहुत प्राचीन है. यह उपनिषत्काल से मिलता है. 'छांदोग्य उपनिषद्' में इस का प्रयोग दिखाई देता है.

वाल्मीकीय रामायण में कवि ने लिखा है कि राम के राज्य में समय पर वर्षा होती थी, सदा चारों ओर सुकाल रहता था अर्थात भिखारियों को आसानी से भिक्षा मिलती थी–

काले वर्षति पर्जन्यः, सुभिक्षं विमला दिशः

–उत्तरकांड, 99/13

(यहां एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है. आज परंपरावादी लोग रामराज्य को सब प्रकार की सुखसुविधाओं वाला 'सुराज्य' कहते हैं. महात्मा गांधी ने देश में 'रामराज्य' स्थापित करने का नारा देकर ही पूरे देश को संगठित किया. आज भी रामराज्य की महिमा में कल्पना के अनर्गल घोड़े दौड़ाए जाते हैं. परंतु वाल्मीकि के उक्त श्लोक से सारी पोल खुल जाती है. उस का कहना है कि सभी दिशाओं में भिखारियों को आसानी से भिक्षा मिल जाती थी. इस का मतलब यह कि रामराज्य में 'सुराज्य' वाली कोई बात नहीं थी. जब उस समय भी भिखारी थे, तब यह स्पष्ट है कि उस समय भी लोग गरीब थे, बेरोजगार थे और मांग कर गुजारा करते थे.)

महाभारत, बृहत्संहिता आदि में भी 'सुभिक्ष' इसी प्रकार खुशहाली के अर्थ में प्रयुक्त हुआ मिलता है.

अब 'सुभिक्षा' आधुनिक जनरल स्टोरों की शृंखला का नाम रख दिया गया है. हालांकि वहां से कीमत चुका कर ही कोई वस्तु प्राप्त की जा सकती है, पर 'भिक्षा' के प्रति मोह के कारण उस में भी 'भिक्षा' शब्द घुसेड़ दिया है. नीयत भिक्षा मांगने वाली ही बनी रहेगी चाहे कीमत चुका कर ही क्यों न चीज प्राप्त हो!

देश की खुशहाली अथवा खस्ताहाली की स्थिति का पैमाना 'भिक्षा' को क्यों माना गया, यह प्रश्न स्वाभाविक है. इस का उत्तर ढूंढ़ना मुश्किल नहीं है. हिंदुओं के जीवन के कुल चार आश्रमों–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास–में से तीन आश्रम भिक्षाजीवी थे. ब्रह्मचारी के लिए तो भिक्षा मांगना आवश्यक कर्त्तव्य था, जिस का पालन न करने के कारण उसे 'पाप' लगता था और उसे धोने के लिए 'अवकीर्णिव्रत' करना पड़ता था. मनु ने लिखा है:

अकृत्वा भैक्षचरणम् अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत्

–मनुस्मृति, 2/187

अर्थात यदि स्वस्थ होते हुए भी ब्रह्मचारी लगातार सात दिनों तक भिक्षा मांगने में नागा करे, तो उस पाप से मुक्ति के लिए वह अवकीर्णि व्रत करे.

'अवकीर्णि व्रत' क्या है? वह है काने गधे की चरबी से चौरस्ते पर पाकयज्ञ की विधि से 'निर्ऋति' नामक देवता के नाम यज्ञ करना (देखें, मनुस्मृति 11/118, मणिप्रभा व्याख्या). यही बात बौधायनधर्मसूत्र (1-2-54) और विष्णुधर्मसूत्र (28/52) में भी कही गई है.

तीसरे आश्रम के लोगों के लिए भी भीख मांग कर ही खाने का विधान है. मनु ने कहा है कि जीवननिर्वाह के लिए वानप्रस्थी अन्य वानप्रस्थियों से भिक्षा मांगे. यदि उन से न मिले, तो वनवासी गृहस्थों से भीख मांग कर खाए. यदि वहां से भी काम न बने, तो ग्रामों में जाए और पत्तों या सकोरों या हाथ पर ही भिक्षा ले कर खाए:

तापसेष्वेव विप्रेषु याचिकं भैक्षमाहरेत्
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु...
ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्.
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा..

–मनु. 6/27-28

चौथे आश्रम के लोगों (संन्यासियों) के लिए मनु का आदेश है–चरेद् भैक्षम् **(6/55)–कि वे भिक्षावृत्ति को अपनाएं.**

इन के अतिरिक्त जैन और बौद्ध भिक्षु भी भिक्षा पर निर्वाह करने वाले थे. दूर की यात्रा करने वाले लोग भी रास्ते में भिक्षा पर ही निर्भर करते थे, क्योंकि तब ढाबे या होटल आदि तो थे नहीं.

जिस देश की खुशहाली या खस्ताहाली का पैमाना भिक्षा का आसानी से मिलना या न मिलना हो, उस देश में भिक्षा आकस्मिक न हो कर सुनियोजित होती है. यही कारण है कि 'मनुस्मृति' आदि ग्रंथों में भिक्षा मांगने की विस्तृत विधियां दी गई हैं, 'भिक्षा के समय कैसे शब्द बोलने हैं,' 'किस समय भिक्षा के लिए निकलना चाहिए' आदि का विधान दिया गया है.

मनु का कहना है:

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुतरम्

–मनु. 2/48-49

अर्थात ब्राह्मण 'भवति, भिक्षां देहि' **(भद्रे, भिक्षा दो) कह कर भीख मांगे, क्षत्रिय** 'भिक्षां भवति देहि' **(भिक्षा, भद्रे, दो) कहे और वैश्य** 'भिक्षां देहि भवति' **(भिक्षा दो, भद्रे) कह कर भीख मांगे.**

भिक्षा मांगने के समय व परिस्थितियों के विषय में मनु महाराज का कथन है:

विधूमे सन्नमुशले व्यंगारे भुक्तवज्जने.
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्...

—मनु. 6/56

अर्थात जब घरों में खाना पकाने के कारण पैदा हुआ धुआं समाप्त हो जाए, जब धान आदि कूटते समय होने वाली मूसल चलने की आवाज बंद हो जाए, जब आग बुझ जाए, जब सब लोग भोजन कर चुके हों, जब खाने के पात्र (दोने, पत्तल आदि) बाहर फेंक दिए गए हों, तब प्रतिदिन भिक्षा मांगने के लिए जाना चाहिए.

भिक्षा मांग कर खाने को उपवास रखने के समान 'पवित्र' और 'शुभ कर्म' कहा गया है—

भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता.

—मनु. 2/188

इसीलिए भिक्षादान को भी 'पुण्य कार्य' कहा गया. मनु ने कहा है कि जो गृहस्थ विधिपूर्वक भिक्षा देता है, उसे वही पुण्य प्राप्त होता है, जो गुरु को गाय दान करने पर होता है:

यत् पुण्यफलमाप ोति गां दत्वा विधिवद् गुरोः,
तत्पुण्यफलमाप ोति भिक्षां दत्वा द्विजो गृही.

—मनु. 3/95

इसी विषय में एक अन्य विद्वान का कहना है कि भिक्षादाता को भिक्षुक द्वारा किए गए पुण्य कार्यों का आधा फल स्वतः प्राप्त हो जाता है:

यदन्नदानेन निजं शरीरं पुष्णंस्तपोऽयं कुरुते सुतीव्रम्.
कर्तुस्तदर्धं ददतोऽन्नमर्धमिति स्मृतिः संववृतेऽनवद्या

—शंकरदिग्विजय, 14/96

प्राचीन भारतीय साहित्य का श्रेष्ठ माध्यम संस्कृत को माना गया है. इस की जितनी महिमा गाई जाए, थोड़ी है. संस्कृत के व्याकरण का एक नियम है—

अत्यंतापह्नवे च लिड् वक्तव्यः

—वार्तिक

अर्थात जब किसी बात से साफ मुकरना हो, तब लिट् लकार (पूर्ण भूत) का प्रयोग होता है.

इस नियम के जो उदाहरण छठीसातवीं शताब्दी से चले आ रहे हैं, वे बहुत मनोरंजक हैं. पहला उदाहरण है—कलिंगेषु स्थितोसि? **(क्या तुम कलिंग देश में ठहरे हो?) इस के उत्तर में दूसरा व्यक्ति लिट् लकार का प्रयोग करते हुए कहता है—**नाहं कलिंगान् जगाम **(मैं तो कलिंग देश में कभी गया तक नहीं.)**

दूसरा उदाहरण देखें—दक्षिणापथं प्रविष्टोसि? **(क्या तुम दक्षिण भारत में प्रविष्ट**

हुए हो?) इस के उत्तर में लिट् लकार का प्रयोग करते हुए दूसरा व्यक्ति कहता है– नाहं दक्षिणापथं प्रविवेश (दक्षिणापथ में तो मैं ने कभी पैर तक नहीं रखा, उधर मुंह तक नहीं किया.) (देखें काशिका, प्रथम भाग, पृ. 209)

ये उदाहरण निरर्थक हैं या सार्थक? अर्थात क्या उदाहरण देने मात्र के उद्देश्य से 'कलिंग' और 'दक्षिणापथ' का नाम लिया गया है या इन का नाम किसी विशेष कारणवश इन उदाहरणों में आया है? इस तरह का प्रश्न उठना स्वाभाविक है.

इस का उत्तर जानने के लिए हमें धर्मशास्त्रों के पृष्ठ पलटने होंगे. धर्मशास्त्रों में स्पष्ट तौर पर यह आदेश दिया गया है कि कलिंग, दक्षिण भारत आदि में जाना धर्मविरुद्ध है. अतः धार्मिक व्यक्ति को वहां पैर भी नहीं रखना चाहिए.

बौधायन धर्मसूत्र (ई. पू. 500 के लगभग) में कहा गया है–

कलिंगान् गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठया वा
पद्भ्यां स कुरुते पापं यः कलिंगान् प्रपद्यते.
ऋषयो निष्कृतिं तस्य प्राहुर्वैश्वानरं हविः..

–बौधायन धर्मसूत्रम्, 1/1/15-16

अर्थात, जो कलिंग को जाता है, वह अपवित्र हो जाता है. वह सर्वपृष्ठ या पुनस्तोम नामक यज्ञ करने पर ही शुद्ध होता है. कलिंग को जाने वाला पैरों से पाप करता है. वह वैश्वानर यज्ञ करने से शुद्ध होता है.

'देवलस्मृति' में कहा गया है–

कलिंगकौंकणान् वंगान् गत्वा संस्कारमर्हति

–श्लोक 16

अर्थात कलिंग, कोंकण और बंगाल को जाने वाले की 'शुद्धि' करनी चाहिए.

'स्मृतिचंद्रिका' में 'आदित्यपुराण' का एक वचन उद्धृत किया गया है, जिस में कहा गया है:

दक्षिणापथं, गत्वैतान् कामतो देशान् कलिंगांश्च पतेद् द्विजः.

अर्थात, दक्षिण भारत, कलिंग आदि को स्वेच्छा से जाने वाला द्विज (सवर्ण जातीय व्यक्ति) पतित हो जाता है.

व्याकरण के उक्त नियम की व्याख्या कर के इस युग के संस्कृत के महापंडित चारुदेव शास्त्री ने अपने महाव्याकरण 'व्याकरण चंद्रोदय' (जिल्द 3, पृ. 509) की पादटिप्पणी में एक धर्मशास्त्रीय श्लोक लिख दिया है, जिस के अनुसार उक्त नियम बनाया गया है. उन्होंने लिखा है–

अंगवंगकलिंगेषु, सौराष्ट्रमगधेषु च.
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति..

अर्थात, अंग, वंग (बंगाल), कलिंग, सौराष्ट्र, मगध इन स्थानों पर तीर्थयात्रा

के उद्देश्य के बिना जाने वाला व्यक्ति पतित हो जाता है. अतः वह संस्कार (शुद्धि) का पात्र होता है.

इस तरह स्पष्ट है कि लिट् लकार (पूर्ण भूत) संबंधी नियम संस्कृत में इसलिए बनाया गया कि संस्कृत के ग्रंथों को मानने वाले हिंदू कलिंग, दक्षिणापथ आदि को अखंड भारत का हिस्सा मानने के लिए तैयार न थे. उन के लिए अनेक प्रदेश इतने बुरे थे कि उन की यात्रा करने मात्र से उन का धर्म भ्रष्ट हो जाता था, वे पतित हो जाते थे और उन के लिए यह विचार कोई अर्थ नहीं रखता था कि वे इलाके भी अखंड भारत के अभिन्न अंग हैं.

'विदेश' और 'परदेश' शब्द समानार्थक हैं. हर विदेशी या परदेशी स्वदेशी के मुकाबले पराया होता है. हमारे यहां हिंदी क्षेत्र में 'परदेशी' या 'परदेसी' भारत के ही किसी दूसरे प्रदेश या शहर के निवासी को भी कहते हैं. मोनियर विलियम ने अपने प्रसिद्ध संस्कृत-अंगरेजी कोश (पृ. 586) में इसीलिए परदेशी के अर्थ 'विदेशी' और 'यात्री' दिए हैं.

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार आदि के मजदूर जब पंजाब या हरियाणा से अपने प्रदेश या गांव को जाते हैं, तो कहते हैं, 'हम देश (देस) को जा रहे हैं. 'देश' (देस) से उन का मतलब है—स्वदेश. जहां वे प्रवास करते हैं, वह 'परदेश' होता है.

बृहस्पति का मत है कि महानदी या महापर्वत के दोनों तरफ के भाग एकदूसरे के लिए देशांतर (विदेश व परदेश) हैं, यदि दोनों में भाषा की भिन्नता हो. वह आगे कहता है कि कुछ लोग यह मानते हैं कि 60 योजन से आगे 'नया देश' शुरू होता है, कुछ 40 योजन से आगे और कुछ 30 योजन के आगे नए देश की शुरुआत मानते हैं:

महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः.
वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद् देशान्तरमुच्यते..
देशान्तरं वदन्त्येके षष्टियोजनमायतं.
चत्वारिंशद् वदन्त्यन्ये त्रिशदन्ये तथैव च..

—बृहस्पति

एक दूसरा मत है कि जहां की खबर एक दिन में पता न चले, वह विदेश होता है—

यत्रत्या वार्ता न श्रूयते स विदेश इति रत्नाकरः.

'धर्मसिंधु' नामक धर्मशास्त्रीय ग्रंथ कहता है कि ब्राह्मण के लिए अपने निवासस्थान से 20 योजन और क्षत्रिय के लिए 24 योजन से परे का इलाका देशांतर (विदेश, परदेश) है. यदि महापर्वत या महानदी बीच में आ जाए और उस के दोनों ओर रहने वाले लोगों की भाषाएं भिन्न हों, तो उन दोनों तरफ के भाग 'विदेश' कहलाएंगे. यदि भाषा में अंतर न हो, तो 20,24,30 और 60 योजन से कुछ कम दूरी होने पर भी वे भाग ब्राह्मण आदि के लिए विदेश ही होंगे:

देशान्तरं तु विप्रस्थ विंशतियोजनात्परम्. क्षत्रियादेः क्रमेण चतुर्विंशतित्रिंशत्षष्टियोजनैः. केचिद् विप्रस्य त्रिंशद् योजनोत्तरं देशान्तरमाहुः. भाषाभेदसहितमहागिरिणा भाषाभेदसहितमहानद्या वा व्यवधानमपि देशान्तरम्. यत्तु केचिद् भाषाभेदरहितमपि गिरिनदीव्यवधानं देशान्तरमाहुः तद् योज्नगतविंशत्यादि संख्यायास्त्रिचतुरादिन्यूनत्वेऽपि देशान्तरत्वसम्पादकतया योजयमिति.

–धर्मसिंधुः, तृतीय परिच्छेद, पृ. 870–71

इन धर्मशास्त्रीय आदेशों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण के लिए 160 मील, क्षत्रिय के लिए 192 मील, वैश्य के लिए 240 मील और शूद्र के लिए 480 मील की दूरी (ज्यादा से ज्यादा) तक ही स्वदेश हो सकता है. उस के आगे का भारतवर्ष का इलाका उसउस जाति के व्यक्ति के लिए विदेश है. यदि कोई महानदी या महापर्वत बीच में आए, तो इस से कम दूरी का इलाका भी 'विदेश' है.

सदियों से हमारी इस अखंड राष्ट्रविरोधी परंपरा का ही यह दुष्परिणाम है कि हम देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के 58 वर्षों के बाद भी लोगों में उस तरह की राष्ट्रीय एकता के प्रति जागृति पैदा नहीं कर सके हैं, जिस तरह की होनी चाहिए थी. 'हम एक हैं' के नारों को तोते की तरह रटने से राष्ट्रीय एकता न कहीं पैदा हुई है और न ही पैदा हो सकती है.

डा. अंबेडकर ने संविधान सभा में एक बार कहा था कि हम आजाद तो हो गए हैं, परंतु एक राष्ट्र बनना अभी हमारे लिए शेष है. हमें जितनी जल्दी यह एहसास होगा कि हम एक राष्ट्र नहीं हैं, उतना ही अच्छा होगा; क्योंकि तब हम एक राष्ट्र बनने के लिए प्रयत्न करेंगे. परंतु हुआ इस के विपरीत. हम ने बिना अभीष्ट पूर्व शर्तों को पूरा किए यह भ्रम पालना शुरू कर दिया व यह रटाना शुरू कर दिया कि हम एक हैं.

हमारी राष्ट्रीय एकता युद्ध के दिनों में दूध के उफान की तरह पैदा होती है, क्योंकि तब सब को सांझा खतरा दृग्गोचर होता है, परंतु विगत वर्षों के अनुभवों ने निर्विवाद रूप से प्रमाणित कर दिया है कि ऊपर से ओढ़ी गई राष्ट्रीय एकता की यह भावना एक दुर्बल व झीने चोगे से ज्यादा दृढ़ और स्थायी नहीं है.

ऐसा इसलिए नहीं है कि इस देश के लोगों को राष्ट्रीय एकता से अपने अस्तित्व को खतरा है, बल्कि इसलिए है कि उन की परंपरागत मान्यताएं ऐसी धरती की तरह हैं, जो इस में उगाए जा रहे पौधे के प्रतिकूल तत्त्वों से भरी हैं. जिस तरह स्थानविशेष की मिट्टी बदली जाती है, जिस तरह व्यक्तिविशेष का रक्त परिवर्तित किया जाता है, उसी प्रकार हमें राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिए सांस्कृतिक परिवर्तन लाना होगा, अपना मुहावरा बदलना होगा और भाषा तक को अपनी चपेट में लेने वाले धर्मशास्त्रीय विधानों को बदलना होगा. तब जा कर राष्ट्रीय एकता का पादप पल्लवित और पुष्पित हो सकेगा.

ऊपर के अनुच्छेदों में किए गए शब्दों के अध्ययन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति विश्व की दूसरी संस्कृतियों के ही समान गुणदोषमय संस्कृति रही है. यह कहना गलत है और तथ्यों के सर्वथा विपरीत है कि इस में गुण ही गुण थे और यह सदा दूध धुली ही रही है. हमें इस में से ग्राह्य गुणों को ग्रहण कर के अग्राह्य अवगुणों को तिलांजलि देनी होगी. यही एकमात्र सन्मार्ग है.

हिंदू मंदिर क्यों लुटते रहे?

जब से रामजन्मभूमिमंदिर, बाबरीमसजिद के विवाद ने तूल पकड़ा है तब से मध्यकालीन मुसलिम बादशाहों द्वारा हिंदू मंदिरों के लूटे, तोड़े, मसजिदों में परिवर्तित किए जाने से संबद्ध अप्रिय अध्याय का फिर से ऊंचे स्वर में पाठ आरंभ हो गया है. अनेक लोगों ने इस विषय पर लेख/पुस्तकें लिखी हैं, और कई नए तथ्य भी प्रकट किए हैं.

एक लेखक ने ऐसी 2,000 मसजिदों का विवरण दिया है जो या तो मंदिरों के स्थान पर बनीं या जिन के निर्माण में मंदिरों के मलबे का इस्तेमाल किया गया (देखें : 'हिंदू टैंपल्स : वॉट हैपेंड टू देम?' में सीताराम गोयल का लेख, पृ. 62-181). एक अन्य लेखक के अनुसार अकेले कन्नौज में 10,000 मंदिर नष्ट किए गए (देखें: 'द कुरान एंड द काफिर' के परिशिष्ट नं 3 में कोलिन मैने का 'द डैड हैंड आफ इसलाम' शीर्षक लेख).

पं. देवप्रकाश ने अपनी पुस्तक 'मंदिरों की लूट' में विभिन्न इतिहासकारों की रचनाओं से मंदिरों की लूट के विवरण एकत्र किए हैं. प्रफुल्ल गोराडिया की 'हिंदू मसजिद्स' (अंगरेजी में 2002 में छपी) पुस्तक भी इसी श्रृंखला की एक ताजा कड़ी है, जो मंदिरों के मसजिदों में तबदील किए जाने के विवरण प्रस्तुत करती है.

इस तरह के सारे साहित्य का अवलोकन करने के बाद जो सर्वाधिक परेशान करने वाला प्रश्न उभरता है और जिस का उत्तर इस सारे साहित्य में कहीं भी नहीं दिया गया है वह यह है कि उन हिंदुओं ने, जो बहुत बड़ी संख्या में थे और जिन की बहादुरी की डींगें हांकते हुए आज भी अतीतवादी हिंदू नहीं अघाते, यह सब क्यों होने दिया?

इस के साथ ही जुड़ा एक अन्य प्रश्न यह भी है कि जो लोग बहुत 'खोज' कर के ऐसे लेख व पुस्तकें लिख रहे हैं जिन में उन प्राचीन हिंदू मंदिरों की लूट, तबाही और हिंदुओं के कत्लेआम का बहुत सजीव वर्णन है, उस से वे किस का क्या भला करना चाहते हैं? आज सैकड़ों वर्षों बाद अपनी उस समय हुई पिटाई की दुहाई दे कर क्या वे अपनी रुग्ण मनोवृत्ति का परिचय नहीं दे रहे हैं? और क्या इस से उस समय की हिंदू बहादुरी की गाथाएं अपनेआप झूठ का पुलिंदा मात्र प्रमाणित नहीं हो जातीं?

इतना ही नहीं, उस समय हुई पिटाई के विवरणों को आज सुंदरसुंदर शब्दों में बढ़िया कागज पर मुद्रित करवा कर लिए फिरने का अर्थ है कि आज भी हिंदू

मनोवृत्ति उतनी ही रुग्ण है जितनी तब थी. यह तो उस रोंदू व कायर बच्चे की मनोवृत्ति है, जो मारपीट सह कर रोता फिर रहा हो और हर एक को बताता जा रहा हो कि मुझे इस से पहले 'उस ने' पीटा था, उस से पहले 'फलां' ने तथा 'उस ने' मुझे 'ऐसे' पीटा था, 'फलां' ने 'ऐसे' पीटा था और 'फलां' ने 'ऐसे'.

इस बात में शक नहीं कि पूज्य और पूजास्थान की उन्हें ही रक्षा करनी होती है जिन के वे पूज्य व पूजास्थान होते हैं. कोई पूज्य व पूजास्थान अपनी किसी अलौकिक शक्ति से आक्रमणकारी को न अंधा करता है, न लूला व लंगड़ा. न वह अस्त्रशस्त्र ले कर मुकाबला करता है, न बिजली गिराता है. न तब आकाश फटता है, न भूचाल आता है.

इसीलिए बाबर के आक्रमण का आंखों देखा वर्णन करते हुए गुरु नानक देव लिखते हैं कि उस के आक्रमण की बात सुन कर करोड़ों पीरों ने टोनोंटोटकों से उसे रोकने का निष्फल प्रयत्न किया. उस के हमले से वज्र के समान दृढ़ मंदिर भी जल गए और राजकुमारों को टुकड़ेटुकड़े कर के मिट्टी में मिला दिया गया. टोनोंटोटकों के फलस्वरूप कोई भी मुगल अंधा नहीं हुआ और किसी पीर ने भी कागजों पर अंकित यंत्रों/टोनों से करामात अथवा चमत्कार का परिचय नहीं दिया:

कोटी हू पीर वरजि रहाए जा
मीरु सुणिआ धाइआ.
थान मुकाम जले बिज मंदर
मुछिमुछि कुइर रुलाइआ.
कोई मुगलू न होआ अंधा
किनै न परचा लाइआ.

–गुरु नानक रचनावली, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला पृ. 246

पूज्य व पूजास्थान की रक्षा कैसे की जाती है, यह जानने के लिए भी हमें गुरु नानक देव के ही सिक्खों के इतिहास की शरण में जाना होगा. 1740 ई. में अमृतसर के कोतवाल मस्सा रंगड़ ने हरिमंदिर साहब का अपमान किया. डा. जी.एस. छाबड़ा ने लिखा है, "मस्सा मंदिर के अंदर बैठ गया. वहां उस की वासना की पूर्ति के लिए नर्तकियां थीं और प्यास बुझाने के लिए शराब. उस ने उस स्थान की पवित्रता भंग कर दी जहां गुरुग्रंथ साहब का पाठ हुआ करता था और भगवान की स्तुति होती थी."

इस पर महताब सिंह ने, जो अमृतसर के निकटवर्ती अपने गांव मीरां कोट को छोड़ कर बीकानेर में जा बसा था, सुक्खा सिंह को साथ लिया और घोड़ों पर सवार हो कर दोनों अमृतसर की ओर चल पड़े. वहां पहुंच कर उन्होंने कुछ थैलों में पत्थर भर लिए और उन के ऊपर थोड़े से सिक्के इस तरह डाल लिए कि थैले सिक्कों से पूरे भरे प्रतीत हों. राजस्व अधिकारियों जैसी वर्दी पहन वे मस्सा के दरबार में पहुंचे. उसे सलाम बजाई और राजस्व अदा करने के लिए थैले आगे को बढ़ाए. उन्हें पकड़ने के लिए ज्यों ही वह आगे की ओर झुका, बिजली के कौंधने के समान महताब सिंह की तलवार चली और उस ने मस्सा का सिर धड़ से अलग कर दिया. दोनों सिख

तलवारें लहराते हुए घोड़ों पर सवार हो कर भाग गए. (देखें: एडवांस्ड हिस्ट्री आफ द पंजाब, जिल्द 1, पृ. 369-70).

लेकिन हिंदुओं ने क्या किया? उन्होंने वही किया जिस की ओर 'नानक वाणी' संकेत करती है. मंदिरों के मालिक व प्रबंधक ब्राह्मण पुजारी थे, जो सदियों से लोगों को धागे, ताबीज, मंत्रतंत्र आदि देते आए थे और इन की लंबीचौड़ी महिमा का बखान कर लोगों से धनधान्य वसूलते रहे थे. ऐसेऐसे मंत्र रच रखे थे और ऐसेऐसे यज्ञानुष्ठान गढ़ रखे थे कि कहा जाता था कि इस से बड़े से बड़े शत्रु को भी बिना तलवार उठाए खत्म किया जा सकता है और फिर वह चाहे कितनी ही दूर क्यों न हो. हमलावरों को रोकने व खत्म करने के लिए मंत्र, तंत्र आदि सब का प्रयोग किया गया, परंतु फल वही हुआ जो होना था. न कोई हमलावर रुका, न अंधा हुआ और न मरा.

परंतु कोई पंडा, पुरोहित या पुजारी यह कैसे सह सकता है कि उस के सदियों से चले आ रहे कमाई के साधन जनसामान्य के सामने इस तरह असफल एवं निष्फल हो कर रह जाएं? क्योंकि कमाई के इन साधनों पर से आम जनता के विश्वास के उठ जाने का मतलब था इन (पंडों/पुरोहितों) की जीविका के परंपरागत साधनों का खत्म हो जाना.

अतः उन्होंने ऐसे बहाने ढूंढ़ने शुरू किए जिन से हमलावरों के मुकाबले असफल रहने का कारण किसी अन्य के सिर मढ़ा जा सके ताकि लोगों का यंत्रोंमंत्रों पर विश्वास पूर्ववत बना रहे. स्वार्थी ब्राह्मणवाद ने जल्दी ही एक पलायनवादी शार्टकट रास्ता ढूंढ़ निकाला और घोषणा कर दी कि हमारे धर्म, हमारे पूज्यों व पूजा स्थानों का यह जो अपमान हो रहा है, यह होना ही है. इसे कोई रोक नहीं सकता. यह समय का चक्र है, जो खुद भगवान के इशारे पर चल रहा है. यह कलियुग का प्रभाव है. इसी कारण मंत्रतंत्र इस प्रसंग में सफल नहीं हो पाए. वैसे इन की शक्ति अचूक है.

देवीभागवत पुराण ने घोषणा की कि कलियुग बुराई को जन्म देता है और पूजा को बुरा बनाता है. इसीलिए बड़ेबड़े धर्मज्ञ तक अधर्म करने लगते हैं. यह सारा कलियुग का प्रभाव है. इसे कोई बदल नहीं सकता. हे राजन, किसी सामान्य तरीके से इस से छुटकारा नहीं पाया जा सकता.

तस्मात् कलिरसत्कर्ता तस्मिंस्तु तादृशी प्रजा.
महान्तोपि च धर्मज्ञा अधर्मं कुर्वते नृप.
कलिस्वभाव एवैष परिहार्यो न केनचित्.
निष्कृतिर्न हि राजेंद्र सामान्योपायतोभवेत्.

–देवीभागवत महापुराण 6/11/27, 53–55

विष्णु पुराण ने हिंदुओं की शक्तिहीनता पर परदा डालते हुए घोषणा की कि कलियुग में वेदमार्ग अर्थात हिंदू धर्म का लोप हो जाएगा, अधर्म की वृद्धि होगी और वे सब दुख लोगों को प्राप्त होंगे जो शक्तिहीन और लज्जाहीन व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं:

वेदमार्गे प्रलीने च अधर्मवृद्ध्या.
निस्सत्त्वानां निर्हृणीकाणां तथा नृणाम्.
यद्यद् दुखाय तत्सर्वं कलिकाले भविष्यति.

–विष्णुपुराण 6/1/39, 58

गरुड़ पुराण ने हमलावरों द्वारा लूटे जाने का औचित्य प्रतिपादित करते हुए कहा कि कलियुग में शोक, भय और दीनता का चारों ओर साम्राज्य होता है. जनपदों (शहरों, कसबों आदि) को दस्यु (लुटेरे/हमलावर) लूटते और रौंदते हैं तथा जनता चिंताग्रस्त रहती है:

शोकमोहौ भयं दैन्यं स कलिस्तमसि स्मृतः
दस्युकृष्टा जनपदाः
उद्विग्नाः संति च जनाः

–गरुड़ महापुराण, 215/27-28, 30

ब्रह्मवैवर्त पुराण ने देवमंदिरों व देवमूर्तियों के टूटने व उन के अस्तित्व तक के खत्म हो जाने को कलियुग की लीला बता कर नपुंसकता पर धार्मिक पलायनवाद का मोटा परदा डालने की कोशिश की. उस का कथन है कि कलियुग में दस्युओं (हमलावरों/लुटेरों), चोरों और दुष्टों द्वारा भले लोग पीड़ित किए जाते हैं. म्लेच्छ और यवन राजा होते हैं, जो (हिंदू) धर्म की निंदा करते हैं. उन के हाथों सारा संसार देवमूर्तियों व मंदिरों से रहित हो जाता है:

दस्युचोरैश्च दुष्टैश्च शिष्टाश्च परिपीडिताः
राजानश्चापि म्लेच्छाश्च यवना धर्मनिंदकाः
देवायतनहीनं च जगत्सर्वम्.

–ब्रह्मवैवर्तपुराण, उत्तरार्द्ध, 90/41, 49, 52

इस तरह हर पोथे में पलायनवादी चोरदरवाजा रख कर हिंदू समाज के ठेकेदारों ने, ब्राह्मणवादी नेताओं ने अपना हलवामांडा तो सुरक्षित कर लिया, लेकिन सारे हिंदू समाज को 'कलियुग की बूटी' खिला कर उसे पौरुषहीन भेड़ें बनाने में कोई कसर उठा नहीं रखी. कहां महताब सिंह और सुक्खा सिंह का आदर्श और कहां पुराणकारों का शर्मनाक पतन. अंतर का कारण केवल यह है कि वे दोनों ब्राह्मणवाद की दलदल (विपरन की रीत) से मुक्त हो चुके थे, जबकि पुराणों के रचयिता उस दलदल को और बढ़ा रहे थे.

प्रतिदिन की विपत्तियों से तंग आए लोग पुराणकारों की 'कलियुग की बूटी' खा कर भी जब कभी अपने 'त्रिकालज्ञों' से पूछते कि 'पंडितजी महाराज, क्या कभी इन विपत्तियों का अंत होगा?' तो वे 'ज्योतिषशास्त्र के पारंगत' पंडितजी भला उन्हें क्या उत्तर देते? अगलेपिछले जन्मों (?) की बात बताने वाले इस बारे में कुछ नहीं बता पा रहे थे. इस संकट में उन्हें अपने पूर्वजों के द्वारा बताए गुर याद आए. उन्होंने गीता में कहे भगवान (?) कृष्ण के वाक्य याद दिलाने शुरू कर दिए और लोगों का ढाढ़स

बंधाया कि जब इस प्रकार अधर्म की वृद्धि होती है और हिंदू धर्म को खतरा पैदा होता है, तब भगवान स्वयं अवतार धारण कर के अपने भक्तों की रक्षा करते हैं. उन्होंने ऐसा हर युग में किया है:

यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्.
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे.

–श्रीमद भगवद्गीता, 4/7-8

लोगों को यद्यपि शास्त्रों की ब्राह्मणवादी एवं पलायनवादी गोलियों का आदी बना दिया गया था, तथापि स्वाभाविक जिजीविषावश वे भूतभविष्य के तथाकथित ज्ञाताओं से बारबार पूछते रहते थे कि 'पंडितजी महाराज, यह अवतार आएगा कब? भगवान हमारे दुख दूर करने के लिए आएंगे कब?' इस पर पंडितों ने एक नया पुराण ही रच दिया और उन का मन बहलाने के लिए झुनझुने के समान उन्हें थमा दिया.

इस नए पुराण, 'कल्कि पुराण' में बताया गया कि विष्णु भगवान कल्कि के नाम से अवतार ग्रहण करेंगे और सब दुख दूर कर देंगे. वे सब म्लेच्छों को तलवार एवं तीरों से नष्ट करेंगे:

ततः कल्किर्म्लेच्छगणान् करवालेन कालितान्,
बाणैः संताजितानन्याननयद् यमसादनम्.

–कल्किपुराण, 15/1

इस तरह कलियुग का अंत हो जाएगा. इस के बाद सत्ययुग का प्रारंभ होगा और सर्वत्र धर्म का साम्राज्य होगा. लोग सुखी होंगे, इत्यादि.

स्पष्ट है, जब लोग हमलावरों के हमलों, उन के द्वारा मंदिरों व मूर्तियों के तोड़े जाने आदि से बेचैन होते, कल्कि पुराण के झुनझुने से उन्हें बहला दिया जाता. वे और अत्याचारों को चुपचाप सहने के लिए मानसिक तौर पर तैयार होते रहते.

यह थी भूमिका जो ब्राह्मणवादी शास्त्र (धर्म ग्रंथों) ने उस समय निभाई. हिंदू शस्त्र की भूमिका भी ज्यादा अच्छी नहीं रही. ब्राह्मण को खुद शस्त्र चलाना नहीं था. वैश्य के लिए भी शस्त्र वर्जित था. जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा, ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की कुल जनसंख्या से भी कई गुणा बड़ा हिस्सा, शूद्र था. उस के लिए भी शस्त्र उठाना मना था. केवल मुट्ठीभर क्षत्रिय थे जिन का कर्त्तव्य तलवार उठाना था. उन में आधी स्त्रियां थीं, कुछ बच्चे थे, कुछ बूढ़े थे.

बहुत थोड़े लोग ऐसे होते थे जो युद्ध करने के योग्य होते थे. फिर उन की युद्ध पद्धतियां और शस्त्रास्त्र पुराने ढर्रे के थे, क्योंकि ऐसी कूपमंडूकता ही ब्राह्मणवाद द्वारा आदिष्ट एवं प्रशंसित थी. ये लोग भी मंदिरों की रक्षा की अपेक्षा अपने राजा के लिए लड़ते थे, जो उन का अन्नदाता था.

लेकिन वहां भी वे उत्साही और ऊंचनीच की भावना से रहित हमलावरों के सामने ज्यादा देर टिक नहीं पाते थे. इस तरह हम देखते हैं कि ब्राह्मणवाद ने हिंदू शस्त्र की धार भी कुंठित कर रखी थी.

आज हमें बताया जाता है कि राम जन्मभूमि मंदिर को गिरा कर वहां बाबर ने मसजिद बनवाई थी. हमारा पूछना है कि जब मंदिर गिराया गया था, तब हिंदू कहां थे? धर्मगुरु कहां थे? हिंदुओं की अस्मिता कहां थी? मंदिर 1528 ई. में मसजिद बना और आज 1990 में इस घटना को हुए 462 साल व्यतीत हो चुके हैं. उस समय तो हमें सिखाया गया कि कलियुग है, अतः ऐसा होना ही है. और विगत 462 वर्षों से हमें कल्किअवतार की प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ धरे बैठाए रखा गया है. आज हम से कहा जा रहा है कि बाबर को ऐसा नहीं करना चाहिए था, उस का काम गलत था.

हमारा पूछना है कि क्या वह सब ठीक था जो हिंदू समाज से तब करवाया गया और पिछले 462 वर्षों से करवाया जा रहा है? एक तरफ तो आप कहते हैं कि हमारे त्रिकालदर्शी ऋषियोंमुनियों द्वारा रचित ग्रंथों में कही गई हर बात का अक्षरअक्षर सही है जिस में कलियुग का वर्णन भी शामिल है, दूसरी ओर हम उसी कलियुग में विदेशी हमलावर से यह आशा करते हैं कि वह हमारे मंदिरों को धराशायी कर के मसजिद बनाने की जगह तुलनात्मक धर्मविज्ञान पर शोध के लिए वजीफे घोषित करता.

जहां यह उल्लेखनीय है कि हिंदू लेखकों ने मंदिरों की लूट/तबाही आदि के लिए इसलाम के मूर्तिभंजक सिद्धांत को जिम्मेदार ठहराया है, जो तथ्यों के आलोक में पूरा सत्य नहीं है. इस में कोई संदेह नहीं कि इसलाम मूर्तिभंजक धर्म है. हजरत मुहम्मद साहब ने काबा के आसपास की मूर्तियां खुद तुड़वाई थीं और घोषणा की थी कि सत्य आ गया है और झूठ गायब हो गया है.

इसलाम में मूर्तिपूजा को बहुत बुरा समझा जाता है, यह बताने की जरूरत नहीं. हजरत मुहम्मद साहब के जीवन के दिनों का वर्णन करते हुए डी.एस. मर्गोलिऊथ ने अपनी पुस्तक 'मोहम्मद एंड द राइज आफ इसलाम' (पृष्ठ 202) में लिखा है कि यथ्रिब में मूर्तियों को कुत्तों से बांध दिया गया था और कुओं में डुबो दिया गया था. जोशीले धर्मपरिवर्तकों ने विरोधी कबीलों के आदमियों के सिर तोड़ने के स्थान पर उन के देवताओं के सिर तोड़ने को अधिमान दिया था.

इतना ही नहीं, कुरान में स्पष्ट शब्दों में मूर्तिपूजक काफिरों के विषय में कहा गया है:

> फइल्लम् तफ़अलू वलन् तफअलू फत्तकुन्नारल्लती,
> वकूदुहन्नआसु वल् हिजारतु उअिद्दत् लिल् काफिरीन्
>
> –2/24

अर्थात उस आग से डरो जिस का ईंधन मूर्तिपूजक मनुष्य और पत्थर की मूर्तियां हैं.

फइजन् सलखत अश्हुरुल हुर्मु फक्तुलुल् मुश्रिकीन है सु बजत्तुमूमूहुम्
बखुजूहुम् वः सुरूहुम् व कृउदूल हुम् कुल्ल मर्स्वद्, फइन ताबू व
अकामुस्स्बलात ब आतुज्जकात फख़ल्लू सबलहुम् इन्नाल्लाह गफरूर्रहीम्

−9/5

अर्थात फिर जब अदब के महीने निकल जाएं तो मुश्रिकीन (मूर्तिपूजक या ईश्वरेतर पदार्थ के पूजकों) को जहां पाओ, कत्ल करो, उन को गिरफ्तार करो और उन का मुहासरा करो और हर घात की जगह उन की ताक में बैठो. फिर अगर वे लोग तोबा करें और नमाज पढ़ें और जकात (धार्मिक कर) दें तो उन का रास्ता छोड़ दो, क्योंकि अल्लाह बख्शने वाला मिहरबान है.

परंतु इस से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि जो मंदिर आदि लुटे, टूटे या हिंदुओं के हाथों से निकल कर मुसलमानों के हाथों में पड़े, उन सब के लिए इसलाम का मूर्तिभंजक स्वरूप ही उत्तरदायी है.

तोड़फोड़ लूट व स्वामित्व परिवर्तन की सब घटनाएं निम्नलिखित तीन खंडों में विभक्त की जा सकती हैं:

1. इसलाम के कारण हुई घटनाएं.
2. धनलोलुपता के कारण हुई घटनाएं.
3. अस्पृश्यता के कारण हुई घटनाएं.

इसलाम के कारण

इसलाम के कारण हुई घटनाएं पुनः 5 उपखंडों में विभक्त की जा सकती हैं :

- ऐसी घटनाएं जिन के पीछे गैरमुसलिम लोगों के कल्याण की भावना थी. शायद इन की संख्या बहुत ज्यादा नहीं रही.
- ऐसी घटनाएं जिन के पीछे मुसलिम मतांधता थी. ऐसे लोग 'गाजी' और 'मुजाहिद' की उपाधि प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ साधन मतांधता की डिग्री को बढ़ाते रहना ही समझते थे. ऐसे लोगों ने ही मंदिरों को मसजिदों में परिवर्तित किया.
- ऐसी घटनाएं जो इसलिए हुईं कि कुछ तत्कालीन मुसलिम बादशाहों को संदेह हुआ कि फलां मंदिर उन की सत्ता के लिए खतरा बन सकता है, वहां से विद्रोह की आग को हवा मिल सकती है. महमूद खिलजी द्वारा एक ऐसे मंदिर पर आक्रमण करने का त्वारीख फरिश्ता (भाग 2, पृ. 308) में जिक्र है जिस में युद्ध का सामान एकत्र किया गया था.
- ऐसी घटनाएं जो आक्रमण के समय घटित हुईं, क्योंकि हमले के समय 'शत्रु' के प्रत्येक ऐसे स्थान को नष्ट कर दिया जाता है, जो उसे प्रिय हो या उस के लिए लाभकारी सिद्ध हो सकता हो. जिस तरह मुसलमानों के हमलों में मंदिर नष्ट हुए उसी प्रकार मालाबार आदि में पुर्तगालियों के हमलों में मसजिदें नष्ट हुईं.

पुर्तगालियों ने 904 हिजरी (1526 ई.) में पहलेपहल मालाबार में प्रवेश किया तो वहां की एक मसजिद को गिरा दिया. कालीकट में उन्होंने 915 हिजरी (1537 ई.) में जामा मसजिद जला दी. फिर कंतूर (ट्राबनकोर) में फिरंगियों ने मसजिदों को गिरा दिया. 1532 ई. में शालियात कालीकट पर फिरंगियों ने एक बड़ा आक्रमण किया और वहां की उस पुरानी मसजिद को गिरा दिया जिसे मुसलमानों ने मालाबार में पहलेपहल बनाया था.

फिरंगियों ने जब 1537 ई. में जजीरा ऐनी (लंकाद्वीप) पर हमला किया तो वहां की मसजिदों को गिरा दिया. 1573 ई. में फिरंगियों और मुसलमानों में हुई मुठभेड़ के दौरान मुसलमानों ने विरोधियों का गिरजाघर जला दिया. (देखें: हकीम सैयद सम्मसुल्लाह कादरी कृत 'पुर्तगेजान मालाबार' पृ. 1-2, 12-13, 16 से 18, 28-29 और 36). ऐसे उदाहरण विदेशों में भी मिलते हैं, जिन के लिए प्रो. फिलप कृत 'अरब एंड इसलाम' पुस्तक देखी जा सकती है.

फिर, हमले के समय लोग एक जगह मंदिर आदि में इकट्ठे हो जाया करते थे ताकि अकेलेदुकेले भयभीत हो कर समय काटने के स्थान पर सामूहिक तौर पर बचाव कर सकें. ऐसा आज तक होता रहा है. देशविभाजन के समय भी विरोधियों से बचने के लिए मुसलमान मसजिदों में और हिंदू व सिख मंदिरों व गुरुद्वारों में एकत्र हो जाया करते थे ताकि सामूहिक तौर पर प्रतिरक्षा की रणनीति अपनाई जा सके.

- ऐसी घटनाएं जिन के पीछे विजित विधर्मियों के प्रति विजेताओं की स्वाभाविक घृणा काम कर रही थी.

धनलोलुपता के कारण

धनलोलुपता के कारण मंदिरों पर बहुत ज्यादा हमले हुए हैं और ये सब लूट के मामले हैं. लूटते समय तोड़फोड़ भी हुई, लेकिन मंदिर को मसजिद में परिवर्तित करने का उद्देश्य यहां नहीं के बराबर था.

मुसलिम आक्रांताओं को मंदिरों की लूट से मिलने वाले धन (हीरे, जवाहरात, सोने व चांदी) के जो विवरण मुसलिम लेखकों की पुस्तकों में मिलते हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि अनेक मंदिर भारतीय रिजर्व बैंक के समान थे. उन की समृद्धि ही उन की तबाही का कारण बनती रही है. उसी के कारण आए दिन हमलावर इधर आते रहे.

मंदिरों की समृद्धि की झलक नीचे के विवरणों से प्राप्त की जा सकती है:

- मुहम्मद बिन कासिम को एक मंदिर से सोने का एक बुत (मूर्ति) मिला जो 230 मन भारी था. देगों में से 13,200 मन सोना निकला. यह सारा सोना दमिश्क पहुंचाया गया. (आईन-ए-हकीकत नया बान पहला, अकबर शाह नजीब, पृ. 92).
- महमूद गजनवी को नगरकोट के मंदिर (बुतखाने) से 60 लाख दीनार सुर्ख, 700 मन चांदी, सोने के कई सौ मन बरतन, 2,000 मन शुद्ध चांदी और 30

मन जवाहरात प्राप्त हुए. (त्वारीख फरिश्ता, पृ. 40 और त्वारीख बहारस्तान, नवल किशोर प्रेस, मुफ्ती गुलाम सरवर लाहौरी, पृ. 251).

- 399 हिजरी (1021 ई.) के बाद महमूद ने ज्वाला देवी के मंदिर को लूटा, जहां से उसे 60 लाख दीनार, 700 मन सोना, सोने व चांदी की 200 मन ईंटें, सोना खालिस 2,000 मन, चांदी 20 मन तथा जवाहरात, हीरा, मोती, लाल व नीलम मिले. (अहकुम त्वारीख अल्यारूफ महबूबस्सलातीन मुहम्मद हुसैन खां, पृ. 111-12).
- 400 हिजरी (1022 ई.) में महमूद को कन्नौज के एक बड़े मंदिर से सोने की 2 मूर्तियां मिलीं जिन में से एक की आंखों में 2 बहुत कीमती याकूत थे, जो लगभग 50-50 हजार दीनार के थे. दोनों मूर्तियों का सोना 8,800 मिस्काल था. 400 मूर्तियां चांदी की थीं. (अहकुम त्वारीख, मुहम्मद हुसैन खां, पृ. 112-13 तथा बहारस्तान त्वारीख, मुफ्ती गुलाम सरवर लाहौरी, पृ. 251-52).
- मथुरा से 98,300 मिस्काल सोना और चांदी की 100 से अधिक मूर्तियां मिलीं. यह सारा सामान सौ ऊंटों का बोझ निकला. (त्वारीख फरिश्ता, पृ. 47).
- सोमनाथ के मंदिर में 56 स्तंभ जवाहरात से जड़े हुए थे. मंदिर के घड़ियाल की जंजीर ही 200 मन सोने की थी. वहां से इतने हीरे, मोती आदि मिले कि किसी बादशाह के खजाने में उस का अंशमात्र भी न था. (पूर्ववत्, पृ 50-51).
- 7वीं मुहर्रम हसन अली खां उदयपुर के मंदिरों की लूट का सामान 20 ऊंटों पर लाद कर ले गया. (मासरे आलमगीर, मौलवी मुहम्मद फिदा अली, पृ. 129).
- गुजरात के बल्लभराय के राज्य के एक मंदिर को लूटा गया जिस में जवाहरात की 20,000 मूर्तियां थीं. उन में से एक मूर्ति 12 गज ऊंची थी, जो सोने के तख्त पर विराजमान थी. यह तख्त सोने के एक गुंबदनुमा कमरे में था. कमरा सफेद मोतियों, लाल, हरे, पीले और आसमानी रंग के जवाहरात से जड़ा हुआ था. (अरबोहिंद के तअल्लकात, सैय्यद सुलेमान नदवी, पृ. 204).
- शहाबुद्दीन ने 1,000 मूर्तियां तोड़ीं और वह 4,000 ऊंट जवाहरात तथा सोने से लाद कर ले गया. (त्वारीख फरिश्ता, पृ. 95).
- मुहम्मद गोरी ने अकेले बनारस में 1,000 मूर्तियां तोड़ीं और वह लूट के सोनेचांदी को 4,000 ऊंटों पर लाद कर अफगानिस्तान ले गया. (वाकेआत् दारुल्हकुमत, भाग 1, बशीरुद्दी अहमद देहली, पृ. 27).
- मुहम्मद बिन तुगलक ने एक मंदिर में से, जो कि एक तालाब में स्थित था, इतना सोना प्राप्त किया कि वह उसे 2,000 हाथियों और कई हजार बैलों पर लाद कर ले गया. (त्वारीख हिंद नई रोशनी, पृ. 42).

ये कुछ संक्षिप्त विवरण हैं. इन से भलीभांति अंदाजा लगाया जा सकता है कि हिंदू मंदिरों में कितना धन एकत्र था. आज भी तिरुपति मंदिर जैसे बड़ेबड़े मंदिर हैं, जिन का बजट करोड़ों में है.

अत: एक जगह इकट्ठी इतनी धनदौलत को देख कर किसी के मुंह में पानी भर आना कोई बड़ी बात न थी. यही कारण है कि मंदिरों पर न केवल गैरहिंदू हमलावरों व बादशाहों ने गिद्धों की तरह आक्रमण किए, बल्कि खुद हिंदुओं ने भी ऐसा करने से गुरेज नहीं किया. शंकरवर्मा (883 ई. से 902 ई.) ने कश्मीर में शैव मंदिरों से भिन्न अन्य देवीदेवताओं के मंदिरों को लूटा. 11वीं-12वीं शताब्दी (1193 से 1210 ई.) में परमार राजा सुभट वर्मन ने गुजरात में दमोह और खंभात में अनेक जैन मंदिरों को लूटा. कल्हण (1150 ई.) की 'राजतरंगिणी' के अनुसार, कश्मीर के राजा हर्ष ने अनेक मंदिरों की संपत्ति लूटी.

अस्पृश्यता के कारण

हिंदूमंदिरों की दुर्गति व उन के स्वामित्व परिवर्तन के संदर्भ में एक बात जो विशेष ध्यान देने योग्य है और जिस की ओर प्रस्तुत विषय पर लिखने वाले विद्वान लेखकों का ध्यान नहीं गया है (या जानबूझ कर नहीं दिया गया है, कौन जाने?) वह यह है कि इस दुर्गति और स्वामित्व परिवर्तन के लिए हिंदू धर्म की अस्पृश्यता की भावना भी उतनी ही जिम्मेदार है, जितने पूर्वोक्त दोनों कारण. हिंदू धर्म ग्रंथों में निम्नलिखित प्रकार के कथन उपलब्ध होते हैं, जो किसी व्याख्या के मुहताज नहीं हैं:

- **चांडाल द्वारा मूर्ति को छू देने पर उस की पुनर्प्रतिष्ठा करनी चाहिए:**

चांडालस्पर्शनेतथा, चैव प्रतिष्ठां पुनराचरेत् (सिद्धांतशेखर:).

यदि चांडाल या कोई पतित किसी देव मंदिर के बाहर आंगन में दाखिल हो जाए तो उस स्थान पर गौएं बांध कर और उसे गोमूत्र से लेप कर के शुद्ध करना चाहिए:

प्रासाददेवहर्म्याणां चाण्डालपतितादिषु.
अन्त: प्रविष्टेषु तथा शुद्धि: स्यात्केन कर्मणा.
गोभि: संक्रमणं कृत्वा गोमूत्रणैव लेपयेत्

–वृद्धहारीत:

- **'कारणागम' में कहा गया है कि यदि विष्णु या शिव मंदिर की चारदीवारी में कोई चांडाल आ जाए तो देवता की शक्ति की हानि, राजा की मृत्यु, ग्राम का क्षय और अन्न व चारे का नाश होता है:**

रुद्रस्य वाथ विष्णोर्वा प्रकाराभ्यन्तरे यदि, चाण्डालश्च समागत:
तद् देवस्य कलाहानि: राज्ञो मरणमेव च,
तद्ग्रामस्य क्षय: प्रोक्त: सस्यानां नाशनं ध्रुवम्.

–कारणागम:, प्रायश्चित्त कांड

- **'पांचरात्र' के अनुसार, यदि चांडाल आदि किसी मंदिर के गर्भगृह को छू ले तो उस की शुद्धि शास्त्रविधि के अनुसार न करने पर राजा और राष्ट्र दोनों का नाश होता है:**

स्पृष्टभागधनांगं चेत्स्पृष्टं वा कौतुकं यदि.
क्रियासमभिहारेण प्रायश्चित्तमिहोच्यते, न चेद्राष्ट्रनृपक्षय:
–पांचरात्र, पद्‌मतंत्र, चर्यापाद, अ. 18

- **'भृगु संहिता' का कहना है कि जिस मंदिर को चांडाल, अंत्यज, म्लेच्छ, नीच, पतित आदि ने छू दिया हो, उस (मंदिर) को नहीं छूना चाहिए, न उस में प्रविष्ट होना चाहिए और न वहां पूजा करनी चाहिए. उस की ओर तो देखना तक नहीं चाहिए:**

चाण्डालैरन्त्यजैश्चैव, म्लेच्छैश्च नीचपतितै:
इत्येवमादिभि: स्पृष्टे देवागारे विशेषत:,
स्पृष्टे प्रवेशने बाधा पूजनेऽप्यथ दर्शने
–भृगु संहिता

ऐसे अन्य प्रमाण भी जुटाए जा सकते हैं. परंतु उन सब को यहां एकत्र करना न हमारा अभीष्ट है और न ही ऐसा करना प्रस्तुत विषय के लिए आवश्यक है. इन सब से जो बात स्पष्ट होती है, वह यह है कि हिंदुओं ने अपने चौथे वर्ण शूद्र के अंगभूत चांडाल तक के छू जाने पर अपने मंदिर छूने, पूजने, यहां तक कि देखे जाने के भी अयोग्य घोषित कर दिए हैं. मुसलमानों द्वारा छू दिए जाने पर तो इस अपवित्रता और परित्यज्यता की मात्रा हजार गुना ज्यादा बढ़ जाती है, हिंदू धर्म ग्रंथों के अनुसार.

मुसलमान के लिए संस्कृत ग्रंथों में 'यवन' शब्द प्रयुक्त हुआ है. वर्तमान में भी इस का अर्थ यही लिया जाता है. हिंदू धर्म ग्रंथ यवन को 1,000 चांडालों के समान अपवित्र घोषित करते हुए कहते हैं:

चाण्डालानां सहस्रैस्तु सूरिभिस्तत्त्वदर्शिभि:
एको हि यवन: प्रोक्तो न नीचो यवनात्पर:
–पं. शिवदत्तसत्ती शर्मा रचित 'शुद्धि विवेचन' (1914 ई.) पृ. 10

अर्थात तत्त्वदर्शी विद्वानों ने 1,000 चांडालों के समान एक यवन माना है. यवन से नीच कोई नहीं होता.

जब चांडाल द्वारा छुए गए मंदिर भी छूने, पूजने और यहां तक कि देखने के योग्य भी नहीं होते, तब उस से हजार गुना 'नीच' यवन द्वारा छुए गए मंदिर आदि को हिंदू लोग छूने, पूजने और देखने के अयोग्य कितनी तीव्रता से उद्‌घोषित करते होंगे, यह समझना कठिन नहीं.

मुसलिम शासनकाल के दौरान कितने मंदिर जानबूझ कर या अनजाने में छुए गए होंगे, यह अंदाजा लगाना ज्यादा दुष्कर नहीं. ऐसी परित्यक्त अथवा अकेली छोड़ी गई इमारतों को उसी रूप में या यथोचित परिवर्तन कर के मुसमलानों द्वारा उपयोग में लाए जाने या ऐसे मंदिरों की मसजिदें बनाए जाने की संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता.

आज पूर्वोक्त हिंदू धर्म ग्रंथों को मानने वाले पता नहीं क्यों और किस धर्म ग्रंथ के अनुसार उस मंदिर के पुनर्ग्रहण के लिए देश में धार्मिक उन्माद पैदा कर के परस्पर अविश्वास की रेखाओं को उत्तरोत्तर गहरा कर रहे हैं, जिसे 'यवनों' ने न केवल छुआ था बल्कि जो पिछले सैकड़ों वर्षों से मसजिद बना चला आया है.

हिंदुओं द्वारा त्याज्य मंदिर

इस विश्लेषण से दो बातें स्पष्ट हो गई हैं. पहली यह कि हिंदू मंदिरों व मूर्तियों की तबाही के लिए केवल इसलाम को जिम्मेदार ठहराना तथ्यों द्वारा सही सिद्ध नहीं होता. दूसरी यह कि हिंदू धर्म की अस्पृश्यतावादी धारणा ने, उस के छुईमुईपन ने अपने कुछ मंदिरों व पूजास्थानों को स्वयमपि त्याग दिया. हिंदू धर्म ने जैसे लोगों को जाति बहिष्कृत कर दिया, वैसे ही उस ने देवमंदिरों व मूर्तियों को अपवित्र कह कर पूजा के अयोग्य घोषित कर दिया.

हम ने मंदिरों की तबाही से संबद्ध घटनाओं को जिन 3 खंडों में विभक्त किया है, उन में से पहले दो खंडों में आने वाली घटनाएं ऐसी हैं, जिन के घटित होने को रोकने के लिए मर्दानगी की जरूरत थी. परंतु मध्यकालीन हिंदू धर्म ग्रंथों ने उस जरूरत को न केवल पूरा नहीं किया बल्कि इस के विपरीत हिंदुओं में नपुंसकता पैदा करने में एड़ीचोटी का पसीना एक कर दिया. जैसा हम ने पहले पृष्ठों में देखा है, ब्राह्मणवाद ने 'कलियुग में ऐसा होना ही है' का शुतुरमुर्गीय पाठ पढ़ाया और कल्कि अवतार का झांसा दे कर लोगों को पलायनवादी और अकर्मण्य बना दिया.

इस के अतिरिक्त, दूसरे प्रकार के कई अन्य अंधविश्वासों से भी जनता की स्वाभाविक उद्यमशीलता को ग्रहण लगाया गया. यहां ऐसे अंधविश्वासों से संबद्ध केवल 2-3 घटनाओं का उल्लेख किया जा रहा है.

- 712 ई. में जब मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर हमला किया, तब एक स्थिति ऐसी भी आई जब कासिम भागने को था. लेकिन तभी उसे कहा गया कि यदि तुम देवी मंदिर के झंडे को किसी तरह गिरा दोगे तो हिंदू सेना भाग खड़ी होगी. उस ने ऐसा ही किया और उस की होने वाली हार जीत में बदल गई, क्योंकि झंडे को गिरता देख कर हिंदू सेना इस अंधविश्वास के कारण भाग खड़ी हुई थी कि देवी हम पर कुपित हो गई है. इस तरह मंदिर ने न केवल हिंदुओं की जीत हार में बदल दी, बल्कि विदेशी राज की नींव भी बड़ी शान से रखवा दी.
- दो शताब्दी बाद अर्थात 951 ई. में अल इस्तवरी ने लिखा कि 'मुलतान में एक मूर्ति है, जिस की पूजा के लिए प्रतिवर्ष दूरदराज से बहुत बड़ी संख्या में हिंदू आते हैं. जब यहां के अरबों पर हिंदू हमला करते हैं या उन से युद्ध करते हैं, तब ये (अरब) उस मूर्ति को आगे कर देते हैं और उसे तोड़ कर जला देने की धमकी देते हैं. इस से हिंदू लौट जाते हैं.' स्पष्ट है कि हिंदू इस अंधविश्वास में लौटते थे कि यदि भगवान (?) की मूर्ति टूट गई तो उन का अनर्थ हो जाएगा, उन के धर्म की दुम कट जाएगी. उन्होंने यह सोचने का कष्ट नहीं किया कि यदि मूर्ति

तोड़ने का पाप वास्तव में लगता है तो वह उसे (मूर्ति को) तोड़ने वाले अरबों को लगेगा, न कि खुद हिंदुओं को. दूसरे, क्या भगवान लकड़ी की मूर्ति के टूटने पर परलोक सिधार जाएगा? क्या वह इतना ही नश्वर है? लेकिन जब अक्ल पर अंधविश्वास का मोटा परदा पड़ा हो तब ऐसी बात सोचने की ताकत ही किस में रह जाती है?

- 11वीं शताब्दी (1026 ई.) में जब महमूद गजनवी सोमनाथ पर हमले के लिए उस ओर जा रहा था, तब रास्ते में हिंदू सेनाओं ने इस अंधविश्वास के तहत सामूहिक तौर पर हथियार डाल दिए कि सोमनाथ शहर में सोमनाथ से आशीर्वाद प्राप्त एवं रक्षित सेना महमूद और उस की संपूर्ण सेना का संहार कर देगी.

जब महमूद सोमनाथ शहर में पहुंचा तो वहां हजारों सैनिक और असैनिक हिंदू विद्यमान थे. परंतु उन्होंने इस अंधविश्वासवश कि सोमनाथ भगवान स्वयं हस्तक्षेप करेंगे और दुष्टों को पलभर में भस्म कर देंगे, न शहर की प्रतिरक्षा के लिए कुछ किया और न ही कोई युद्धयोजना बनाई.

इतिहासकार इब्न असीर ने लिखा है कि लोग किले की दीवारों पर बैठे इस विचार से प्रसन्न हो रहे थे कि ये दुस्साहसी मुसलमान अभी चंद मिनटों में नष्ट हो जाएंगे. वे मुसलमानों को बता रहे थे कि हमारा देवता तुम्हारे एकएक आदमी को नष्ट कर देगा.

जब महमूद की सेना ने नरसंहार शुरू किया, तब हिंदुओं का एक समूह दौड़ता हुआ मंदिर की मूर्ति के सामने धरती पर लेट कर उस से विजय के लिए प्रार्थना करने लगा. हिंदुओं के ऐसे दलों के दल मंदिर में प्रवेश करते, जिन के हाथ गरदन के पास जुड़े होते, जो रो रहे होते और बड़े भावावेशपूर्ण ढंग से सोमनाथ की मूर्ति के आगे गिड़गिड़ा कर प्रार्थनाएं कर रहे होते. फिर वे बाहर आते, जहां उन्हें कत्ल कर दिया जाता.

यह क्रम तब तक चलता रहा जब कि हर हिंदू कत्ल नहीं हो गया. (देखें: सर एच.एच. इलियट और जान डाउसन कृत 'द हिस्ट्री आफ इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियनस' पृ. 470). इस तरह 5,00,000 अंधविश्वासी हिंदुओं ने सिर तो कटवा लिए, लेकिन मुकाबला एक ने भी नहीं किया.

जब दुखी लोग पंडेपुजारियों से पूछते कि महाराज, इतने शक्तिशाली देवता ने विधर्मी आक्रमणकारी को नष्ट क्यों नहीं किया तो उन्हें एक नया झुनझुना यह कह कर थमा दिया जाता कि:

> यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्.
> बुद्धिं तस्यापकर्षंति सोऽवाचीनानि पश्यति.
> न देवा दंडमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्,
> यं तु रक्षितुमिच्छंति बुद्ध्या संविभजंति तम्.

अर्थात देवता जिसे नष्ट करना चाहते हैं, उस की बुद्धि हर लेते हैं और वह

उलटेसीधे काम करने लग जाता है. इस तरह वह नष्ट हो जाता है. देवता ग्वाले की तरह डंडा उठा कर रक्षा को नहीं आया करते. वे जिस की रक्षा करना चाहते हैं, उस की बुद्धि ऐसी कर देते हैं जिस से वह बच निकलता है.

इस का सीधा अर्थ यही था कि तुम फिक्र न करो, जो लोग मंदिरों आदि को अपमानित व नष्ट कर रहे हैं, इन सब को भगवान नष्ट करना चाहता है, अतः उस ने इन की बुद्धि बदल दी है. इन का नाश अवश्यंभावी है. अतः कुछ करनेधरने की जरूरत नहीं. चुपचाप देखते जाओ और भगवद्भजन करते चलो.

कलियुगवाद, अवतारवाद और ऐसे अन्य नपुंसकताजनक अंधविश्वास खुद हिंदू धर्म का अंग रहे हैं. इन्हें मानना धर्म को मानना है, ऐसा ब्राह्मणवाद ने लोगों की नसनस में भर दिया था. इस दृष्टि से विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि हिंदू मंदिरों व मूर्तियों की तबाही, तोड़फोड़, लूटपाट आदि के लिए खुद हिंदू धर्म ही जिम्मेदार है!

पहले दो खंडों में आने वाली घटनाओं के लिए जहां अवतारवाद, कलियुगवाद व अन्य अंधविश्वास जिम्मेदार हैं, वहां तीसरे खंड की घटनाओं के लिए हिंदू धर्म में प्रचलित छुआछूत का सिद्धांत (या कोढ़?) जिम्मेदार है. पहले दो खंडों के संदर्भ में यदि हिंदू धर्म का पलायनवादिता और अकर्मण्यता को उपजाने वाला रूप उत्तरदायी है तो तीसरे खंड के संदर्भ में जात्यभिमान और अपने को विशुद्ध मानने की रुग्ण मनोवृत्ति.

संक्षेप में, यदि हिंदुओं में जातिपांति न होती, यदि वे ब्राह्मणवाद के गुलाम न होते तो वे न तो पलायनवादी नपुंसकों जैसा व्यवहार करते और न इन के मंदिरों व मूर्तियों की दुर्गति होती.

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि जहां हिंदुओं की पलायनवादी नपुंसकता के कारण उन के मंदिरों की दुर्गति हुई, वहां उन्हीं मंदिरों के कारण खुद हिंदुओं पर भी मुसीबतों के पहाड़ टूटे. यदि सोमनाथ का मंदिर न होता तो 17 बार उस पर हुए हमलों में हिंदू जनता की तबाही न होती. इतिहास से ऐसे बेशुमार उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं. मंदिरों के कारण अब तक हिंदुओं को जाने कितनी मुसीबतें, अपमान, लूट और तबाहियां आदि झेलनी पड़ीं. यह इतिहास का एक ऐसा सबक है, जिसे वर्तमान में हमें भूलना नहीं चाहिए.

मंदिर या मुसीबत

हजारों सालों से लाखों मंदिर बनते और टूटते आ रहे हैं. आज भी देश में ऐसे मंदिर हैं जिन में पूजा के लिए कोई नहीं जाता. कोई दीया तक नहीं जलाता. ऐसे मंदिर जीर्णशीर्ण हो रहे हैं और प्रतिवर्ष टूट कर गिर रहे हैं, लुप्त होते जा रहे हैं. इस के विपरीत, ऐसे मंदिर भी बहुत हैं जिन की हालत काफी अच्छी है.

प्रश्न उठता है कि 462 वर्ष पूर्व टूटे/लुप्त हो चुके राम मंदिर के बिना क्या हिंदू समाज व हिंदू धर्म रसातल को चले जाएंगे? मंदिरों की मुसीबतें लाने की भूमिका को दोहरा कर हम किस का भला कर रहे हैं? आपसी सद्भाव, विभिन्न धर्मों के

सहअस्तित्व और राष्ट्रीय एकता की कीमत पर मंदिर के लिए हठ करना यही सिद्ध करता है कि हम इतिहास से कोई शिक्षा ग्रहण न करने का पक्का इरादा कर चुके हैं, जो एक तरह से राष्ट्रीय आत्महत्या का ही इरादा है.

इस समय जरूरत मंदिर बनाने की नहीं, बल्कि हिंदू धर्म और हिंदू समाज को ब्राह्मणवाद और अन्य नकारात्मक शक्तियों के चंगुल से मुक्त करवाने की है. जरूरत अतीत को पुनर्जीवित करने की नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य को जीने के योग्य बनाने की है. जरूरत बहुसंख्यक होने के अहंकार से फूल कर कुप्पा बनने की नहीं, बल्कि समाज को संगठित और जातिपांति-विहीन बनाने की है.

मध्यकाल में जब हिंदू मंदिर तोड़े जा रहे थे और मूर्तियों की दुर्गति की जा रही थी, तब हिंदू नेतृत्व क्या कर रहा था? उस की भूमिका क्या रही है?

इस प्रश्न के उत्तर में यदि मध्यकाल को खंगालें तो पाते हैं कि तुलसीदास ने तब रामायण (रामचरितमानस) का प्रणयन किया था. आज उसी की कथा, अखंडपाठ आदि किए जाते हैं. इस रामभक्त ने क्या उस युग में कोई नेतृत्व प्रदान किया? इस खोज में जब हम तुलसी की आत्मकथापरक रचनाओं को पढ़ते हैं तो बहुत निराशा भी होती है और खेद भी. वह लिखता है, मैं मसजिद में सोता हूं और मांग कर खाता हूं:

मांगि कै खैबो, मसीत को सोइबो

–कवितावली उत्तरकांड, 106

तुलसी बाबर के पोते अकबर के शासनकाल में मसीत में सोकर और भीख मांग कर गुजारा करते हुए राम नाम जप रहा है. परंतु उस ने कहीं भी श्रीराम जन्मभूमि मंदिर के तोड़े जाने का न जिक्र किया है, न उस कृत्य की निंदा की है और न उसे इस सब में कोई रुचि है. वह लिखता है:

लैबें कौं एकु न दैबे कौं दोऊ

–कवितावली, उत्तरकांड, 106

अर्थात न किसी से एक लेना है, न किसी के दो देने हैं!

यह बड़ी हैरानी की बात है कि हिंदू धर्म का इतना बड़ा धार्मिक व्यक्ति मसीत में सोता है. क्या तब मंदिर बिलकुल खत्म हो चुके थे? क्या वह मसीत में इसलिए सो रहा था कि वास्तव में वह मंदिर ही थी? कई लोग इस का उत्तर 'हां' में देने के लिए उतावले हो सकते हैं; परंतु वास्तविकता कुछ ऐसी है कि निराशा ही उन के हाथ लगेगी.

तुलसी मसीत में इसलिए नहीं सोता कि उसे उस में भूतपूर्व मंदिर के दर्शन हो रहे हैं. यदि ऐसा होता तो वह मंदिर के तोड़े जाने, उस के स्थान पर मसीत बनाए जाने आदि के प्रति कहीं न कहीं अपने असंतोष का कोई न कोई संकेत अवश्य देता. उस ने जो संकेत दिए हैं, वे इस बात के सूचक नहीं है कि उसे मसीत के स्थान से इसलिए लगाव था कि वहां कभी मंदिर था. वे इस बात के सूचक हैं कि हिंदुओं ने उस की

जाति को ले कर होहल्ला मचा रखा था और उसे ऐसा निम्नजातीय व्यक्ति घोषित कर रखा था जिस के लिए मंदिर में प्रवेश निषिद्ध था. तुलसी ने स्वयं लिखा है:

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूतु कहौ, जोलहा कहौ कोऊ.
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ..
तुलसी सरनाम गुलामु है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ.
मांगि के खैबो, मसीत को सोइबो, लैबे को एकु न दैबे कौ दोऊ..

–कवितावली, उत्तरकांड, 106

अर्थात चाहे कोई मुझे धूर्त कहे, चाहे संन्यासी (= विरक्त) कहे; चाहे कोई राजपूत कहे या जुलाहा कहे; मुझे किसी की बेटी से अपने बेटे का विवाह नहीं करना है और न मैं किसी से संपर्क बना कर उस की जाति ही बिगाडूंगा. मैं तुलसी तो राम का प्रसिद्ध गुलाम हूं. जिस को जो रुचे, सो कह ले. मुझ को तो मांग कर खाना है और मसजिद में सोना है; न किसी से एक लेना है, न किसी को दो देने हैं.

मेरे जातिपांति न चहौं काहू की जातिपांति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को.
अति ही अयाने उपखानो नहि बूझैं लोग,
साह ही को गोतु, गोतु होत है गुलाम को.
साधु कै असाधु कै भलो कै पोच, सोचु कहा,
का काहू के द्वार परौं, जो हौं सो हौं राम को.

–कवितावली, उत्तरकांड, 107

अर्थात मेरी कोई जातिपांति नहीं है और न मैं किसी की जातिपांति पूछता हूं. कोई मेरे काम का नहीं है और न मैं किसी के काम का हूं. ये लोग अत्यंत गंवार हैं जो यह कहावत भी नहीं समझते कि जो गोत्र स्वामी का होता है, उस के सेवक का भी वही होता है. (मैं क्योंकि राम का गुलाम हूं, अतः जो गोत्र राम का है, वही मेरा है.) चाहे मैं साधु हूं, चाहे असाधु; चाहे मैं भला हूं, चाहे बुरा; मुझे इस की परवाह नहीं. मैं जैसा भी हूं, राम का हूं. क्या मैं किसी के घर के द्वार पर पड़ा हूं?

कोऊ कहै, करत कुसाज, दगाबाज बड़ो,
कोऊ कहै, राम को गुलामु खरो खूब है.
साधु जानैं महासाधु, खल जानैं महाखल,
बानी झूंठीसांची कोटि उठत हबूब है.

–कवितावली, उत्तरकांड, 108

अर्थात कोई कहता है कि (यह तुलसी) छलकपट आदि करता है, कोई कहता है कि यह बड़ा दगाबाज है और कोई कहता है कि यह राम का सच्चा सेवक है. साधु मुझे साधु कहते हैं और दुष्ट मुझे महादुष्ट समझते हैं. मेरे बारे में झूठीसच्ची करोड़ों प्रकार की बातें उठा करती हैं.

ये संकेत हैं जो तुलसी ने अपने बारे में दिए हैं. कोई उसे धूर्त कहता था, कोई जुलाहा कहता था, कोई उस से उस की जाति पूछता था, कोई उस से उस का गोत्र पूछता था. अतः न उसे मंदिर में प्रविष्ट होने दिया जाता था, न उसे भोजन आदि के लिए कोई बुलाता था, न दान देता था. विवश हो कर वह मांग कर खाता था और दूसरा कोई चारा न होने के कारण मसजिद में जा कर सोता था.

हालांकि तुलसी ने 'रामचरितमानस' में जातिपांति का डट कर समर्थन किया था तो भी कोई उसे उच्च जातीय अर्थात ब्राह्मण मानने के लिए तैयार न था. जिस जातिपांति के पिशाच को उस ने पुष्ट किया था, वही उस के खून का प्यासा बन गया. इस जातिपांति के कारण वह व्यक्ति खुद मसीत की शरण में जाने के लिए विवश हो गया, जिस से हिंदू समाज को जागरित करने और मंदिरों के धराशायी किए जाने के विरुद्ध आवाज उठाने की अपेक्षा की जा सकती थी.

जब हिंदू समाज का यह हाल हो, जब वह जातिपांति के भेदभाव के कारण ऊपर से खरबूजे की तरह और अंदर से संतरे की तरह विघटित हो तो उसे कौन बचा सकता है? उस के मंदिरों को बचाने की तो बात ही छोड़िए, क्योंकि मंदिरों ने तो खुद सारी शूद्र जातियों के प्रवेश को निषिद्ध कर के जातिपांति की रेखाओं को गहराने की नकारात्मक भूमिका अदा की है! फिर उन की रक्षा के लिए वे लोग क्यों इकट्ठे होते? क्यों अपना खून बहाते?

क्या सतयुग कभी था?

सतयुग और कलियुग हम हिंदुओं के खून में इतने रचेबसे हुए हैं कि जब कभी किसी जगह अत्यधिक भ्रष्टाचार, दुराचार और अत्याचार होता है तो औसतन हिंदू की सहज प्रतिक्रिया यही होती है कि "कलियुग में ऐसा होना ही था. हमारे ऋषिमुनि झूठ थोड़े ही लिख गए हैं!"

जब इस तरह कलियुग अर्थात वर्तमान युग के दोषों का अप्रत्यक्ष अनुमोदन किया जाता है, तब 'सुनहरे अतीत' की स्मृति अनायास ही मुखरित हो उठती है. उस 'सुनहरे अतीत' को नाम दिया जाता है—सत्ययुग अर्थात सतयुग. वह ऐसा युग बताया जाता है जब (दुनिया में नहीं) भारत में सब कुछ ठीक ठाक था. न कोई कमी थी, न त्रुटि. न कोई दोष था, न अवगुण. संक्षेप में, हर वांछनीय गुण, सुख और शक्ति हर एक के लिए सहज रूप में उपलब्ध थी.

इन दो युगों के अतिरिक्त दो अन्य युग हैं—त्रेतायुग, जो रामराज्य का काल बताया जाता है और द्वापर युग, जो कृष्ण का काल बताया जाता है. इस तरह कुल चार युग माने गए हैं जो क्रमशः ऐसे आते बताए जाते हैं—सत्ययुग (इस का नाम कृत युग भी है), त्रेता, द्वापर और कलियुग.

युगों का विचार हिंदू धर्म की देन है, लेकिन यह बात विशेषतः उल्लेखनीय है कि हिंदुओं के प्राचीनतम धर्म ग्रंथों—वेदों—में इन युगों का कहीं नामोनिशान तक नहीं. वेदों में ये शब्द तो मिलते हैं, परंतु वहां इन के अर्थ युगों से संबद्ध न हो कर द्यूत (जुए) से संबद्ध हैं. जब जीते गए अक्षों (पासों) की संख्या चार से विभक्त हो जाती थी, तब तीन बचते थे, तब उन की संज्ञा 'त्रेता' होती थी. जब चार से बांटने पर दो शेष रहते थे, तब उन का नाम 'द्वापर' होता था और जब चार से बांटने पर एक शेष रहता था. तब वह 'कलि' कहा जाता था.

यदि विभाजक संख्या पांच होती थी तो कुछ भी शेष न बचने पर 'कलि', चार बचने पर 'कृत', तीन बचने पर 'त्रेता' और दो बचने पर 'द्वापर' होता था. (देखें, वैदिक कोश, संपादक डॉ. सूर्यकांत, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृष्ठ तीन).

इन पासों में 'कृत' जयात्मक यानी विजयी करने वाला था और कलि पराजयात्मक. यद्यपि अथर्ववेद (7/114/1) और शतपथ ब्राह्मण (5/4/4-6) से संकेत मिलता है कि कभी 'कलि' भी जयात्मक समझा जाता रहा है, तथापि बाद के

998/13

ग्रंथों में 'कृत' के ही जयात्मक होने के प्रमाण मिलते हैं. यथा ऐतरेय ब्राह्मण (तीसरा खंड, 33वां अध्याय) में आता है:

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः.
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरन्

–ऐतरेय ब्राह्मण 3/33/4

अर्थात सोया हुआ व्यक्ति कलि नामक अभागे पासे की तरह है, अंगड़ाई लेने वाला द्वापर की तरह, उठने वाला त्रेता की तरह और भ्रमणशील व्यक्ति कृत नामक सौभाग्यजनक पासे के स्तर को (संपद्यते) प्राप्त होता है.

ऐसे ही छांदोग्य उपनिषद में आता है:

अथ कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनम्

–4/1/4

इस पर भाष्य करते हुए आदि शंकराचार्य (समय आठवीं शताब्दी) ने लिखा है:

यथा लोके कृतायः कृतो नामायो द्यूतसमये प्रसिद्धश्चतुरंकः, स यदा जयति द्यूते प्रवृत्तानां तस्मै विजिताय तदर्थमितरे त्रिद्व्येकांका अधरेयाः, त्रेताद्वापरकलिनामानः संयन्ति संगच्छन्तेऽन्तर्भवन्ति. चतुरंके कृताये त्रिद्व्येकांकानां विद्यमानत्वात् तदन्तर्भवन्तीत्यर्थः.

अर्थात लोक (दुनिया) में द्यूतक्रीड़ा के समय चार अंक वाला कृत नामक पासा प्रसिद्ध है. जब द्यूत में प्रवृत्त हुए पुरुषों का वह कृत नामक पासा जय प्राप्त करता है तब उस के द्वारा विजय प्राप्त करने वाले को ही तीन, दो और एक अंक से युक्त त्रेता, द्वापर और कलि नामक नीचे के पासे भी प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात उस के अधीन हो जाते हैं. तात्पर्य यह है कि चार अंक से युक्त कृत नामक पासे में तीन, दो और एक अंक वाले पासे भी विद्यमान रहने के कारण वे भी उस के अंतर्गत हो जाते हैं.

अर्थात चार चिह्नों वाला पासा (क्षेपण) कृत है और तीन, दो और एक चिह्न वाले पासे क्रमशः त्रेता, द्वापर और कलि कहे जाते हैं.

धर्मशास्त्रों के प्रकांड पंडित महामहोपाध्याय डा. पांडुरंग वामन काणे ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है: वैदिक साहित्य के अंतिम चरणों तक अर्थात उपनिषदों तक कृत, त्रेता, (द्वापर) एवं कलि द्यूत क्रीड़ा में पासा फेंकने के अर्थ में प्रयुक्त होते थे...यहां तक कि महाभारत में भी 'कृत' और 'द्वापर' शब्द उसी अर्थ के लिए प्रयुक्त किए जाते थे (विराट पर्व 50-24) (देखें, धर्मशास्त्र का इतिहास, (हिंदी अनुवाद) जिल्द 2, पृ. 983)

युगों की चर्चा करते हुए प्राचीन हिंदूसंस्कृति के गुणगायक और हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है: "बहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नाम के चार युगों की चर्चा मिलती है. ब्राह्मण और उपनिषद

ग्रंथों में भी इन शब्दों का प्रयोग मिल जाता है..प्रयोग तो ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी खोजा जा सकता है, पर वह अधुनातन प्रचलित अर्थ में कदाचित नहीं है. वेदों में जुए (द्यूत) के दोषों को कृत, त्रेता, द्वापर, कलि कहा गया है और निस्संदेह 'कलि' बुरे ढंग का दांव है" (मध्यकालीन बोध का स्वरूप, पृ. 12).

'कृत' क्योंकि द्यूत में जीत लाने वाला था, अतः वह धीरेधीरे अच्छे और 'शुभ' का वाचक बन गया. त्रेता उस की अपेक्षा कुछ कम अच्छे का परिचायक बना तो कलि उस से भी कम अच्छे अर्थात बुरे का सूचक बन गया.

इसीलिए महाभारत के अपेक्षाकृत प्राचीन अंशों में 'कृत' आदि का अर्थ राज्य प्रबंध के अच्छे व उत्तरोत्तर कम अच्छे होने के संदर्भ में किया गया है. शांति पर्व के अध्याय 69 में आता है:

दंडनीत्यां यदा राज सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते,
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते
दंडनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते,
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते.
अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्याधर्ममनुवर्तते,
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः संप्रवर्तते.
दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कात्स्न्र्येन भूमिपः,
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तते तदा कलिः
राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च,
युगस्य च चतुर्थस्य, राजा भवति कारणम्

–महाभारत, शांतिपर्व, 69/80,87,89,91,98

अर्थात जब राजा राज्य का प्रबंध अच्छी तरह से करता है, उसे चारों अंशों में करता है, तब कृत युग होता है. जब राजा राज्य प्रबंध के एक अंश का त्याग कर के केवल तीन अंशों का पालन करता है, तब त्रेता युग होता है. जब राजा राज्य प्रबंध के दो अंशों को त्याग कर, केवल दो अंशों का पालन करता है, तब द्वापर युग होता है और जब राज्य प्रबंध की ओर जरा भी ध्यान न देते हुए अन्याय से प्रजा को क्लेश देता है, तब कलियुग होता है. राजा ही कृत (सत्य) युग का कर्ता है और वही त्रेता, द्वापर और कलि युगों का कर्ता है. युगों का कारण राजा है.

महाभारत में जो बात कही गई है, उस से मिलतीजुलती उक्ति मनुस्मृति में भी मिलती है. मनु ने कहा है:

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च,
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते.
कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्, द्वापरं युगम्,
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्.

–मनु. 9/301–302

अर्थात सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग–ये चारों युग राजा के ही चेष्टा विशेष (आचार, व्यवहार) से होते हैं. अतएव राजा ही 'युग' कहलाता है. राजा के सुप्त अर्थात अज्ञान तथा आलस्य आदि के कारण उद्यमहीन होने पर कलियुग, उस के जागते अर्थात जानते हुए भी उद्यम न करने पर द्वापरयुग, उस के कर्म अर्थात संधि युद्धादि राजकार्य में लगे होने पर त्रेतायुग और शास्त्रानुसार आचरण करने वाले राजा के होने पर सत्ययुग होता है.

युगों का ऐसा कोई विवरण वैदिक या प्राचीन साहित्य में कहीं भी नहीं मिलता जिस से यह संकेत मिले कि बाद में रचे पुराणों के आधार पर जनसामान्य में प्रचलित सत्ययुग आदि का विचार वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों या उपनिषदों से अनुमोदित व प्रेरित है. यहां यह उल्लेखनीय है कि 'युग' शब्द का अर्थ भी वैदिक या उत्तर वैदिक काल में हजारों वर्षों की एक सी स्थिति वाली अवधि कभी नहीं रहा.

ऋग्वेद में 33 बार युग शब्द आया है. कुछ स्थानों पर इस का अर्थ जुआ (बैल जोतने का लकड़ी का विशेष ढांचा) है तो कुछ स्थानों पर 'अल्प काल की अवधि' (ऋ. 3/26/3). सामान्यतः इस का अर्थ है–एक पीढ़ी (ऋ. 1/92/11,1/103/4,1/124/2,2/2/2,3/33/8,5/52/8). कुछ स्थलों पर इस का अर्थ है–'चार या पांच वर्षों की अवधि,' जब कि कुछ स्थानों पर अपेक्षाकृत लंबी अवधि के अर्थों में भी यह प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है.

वेदांग ज्योतिष में, जो गणित और ज्योतिष का प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है, युग पांच वर्षों की अवधि का द्योतक है:

युगस्य पंचवर्षस्य कालज्ञानं प्रचक्षते.

–वेदांगज्योतिष, सूत्र 5

प्राचीन पितामह सिद्धांत के मत से वराह मिहिर की 'पंचसिद्धांतिका' में युग का अर्थ होता है–सूर्य और चंद्रमा के पांच वर्ष:

पंचसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्
रविशशिनोः, पंच युगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि

–पंच. 12/1

युग शब्द का यही अर्थ महाभारत में भी लिया गया है. (देखें, शांति पर्व, 11-38).

बाद के सूत्रकाल में भी सत्ययुग आदि युगों के सिद्धांत का विकास नहीं हुआ था. महामहोपाध्याय डा. काणे का कहना है कि ऐसा कहना संभवतः भ्रामक सिद्ध न होगा कि गौतम एवं आपस्तंब के आरंभिक धर्मसूत्रों के समय में भी युग संबंधी सिद्धांत का पूर्ण विकास नहीं हुआ था. (देखें, धर्मशास्त्रों का इतिहास, जिल्द दूसरी, पृ. 983).

युगों के सिद्धांत का उदय

शिलालेखों के अध्ययन से पता चलता है कि अशोक के समय में युगों से संबद्ध कुछ बातें प्रचलित हो गई थीं, यद्यपि वे इतनी स्पष्ट नहीं थीं, जितनी बाद के ग्रंथों में मिलती हैं. तीसरी या चौथी शताब्दी के पल्लव राजाओं के एक शिलालेख में

'कलियुगदोषावसन्नधर्मोद्धरणनित्यसन्नद्धस्य '

अर्थात कलियुग के बुरे प्रभावों के कारण गर्त में पड़े धर्म को निकालने में सदैव तत्पर, कलियुग को अधर्म का युग कहा गया है.

इस से स्पष्ट है कि युगों के सिद्धांत का उदय ईसा पूर्व दोएक शताब्दियों में हुआ और ईसा की आरंभिक शताब्दियों में इस का विकास हुआ.

इस सिद्धांत की मूल प्रेरणा निरुक्त (ई.पू. सातवीं आठवीं सदी) में निहित प्रतीत होती है, जहां कहा गया है कि:

साक्षात्कृतधर्माण: ऋषयो बभूवु: ते अवरेम्य:
असाक्षात्कृतधर्मेभ्य: उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादु:. उपदेशाय
ग्लायन्त:. अवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम ासिषु:.

–निरुक्त 1/20

अर्थात पहले ऋषियों ने धर्म का साक्षात्कार किया था. उन्होंने दूसरे ऐसे लोगों को उपदेश दिया, जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार नहीं किया था. उस उपदेश को समझने व याद रखने में कष्ट अनुभव करते दूसरे लोगों ने यह ग्रंथ, वेद और वेदांग बनाए.

ऋषियों का धर्मविरुद्ध आचरण

इस में उत्तरोत्तर कम शक्ति व गुणों वाले लोगों के उत्पन्न होने की क्षीण सी बात कही गई है. इस बात को गौतम और आपस्तंब आदि ऋषियों ने भी दोहराया है:

दृष्टो धर्मव्यतिक्रम: साहसं च महताम्, अवरदौर्बल्यात्

–गौतम धर्मसूत्र, 1/3-4

अर्थात पहले समय के ऋषियों के धर्मविरुद्ध काम भी दोषजनक नहीं थे, क्योंकि वे शक्ति संपन्न थे. परंतु दूसरे, बाद के लोगों में वह शक्ति न होने से उन्हें वैसा करने पर दोष लगेगा.

तस्मादृषयोऽवरेषु न जायन्ते नियमातिक्रमात्

–आपस्तंब धर्मसूत्र 1/2/5/4

अर्थात प्राचीन ऋषियों में धर्मोल्लंघन एवं साहस के कार्य अर्थात जघन्य अपराध आदि देखे गए हैं, किंतु आध्यात्मिक शक्ति के कारण ये पापी नहीं बने. परंतु बाद के मनुष्यों को आध्यात्मिक शक्तिदौर्बल्य के कारण वैसा नहीं करना चाहिए, नहीं तो वे कष्ट में पड़ जाएंगे.

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन धर्म सूत्रकारों की नजरों में पहले के अर्थात कथित सत्ययुग के ऋषि धर्मविरुद्ध भी आचरण किया करते थे, जब कि पुराणों में सत्ययुग को पूर्ण धर्ममय युग कहा गया है.

इस तरह के विचारों पर प्रामाणिकता की मोहर लगाने के लिए ऋग्वेद का सहारा लिया गया, जिस में एक जगह अपने साथ शारीरिक संबंध स्थापित करने के लिए दुराग्रह कर रही बहन से भाई कहता है:

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि

–ऋ. 10/10/10

अर्थात वे युग आगे आएंगे जब बहनें भाइयों के साथ बहनों के अयोग्य इस तरह का कार्य करेंगी.

स्पष्ट है कि सत्ययुग आदि का वर्तमान विचार बुद्ध के बाद का है, जब ब्राह्मण धर्म बुरी तरह परास्त हो चुका था. उस समय बुद्ध और बौद्धों के प्रहारों से तंग आए और अपने यजमानों के आगे आंख न उठा सकने वाले ब्राह्मण पुरोहितों ने धीरेधीरे, विशेषतः अशोक के काल में और उस के बाद अपनी कमजोरी और पराजय 'समय' के सिर मढ़ने के लिए सत्ययुग आदि का सिद्धांत गढ़ा. उन्होंने कहा : "अब हमारी जो दुरवस्था है, वह हमारे दोषों के कारण नहीं. ऐसा नहीं कि हम में त्रुटियां हैं या हमारे सिद्धांत गलत हैं या हमारे वेदादि धर्म ग्रंथ झूठे हैं. वह सब कुछ ठीक है. दरअसल, हमारी स्थिति 'कलि' के कारण बिगड़ी है."

कलि क्योंकि जुए में हार की स्थिति थी, अतः अपनी हार के समय को कलिकाल अथवा कलियुग बताया गया. उन्होंने कहा कि जैसे कलि के कारण द्यूत में हार है, ऐसे ही कलियुग के कारण हमारे धर्म की हार हुई है. इसी तरह अन्य पासों से अन्य युगों की कल्पना की गई. कृत पासे से क्योंकि जीत होती थी, अतः ब्राह्मण धर्म के अतीत उत्थान काल को कृत व सत्ययुग कहा गया. बाद में इस में उत्तरोत्तर अन्य बातें जोड़ी जाती रहीं.

सत्ययुग का वर्णन विभिन्न ग्रंथों में विविध प्रकार से किया गया है. प्रत्येक ग्रंथ के विवरण को न तो यहां प्रस्तुत किया जा सकता है और न वैसा करना बुद्धिमत्ता ही होगी, क्योंकि प्रायः सभी विवरण शब्दों के हेरफेर या एकाध एकदूसरे से न मिलने वाली बात के सिवा, अधिकांश में एक समान ही हैं. नीचे दो चार ग्रंथों में से सत्ययुग का वर्णन करने वाले स्थल प्रस्तुत हैं:

कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृक्,
ददाति सर्वभूतात्मा सर्वभूतहिते रतः.

–विष्णु पुराण 3/2/55

अर्थात परमात्मा सत्ययुग में कपिल आदि का रूप धारण कर परम ज्ञान का उपदेश करते हैं.

कृते धर्मश्चतुष्पाच्च सत्यं दानं तपो दया
सन्तुष्टा ज्ञानिनो नराः, चतुर्वर्षसहस्राणि नरा जीवंति वै सदा

–श्री गरुडमहापुराणम्, 215/5-6

धर्म की चारपाई

अर्थात सत्ययुग में धर्म के चारों पाद–सत्य, दान, तप और दया होते हैं. मनुष्य संतुष्ट और ज्ञानी होते हैं. तब मनुष्यों की आयु चार हजार वर्ष होती है.

अद्रोहः सर्वभूतेषु समता सर्वजंतुषु
परांबापूजनासक्ताः सर्वे वर्णाः परे युगे

–देवीभागवत महापुराणम् 6/11/2, 4

अर्थात सत्ययुग में प्राणियों में परस्पर वैर नहीं होता. सब प्राणियों में समता होती है. सब वर्णों के लोग 'परांबा' की पूजा में मग्न रहते हैं.

कल्पना की उड़ान

नारायणं ते ध्यायन्ति तन्मंत्रं च जपंति च
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याश्चतुर्वर्णाश्च वैष्णवाः
करशून्याश्च विप्राश्च पूज्याः स्वच्छंदगामिनः
सततं सर्वसस्याढ्या रत्नाधारा वसुंधरा
न भयं दस्युचौर्याणां न तत्र पारदारिकाः
तरवः पूर्णफलिनः
लक्षवर्षायुषः केचित् पुण्यवंतो ह्यरोगिणः
खलहीनं जगत्त्रयम्
न देवानां द्विजानां च विदुषां तत्र निंदकाः
नात्मप्रशंसकाः केचित् सर्वे, न शत्रवो जनानां च
न दुःखिनो जनाः सत्ये, सर्वेषां रत्नमंदिरम्
न भिक्षुका न रोगार्ताः
न पापिनो न धूर्ताश्च न क्षुधार्ता न कुत्सिताः
जराहीना प्राणिनश्च शश्वद्यौवनसंस्थिताः
आधिव्याधिविहीनाश्च निर्विकाराश्च देहिनः.

–ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्णजन्मखंड (उत्तरार्द्ध) 90/5-6, 8, 10-12, 14, 17-22

अर्थात सब लोग नारायण का ध्यान करते हैं और उस के मंत्र का जप करते हैं. सभी लोग वैष्णव हैं. धरती फसलों से सदा लदी रहती है. तब चोरों, डाकुओं का भय नहीं होता. कोई व्यभिचारी नहीं होता. लोग रोगरहित और लाखों वर्षों की आयु वाले होते हैं.

सारे संसार में कोई ठग व धूर्त नहीं होता. तब न कोई देवों की निंदा करता है,

न ब्राह्मणों की. वृक्ष फलों से भरे रहते हैं. ब्राह्मणों पर कोई टैक्स नहीं होता. वे सर्वत्र पूज्य ठहराए जाते हैं और उन पर किसी तरह का कोई प्रतिबंध नहीं होता. तब कोई अपनी डींगें मारने वाला नहीं होता. तब न कोई दुखी होता है, न कोई किसी का शत्रु. सब के घर रत्नों के बने होते हैं. तब भिखारी नहीं होते. तब न रोगी होते हैं, न पापी. न धूर्त होते हैं, न भूखे व बुरे लोग. तब लोग बूढ़े नहीं होते. वे सदा युवा बने रहते हैं. वे आधिव्याधि-रहित होते हैं.

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे,
नाधर्मेणागमः कश्चिन् मनुष्यान् प्रति वर्तते
अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः,
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः

–मनुस्मृति, 1/81-82

अर्थात सत्ययुग में सकल धर्म तथा सत्य चार पैरों वाला था, अर्थात सब तरह से पूर्ण था. अधर्म द्वारा किसी को विद्या या धन आदि की प्राप्ति नहीं होती थी. सत्ययुग में मनुष्य नीरोग, सर्वविध सिद्धियों और अर्थों से युक्त और चार सौ वर्ष की आयु वाले होते थे. त्रेता में 300 वर्ष की आयु वाले, द्वापर में दो सौ वर्ष की आयु वाले और कलियुग में सौ वर्ष की आयु वाले होते हैं.

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्,
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः.

– मनु. 1/69 तथा ब्रह्मांड पुराण 1/29/25

अर्थात सत्य युग 17, 28,000 वर्षों का होता है.

आदितो मनुजव्याघ्र कृत्स्नस्य जगतः क्षये,
चत्वार्याहु सहस्राणि वर्षाणां तत् कृतं युगम्.

–महाभारत, वनपर्व 188/22

कृतं नाम युगं तात यत्र धर्मः सनातनः,
कृतमेव न कर्त्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे.
न तत्र धर्माः सीदन्ति क्षीयंते न च वै प्रजाः,
ततः कृतयुगं नाम कालेन गुणतां गतम्.
देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः,
नाऽऽसन् कृतयुगे तात तदा न क्रयविक्रयः
न सामऋग्यजुर्वर्णा.: क्रिया नासीच्च मानवी,
अभिध्याय फलं तत्र धर्मः संन्यास एव च.
न तस्मिन् युगसंसर्गे व्याधयो नेन्द्रियक्षयः,
नासूया नापि रुदितं न दर्पो नापि वैकृतम्
न विग्रहः कुतस्तंद्री न द्वेषो न च पैशुनम्,

न भयं नापि संतापो न चेर्ष्या न च मत्सर:
ततः परमकं ब्रह्म सा गतिर्योगिनां परा,
आत्मा च सर्वभूतानां शुक्लो नारायणस्तदा
ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः,
कृते युगे समभवन् स्वकर्मनिरताः प्रजाः
समाश्रयं समाचारं समज्ञानं च केवलम्,
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप् ुवन्.
एकदेवसदायुक्ता एकमंत्रविधिक्रियाः,
पृथक्धर्मास्त्वेकवेदा धर्ममेकमनुव्रताः
चातुराश्रम्ययुक्तेन कर्मणा कालयोगिना,
अकामफलसंयोगात् प्राप्नुवन्ति परां गतिम्
आत्मयोगसमायुक्तो धर्मोऽयं कृतलक्षणः,
कृते युगे चतुष्पादश्चातुर्वर्ण्यस्य शाश्वतः
एतत् कृतयुगं नाम त्रैगुण्यपरिवर्जितम्

—महाभारत, वनपर्व, 149/11-23

अर्थात हे नरश्रेष्ठ, सृष्टि के आदि से ले कर 17,28,000 वर्षों का कृतयुग नामक सब से पहला युग होता है. उस में सनातन धर्म की पूर्णस्थिति रहती है तथा किसी का भी कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता. उस समय मातापिता के सामने संतान की मृत्यु नहीं होती. फिर कालक्रम से उस में गौणता आ जाती है. कृतयुग में देवता, दानव, गंधर्व, यज्ञ, राक्षस और नाग नहीं थे, अर्थात ये परस्पर भेदभाव नहीं रखते थे. उस समय क्रयविक्रय का व्यवहार भी नहीं था. ऋक्, साम और यजुर्वेद के मंत्रों का पृथकपृथक विभाग नहीं था. कोई मानवी क्रिया (कृषि आदि) भी नहीं होती थी. चिंतन करने मात्र से सब को अनेक अभीष्ट फलों की प्राप्ति हो जाती थी. सत्ययुग में एक ही धर्म था—स्वार्थ का त्याग. उस युग में कोई बीमारी नहीं होती थी. इंद्रियों में भी क्षीणता नहीं आने पाती थी. कोई किसी के गुणों में दोष नहीं ढूंढ़ता था. किसी को दुख से रोना नहीं पड़ता था और न किसी में घमंड था तथा न कोई अन्य विकार ही था. कहीं लड़ाईझगड़ा नहीं था, लोग आलसी नहीं थे. द्वेष, चुगली, भय, ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं था. कृतयुग में न कोई आधिव्याधि थी और न इंद्रियों में दुर्बलता आती थी. उस समय कोई किसी की निंदा नहीं करता था, किसी को दुख के कारण रोना नहीं पड़ता था और न किसी में घमंड या कपट था. आपस के झगड़े, आलस्य, द्वेष, चुगली, भय, संताप, ईर्ष्या और मत्सरता का तो उस युग में नाम भी नहीं था.

उस समय योगियों के परम आश्रय और संपूर्ण भूतों की अंतरात्मा, परब्रह्म श्री नारायण का वर्ण शुक्ल था. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी वर्ण शमदम आदि लक्षणों से संपन्न रहते थे तथा प्रजा अपनेअपने कर्मों में तत्पर रहती थी. सब का आश्रय एकमात्र परमात्मा थे. सब का आचार वर्णानुसार पृथकपृथक होने पर भी सब एक ही वेद को मानने वाले थे और एक ही धर्म का अनुसरण करते थे. वे चारों

आश्रमों के कर्मों का निष्काम भाव से आचरण कर के परम गति को प्राप्त करते थे. चित्तवृत्तियों को परमात्मा में स्थापित कर के उन के साथ एकता की प्राप्ति कराने वाला यह योग धर्म सत्ययुग का सूचक है. सत्ययुग में चारों वर्णों का यह सनातन धर्म चारों चरणों से संपन्न था. यह सत्ययुग है, जिस में तीनों गुणों का अभाव था.

सिद्धांत की प्रामाणिकता

इन वर्णनों से सत्ययुग का जो रूप उभरता है, वह यह कि उस युग में न लड़ाईझगड़ा होता था, न किसी को कोई चोरलुटेरे का भय था, न लोग व्यभिचारी, अत्याचारी आदि थे. सब एक ही धर्म और एक ही ईश्वर को मानते थे. तब न कोई बीमारी थी, न संताप, न कोई कमजोर होता था, न बूढ़ा. सब की आयु, एक के मत में चार सौ साल थी.

दूसरे के मत से चार हजार वर्ष और तीसरे के मत से एक लाख वर्ष थी. मातापिता के जीवित रहते संतान की मृत्यु नहीं होती थी. किसी को कोई दुख न था. अनाज की कमी न थी. सब ओर शांति थी. सब ज्ञानी और संतुष्ट थे. सब, एक के मत से नारायण, और दूसरे के मत से परांबा के भक्त थे. सब वैष्णव थे, कोई भिखारी न था, कोई पापी न था.

अब देखना यह है कि यह युगों का सिद्धांत इतिहास व अन्य विश्वसनीय आधारों से सही प्रमाणित होता है या नहीं. यदि सही प्रमाणित हो, तब तो इस सिद्धांत को वैज्ञानिक तथ्य स्वीकारना होगा, अन्यथा कपोल कल्पना.

मात्र भारत के लिए

युगों के सिद्धांत के बारे में विशेष रूप से जो सब से पहली बात ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि ये सारे संसार के लिए न हो कर केवल भारतवर्ष के लिए कहे गए हैं:

चत्वारि भारते वर्षे युगानि भरतर्षभ,
कृतं त्रेता द्वापरं च तिष्यं च कुरुवर्धन.
–भीष्मपर्व 10/3; मत्स्यपुराण 142/17 तथा ब्रह्मांडपुराण 1/29/23

अर्थात हे कुरुवर्धन, भारतवर्ष में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि चार युग होते हैं. यदि भारतवर्ष में चार युग आते हैं, तो दुनिया के बाकी देशों में कितने युग आते हैं, इस का उत्तर किसी धर्म ग्रंथ के पास नहीं; क्योंकि युगों की बातें लिखने वालों को भारत के सिवा दुनिया के किसी अन्य देश के अस्तित्व के बारे में शायद कुछ ज्ञात न था. और अगर कुछ ज्ञात था भी तो उन्हें इतना पता था कि दूसरा कोई देश उन के इन किस्सेकहानियों को जरा भी महत्त्व नहीं देगा. अतः उन्होंने केवल भारतवर्ष की ही बात की, जहां उन्हें अपनी बात के देरसवेर सुने जाने की आशा थी.

स्पष्ट है कि युगों की बातें करने वालों ने भी खुद इन्हें सार्वभौमिक घटना नहीं माना है.

अतः विश्व इतिहास की कसौटी पर इन्हें परखने की जरूरत ही नहीं रह जाती.

ऐसे में सत्ययुग को भारत के इतिहास, तर्क और तथाकथित सत्ययुग में रचे गए साहित्य की कसौटी पर ही परखना होगा.

भारत के क्या, विश्व के इतिहास में भी 17,28,000 वर्षों का ऐसा कोई युग कभी नहीं रहा जब सब सुखी व नीरोग हों. कहीं कोई लड़ाईझगड़ा न हुआ हो, सब का ज्ञान एक सा रहा हो, सब एक ही देवता और परमात्मा के उपासक रहे हों तथा सब केवल वेद को मानने वाले रहे हों. इस के विपरीत इतिहास इस बात का साक्षी है कि हजारों वर्ष पहले मानवीय सभ्यता के प्रथम चरण में जीवन आज की अपेक्षा कहीं अधिक दुखपूर्ण था. तब रोगों से ज्यादा मौतें होती थीं. लोग तरहतरह के काल्पनिक देवीदेवताओं की पूजा करते थे. प्रत्येक कबीले का अपनाअपना धर्म और अपनीअपनी कानूनव्यवस्था होती थी. मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि समाज में अव्यवस्था थी. जिस की लाठी, उस की भैंस वाला हिसाब चलता था और बड़ी मछली छोटी को खा जाती थी.

मानव सभ्यता दुख से सुख, बुरे दिनों से अच्छे दिनों की ओर बढ़ी है. आज के टेलीविजन, रेडियो, फ्रिज, अंतरिक्षयान, राकेट, टेलीप्रिंटर, टेलीफोन, द्रुतगामी रेलें, वायुयान, कड़ी गरमी और सर्दी से बचने के लिए वातानुकूलन यंत्र, बिजली, कंप्यूटर, इंटरनेट आदि इतिहास के किसी भी युग में उपलब्ध नहीं थे. चिकित्सा विज्ञान में आए दिन प्रगति हो रही है, परंतु इस का किसी पहले युग में संकेत नहीं मिलता. आधुनिक ज्ञानविज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इन सब चीजों का यहां उल्लेख करना संभव नहीं. ऐसी चीजों का भारत के इतिहास में तो क्या, विश्व के इतिहास में भी कहीं नामोनिशान तक नहीं है.

भारत में जिन लोगों ने सत्ययुग की कल्पना की थी, उन्होंने स्वर्ग का वर्णन करते हुए वहां मिलने वाली कई भौतिक चीजों की भी चर्चा की है. उस से पता चलता है कि वे किस युग के लोग थे और उन की ऊंची से ऊंची कल्पना क्या हो सकती थी. उन्होंने स्वर्ग को सर्वोच्च व सर्वश्रेष्ठ कहा है जहां सभी श्रेष्ठ भौतिक सुख उपलब्ध हैं. वहां अप्सराएं पंखा करेंगी, गंधर्व राग गाएंगे और हीरों के दीपक होंगे जो सारी रात चमकते रहेंगे.

स्पष्ट है, उन की कल्पना में बिजली का पंखा न था, वातानुकूलन की तो बात ही छोड़ो. गंधर्वों के शास्त्रीय राग के अतिरिक्त उन की कल्पना में न रेडियो था, न टेलीविजन; दीपकों के लिए हीरे होंगे जो बुझाने पर भी नहीं बुझेंगे, चमकते ही रहेंगे. यह विवशता उन की सर्वोच्च कल्पना में भी विद्यमान रही. वे बिजली या सौर ऊर्जा के बल्बों और ट्यूबों की कल्पना कहां कर सकते थे, जो प्रकाश भी हीरों से ज्यादा दें और जिन का जलनाबुझना भी मानवीय इच्छा के अधीन हो.

भारत के इतिहास से पता चलता है कि वैष्णव धर्म बहुत बाद का यानी हाल ही की उपज है. उसे सत्ययुग में बताना एक और इतिहास विरोधी बात करना है. ऐसे ही, सत्ययुग में सब को नारायण का उपासक बताना भी इतिहास विरोधी कथन है.

सत्ययुग: तर्क की कसौटी पर

सत्ययुग का सिद्धांत न केवल इतिहास-विरोधी है, बल्कि तर्क-विरोधी भी है. यह मानना कि 17 लाख वर्षों तक एक सी स्थिति थी, सब का ज्ञान एक सा था, सब का धर्म एक सा था, सब का उपास्य एक ही देवता और सब का धर्म ग्रंथ एक ही वेद था, बिलकुल गप है. पिछले हजारों वर्षों का इतिहास इस का साक्षी है कि मानवीय मस्तिष्क को, उस की उमंगों को, उस की नएनए आविष्कार करने वाली प्रतिभा को, उस के ज्ञान को 17 लाख तो क्या 17 सौ वर्षों तक भी कोई बांध कर एक ही स्थिति में नहीं रख सकता. असलियत तो यह है कि किसी को 17 वर्षों तक भी नहीं बांधा जा सकता. मानव शिशु जन्म के समय जो होता है, क्या जीवन के 17वें वर्ष में भी वह वही होता है?

यह कहना सरासर गलत है कि 17 लाख वर्षों के सत्ययुग में किसी को कोई व्याधि नहीं होती थी और न ही इंद्रियों में दुर्बलता आती थी. प्रश्न उठता है कि जब न कोई व्याधि थी, न इंद्रियां ही दुर्बल होती थीं, तब अधिकतम आयु चार सौ या चार हजार या एक लाख वर्ष क्यों होती थी? इस अवधि के बाद मृत्यु का कारण क्या था? इंद्रियों के दुर्बल न होने का अर्थ तो यही होता है कि समय का उन के शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था. तब तो बच्चे और युवक की इंद्रियों में एक सी शक्ति माननी होगी. अगर ऐसा था तो फिर माताएं बच्चों को गोद में क्यों उठाती थीं? उन्हें अपनी छाती से दूध क्यों पिलाती थीं? जन्म से ही बच्चे चलनेफिरने, बोझ उठाने और युवकों जैसा काम करने क्यों नहीं लग जाते थे? जब इंद्रियां एक सी शक्तिशाली थीं तब तो बच्चे और युवक का अंतर ही नहीं हो सकता होगा.

सत्ययुग में लोगों द्वारा चारों आश्रमों के कर्म ठीक तरह से करने की बात कही गई है. चार आश्रमों का अर्थ है–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास. वानप्रस्थ और संन्यास बुढ़ापे के दिनों के आश्रम हैं. पहले वानप्रस्थ, बाद में संन्यास. वानप्रस्थ आश्रम के विषय में धर्मशास्त्रों का मत है:

> गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः,
> अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्.
>
> –मनुस्मृति, 6/2

अर्थात जब गृहस्थ अपने शरीर के चमड़े को सिकुड़ा हुआ, अपने बालों को पका हुआ तथा अपने पौत्र का मुंह देख ले, तब उसे वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए.

यदि सत्ययुग में आश्रमों का पूरी तरह से पालन हो रहा था तो स्पष्ट है कि लोगों में बुढ़ापे के चिह्न दिखाई देते थे. जब बुढ़ापे के चिह्न थे तो साफ है कि इंद्रियों में दुर्बलता भी आती थी.

ऐसे ही यह कहना भी गलत है कि तब कोई भिखारी नहीं था. जब ब्रह्मचारी,

वानप्रस्थी और संन्यासी थे, तब भिखारी भी अवश्य थे, क्योंकि इन सभी लोगों की जीविका का साधन केवल भिक्षा थी.

सत्ययुग विषयक विभिन्न धर्म ग्रंथों के वर्णन न केवल तर्क-विरोधी हैं, बल्कि परस्पर-विरोधी भी हैं. उदाहरणार्थ, कहीं अधिकतम उम्र चार सौ वर्ष कही गई है तो कहीं चार हजार और कहीं एक लाख वर्ष. ऐसे ही, कहीं सत्ययुग में सब को नारायण का उपासक बताया गया है तो कहीं किसी अन्य शक्ति का.

इतिहास और तर्क की कसौटियों पर कसने पर सत्ययुग कल्पना के सिवा और कुछ सिद्ध नहीं होता.

'सत्ययुगीन' धर्म ग्रंथों की कसौटी पर

अब हम तथाकथित सत्ययुग में रचे गए धार्मिक साहित्य की कसौटी पर इन्हें जांचना चाहेंगे. सृष्टि के आदि से ले कर 17 लाख 28 हजार वर्षों का काल सत्ययुग कहा गया है. हिंदुओं की धार्मिक परंपरा, पौराणिक कथाएं और धर्म ग्रंथ एक स्वर से घोषणा करते हैं कि वेद सृष्टि के आदि में रचे गए थे. स्पष्ट है कि उन के अनुसार वेद सत्ययुग में रचे गए थे. अतः इस कथित सत्ययुगीन साहित्य अर्थात वेदों के आधार पर सत्ययुग की विशिष्टताओं की परीक्षा करना उचित होगा.

सत्ययुग को सुख और शांति का युग कहा गया है, लेकिन वेदों के अध्ययन से पता चलता है कि तब अनेक प्रकार के दुख और कष्ट थे. तरहतरह की मुसीबतों से बचने और निर्दोषों को दंड से बचाने के लिए प्रार्थना करते हुए 'सत्ययुगीन' ऋग्वेद का कवि कहता है:

पाहि धूर्तेरराव्णः पाहि रीषत उत वा जिघांसत.

–ऋ. 1/36/15

अर्थात व्याघ्र आदि दुष्ट प्राणियों से और घात करने के लिए बैठे शत्रुओं से हमारी रक्षा करो.

अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्, दूरमधि स्रुतेरज

–ऋ. 1/42/3

अर्थात हे पूषा देवता, तुम मार्ग में विपत्ति लाने वालों, चोरों और कपटियों को मार्ग से दूर भगा दो.

मा दत्वते दशते परा दाः
मादते नो मा रीषते सहसावन्

–ऋ. 1/189/5

अर्थात दांतों से डंक मारने वाले सांप आदि की और सींग मारने वाले हिंसक पशुओं आदि की चपेट में हमें न लाओ, हमें उन से बचाओ.

उत वा यो नो मर्चयादनागसोऽरातीवा मर्तः

सानुको वृकः, बृहस्पते अप तं वर्तया पथः
सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि.

–ऋ. 2/23/7

अर्थात हे वाक्पते, जो मनुष्य हम से वैर करता है और गर्वोन्नत हो कर हमारा अपहरण करता है तथा तेरे निरपराध भक्तों को फंसाने के लिए घात लगाता है, उन्हें तू हमारे मार्ग से सदा के लिए उखाड़ फेंक.

यदि उस तथाकथित सत्ययुग में सर्वत्र चोरों, लुटेरों, कपटियों और हिंसक जानवरों का भय न होता, यदि निर्दोषों को झूठे मामलों में फंसा कर दंडित और पीड़ित करने वालों का बोलबाला न होता तो इन से बचाने के लिए बारबार इस तरह प्रार्थनाएं क्यों की जातीं?

सत्ययुग में मनुष्य की आयु कहीं चार सौ, कहीं चार हजार और कहीं एक लाख वर्ष कही गई है, लेकिन सत्ययुगीन वेद से पता चलता है कि मनुष्य की आयु एक सौ वर्ष या उस के आसपास हुआ करती थी. प्रमाण प्रस्तुत है:

शतं ते युतं हायनान्...कृण्मः

–अथर्ववेद 8/2/21

अर्थात हे बालक, हम तेरी आयु को सौ वर्ष की करते हैं.

पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्

–ऋ. 7/66/16

अर्थात हम सौ वर्ष तक देखने की शक्ति से युक्त रहें, हम सौ वर्ष तक जिएं.

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवाः...मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः

–ऋ. 1/89/9

अर्थात हे देवताओं, मनुष्यों के लिए आप ने एक सौ वर्ष की ही आयु कल्पित की है. उस निर्दिष्ट आयु से पहले हम नष्ट न हों.

सत्ययुग में लड़ाइयों, मारकाट और वैर का पूरी तरह अभाव बताया जाता है, लेकिन तब लड़ाईझगड़ों, परस्पर वैर और मारकाट का कितना दौरदौरा था, इस का अनुमान निम्नलिखित 'सत्ययुगीन' वेदमंत्रों से लगाया जा सकता है:

आ क्रंदय बलमोजो न आ धा निःष्टनिहि दुरिता बाधमानः,
अप प्रोथ दुंदुभे दुच्छुना इत इंद्रस्य मुष्टिरसि वीड़यस्व

–ऋ. 6/47/30

अर्थात हे नगाड़े, हमारे शत्रुओं को रुला दे और हमें जोश प्रदान कर. तुम इतना ऊंचा शब्द करो कि दुर्द्धर्ष शत्रुओं को दुख मिले. जो हमारा अनिष्ट कर के प्रसन्न होते हैं, उन्हें दूर करो. तुम इंद्र के घूंसे की तरह हमें दृढ़ता प्रदान करो.

केतुमद् दुंदुभिर्वावदीति, समश्वपर्णाश्चरंति नो, नरोऽस्माकमिंद्र रथिनो जयंतु

–ऋ. 6/47/31

अर्थात हे इंद्र, सब के पास घोषणा पहुंचाने के लिए नगाड़ा ऊंची आवाज से बज़ रहा है. हमारे सेनानी घोड़ों पर चढ़ कर इकट्ठे हुए हैं. इंद्र, हमारे रथारूढ़ सैनिक और सेनाएं युद्ध में विजयी हों.

तीव्रान्, घोषान् कृण्वते वृषपाणयोऽश्वा रथेभि: सह वाजयंत:,
अवक्रामन्त: प्रपदैरमित्रान् क्षिणंति शत्रूंरनपव्ययन्त:.

–ऋ. 6/75/7

अर्थात घोड़े टापों से धूलि उड़ाते हुए और रथ के साथ दौड़ते हुए हिनहिनाते हैं. वे हिंसक शत्रुओं को टापों से कुचलते हैं.

अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियान: कृष्णो दशभि: सहस्रै:,
आवत्तमिन्द्र: शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त.

–ऋ. 8/96213

अर्थात 10 हजार सेनाओं के साथ कृष्ण नामक शीघ्रगामी असुर अंशुमती नदी के किनारे रहता था. इंद्र उस से मिला. बाद में इंद्र ने उस असुर की सारी सेना को कत्ल कर दिया.

द्रुहो दहामि सं महीरनिंद्रा:,
अभिव्लग्य यत्र हता अमित्रा वैलस्थानं परि तृड़हा अशेरन्
अभिव्लग्या चिदद्रिब: शीर्षा यातुमतीनाम्,
छिन्धि वटूरिणा पदा महावटूरिणा पदा
अवासां मघवञ् जहि शर्धो यातुमतीनाम्,
वैलस्थानके अर्मके महावैलस्थे अर्मके
यासां तिस्र: पंचाशतोऽभिव्लंगैरपावप:,
तत्सु ते मनायति तकत्सु ते मनायति
पिशंगभृष्टिमम्भृणं पिशाचिमिन्द्र सं मृण,
सर्वं रक्षो नि बर्हय

–ऋ. 1/133/1–5

अर्थात मैं इंद्र के विरोधियों की पृथ्वी को अच्छी तरह आग लगाता हूं. जिस किसी स्थान पर शत्रु एकत्र हुए, वहीं मारे गए. वे अच्छी तरह विनष्ट हो कर श्मशान में चारों ओर लेट गए. .1.

शत्रुभक्षक इंद्र, शत्रुओं की सेना के सिर अपने हाथी ऐरावत के पैरों से कुचल दो. उस के पैर बहुत बड़े और भारी हैं. .2.

हे इंद्र, इस तरह तुम ने त्रिगुणित 50 सेनाओं का नाश किया है. .3.

तुम्हारे इस कार्य को लोग बहुत पसंद करते हैं. तुम्हारे लिए यह कार्य साधारण सा है. .4.

इंद्र, कुछ रक्तवर्ण, अति भयंकर और शब्दकारी पिशाचों (अनार्यों) का विनाश करो और समस्त राक्षसों (अनार्यों) को समाप्त करो. .5.

सत्ययुग के विषय में कहा गया है कि तब किसी प्रकार की व्याधि का नामोनिशान तक न था, लेकिन 'सत्ययुगीन' ऋग्वेद में रोगों से पीड़ित लोग प्रार्थनाएं और क्रंदन करते सुनाई पड़ते हैं. उदाहरणार्थ निम्नलिखित कुछ स्थल देखें :

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्.
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय.

–ऋ. 1/50/11

अर्थात हे सूर्य, आज उदय हो कर और उन्नत आकाश में चढ़ कर मेरे हृदय रोग और पीलिया रोग को दूर करो.

आ वो रुवण्युमौशिजो हुवध्यै घोषेव शंसमर्जुनस्य नंशे.

–ऋ. 1/122/5

अर्थात हे अश्विनी कुमारो, हे देव वैद्यो, जैसे अपनी फुलबहरी (वह रोग जिस में त्वचा पर सफेद दाग पड़ जाते हैं) दूर करने के उद्देश्य से घोषा नामक महिला ने तुम्हारी स्तुति की थी, वैसे ही मैं भी तुम्हारी स्तुति करता हूं.

जनो यो मित्रावरुणावभिधुक्, स्वयं स यक्ष्यं हृदये नि धत्त.

–ऋ.1/122/9

अर्थात हे मित्र और वरुण देवताओ, जो तुम्हारा द्रोही है, उसे यक्ष्मा रोग होता है.

स त्वं नो अग्ने, अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो

–ऋ. 4/1/5

अर्थात हे अग्नि, हमें वरुण देवता ने जलोदर रोग लगा दिया है, उसे तुम नष्ट करो.

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्

–ऋ. 4/4/13

अर्थात हे अग्नि तुम्हारी किरणों ने कृपा कर के ममता के अंधे पुत्र दीर्घतमा की शाप से रक्षा की थी.

व्यमीवाश्चातयस्वा विषूची

–ऋ. 2/33/2

अर्थात समस्त शरीर में व्याप्त रोगों को नष्ट करो.

ऐसे ही ऋग्वेद में स्त्री रोगों (1/162/2/3), पैर कटे और पैर विहीन लोगों (10/25/11) और लंगड़ों (10/39/8) का भी उल्लेख है.

सत्ययुग के विषय में कहा गया है कि तब व्यभिचार न था. सब लोग धर्मानुसार जीवन यापन करते थे. अर्थात कोई भी काम ऐसा नहीं करते थे जो धर्म के विपरीत हो, लेकिन ऋग्वेद में यमयमी का संवाद इस बात का प्रमाण है कि यमी यम की छोटी बहन होते हुए भी उस से संभोग सुख की कामना करती है :

यमस्य मा यम्यं काम आगंत्समाने योनौ सहशेय्याय,
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा.

–ऋ. 10/10/7

अर्थात यमी कहती है: तुम यम की अभिलाषा मुझ यमी के प्रति जाग्रत हो. एक ही शय्या पर साथसाथ सोने के लिए पत्नी जिस प्रकार पति के सामने अपना शरीर प्रदर्शित करती है, उसी प्रकार मैं भी अपना शरीर प्रदर्शित करूंगी. आओ, हम दोनों रथ के दो पहियों के समान एक ही कार्य में लगें.

कामभूता बह्वे तद्रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि

–ऋ. 10/10/11

अर्थात मैं कामविह्वल हो कर ही यह सब कह रही हूं. अतएव तुम मेरे शरीर से अपने शरीर को भलीभांति मिलाओ.

तब ऐसे भी भाई थे जो बहनों की संतानें नष्ट करते थे. ऋग्वेद में ऐसे लोगों को दूर करने के लिए टोनेटोटके हैं. ऐसे ही निम्नलिखित दो मंत्र प्रस्तुत हैं :

यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते,
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि
यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते,
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि

–ऋ. 10/162/5-6

अर्थात जो तुम्हारा भाई, पति या प्रेमी बन कर तुम्हारे पास आता है और तुम्हारी संतान को नष्ट करना चाहता है, उस का हम नाश करते हैं. जो सुप्तावस्था में तुम्हें मुग्ध कर के तुम्हारे पास आता है, और तुम्हारी संतति को नष्ट करना चाहता है, उसे हम नष्ट करते हैं.

अब सत्ययुगीन पिता के कार्य देखिए :

पिता दुहितुर्गर्भमाधात्

–अथर्व. 9/10/12

अर्थात पिता ने बेटी में गर्भ स्थापित किया.

सत्ययुग में सर्वत्र सुख ही सुख होने की बात की जाती है, लेकिन ऋग्वेद से पता चलता है कि तब स्त्रियां न केवल विभिन्न रिश्तेदार पुरुषों से दुखी थीं, बल्कि पुरुषों

के बहुविवाहों के परिणामस्वरूप सौतों से भी दुखी रहती थीं. वेदों में सौतों को नष्ट करने के लिए बहुत सी प्रार्थनाएं और टोटके मिलते हैं. नीचे ऐसी ही एक प्रार्थना के अंश उद्धृत हैं:

सपत्नीं मे परा धम
अथा सपत्नीं या समाधरा साधराभ्य:
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नी मे सहावहै

–ऋ. 10/145/2, 3, 5

अर्थात तुम मेरी सौत को दूर कर दो. मेरी सौत निम्न स्थान प्राप्त करे. आओ, हम दोनों शक्ति संपन्न हो कर सौत को बलहीन कर दें.

समृद्ध युग की कल्पना मात्र

सत्ययुग को बहुत समृद्ध युग बताया जाता है. कहते हैं तब कोई भूखप्यास से पीड़ित नहीं था, लेकिन 'सत्ययुगीन' ऋग्वेद से पता चलता है कि तब कई बार लोगों को अपने प्राण बचाने के लिए कुत्तों की अंतड़ियां तक खाने की नौबत आ जाती थी. भूख को दूर करने के लिए तो जगहजगह प्रार्थनाएं मिलती हैं. ऋग्वेद के ही कुछ स्थल प्रस्तुत हैं:

मो नो अग्ने अवसृजो अविष्यवे

–ऋ. 1/189/5

अर्थात हमें भूखे और कंगाल लोगों के अधीन मत करो.

मा नो अग्ने...मा न: क्षुधे

–ऋ. 7/1/19

अर्थात हे अग्नि, हमें भूख की चपेट में न लाओ.

बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश

–ऋ. 1/164/32

अर्थात अन्न की कमी के कारण बहुत संतान वाले दुख में गिरते हैं.

अवर्त्या शुन आंत्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम्, अपश्यं जायाममहीयमानाम्

–ऋ. 4/18/13

अर्थात खाने के लिए कुछ न मिलने पर जीवनोपाय के अभाव में मैं ने कुत्ते की अंतड़ियां पका कर खाईं. देवों में मुझे रक्षण देने वाला कोई नहीं मिला. अपनी पत्नी को अपमानित होते देखा.

कहा गया है कि सत्ययुग में मांबाप के सामने पुत्रों की, संतान की मृत्यु नहीं होती थी. यदि सचमुच ऐसा था तो फिर सत्युगीन ऋग्वेद आदि में पुत्रों व पौत्रों को नष्ट न

करने की प्रार्थनाएं क्यों की गई हैं? जब निश्चित था कि बापदादा के रहते पुत्र या पौत्र मर ही नहीं सकते, फिर इन प्रार्थनाओं की क्यों जरूरत पड़ी? क्या इसलिए नहीं कि उन दिनों पुत्र या पौत्र बाप दादाओं के जीते जी मरते थे? दूसरे, लोगों के पुत्रों को नष्ट करने वाले देवताओं के घातक एवं जघन्य कुकृत्यों के ऋग्वेद में प्रशंसात्मक वर्णन कैसे आ गए? ऋग्वेद में आता है :

मा नो अग्ने वीरते परा दा

–ऋ. 7/1/19

अर्थात हे अग्नि, हमारी संतानों को नष्ट मत कर.

कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना

–ऋ. 1/101/1

अर्थात इंद्र ने ऋजिश्वा राजा के साथ मिल कर कृष्ण नाम के असुर की गर्भवती स्त्रियों को मारा था.

यो वर्चिनः शतमिंद्रः सहस्रमपावपद्

ऋ. 2/14/6

अर्थात इंद्र ने वर्ची के सौ हजार पुत्रों को भूमि पर सुला दिया अर्थात मार दिया.

धिष्वा शवः शूर येन वृत्रमवाभिनद्दानुमौर्णवाभम्

–ऋ. 2/11/18

अर्थात इंद्र, तुम ने दनु के पुत्र वृत्र को मकड़ी की तरह नष्ट कर दिया.

संतानों की रक्षा के लिए प्रार्थनाएं करते हुए वेदों के कवि और लोग देवताओं के आगे गिड़गिड़ाते हैं:

मा नो अग्ने वीरते परा दा

–ऋ. 7/1/19

अर्थात हे अग्नि, हमारी संतानों को नष्ट मत कर.

मा नो महांतमुत मा नो अर्भकं...मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः

–यजुर्वेद 16/15

अर्थात हे रुद्र, हमारे बड़ों या छोटी उम्र के लोगों को मत मार. हमारे पुत्रों और पौत्रों के प्रिय शरीरों को नष्ट मत कर.

मा नस्तोके तनये...रीरिषः

–यजु. 16/16

अर्थात हे रुद्र, हमारे पुत्रों और पौत्रों को नष्ट मत कर.

यहां यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में एक जगह ऐसी कामनामात्र की गई है कि

हमारा जीवनक्रम ऐसा बने कि कोई छोटी आयु वाला बड़ी आयु वालों के सामने परलोक न सिधारे.

यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्

–ऋ. 10/18/5

लेकिन यह कामना मात्र है और भविष्य के लिए प्रार्थना मात्र है, न कि तत्कालीन अवस्था या उस से पहले की अवस्था का उल्लेख है. उस समय ऐसा था नहीं, बल्कि ऐसा हो, ऐसी कामना की गई है.

इस के विपरीत अथर्ववेद में ऐसे मृत व्यक्ति को जीवित करने के लिए टोटका करते दिखाया गया है जिस की मृत्यु अल्पायु में हो गई थी. उक्त मंत्र इस प्रकार है:

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ् आ त्वा हरामि शतशारदाय,
अवमुंचन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि.

–अथर्ववेद. 8/2/2

अर्थात तू इधर जीवितों के प्रकाश में आ. तुझे इधर लाता हूं ताकि तू सौ वर्ष की आयु भोग सके. तुझे मृत्यु के फंदों और बेबसी से अलग कर के उन्हें दूर भगाता हुआ तुम्हारे भीतर दीर्घतर आयु को अच्छी तरह से स्थापित करता हूं.

सत्ययुग में सभी लोगों के एक ही धर्म और एक ही ईश्वर हो एक ही तरह पूजने की बात कही गई है, लेकिन ऋग्वेद से पता चलता है कि तथाकथित सत्ययुग में ऐसे लोग भी थे जो भिन्नभिन्न देवताओं और विभिन्न धर्मों को मानते थे. कुछ उदाहरण देखें:

मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः

–ऋ. 7/21/5

अर्थात हे इंद्र, लिंगपूजक हमारे यज्ञ में विघ्न न डालें.

नेंद्रो अस्तीति नेम उ त्व आह, क ईं ददर्श कमभिष्टवाम

–ऋ. 8/100/3

अर्थात भार्गव नामक ऋषि का मत है कि इंद्र नाम की कोई चीज नहीं है. इंद्र को किस ने देखा है जो हम उस की स्तुति करें?

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः,
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दंभय.

–ऋ. 10/22/8

अर्थात हमारे चारों ओर यज्ञशून्य दस्यु हैं. वे कुछ नहीं मानते. उन का धर्म अलग है. वे अमानुष हैं. ऋग्वेद में अन्यत्र (7/6/3) उन्हें 'बुरा बोलने वाले' और 'आर्यों के देवताओं के प्रति श्रद्धा रहित' कहा गया है:

मृधवाचः अश्रद्धान्

–ऋ. 7/6/3

ऋग्वेद के हिंदी अनुवादक और भारत धर्म महामंडल के महोपदेशक पं. रामगोविंद त्रिवेदी ने लिखा है : "ऋग्वेद के समय में कारागृह और हथकड़ी भी थी. शतद्वार वाले और अंधकारमय पीड़ा यंत्रगृह (काली कोठरी) थे. उपद्रवी, द्वेषी और निंदक भी थे. बाधक, चोर और कपटी भी थे. गुफा में चुराया धन छिपाने वाले तस्कर थे. मित्रों की पत्नियों से व्यभिचार करने वाले लंपट थे. नास्तिक थे. शराबी भी थे. जुआरी भी थे.

"ये सब समाज विनाशक तत्त्व तो थे ही, कच्चा मांस खाने वाले राक्षस भी बहुत थे. ये यज्ञों में विघ्न डालने वाले थे. वे सत्यद्रोही थे. वे साधुओं के भंजक थे. कड़वी बातें करते थे. वे नरभक्षक थे. मिथ्यावादी थे. वे मनुष्यों और पशुओं के मांस का संग्रह करते थे. उन के सारे कर्म विध्वंसक थे. इसीलिए उन राक्षसों के वध की बारबार प्रार्थना की गई है. गाएं चुराने वाले पणि थे, जिन का नेता बलासुर था. पणि ही नहीं, दास, दस्यु और असुर भी सत्कर्म विध्वंसक थे."

–हिंदी ऋग्वेद, भूमिका, पृ. 62-63

सत्ययुगीन लोगों के संतोषी होने की बात कही गई है, लेकिन सत्ययुगीन वेद से इस ढोल की पोल खुल जाती है, जब वहां जगहजगह कभी यह और कभी वह मांगते हुए 'सत्ययुगीनों' को पाते हैं. नीचे कुछ स्थल प्रस्तुत हैं:

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति,
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु, स्वस्ति राये मरुतो दधातन.

–ऋ. 10/63/15

अर्थात हे मरुत देवताओं, हमें विस्तृत मार्गों पर, मरुस्थलों में, जलप्रधान प्रदेशों में, सुंदर बस्तियों में और पुत्रों को जन्म देने वाले गृहों में, सर्वत्र पुष्ट करो जिस से हमें परम सुख का लाभ हो और हमारी समृद्धि हो.

आपः पृणीत भेषजं वरूथं मम, ज्योक् च सूर्यं दृशे.

–ऋ. 10/9/7

अर्थात हे जल देवता, आप मुझे कल्याणकारी औषध प्रदान करो, ताकि मेरा शरीर ठीक रहे और मैं लगातार सूर्य का दर्शन करता रहूं.

भूमे मातः, श्रियां मा धेहि भूत्याम्.

–ऋ. 12/1/63

अर्थात हे भूमि, हे माता, तू धन, संपत्ति और ऐश्वर्य, वैभव के ऊपर मेरा अधिकार स्थापित कर.

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि,

गामश्वं पोषयित्वा स नो मृड़ातीदृशे.

–ऋ. 4/57/1

अर्थात हे खेतीपालक देव, हमें गौ, अश्व और अन्य पुष्टिकारक पदार्थ प्रदान करते रहो ताकि हम सब प्रकार से समृद्ध बने रहें.

मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतं, ऋतस्य नः पतयो मृड़यन्तु.

–ऋ. 4/57/2

अर्थात शुभ कर्मों के रखवाले देवता कृपा करें और हमें शुद्ध घी के समान पवित्र और मधुर रस वाला भोजन मिलता रहे.

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः
प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे.

–यजु. 11/83

अर्थात हे अन्नपालक देवताओ, हमें अन्न देते रहो जिस से हम बलवान बनें और हमें कोई रोग न हो. दानियों को भरपूर बनाओ. हमें धनधान्य देते रहो ताकि हम मनुष्यों और पशुओं का पालन करते रहें.

शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः

–यजु. 36/22

अर्थात हमारी संतानें सुखी रहें, हमारे पशु भयरहित रहें.

अनमित्रं नो अधराद्

–अथर्व. 6/40/3

अर्थात हे इंद्र, नीचे से हमारे शत्रुओं का नाश करो.

भग प्र नृभिर्नृवंतः स्याम

–अथर्व. 3/16/3

अर्थात हे भग, हमारे परिवार में नर ज्यादा हों ताकि हमारा प्रभाव बढ़े.

पुनः मैत्विंद्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च.

–अथर्व. 7/67/1

अर्थात मुझे बल, जीवनोत्साह, धन और वेदपाठ पुनः प्राप्त हो.

विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे

–ऋ. 10/35/13

अर्थात सारी दुनिया का धन और बल हमारे लिए हो.

सं माग्ने वर्चसा सृज, सं प्रजया समायुषा,
विद्युर्मे अस्य देवा इंद्रो विद्यात्सह ऋषिभिः

–अथर्व. 9/1/15

अर्थात हे अग्नि देवता, मुझे प्रताप से युक्त करो, मुझे प्रजा से युक्त करो. मुझे आयु से युक्त करो. देवताओं तक मेरी पूछ हो. इंद्र और दूसरे ऋषियों तक मेरी पूछ हो.

आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय.

–अथर्व. 19/63/1

अर्थात हे देवताओ, आयु बढ़ाओ, प्राण बढ़ाओ, प्रजा बढ़ाओ, पशु बढ़ाओ, कीर्ति बढ़ाओ, यज्ञ करने वाले को हर तरह से बढ़ाओ.

सत्ययुग में लोगों के सर्वज्ञ, ब्रह्मज्ञानी और पूर्णज्ञानी होने की बात कही गई है, लेकिन ऋग्वेद से पता चलता है कि तथाकथित सत्ययुग में ऐसा कुछ भी न था. तब भी अज्ञानी, महाअज्ञानी एवं महासंदेहवादी थे जिन की नजरों में बहुचर्चित और बहुप्रशंसित देवताओं तक का अस्तित्व भी संदिग्ध था. नीचे कुछ ऐसे ही स्थल प्रस्तुत हैं:

प्र सु स्तोमं भरत वाजयंत इंद्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति,
नेंद्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभिष्टवाम

–ऋ. 8/100/3

अर्थात हे युद्ध के इच्छुको, यदि इंद्र की सत्ता सच्ची हो, तब इंद्र के लिए सत्यरूप सोम का उच्चारण करो, अन्यथा नहीं. भार्गव ऋषि का मत है कि इंद्र नाम की कोई चीज नहीं है. इंद्र को किसी ने देखा है? हम अब किस की स्तुति करें?

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः,
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव.
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न,
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद.

–ऋ. 10/129/6/7

अर्थात दुनिया में कौन ऐसा है जो यह बता सके कि यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई है. देवता भी इस सृष्टि के रचे जाने के बाद उत्पन्न हुए. फिर कौन जान सकता है कि यह जगत कहां से और किस से उत्पन्न हुआ. यह विशेष सृष्टि जिस से उत्पन्न हुई है, पता नहीं वह इसे धारण करता है या नहीं. इस बात को विस्तृत आकाश में रहने वाले स्वामी ही जाने. हो सकता है कि वह भी यह सब न जानते हों.

ऋग्वेद के 10वें मंडल का सारे का सारा 12वां सूक्त इसी अज्ञानवाद और संदेहवाद से भरा हुआ है. उस के प्रत्येक मंत्र का अंतिम चरण ही 'कस्मै देवाय हविषा विधेम**' (किस देवता को आहुति अर्पित करें?) है.**

कहा गया है कि सत्ययुग में अपनी डींगें मारने वाले व्यक्ति नहीं थे, परंतु ऋग्वेद से ऐसे अनेक मंत्र प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिन से कथित सत्ययुग में उन का अस्तित्व प्रमाणित होता है. उदाहरणार्थ दोतीन मंत्र निम्नलिखित हैं :

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्,
अमंतवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि.

–ऋ. 10/125/4

अर्थात जो प्राण धारण करता, देखता, सुनता और अन्न का भोग करता है, वह मेरी सहायता से ही यह सब कार्य करता है. जो मुझे नहीं मानते, वे क्षीण हो जाते हैं. विज्ञ, सुनो, जो मैं कहता हूं, वह श्रद्धेय है.

हन्ताहं पृथिवीमिम नि दधानीह वेह वा, कुवित्सोमस्यापामिति.
ओषमित्पृथिवीमहं जंघनानीह वेह वा, कुवित्सोमस्यापामिति.

–ऋ. 10/119/9–10

अर्थात मैं इस पृथ्वी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा कर रख सकता हूं. मैं ने अनेक बार सोमपान किया हैं. मैं पृथ्वी को जला सकता हूं. जिस स्थान से कहो, मैं इस का विध्वंस कर सकता हूं. मैं ने अनेक बार सोमपान किया है.

सत्ययुग के लोगों के घर रत्नों के बने कहे गए हैं, परंतु सत्ययुगीन ऋग्वेद कहता है कि तब घर लकड़ी, मिट्टी या पत्थर के होते थे. महामहोपाध्याय पं. विश्वेश्वरनाथ रेउ ने ऋग्वेदकालीन घरों का उल्लेख करते हुए अपनी पुस्तक 'ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि' (पृ. 210) में स्पष्ट लिखा है: "घर पत्थर, मिट्टी, लकड़ी और बांस के बनाए जाते थे. घरों को कुटी कह सकते हैं. इस में घास और पत्तों का भी उपयोग होता था. साधारण जन लकड़ी के घरों में और गरीब मिट्टी के घरों या झोंपड़ों में रहते थे."

सत्ययुग में कोई पापी न था, ऐसा कहते हैं, लेकिन सत्ययुगीन वेद इंद्र से प्रार्थना करता है:

इंद्रो हंतु पाप्मानं योऽस्मान् द्वेष्टि

यजुर्वेद 26/10

अर्थात हे इंद्र, उन पापियों को नष्ट करो जो हमारे साथ द्वेष करते हैं.

एक धर्मग्रंथ के अनुसार सत्ययुग में लोग 'परांबा' के उपासक थे, और एक अन्य ग्रंथ के अनुसार नारायण के; लेकिन 'सत्ययुगीन' वेद में इन दोनों शब्दों का अस्तित्व तक नहीं, लोगों के इन के उपासक होने की तो बात ही छोड़ो.

इतिहास, तर्क और 'सत्ययुगीन' साहित्य–इन तीनों कसौटियों पर कस कर हम युगों के उपर्युक्त वर्णन को तीन विभागों में बांट सकते हैं:

- **ऐसे वर्णन जो इतिहास-विरोधी हैं.**
- **ऐसे वर्णन जो सामान्य बुद्धि के विपरीत और परस्पर-विरोधी हैं.**
- **ऐसे वर्णन जो 'सत्ययुगीन' वेदों के विपरीत हैं.**

इस सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि सत्ययुग नामक कोई युग कभी था ही नहीं. सत्ययुग के जो वर्णन हिंदू धर्म ग्रंथों में यत्रतत्र किए गए हैं, वे न केवल कहानीकिस्से,

कपोलकल्पित और इतिहास-विरोधी हैं, बल्कि मानवीय मस्तिष्क के लिए घातक और समाज की प्रगति में बाधक भी हैं.

इन काल्पनिक युगों में विश्वास न केवल झूठ में विश्वास करने के समान है, बल्कि ये वर्णन धार्मिक पवित्रता के नाम पर निराशावाद को भी पनपाते हैं. औसतन धार्मिक हिंदू सोचता है कि सुखसमृद्धि, आदर्श समाज, प्रगति, शांति सब उस हजारों वर्ष पहले के युग की चीजें हैं जो अब नहीं आ सकता. अब तो कलियुग है. इस में सब बुराइयों, सब दोषों–भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, भाईभतीजावाद, बलात्कारों, चोरियों, डाकों, कत्लेआम, घृणा, जातपांत के आधार पर भेदभाव, धोखा, मिलावटी खाद्‌य पदार्थ आदि–को सहन करना ही सब लोगों के जीवन में बदा है. यही नियति है, हमारे प्रयत्न बेकार हैं क्योंकि युग धर्म बलवान होता है.

अब जब कि यह नितांत स्पष्ट हो चुका है कि युगों का कथित सिद्धांत एक निराधार कल्पना मात्र है, तब इस कल्पना व मिथ्या विश्वास के वशीभूत हो कर चलते रहना बुद्धिमान मनुष्य के लिए उचित नहीं है. जब यह ज्ञात हो जाए कि अंधेरे में जिस चीज के सांप होने की कल्पना की थी, वह सांप न हो कर असल में रस्सी है और जिस चमकती वस्तु के चांदी होने की कल्पना की थी, वह चांदी न हो कर सीपी है, तब भी उन कल्पनाओं से क्रमशः डरना और मोह करना समझदारी का काम नहीं है. ऐसा या तो अज्ञानी व्यक्ति करेगा या मनोरोगी. हमें चार युगों के जुए से मुक्त हो कर उन के यांत्रिक क्रम से आवागमन के अंधविश्वास से मुक्त हो कर, समाज के नवनिर्माण के लिए अग्रसर होना चाहिए.

प्राचीन भारत में शिल्प और शिल्पी

प्राचीन भारत में (और अब भी) हिंदू धर्म में कोई भी आदमी सिर्फ जाति का अंग बन कर ही रह सकता था. बिना जाति के लेबल के कोई हिंदूधर्मी न हुआ है, न हो सकता है. अतः हिंदू धर्म में पेशे भी जाति के आधार पर निर्धारित किए गए, चाहे किसी अज्ञात काल में पेशों से जातियां बनी थीं.

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियों के कार्य स्पष्ट तौर पर धर्मशास्त्रों में अंकित किए गए हैं. ब्राह्मणों का काम था–वेदशास्त्र पढ़नापढ़ाना, हवन करनाकराना और दान लेना व देना. क्षत्रियों का कार्य था–शस्त्र विद्या सीखना और लड़ना. वैश्यों का कार्य था–व्यापार करना. शेष सब कार्य, जिन में हाथों का प्रयोग किया जाता था, घटिया समझे जाते थे. अतः वे सब से नीचे के वर्ण के लोगों अर्थात उच्च वर्णों (जातियों) की सेवा करना और सब तरह के शिल्पी कार्य–बढ़ईगीरी, बरतन बनाना, वस्त्र बुनना, चित्रकारी, पच्चीकारी, रंगसाजी, राजगीरी आदि करना हैं:

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्वशिल्पानि चाप्यथ.

–शंखस्मृति 1/5

अर्थात शूद्र द्विजों की सेवा और शिल्प के सब कार्य करें.

यही बात एक दूसरे धर्म ग्रंथ–वायु पुराण–में अन्य ढंग से कही गई है:

शिल्पाजीवं भृतिं चैव शूद्राणां व्यदधात्प्रभुः.

–वायु पुराण 8/171

अर्थात ईश्वर ने शूद्रों के लिए सेवा करने व शिल्प के द्वारा जीविका कमाने का विधान किया है.

देवल स्मृति में शूद्र के कार्यों को और ज्यादा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वे द्विजातियों की सेवा करें तथा कृषि, पशुपालन, भार वहन, क्रयविक्रय, चित्रकारी, नृत्य, संगीत और वेणु, वीणा, ढोलक, मृदंग आदि वाद्ययंत्र बजाने का कार्य करें:

शूद्रधर्मो द्विजातिशुश्रूषा पापवर्जनं कलत्रादिपोषणं कर्षणपशुपालनभारोद्वहन–
पण्यव्यवहारचित्रकर्मनृत्यगीतवेणुवीणामुरजमृदंगवादनादीनि.

–देवल तथा मिताक्षरा, 1/120

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस विषय में लिखा है:

शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा वार्ता कारु कुशीलव कर्म च.

–1/3

अर्थात शूद्र का धर्म द्विजातियों की सेवा, कृषि, पशुपालन, कारीगरी एवं गानाबजाना, कौतुक दिखाना आदि कार्य करना है.

ऐसे ही आदेश महाभारत (शांतिपर्व 195-4), उशना स्मृति, लघ्वाश्वलायन (22-5) और मनुस्मृति (10/99-100) में भी मिलते हैं. स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शिल्प को घटिया और शूद्रों का कार्य ही माना गया है.

शिल्प क्योंकि शूद्रों का कार्य था, अतः प्राचीन भारत में उस के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि स्वयं शूद्रों के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया जाता था. इस का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन का कत्ल किए जाने को कभी गंभीरतापूर्वक नहीं लिया गया. मनु ने लिखा है कि शूद्र का वध करना कुत्ते अथवा बिल्ली अथवा कौए के वध के समान है.

एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासाञ् शूद्रहा चरेत्.
वृषमैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गा: सिता:

–मनुस्मृति 11/130

अर्थात शूद्र को कत्ल करने वाला ब्राह्मण छः मास तक ग्राम के बाहर पेड़ के नीचे रहे और ब्राह्मणों को एक बैल तथा 11 गौएं दे. बिल्ली, नेवला, नीलकंठ (पक्षी), मेढक, कुत्ता, गोह, उल्लू और कोए में से किसी एक को मारने पर वही कुछ करे जो शूद्र को मारने पर किया जाता है.

यही बात गौतम धर्मसूत्र (22/14/16) याज्ञवल्क्य स्मृति (3/266/67) और आपस्तंब धर्मसूत्र (1/9/25/14 एवं 1/9/26/1) में कही गई है.

शूद्रों के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण सामूहिक रूप से तो था ही, लेकिन शिल्पियों के प्रति यह उपेक्षा विशेष तौर पर थी. कलियुग के लिए विशेष तौर पर रची होने का दावा करने वाली 'पराशर स्मृति' का कथन है कि कारीगर और शिल्पी को कत्ल करने के पाप से दो व्रत रखने और 11 बैल दक्षिणा में देने मात्र से आदमी मुक्त हो जाता है.

शिल्पिनं कारुकं शूद्रं स्त्रियं वा यस्तु घातयेत्.
प्राजापत्यद्वयं कृत्वा वृषैकादश दक्षिणा..

–पराशर स्मृति 6/16

अर्थात शिल्पी, कारीगर, शूद्र और स्त्री में से एक की जो व्यक्ति हत्या करता है, वह दो प्राजापत्य व्रत कर के और 11 बैल दान कर के मुक्त हो जाता है.

स्मृतियों में कुछ विशेष शिल्पी वर्गों के नामों का उल्लेख कर के भी उन की

निंदा की गई है. बढ़ई, कुम्हार आदि को 'अत्यंज' कहा गया है, जिन के दर्शन मात्र से अपवित्रता उत्पन्न हो जाती है. व्यास स्मृति में लिखा है :

वर्द्धिको नापितो गोप आशाप: कुंभकारक:.
वणिक्किरातकायस्थमालाकारकुटुम्बिन:..
वराटो भेदचाण्डालदासश्वपचकोलका:.
एतेऽन्त्यजा: समाख्याता ये चान्ये च गवाशना:.
एषां संभाषणात्स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम्..

अर्थात बढ़ई, नाई, ग्वाले, कुम्हार, वणिक, किरात, कायस्थ, माली, भंगी, कोल और चांडाल–ये सब अपवित्र हैं और अत्यंज कहलाते हैं. इन में से किसी एक से भी बात करने पर स्नान करना चाहिए और इन पर यदि केवल दृष्टि पड़ जाए तो सूर्य के दर्शन करने चाहिए. तब द्विजाति (ऊंची जातियों का व्यक्ति) शुद्ध होता है.

ऐसे ही एक अन्य स्मृति में मोची, धोबी, बढ़ई और चिकित्सक के हाथ का अन्न न खाने का आदेश है. (देखें, वसिष्ठ धर्मसूत्र 14/2-4). मनु ने लोहार, दर्जी, बंसफोर (बांस के बरतन बनाने वाला), सुनार आदि शिल्पियों का अन्न न खाने का विधान किया है.

शैलूषतुन्नवायान्नम्
कर्मारस्य निषादस्य रंगावतारकस्य च.
सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा
चैलनिर्णेजकस्य च. रंजकस्य..
आयु: सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिन:
कारुकान्नं प्रजां हंति बलं निर्णेजकस्य
च
पूयं चिकित्सकस्यान्नम्

– मनुस्मृति 4/214–216, 218–220

अर्थात नट, दर्जी, लोहार, मल्लाह, रंगसाज, सुनार, बंसफोर, धातु के हथियार बनाने वाले, धोबी और रंगरेज का अन्न न खाए. सुनार का अन्न आयु को और चमार का अन्न यश को हर लेता है. बढ़ई का अन्न संतान को तथा रंगरेज का अन्न बल को नष्ट करता है. चिकित्सक का अन्न पीव के समान होता है.

हिंदू धर्म में शिल्पी की इस उपेक्षापूर्ण और घृणापूर्ण स्थिति का कारण यह विश्वास था कि शिल्प एक बहुत बुरी चीज है और इसे अपनाने के कारण शिल्पी मरने के बाद नरक में जाता है. शिव पुराण में यह बात स्पष्ट रूप में कही गई है:

शिल्पिन: कारवो वैद्या हेमकारा नृपध्वजा:.
भृतका: कूटसंयुक्ता: सर्वे ते नारका: स्मृता:..

–वायुसंहिता, 31/39

अर्थात शिल्पी, कारीगर, वैद्य, सुनार, राजा का ध्वज उठाने वाले नौकर और मक्कार–ये सब नरक को जाते हैं.

प्राचीन भारत में शिल्पियों और कारीगरों का योजनाबद्ध रूप में आर्थिक शोषण भी बुरी तरह किया गया. मनुस्मृति (7/138) में कारीगरों और शिल्पियों से बेगार लेने का विधान है:

कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः.
एकैकं कारयेत् कर्म मासि मासि महीपतिः..

– मनुस्मृति 7/138

अर्थात कारीगर, बढ़ई, लोहार आदि और बोझ ढोने वाले मजदूर आदि से महीने में एक दिन राजा बेगार ले.

यही बात गौतम धर्मसूत्र (10/31-34) और विष्णु धर्मसूत्र में कही गई है. शुक्र (4/2/121) का तो आदेश है कि राजा को शिल्पियों से महीने में दो बार बेगार लेनी चाहिए.

भारत में शिल्पियों और कारीगरों का न केवल सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक रूप में शोषण और तिरस्कार किया गया, बल्कि उन्हें योजनाबद्ध रूप में कत्ल भी किया गया था. वेदों में जिस पुरुषमेध (यज्ञ) का विधान व वर्णन है, उस में 184 स्त्रीपुरुषों की बलि दी जाती थी. (बाद में धीरेधीरे उन्हें जीवित छोड़ने का प्रचलन हो गया.) उन में 16-17 शिल्पी भी शामिल थे. ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का केवल एकएक व्यक्ति बलि के लिए लेने का विधान है, जब कि शिल्पियों में से–लुहार, बांस के बरतन बनाने वाला, तीर बनाने वाला, चमार, कपड़ा बुनने वाला, बढ़ई, कुम्हार, तांबे के हथियार बनाने वाला आदि 16-17 व्यक्ति लिए जाते थे.

हिंदू धर्म में जो 33 करोड़ देवता कहे गए हैं, उन में शिल्प का देवता 'विश्वकर्मा' है. वह देवता की अपेक्षा देवताओं का नौकर ज्यादा प्रतीत होता है, क्योंकि उसे देवताओं के लिए मकान, विमान आदि बनाने वाला चित्रित किया गया है. उस के जो विभिन्न नाम हैं, वे भी उस के निम्न स्तर के सूचक हैं, यथा, कारू (कम्मी, कारीगर, कमीन), तक्षा (बढ़ई), देववर्द्धिक (देवताओं का बढ़ई) आदि.

महाभारत में विश्वकर्मा को देवताओं के सरदार इंद्र का शत्रु कहा गया है, जो इस बात का सूचक है कि शिल्पियों के प्रति हिंदू धर्म की उपेक्षा शत्रुता तक पहुंची हुई थी.

महाभारत के उद्योगपर्व में आता है कि विश्वकर्मा ने इंद्र के साथ संबंध ठीक न होने के कारण तीन सिरों वाले अपने पुत्र को उत्पन्न किया:

त्वष्टा प्रजापतिर्ह्यासीद् देवश्रेष्ठो महातपाः.
स पुत्रं वै त्रिशिरसमिंद्रद्रोहात् किलासृजत्..

–महाभारत उद्योगपर्व 9/3

अर्थात उस त्रिशिर को इंद्र ने मार डाला. इस से कुपित हो कर विश्वकर्मा ने

वृत्रासुर को उत्पन्न किया, जिसे इंद्र और विष्णु ने मिल कर मार डाला.

विनापराधेन यतः पुत्रं हिंसितवान् मम
तस्माच्छक्रविनाशाय वृत्रमुत्पादयाम्यहम्
यदि वृत्रं न हन्म्यद्य वञ्चयित्वा महासुरम्.
महाबलं महाकायं न मे श्रेयो भविष्यति
एवं संचिंतयन्नेव शक्रो विष्णुमनुस्मरन्.
प्रविश्य फेनं तं विष्णुरथ वृत्रं व्यनाशयत्

–महाभारत, उद्योग पर्व 9/45-46, 10/36, 39

अर्थात बिना किसी अपराध के तुम ने मेरे पुत्र को मार डाला है, अतः तुम्हारे नाश के लिए मैं वृत्र को उत्पन्न करूंगा...इंद्र ने सोचा कि यदि मैं इसे धोखे के साथ नष्ट नहीं करता तो मेरा भला नहीं. इस तरह विचार कर उस ने विष्णु को याद किया. विष्णु ने झाग में प्रविष्ट हो कर वृत्र को नष्ट कर दिया.

जब शिल्पशास्त्र के देवता की यह दु:स्थिति रही हो, तब छोटेमोटे शिल्पी किस गिनती में हैं?

यद्यपि उच्च जातियां शिल्प से घृणा करती थीं तथापि बिना उस के उन का निर्वाह भी नहीं हो सकता था. पुरोहित वर्ग ने शिल्पियों का तिरस्कार करने के बावजूद शिल्प पर अपना सर्वोपरि अधिकार बनाए रखने के प्रयास में अपनी कथित दिव्य बुद्धि से कई प्रकार के व्यावहारिक आदेश और दिशानिर्देश आविष्कृत किए. ये न केवल शिल्प के क्षेत्र में पुरोहित वर्ग के आधिपत्य को प्रतिष्ठित करने में सहायक हुए बल्कि भारत में बौद्धिक दासता की प्रक्रिया को और ज्यादा मजबूत करने में भी सहायक हुए.

मत्स्य पुराण में कहा गया है :

श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णा चैवानुपूर्वशः

–म. पु. 253/11

अर्थात ब्राह्मण के लिए गृहनिर्माण के लिए श्वेत रंग की, क्षत्रिय के लिए लाल रंग की, वैश्य के लिए पीले और शूद्र के लिए काले रंग की भूमि उपयुक्त होती है.

स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में धर्मशास्त्रकारों ने शिल्पी व शिल्प को तिरस्कार और उपेक्षा का पात्र बनाया, लेकिन वे 'नरक को ले जाने वाले इस पेशे' से भी स्वार्थ सिद्ध करने में कभी नहीं चूके. उपेक्षापूर्ण व्यवहार और पुरोहितों के आधिपत्य के परिणामस्वरूप भारत में न सिर्फ उपयोगी शिल्पी, अर्धमानवी और अमानवी स्तर तक गिरे बल्कि देश में शिल्पकला का स्वाभाविक विकास भी अवरुद्ध हुआ.

देश में जो प्राचीन शिल्प के नमूने उपलब्ध होते हैं, वे अधिकतर गैर हिंदुओं के कलाप्रेम के कारण हैं. सब से प्राचीन नमूने अशोककालीन हैं. सर जान मार्शल ने इस शिल्प की चर्चा करते हुए लिखा है कि अशोक के राज्यकाल में ईरान से बुलाए गए शिल्पियों ने अपने जौहर दिखाए और भारतीय शिल्पियों को प्रशिक्षित किया. अशोक

के शिल्पियों ने ऐकेमैनिडं साम्राज्य के शिल्पियों से अपनी कृतियों को चमक देने का ढंग सीखा. बैक्ट्रिया के यूनानी शिल्पियों से उन्होंने माडल बनाना सीखा. (सारनाथ स्तंभ शीर्ष पर यूनानी शिल्प का प्रभाव है.)

डा. वाग्ची, डा. मुकर्जी और प्रो. शास्त्री जैसे भारतीय विद्वानों ने भी यह बात साफ शब्दों में स्वीकार की है कि अशोक के स्मारकों की शैली और आकृति विदेशी आदर्शों पर स्थापित है. उन का कहना है कि बहुत संभव है कि उन की योजना बनाने के काम पर विदेशी शिल्पियों को लगाया गया हो. मौर्य शिल्प के अभारतीय लक्षण इतने ज्यादा हैं कि उन्हें वास्तविक भारतीय शिल्प परंपरा के अंतर्गत सम्मिलित करना असंभव है.

भारतीय शिल्प के इतिहास में मौर्यशिल्प के बाद कुषाण काल के गांधार शिल्प का नाम आता है. पहली शताब्दी से पांचवीं शताब्दी तक इसी शिल्पशैली का भारत में विकास हुआ. यह शैली भी यूनानी ज्यादा, भारतीय कम है. इस शैली की कृतियों की रचना के लिए यूनानी रोमन कलाकारों को नियुक्त किया गया था. डा. कैमरिश के शब्दों में, "एक दृष्टि से गांधार शिल्प को ईरानी लक्षणों से युक्त यूनानी सभ्यता का पूर्व में विस्तार समझा जा सकता है."

भारतीय शिल्प का विकास

गुप्तकालीन शिल्प भी एकदम देशी नहीं, बल्कि पूर्ववर्ती शिल्प शैलियों का परिणाम मात्र है जिन्हें विदेशी शिल्पियों ने व उन से प्रशिक्षित देशी शिल्पियों ने प्रतिष्ठित किया था. बाद के काल में राजपूतों ने भवन और मंदिर काफी बनवाए, लेकिन उन में मौलिकता का एकदम अभाव है.

एक हजार ईसवी के बाद के शिल्प पर मुसलमानी शिल्प शैली का प्रभुत्व छा गया. अंगरेजी शासन में इस का स्थान पश्चिमी शैली ने ले लिया.

स्पष्ट है कि 'भारतीय शिल्प' का विकास विदेशी शिल्पियों और शासकों के कारण ही हो पाया तथा आज जो प्राचीन भारतीय शिल्प के स्मारक विद्यमान हैं उन में से अधिकतर भारतीय सिर्फ इसी अर्थ में हैं कि वे उस भूखंड पर स्थित हैं जो भारत के नाम से जाना जाता है. मौलिकता के आधार पर 'भारतीयता' उन में नगण्य है.

सच्चाई से इनकार क्यों?

इस स्थिति को स्वीकारने में आज उन लोगों को बहुत परेशानी होती है जो आज भी प्राचीन भारतीय संस्कृति की उच्चता और महानता की दाद देते नहीं अघाते. इसे झुठलाने के लिए उन्होंने एक शैतानी जाल बुनना शुरू कर रखा है. इस के तहत वे दूसरों की चीजों को अपनी बता कर दुनिया को अपनी महानता दर्शाने की कोशिश करते हैं. इस षड्यंत्र को योजनाबद्ध रूप में क्रियान्वित किया जा रहा है.

मुसलमान व मुगल शासकों के शिल्पप्रेम से भारत में अस्तित्व में आए इसलामी शिल्प को आज तथ्यों को तोड़मरोड़ कर हिंदू शिल्प सिद्ध करने के उद्देश्य से कई पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं, जिन में ताजमहल, फतहपुर सीकरी, आगरे का लाल

किला, कुतुब मीनार आदि को मूल रूप में हिंदू राजाओं द्वारा स्थापित व निर्मित, पर बाद में मुसलमानों द्वारा अधिगृहीत बताया गया है, जो अपनी हीन-भावना को छिपाने के प्रयास में नैतिक पतन के गर्त में गिरने के समान है.

भारत में भी शिल्प का स्वाभाविक व मौलिक विकास हो सकता था. तब हमें विदेशी चीजों को अपनी सिद्ध करने के लिए झूठ और छलकपट का सहारा भी नहीं लेना पड़ता. लेकिन पुरोहित व ब्राह्मणवाद के ग्रहण ने उसे अपनी मौत मरने के लिए मजबूर किया. यदि पूर्वोक्त विदेशी प्रभावों को सर्वथा निकाल दें तो जो शेष बचेगा, वह बहुत प्रारंभिक काल के शिल्प का नमूना मात्र होगा, जिस पर शिल्प की दृष्टि से गर्व करने की बात कोई सोच भी नहीं सकता.

लेकिन इसे प्राचीन भारतीय शिल्पियों की क्षमता का अभाव कहना गलत होगा. वे उन्नति कर सकते थे. उन्होंने विदेशियों से बहुत कुछ सीखा और आत्मसात किया. यदि वे चरम उत्कर्ष पर नहीं पहुंच सके तो सिर्फ इस कारण कि कथित उच्च जातियां-द्विजातियां—उन का जाति के आधार पर मनोबल गिराती रहीं और उन के काम को नरक में ले जाने वाला कह कर उन्हें हीन ग्रंथि का शिकार बनाती रहीं. फिर भी यदि उन्होंने कुछ किया है तो सिर्फ इसलिए कि वे उस के बिना जीविका नहीं चला सकते थे. वह उन की मजबूरी की उपज है.

प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति के लेखकों में एक ऐसा वर्ग है जो उन से संबद्ध किसी भी पहलू पर लिखने के नाम पर अतीत की हर सही या गलत बात की, घुमाफिरा कर, तारीफ के पुल बांधने लगता है. वे लोग प्राचीन भारतीय शिल्पकला का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं—प्राचीन भारत में जातिप्रथा ने पेशों को पैतृक बना कर शिल्प का बहुत उपकार किया. इस श्रमविभाजन से शिल्प उत्तरोत्तर परिष्कृत होता गया. शिल्पियों ने गीता के कथनानुसार स्वधर्म का पालन करते हुए आध्यात्मिक ऊंचाइयां हासिल कीं, आत्म साक्षात्कार किया आदि.

शरारतपूर्ण सिद्धांत

पर यह जातिपांति की गंदी और अमानवीय प्रथा को उपयुक्त सिद्ध करने का प्रयास मात्र है. इस का उद्देश्य शिल्पियों को आध्यात्मिकता की भूलभुलैया में डाल कर उन्हें अतीत से चली आ रही अपनी दयनीय हालत को भली हालत समझने के लिए लफ्फाजी से सम्मोहित करना है. जातिप्रथा और उस के संपोषक गीता के स्वधर्म पालन के, डा. अंबेडकर के शब्दों में, 'शरारतपूर्ण सिद्धांत' व आदेश ने व्यक्ति की रुचि, योग्यता और क्षमता को ताक कर रख कर अधिनायकवादी ढंग से पुत्र पर पिता का पेशा थोपा. स्वधर्म पालन के नाम पर अपनी जाति और पिता के पेशे को अपनाने का कानूनन अनुल्लंघनीय विधान किया गया और उसे योजनाबद्ध रूप में सराहा व प्रचारित किया गया.

इस से व्यक्ति के लिए वैधानिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तौर पर इस के सिवा और कोई चारा ही नहीं रहा कि वह पैतृक पेशे के जुए के नीचे चाहते न चाहते हुए गरदन दे. विवशता की ऐसी स्थिति में जो कुछ भी किया जाता है, वह आधे और

आक्रोशपूर्ण मन से ही किया जाता है. ऐसे में कोई भी शिल्प स्वाभाविक तौर पर विकसित नहीं हो सकता.

बुलबुल का गला दबा कर उस से गवाया नहीं जा सकता. लेकिन भारत में इसे व्यवहार में लाने की कोशिश की गई. यही कारण है कि पैतृक पेशे आज हजारों वर्षों से पीढ़ी दर पीढ़ी चले आने पर भी विकास के किसी वांछनीय स्तर तक विकसित नहीं हो सके. हजारों वर्षों से स्वधर्म का पालन करने वाला चर्मकार जो जूता बना रहा है, वह उसी तरह बेढब और पैरों को काटने वाला जैसे सदियों पूर्व था.

हजारों वर्षों से जुलाहा जो कपड़ा पैतृक पेशे के तौर पर बुन रहा है, वह हजारों वर्ष पहले का सा मोटा और खुरदरा है. हजारों वर्षों से लुहार और ठठेरे हजारों वर्ष पहले के से बरतन बनाते चले आ रहे हैं और बढ़ई हजारों वर्षों से एक से छकड़े और बैलगाड़ियां बना रहे हैं. यह सब उस 'स्वधर्म पालन' का परिणाम है जिसे जातिप्रथा के संस्थापकों और प्रतिष्ठापकों ने व्यक्ति पर सदियों से थोप रखा है. स्पष्ट है कि जातिप्रथा से भारतीय शिल्प का स्वाभाविक विकास रुका और उस की हानि हुई.

परंपरा से शिल्पी और शिल्प तिरस्कार और उपेक्षा के पात्र रहने के कारण आज तक भारत में शिल्प के प्रति आम हिंदू की उदासीनता है. यही कारण है कि इन पेशों में न केवल आय व वेतन कम है, बल्कि रुतबा भी प्रशासनात्मक, कार्यकारी एवं सफेदपोश नौकरियों की अपेक्षा नीचा है. जब तक अन्य विकसित देशों की तरह भारत में भी शिल्प और शिल्पी को आर्थिक व सामाजिक रूप में सम्मानपूर्ण जीवन उपलब्ध नहीं कराया जाता, तब तक अतीत की ज्यादतियों का समुचित प्रायश्चित संभव नहीं है.

प्राचीन भारत में शिल्प और शिल्पी
आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर

मेरे लेख 'प्राचीन भारत में शिल्प और शिल्पी' पर अनेक पाठकों की प्रतिक्रियाएं प्राप्त हुई हैं, जिन में कुछ ऐसी बातें उठाई गई हैं जो यद्यपि असल में अज्ञानमूलक हैं तथापि आम लोगों, यहां तक कि पढ़ेलिखों में भी, बद्धमूल हैं. अतः उन पर विचार करना उचित ही होगा.

एक पाठक ने लिखा है कि लेख में कई तथ्यों को नजरअंदाज किया गया है. उन में से पहला है : शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार है. (देखें, यजुर्वेद 26/2).

इन पाठक महोदय ने न वेदमंत्र लिखा है और न ही उस का पूरा अनुवाद. केवल एक पंक्ति लिख दी, जो इस बात की सूचक है कि या तो उन्होंने वेद पढ़े नहीं या फिर उन के पास पत्र लिखते समय यजुर्वेद नहीं था.

यजुर्वेद का यह पूरा मंत्र इस प्रकार है:

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः. ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय
चार्य्याय च स्वाय चारणाय. प्रियोदेवानां दक्षिणायै दातुरिह
भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुपमादो नमतु.

–यजुर्वेद 26/2

यजुर्वेद पर 11वीं और 17वीं शताब्दी के दो पुराने संस्कृतभाष्य मिलते हैं. एक उवट का है और दूसरा महीधर का. दोनों ने एक ही तरह से इस मंत्र का अर्थ किया है, जो निम्नलिखित है:

जैसे (यथा) मैं दान देने के लिए (दक्षिणायै) इस (इमां) कल्याणकारी वाणी (कल्याणी वाचं) को कि दो, भोजन करो (दीयतां, भुज्यताम्) लोगों के प्रति (जनेभ्यः) कहता हूं (आवदानि), वैसे तुम भी कहो. किन लोगों के प्रति? ब्राह्मणों और क्षत्रियों के प्रति (ब्रह्मराजन्याभ्यां) और (च) शूद्र के प्रति (शूद्राय), वैश्य के प्रति (अर्य्याय), अपने नौकर के प्रति (भृत्याय) तथा अतिशूद्र के प्रति (अरणाय) ताकि सब को देने वाले परमात्मा (दातुः) और देवताओं का (देवानाम्) प्यारा (प्रियः) मैं हो जाऊं (भूयासम्) और मेरी (मे) यह (अयं) धन पुत्र लाभ रूपी कामना (कामः) पूर्ण हो (समृध्यताम्) तथा सुखादि प्राप्त हो (उपनमतु).

यही अर्थ आज तक वेदभाष्यकार करते आए हैं. उदाहरणार्थ नीचे दो आधुनिक भाष्यों को उद्धृत करते हैं.

(क) कल्याणमयी वाणी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्वजन, शत्रुगण, संपूर्ण जनों के निमित्त कहता हूं जिस से मैं इस यज्ञ में देवताओं का, दक्षिणा देने वालों का प्रिय पात्र बन सकूं. मेरी यह इच्छा पूर्ण हो तथा मेरा कार्य सफल हो. (यजुर्वेद, आचार्य गोपालप्रसाद कौशिक कृत हिंदी अनुवाद सहित प्रथम संस्करण, 1968, पृ. 498).

(ख) कल्याण करने वाली इस वाणी को ब्राह्मण, राजा, शूद्र, वैश्य, अपने जनों और समस्त जनों के लिए कहता हूं. इस वाणी के द्वारा मैं इस यज्ञ में देवताओं का, दक्षिणा देने वालों का प्रीतिपात्र होऊंगा. मेरा यह अभीष्ट सफल हो और मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जाए. (यजुर्वेद, श्रीराम शर्मा आचार्य कृत अनुवाद, पंचम संस्करण 1969, पृ. 433).

किसी मंत्र या श्लोक का जो अर्थ परंपरा से लोग मानते हैं, उसी का अनुसरण करते हैं, उसी के अनुसार व्यवहार करते हैं. इसीलिए शताब्दियों से प्रस्तुत या किसी अन्य वेद मंत्र से शूदों को पढ़ने का किसी ने कभी अधिकार नहीं दिया. इस के विपरीत ऐसे आदेश विद्यमान हैं जिन में शूद्रों को न केवल वेद न पढ़ने को कहा गया है, बल्कि इस का उल्लंघन करने पर सख्त सजा देने का विधान भी किया गया है. शताब्दियों से बहुत प्रचलित एक आदेश है:

> अथ हास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे
> जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीरभेदः.
>
> –गौतमधर्मसूत्र 2/3/4

अर्थात यदि शूद्र वेदमंत्रों को सुन ले तो उस के कानों में रांगा और लाख पिघला कर डालनी चाहिए. वह यदि वेद के शब्दों का उच्चारण करे तो उस की जीभ चीर देनी चाहिए. यदि वह वेदमंत्रों को धारण कर ले, उन्हें याद कर ले तो उस के शरीर को कुल्हाड़े आदि से काट देना चाहिए. (देखें, हरदत्त कृत मिताक्षरावृत्तिः).

यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि शूद्रों को न केवल वेदाध्ययन से वर्जित किया गया, बल्कि उन्हें सामान्य शिक्षा तक से वंचित रखा गया. स्कंद पुराण का आदेश है:

> शूद्राय चोपदेष्टारं द्विजं चाण्डालवत् त्यजेत्,
> शूद्रं चाक्षरसंयुक्तं दूरतः परिवर्जयेत्.
>
> –वैष्णवखंड, अ. 19 और ब्रह्मखंड, अ. 10

अर्थात यदि कोई ब्राह्मण किसी शूद्र को उपदेश करे, उसे कोई शिक्षा दे तो उसे दूसरे ब्राह्मण चांडाल के समान त्याग दें, उसे ग्राम से बाहर निकाल दें. पढ़ेलिखे शूद्र को दूर से ही त्याग दें.

मनु ने आदेश दिया है: न शूद्राय मतिं दद्यात् (मनु) अर्थात शूद्र को किसी प्रकार की शिक्षा न दें.

जब वेदों के एकाधिकारियों की व्यावहारिक परंपरा ऐसी रही हो, तब वेद के किसी मंत्र से यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार था?

प्रस्तुत वेदमंत्र का अर्थ शुरू से ले कर आज तक एक सा होता आया है. केवल आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद जी ने इस का अर्थ भिन्न ढंग से किया था. अत: उन के अनुयायी इस मंत्र के उन के द्वारा किए अर्थ को ही ठीक मानते हैं. उन्होंने जो अर्थ किया था, वह निम्नलिखित है:

"हे मनुष्यो, मैं ईश्वर जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अपने स्त्री, सेवक आदि और उत्तम लक्षणयुक्त प्राप्त हुए अंत्यज के लिए भी इन उक्त सब मनुष्यों के लिए इस संसार में इस प्रकट की हुई सुख देने वाली चारों वेदरूप वाणी का उपदेश करता हूं, वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें. जैसे मैं दान वाले के संसर्गी विद्वानों की दक्षिणा अर्थात दान आदि के लिए मनोहर पियारा होऊं और मेरी यह कामना प्राप्त हो वैसे आप लोग भी होवें और वह कामना तथा सुख आप को भी प्राप्त होवे." (यजुर्वेद, दयानंद भाष्य, पृ. 900).

पाठक महोदय ने शायद इसी अर्थ के आधार पर शूद्रों के वेदों को पढ़ने के अधिकार की बात की है. यह अर्थ स्वामी दयानंद जी ने यही अधिकार शूद्रों के लिए खुद वेदों से सिद्ध करने के उद्‌देश्य से किया था. लेकिन दोएक शब्दों के अर्थों को तोड़मरोड़ कर यदि एक नया अर्थ उन्होंने निकाला भी, तो भी सारा मंत्रार्थ इतना अजीब हो गया कि साधारण बुद्धि भी इस की प्रामाणिकता पर संदेह करती है. यह अर्थ न केवल प्रकरण-विरोधी और परस्पर असंबद्ध है, बल्कि स्वामीजी के अपने सिद्धांतों और सामान्यबुद्धि के भी विपरीत है.

जब स्वामी दयानंद के अनुसार परमात्मा निराकार है, शक्लसूरत-रहित है, तब उस की 'स्त्री' और उस के 'सेवक' कहां से आ टपके? परमात्मा की स्त्री कौन है? कब विवाह हुआ? किस की पुत्री है? परमात्मा के सेवक कौन व कितने हैं? वैतनिक हैं या अवैतनिक? जब परमात्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अंत्यज गिन दिए हैं, फिर अलग से 'स्त्री' और 'सेवक' गिनने का मतलब क्या है? क्या स्त्रियां और सेवक उक्त वर्णों (जातियों) से बाहर के हैं? क्या स्त्री का कोई वर्ण नहीं होता? परमात्मा का यह कहना भी कि जैसे मैं उक्त लोगों को वेद का उपदेश देता हूं, चिंत्य है.

खुद स्वामी दयानंद ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में लिखा है कि अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा—इन चार मनुष्यों को सृष्टि के आदि में परमात्मा ने वेदों का ज्ञान दिया था. उन्हीं से दूसरे लोगों तक वह पहुंचा (पृ. 20). ऐसे में परमात्मा के मुंह से यह कहलवाना कि "जैसे मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र, अपनी स्त्री, सेवक आदि को वेदोपदेश देता हूं, वैसे तुम भी करो" कैसे ठीक माना जा सकता है?

फिर परमात्मा का यह कामना करना कि मैं दानियों का प्रिय बनूं, मेरी यह

कामना पूर्ण हो, परमात्मा को अपूर्णकाम व गिड़गिड़ाने वाला सिद्ध करता है. क्या परमात्मा (?) ऐसा कह सकता है?

ये सारे दोष इस बात के सूचक हैं कि मंत्र के शब्द, विशेषण और वाक्यांश परमात्मा से संबद्ध हैं ही नहीं. सारा कथन किसी भी तरह परमात्मा पर चरितार्थ नहीं होता. स्वामीजी ने एक खास बात को सिद्ध करने के आवेश में दोएक शब्दों से स्वार्थसिद्धि तो कर ली, लेकिन उन्हें यह ध्यान ही नहीं रहा कि यह भी देखें कि सारे मंत्र के साथ उन एकदो शब्दों के अर्थों का मेल भी बैठता है या नहीं.

यहां विशेषतः उल्लेखनीय है कि स्वामी दयानंद ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में लिखा है:

> 'यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः
> शूद्रस्य प्रज्ञाविरहितत्वात् विद्यापठनं धारणविचारासमर्थत्वात्
> तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति निष्फलत्वाच्च.'
>
> अधिकारानधिकारविषयः

जहां यह लिखा है कि शूद्र को वेद आदि न पढ़ाना और न सुनाना चाहिए, उस का अभिप्राय यह है कि शूद्र में बुद्धि न होने के कारण न वह विद्या पढ़ सकता है और न याद कर सकता है. अतः उसे पढ़ाना व सुनाना निष्फल है.

यदि बुद्धिहीन होने के कारण शूद्र न पढ़ सकता है और न याद रख सकता है, फिर उसे वेद पढ़ाने की 'परमात्मा' की आज्ञा ढूंढ़ लाने का क्या अर्थ रह जाता है? क्या परमात्मा मूर्ख था जो पढ़ने की शक्ति न रखने वाले को भी पढ़ाने का आदेश दे मारा? जब स्वामी दयानंद स्वयं शूद्र की अयोग्यता से परिचित थे, फिर उन्होंने उस का वेद पढ़ने का अधिकार सिद्ध करने के लिए अर्थों में फेरबदल करने के लिए इतने हाथपैर क्यों मारे?

वस्तुतः उन्होंने जो अधिकार एक हाथ से शूद्र को दिया था, उसे दूसरे हाथ से वापस ले लिया और शूद्र को वेद पढ़ने से वंचित रखने की प्राचीन परंपरा को अक्षुण्ण बनाए रखा. अतः पाठक महोदय का यजुर्वेद (26/2) के स्वामी दयानंदकृत अर्थ के आधार पर यह कहना निर्मूल है कि शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार है.

वास्तविकता से इनकार क्यों?

किसी मंत्र के मनमाने ढंग से अर्थ कर के, उस से बलात्कार कर के कोई बात दर्शाना एक बात है और बिना खींचातानी के अर्थ कर के, उसे परंपरा और इतिहास द्वारा पुष्ट कर के किसी बात को दर्शाना और बात है. किसी शब्द या वाक्य का जो अर्थ उस के प्रयोक्ता मानते आ रहे हैं, वही उस का वास्तविक अर्थ होता है, वैसे व्याकरण की कलाबाजियां लगा कर उस के चाहे कोई कितने ही अर्थ क्यों न निकाला करे. जब वह शब्द या वाक्य भूतकाल से संबंधित हो, तब तो उस के प्रयोक्ताओं का ऐतिहासिक जीवन हमारा असंदिग्ध मार्गदर्शक होता है. हिंदुओं के इतिहास में, उन के विभिन्न ग्रंथों में, उन के अभिलेखों में शूद्रों के वेद पढ़ने का

सर्वत्र निषेध है. उस वास्तविकता को मंत्रविशेष के अर्थों में हेरफेर कर के कैसे बदला जा सकता है?

स्पष्ट है कि वेद से और वेदों को मानने वालों की संस्कृति और इतिहास से यह सिद्ध नहीं होता कि शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार था.

वही पाठक महोदय आगे लिखते हैं:

शूद्र कर्मों के बल पर ब्राह्मणत्व व उच्च वर्णों को प्राप्त कर सकते हैं–उदाहरण बाल्मीकि (?), धर्मव्याघ्र (?), विदुर, मतंग ऋषि इत्यादि.

यह लिख कर उन्होंने यह बताना चाहा है कि ये लोग नीच वर्ण के थे, लेकिन अपने श्रेष्ठ कर्मों के आधार पर ब्राह्मण व उच्च वर्ण के हो गए. हमें देखना होगा कि क्या वास्तव में ऐसा हुआ. क्या इस बात का कोई शास्त्रीय/दस्तावेजी प्रमाण है?

सर्वप्रथम वाल्मीकि को लें, न कि 'बाल्मीकि' को. प्रचलित विश्वास है कि वह डाकू थे. बाद में अच्छे कामों के आधार पर ऋषि बने. लेकिन यह बचकाना विश्वास है, डाकू कोई वर्ण (जाति) नहीं. डाकू तो किसी भी वर्ण का आदमी बन सकता है. अतः आम विश्वास को प्रमाण मान कर यह सिद्ध करना कि वाल्मीकि नीच वर्ण से उच्च वर्ण के हो गए, सरासर गलत है.

अब शास्त्रीय प्रमाणों को देखें. 'वाल्मीकि रामायण' में दो स्थानों पर वाल्मीकि ने अपने विषय में लिखा है :

क. प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनंदन.

–उत्तरकांड, 96/19

अर्थात हे राम, मैं प्रचेता का दसवां पुत्र हूं.

ख. एतदाख्यानमायुष्यं सभविष्यं सहोत्तरम्,
कृतवान् प्रचेतसः पुत्रस्तद् ब्रह्माप्यन्वमन्यत.

–उत्तरकांड, 11/11

अर्थात यह आख्यान भविष्य और उत्तर सहित प्रचेता के पुत्र ने रचा है, जिस का ब्रह्मा ने भी समर्थन किया है.

प्रचेता कौन था? मनुस्मृति में लिखा है कि वह ब्रह्मा के पुत्र मनु का पुत्र था:

मरीचिमत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यं पुलहं, क्रतुम्.
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च.

–मनुस्मृति 1/35

अर्थात मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद इन दश प्रजातियों को मनु ने उत्पन्न किया.

स्पष्ट है कि वाल्मीकि मनु के पुत्र प्रचेता के पुत्र थे. अतः उन्हें नीच जाति का लिखना व कहना गलत है.

वाल्मीकि के साथ डाकू आदि कैसे जुड़ा? इस का उत्तर दो स्थानों पर मिलता है. 'अध्यात्म रामायण' में वाल्मीकि ने अपने विषय में खुद बताया है कि वह जन्म से

द्विज (ब्राह्मण) थे, परंतु शूद्रों व भीलों के साथ संपर्क के कारण डाकू बन गए थे. जब डाकूपन छोड़ दिया, पुनः ब्राह्मणों के काम शुरू कर दिए:

अहं पुरा किरातेषु किरातैः सहवर्धितः,
जन्ममात्रद्विजत्वं मे शूद्राचाररतः सदा
ततश्चौरैश्च संगम्य चौरोऽहमभवं पुरा
एकदा मुनयः सप्त दृष्टा महति कानने
मुनीनां दर्शनादेव शुद्धांतःकरणोऽभवम्,
धनुरादीन् परित्यज्य दण्डवत् पतितोऽस्म्यहम्
इत्यग्रे पतितं दृष्ट्वा मामूचुर्मुनिसत्तमाः
एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा
आगच्छामः पुनर्यावत्तावदुक्तं सदा जप
एवं बहुतिथे काले गते निश्चलरूपिणः,
सर्वसंगविहीनस्य वाल्मीकोऽभून्ममोपरि
ततो युगसहस्रान्ते ऋषयः पुनरागमन्,
मामूचुर्निष्क्रमस्वेति तच्छ्रुत्वा तूर्णमुत्थितः
वल्मीकान्निर्गतश्चाहं नीहारादिव भास्करः,
मामप्याहुर्मुनिगणा वाल्मीकिस्त्वं मुनीश्वर
इत्युक्त्वा ते ययुर्दिव्यगतिं रघुकुलोत्तम

–अयोध्याकांड, सर्ग 92/65–67, 76–81, 83–86

अर्थात पूर्वकाल में मैं भीलों के साथ रहता था और उन्हीं के साथ रह कर बड़ा हुआ. मैं निरंतर शूद्रों के आचरणों में रत रहता था. मैं जन्म मात्र का ब्राह्मण था. उस समय चोरों के समागम से मैं भी पक्का चोर हो गया था. एक दिन एक घोर वन में मैं ने साक्षात सप्तर्षियों को जाते देखा. उन के दर्शनमात्र से मेरा अंतःकरण शुद्ध हो गया और मैं धनुष आदि को फेंक कर पृथ्वी पर दंडवत करने लगा. मुझे अपने सामने पड़ा देख कर वे मुनि बोले, "तू इसी स्थान पर रह कर एकाग्र मन से सदा 'मरामरा' जपा कर. जब तक हम लौट न आएं तब तक तू हमारे कथनानुसार इस का जाप कर." इस तरह बहुत समय तक निश्चलतापूर्वक रहने के कारण मुझ पर वल्मीक (मिट्टी का ढेर सा अर्थात बांबी) बन गया. एक हजार युग बीतने पर वे मुनि वापस आए व मुझ से कहने लगे, "निकल आओ." जिस तरह कुहरे को पार कर के सूर्य निकल आता है, उसी तरह मैं वल्मीक से निकला. तब उन मुनियों ने कहा, "हे मुनि, तुम वल्मीक से निकले हो, अतः तुम वाल्मीकि हो."

इस से भी यही सिद्ध होता है कि वाल्मीकि जन्म से ब्राह्मण थे, परंतु कुछ समय तक वह भीलों और डाकुओं के साथ रहे थे.

स्कंद पुराण में कहा गया है कि वाल्मीकि पहले जन्म में श्रीवत्सगोत्रीय ब्राह्मण थे. तब उन का नाम स्तंभ था. अगले जन्म में वह व्याध बने. तब शंख ऋषि के सत्संग से और रामनाम के जाप से अगले जन्म में अग्निशर्मा नामक ब्राह्मण बने. (कुछ के

मत से रत्नाकर नामक ब्राह्मण बने). पिछले जन्म के संस्कारों के कारण ब्राह्मण बन कर भी कुछ दिनों तक वह व्याधकर्म में लगे रहे. फिर सप्तर्षियों के कहने पर 'मरामरा' जपते रहे और ऊपर बांबी (वल्मीक) बनने से वाल्मीकि कहलाए. (कल्याण, संक्षिप्त स्कंदपुराणांक, पृ. 381, 709 और 1024).

बंगला की 'कृत्तिवास रामायण', तुलसी के 'रामचरितमानस', 'आनंद रामायण' (राज्यकांड 14/21-49) और भविष्य पुराण (प्रतिसर्ग 4/10) में भी यही कथा थोड़े फेरबदल से दी गई है.

इस तरह स्पष्ट है कि वाल्मीकि शूद्र व अब्राह्मण से ब्राह्मण नहीं बने.

धर्मव्याघ्र बनाम धर्मव्याध

अब दूसरा उदाहरण देखिए. पाठक महोदय ने नाम लिखा है–धर्मव्याघ्र. यह नाम गलत है. असली नाम है–धर्मव्याध, अर्थात धर्मपरायण शिकारी. व्याघ्र का अर्थ है–बाघ. हमारे पाठक महोदय का हिंदी का ज्ञान जरा कम ही प्रतीत होता है, जो व्याध और व्याघ्र का भेद उन्हें स्पष्ट नहीं रहा.

धर्मव्याध का असली नाम पता नहीं चलता. वह इसी नाम से महाभारत में वर्णित है. उस के विषय में वहां इतना ही आता है कि वह धर्मपरायण था. यह कहीं नहीं आता कि वह ब्राह्मण या अन्य उच्च वर्ण का कभी बना या उसे माना गया. असलियत यह है कि धर्मव्याध पिछले जन्म के उच्च वर्ण से इस जन्म में शूद्र वर्ण में गिरा. वह नीचे से ऊपर जाने की अपेक्षा ऊपर से नीचे गिरने का उदाहरण है.

महाभारत में धर्मव्याध कौशिक नामक ब्राह्मण को अपना वृत्तांत सुनाते हुए कहता है:

अहं हि ब्राह्मणः पूर्वमासं द्विजवरात्मज
कश्चिद् राजा मम सखा धनुर्वेदपरायणः
एतस्मिन्नेव काले तुम मृगयां निर्गतो नृपः
ततोऽभ्यहन् मृगांस्तत्र सुबहूनाश्रमं प्रति
अथ क्षिप्तः शरो घोरो मयापि द्विजसत्तम,
ताडितश्च ऋषिस्तेन शरेणानतपर्वणा
ततः प्रत्यब्रवीद् वाक्यमृषिर्मां क्रोधमूर्च्छितः,
व्याधस्त्वं भविता क्रूर शूद्रयोनाविति द्विज

–महाभारत, वनपर्व, 215/22–26, 31

शूद्रयोन्यां वर्तमानो धर्मज्ञो हि भविष्यसि
जातिस्मरश्च भविता स्वर्गं चैव गमिष्यसि

–वनपर्व, 216/4–5

अर्थात मैं पिछले जन्म में ब्राह्मण था. एक राजा मेरा मित्र बन गया. एक दिन राजा शिकार को निकला. मैं भी उस के साथ गया. वहां मैं ने एक तीर चलाया, जो

एक ऋषि को जा लगा. उस ने गुस्से से पागल हो कर मुझे शाप दिया, "तू शूद्रयोनि में शिकारी बने." अनुनयविनय करने पर उस ने कहा, "शूद्रयोनि में उत्पन्न होने पर भी तुम धर्मज्ञ होओगे. तुम्हें अपने पिछले जन्म की घटनाएं याद रहेंगी. शाप के समाप्त होने पर तुम स्वर्ग को जाओगे."

स्पष्ट है कि पिछले जन्म का ब्राह्मण उस जन्म के पाप के कारण इस जन्म में शूद्र योनि में जन्मा. जन्मांतर में नीचे से ऊंचे या ऊंचे से नीचे वर्ण में कर्मानुसार जन्म लेना हिंदू धर्मसम्मत ही है. प्रश्न है, एक ही जन्म में जाति परिवर्तन का. वह इस से न सिद्ध होता है और न वह हिंदू धर्मसम्मत है. ऐसे में धर्मव्याघ्र (?) का उदाहरण शूद्र के ब्राह्मण बनने के समर्थन में कैसे दिया जा सकता है?

विदुर

तीसरा उदाहरण है विदुर का. विदुर की मां दासी (शूद्रा) थी और उस का पिता ब्राह्मण व्यास था. दासी की संतान होने के कारण विदुर को व्यास की क्षत्रिय स्त्रियों से उत्पन्न अन्य संतानों के बराबर तक नहीं माना गया; उस के ब्राह्मण बनने की तो बात ही छोड़ो. व्यास का एक पुत्र धृतराष्ट्र अंधा होने के कारण राजा नहीं बन सका. दूसरा पुत्र विदुर शूद्रा के पेट से उत्पन्न होने के कारण सिंहासन प्राप्त नहीं कर सका. ऐसे में उस का तीसरा पुत्र पांडु राज्य का स्वामी बना. महाभारत में स्पष्ट तौर पर लिखा है.

धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद् राज्यं न प्रत्यपद्यत,
पारशवत्वाद् विदुरो, राजा पाण्डुर्बभूव ह.

–महाभारत, आदिपर्व, 108/25

अर्थात धृतराष्ट्र अंधेपन के कारण और विदुर शूद्रा के गर्भ से उपजा होने के कारण सिंहासनारूढ़ न हो सका. अतः पांडु को राजा बनाया गया.

मतंग

चौथा उदाहरण है–मतंग ऋषि का. मतंग को क्या हुआ, इस के विषय में पाठक महोदय ने कुछ नहीं लिखा. उस की कथा विस्तार से महाभारत के अनुशासन पर्व (अ. 27 से 29) में आती है. उस में आता है कि शूद्र वर्ण में जन्मा मतंग घोर तप करता है. उस की तपस्या से प्रसन्न हो कर इंद्र उस के पास कई बार आता है और वर मांगने के लिए कहता है. मतंग का कहना है कि मैं ब्राह्मण बन जाऊं, मुझे यह वर दीजिए. इस पर इंद्र उसे इसे छोड़ कर कोई अन्य वर मांगने के लिए कहता है. उस का कहना है:

चण्डालयोनौ जातेन नावाप्यं वै कथंचन
मतंग ब्राह्मणत्वं ते विरुद्धमिह दृश्यते.
ब्राह्मण्यं दुर्लभतरम्

–महाभारत, अनुशासनपर्व 29/8

अर्थात हे मतंग, चांडालयोनि में जन्म लेने वाले को किसी भी तरह ब्राह्मणत्व नहीं मिल सकता. इस जन्म में तुम्हारे लिए ब्राह्मणत्व की प्राप्ति असंभव है. ब्राह्मणत्व अत्यंत दुर्लभ है.

लेकिन मतंग नहीं मानता. इंद्र चला जाता है. ऐसा कई दफा होता है.

अंतिम बार इंद्र आता है. मतंग पहले सा आग्रह नहीं करता. वह अन्य वर मांगता है. इंद्र वह वर देते हुए कहता है.

छंदोदेव इति ख्यात: स्त्रीणां पूज्यो भविष्यसि
कीर्तिश्च तेऽतुला वत्स त्रिषु लोकेषु यास्यति,
एवं तस्मै वरं दत्त्वा वासवोंतरधीयत
प्राणांस्त्यक्त्वा मतंगोऽपि संप्राप्त: स्थानमुत्तमम्

–महाभारत अनुशासन पर्व 29/24-26

अर्थात "वत्स, तुम स्त्रियों के पूजनीय होओगे. तुम्हारी 'छंदोदेव' नाम से ख्याति होगी और तीनों लोकों में तुम्हारा यश फैलेगा." इस तरह उसे वर दे कर इंद्र वहीं अंतर्धान हो गया. मतंग भी अपने प्राणों को त्याग कर उत्तम स्थान को प्राप्त हुआ.

स्पष्ट है कि मतंग चांडाल से ब्राह्मण नहीं बना. इसी बात को 29वें अध्याय के 26वें श्लोक में वैशंपायन ने दोहराया है:

एवमेतत् परं स्थानं ब्राह्मण्यं नाम भारत,
तच्च दुष्प्रापमिह वै महेंद्रवचनं यथा

–महाभारत, अनुशासन पर्व 29/26

अर्थात भारत, इस तरह यह ब्राह्मणत्व परम उत्तम स्थान है. वह, जैसा कि इंद्र ने कहा है, इस जीवन में दूसरे वर्ण के लोगों के लिए दुर्लभ है.

मूल मंत्र में हेराफेरी

इतनी स्पष्ट मतंगकथा के होते हुए भी पाठक महोदय भ्रांति में क्यों पड़े? इस का कारण स्वामी दयानंद जी का 'सत्यार्थप्रकाश' है, जिस में लिखा है–"महाभारत में.....मातंग ऋषि चांडाल कुल से ब्राह्मण हो गए थे." (चतुर्थ समुल्लास). इस बात को पुष्ट करने के लिए सत्यार्थप्रकाश के आर्यसमाज शताब्दी संस्करण (रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रकाशन) के पृष्ठ 141 पर पादटिप्पणी में संपादकों ने महाभारत, अनुशासन पर्व (3/19) का एक श्लोक, बिना अर्थ लिखे, अंकित कर दिया है :

स्थाने मातंगो ब्राह्मण्यमलभद् भरतर्षभ,
चंडालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमवाप्तवान्.

स्वामी दयानंद का कथन महाभारत के उपरिलिखित विवरण के बिलकुल विपरीत होने के कारण निराधार और कपोलकल्पित है. इसी कपोलकल्पना का यह असर है कि उन्होंने 'मतंग' को 'मातंग' बना दिया. रही बात पादटिप्पणी की. लेखक

ने जब उक्त श्लोक पढ़ा तो महाभारत में उसे ढूंढ़ा. श्लोक मिला. प्रकरण देखा. श्लोक में हेराफेरी की गई मिली. मूल में 'न' शब्द था, जो पादटिप्पणी में गायब है. अर्थ वैसे ही नहीं लिखा था. टिप्पणीकारों की बौद्धिक ईमानदारी का अंदाजा पाठक स्वयं लगा सकते हैं.

प्रकरण विश्वामित्र की ब्राह्मणत्व प्राप्ति का है. अध्याय के अंत में युधिष्ठिर का प्रश्नात्मक कथन है:

स्थाने मतंगो ब्राह्मण्यं नालभद् भरतर्षभ,
चांडालयोनौ जातो हि, कथं ब्राह्मण्यमवाप्तवान्
–महाभारत, अनुशासन पर्व 3/19

इस का अर्थ प्रकरण में इस तरह आता है: "भरतश्रेष्ठ, मतंग को जो ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त हुआ, यह उचित ही था, क्योंकि उस का जन्म चांडाल की योनि में हुआ था, परंतु विश्वामित्र ने कैसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया?" (महाभारत, हिंदी अनुवाद सहित, पृ. 5439, गीताप्रेस गोरखपुर).

टिप्पणीकारों और स्वामी दयानंद जी के शब्द महाभारत के विवरणों के पूर्णतः विपरीत हैं, अतः बौद्धिक ईमानदारी की दृष्टि से त्याज्य हैं.

वही पाठक महोदय आगे लिखते हैं: अति प्राचानीकाल से ले कर सिकंदर के आक्रमण के वर्षोपरांत भी वर्णव्यवस्था का अस्तित्व तो था, परंतु प्रत्येक व्यक्ति को व्यवसाय चुनने की पूरी स्वतंत्रता थी. ब्राह्मण पढ़नेपढ़ाने और यज्ञ कराने के अतिरिक्त चिकित्सा, ज्योतिष, मांस बेचने और मुर्दा ढोने इत्यादि व्यवसाय भी करते थे."

इस वाक्य से उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा कि प्राचीनकाल में व्यवसाय चुनने की पूरी स्वतंत्रता थी, लेकिन जो उदाहरण दिए हैं, वे बिलकुल अनुपयुक्त हैं.

सिकंदर के आक्रमण के शीघ्र बाद की स्थिति का वर्णन करते हुए यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने उस समय लिखा था: किसी को भी अपनी जाति के बाहर शादी करने या अपने परंपरागत व्यवसाय को छोड़ कर दूसरा व्यवसाय अपनाने की इजाजत नहीं है. उदाहरण के तौर पर, सिपाही किसान नहीं बन सकता. और शिल्पकार पढ़नेपढ़ाने वाला नहीं बन सकता. (बुद्धिस्ट इंडिया, पृ. 263-64 पर उद्धृत).

ब्राह्मण के चिकित्सा और ज्योतिष व्यवसाय उस के वेद पढ़नेपढ़ाने में अंतर्भूत हैं. उस की चिकित्सा अथर्ववेद से संबद्ध थी और ज्योतिष वेद पढ़ने के योग्य होने के लिए निश्चित पाठ्यक्रम–षड् वेदांगों का–भाग है. शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, कल्प, छंद और ज्योतिष–ये छः वेदांग हैं. अतः इन दो तथाकथित व्यवसायों को ब्राह्मण के कर्मों से पृथक सिद्ध नहीं किया जा सकता.

मांस बेचना और मुर्दा ढोना भी ब्राह्मणों के व्यवसाय थे, ऐसा पाठक महोदय ने लिखा है, जो सही नहीं है; क्योंकि ये दोनों ब्राह्मण के लिए विहित कर्मों में परिगणित नहीं हैं. यह संभव है कि कुछ ब्राह्मण ये काम करते हों, जैसा कि मनुस्मृति से पता चलता है. उस ने मांसविक्रयिणः (3/152) (मांस बेचने वाले ब्राह्मणों) और

प्रेतनिर्यातकाश्चैव (3/166) (धन ले कर मुर्दे को बाहर निकालने वाले ब्राह्मणों) को श्राद्ध आदि में भोजन करने के अयोग्य व अपांक्तेय (दूसरों के साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन करने के अधिकार से वंचित) घोषित किया है.

इस से स्पष्ट है कि उक्त दोनों व्यवसाय ब्राह्मण के वैध व्यवसाय नहीं थे. इसी कारण उन्हें अपनाने वालों को सामान्य ब्राह्मणों की अपेक्षा अनेक अधिकारों से वंचित किया गया. यदि ये उन के वैध व्यवसाय होते, जैसा पाठक ने दावा किया है, तो इन्हें इस तरह कदापि बहिष्कृत न किया जाता. अतः मुख्य धारा के विपरीत जाने वाले एकाध अपवाद के आधार पर पाठक के मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता. वह मत गुमराह करने वाला है.

पाठक महोदय आगे लिखते हैं: "समाज में छुआछूत एवं शूद्रों की स्थिति (?) दयनीय नहीं थी. तभी विदेशी आक्रामक जातियां शनैःशनैः हिंदू धर्म में विलीन होती गईं."

वह किस समाज और काल की बात कर रहे हैं, यह उन्होंने नहीं बताया. यदि कुछ आक्रामक लोगों ने कुछ हिंदू औरतों से शादियां कर लीं या कुछ ने हिंदू धर्म को अपना लिया या कुछ हिंदुओं ने चढ़ते सूर्य को सलाम करते हुए अपनी लड़कियां आक्रामकों को दे दीं तो क्या उस से गैर हिंदू जातियां हिंदू धर्म में विलीन हो गईं? एक हजार वर्ष में मुसलमान और डेढ़दो सौ वर्षों में अंगरेज और डच हिंदू धर्म में क्यों नहीं विलीन हुए?

हिंदू धर्म की क्या उदारता?

अनार्य आक्रमणकारियों व शासकों को हिंदू धर्म ने हमेशा 'शूद्र' या उस के समकक्ष म्लेच्छ व यवन कहा, चाहे उन्होंने हिंदू धर्म को अपनाया हो या नहीं. जब तक वे शासक रहे, उन्हें वही सम्मान देना पड़ता था जो अन्य क्षत्रिय राजाओं को दिया जाता था. (इस का यह मतलब नहीं कि उस 'जाति' के गैरशासक लोगों से भी उच्च जाति के लोगों से किया जाने वाला व्यवहार किया जाता था) यह व्यावहारिक विवशता थी, न कि हिंदू धर्म की उदारता.

ऐसे आक्रमणकारियों के पास से जब सत्ता छिन गई और उन के अपने लोग गिनती में बहुत थोड़े रह गए, तब उन के पास दो ही रास्ते थे—या तो वापस अपने देश जाते या फिर यहीं बस कर इस समाज के अंग बनते. जिन लोगों ने दूसरा विकल्प चुना, उन्हें समाज में दर्जा यहां के लोगों ने देना था और उन्हीं ने दिया. उन में से अधिकांश को 'शूद्र' घोषित किया गया और उन के विवाह आदि अपने लोगों में ही होते थे. शूद्र तो पहले ही अनार्य थे—युद्धों में जीते दास व वैसे काबू किए लोग. उन में कुछ और अनार्य अंतर्भूत कर दिए तो इस में हिंदू धर्म की क्या उदारता है? अंगरेजों ने जब 'काले लोगों' में भारतीयों को भी शामिल किया था तो क्या यह ईसाई धर्म की उदारतावश किया था? और क्या यह 'रुतबा' हमें विवश हो कर नहीं स्वीकार करना पड़ा था?

मनु ने स्पष्ट लिखा है :

पौंड्रकाश्चौड्रद्रविडाः कांबोजा यवनाः शकाः, पारदाः
पह्लवाश्चीनाः किराताः दरदाः खशाः

–मनुस्मृति 10/44

अर्थात पौंड्र, चौड्र (चोल), द्रविड, कांबोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश–ये भूतपूर्व क्षत्रिय अर्थात शासक परंतु अब शूद्र जातियां हैं.

मनु ने इन्हें क्षत्रिय केवल इस अर्थ में लिखा है कि वे कभी शासक थीं, जो क्षत्रियों का काम है, अन्यथा इन्हें क्षत्रिय सिद्ध नहीं किया जा सकता. ये जातिपांति मानने वाले आर्यों का कभी हिस्सा न थीं. ये मूलतः अनार्य हैं.

ऐसे में इन का हिंदू धर्म में विलीन हो जाना क्या अर्थ रखता है? पाकिस्तान में रह गए हिंदुओं का बहुत बड़ा भाग मुसलमान बनने के लिए यदि कुछ ही वर्षों में विवश हो गया है तो क्या वह इसलाम की महानता और उदारता है? ऐसे ही हिंदू बहुल देश में यदि अकेली पड़ी छुटपुट विदेशी जातियां हिंदू समाज में निम्नतम स्थान स्वीकार करने के लिए विवश हुईं तो क्या यह हिंदू धर्म की सब को विलीन करने वाली कथित सर्वंपचा पाचनशक्ति का सुबूत है?

जो कुछ लोग क्षत्रिय वर्ण में गए, वे भी अपनी होशियारी, ब्राह्मणों की मिलीभगत और भ्रष्टाचार व रिश्वत के जरिए गए; न कि हिंदू धर्म की पाचनशक्ति के कारण. हूणों व कुछ दूसरे लोगों ने ब्राह्मणों को तगड़ी रिश्वतें दे कर उन से ऐसे विवरण बनवाए व प्रचारित करवाए जिन में उन की आदि परंपरा किसी दूर के क्षत्रिय व किसी हिंदू देवता आदि से जोड़ी गई थी. शिवाजी का उदाहरण अभी बहुत पुराना नहीं है.

क्या यह हिंदू धर्म की पाचनशक्ति का उदाहरण है या इस बात का कि कैसे हिंदू धर्म व समस्त हिंदुओं को धोखा दे कर और खुद रिश्वत खा कर, कुछ लोगों ने मनगढ़ंत किस्से कहानियां पेश कर के अपने यजमानों की सूची को बढ़ाया?

यदि गैरहिंदू हिंदू धर्म में विलीन हो सकते होते तो खुद हिंदुओं में अनगिनत वर्णसंकर जातियां क्यों उत्पन्न होतीं? फिर ब्राह्मण पिता और क्षत्रिय माता की संतान तक को अलग जाति में क्यों रखा जाता? हिंदू धर्म को मानने का अर्थ है किसी न किसी जाति का लेबल लगना. जो गैरहिंदू हिंदू धर्म में 'विलीन' हुए वे खुद अपने में एक जाति बनने के लिए मजबूर हुए. उन के विवाह उन्हीं लोगों में होते थे.

रही बात छुआछूत और शूद्रों की दयनीय स्थिति की. तो वेदों से ले कर 19वीं शताब्दी तक रचे गए हिंदू धर्म ग्रंथों में छुआछूत विधायक और शूद्रों के प्रतिकूल इतने विधान विद्यमान हैं कि कोई भी आंखों वाला व्यक्ति उन्हें अपनी आंखों से देख सकता है. जिन्हें संक्षेप में यह सब देखना हो, वे इस लेखक का 'हिंदू धर्म और शूद्र' शीर्षक लेख देख सकते हैं.[1]

वह आगे कहते हैं कि प्राचीनकाल में 'सर्वे भवंतु सुखिनः' की भावना थी. यदि कहीं कोई इक्कादुक्का शूद्रद्वेषी विचारधारा थी भी तो वह उस काम में आवागमन

1. यह लेख इसी पुस्तक में पृष्ठ 78 पर छपा है.

एवं विचार संप्रेषण की कठिनाई के कारण दूरस्थ इलाकों के समाज को कैसे प्रभावित कर सकती थी? मौजूदा व्याप्त कुरीतियां विदेशी शासकों द्वारा उत्पन्न कराई गई प्रतीत होती हैं.

इस के विषय में हमारा निवेदन है कि 'सर्वे भवंतु सुखिनः' **का अर्थ सब के सुख की कामनामात्र है. यह किस धर्म ग्रंथ का और किस काल का वाक्य है, स्पष्ट नहीं.** 'सर्वे भवंतु सुखिनः' **यह एक श्लोक का प्रथम चरण है. पूरा श्लोक इस प्रकार है:**

सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे भवंतु निरामयाः,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेद्..

यह श्लोक ज्यादा प्राचीन नहीं है. इस में व्याकरण की एक बहुत बड़ी गलती है जो इस की अर्वाचीनता व इस के रचयिता की अल्पज्ञता की द्योतक है. व्याकरण का नियम है कि निषेधार्थक मा (माङ्) के साथ लुङ् लकार का प्रयोग होता है तथा धातु के पूर्ववर्ती अ (अट्) का लोप हो जाता है. तब यह लोट् लकार का अर्थ देता है: न माङ्योगे (अष्टाध्यायी 6/4/74). इस नियम के अनुसार 'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेद्' **की जगह** 'मा कश्चिद् दुःखभाग् भूत्,' **होना चाहिए.**

यदि यह बहुत प्राचीन काल से प्रचलित हो तो भी कोई बात नहीं. हमारा 'सुख' का फारमूला यही रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण (जाति) का धर्मशास्त्रों द्वारा निश्चित कर्त्तव्य करता रहे, चाहे वह कर्त्तव्य बुरे काम करना ही क्यों न हो. गीता का स्पष्ट कथन है.

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्, स्वनुष्ठितात्,
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्

–श्रीमद् भगवदगीता 18/47

अर्थात यद्यपि परधर्म का आचरण सहज हो तो भी उस की अपेक्षा अपना धर्म अर्थात चातुर्वर्ण्य विहित कर्म विगुण यानी सदोष होने पर भी अधिक कल्याणकारक है. स्वभावसिद्ध अर्थात गुणस्वभावानुसार निर्मित की हुई चातुर्वर्ण्य व्यवस्था द्वारा नियत किया अपना कर्म करने में कोई पाप नहीं लगता (गीतारहस्य, पृ. 842).

फिर हम 'सर्वे भवंतु सुखिनः' **कहते हुए भी यह दृढ़ता से मानते हैं:**

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान् द्विजः,
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत्
या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे,
अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ

–मनुस्मृति, 5/43–44

अर्थात गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम या वानप्रस्थाश्रम में रहता हुआ जितेंद्रिय द्विज ऐसी हिंसा न करे जिस का वेद में विधान न हो. इस चराचर जगत में जो हिंसा वेदसम्मत है, उसे हिंसा न समझे, क्योंकि वेद से ही धर्म निकला है.

गोमेध यज्ञः गाय की बलि

स्पष्ट है कि धर्म के नाम पर, वेद के नाम पर की गई हिंसा का हमारी 'सर्वे भवंतु सुखिनः' **की भावना से कोई विरोध नहीं माना गया और न ही स्वधर्म अर्थात अपनी जाति के शास्त्र-प्रतिपादित कर्त्तव्यों के अनुसार किया गया कोई काम बुरा व आपत्तिजनक माना गया है, चाहे वैसे वह कितना ही बुरा क्यों न हो. यही कारण है कि** 'सर्वे भवंतु सुखिनः' **का राग अलापते हुए भी हम गोमेध में जीवित गाय को काटते रहे व अपने तथा गाय के सुख की बातें करते रहेः**

गोमेधः यज्ञविशेषः, तस्य प्रयोगः सर्वोऽपि छागपशुवत्
यजमानस्य स्वर्गः फलम्, गोश्च गोलोकप्राप्तिः

–शब्दकल्पद्रुमः

अर्थात गोमेध यज्ञ विशेष है. गाय का समूचा प्रयोग बकरे की तरह होना चाहिए अर्थात गाय के साथ वध आदि सब वही व्यवहार होने चाहिए जो बकरे के साथ किए जाते हैं. गोमेध का फल यह है कि इस से यजमान को स्वर्ग मिलता है और गाय को गोलोक (एक पवित्र लोक).

ऐसे में शूद्रों के साथ होते रहे व हो रहे दुर्व्यवहार को 'सर्वे भवंतु सुखिनः' **से छिपाया नहीं जा सकता.**

शूद्रद्वेषी वाक्य एकाध होते तो और बात थी, लेकिन यहां तो कोई भी धर्म ग्रंथ इस द्वेष और घृणा से मुक्त नहीं. न केवल धर्म ग्रंथ बल्कि चिकित्सा, व्याकरण, साहित्यशास्त्र, नाटक, काव्य आदि सब उन से दूषित हैंः पाणिनि ने अपने व्याकरण में लिखा हैः

शूद्राणां निरवसितानाम्

–2/4/10

इस पर भाष्य करते हुए पतंजलि (150 ई. पू के लगभग) ने लिखा हैः

यैः भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति तेऽनिरवसिताः, यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण
नापि शुध्यति ते निरवसिताः बहिष्कृता व्याचख्यौ.

अर्थात जिन के भोजन करने के पश्चात बरतन अग्नि आदि में डालने से शुद्ध हो जाता है, उन शूद्रों को 'अनिरवसित' शूद्र कहते हैं और जिन का जूठा बरतन संस्कार (मांजने, आग में डालने आदि) से भी शुद्ध नहीं होता, वे 'निरवसित' शूद्र कहलाते हैं.

अब रही यातायात के साधनों के अभाव की बात. यह ठीक है कि यातायात के साधन कम थे, लेकिन धर्मप्रचारक, तीर्थयात्री, व्यापारी, संन्यासी आदि सर्वत्र घूमते रहते थे. लोग तीर्थस्थानों पर आतेजाते थे. फिर प्रयाग, हरिद्वार आदि में कुंभ, अर्धकुंभी आदि पर सारे भारत के धर्म के ठेकेदार एकत्र होते थे. राजाओं के दूत धार्मिक विधिविधानों की दूरदूर तक घोषणाएं करते थे.

अतः यातायात की स्थिति आज की तुलना में अच्छी न होने पर भी वर्णधर्मों का हिंदुओं में सर्वत्र प्रचार था. सर्वत्र वही धर्म ग्रंथ मान्य थे. वही रामायण, वही मनुस्मृति, वही गौतम धर्मसूत्र. अतः सब धर्म ग्रंथों में बहुतायत से मिलने वाले शूद्र विरोधी आदेश सर्वत्र बेरोकटोक प्रचलित थे.

अपनी गलती दूसरों के मत्थे

इन आदेशों को विदेशियों के मत्थे मढ़ना वास्तविकता का सामना न करने की प्रवृत्ति का परिचायक है.

ऐसी बातें अंगरेजों के मत्थे प्रायः मढ़ी जाती हैं, लेकिन ये धर्मशास्त्रीय आदेश तो उन से भी पहले से विद्यमान हैं. यदि विदेशियों से अभिप्राय यहां मुसलमानों से है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि ये धर्म ग्रंथ तो उन से भी पहले के हैं. ये तो शकों और हूणों के हमलों से भी पहले के हैं. अतः विदेशियों का नाम ले कर बात आईगई नहीं की जा सकती.

फिर वही महोदय लिखते हैं: शूद्र राजा भी बन सकते हैं, जैसे वारंगनल के काकतीय, नंद वंश, मौर्य वंश, पाल वंश आदि.

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि राजा महापद्मनंद क्षत्रिय नहीं था और उस के बाद दो हजार वर्षों तक क्षत्रिय राजाओं का कहीं पता नहीं चलता अर्थात राज्य सत्ता इस दौरान अन्य वर्ण के राजाओं के ही हाथों में रही.

इस विषय में लेखक का निवेदन है कि पाठक महोदय ने जो वंश शूद्र के रूप में गिनाए हैं, वे वास्तव में शूद्र नहीं हैं.

काकतीयों ने अपने को करिकाल चोल का वंशज माना है. चोल वास्तव में अनार्य थे, जिन पर आर्यों के जातिपांति के लेबल चिपकाना अनुचित है. मनु ने कुछ समुदायों को शूद्र कहा है, जब कि उन में से एक भी आर्यों का समुदाय नहीं. उस ने चीन, किरात, यवन, शक, खश, चोल आदि को शूद्र बताते हुए कहा है कि ये पहले क्षत्रिय जातियां थीं, लेकिन इन्होंने ब्राह्मणों से पूजापाठ कराने की क्षत्रियों की धार्मिक क्रियाएं छोड़ दीं, अतः अब शूद्र बन गए हैं.

ऐसे लालबुझक्कड़ी आधारों पर चोलों व उन के वंशज काकतीयों को शूद्र नहीं कहा जा सकता.

नंदवंश के विषय में विभिन्न मत प्रचलित हैं. पुराणों के अनुसार इस वंश का प्रथम राजा शिशुनाग राजा महानंदी की शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, अतः इस वंश को शूद्र कहने लगे. यूनानी कथा के अनुसार प्रथम राजा का पिता शूद्र और माता भ्रष्टाचारिणी क्षत्रिय रानी थी. जैन परंपरा के अनुसार वह गणिका और नाई की संतान था. लेकिन बौद्ध परंपरा का कहना है कि वह प्रत्यंतवासी अर्थात सीमा प्रांत का रहने वाला था और अपने भाइयों के साथ डकैती डाला करता था. उस ने मगध के राजा को जबरदस्ती निकाल बाहर किया था.

ऐसे में यदि इसे महानंदी राजा की संतान मानें या यदि बौद्ध परंपरा को मानें तो नंद वंश का शूद्र होना पूरी तरह सिद्ध नहीं होता. यूनानी कथा के अनुसार भी वह

क्षत्रिय रानी का (चाहे अवैध ही सही) पुत्र सिद्ध होता है. संक्षेप में हम कह सकते हैं कि नंद वंश की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है.

मौर्य वंश क्षत्रिय था. इस विषय में अनेक प्रमाण मिलते हैं. महापरिनिब्बाण सुत्त के अनुसार मौर्य क्षत्रिय थे, जिन का पिप्पलिवन में शासन था. महावंश टीका के अनुसार मौर्यों का संबंध सूर्यवंशी क्षत्रिय शाक्यों से था. मध्यकालीन शिलालेखों के अनुसार भी मौर्य सूर्यवंशी ठहरते हैं. राजस्थान भौगोलिक शब्दकोश में मौर्यों को राजपूत कहा गया है. ऐसे में मौर्य वंश को शूद्र कहना नितांत अनुचित है.

पाल वंश का संस्थापक गोपाल था, जो क्षत्रिय था. यह बात 1608 में तिब्बती भाषा में लिखे गए लामा तारानाथ के 'भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास' (पृ. 108-09) से स्पष्ट है. यही मत विद्याधर महाजन ने 'प्राचीन भारत का इतिहास' (पृ. 537) में प्रतिपादित किया है.

स्पष्ट है कि जो चार वंश शूद्र बताए हैं, उन में से एक अनार्य है, दो स्पष्टतया क्षत्रिय और एक विवादास्पद. अतः इन चार वंशों के नाम ले कर यह कहना ठीक नहीं कि हिंदू धर्मानुसार शूद्र राजा बन सकता है. हमारा मत है कि यदि कोई शूद्र राजा बना भी तो वह हिंदू धर्म की उदारता के कारण नहीं बना, बल्कि वह हिंदू धर्म ग्रंथों के एतद्विषयक विरोधी आदेशों के बावजूद राजा बना. शिवाजी ऐसा ही राजा था. उस ने शस्त्रबल से काफी बड़े भूभाग पर राज्य स्थापित किया. उस का यह काम हिंदू धर्म ग्रंथों के आदेशों के बिलकुल विपरीत था. यही कारण है कि जब उस ने सिंहासनारूढ़ होने और विधिवत राजा बनने की कोशिश की तो हिंदू धर्म के दावेदारों ने उस का डट कर विरोध किया.

सर यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि ब्राह्मणों के विरोध को शांत करने में शिवाजी का 50 लाख रुपया (अन्य मत से सात करोड़) खर्च हुआ. ब्राह्मणों का कथन था कि राज्याभिषेक क्षत्रिय का हो सकता है, शूद्र का नहीं. इतना खर्च करने पर हिंदू धर्म के ठेकेदारों ने एक कल्पित वंशवृक्ष बनाया और शिवाजी को उदयपुर के एक राजपूत वंशज के रूप में पेश किया गया. तब उसे यज्ञोपवीत पहनाया गया, जिस के लिए धर्म के ठेकेदारों को बहुत बड़ी राशि दी गई.

फिर उन्होंने 8,000 रुपए इसलिए लिए ताकि शिवाजी के युद्धों के दौरान हुई ब्राह्मणों की हत्याओं का पाप दूर हो सके. इतना होने के बावजूद ब्राह्मणों ने शिवाजी का राज्याभिषेक वेदमंत्रों से नहीं किया, क्योंकि वे शूद्र को वेदमंत्र सुना कर खुद पापी नहीं बनाना चाहते थे. (स्वामी धर्मतीर्थजी महाराज द मैनेस आफ हिंदू इंपीरियलिज्म, पृ 165-66)

शिवाजी हिंदू धर्म का रक्षक, गौ, ब्राह्मण का पूजक और पुराणपंथी था. जब ऐसे धर्मरक्षक शूद्र के साथ हिंदू धर्म का तीन साढ़े तीन सौ साल पहले यह व्यवहार रहा है, तब प्राचीन काल में अन्य शूद्रों को वे कितनी 'खुशी' से राजा स्वीकारते होंगे, यह तो आज सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है.

पाठक महोदय का यह कहना कि महापद्मनंद के बाद लगभग दो हजार वर्ष

तक क्षत्रिय राजाओं का कुछ पता नहीं चलता और राजसत्ता गैर-क्षत्रियों के हाथों आ गई, आधा सही है और आधा गलत.

महापद्मनंद के बाद क्षत्रिय मौर्य वंश (ई. पू. 323 से 186 ई.पू.), ब्राह्मण शुंग और कण्व वंश (185 ई.पू.–73 ई.पू.), ब्राह्मण सातवाहन (235 ई.पू.), अनार्य नागवंश (110 ई.पू.–315 ई.), जाट गुप्त (240 ई.–7वीं शताब्दी), ब्राह्मण वाकाटक (3री से 5वीं शताब्दी), क्षत्रियों अथवा विदेशियों के वंशज राजपूत (600ई.–1200 ई.), हूणों की शाखा प्रतिहार (778ई.–1036ई.), क्षत्रियों अथवा अनार्य द्रविड़ों के वंशज राष्ट्रकूट (753ई.–975ई.), विदेशी गुर्जरों अथवा क्षत्रियों के वंशज चालुक्य (567ई. 1118 ई.), ब्राह्मणों अथवा अनार्य चोलों–नागों के वंशज पल्लव (350ई.–9वीं सदी), अनार्य चोल (850 ई.–1262ई.) विदेशी मुगल व मुसलमान (1000 ई. 1707 ई.) विदेशी अंगरेज (1757 से 1947) राज्य करते रहे हैं. (ह्वेन सांग के अनुसार कन्नौज का राजा शीलादित्य फीशे अथवा वैश्य था और मंजुश्रीमूलकल्प का कहना है कि थानेश्वर के वर्धन राजा भी वैश्य ही थे.) इन में क्षत्रिय बहुत कम हैं, ज्यादा विदेशी व उन के वंशज हैं.

यह भी हिंदू धर्म की उदारता का प्रमाण न हो कर, उस की अनुदारता का ही परिणाम है. यदि यहां जातिपांति न होती, यदि केवल क्षत्रियों पर देशरक्षा का भार न होता और यदि बहुसंख्यक लोगों को शस्त्र धारण करने से रोक कर नपुंसक न बनाया गया होता तो शायद भारत का इतिहास ऐसा न होता जैसा वह बन गया है. क्षत्रियों के राज्यों का कम होना इस बात का सूचक है कि वे अकेले राज्य के काबिल न थे. यह जातिपांति के सिद्धांत के मुंह पर इतिहास की चपत है.

ब्राह्मणों का राजा बनना उचित ही था, प्रायः सब हिंदू राजाओं के महामंत्री, मंत्री, परामर्शदाता ब्राह्मण ही थे. वे ही शस्त्रविद्या के जो कि धनुर्वेद थी, सर्वोच्च ज्ञाता माने जाते थे, क्योंकि पढ़ाने का काम था ही उन का. अतः सेनापति भी प्रायः ब्राह्मण होता था. सत्ता के इतने निकट रहने पर उन्हें राजा बनने से कौन रोक सकता था? ब्राह्मण पुष्यमित्र शुंग ने राजा वृहद्रथ को कत्ल कर राज्य हथिया लिया. फिर धर्मग्रंथों का कहना है कि धर्म की रक्षा के लिए, आपत्काल में, ब्राह्मण क्षत्रिय के कर्त्तव्य अपना सकता है.

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा,
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनंतरः

–मनु. 10/81

अर्थात ब्राह्मण यदि अपनी जाति के कर्म से जीवननिर्वाह न कर सके तो क्षत्रिय का कर्म करता हुआ जीवननिर्वाह करे.

मुख्यतः विदेशी व उन के वंशज अथवा अनार्य भारत के इतिहास पर छाए रहे. वे न तो खुद हिंदुओं की जातिपांति में विश्वास करते थे, न उन में क्षत्रिय, शूद्र आदि थे और न ही उन्हें इस बात की परवाह थी कि हिंदू धर्म ग्रंथ किस के राजा बनने का विधान करते हैं और किस का निषेध. अतः यदि पिछले दो हजार वर्षों के इतिहास में

क्षत्रिय कहींकहीं दिखाई देते हैं तो इस का मतलब यह नहीं कि उन्होंने या हिंदू धर्म ने उदार हो कर शूद्रों को राज्य सौंप दिया, बल्कि यह है कि जातिपांति के मुताबिक केवल एक जाति को देशरक्षा का काम सौंपने से न देश की रक्षा हो सकती है, न वह अकेली जाति विदेशी आक्रमणकारियों का सामना कर सकती है और न उस एक जाति का प्रभुत्व अक्षुण्ण रह सकता है.

नैनीताल के एक पाठक ने लिखा है : यद्यपि लेखक के अन्य लेखों को देख कर उन के गहन अध्ययन तथा विद्वत्ता की प्रशंसा तो करनी ही पड़ेगी, परंतु यह समझ में नहीं आता कि लेख पर की गई आपत्तियों के इन उत्तरों से उन का क्या अभिप्राय है. क्या हिंदू धर्म की धार्मिक पुस्तकों पर, जिन में केवल आडंबरपूर्ण रोचक कहानियों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं और जिन पर प्रयोगात्मक एवं रचनात्मक कार्य भारत भर में शायद कहीं हुआ ही नहीं, लेखक महोदय की इतनी आस्था है? इस लेख में लेखक ने एक स्थान पर बड़ी चतुराई के साथ 'अध्यात्म रामायण' के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वाल्मीकि जन्म से शूद्र न हो कर ब्राह्मण थे.

लेखक तथा 'अध्यात्म रामायण' के कथनानुसार वाल्मीकि स्वयं कहते हैं—मैं मात्र जन्म से ब्राह्मण था, दूसरी ओर सप्त ऋषि के कहने पर कि 'तू इसी स्थान पर रह कर एकाग्र मन से सदा 'मरा...मरा' जपा कर, जब तक हम न लौट आएं तब तक तू हमारे कथनानुसार इसी का जाप कर.' इस तरह बहुत समय तक निश्चलतापूर्वक रहने के कारण मुझ पर वल्मीक (मिट्टी का ढेर) बन गया. एक हजार युग बीतने पर वे मुनि वापस आए और मुझ से कहने लगे, "निकल आओ." जिस तरह कुहरे को पार कर सूर्य निकल आता है, उसी तरह मैं वल्मीक से निकला, तब उन मुनियों ने कहा, "हे मुनि, तुम वल्मीक से निकले हो, अतः तुम वाल्मीकि हो."

उक्त कथन किस प्रकार संभव है, यह जानने को मैं ही नहीं, न जाने आप जैसे कितने पाठक भी उत्सुक होंगे, क्योंकि वाल्मीकि, जो मात्र जन्म से ब्राह्मण था, संभव है अशिक्षित भी रहा होगा, क्योंकि अगर शिक्षित होता तो इस तरह भीलों तथा डाकुओं के साथ रह कर वह योगी भी न रहा होगा, क्योंकि अगर योगी होता तो उस का चोरी, डाका, हत्या करने जैसा दुराचरण न रहा होता. बिना योग शक्ति के किसी भी साधारण व्यक्ति द्वारा एक हजार युग तक चित्त की एकाग्रता या तपस्या संभव नहीं, यह सरासर झूठ है. योग एक प्रयोगात्मक, रचनात्मक और पूर्ण विज्ञान है, जिस के बिना अध्यात्म की परिभाषा समझ पाना संभव नहीं.

हिंदू धर्म ग्रंथों पर मेरी आस्थाअनास्था का प्रश्न नहीं है, मुझे केवल यह बताना था कि वे ग्रंथ जिन से हम वाल्मीकि के अस्तित्व से परिचित हुए हैं, वाल्मीकि के विषय में क्या लिखते हैं. मैं ने केवल उस की जाति दर्शाने के लिए 'अध्यात्म रामायण' से उद्धरण, दिए हैं.

शेष रही बात वल्मीक से निकलने की. लेख में इस प्रकरण की संभाव्यता और असंभाव्यता अप्रासंगिक थी, अतः उसे छोड़ देना ही उचित था. विज्ञ पाठक स्वयं उस पर आसानी से विचार कर सकते हैं. यह स्पष्ट है कि वह प्रकरण काफी हद तक असंभाव्यता लिए हुए है. लगता है, वाल्मीकि नामकरण की सार्थकता सिद्ध करने के

उद्देश्य से यह असंभव कल्पना की गई थी. इसे यदि पूरी तरह छोड़ दें तो भी वाल्मीकि की जाति पर इस का कोई असर नहीं पड़ेगा. वह वल्मीक से निकला या नहीं, इस की पुष्टि न हो पाने के बावजूद यह तथ्य वैसे ही बरकरार रहता है कि वाल्मीकि ब्राह्मण थे.

योग की अति प्रशंसा

असंभव अंश को अलौकिक शक्ति के नाम पर संभव कहना उचित नहीं. योग की शताब्दियों से हो रही अति प्रशंसा के बावजूद आज तक हजारों सालों तक जीने वाला न कोई योगी कहीं मिला है और न मिलेगा. यदि योग में ऐसी कोई अलौकिक शक्ति थी भी तो क्या यह जरूरी था कि वाल्मीकि पर बांबी बनती ही? क्या योग की तथाकथित अलौकिक शक्ति वाल्मीकि पर मिट्टी को पड़ने से रोक नहीं सकती थी?

दूसरे, क्या इतनी कथित योग शक्ति होने के बावजूद वाल्मीकि में यह समझ नहीं थी कि उसे जो शब्द जपने को कहा गया है, वह उलटा और गलत है? क्या वह 'मरा' और 'राम' में अंतर नहीं समझता था? जब इस असंभव अंश को योगशक्ति के नाम पर संभव बनाने की बात की जाती है तो ऐसे अनेक प्रश्न मुंह बाए खड़े हो जाते हैं.

हमारा अभिप्राय केवल यह है कि वाल्मीकि को शूद्र से ब्राह्मण बना हुआ कहना अज्ञानमूलक है. दरअसल, वह जन्मजात ब्राह्मण था. हमें जातिपांति मिटानी है. लेकिन इस के लिए गलत उदाहरण पेश करना तो जरूरी नहीं.

दूसरा पत्र दिल्ली के एक अन्य पाठक का प्राप्त हुआ है. उन्होंने इस संबंध में लिखा है–"यदि वाल्मीकि शूद्र नहीं थे, अपितु उच्च कुलीन ब्राह्मण थे तो मैं लेखक से यह जानना चाहता हूं कि फिर भारत में सफाई के कार्य में लगे रहने के लिए विवश वाल्मीकि समुदाय के लोग क्या हैं? ये लोग प्रति वर्ष वाल्मीकि का जन्म दिवस बड़े धूमधाम से मनाते हैं. यदि ये ब्राह्मणवंशीय वाल्मीकि के वंशज हैं तो फिर हिंदू समाज में इन से इतनी घृणा क्यों की जाती है? सर्वत्याज्य सफाई कार्य (मलमूत्र, प्रक्षालन आदि) करने के कारण भारतीय समाज इन्हें मनुष्य की योनि में क्यों नहीं गिनता? लेखक महोदय से निवेदन है कि वह सृष्टि के आरंभ से दलित व प्रताड़ित तथा वर्तमान में भी सर्वघृण्य वाल्मीकि समुदाय व महर्षि समुदाय व महर्षि वाल्मीकि के अनुवंशीय संबंधों पर सर्वसाधारण के मार्गदर्शन पर प्रकाश डालें."

वाल्मीकीय कहे जाने वाले ब्राह्मणवंशीय वाल्मीकि के वंशज नहीं, अनुयायी हैं. यही कारण है कि इन्हें हिंदू समाज ब्राह्मणों के समान सम्मान नहीं देता. इतिहास गवाह है कि ये लोग शुरू से वाल्मीकि के अनुयायी भी नहीं हैं. इन्हीं कथित वाल्मीकियों में जन्मे विद्वानों ने लिखा है कि हमारा वाल्मीकि से कोई संबंध नहीं.

ऐसे ही एक विद्वान भगवानदास, एम.ए., एलएल.बी. ने अपनी पुस्तक 'वाल्मीकि जयंती और भंगी जाति' में लिखा है कि "हिंदू रहते हुए भंगी या चूहड़ा जाति का आदमी उन्नति नहीं कर सकता था. शिक्षा के दरवाजे उस के लिए बंद थे. केवल

ईसाई मिशन स्कूल उसे शिक्षा देते थे. शिक्षा पा कर भी उसे नौकरी की खातिर धर्म परिवर्तन करना पड़ता था." (पृष्ठ 29-30)

"इस धर्म परिवर्तन से हिंदुओं की संख्या कम हो रही थी, क्योंकि कुछ भंगी जातीय लोग ईसाइयों के अतिरिक्त मुसलमान भी बन रहे थे. इस धर्म परिवर्तन को रोकने और उन्हें हिंदू धर्म का अविभाज्य अंग बनाने के लिए आज से 40-50 वर्ष पहले भंगियों के धर्मगुरु लालबेख या लालबेग या बालबांबरीक को वाल्मीकि से अभिन्न बताना शुरू कर दिया गया. बस, इतनी सी बात है."

श्रीदास के शब्दों में, "हिंदुओं ने एक नई चाल चली. उन्होंने सोचा कि भंगियों को हिंदू बनाने के लिए जाति बदलने आदि का मुश्किल तरीका अपनाने के स्थान पर क्यों न स्वयं उन के धर्मगुरु लालबेख या लालबेग, वालाशाह या बाल बांबरीक को ही वाल्मीकि बता कर हिंदू बना लिया जाए. हिंदुओं ने भोलेभाले भंगियों को अपनी तथा हिंदू धर्म की गुलामी की जंजीरों में जकड़े रहने के लिए लालबेख या लालबेग का ही ब्राह्मणीकरण कर दिया और उसे बाल बांबरिक, 'बालाशाह', 'बालरिख' आदि शब्दों का सहारा ले कर वाल्मीकि बना डाला. वाल्मीकीय बना देने से पंजाब की चूहड़ा जाति रामायण के आदि कवि वाल्मीकि से अपना रिश्ता जोड़ सकती थी. पिछले 40 वर्षों (पुस्तक 1973 में लिखी गई थी) से वह यह कोशिश करती भी आ रही है, परंतु जोड़ने वाली कड़ी नहीं मिल रही." (वही, पृष्ठ 37)

सब लोग वाल्मीकि को अपना गुरु मानते हों, ऐसी बात भी नहीं है. श्री भगवानदास लिखते हैं कि "उत्तर प्रदेश और बिहार का हेला, डोम, डमार, रावत, भूई, भाली, बंसफोड़, धानुक; राजस्थान का लालबेगी, मेहतर; बंगाल का हाडी वाल्मीकि को अपना धर्मगुरु नहीं मानता और न ही वाल्मीकि का जन्मदिन मनाता है. केवल उत्तर भारत में रहने वाला भंगी, जो कल तक लालबेगी धर्म का अनुयायी था, वाल्मीकि के जन्म दिन पर जलूस आदि निकालता है." (वही, पृष्ठ 46)

इलाहाबाद वाल्मीकि तहरीक का केंद्र है, लेकिन वहां 1942 में पहली बार भंगियों ने वाल्मीकि जयंती मनाई थी. दिल्ली में यह जयंती पहली बार 1949 में मनाई गई थी.

श्रीदास का कहना है कि "जब तक भंगी अपनी ही बिरादरी से घिरा अपने महल्लों में रहता है, वह वाल्मीकि जयंती मनाता रहेगा, परंतु शिक्षा पा कर दूसरे शहर में या आबादी में रहते हुए वह हीनता के भाव के कारण ऐसा नहीं कर पाएगा. यों भी शिक्षित व्यक्ति वाल्मीकि तहरीक में कोई विश्वास नहीं रखता. वह इसे एक और भूल समझता है और बाहर निकल कर इसे भयानक स्वप्न की तरह भुला देना चाहता है." (वही, पृष्ठ 55)

ये शब्द किसी व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखते. जिन्हें इस विषय में विस्तार से जानना हो, वे श्रीदास की निम्नलिखित पुस्तकें देख सकते हैं: (1) वाल्मीकि जयंती और भंगी जाति, (2) मैं भंगी हूं, (3) महर्षि वाल्मीकि, (4) क्या महर्षि वाल्मीकि अछूत थे?

आदि शंकराचार्य : पलायनवादी दार्शनिक?

हिंदू धर्म और दर्शन में तुलसी और शंकर–ये दो नाम बहुत प्रसिद्ध हैं. धर्म की दृष्टि से तुलसी और दर्शन के क्षेत्र में शंकर. यह एक कटु तथ्य है कि दोनों का बचपन हिंदू धर्म के हाथों बुरी तरह कुचला गया और परिणामस्वरूप जीवन में दोनों पलायनवादी बन गए. एक ने ब्रह्म की शरण ली, तो दूसरे ने राम की.

तुलसी की माता का देहांत तभी हो गया था जब वह कुछ ही दिनों के थे. कहते हैं कि जन्म के समय तुलसी के मुंह में दांत थे. उन के कारण धर्म ने यह अंधविश्वासपूर्ण भावना पिता के मन में भर दी कि इस ने अपनी मां को 'खा' लिया है. परिणामस्वरूप उस ने शिशु तुलसी के लालनपालन की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया.

गलीमहल्ले के लोग बालक पर दया कर के उसे खानेपीने के लिए थोड़ाबहुत दे देते थे या फिर वह स्वयं भीख मांग लेता था. पिता की मृत्यु के बाद उसे एक साधु अपने साथ काशी ले गया.

पढ़लिख कर जब तुलसी पैतृक स्थान पर वापस आए, उन का विवाह हो गया. जन्म से ही प्यार के भूखे तुलसी का पत्नी में खो जाना अस्वाभाविक न था. परंतु उस ने धर्म के नाम पर तुलसी को ऐसी फटकार सुनाई कि उन्हें सदा के लिए घरबार त्याग देना पड़ा. घोर निराशा में तुलसी भगवान की ओर हो लिए, परंतु हिंदू धर्म ने उन्हें तब भी नहीं बख्शा. अपने जीवनकाल में तुलसी जब काशी में रहे तो उन्हें शिव भक्त हिंदुओं (शैवों) ने उत्पीड़ित करना शुरू कर दिया. इस से उन्हें काशी छोड़ कर जाना पड़ा.

बात यहीं खत्म नहीं हुई. जातिवादी हिंदुओं ने तुलसी की जाति को ले कर उन का अपमान किया, उन्हें चिढ़ाया और स्थिति इस कदर बदतर हो गई कि किसी भी हिंदू मंदिर में शरण लेना उन के लिए दुश्वार हो गया. अंत में उन्होंने मसजिद में शरण ली. कवितावली में तुलसी ने इस विषय में स्वयं लिखा है :

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ,
जोलहा कहौ कोऊ...

जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ....
मांगि कै खैबो, मसीत को सोइबो.

–उत्तरकांड, 106

तुलसी के प्रसिद्ध ग्रंथ 'रामचरितमानस' को, जिसे आज हिंदू धर्म का ग्रंथ माना जा रहा है, भी चुरा कर नष्ट करने की पंडितों ने कोशिशें कीं. तंग आ कर, सावधानी के तौर पर, तुलसी को अपना ग्रंथ अपने मित्र टोडर के यहां छिपा कर रखना पड़ा ताकि वह सुरक्षित रह सके.

अभावग्रस्त बचपन

ऐसा ही उपेक्षा और अभाव से परिपूर्ण बचपन था शंकर का. शिशु शंकर अभी मां के गर्भ में ही थे कि उन के पिता की मृत्यु हो गई. 8वीं सदी में आज से 1200 वर्ष पूर्व, जब परंपरागत धर्म की जकड़ बहुत गलाघोंटू थी, एक हिंदू विधवा का जीवन कैसा दुख, उपेक्षा एवं अभाव से ग्रस्त रहा होगा, उस का आज हम पूरी तरह अनुमान भी नहीं लगा सकते.

शंकर को गोलक (= मृतपतिका का जारजपुत्र) कहा गया, उस के ज्ञातियों ने उन्हें 'व्यभिचारिणी का पुत्र' कहा. इंदिरा रमण शास्त्री ने अपनी पुस्तक, जिसे भारतरत्न डा. भगवानदास का भी समर्थन प्राप्त है, लिखा है–"चिदंबर-जारज होने पर भी शंकराचार्य, पांडवों की तरह 'कुंड' (= जीवितपतिका का जारज पुत्र) कहे जा सकते थे, 'गोलक' नहीं."

श्री शास्त्री ने आगे लिखा है: "सारार्थ यह है कि, आनंदगिरि के लेखानुसार, तथा पूर्वोक्त सूचनाओं के आधार पर, यह कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर, मृतवत् संन्यस्तपतिका वा वस्तुतः मृतपतिका विशिष्टा देवी के जारज पुत्र थे, और वह जार, महादेव चिदंबरेश्वर के सिवा कोई मनुष्य नहीं था."

(देखें, मानवधर्मशास्त्रस्य-मनुस्मृतेः-मानवार्षभाष्यम्, प्रथमं कांडम्, पृ. 329, काशीविद्यापीठ, 1999 विक्रमी संवत्. कुसुमलता आर्यप्रतिष्ठान, गाजियाबाद से पुनर्मुद्रित)

मुझे यह सारा वक्तव्य उस गरीब, बेसहारा, विवश, विधवा व उस के असहाय व निरीह पुत्र के प्रति किया गया कलुषित-हृदय धार्मिक लोगों और अपनों पर ही कीचड़ उछालने वाले ईर्ष्यालु ज्ञातियों का चरित्र-हननात्मक दुष्प्रचार मात्र प्रतीत होता है. इसीलिए तो ज्ञातियों की तुलना 'जलती हुई लकड़ी' (उल्का) से दी गई है. कहा है :

धूमायंते व्यपेतानि ज्वलंति सहितानि च,
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ.

–महाभारत

अर्थात हे धृतराष्ट्र, ज्ञाति (एक ही गोत्र के व्यक्ति, रिश्तेदार, बांधव) जलती लकड़ी के समान होते हैं. जब ये एक दूसरे से दूर होते हैं तो उसी तरह धुआं करते हैं

जैसे अलग की हुई जलती लकड़ियां करती हैं और जब ये इकट्ठे होते हैं तो उसी तरह लपटें बन जाती हैं जिस तरह जलती हुई लकड़ियों को इकट्ठा करने पर होता है.

दूसरों की औरतों, विशेषतः मजबूर विधवाओं के बारे में झूठीसच्ची अश्लील बातें गढ़नेफैलाने वाली, उन बेचारियों की हर विवशता से कामुकता को संपृक्त करने वाली मर्दवादी रुग्ण मानसिकता से वे (मांबेटा) कितने आहत हुए होंगे, कोई भी आसानी से समझ सकता है. यह उस समाज का, उन प्रतिकूल परिस्थितियों का एक प्रतिबिंब मात्र है, जिन से बालक शंकर को दोचार होना पड़ा.

बालक शंकर भीख मांग लाते. इस से मां बेटे का निर्वाह होता. कई बार भीख में भी कुछ न मिलता. वैसे कहते हैं कि यहां दूध की नदियां बहा करती थीं. पता नहीं वे कब और कहां बहती थीं!

बालक शंकर गरीबी और उपेक्षा के हाथों तंग आ कर घरबार छोड़ कर भाग गए. इसे उन के जीवनीकारों ने 'संन्यास ग्रहण' कहा है. यह घटना तब की बताई जाती है जब शंकर केवल 8 वर्ष के थे.

जब वह 16 वर्ष के हुए, उन की मां की मृत्यु हो गई. शंकर उस का अंतिम संस्कार करने के लिए अपने गांव कालटी (केरल प्रांत में) पहुंचे तो उन के ज्ञातियों (संबंधियों) ने धर्म की दुहाई दे कर उन्हें मां का अंतिम संस्कार करने से रोका, और कहा 'संन्यासी अपने संबंधी का अंतिम संस्कार नहीं कर सकता.' उन्होंने शंकर को न अपने घर से आग दी, न अरथी उठाने में मदद की और न शव जलाने के लिए ईंधन दिया. इतना ही नहीं, उन्हें 'व्यभिचारिणी का पुत्र' कह कर गालियां दीं.

शंकर के एक प्राचीन जीवनीकार माधवाचार्य ने लिखा है:

संचित्य काष्ठानि सुशुष्कवंति, गृहोपकंठे धृततोयपात्रः,
सदक्षिणे दोष्णि ममन्थ वह्निं, ददाह तां तेन च संयतात्मा.

–शंकर दिग्विजय, 14/48

अर्थात घर के समीप कमंडलु रख कर, शंकर ने सूखी लकड़ियां बटोरीं. उस ने माता की दाहिनी भुजा से उस का मंथन कर के अग्नि उत्पन्न की और उस से माता का दाहसंस्कार किया.

क्योंकि बारंबार मांगने पर भी बंधुजनों ने शंकर को आग नहीं दी. अतः क्रुद्ध हो कर उन्होंने उन सब को शाप दिया कि ये ब्राह्मण आज से वेद से बहिष्कृत हो जाएंगे, शूद्र समान हो जाएंगे तथा भिखारी इन के घरों से भीख नहीं लेंगे (तब भिखारी जिस घर से भीख नहीं लेते थे, वह घर घोर निंदनीय समझा जाता था). उस ने आगे कहा, आज से तुम्हारे घरों के पास ही श्मशान बना रहे.

इस तरह शंकर का बचपन और लड़कपन बीता. स्पष्ट है कि जीवन में उन के साथ हिंदू समाज ने कोई अच्छा व्यवहार नहीं किया. आज उन्हें 'अवतार' घोषित किया जा रहा है, उन की जयंती के उपलक्ष्य में बड़ेबड़े आयोजन होते हैं.

मनोविज्ञान का कहना है कि इस तरह की परिस्थितियों से गुजरा बचपन आगे

जा कर या तो विद्रोही होता है या फिर कट्टर धर्मवादी बन कर वह अपने अभाव की मानसिक एवं सामाजिक तौर पर क्षतिपूर्ति करता है.

पलायनवाद का चुनाव

शंकर ने दूसरा विकल्प चुना. वह भगवान (ब्रह्म) की ओर मुड़े और यह नारा दिया कि जगत मिथ्या है तथा ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है: जगन्मिथ्या, ब्रह्म सत्यं.

यह सिद्धांत स्पष्टतः निराशा, उपेक्षा और अभाव की उपज था. इस के द्वारा शंकर, लगता है, अपनी दुखदस्थिति को भुलाने की कोशिश करते थे, क्योंकि यह बौद्धिक प्राणायाम मात्र था, 'आटो सजेस्चन' (आत्मसुझाव) के समान था.

आज इस दर्शन–'अद्वैतवाद'–को भारतीय दर्शन की पराकाष्ठा कह कर सराहा जाता है. बड़ेबड़े पोथे इस पर लिखे गए और लिखे जा रहे हैं. कहते हैं कि इस दर्शन के अनुसार सब में परमात्मा के दिखाई पड़ने के कारण कोई किसी से द्वेष नहीं कर सकता. इस का अनुसरण करने से विश्वशांति स्थापित हो सकती है.

ये सब थोथी बातें हैं क्योंकि अद्वैतवाद खुद शंकर के लिए बौद्धिक व्यायाम मात्र रहा है. इसी कारण इस का आविष्कार और प्रचार करने के बावजूद वह खुद द्वेष आदि को नहीं छोड़ सके और सब में परमात्मा देखने की बातें करने के बावजूद कुछ लोगों को 'नीच' और 'अछूत' मानने से मुक्ति नहीं पा सके.

शूद्रों (जो आज की अनुसूचित जातियां, अनुसूचित कबीले और पिछड़ी श्रेणियां हैं) के विषय में शंकर के विचार इस से भी ज्यादा गए बीते हैं. अपने भाष्य में उन्होंने लिखा है कि शूद्र को न वेद सुनने का अधिकार है और न पढ़ने का, न उस के अर्थ समझने का अधिकार है और न उस के अनुसार अनुष्ठान (यज्ञ आदि) करने का. यदि वह (शूद्र) वेद पढ़ने वालों के पास जा कर उसे (वेद को) सुन ले तो उस के दोनों कानों में सीसा (रांगा) और लाख पिघला कर भर देनी चाहिए. शूद्र चलताफिरता श्मशान होता है, अतः उस के समीप वेद नहीं पढ़ना चाहिए. वेद का उच्चारण करने पर शूद्र की जीभ काट देनी चाहिए और वेद को सुन कर कंठस्थ कर लेने पर उस का शरीर चीर देना चाहिए. शूद्र को ज्ञान नहीं देना चाहिए:

> वेदश्रवणप्रतिषेधो, वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेध: शूद्रस्य स्मर्यते. श्रवणप्रतिषेधस्तावत् अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमिति पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यमिति च. भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति. न शूद्राय मतिं दद्यात्
>
> –ब्रह्मसूत्र 1/3/38 पर शंकरभाष्य

अद्वैतवाद

'शंकर दिग्विजय' (सर्ग-6) में आता है कि शंकर को एक बार रास्ते में कुत्तों से घिरा एक चांडाल मिला. शंकर ने उससे 'दूर हटो', 'दूर हटो' कहा, क्योंकि वह

'अछूत' और 'अदर्शनीय' था (स्मरण रहे, कुछ लोगों को देखने से ही हिंदू अपवित्र हो जाते थे). इस पर उस ने शंकर से कहा कि तुम में और मुझ में क्या अंतर है जो तुम अपने को छूत (स्पृश्य) और मुझे अछूत (अस्पृश्य) समझते हो? जब सब में एक ही ब्रह्म है और ब्रह्म के सिवा कुछ है ही नहीं; जब सब अद्वैत (एक) ही है, तब तेरेमेरे का भेदभाव (द्वैत) कैसा?

स्पष्ट है, चांडाल ने शंकर के बौद्धिक अद्वैतवाद को सामाजिक संदर्भ में जोड़ने के लिए यहां आवाज उठाई. शंकर ने तब तो चांडाल से कह दिया कि तुम ठीक हो और मैं अब ब्राह्मण तथा चांडाल में भेदभाव नहीं करूंगा, परंतु परनाला वहीं का वहीं रहा. उन के जीवनीकारों ने इस घटना पर परदा डालने के उद्देश्य से इस की व्याख्या करते हुए कहा है कि वह चांडाल असल में चांडाल था ही नहीं, वह तो भगवान शंकर ही चांडाल का रूप धारण कर के आए थे. यह व्याख्या इस बात का प्रमाण है कि शंकर के अनुयायी भी ब्राह्मण और चांडाल के भेद को समाप्त करने के लिए तैयार नहीं हुए अर्थात अद्वैतवाद सामाजिक दर्शन कदापि नहीं बना.

वितंडावाद

शंकर की तर्क पद्धति बहुत अजीब थी. आस्तिकों को तो उन्होंने अपनी बात मानने के लिए विवश करते हुए कहा कि यह बात वेदशास्त्रों में कही गई है, अतः तुम्हें इसे स्वीकार करना होगा. परंतु जब नास्तिकों से पाला पड़ा तो उन्होंने कहा कि वेदशास्त्र और प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अविद्या के समान हैं:

'अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च.

–ब्रह्मसूत्र, उपोद्घात

इसी प्रकार शंकर प्रचार तो करते थे कि जगत मिथ्या है, परंतु जब उन का बौद्धों से पाला पड़ा तो उन्होंने कहना शुरू कर दिया कि सभी प्रमाणों से बाह्य अर्थ (जगत के पदार्थ) उपलब्ध होते हैं, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि जगत के पदार्थ वास्तविक नहीं हैं. इच्छा के अभाव में पदार्थ उपलब्ध होते हैं, परंतु पदार्थ के अभाव में इच्छा (वासना) की उत्पत्ति नहीं होती. इस अन्वयव्यतिरेक से भी बाह्य अर्थ (पदार्थों) का अस्तित्व ही सिद्ध होता है:

(क) इह तु यथास्वं सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादिविकल्पैर्न संभवतीत्युच्येतोपलब्धेरेव

–ब्र.सू. 2/2/28, शंकर भाष्य

ब्रह्मसूत्र 2/1/16 की व्याख्या में तो शंकर ने अपने सिद्धांतों को ताक पर रख कर कह दिया कि जैसे ब्रह्म तीनों कालों में सदा बना रहता है और इसलिए वह सत्य है, उसी प्रकार यह जगत भी उसी ब्रह्म से पैदा हुआ होने के कारण तीनों कालों में बना रहता है. अतः यह भी उसी प्रकार सत्य है:

'यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति एवं
कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति

–ब्रह्मसूत्र, 2/1/16, शंकरभाष्य

शंकर ने अनेक ग्रंथों की रचना की. परंतु उन के एक ग्रंथ ब्रह्मसूत्रभाष्य में ही 60 से ज्यादा स्थल ऐसे हैं, जो परस्पर-विरोधी हैं.

इस प्रकार वक्त पड़ने पर अपने सिद्धांतों के विपरीत बातें कर के दूसरे को निरुत्तर करना बौद्धिक बेईमानी का आश्रय लेना है. परंतु शंकर ने इस का निस्संकोच हो कर प्रयोग किया है. यदि वह 'विद्वत्ता' है, तो 'वितंडावाद' किसे कहते हैं?

शंकर ने वेद को प्रमाण मानने वालों का सामना करते हुए अपने कथन को मनवाने के लिए और विरोधी के तर्कों से बचने के लिए कहना शुरू कर दिया कि तर्क आधारहीन होते हैं, क्योंकि जो तर्क एक व्यक्ति प्रस्तुत करता है, दूसरा उसे अपने बुद्धिकौशल से काट देता है. उस के तर्क को कोई तीसरा काट देता है, अतः तर्क का आश्रय लेना सही नहीं (देखें ब्रह्मसूत्रभाष्य, 2/1/11).

शंकर की इस विचारसरणि पर टिप्पणी करते हुए प्रो. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि उक्त आधार पर कोई यह भी कह सकता है कि चूंकि एक खड्गधारी स्वयं को दूसरे खड्गधारी से श्रेष्ठ सिद्ध कर देता है, इसलिए शस्त्रविद्या के रूप में खड्ग प्रयोग स्वभावतः निरर्थक है. सब से अच्छी लड़ाई वही लड़ सकता है, जो अपना खड्ग फेंक दे अथवा निरस्त्र हो कर लड़े. (देखें, भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत, पृ. 198).

स्वयं तर्क की निंदा करना और दूसरों को यह कहना कि हम तुम से इसलिए शास्त्रार्थ नहीं कर सकते, क्योंकि तुम तर्क के अनुसार नहीं चलते हो, क्या यह बौद्धिक ईमानदारी है?

शास्त्रार्थ या शस्त्रास्त्र?

शंकर ने विरोधी मतों का मुकाबला करने के लिए न केवल शास्त्र और छल का प्रयोग किया, बल्कि उन्हें चुप कराने के लिए उन्होंने शस्त्र का भी खुल कर प्रयोग किया व करवाया, यह बात स्वयं शंकर के प्रशंसकों ने लिखी है. उन के जीवनीकार माधव ने 'शंकरदिग्विजय' में लिखा है कि जब शंकर ने दिग्विजय यात्रा शुरू की थी, उन के साथ हजारों शिष्य और राजा सुधन्वा की सेना चली थी:

'अथ शिष्यवरैर्युतः सहस्रैरनुयातः स सुधन्वना च राज्ञा'

–15/1

'शंकरदिग्विजय' में आगे कहा गया है कि इस सेना के कारण उठी धूलि से ही कणाद मतानुयायी लोग काने हो गए. शास्त्रार्थ से पहले बजे सेना के नगाड़े की आवाज को सुन कर ही चार्वाक मतावलंबी भाग गए. युद्ध में कुछ वैदिक योद्धाओं को तो बिना दलील के वैसे ही हाथ से पकड़ कर आचार्य शंकर ने खींच कर अपनी

ओर खड़ा कर लिया (स्पष्ट है, वे लोग सेना के डर के कारण कुछ कह नहीं पाए). वेद विरोधी चार्वाक आदि को, जिन में बौद्ध शामिल थे, बलपूर्वक मार डाला गया. कुछ को बहुत दिनों तक बंदी बना कर रखा गया. (शंकर दिग्विजय, सर्ग 15).

स्पष्ट है, शंकर ने यहां अपने विरोधियों को शास्त्र की अपेक्षा शस्त्र से 'हराया'.

अतीतवादी हिंदू प्राचीन भारत को धर्मनिरपेक्ष, वैचारिक स्वतंत्रता से परिपूर्ण एवं सहिष्णु बताते नहीं अघाते, परंतु वास्तविकता वह है जिस का 'शंकर दिग्विजय' ढिंढोरा पीट रही है.

ब्राह्मणवाद: दुष्परिणाम

शंकर ने यद्यपि दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद का प्रचार किया तथापि समाज में व्यावहारिक तौर पर उन्होंने ब्राह्मणवाद की जकड़ पहले की अपेक्षा और ज्यादा मजबूत की. इस से जातिपांति के नियमों का कड़ाई से पालन किया जाने लगा. परिणामस्वरूप केवल क्षत्रिय लड़ने वाले रह गए. उन में आधी औरतें थीं. कुछ बच्चे थे, कुछ बूढ़े थे, कुछ वैसे लड़ने के अयोग्य रहे होंगे. फिर हर युद्ध में उन की संख्या कम हो जाती थी. उस से मुट्ठीभर मुसलिम हमलावर यहां आसानी से अपने साम्राज्य स्थापित करने में सफल हो गए

यदि शंकर के प्रयासों के परिणामस्वरूप कट्टर ब्राह्मणवाद ने जातिपांति के नियमों को कड़ाई से लागू न कर के, लड़ने का काम केवल क्षत्रिय जाति को न सौंपा होता तो भारत का पिछले एक हजार साल का इतिहास कुछ और ही होता.

दर्शन: कच्ची नींव

शंकर के दर्शन पर भी जरा विचार करना अप्रासंगिक न होगा. शंकर के मुताबिक जगत मिथ्या है. जैसे स्वप्न के अनुभव स्वप्न में सत्य प्रतीत होते हुए भी जागरित अवस्था में गायब हो जाने के कारण असत्य है., उसी प्रकार जागरित अवस्था के अनुभव ब्रह्म का अनुभव होने पर गायब हो जाते हैं. अतः असत्य हैं.

यह बात बिलकुल गलत है. स्वप्न के अनुभवों का आधार जागरित अवस्था के अनुभव होते हैं. परंतु प्रश्न उठता है कि जागरित अवस्था के अनुभवों का आधार क्या है? जागरित अवस्था में जो मेज हम देखते हैं, उसे स्वप्न में देखते हैं, परंतु जागरित अवस्था में जो मेज है, क्या वह असल में है या हमारी कल्पना मात्र है? यदि असल में है, तो फिर ब्रह्मज्ञान से उस का अनुभव गायब कैसे हो सकता है? यदि कल्पना है तो ब्रह्मज्ञानी को उस मेज से टकरा कर गिरना नहीं चाहिए. परंतु वह गिरता है. दीवार से उस का सिर टकराता है और उसे पीड़ा होती है. ऐसे में मेज, दीवार आदि जागरित अवस्था के अनुभव कल्पना मात्र नहीं हो सकते. इस से शंकर के अद्वैतवाद की नींव ही कमजोर पड़ जाती है. शायद इसीलिए उन्हें अपना मत लोगों से मनवाने के लिए राजा सुधन्वा की सेना की जरूरत पड़ी थी. शंकर के 'ब्रह्म सत्यं' और 'जगन् मिथ्या' के विषय में उन के समर्थक कहा करते हैं कि 'मिथ्या' का अर्थ वह नहीं जो तुम करते हो, 'मिथ्या' का असली अर्थ है, क्षणिक, अस्थायी.

यह बात शंकर के दर्शन की असंगति को छिपाने के उद्देश्य से कही जाती है. वे यह कहते हैं कि शंकर वस्तुओं को, जैसी वे हैं वैसी ही मानते थे. केवल उन्हें अस्थायी मानते थे. अतः उन (शंकर) पर यह दोष नहीं लगाना चाहिए कि वह जगत को व्यक्ति की कल्पना कहते हैं.

शंकर के पक्षधरों का यह प्रयास भी रेत की दीवार के समान है. शंकर ने संसार रचना के प्रसंग में बताया है कि यह संसार ब्रह्म का विवर्त है. यह सिद्धांत 'विवर्तवाद' कहलाता है.

विवर्तवाद का अर्थ है कि जैसे रस्सी को अज्ञानता से सांप समझ लिया जाता है, उसी प्रकार केवल भ्रांतिवश जगत प्रतीत होता है. जैसे रस्सी में वास्तव में सांप की सत्ता नहीं होती, उसी प्रकार जगत की वास्तव में सत्ता नहीं है.

अब प्रश्न उठता है कि यदि सांप की तरह जगत भ्रांतिवश प्रतीत होता है तो फिर जगत का अस्तित्व वास्तविक कैसे हो सकता है? प्रश्न उस के स्थायी या अस्थायी होने का नहीं, प्रश्न है उस के वास्तविक या काल्पनिक होने का.

स्पष्ट है कि शंकर जगत को केवल काल्पनिक मानते हैं. यदि जगत भ्रांतिवश दिखाई देता है, वह अनेक प्रकार का क्यों दिखाई देता है? जब रस्सी में सांप की भ्रांति होती है तो केवल एक सांप की भ्रांति होती है, दुनियाभर के विविध पदार्थ दिखाई देने शुरू नहीं हो जाते. परंतु संसार में तो विविध पदार्थ दिखाई देते हैं. स्पष्ट है कि जगत ब्रह्म में उत्पन्न भ्रांति के परिणामस्वरूप दिखाई नहीं देता. यदि ऐसा होता तो केवल एक प्रकार के पदार्थ दिखाई देते, जैसे रस्सी में केवल एक तरह सांप दिखाई देता है.

शंकर ने रस्सी में सांप की भ्रांति को आधार बना कर ही अपने दर्शन का महल खड़ा किया है. परंतु यहां एक बात विशेष तौर पर ध्यान देने योग्य है कि जब हम कहते हैं कि रस्सी में सांप का दिखाई पड़ना भ्रांति है, दृष्टिदोष है, तब स्पष्ट है कि रस्सी का रस्सी के रूप में दिखाई पड़ना शुद्ध ज्ञान है, भ्रांति नहीं.

यदि वह रस्सी को सत्य मानते हैं तो रस्सी और वैसे ही अन्य पदार्थ सत्य हैं. तब उन का यह कथन झूठा हो जाता है कि ब्रह्म के सिवा और कुछ भी सत्य नहीं है.

यदि वह रस्सी को असत्य मानते हैं, तब उन के दर्शन का मूलभूत दृष्टांत गलत हो जाता है. तब इस का अर्थ कुछ इस प्रकार होगा : झूठी रस्सी में झूठे सांप को देखना भ्रांत ज्ञान है. ऐसा तो भ्रांति दर भ्रांति का उदाहरण हो सकता है, न कि शुद्ध ज्ञान बनाम भ्रांति का. दोनों ही तरह शंकर की दार्शनिक स्थिति आगे कुआं, पीछे खाई जैसी हो जाती है.

शंकर ने अभिन्ननिमित्त-उपादान-कारण की बात की है, जिस का अर्थ है कि दुनिया को बनाने वाला (निमित्तकारण) भी ब्रह्म है और दुनिया बनी भी ब्रह्मरूपी 'पदार्थ' से ही है (उपादान कारण).

अब प्रश्न उठता है कि जब ब्रह्म निराकार है, अभौतिक है और सदा एक सा रहने वाला (निर्विकार) है, तब वह जगत का निमित्तकारण कैसे हो सकता है? यदि वह निमित्तकारण बनता है, तब वह न निर्विकार रहेगा, न निराकार और न अभौतिक;

क्योंकि जो कोई भी किसी कार्य के होने में सहायता देता है, वह विकारग्रस्त होता है अर्थात उस की स्थिति में परिवर्तन आता है. जो परिवर्तनशील है, वह निर्विकार नहीं हो सकता.

दूसरे, यदि जगत ब्रह्मरूपी पदार्थ से बना है तो ब्रह्म अभौतिक नहीं रहेगा, क्योंकि जगत के विविध पदार्थ भौतिक हैं. यदि ब्रह्म भौतिक पदार्थ जैसा पदार्थ है जिस से जगत के विविध पदार्थ बनते हैं, तो वह ब्रह्म तो नाशवान और विकारी सिद्ध होगा ही, लेकिन तब यह जगत भी भ्रांति नहीं रह जाएगा. तब तो जगत वास्तव में एक भौतिक अस्तित्व प्रमाणित होगा.

शंकर ने जगत के दिखाई देने को 'माया का खेल' कहा है. उन का कहना है कि माया के कारण ब्रह्म ही जगत दिखाई देने लगता है. असल में न जगत है, न जीव. सब कुछ ब्रह्म ही है.

मायावाद का शस्त्र

परंतु जब पूछा जाता है कि माया क्या है और जब दूसरा कोई है ही नहीं, तब यह माया कहां से आ टपकी, तो शंकर का उत्तर होता है कि माया अनिर्वचनीय (अकथ्य) है. उस का वर्णन नहीं किया जा सकता. परंतु जो कुछ भी है, वह है माया ही. माया को मान लेने से शंकर का यह मत पुनः झूठा हो जाता है कि ब्रह्म के सिवा और कुछ है ही नहीं, जबकि वह तो ब्रह्म के समानांतर शक्ति प्रमाणित होती है.

शंकर का यह मायावाद शोषित, दुखी, पीड़ित व निस्हाय लोगों के लिए अभिशाप और शोषकों, राजाओं, रजवाड़ों, भूस्वामियों व अत्याचारियों के लिए वरदान बन गया. राहुल सांकृत्यायन ने शंकर के इस मायावाद पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, ''मां भी माया, बाप भी माया, पत्नी भी माया, पति भी माया, उपकार भी माया, अपकार भी माया, गरीब की काम से पिसती, भूख से तिलमिलाती अंतड़ियां भी माया, निकम्मे अमीर की फूली तोंद और ऐंठी मूंछें भी माया, कोड़ों से लहूलुहान तड़पता दास भी माया और बेकसूर पर कोड़े चलाने वाला जालिम मालिक भी माया, चोर भी माया, साहु भी माया, गुलाम हिंदुस्तान भी माया, स्वतंत्र भारत भी माया, हिटलर की हिंसा भी माया, गांधी की अहिंसा भी माया, स्वर्ग भी माया, नरक भी माया, धर्म भी माया, अधर्म भी माया, मुक्ति भी माया...जगत जादू है, माया है और कुछ नहीं. यह है शंकर का मायावाद, जो कि समाज की हर विषमता, हर अत्याचार को अक्षुण्ण, अछूता रखने के लिए जबरदस्त हथियार है (दर्शन दिग्दर्शन, पृ. 819).

इस मायावाद ने लोगों को सामूहिक भ्रांति का शिकार बना दिया. परिणामस्वरूप, जो उठा संन्यासी बन गया. किसी को समाज की, लोकसंग्रह की चिंता ही नहीं रही. जो पिट रहा था, जो पिस रहा था, उसे लगा यह पिटाई व पिसाई माया है. उस ने विद्रोह एवं विस्फोट के स्थान पर मायावाद की पीनक में आश्रय ढूंढ़ा. शोषक व अत्याचारी मायावाद के नाम पर अपने मन में उठ सकने वाले मानवतावादी उद्गारों का गर्भपात करते रहे. इस मायावाद के कारण उपजी अनास्था और

उदासीनता के परिणामस्वरूप ही परवर्ती शताब्दियों में मुट्ठीभर विदेशी लुटेरों के अत्याचारों को 'माया' मान कर, उन का मुंहतोड़ जवाब देने से विमुखता अपनाई गई.

ब्रह्मज्ञान

शंकर ने ब्रह्मज्ञान की बेहिसाब महिमा गाई है. परंतु प्रश्न उठता है कि क्या शंकर को स्वयं 'ब्रह्मज्ञान' था? उन के पक्षधर कहेंगे कि हां, था. हम पूछते हैं कि यदि ब्रह्मज्ञान से जागृत अवस्था के अनुभव गायब हो जाते हैं, जैसे जागने पर स्वप्न के अनुभव; तो ब्रह्मज्ञानी शंकर के लिए ब्राह्मण, शूद्र, बौद्ध आदि का भेदभाव क्यों बना रहा? क्यों उन के जागृत अवस्था के अनुभव गायब नहीं हुए?

स्पष्ट है कि न केवल शंकर का दर्शन गलत है, बल्कि उन की कथनी और करनी में भी ऐक्य नहीं. वह जो दर्शन पेश करते हैं, वह उन के अपने जीवन पर भी चरितार्थ नहीं होता, दूसरों के जीवन की तो बात ही छोड़ो.

जिन लोगों ने इस कमजोर नींव वाले दर्शन को बलात् अपने जीवन पर चरितार्थ करना चाहा, उन की स्थिति बहुत हास्यास्पद हुई. एक ऐसा ही स्वामी अपने शिष्य को दिनरात जगत मिथ्या का उपदेश दिया करता था. परंतु जब उसे अपने एक निकट संबंधी की मृत्यु की सूचना मिली तो वह फूटफूट कर रोने लगा. इस पर शिष्य ने साहस कर के कहा, "गुरुजी, जब जगत मिथ्या है और यह आप को भलीभांति ज्ञात है तो फिर साधारण एवं अज्ञानी व्यक्ति की भांति आप विलाप क्यों कर रहे हैं?" इस पर उस स्वामी ने कहा, "यह रोना भी मिथ्या है."

मिशन की पूर्ति

शंकराचार्य की 32 वर्ष की आयु में मृत्यु हो गई थी. उन की मृत्यु की घटना को महानता का लबादा ओढ़ाने की इच्छा से कहा जाता है कि उन्होंने अपना 'कार्य' (मिशन) समाप्त कर के समाधि लगा कर स्वेच्छा से शरीर त्याग दिया.

यह बात तथ्यों द्वारा प्रमाणित नहीं होती. शंकर दिग्विजय (सर्ग 16) के अनुसार शंकर की गुदा में एक भयानक फोड़ा (भगंदर) हो गया था, जिस से खून के टपकते रहने से उन की धोती भीग जाया करती थी और उन्हें मर्मांतक पीड़ा हुआ करती थी. इस से शंकर बहुत कमजोर हो गए थे. वैद्यों से काफी चिकित्सा करवाई गई, परंतु रोग ठीक नहीं हुआ.

फिर शंकर ने केदारनाथ की यात्रा की. वहां सर्दी बहुत थी. स्वस्थ एवं युवा विद्यार्थी भी जाड़े के मारे ठिठुर रहे थे. ऐसे में अत्यधिक खून बहने एवं मर्मांतक पीड़ा से दुबले हुए तथा वैद्यों द्वारा असाध्य रोग घोषित किए जाने के कारण निराश हुए शंकर का दुःसह सर्दी को सह पाना कठिन था. परिणामस्वरूप वहीं उन का प्राणांत हो गया.

शंकर के दैवी मिशन की बात करने वालों से यदि पूछो कि उन का मिशन क्या था जिस के पूरा हो जाने पर उन्होंने 'समाधि' लगा कर प्राण त्याग दिए, तो वे कहते हैं कि हिंदू धर्म की रक्षा और पुनः स्थापना ही उन का मिशन था.

यह उत्तर बहुत हास्यास्पद है, क्योंकि शंकर के समय हिंदू धर्म को कोई खतरा नहीं था. पुष्यमित्र शुंग (ई. पू. 185) बुद्धमत के विरुद्ध प्रतिक्रांति कर के ब्राह्मणवाद (हिंदू धर्म) को शंकर से सदियों पूर्व स्थापित कर चुका था और बाद में इसे कभी उखाड़ कर फेंका नहीं गया. स्थापित को पुनः स्थापित करना या सुरक्षित की रक्षा करना, क्या किसी स्वस्थ दिमाग का मिशन हो सकता है?

हिंदू धर्म को असल में यदि कोई जबरदस्त खतरा पैदा हुआ तो वह शंकर की मृत्यु के बाद की शताब्दियों में ही पैदा हुआ, जब मुसलिम आक्रांताओं ने हिंदू मंदिरों व मूर्तियों को तोड़ा, चोटियां काटीं, जनेऊ उतरवाए और लोगों से बलात धर्म परिवर्तन करवाया.

यदि शंकर 'दैवी योजना' के अधीन जनमे थे तो कहना पड़ेगा कि उस दैवी योजना के निर्माता का सारा हिसाबकिताब गलत सिद्ध हुआ, क्योंकि उस ने 'अवतार' को उस समय भेज दिया जब उस की जरूरत न थी और उस समय 'भेजा' ही नहीं जब उस की सख्त जरूरत थी. उस से गीता का यह कथन कि धर्म की स्थापना के लिए मैं युगयुग में अवतार लेता हूं (4/78) भी सही सिद्ध नहीं होता.

आज के युग में शंकर के दर्शन का कोई अर्थ नहीं. यह न केवल अवैज्ञानिक है, बल्कि मानवतावाद का विरोधी भी है. उन के अपने युग में भी यह लोगों पर तलवार के बल पर ही थोपा गया था. आज के सुपर कंप्यूटरों के युग में हमें ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो वैज्ञानिक हो और मानवतावादी भी; जो बहुजनहिताय हो, बहुजनसुखाय हो. आंखें बंद कर के प्राचीन की तथाकथित महानता के नीचे अपने को दबाए रखने से हमारा कल्याण नहीं हो सकता.

वेदों में विज्ञान

ऋग्वेद के प्राचीनतम ग्रंथ होने के कारण वेदों को अंधश्रद्धावश बहुत बार ईश्वर रचित और सारे ज्ञान के असीम भंडार कह दिया जाता है, हालांकि प्राचीनता पूज्यता का पर्याप्त आधार नहीं हो सकती. पिछली दोएक शताब्दियों से, जब से पश्चिम ने विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व आविष्कार कर के संसार का नक्शा ही बदलना शुरू कर दिया है, भारत में एक अजीब किस्म की प्रतिक्रिया शुरू हुई है.

दुनिया के बाकी हिस्सों में कहीं विज्ञान का विरोध हुआ तो कहीं उस का समर्थन, कहीं प्रतिस्पर्धा शुरू हुई तो कहीं उत्तरोत्तर जिज्ञासा, पर भारत में विचित्र प्रतिक्रिया हुई. अंध श्रद्धालु हर वैज्ञानिक आविष्कार को पुराने शास्त्रों से सिद्ध करने लगे और अपने विस्मित मन को तसल्ली देते हुए कहने लगे कि "यह तो हमारे पूर्वजों को पहले से ही ज्ञात था."

विज्ञान की उन्नति के प्रकाश में विदेशी और पश्चिमी सभ्यता के बुद्धिवाद से प्रभावित पढ़ेलिखे हिंदू खुद ही धर्म के नाम पर प्रचलित मूर्खतापूर्ण और अज्ञानमूलक विश्वासों और रिवाजों की हंसी उड़ाने लगे. इस से आम हिंदू हीनभावना का शिकार हो गया. इस से बच निकलने का एक ही रास्ता था कि हिंदुओं में किसी प्रकार आत्मविश्वास पैदा किया जाए.

इस के लिए हिंदू धर्मगुरुओं और अंगरेजी पढ़ेलिखे कुछ उन लोगों ने, जो धर्म के मामले में आम हिंदू की तरह ही रूढ़िवादी थे, हर वाहियात और वृथा हिंदू रिवाज व विश्वास की 'वैज्ञानिक' व्याख्या देने की कोशिश कर दी ताकि उन से लोग चिपटे भी रहें और उन में आत्मविश्वास भी पैदा हो जाए. यह सब ऊपर से आरोपित विज्ञान था, न कि असलियत. अतः इस मुलम्मे के अभीष्ट व रचनात्मक परिणाम निकलने असंभव थे. इस से सिर्फ छद्म वैज्ञानिकता को बढ़ावा मिला, जो अंधविश्वास रूपी सिक्के का ही दूसरा पहलू था.

चोटी को विद्युत–चुंबकीय कौयल बताया जाने लगा और गंगा में नहाने के समर्थन में कहा जाने लगा कि अमुक यूरोपीय विद्वान ने सिद्ध किया है कि इस के पानी में ऐसे पदार्थ हैं जिन से रोग के कीटाणु एकदम मर जाते हैं. पूर्णिमा के दिन रखे जाने वाले सत्यनारायण के व्रत के बारे में कहा जाने लगा कि यह सूर्य और चंद्र की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का मुकाबला करने के लिए है और दीवाली के दिन बेमतलब

दीए जलाने के विषय में कहा जाने लगा कि यह प्रकाश इसलिए किया जाता है कि उस शाम को धरती से निकलने वाली विषैली गैसों को जलाया जा सके.

इसी प्रक्रिया में स्वामी दयानंद सरस्वती ने वेदों के मंत्रों के अपने ही ढंग से अर्थ कर के वेदों से सारा विज्ञान निकालने का प्रयास किया. इस के बाद लोगों के एक बहुत बड़े भाग ने यह विश्वास व्यक्त करना शुरू कर दिया कि हमारे वेदों में सारा विज्ञान है. इसे ज्यादा प्रभावजनक बनाने के लिए उन्होंने यहां तक कहा, और यह बात कई विद्वानों की पुस्तकों में लिखी भी मिलती है कि पश्चिम का सारा विज्ञान वेदों से निकला है. जरमनी वाले हमारे वेद ले गए थे, उन्हीं से उन्होंने विज्ञान सीखा.

विज्ञान विरुद्ध बातें

इस से न केवल विज्ञान के प्रति उत्तरोत्तर जिज्ञासा बढ़ने के मार्ग में बाधा खड़ी हुई, बल्कि लोगों में मिथ्या आत्मसंतोष भी पैदा हुआ और परिणामस्वरूप वे भविष्य की ओर देखने की अपेक्षा अतीतमुखापेक्षी बन गए.

लेकिन इस संदर्भ में जो प्रश्न पैदा होते हैं, उन का उत्तर स्वामी दयानंद के पहले से ले कर आज तक किसी ने नहीं दिया है.

सब से पहला प्रश्न तो यह उठता है कि यदि वेदों में वास्तव में विज्ञान था तो हजारों सालों से उन्हें पढ़ने, कंठस्थ करने और उन पर भाष्य लिखने वाले हिंदुओं ने कोई भी आविष्कार विदेशी वैज्ञानिकों से पहले क्यों नहीं किया?

दूसरे, यदि वेदों में विज्ञान था तो प्राचीन काल में बड़ेबड़े वेदज्ञ विद्वानों में से किसी ने भी इस का उल्लेख क्यों नहीं किया? वेदों के जो प्राचीन भाष्य मिलते हैं, जिन में एकएक शब्द की व्याख्या की गई है, उन में वेदमंत्रों के जो अर्थ किए गए हैं, उन से किसी वैज्ञानिक सत्य का परिचय क्यों नहीं मिलता?

क्या उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक सभी वेदज्ञ विद्वान मूर्ख थे जो उन्हें वेदों के मंत्रों के ठीक अर्थ न सूझ सके और वे उन से विज्ञान न निकाल सके? जब हजारों वर्षों से वेद पढ़ने वाले हिंदुओं को कोई विज्ञान वेदों में नहीं सूझ सका तो यहां से वेद ले जा कर पढ़ने वाले जरमनों को विज्ञान कैसे मिल गया? क्या जरमनों के वेद पढ़ने से संसार भर के वैज्ञानिकों पर उस का अदृश्य प्रभाव पड़ गया जो उन्होंने नएनए वैज्ञानिक आविष्कार कर दिखाए?

इन प्रश्नों का संतोषनजक उत्तर आज तक न मिल पाने के कारण हर वह व्यक्ति जो वेदों को पढ़ सकता है, उन की ओर इस विचार से उन्मुख होता है कि क्या वास्तव में उन में विज्ञान है या सिर्फ अर्थ बदल कर पोचापाची की गई है.

इसी उद्देश्य से किए गए अध्ययन के परिणामस्वरूप व्यक्ति इस निश्चय पर पहुंचता है कि वेदों में तो कई छोटीछोटी बातें भी विज्ञान-विरुद्ध हैं. ऐसे में बड़ेबड़े जटिल आविष्कारों की उन से आशा नहीं की जा सकती. उन के नाम तक की गंध वेदों में नहीं मिलती. क्या कोई बता सकता है कि वेद के किस शब्द का अर्थ टेलीफोन, टेलीविजन, राकेट, टेपरिकार्डर, ग्रामोफोन, फ्रिज, बिजली का पंखा,

सिलाई मशीन, रेलगाड़ी, रेडियो, प्रिंटिंग प्रेस, मोटर साइकिल, स्कूटर, परमाणु बम, हाइड्रोजन बम, कंप्यूटर और टेलीप्रिंटर है?

वेदों में पृथ्वी खड़ी है

यह बात आज चौथी कक्षा का विद्यार्थी भी जानता है कि पृथ्वी घूमती है. उस की दो गतियां हैं: दैनिक गति और वार्षिक गति. लेकिन वेदों में पृथ्वी के बारे में लिखा है कि वह खड़ी है. यह बात एक जगह नहीं, कई जगहों पर कही गई है. उदाहरण के लिए देखिए कुछ उद्धरण:

य: पृथ्वीं व्यथमानामदृंहत् य: जनास इंद्र:.

–ऋ. 2/12/2

अर्थात हे मनुष्यो, जिस ने कांपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया, वह इंद्र है.

पृथिवी च दृढा येन.

–यजु. 32/6

अर्थात जिस देवता ने पृथ्वी को स्थिर किया.

विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्.

–अथर्व. 12/1/11

अर्थात अनेक रूपों वाली विस्तृत और अचल भूमि की इंद्र रक्षा करता है.

ध्रुवां भूमिं पृथिवीं चरेम

–अथर्व. 12/1/17

अर्थात हम सदा विस्तृत और अचल भूमि पर विचरण करें.

वेदों में पृथ्वी के लिए 'निर्ऋृति' शब्द का प्रयोग भी हुआ है. वेदों के कोश निघंटु (1/1) में 'निर्ऋृति' शब्द पृथ्वी के पर्यायवाचियों में लिखा है. इस का अर्थ है: निर्+ऋति (ऋ गतौ) अर्थात गतिहीन. इसीलिए आज तक संस्कृत और हिंदी के शब्दकोशों में पृथ्वी का एक नाम 'अचला' (गतिहीन) है. ऐसे में वेदों में विज्ञान की क्या आशा की जा सकती है?

पृथ्वी को घूमती सिद्ध करने के लिए वेद के प्राय: दो मंत्र पेश किए जाते हैं. उन दोनों पर यहां विचार करना अप्रासंगिक न होगा. उस से स्पष्ट हो जाएगा कि असलियत क्या है और तोड़मरोड़ कितनी है.

पहला मंत्र यह है:

या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारत:,
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे दाशद्धविषा विवस्वते.

–ऋग्वेद 10/65/6

वेदों में विज्ञान निकालने वालों ने इस का अर्थ किया है:

पृथ्वी निरंतर अन्न, रस आदि से प्राणियों को पूर्ण करती हुई तथा अपने नियम का पालन करती, ईश्वरीय महिमा का उपदेश करती, दानी, श्रेष्ठजन और विद्वानों को सुख देती हुई, अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है.

दरअसल यह मंत्र पृथ्वी विषयक है ही नहीं. मूल पाठ में एक वाक्य खंड है: "पयो दुहाना." इस का अर्थ है: "दूध दुहाती हुई" अर्थात दूध देती हुई. एक दूसरा वाक्य खंड है: "वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा." इस का अर्थ है: "वरुण और अन्य देवों को आहुतियां दें."

यहां विचारणीय यह है कि क्या पृथ्वी दूध देती है? क्या देवताओं के लिए आहुतियां (वे प्रायः घी, दूध या मांस की होती हैं) पृथ्वी दे सकती है? पृथ्वी पर ये बातें चरितार्थ नहीं होतीं.

एक और बात यहां ध्यान देने योग्य है. इस अर्थ में लिखा है: "अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है." मूलपाठ में एक भी ऐसा शब्द नहीं, जिस का यह अर्थ बनता हो.

प्रस्तुत मंत्र में दूध देने और आहुतियों की सामग्री जुटाने वाली गाय है. अतः विद्वानों ने इस मंत्र का अर्थ ठीक तौर पर ऐसे किया है: 'जो गाय स्वयं पवित्र स्थान यज्ञ में आती है, वह दूध देते हुए यज्ञ कर्म को संपन्न करती है. मेरी इच्छा है कि वह गाय दाता वरुण और अन्यान्य देवों को होमीय द्रव्य (दूध व घी आदि) दे और मुझ देवसेवक की रक्षा करे.'

–देखें: हिंदी ऋग्वेद, पृष्ठ 1313–14

दूसरा मंत्र है:

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरम्पुरः, पितरं च प्रयन्त्स्वः.

–यजु. 3/6

वेदों से विज्ञान निकालने वालों ने इस का अर्थ इस प्रकार किया है:

यह पृथ्वी जल को प्राप्त हो कर अर्थात जल सहित अंतरिक्ष में आक्रमण करती है अर्थात अपनी धुरी पर घूमती है और सूर्य के भी चारों ओर घूमती है.

इस मंत्र के विषय में सब से पहले यह बताना जरूरी है कि इस अर्थ में 'आक्रमण' का अर्थ किया गया है: 'अपनी धुरी पर घूमती है' जब कि आक्रमण का अर्थ है 'हमला'. वैसे आक्रमण के अन्य भी कई अर्थ संस्कृत शब्दकोशों में मिलते हैं (देखें: आप्टे कृत स्टूडैंट्स प्रैक्टिकल संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी पृ. 75 तथा चतुर्वेदी कृत संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, पृ. 172) पर 'अपनी धुरी पर घूमती है' अर्थ कहीं नहीं मिलता. दूसरे, वेदमंत्र में वे शब्द नहीं मिलते जिन का अर्थ "सूर्य के चारों ओर घूमती है" किया गया है.

इन दोषों के कारण यह अर्थ सर्वथा त्याज्य एवं हेय है. इस मंत्र के सही अर्थ का पृथ्वी या सूर्य के घूमने व स्थिर होने से दूर का भी संबंध नहीं. इस मंत्र का देवता अग्नि है. अतः इस में अग्नि का वर्णन किया गया है. निरुक्त में कहा है कि मंत्र

रचयिता ऋषि ने जिस देवता की कृपा प्राप्त करने के लिए स्तुति की, वह उस मंत्र का देवता है–

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं
प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति.'

–7/1

इस मंत्र का देवता अग्नि होने के कारण इस में अग्नि की स्तुति की गई है. ऊपर लिखे अर्थ में भूल से भी अग्नि का नाम नहीं आया है. अतः यह अर्थ किसी प्रकार भी मान्य नहीं हो सकता. जब स्वयं वेदों में इस मंत्र को अग्नि विषयक कहा है, तब इस ऊटपटांग अर्थ को कोई सही कैसे माने?

एक पुराने भाष्यकार आचार्य उवट ने लिखा है: "यहां अग्नि की पर और अपर रूप से स्तुति कि गई है." इसी प्रकार एक दूसरे आचार्य महीधर ने लिखा है: "यहां अग्नि की पर और अपर रूप से स्तुति की गई है."

उक्त दोनों वेद-भाष्यकर्ताओं ने इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार किया है:

"इस यज्ञसिद्धि के अर्थ यजमान के घर आनेजाने वाले श्वेतरक्त आदि बहुप्रकार की ज्वालाओं से युक्त अग्नि ने सब ओर से आह्वनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के स्थानों में अतिक्रमण किया. पूर्व दिशा में पृथ्वी को प्राप्त किया और सूर्य रूप हो कर स्वर्ग में चलते अग्नि ने स्वर्ग लोक को प्राप्त किया."

–देखें: यजुर्वेद पर उवट और महीधर के भाष्य.

इस में पृथ्वी के अपनी धुरी पर और सूर्य के चारों ओर घूमने की गंध तक नहीं. अतः इन दोनों बातों को सिद्ध करने के लिए इस मंत्र को प्रस्तुत करना सरासर गलत है.

वेदों का घूमता सूर्य

जिस तरह पृथ्वी को वेदों ने खड़ी बताया है, उसी प्रकार उन में सूर्य को रथ पर सवार हो कर चलने वाला कहा गया है, जब कि प्रारंभिक स्कूल का विद्यार्थी भी यह जानता है कि सूर्य वहीं खड़ा है, सिर्फ पृथ्वी घूमती है. सूर्य विषयक कुछ वेद मंत्र देखिए:

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः,
दृशे विश्वाय सूर्यम्.

–ऋ. 1/50/1

अर्थात सूर्य प्रकाशमान है और सारे प्राणियों को जानता है. सूर्य के घोड़े उसे सारे संसार के दर्शन के लिए ऊपर ले जाते हैं.

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य.

–ऋ. 1/50/8

अर्थात दीप्तिमान और सर्वप्रकाशक सूर्य, हरित नाम के सात घोड़े रथ में तुम्हें ले जाते हैं.

अयुक्त सप्त शुंध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः.
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः.

–ऋ. 1/50/9

अर्थात सूर्य ने रथवाहिका सात घोड़ियों को रथ में लगाया. उन घोड़ियों के द्वारा सूर्य गमन करता है.

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः,
नमस्यंतो दिव आ पृष्ठमस्थुः परिद्यावापृथिवी यंति सद्यः

–ऋ. 1/115/3

अर्थात सूर्य के कल्याणकारी हरि नाम के विचित्र घोड़े इस पथ से जाते हैं. वे सब के स्तुतिभाजन हैं. हम उन को नमस्कार करते हैं. वे आकाश के पृष्ठ देश में उपस्थित हुए हैं. वे घोड़े तुरंत ही आकाश और पृथ्वी के चारों ओर परिभ्रमण कर डालते हैं अर्थात वे पृथ्वी के चारों ओर जल्दी ही चक्र लगा देते हैं.

तत्सूर्यस्य देवत्वं.., यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै.

–ऋ. 1/115/4

अर्थात जिस समय सूर्य अपने रथ से हरित नामक घोड़ों को खोलता है, उस समय सारे संसार में रात्रि अंधकार फैला देती है.

आ सूर्यो यातु सप्ताश्वः क्षेत्रं यदस्योर्विया दीर्घयाथे,
रघुः श्येनः पतयदंधो अच्छा युवा कविर्दीदयद्गोषु गच्छन्.

–ऋ. 5/45/9

अर्थात सात अश्वों का अधिपति सूर्य हम लोगों के सम्मुख उपस्थित हो, क्योंकि उसे एक कठिन रास्ते से बहुत दूर जाना होगा. वह श्येन (बाज) पक्षी की तरह शीघ्रगामी हो कर हमारे द्वारा दी गई आहुति को लेने आता है.

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश,
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ.

–ऋ. 5/47/3

अर्थात पानी बरसाने वाले, देवों को आनंद देने वाले, दीप्तिगान और द्रुतगामी सूर्य के रथ ने पूर्व दिशा में प्रवेश किया. तत्पश्चात स्वर्ग के मध्य में निहित विभिन्न वर्ण और सर्वव्यापी सूर्य अंतरिक्ष के दोनों भागों की ओर बढ़ गया और जगत की रक्षा की.

दश गर्भं चरसे धापयन्ते.

–ऋ 5/47/4

अर्थात दसों दिशाएं निज गर्भजात आदित्य (सूर्य) को दैनिक गति के लिए प्रेरित करती हैं. (हिंदी ऋग्वेद पृ. 608)

न ते अदेवः प्रदिवो नि वासते यदेतशेभिः पतरै रथर्यसि,
प्राचीनमन्यदनु वर्तते रज उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य.

–ऋ 10/37/3

अर्थात सूर्यदेव, जिस समय तुम वेगशाली घोड़े को रथ में जोत कर आकाशमार्ग से जाते हो, तब कोई भी जीव तुम्हारे पास नहीं आ पाता. तुम्हारी प्राचीन ज्योति दूसरी है जो तुम्हारे साथ रहती है. जब तुम जाते हो, तब तुम्हारी ज्योति भिन्न होती है.

इस तरह के बेशुमार स्थल अकेले ऋग्वेद से ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं, अन्य वेदों की तो बात ही छोड़िए. इन मंत्रों में वेदों का वैज्ञानिक ज्ञान (?) निहित है. वे कभी सूर्य के घोड़ों की बात करते हैं, कभी रथ की. कभी यह कहते हैं कि सूर्य के अस्त हो जाने पर सारे लोकों में (अर्थात सारी दुनिया में) रात्रि हो जाती है और कभी यह कहते हैं कि सूर्य की पुरानी रोशनी भिन्न किस्म की है तथा जब वह शाम को अस्त होता है तब उस के पास और रोशनी होती है. कभी उसे सर्वव्यापी कहते हैं.

ये सारी बचकानी बातें इस बात की सूचक हैं कि वेदों में सूर्य के विषय में जरा भी वैज्ञानिक ज्ञान नहीं है. उन्होंने केवल अनर्गल कल्पनाएं की हैं.

सूर्य की आकर्षण शक्ति

ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी वेदों में विज्ञान सिद्ध करने के दीवाने वेदों के ऐसे मंत्र पेश करते हैं जिन में उन के मुताबिक न केवल सूर्य-विषयक बल्कि उस की आकर्षणशक्ति-विषयक ज्ञान भी है जो अद्यतन ज्ञान से पूरी तरह मेल खाता है. इस उद्देश्य से यजुर्वेद का यह मंत्र प्रस्तुत किया जाता है:

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च,
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्.

–यजु. 33/43

अर्थात हे मनुष्यो, जो रमणीय स्वरूप से, आकर्षण से परस्पर संबद्ध लोकमात्र के साथ अपने भ्रमण की आवृत्ति करता हुआ सब लोकों को दिखाता हुआ प्रकाशमान सूर्यदेव जल व अविनाशी आकाशादि और मरणधर्मा प्राणी मात्र को अपनेअपने प्रदेश में स्थापित करता हुआ 'उदयास्त समय में आताजाता है' सो ईश्वर का बनाया सूर्यलोक है.

–स्वामी दयानंद सरस्वती कृत यजुर्वेद भाषाभाष्य, अ. 33, मंत्र 43

इस मंत्र का अर्थ करते हुए यद्यपि स्वामी दयानंद जी ने 'आ कृष्णेन' का अर्थ 'आकर्षण' किया तथापि शेष मंत्र का अर्थ करते हुए उन्होंने सूर्य के आनेजाने का

स्पष्ट उल्लेख किया है, जो उन के वेदों को वैज्ञानिक सिद्ध करने का उपहास करता है.

दूसरे, इस अर्थ के विषय में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि स्वामी दयानंद जी ने प्रायः सब जगह सविता का अर्थ 'परमात्मा' किया है और वेदों में किसी भी देवता का अस्तित्व नहीं स्वीकारा है. लेकिन यहां सूर्य की आकर्षण शक्ति का वेदों में वर्णन दिखाने के उद्देश्य से उन्होंने यहां सविता का अर्थ न केवल सूर्य किया है बल्कि 'सूर्यदेव' किया है.

एक अन्य व्यक्ति ने इस मंत्र से आकर्षण शक्ति के साथसाथ सूर्य को अपनी धुरी के गिर्द घूमता सिद्ध किया है, क्योंकि स्वामी दयानंद कृत अर्थ से सूर्य का आनाजाना सिद्ध होता था जो विज्ञान से एकदम विपरीत था. उक्त महाशय ने अर्थ किया है:

'प्रकाश स्वरूप सूर्य आकर्षण के साथ लोकलोकांतरों को अपनीअपनी कक्षा में स्थिर करता हुआ और सब में किरण द्वारा प्रवेश करता हुआ, पृथिव्यादि लोकों को प्रकाशित करता हुआ घूमता है.'

लेकिन यहां अर्थ परिवर्तन का प्रयास बिलकुल स्पष्ट दिखाई देता है. मूल में शब्द है—'आयाति'. इस का अर्थ होता है: 'आता है.' इस का अर्थ 'धुरी पर घूमता है' कदापि नहीं बन सकता.

जहां तक इस मंत्र में 'आकर्षणशक्ति' की बात है, उस का इस में संकेतमात्र भी नहीं है, क्योंकि 'कृष्ण' का अर्थ काला, अंधकार या रात्रि को सकता है, आकर्षण नहीं.

इस मंत्र का सही अर्थ इस प्रकार होगा, "सविता देवता अर्थात सूर्य स्वर्णमय रथ पर सवार हो कर अंधकारपूर्ण अंतरिक्ष के मार्ग में विचरण करने वाले देवताओं और प्राणियों को अपनेअपने कर्म में लगाते हुए संपूर्ण लोकों को देखता हुआ आता है."

(देखें, आचार्य गोपालप्रसाद कौशिक कृत 'यजुर्वेद' का हिंदी अनुवाद, पृष्ठ 579. 'यजुर्वेद 33/43 पर उवट कृत संस्कृत भाष्य और महीधर कृत संस्कृत भाष्य.)

चंद्रमा

चंद्रमा अप्स्वंतरा सुपर्णो धावते दिवि.

—ऋ 1/105/1

चंद्रमा के विषय में वेदों में सिर्फ इतना वर्णन आता है कि वह जलमय अंतरिक्ष में दौड़ता है (ऋ. 1/105/1). यह सर्वविदित तथ्य है, क्योंकि हर एक को चांद आकाश में दौड़ता दिखाई देता है. इस में क्या वैज्ञानिकता है? लेकिन वेदों में विज्ञान सिद्ध करने के दीवानों को इस से क्या? वे निम्नलिखित मंत्र प्रस्तुत करते हैं:

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततंथ,
तस्मै त इंदो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्.

—ऋ. 8/48/13

और कहते हैं: इस मंत्र में यह बात है कि चंद्रलोक पृथ्वी के चारों ओर घूमता है. कभीकभी वह सूर्य और पृथ्वी के बीच में भी आ जाता है.

इस मंत्र का सही अर्थ जानने के लिए जरूरी है कि इस के आगेपीछे के मंत्रों के प्रतिपाद्य विषयों का पता किया जाए. इस सूक्त के सारे के सारे मंत्र सोम नामक पौधे के गुणों का वर्णन करते हैं. इस मंत्र में भी सोम का जिक्र है: "हे सोम, तुम पितरों के साथ मिल कर द्यावापृथ्वी को विस्तृत करते हो. सोम, हवि के द्वारा हम तुम्हारी सेवा करेंगे. हम धनपति होंगे." (रामगोविंद त्रिवेदी, हिंदी ऋग्वेद, पृ. 1003).

यदि इस मंत्र में सोम का अर्थ चंद्रमा भी करें तो भी इस में इस बात का अति सूक्ष्म संकेत तक नहीं है कि चंद्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है व कभीकभी सूर्य और पृथ्वी के बीच में भी आ जाता है.

स्पष्ट है, यहां फिर वेदों के शब्दों का गला दबा कर उन से वह कुछ कहलवाने की कोशिश की गई है जो वे वास्तव में नहीं कहते हैं.

ग्रहण

वेदों में सूर्य चंद्र ग्रहण का वर्णन भी मिलता है. ग्रहण संबंधी बातें प्राइमरी स्कूल का हर बच्चा समझता है. उसे पता है कि जब चांद सूर्य और धरती के बीचोंबीच आता है तो सूर्यग्रहण लगता है और जब धरती सूर्य और चांद के मध्य आ जाती है तो चंद्रग्रहण होता है.

लेकिन वेदों में इन ग्रहणों के संबंध में जो जानकारी भरी हुई है, उसे पढ़ लेने के बाद कोई जरा सी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति भी वेदों में विज्ञान ढूंढ़ने की बात न करेगा.

सूर्य ग्रहण के बारे में ऋग्वेद का कहना है कि सूर्य को स्वर्भानु नामक असुर आ दबोचता है और अत्रि व अत्रिपुत्र उसे उस असुर से मुक्त करते हैं, तब ग्रहण समाप्त होता है:

(क) यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः,
अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः

–ऋ. 5/40/5

अर्थात हे सूर्य, जब तुम्हें स्वर्भानु नामक असुर ने अंधकार से आच्छन्न किया था तब सारा संसार ऐसे दिखने लगा था जैसे मार्ग को न जानने वाला पथिक घबरा जाता है.

(ख) यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः,
अत्रयस्तमन्वविंदन्नह्यन्ये अशक्नुवन्.

–ऋ. 5/40/9

अर्थात् असुर स्वर्भानु ने जिस सूर्य को अंधकार से ढका था, उसे अत्रिगण व अत्रिपुत्र ने मुक्त किया. अन्य कोई उसे मुक्त करवाने को समर्थ न था.

इसी प्रकार अथर्ववेद (19/9/10) में चंद्र को ग्रहण लगाने वाला राहु असुर बताया गया है.

वेदभक्त वेदों से वायुयान भी निकालने की कोशिशें करते रहे हैं. लेकिन जिस मंत्र से एक ने वायुयान निकाला है, उसी से दूसरे ने कोई और चीज. इस से उन के झूठ की कलई अपनेआप खुल जाती है.

आर्यसमाज के एक बहुत बड़े विद्वान हुए हैं–पंडित शिवशंकर काव्यतीर्थ. उन्होंने बड़ेबड़े पोथे रचे. उन की एक पुस्तक है–वैदिक विज्ञान. इस के पृष्ठ 39 पर उन्होंने यजुर्वेद (17/59) का एक मंत्र अर्थ सहित लिखा है, जो अग्रे लिखित है:

विमान एष दिवो मध्यआस्तआपप्रिवान् रोदसीअन्तरिक्षम्,
स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्.

अर्थात "आकाश के मध्य में यह विमान के समान विद्यमान है. द्युलोक, पृथिवी तथा अंतरिक्ष, मानो तीनों लोकों में भली प्रकार परिपूर्ण होता है अर्थात तीनों लोकों में इस की अहत गति है. संपूर्ण विश्व में गमन करने हारा घृत–जल अर्थात मेघ के ऊपर भी चलने हारा वह विमान अधिष्ठित पुरुष इस लोक, उस परलोक इन दोनों के मध्य में विद्यमान प्रकाश सब तरह से देखता है."

यह अर्थ लिखने के बाद वह टिप्पणी करते हुए लिखते हैं:

'यहां मंत्र में विमान शब्द स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हुआ है. इस की गति का भी वर्णन है तथा इस पर चढ़ने हारे की दशा का भी निरूपण है. अतः प्रतीत होता है कि ऋषिगण अपने समय में विमान विद्या भी अच्छी प्रकार जानते थे."

इस पर कोई टीकाटिप्पणी करने से पहले हम यहां यह सूचना देना चाहते हैं कि उक्त पंडितजी के गुरु स्वामी दयानंद जी ने, जो वेदों से योजनाबद्ध ढंग से विज्ञान निकालने वालों में शायद अग्रणी थे, इस मंत्र का जो अर्थ किया है, वह इस से बिलकुल भिन्न है. इस मंत्र का देवता अर्थात प्रतिपाद्य विषय आदित्य (सूर्य) है. स्वामी दयानंद जी ने इस का अर्थ करते हुए लिखा है:

"विद्यमान पुरुष जो (एषः) यह सूर्यमंडल (दिवः) प्रकाश के (मध्ये) बीच में (विमानः) विमान अर्थात जो आकाशादि मार्गों में आश्चर्य रूप चलने हारा है, उस के समान और (रोदसी) प्रकाश भूमि और (अंतरिक्षम्) आकाश को (आपप्रिवान्) अपने तेज से व्याप्त करता हुआ (आस्ते) स्थिर हो रहा है," इत्यादि. (यजुर्वेद, स्वामी दयानंद पृ. भाष्य, 589).

न केवल स्वामी दयानंद जी ने बल्कि दूसरे विद्वानों ने भी इस मंत्र का अर्थ सूर्यपरक लगाया है. उदाहरणार्थ, आचार्य गोपालप्रसाद कौशिक कृत अर्थ देखिए:

"संसार की रचना में समर्थ यह सूर्य स्वर्ग के बीच में स्थित है. यह अपने तेज से स्वर्ग, पृथ्वी और अंतरिक्ष तीनों लोकों को परिपूर्ण करता है," इत्यादि. (यजुर्वेद, पृ. 327).

हां, स्वामी दयानंद जी ने वेदों से वायुयान निकालने के लिए कुछ अन्य मंत्रों को पेश किया है. एक मंत्र है ऋग्वेद (1/116/3) का. उस के "न कश्चिन्ममृवां" शब्दों का अर्थ करते हुए उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (पृ. 200) में लिखा है:

(न कश्चिन्ममृऽवान्) पदार्थों की प्राप्ति और उन की रक्षा सहित हो कर दुख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषार्थी हो कर आलसी नहीं रहता. वे नौका आदि किन को सिद्ध करने से होते हैं? अर्थात जो अग्नि, वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्र गमनादि गुण और अश्वि नाम से सिद्ध हैं, वे ही यानों की धारणा और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान कर देते हैं. वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किए हुए नाव, विमान और रथ अर्थात भूमि में चलने वाली सवारियों का (ऊहथुः) जानाआना जिन पदार्थों से देशदेशांतर में सुख से होता है."

दो शब्दों का इतना लंबा व्याख्यान कर के स्वामी दयानंद जी ने सामान्य पाठक को प्रभावित करने की कोशिश की है. यहां वेद के शब्दों की व्याख्या के नाम पर वह कुछ लिख दिया है जिस का व्याख्यात शब्दों से कोई संबंध नहीं. इन शब्दों का सीधा अर्थ यह है: "जैसे कोई म्रियमाण व्यक्ति त्यागता है." इस की इतनी लंबी और बिलकुल असंबद्ध व्याख्या इस बात की सूचक है कि यह निरी खींचातानी और क्लिष्ट कल्पना है.

ऐसे ही उन्होंने ऋग्वेद (1/116/4) के एक दूसरे मंत्र के "समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे अति व्रजद्भिः" का अर्थ करते हुए लिखा है: "(समुद्र) सागर (धन्वन्), आकाश और भूमि के पार नौका, विमान और रथ कर के (व्रजद्भिः) सुखपूर्वक पार जाने में असमर्थ होते हैं."

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. 201, 1892 ई. संस्करण).

इस मंत्रार्थ में भी 'धन्वन्' शब्द का अर्थ 'आकाश' किया गया है जो निराधार है. वैदिक कोश (पृ. 214) में स्पष्ट लिखा है कि 'धन्वन्' शब्द वेदों में 'धनुष' और 'मरुस्थल' के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है. वहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि समुद्र के धन्वन् (मरुस्थल) का भी वेदों में उल्लेख है. यहां उसी समुद्री मरुस्थल की बात कही गई है. उपरिलिखित पंक्ति का सही अर्थ यह बनेगा:

"अर्ध सागर के मरुस्थल में लाए थे."

लेकिन स्वामी दयानंद जी ने यहां 'धन्वन्' का अर्थ अपने तौर पर आकाश कर के, विमान शब्द अपनी ओर से फालतू जोड़ दिया.

क्या कोई बता सकता है कि उक्त पंक्ति के किस शब्द का अर्थ 'विमान' बनता है?

ऋग्वेद के हिंदी रूपांतरकार पं. रामगोविंद त्रिवेदी का कथन उचित प्रतीत होता है जब वह यह कहते हैं कि ऋग्वेद में विमान, वायुयान व आकाशयान का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है. (हिंदी ऋग्वेद, भूमिका, पृ. 56).

तार विद्या

वेदों के विज्ञान संबंधी विमर्श को समाप्त करने से पहले एक विषय की और चर्चा करना चाहूंगा. यह विषय है–तार विद्या. तार विद्या के नाम से स्वामी दयानंद जी ने बिजली, बिजली के तार और टेलीग्राम (तार) सभी को वेदों से सिद्ध करना चाहा है. उन्होंने अपनी पुस्तक ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (पृ. 209-210) में ऋग्वेद (1/119/10) का एक मंत्र अर्थ सहित लिखा है, जो इस प्रकार है:

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः,
शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्.

(पेदवे) अर्थात वह अत्यंत शीघ्र गमनागमन का हेतु है. (पुरुवारम्) अर्थात इस तार विद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं. (स्पृधाम्) अर्थात लड़ाई करने वाले जो राजपुरुष हैं, उन के लिए यह तार विद्या अत्यंत हितकारी है. (श्वेतम्) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिए. (अभिद्युम्) और विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिए. (पृतनासु दृष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिस का दुःसह प्रयोग होता है, और उल्लंघन करना अशक्य है. (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के बारबार चलाने के योग्य होता है. (शर्यैः) अनेक प्रकार की कलाओं के चलाने से उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिए विद्युत की उत्पत्ति कर के उस का ताड़न करना चाहिए. (तरुतारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य (तार नामक) यंत्र है, उस को सिद्ध कर के प्रीति से सेवन करो.

(पेदवे) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों को विजय के लिए तार विद्या सिद्ध करनी चाहिए. (इंद्रमिव) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य करता है, वैसे ही तार यंत्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है.

सही अर्थ क्या है?

इतना लंबा अर्थ पढ़ना सामान्य पाठक को अरुचिकर लग सकता है, लेकिन इसे पढ़ कर यह बात अवश्य स्पष्ट हो जाएगी कि यह मंत्रार्थ कितनी खींचातानी का परिणाम है.

'पेदवे' शब्द का दो बार अर्थ इस में लिखा गया है, लेकिन दोनों अर्थों का आपस में कोई संबंध नहीं. 'श्वेतम्' का सीधा अर्थ होता है–सफेद, पर यहां अर्थ किया गया है–"वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिए."

ऐसे ही 'तरुतार' शब्द में 'तार' शब्द देख कर इस का अर्थ कर दिया–तार नामक यंत्र, जब कि संस्कृत में तार शब्द का अर्थ धातु का बनाया सूत्र या धागा है, टेलीग्राम न कभी था और न अब है.

स्वामी दयानंद जी ने वैसे तो वेदों के मंत्रों के शब्दों के उन अर्थों को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार किया है जो परंपरा से प्रसिद्ध थे, लेकिन यहां वेदों से तार विद्या सिद्ध

करने के स्वार्थवश उन्होंने शब्दों के वे अर्थ स्वीकार कर लिए हैं जो न उन के द्वारा स्वीकृत यौगिक अर्थ हैं और न परंपरागत. तार शब्द का अर्थ धातु का सूत्र या टेलीग्राम तो एकदेशी अर्थ है. इस तरह की शाब्दिक कलाबाजियों से वेदों से विज्ञान नहीं निकल सकता.

इस टीकाटिप्पणी के बाद यह जिज्ञासा बनी रहती है कि इस मंत्र का सही अर्थ क्या है? इस का सही अर्थ है:

"अश्विद्वय, तुम ने पेदु राजा को बहुजन वांछित और शत्रु पराजयी शुभ्रवर्ण अश्व दिया था. वह अश्व युद्धरत, दीप्तिमान, युद्ध में अपराजेय, सारे कार्यों में संयोज्य और इंद्र की तरह मनुष्य-विजयी है." (हिंदी ऋग्वेद, पृ. 177).

वेदों से विज्ञान निकालने वाले लोग यजुर्वेद के अध्याय 17 का 67वां मंत्र पेश करते हुए कहा करते हैं कि वेदों में न सिर्फ विमान थे बल्कि तब सूर्यलोक तक जाने वाले बहुत जबरदस्त राकेट भी हुआ करते थे.

यह डींग भी उतनी ही थोथी है जितनी दूसरे आविष्कारों संबंधी हैं. उक्त मंत्र इस प्रकार है:

पृथिवयाअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्,
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम्.

अर्थात मैं पृथ्वी से अंतरिक्ष में पहुंचा हूं और अंतरिक्ष से स्वर्ग के लिए गया हूं. मैं स्वर्ग के कल्याणमय पृष्ठदेश पर विद्यज्योतिमंडल को प्राप्त हुआ हूं.

इस मंत्र में दरअसल विज्ञान वाली कोई बात नहीं. इस मंत्र का देवता अर्थात प्रतिपाद्य विषय अग्नि है. यजुर्वेद के उवट और महीधर रचित संस्कृत भाष्यों तथा कात्यायन श्रौत सूत्रों से पता चलता है कि यह और इस के आगेपीछे के मंत्र (चिति) अग्नि से संबंधित हैं.

पहले मंत्रों में पुरोहित और यजमान से कहा गया है कि वे ओखली में प्रतिष्ठित अग्नि को हाथों में ले कर स्वर्ग को जाएं और वहां देवताओं में रहें. बाद के इस मंत्र में यजमान कहता है कि मैं पृथ्वी से ऊपर अंतरिक्ष में और स्वर्ग में पहुंच गया हूं.

इस से अगले मंत्र में इस प्रकार के अनुष्ठान करने का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि जो विद्वान सारे संसार को धारण करने वाले यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, वे समस्त शोकों से शून्य स्वर्ग में भ्रमण करते हुए प्रसन्न होते हैं. (यजुर्वेद, 17/68).

बचकाना संवाद

इस से स्पष्ट है कि प्रस्तुत मंत्र यज्ञ का एक अंग है, न कि अंतरिक्ष में घूमने वाले राकेट के अस्तित्व का सूचक. इस मंत्र द्वारा स्वर्ग में घूमने का अहसास करवाने के लिए पुरोहित यजमान को एक तरह से स्वसुझाव देता है. वैसे यह उस से भी नीचे की चीज है. पहले पुरोहित कहता है, "तुम स्वर्ग में जाओ," यजमान कहता है, "मैं स्वर्ग में चला गया हूं." यह 'स्वसुझाव' की अपेक्षा बचकाना संवाद ज्यादा है.

इसीलिए वेदों से विज्ञान निकालने वालों के आदि आचार्य स्वामी दयानंद जी ने

इस से किसी राकेट को सिद्ध करने की कोशिश नहीं की. वैसे इस का कारण यह भी हो सकता है कि उन दिनों राकेट नाम की कोई चीज थी ही नहीं. होती तो शायद वे इस मंत्र का अर्थ और तरह से करते.

स्वामी दयानंद जी ने जो अर्थ किया है वह न केवल राकेट सिद्ध नहीं करता बल्कि उस का संदर्भ और शब्दार्थों से कोई संबंध प्रतीत नहीं होता. उन्होंने लिखा है कि योग और समाधि में सिद्ध हो कर मैं अंतरिक्ष और सूर्यलोक में जाऊं; जब कि मूल में न योग और समाधि का कोई उल्लेख है और न क्रिया ही अभिलाषात्मक है.

उद्‌देश्य विशेष से प्रेरित

वेदों से विज्ञान निकालने का एक बहुत प्रचलित तरीका है, कुछ विशेष शब्दों के अपने ढंग से बिजली, चुंबक या स्नायु संस्थान संबंधी अर्थ करना. इस प्रकार अर्थ करने वाले लोग आधुनिक विज्ञान के सिद्धांतों को पढ़ कर उन्हें वेदों के शब्दों के मनमाने अर्थ कर के उन में सिद्ध करते हैं. उन द्वारा किए अर्थ वेदों के वास्तविक अर्थ न हो कर आरोपित अर्थ हैं, जो उद्‌देश्य विशेष से प्रेरित हो कर किए जाते हैं.

इस का सब से प्रबल प्रमाण यह है कि जिस शब्द का एक व्यक्ति बिजली संबंधी अर्थ करता है, उसी से दूसरा स्नायु संस्थान संबंधी अर्थ निकालता है, जिस से एक गैसों से संबंधित अर्थ निकालता है, दूसरा उसी से सामाजिक व राजनीतिक अर्थ निकालता है.

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए नीचे तीन सूचियां दी जाती हैं. ये उन विद्वानों की पुस्तकों से संगृहीत हैं जो वेदों से विज्ञान निकालने के प्रबल उद्‌देश्य से प्रेरित हैं.

यह सूची स्वामी दयानंद सरस्वती के यजुर्वेद भाष्य से संगृहीत है.

इंद्रः अन्याय को दूर करने वाला सभापति, समस्त अविद्या को नाश करने वाला अध्यापक, बिजली रूप अग्नि, सेनापति, अन्नदाता, सज्जन पुरुष, उत्तम ऐश्वर्य, परमात्मा.

वरुणः सब से उत्तम, उदान वायु के तुल्य विद्वान, शत्रुओं को मारने वाला विद्वान सेनापति.

सोमः शांतिगुण वाला पदार्थ व मनुष्य, संपूर्ण ऐश्वर्य को देने वाला, ऐश्वर्ययुक्त विद्‌वान.

मित्रः प्राण, प्राण के तुल्य प्रिय मित्र, हितकारी.

रुद्रः प्राण आदि वायु, दुष्टों को रुलाने वाला वीर, युद्ध की सेना के अधिकारी विद्वान पुरुष, रोगनाशक वैद्य.

अश्विनीः प्राण अपान के तुल्य कार्य-साधक स्त्री पुरुष.

विष्णुः व्यापक ईश्वर, संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाला परमात्मा.

सूर्यः विद्या रूप ऐश्वर्य के उत्पादक, चराचर के अंतर्यामी ईश्वर.

बृहस्पतिः बड़े लोगों के रक्षक, सूर्य, राज्य का रक्षक राजपुरुष.

पूषाः पुष्टिकारक सूर्य, पृथ्वी.

अग्निः प्रसिद्ध सूर्य रूप अग्नि, योगी जन, विद्वान, बिजली, विद्वान सभापति.
मरुतः वायु.
वैश्वानरः सब मनुष्यों का हितकारी.
मित्रावरुणः प्राण और उदान के तुल्य राजा प्रजाजनों का.

यह सूची श्री रैने द्वारा रचित 'वैदिक गाड्स' पुस्तक से संगृहीत है.

पूषाः छोटा दिमाग.
इंद्रः बड़ा दिमाग.
मरुतः दिमाग की नाड़ियां—तंतु.
पर्जन्यः बाह्य संस्कारों से प्रतिबिंबित प्रेरणा.
उषाः हृद् और श्वासप्रश्वास का केंद्र.
विष्णुः रीढ़ के अंदर की सुषुम्ना.
इंद्रः ज्ञान तंतुओं का एक समूह.
रुद्रः ज्ञान तंतुओं का एक समूह.
सूर्यः मुख्य प्रेरक ज्ञान तंतु.
अग्निः अनुभव करने वाला मुख्य ज्ञान तंतु समूह.
अदितिः मध्यवर्ती प्रेरक.
बृहस्पतिः वाणी का केंद्र.

यह सूची हंसराज अग्रवाल की पुस्तक 'साइंस इन द वेदज' से संगृहीत है.

वरुणः	हाइड्रोजन.
अप्सराः	बिजली.
वसिष्ठः	पानी.
मित्रः	आक्सीजन.
उर्वशीः	बिजली.
मित्रावरुणः	बिजली के दो भेद.
अश्विनीः	बिजली के दो भेद.
इंद्रः	बिजली के दो भेद.
वैश्वानरः	वायुमंडल में विद्यमान आग.
अदितिः	मूल प्रकृति.
नारदः	बादल.
ऐरावतः	बादल.
गंधर्वः	बादल.
ब्रह्मः	धनध्रुव.
मित्रः	धनध्रुव.
अग्निः	धनध्रुव.
क्षत्रः	ऋणध्रुव.

वरुणः ऋणध्रुव.
सोमः ऋणध्रुव.

संक्षेप में हम कह सकते है कि वेदों में विज्ञान की वे बातें तक नहीं हैं जो आज पांचवीं कक्षा का विद्यार्थी भी जानता है, और जो कुछ आधुनिक आविष्कार वेदों में दर्शाने का प्रयास किया है, उस में ईमानदारी की अपेक्षा आरोपित व्याख्याओं की प्रधानता है, जिन से सब समयों के लिए सब लोगों को भरमाया नहीं जा सकता.

वेदों में विज्ञान
आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर

मेरे लेख 'वेदों में विज्ञान' पर कुछ प्रतिक्रियाएं प्राप्त हुई हैं. इन में दो हस्तलिखित पत्र हैं और एक मासिक पत्र में प्रकाशित पत्र है. उन में से एक में हिंदी की 19 गलतियां हैं और दूसरे में 27. समझ में नहीं आता कि जिन लोगों को शुद्ध हिंदी भी लिखनी नहीं आती, वे संस्कृत के ग्रंथों के महापंडित होने का कैसे दम भरते हैं और उन की प्रतिरक्षा में हाथपैर क्यों मारते हैं!

उन्होंने जो मुद्दे उठाए हैं वे यद्यपि वही हैं जिन्हें आम हिंदू अपने धर्म ग्रंथों को बिना पढ़े, रामलीला के कुछ दृश्यों व घर में सुनी कथाकहानियों के आधार पर इकट्ठे किए शास्त्रज्ञान के बल पर अकसर उठाया करते हैं, तथापि यह जरूरी है कि उन मुद्दों की तर्क और धर्म ग्रंथों के संदर्भ में परीक्षा की जाए ताकि सामान्य नागरिक अज्ञान के आनंद लोक से निकल कर सही दृष्टिकोण अपना सकें.

एक महोदय लिखते हैं कि वेदों की मूल प्रतियां विदेशों में हैं. हमारे पास जो प्रतियां हैं, वे असली नहीं. वह मुझ से पूछते हैं कि क्या मैं ने, वे मूल प्रतियां पढ़ी हैं?

यह मिथ्या विश्वास है कि असली प्रतियां विदेशों में है. भारत के बहुत से पुस्तकालयों में ताड़ व भोज के पत्रों पर वेदों की मूल प्रतियां मिलती हैं, और यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि सन 1779 में पहली बार विदेशियों को वेदों की एक प्रति मिली थी. यह प्रति तत्कालीन महाराजा जयपुर ने अपने पंडित से जंचवा कर कर्नल पोलियर को दी थी जो लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है. उस के लगभग 125 वर्ष बाद सन 1889 में ए. ए. मैक्डानल ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' में लिखा: "हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथों की पांडुलिपि तैयार करने की प्रथा आज भी भारत के सैकड़ों ग्रंथागारों में है, हालांकि इस शताब्दी में मुद्रण की पर्याप्त व्यवस्था है. आज भी वेद ठीक उसी तरह कंठस्थ किए जाते हैं जैसे सिकंदर के आक्रमण से पूर्व किए जाते थे. अतः आज वेद की प्रत्येक हस्तलिखित अथवा मुद्रित प्रति के नष्ट हो जाने पर भारत के वेदपाठी सब वेदों का मौखिक पाठ कर सकते हैं." (पृष्ठ 6)

'हैरिटिज आफ इंडिया' नामक पुस्तक में पृ. 93-94 पर मैक्समूलर ने लिखा है: "आज के युग में यदि ऋग्वेद का प्रत्येक हस्तलिखित ग्रंथ नष्ट हो जाए तो भी हम

इसे भारत के श्रोत्रिय ब्राह्मणों की स्मृति के आधार पर पूरा प्राप्त कर सकते हैं. ये नैसर्गिक परंपरागत छात्र वेद को पढ़ कर स्मरण कर लेते हैं और अपने गुरु के मुख से ही पढ़ा करते हैं, न कि किसी हस्तलिखित प्रति से या मेरे द्वारा छापे हुए संस्करण से. इस प्रकार पढ़ कर वे अपने शिष्यों को पढ़ाते हैं.

"आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में मेरे पास ऐसे छात्र रहे हैं जो न सिर्फ इन सूक्तों को ही दोहरा सकते थे, अपितु इन की मूल स्वर सहित (बिना पुस्तक के) आवृत्ति करते रहे हैं. इतना ही नहीं, जब उन्होंने मेरे छपे हुए संस्करण देखे तो उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के उस में अशुद्धियां बता दीं...पूरा ऋग्वेद तथा कुछ इस से भी अधिक (शिक्षादि) आज के समय में भी बहुत से वेदपाठियों को कंठस्थ हैं, जिसे यदि वे चाहें तो प्रत्येक अक्षर को नियत स्वर के साथ लिख सकते हैं जैसा कि हम पांडुलिपि में पाते हैं."

ऐसे में यह कहना बिलकुल गलत है कि हमारे वेद असली नहीं. दूसरे, यदि ये असली नहीं हैं तो फिर इन की महानता की डींगें क्यों मारी जाती हैं?

कहा जाता है कि यूरोप ने हमारे शास्त्रों से ही सारा विज्ञान सीखा है.

यह बात सही नहीं. डा. वी. राघवन ने अपनी पुस्तक 'इंडोलाजिकल स्टडीज़ इन इंडिया' में लिखा है कि आधुनिक युग में विदेशियों द्वारा भारतीय साहित्य आदि के अध्ययन की शुरुआत विलियम जोनस के द्वारा 1784 ईसवी में की गई. स्पष्ट है कि 1784 ईसवी से पूर्व तक हमारे शास्त्रों का ज्ञान पूर्णतया हम तक ही सीमित था, और हम ही इन शास्त्रों के ज्ञाता, व्याख्याता व भाष्यकार थे. यदि वास्तव में इन शास्त्रों में कोई विज्ञान था तो 1784 ईसवी तक के हमारे ज्ञात इतिहास में उस का परिचय क्यों नहीं मिलता?

दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाए कि यूरोप ने हमारे शास्त्रों से वास्तव में विज्ञान ग्रहण किया तो भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि उन का अध्ययन तो उन्होंने हमारे पास ही किया था. यदि दो सदियों में ही वे लोग शास्त्रों से इतना कुछ निकाल सके हैं तो हम हजारों सालों में इस का शतांश भी क्यों नहीं निकाल पाए? यूरोप में वैज्ञानिक आविष्कारों के जन्म से पहले हमारे यहां इन शास्त्रों के विद्वानों ने इन के आधार पर कितने रेडियो, टेलीफोन, राकेट, टेलीविजन, अणु बम, टेप रिकार्डर, फ्रिज, हवाई जहाज, अंतरिक्ष यान आदि बनाए थे?

ईसा पूर्व तीन चार सौ साल से ले कर 1784 ईसवी तक का (एवं आज तक का) हमारा ज्ञात इतिहास इन में से एक भी उदाहरण पेश नहीं करता. स्थिति यहां तक पिछड़ी हुई रही है कि हमारे यहां कागज बनाने और छपाई करने तक का ज्ञान नहीं था, अन्यथा हमारे ग्रंथ पेड़ों की छालों या उन के पत्तों पर न लिखे जाते. जो समाज एक साधारण छपाई की मशीन, कपड़ा सीने की मशीन और साइकिल नहीं बना सका उस के लिए यह कहना कि वहां विज्ञान उच्च शिखर पर था केवल शेखचिल्लीपना है. ऐसे में यही कहना होगा कि यह बात शत प्रतिशत गलत है कि यूरोप ने हमारे शास्त्रों से ही समग्र विज्ञान ग्रहण किया है.

तीसरे, जिन वैज्ञानिकों ने आश्चर्यजनक एवं सुविधाजनक आविष्कार किए, उन में से कोई भी संस्कृत व शास्त्रों का ज्ञाता नहीं था. इसी से उन के द्वारा हिंदू शास्त्रों से विज्ञान के सिद्धांत उधार लेने की संभावना समाप्त हो जाती है. उस के ठीक विपरीत, कुछ अपवादों को छोड़ कर, किसी भी शास्त्राचार्य का दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं रहा. शास्त्रवादी लोग प्रायः अंधविश्वासों की उमर बढ़ाने वाले और नए अंधविश्वासों को पैदा करने वाले सिद्ध हुए हैं. उन्होंने इस बात का प्रचार कर के कि प्राचीन काल के ऋषि सब कुछ जानते थे और वे सब कुछ कर गए हैं, जनता को वैज्ञानिक क्षेत्र की ओर कदम ही नहीं बढ़ाने दिया. इस तरह शास्त्रवादी विज्ञान-विरोधी सिद्ध हुए. इसीलिए भारतीय नवजागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय संस्कृत शिक्षा का ही विरोध किया करते थे.

कुछ लोगों का मत है कि हमारे यहां विज्ञान तो परमोच्च कोटि का था, लेकिन महाभारत के युद्ध में सभी कुछ नष्ट हो गया. अतः उस के बाद हम विज्ञान के ज्ञान से शून्य हो गए, हमारी वैज्ञानिक पुस्तकें नष्ट हो गईं.

यह तर्क भी ठीक नहीं. हां, इस से यह कहना कि विदेशियों ने हमारे शास्त्रों से विज्ञान ग्रहण किया, अवश्य एकदम गलत और कालक्रम-विरोधी सिद्ध होता है. प्रश्न उठता है कि जब सब वैज्ञानिक पुस्तकें 'हजारों वर्ष पूर्व' नष्ट हो गई थीं, तब विदेशी कौन सी पुस्तकें ले गए थे जिन से 18वीं सदी के बाद उन्होंने कथित विज्ञान चुराया?

पहली बात दूसरी के उलट है और दोनों ही इतिहास-विरुद्ध हैं. ऐसे में यही स्वीकारना पड़ता है कि आधुनिक विज्ञान हमारे शास्त्रों से नहीं उपजा.

एक महाशय गंगा की महानता बताते हुए कहते हैं कि इस का पानी शीशी में बंद रखने पर वर्षों तक भी खराब नहीं होता.

इस में वेदों या प्राचीन भारतीय विज्ञान की क्या करामात है? इसे न कोई सिद्ध कर सकता है और न ही उस महाशय ने किया है. गंगा के पानी में कुछ ऐसे प्राकृतिक तत्त्व हैं जो दूसरे नदीनालों के पानी में कम मिलते हैं. लेकिन इस से यह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि गंगाजल सब तरह के कीटाणुओं को मार सकता है, जैसा कि प्रायः दावा किया जाता है. यदि इस कथित दावे में जरा भी सच्चाई होती तो गंगा के किनारों पर खासकर और सारे देश में आम तौर पर कोई व्यक्ति गंगाजल के सिवा अन्य किसी दवाई का प्रयोग न करता. असलियत यह है कि गंगा का पानी हर रोज पीने वाले लोग भी तरहतरह के कीटाणुओं से उपजी बीमारियों से पीड़ित होते हैं और उन कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए ऐसी दवाइयों का प्रयोग करते हैं जो गंगाजल से नहीं बनी होतीं.

वैज्ञानिकों का मत है कि नदियों का वह पानी नहाने और पीने के योग्य होता है जिस में बायोकैमिकल आक्सीजन डिमांड (बी.ओ.डी.) तीन इकाइयों से ज्यादा न हो. पर वैज्ञानिकों ने गंगा के पानी का विभिन्न स्थानों पर जो विश्लेषण किया है उस

से स्पष्ट है कि गंगा का प्रदूषित पानी इस्तेमाल करना थोड़ाथोड़ा विष खाने के समान है, क्योंकि हरिद्वार, नरौरा, कन्नौज, इलाहाबाद और वाराणसी में गंगा के पानी में बी.ओ.डी. की सात इकाइयां पाई गई हैं और कानुपर में दस.

स्पष्ट है कि गंगा का प्रदूषित पानी रोगाणुओं को मारने के स्थान पर अब स्वस्थ व्यक्तियों को मारने की राह पर चला हुआ है!

पृथ्वी की गतियों का वर्णन

वही महाशय आगे लिखते हैं कि वेदों में पृथ्वी की गतियों का वर्णन है (उन के नाम व वेदों में उन का उल्लेख कहां है, इस का कोई संकेत नहीं दिया है) जब कि आज तक विज्ञान सिर्फ तीन गतियों का पता लगा पाया है, और वह तीसरी गति है–कंपन गति, जिस में पृथ्वी का अक्ष (कीली) गति करता है. इस के समर्थन में उन्होंने ऋग्वेद के उन मंत्रों को प्रस्तुत किया है जिन्हें हम ने पृथ्वी के अचल होने के प्रमाण के रूप में पेश किया था.

उन मंत्रों में कहा गया है कि जिस ने 'कांप रही पृथ्वी को स्थिर किया'. यही अर्थ उन्होंने भी माना है. अब देखना यह है कि जिस मंत्र में कंपन को भूतकाल में स्थिर करने की बात कही गई हो, उस से आज भी मौजूद कही जाने वाली कंपन गति का अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है? उस से तो पृथ्वी की दैनिक और वार्षिक गतियों का भी अस्तित्व मिट जाएगा.

दूसरे महाशय न तीसरी गति को मानते हैं और न पूर्वोक्त अर्थों को, क्योंकि उन्हें पता है कि उन्हें मान लेने पर पृथ्वी अचला सिद्ध हो जाएगी. अतः वह 'दृढा' शब्द का अर्थ 'स्थिर' न कर के 'धारण किया' करते हैं, जो निरी खींचातानी है.

वैसे तीसरी गति वाली बात बिलकुल बेबुनियाद है, क्योंकि असल में 'पृथ्वी का अक्ष' नाम की कोई चीज ही नहीं है. लगता है इन महाशय के दिमाग में बचपन में देखी वह तसवीर है जिस में बच्चों को समझाने के लिए एक गेंद के बीच कील ठोंक कर घुमाया जाता है और बताया जाता है कि पृथ्वी ऐसे अपने अक्ष के गिर्द घूमती है. जब असल में अक्ष नाम की कोई चीज है ही नहीं, तब उस के घूमने की बात करने में क्या तुक?

दूसरे महाशय लिखते हैं कि वेदों में सूर्य स्थिर है. उस के घोड़ों का अर्थ किरणें हैं. सूर्य में आनेजाने की जो बात वेदों में आई है, उस का आलंकारिक अर्थ है. उन्हें हमारे अर्थों पर आपत्ति है, जिस से सूर्य का घूमना–आनाजाना– सिद्ध होता है.

इस के उत्तर में हम इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि वेदों के समकालीन या कुछ ही बाद में रचे गए उन की व्याख्या करने वाले ब्राह्मण ग्रंथों में भी सूर्य को चलताफिरता कहा गया है. ऐतरेय ब्राह्मण (3/44) में कहा गया है:

> स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति. तं यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते, रात्रिमेवाधस्तात् कुरुते अहः परस्तादथ यदेनं

प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवाधस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात् स वा एष न कदाचन निम्नोचति.

अर्थात यह सूर्य वास्तव में न तो अस्त होता है और न उदित. जब लोग ऐसा सोचते हैं कि सूर्य अस्त होता है तब होता यह है कि वह दिन के अंत में पहुंचता है और उलटा हो जाता है. तब वह नीचे रात्रि बनाता है और ऊपर दिन. जब लोग ऐसा सोचते हैं कि प्रातः सूर्य उदित होता है, तब उस का अर्थ यह है कि वह रात्रि के अंतिम रूप में पहुंच कर उलटा हो जाता है. तब नीचे दिन बनाता है और ऊपर रात्रि. वह वास्तव में कभी अस्त नहीं होता.

इस स्थल का संदर्भ दे कर बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के प्रकाशन 'वैदिक कोष' (पृष्ठ 565) में कहा गया है: "ऐतरेय ब्राह्मण (3/44/4) में सूर्य के मार्ग का एक सुंदर वर्णन है. सूर्य को इस ब्राह्मण ने एक ही ओर प्रकाशमय माना है. इस प्रकाशमय भाग को पृथ्वी की ओर कर के पूर्व से पश्चिम की ओर वे जाते हैं; किंतु रात में जब उसी मार्ग से पूर्व की ओर लौटते हैं तब उन का प्रकाशमय भाग तारों की तरफ होता है, जिस से तारे चमकने लगते हैं और धरती पर अंधेरा हो जाता है."

एक दूसरे ब्राह्मण ने लिखा है:

'स वा एषोऽपः प्रविश्य वरुणो भवति'

–कौषीतकि ब्रा. 18/9

अर्थात सूर्य पानी में प्रविष्ट हो जाता है और वरुण कहलाता है.

शतपथ ब्राह्मण (14/3/1/17) में कहा गया है कि सूर्य गोल न हो कर चतुष्कोण है:

एष वै चतुः स्रक्तिर्य एष तपति.

स्पष्ट है कि वेदों के रचनाकाल से ही सूर्य-विषयक मंत्रों के अर्थों में उसे चलताफिरता और यात्रा करता हुआ माना गया है. इन्हीं अर्थों को हजारों सालों से सही माना गया है. आधुनिक वैज्ञानिक जगत में वेदों की अवैज्ञानिक बातों पर परदा डालने के लिए जो अर्थ परिवर्तन किया जाता है, उसे जनता को धोखा देने का बेईमानीपूर्ण प्रयास ही मानना होगा.

वेदों में विज्ञान की क्या स्थिति है, इस पर वेदों के एक पाश्चात्य विद्वान मैक्समूलर ने कहा है: "वेदों में वाष्प इंजन, बिजली, यूरोपीय दर्शन और नैतिकता खोजना उन्हें उन के असली स्वरूप से वंचित करना है."

स्वामी विवेकानंद ने इस विषय में कहा है: "ऋषिमुनि भौतिक विज्ञान से प्रायः कोरे हैं, क्योंकि वे गलत पुस्तक पढ़ते हैं–अंदर की पुस्तक पढ़ते हैं."

आर्यसमाज के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक विद्वान डा. सत्यप्रकाश डी. एससी. ने आर्यसमाज के साप्ताहिक 'आर्योदय' (मार्च 20, 1966) में जो विचार प्रकट किए हैं, वे वेदों से विज्ञान निकालने वालों को सदा ध्यान में रखने चाहिए. उन्होंने लिखा है:

"जो ज्ञान विकास के किसी ऐतिहासिक युग में जाना गया है, उसे वेदों के नाम मढ़ना खतरनाक है. वेदों में रेडियो, ट्रांजिस्टर, जेट वायुयान, पेनिसिलीन, सलफा दवाइयां और भौतिक तथा जीवविज्ञान या तकनीक के क्षेत्रों की उपलब्धियां ढूंढ़ना वेदों से ज्यादती करना है."

वेदों में विज्ञान के दावे का भंडा फोड़ते हुए प्रसिद्ध वैदिक विद्वान सत्यव्रत सामश्रमी ने जो कुछ कहा है, उस का वर्णन करते हुए राहुल सांकृत्यायन अपने अदांज में लिखते हैं:

''सत्यव्रत सामश्रमी कलकत्ता के संस्कृत के एक अच्छे पंडित थे–खास कर वेद की संस्कृत (छंदस्) में उन की योग्यता बहुत ऊंची मानी जाती थी. गुरुकुल कांगड़ी वालों ने एक बार अपने जलसे में उन्हें किसी परिषद् का सभापति बना कर बुलाया. सामश्रमीजी ने वेदार्थ पर स्वामी दयानंद और 'निरुक्त' की प्रशंसा करते हुए एक सारगर्भित भाषण दिया. आर्यसमाज के उस वक्त के टुटपुंजिए विद्वानों पर उस का क्या प्रभाव पड़ा, यह तो नहीं कहा जा सकता. किंतु, तीन तरुण संस्कृतज्ञों पर उस का इतना असर पड़ा कि वह सामश्रमी के गिर्द गुड़ की मक्खी बन गए. सामश्रमी अपनी वेदज्ञता को आर्यसमाज के वातावरण में जिस तल तक पहुंचा चुके थे, उस से पीछे उतरना उन के लिए मुश्किल था. तल से उतरने का सवाल तो दूर वहां 'हां' 'हां' में वह कुछ सीढ़ी और ऊपर टंग गए. तीनों तरुणों ने आग्रहपूर्वक कहा, "गुरुजी, इस ज्ञान को फैलाइए."

"फैलाने की तो मुझे भी अत्यंत इच्छा है. मैं भी बाज वक्त चिंता में पड़ जाता हूं कि कहीं इतने परिश्रम से उपार्जित यह वेदविद्या मेरे साथ ही न चली जाए. लेकिन, अधिकारी शिष्य मिलें तब न?" ठीक उपनिषद् के ऋषियों के स्वर में इस बात को–शब्द नहीं, बात ही कहूंगा; क्योंकि वहां भाषण सारा संस्कृत में हो रहा था–सुन कर तीनों शिष्य गद्गद हो गए और उन्होंने सारी परीक्षाएं दे, गुरु को अपनी सेवा से प्रसन्न कर, भगवती वेदविद्या के ग्रहण करने का पक्का इरादा प्रकट किया.

सामश्रमीजी तीनों नए रंगरूटों को ले कर कलकत्ता पहुंचे. कुछ दिनसप्ताह तो ऐसे ही बातचीत, सत्संग में ही चले गए. फिर पढ़ाई शुरू हुई. आर्यसमाजी शिष्यों ने समझा था कि गुरुजी ऐसी कुंजी बतलाएंगे, जिस में यदि सारे साइंस वेद में न झलकने लगें, तो कम से कम जगहजगह जो वेदों में इतिहास–देशों, नदियों, राजाओं, रानियों, ऋषियों, ऋषिकाओं के नाम तथा वृत्त –मिलते हैं, और जिन की वजह से वेद को दो अरब वर्ष पहले ले जाना संभव नहीं, इस का तो कोई समाधान निकल आएगा.

सामश्रमीजी शिष्यों के अभिप्राय को समझते थे; इसलिए पहले बचते हुए उन्होंने पाठ पढ़ाना शुरू किया; किंतु शिष्य कोई दुधमुंहे बच्चे न थे. अंत में उन्होंने यह कह कर पाठ कुछ दिनों के लिए बंद रखा कि इस तरह के गहन वेदार्थ के लिए गुरु को भी कुछ साधना करनी पड़ती है. एक दिन गुरु ने तोंद खोले आसन पर पद्मासन मार शिष्यों का आवाहन किया. शिष्य प्रसन्न हो सामने जा मौजूद हुए. वेदार्थ शुरू हुआ. एक मंत्र पर पहुंच, अर्थ कुछ इस तरह का हुआ, जिस से वेद की

अनित्यता का ही डर नहीं हो गया, बल्कि वैदिक ऋषि के मुंह से निकली ऊटपटांग बात पकड़ी गई. शिष्यों ने बहस करते हुए कहा–"ऋषि हो कर ऐसी गलत बात क्यों कही?"

सामश्रमीजी ने चट अपनी तोंद पर हाथ फेरते हुए कहा–"इसी के लिए, उन के पास भी यह (पेट) मौजूद था."

तीनों शिष्यों के दिल को भारी धक्का लगा, इस में शक नहीं; किंतु सामश्रमीजी की बात सोलहों आने सच थी, (राहुल सांकृत्यायन, वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ. 66-67)

डा. राधाकृष्णन वेदों में विज्ञान के होने का आग्रह करते थे और पं. सामश्रमी की सत्योक्ति के लिए निंदा. अतः राहुलजी ने उन की और सामश्रमीजी की योग्यता की तुलना करते हुए टिप्पणी की है–"इस में राधाकृष्णन को छोड़ किसी को भी संदेह नहीं हो सकता. सामश्रमीजी में वह योग्यता थी, जिस से वह हारिद्रुमत गौतम, सत्यकाम जाबाल की पंक्ति में जा जूठन गिरा सकते थे, जब कि राधाकृष्णन गरीब से वे ऋषि अपने जूते का तस्मा भी नहीं खुलवाते." (राहुल सांकृत्यायन, वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ. 67)

इसी विषय पर टिप्पणी करते हुए डा. मंगलदेव शास्त्री अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा' में लिखते हैं:-

आधुनिक जगत का कोई विज्ञान या आविष्कार ऐसा न होगा, जिस को वेद से सिद्ध करने का प्रयत्न न किया जाता हो. रेल और तार का तो वेद से निकालना साधारण सी बात है. परंतु आश्चर्य की बात तो यह है कि दूसरों द्वारा आविष्कृत विज्ञान आदि की पुष्टि में ही ऐसा किया जाता है. ये वैदिक विद्वान स्वोपज्ञ रूप से कोई नया विज्ञान या आविष्कार वेद से नहीं निकाल पाते.

इन सांप्रदायिक विद्वानों की कृपा से वेद 'भानमती का पिटारा' बन गए हैं. हाथ डालते ही मनचाही वस्तु उस में से निकाली जा सकती है. वेद के अनेक स्थलों से जहां एक पक्ष मृतकश्राद्ध, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, यज्ञों में पशुबलि, वेद में इतिहास आदि की पुष्टि करता है, वहां दूसरा पक्ष उन्हीं स्थलों से तद्विपरीत अर्थ निकालने का प्रयत्न करता है. एक पक्ष से स्वीकृत 'देवों' को, जिन के मानने पर सारा वैदिक कर्मकांड निर्भर है, दूसरा पक्ष 'विद्वानों' के अर्थ में लेता है. इस दृष्टि से वेद और वैदिक साहित्य में 'देव', पितृ (पितरः), 'मांस' जैसे शब्दों का भी अर्थ अनिश्चित ही रह जाता है. यदि वास्तव में ऐसा ही है, तब तो प्रश्न किया जा सकता है कि वेदों का अपना महत्त्व ही क्या है?

एक बार 1940 ई. के लगभग वेदों के एक प्रसिद्ध विद्वान ने हमारे सभापतित्व में दिए गए अपने भाषण में 'मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिफार्मस' के अनुसार जो धारा-सभाएं आदि भारतवर्ष में चलाई गई थीं, उन के स्वरूप को वेदों के प्रमाणों से सिद्ध कर के दिखला दिया था. हमारा विश्वास है कि वैसे ही कोई अन्य विद्वान वर्तमान भारतीय संविधान को अथवा किसी अन्य संविधान को भी इसी सरलता से वेदों के आधार पर सिद्ध कर सकेंगे.

हम नहीं कह सकते कि इस प्रकार, वर्तमान को प्राचीनकाल में आरोपित करने की प्रवृत्ति (anachronism) पर निर्भर, मनमाने अर्थ मान्य ग्रंथों पर लादने से हम उन का मान बढ़ाते हैं या उन को उपहासास्पद बनाते हैं? (भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा, पृ. 72)

परमाणु की खोज

एक महाशय लिखते हैं: "विज्ञान की दुनिया (?) में जिस परमाणु की खोज अब हुई है, वास्तव में उस की खोज बहुत पहले भारत के एक ऋषि कणाद ने की थी. वह जब ध्यानमग्न स्थिति से उठे तो उन्होंने बताया कि दुनिया (?) सूक्ष्मसूक्ष्म अंशों से मिल कर बनी है. उन्हीं के नाम पर सूक्ष्मतम अंश को कण कहा जाता है."

यह महाशय अपने को विज्ञान का विद्यार्थी लिखते हैं, लेकिन लगता है कि इन्हें न आधुनिक परमाणु का ज्ञान है, न कणाद ऋषि के परमाणु का. कणाद की परमाणु की परिभाषा इतनी स्थूल है कि उसे परमाणु तो क्या, अणु भी कहना गलत है. वह परिभाषा इस तरह है:

जालांतरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः.
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते..

(बलदेव उपाध्याय कृत 'भारतीय दर्शन', पृ. 243 तथा आचार्य विश्वनाथ शास्त्री कृत 'हिंदी तर्क संग्रहः' पृ. 18 पर उद्धृत).

अर्थात खिड़की (गवाक्ष) से जब सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं, तब उन में नाचते हुए छोटेछोटे कण दृष्टिगोचर होते हैं. ऐसे एक कण का छठा भाग 'परमाणु' कहलाता है.

कहां आधुनिक ऐटम और कहां यह परमाणु? आज तो ऐटम से भी हम बहुत आगे निकल गए हैं. कणाद की परिभाषा तो उस के आगे बचकाना प्रयास मात्र दिखाई देती है, चाहे यह उसे ध्यानमग्न अवस्था में सूझी बताई जाती है.

यदि यह सचमुच ध्यानावस्था की उपज है तब तो इस से ध्यानमग्न या समाधिमग्न अवस्था की तथाकथित उच्चता व मान्यता पर ही अमिट प्रश्नचिह्न लग जाता है. समाधि अवस्था में प्राप्त ज्ञान को अंतिम और सर्वोच्च कहा जाता है. लेकिन आधुनिक विज्ञान ने परमाणु संबंधी जो ज्ञान हमें दिया है, उस के सामने तथाकथित समाधिजन्य ज्ञान घटिया और निम्न स्तरीय सिद्ध होता है.

कणाद की स्मृति में सूक्ष्मतम अंश को कण नहीं कहते, क्योंकि कण शब्द तो उस से पहले ही विद्यमान था (देखें अथर्ववेद, 10.9.26, 11.3.5). 'कणाद' शब्द तो प्राचीन भारतीय समृद्धि के ढोल की पोल खोलता है, क्योंकि वह ऋषि गलियों में से एकएक कण अनाज का उठा कर खाता था और अपनी जीवनयात्रा चलाता था. अतः उसे कणाद कहते थे. (देखें, न्यायकंदली (समय 934 ई.), पृ. 2)

उस ऋषि को याद किया जाता है, लेकिन एक अन्य नाम से. वह है– 'औलूक्य', अर्थात उल्लू का दर्शन या उल्लू का वंशज. (देखें, प्रशस्तपादभाष्य (कंदली सहित),

पं. विंध्येश्वरी प्रसाद कृत भूमिका, पृ. 7 तथा नैषध चरितम् 22/35).

वही महाशय लिखते हैं कि पुराने समय में विमान अर्थात वायुयान का भारतवासियों को ज्ञान था. उस के समर्थन में वह वेदों का कोई प्रमाण नहीं देते, जो उन्हें देना चाहिए था; क्योंकि 'वेदों में विज्ञान' लेख आलोच्य था. वह 'कल्याण' मासिक में छपी महाभारत की एक कहानी और रामायण की दो कहानियों के हवाले देते हैं:

1. जब युधिष्ठिर राजपाट छोड़ कर स्वर्गारोहण (?) के उच्चतम शिखर पर पहुंचे, तब देवराज इंद्र विमान में बैठ कर उन्हें लेने के लिए नीचे उतरे.

2. राम रावण को मार कर पुष्पक विमान में अयोध्या लौटे.

3. जटायु ने राम को बताया कि रावण सीता को आकाशमार्ग से ले गया है.

वायुयान के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए ये जो संदर्भ दिए हैं, वे न ऐतिहासिक हैं और न सैद्धांतिक; क्योंकि ये ईसवी सन के शुरू होने के इर्दगिर्द लिखे गए 'काव्यों' के अंश मात्र हैं. महाभारत और रामायण दोनों को उन के लेखकों ने 'काव्य' कहा है. इन में जैसे कवियों की दूसरी कल्पनाएं हैं, वैसे ही इन विमानों की बातें हैं. महाभारत के किसी पात्र को सूर्य ने पैदा किया है तो किसी को हवा ने. द्रौपदी हवनकुंड से उत्पन्न हुई बताते हैं.

रामायण के पात्र

रामायण के पात्रों की भी यही स्थिति है–कोई खेतों में कंदमूल की तरह उपजता है तो कोई हवनकुंड से उपजे व्यक्ति द्वारा दी गई खीर खा कर गर्भवती हुई स्त्री के पेट से पैदा होता है. कहीं बंदर 800 मील चौड़े सागर को फांदता है तो कहीं गीध मनुष्य की बोली बोलता है. जिस तरह ये सब किस्सेकहानियां कपोलकल्पित हैं, उसी तरह विमानों की बातें. जिन दिनों में 'काव्य' लिखे गए, उन के बाद कोई प्रलय नहीं आई. फिर वे विमान, उन के कलपुर्जे, उन के निर्माण की विधियां कहां खो गईं? उन दिनों के बड़ेबड़े राजाओं तक के विवरणों में विमानों का जिक्र क्यों नहीं आता? मौर्य और गुप्त साम्राज्यों में भी विमान का कहीं नाम नहीं. यदि कहीं नाम आता है तो सिर्फ कवियों की कल्पनाओं में.

महाभारत की संदर्भित कहानी सारी की सारी काल्पनिक है. जब स्वर्ग नाम का कोई स्थान ही नहीं है, तब युधिष्ठिर को जाना कहां और कैसे था? जब इंद्र नाम का कोई देवता है ही नहीं, तब उसे आना और उतरना कैसे था? यही महाशय अपने पत्र में अन्यत्र लिखते हैं कि इंद्र बादल को कहते हैं. अब बादल विमान में बैठ कर किसी को लेने आएगा–यह वाक्य है या प्रमत्त-प्रलाप?

पुष्पक विमान वाली बात भी निरी कल्पना है. धन के कथित हिंदू देवता कुबेर से इसे रावण ने छीना था, ऐसा रामायण में लिखा है. उसे ब्रह्मा नामक एक अन्य कल्पित देवता ने बनाया था. राम ने अयोध्या पहुंच कर विमान वापस कुबेर के पास भेज दिया. उस के बाद उस विमान की कहीं चर्चा नहीं. जैसे कुबेर नामक देवता काल्पनिक हैं, वैसे ही उन की चीजें हैं.

जटायु वाली बात भी कल्पना है. क्या गिद्ध मनुष्य की तरह बोल सकता है? जिस स्थिति में जटायु राम को मिला, उस स्थिति में तो गिद्ध शायद अपनी बोली भी न बोल पाए. जब उस का बोलना ही सिद्ध नहीं होता तब उस का तथाकथित कथन प्रामाणिक कैसे हो सकता है?

जैसे पंचतंत्र में सब पशुपक्षी बोलते और कहानियां सुनाते हैं, वैसे ही रामायण और महाभारत में है. जैसे पंचतंत्र के पशुपक्षियों के बयान लेखक की अपनी कल्पना मात्र हैं, वैसे ही महाभारत और रामायण के अनेक पात्र इन ग्रंथकारों की कल्पना मात्र है.

यहां 'वैमानिकशास्त्र' और 'बृहद्विमानशास्त्र' नामक दो पुस्तकों की चर्चा करना समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि कुछ वर्षों से इन दोनों को प्राचीन भारत में विमान बनाने की विधि बताने वाली कहा जा रहा है. यह भी प्रचार किया जाता है कि ये ऋषि भरद्वाज-रचित हैं और बड़ौदा के पास कुछ वर्ष पहले हस्तलिखित रूप में मिली थीं.

इन दोनों ग्रंथों का विस्तृत अध्ययन विद्वानों ने किया है, जो 'साइंटिफिक ओपीनियन' (मईजून 1974) में छप चुका है. उस का सार बेंगलूर की 'विज्ञान परिचय' और मद्रास की 'फ्री थाट' (जून 1979) नामक पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुआ है.

विद्वानों का कहना है कि इन ग्रंथों को ऋषि भरद्वाज-रचित कह कर प्रचारित किया जा रहा है; लेकिन जांचपड़ताल करने पर पता चला है कि इन्हें पं. सुब्बाराम शास्त्री ने बेंगलूर में श्री वेंकटाचल शर्मा को 1904–1908 के मध्य लिखवाया था. पहला बोला, दूसरे ने लिखा. वैमानिकशास्त्र के चित्र बेंगलूर के एक इंजीनियरिंग कालिज के एक ड्राफ्ट्समैन ने बनाए. इस तरह सिद्ध है कि ये ग्रंथ अर्वाचीन हैं, न कि प्राचीन.

इन की भाषा भी वैदिक व पुरानी संस्कृत नहीं. इन में एक प्रतिशत से भी कम मात्रा में वैदिक छंदों का प्रयोग हुआ है. इन में कहीं भी उड़ने और आगे को बढ़ने के सिद्धांत की चर्चा नहीं है. सिर्फ विभिन्न किस्म के वायुयानों की लंबाइयांचौड़ाइयां दी गई हैं. बहुधा ये विवरण परस्पर-विरोधी हैं. इन में वायुयानों की जो गति बताई गई है, वह बिल्कुल काल्पनिक है. इन में 10 हजार किलोमीटर प्रति घंटा की गति से धरती के निकट चलने वाले एक वायुयान का वर्णन है, जो अभूतपूर्व बात है.

ये ग्रंथ किसी अधकचरे विद्वान की रचना हैं, क्योंकि इन में वायुयान को आगे बढ़ाने के जो तरीके लिखे हैं, वे उसे आगे नहीं बढ़ा सकते, बल्कि हवा उसे पीछे को धकेलेगी. 'सुंदर' नामक वायुयान के वर्णन में जो बात कही गई है, वह न्यूटन के गति के द्वितीय नियम का उल्लंघन करती है.

इन दोनों ग्रंथों में जिन वायुयानों का वर्णन है, वे कपोलकल्पित हैं. वे वेदों के समय से ले कर अब तक के इतिहास में कभी अस्तित्व में नहीं आए, और न ही इन ग्रंथों के गति-विरोधी तरीकों के आधार पर कभी वायुयान बन और उड़ सकता है.

प्राचीन भारत में (न कि वेदों में) वायरलेस सिद्ध करने के उद्देश्य से महाशय आगे लिखते हैं कि कंस से 'आकाशवाणी' ने कहा कि तेरी बहन की आठवीं संतान तुम्हें नष्ट करेगी. जनक (?) के स्वयंवर ('स्वयंवर' तो सीता का था, महाशय) में रावण को 'आकाशवाणी' सुनाई पड़ी थी.

काल्पनिक साहित्य से

ये दोनों हवाले काल्पनिक साहित्य से दिए गए हैं. पहला पुराणों से है, दूसरा रामायण से. इन्हें भी बेईमानी से गलत संदर्भ में पेश किया गया है. प्राचीन संस्कृत साहित्य में आकाशवाणी दैवी हस्तक्षेप के रूप में वर्णित है. जब आकाश व स्वर्ग में स्थित देवताओं को मनुष्यों से सीधे कुछ कहना होता था, तब वे आकाश से बोलते थे ताकि भारत के लोग उन की बात सुन लें. (देवता भारत को ही दुनिया समझते थे!) इसी माध्यम से कंस और रावण को सूचनाएं (?) दी गईं. यह दैवी हस्तक्षेप का काल्पनिक सिद्धांत वायरलेस के समकक्ष नहीं ठहराया जा सकता.

वायरलेस में एक तरफ से यंत्र में बोला जाता है और दूसरी तरफ यंत्र से सुना जाता है. ऐसा नहीं होता कि लोग घर में बैठे हों और अचानक आकाश से स्पष्ट वाक्य ऊंचे से उच्चरित होने लगें, देवता आकाश से उद्घोषणा करने लगें.

ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में लिखे गए इन ग्रंथों को यदि वायरलेस का ज्ञान होता तो कम से कम गुप्त सम्राटों और हर्षवर्धन जैसे राजाओं को इस का अवश्य ज्ञान होता और वे इस माध्यम का अपने कामों में अवश्य प्रयोग करते. तात्कालिक ऐतिहासिक साहित्य में कहीं न कहीं इस का उल्लेख अवश्य होता. इस सब का अभाव सिद्ध करता है कि यह कल्पना का खेल मात्र है.

यही महाशय प्रकाश की गति से चलने वाले राकेट की वेदों में कल्पना करते हुए कहते हैं, "जैसे ही पुरोहित ने कहा, 'तुम स्वर्ग में जाओ' यजमान उस राकेट में जिस का वेग संभव है प्रकाश के वेग के बराबर रहा हो, सवार हुआ और पलक झपकते ही स्वर्ग पहुंच गया होगा, जहां से उस ने उस समय की अपनी वायरलेस प्रणाली से तुरंत उत्तर भेजा होगा: 'मैं स्वर्ग में आ गया'."

यह राकेट की बात वेदों के किसी पुराने विद्वान ने नहीं की, यह तो सिर्फ राकेट के आविष्कृत होने के बाद से ही की जाने लगी है. यदि वास्तव में वेदों में राकेट होता और प्राचीन भारतीय इस से परिचित रहे होते तो वे अवश्य इस की ओर अपने भाष्यों व अपनी टीकाओं में संकेत करते.

इस के विपरीत, एक पुराने ग्रंथ कात्यायन श्रौत सूत्र और 11वीं सदी के एक भाष्यकार उवट ने लिखा है, "मंत्र अग्नि से संबंधित हैं. पहले मंत्र में पुरोहित और यजमान से कहा गया है कि वे ओखली में प्रतिष्ठित अग्नि को हाथों में ले कर स्वर्ग जाएं और वहां देवताओं के साथ रहें. बाद में यजमान कहता है कि मैं पृथ्वी से स्वर्ग में पहुंच गया हूं." इसी कारण वेदों से दूसरी कई वैज्ञानिक चीजें सिद्ध करने का प्रयास करने वाले स्वामी दयानंद जी ने भी इस मंत्र में राकेट की बात नहीं की है.

तथाकथित राकेट द्वारा जिस स्वर्ग में जाने की बात कही गई है, वह एकदम

काल्पनिक स्थान है. वेदों की व्याख्या करने वाले, उन के समकालीन या कुछ देर बाद के, ब्राह्मण ग्रंथों में स्वर्ग की स्थिति के बारे में जो बातें लिखी मिलती हैं, वे एकदम अटकलपच्चू हैं और इस बात का प्रबल प्रमाण हैं कि वेदों के रचयिता राकेट और खगोल विज्ञान से प्रकाश वर्षों के हिसाब से दूर थे.

पंचविंश ब्राह्मण (16/8/6) के अनुसार पृथ्वी से स्वर्ग और सूर्य की दूरी इतनी है जितनी एक हजार गौओं के एकदूसरी पर खड़ा होने से ऊंचाई बनती है. यदि सवा मीटर की एक गाय मानी जाए तो स्वर्ग की दूरी सवा हजार (1250) मीटर है.

स्वर्ग नहीं

जो लोग एक स्थान विशेष की स्थिति के बारे में इतनी अटकलें लगाते हों वे वहां जाने के लिए प्रकाश के वेग के समान चलने वाले राकेट बनाने के योग्य थे, ऐसा कहना दुराग्रह मात्र ही कहा जाएगा. वास्तविकता तो यह है कि स्वर्ग नाम का स्थान कहीं है ही नहीं. आज मानव पूर्वोक्त काल्पनिक तुच्छ दूरियों से भी बहुत आगे तक देख आया है, लेकिन कहीं स्वर्ग की गंध तक नहीं मिली. आज हमारे राकेट 14 करोड़ किलोमीटर तक जा चुके हैं. चांद की सतह से धूल-मिट्टी और चट्टानें धरती पर ला चुके हैं. मंगल पर मानव रहित यान उतर चुका है और धूमकेतु से हाल ही में टक्कर मार चुका है. परंतु किसी को कहीं भी स्वर्ग नामक स्थान नहीं मिला जो धरती से 1250 मीटर ऊपर बताया गया है. जो जगह है ही नहीं, उस तक जाने के लिए विशेष साधनों के होने का प्रश्न ही नहीं उठता.

अब टेस्ट ट्यूब में बच्चा जन्म ले चुका है, अतः यह सिद्ध करना ही चाहिए कि हिंदू ग्रंथों को यह पहले से ही ज्ञान था. इसी धार्मिक उन्माद में महाशय लिखते हैं: "जिस परखनली शिशु का परीक्षण आज हो रहा है, उस से कहीं ऊंचा परीक्षण महाभारत से पूर्व कौरवों के यहां हो चुका है."

परखनली परीक्षण में माता के अंडे को पिता के शुक्राणु से परखनली में पुष्ट कर के उसे माता के गर्भाशय में पुनः स्थापित किया जाता है.

लेकिन कौरवों के यहां जिस कथित परखनली के प्रयोग की बात कही गई है, क्या वह संभव है, इस का अंदाजा महाभारत के इस विवरण से लगाया जा सकता है:

"एक बार महर्षि व्यास ने गांधारी की सेवा शुश्रूषा से संतुष्ट हो कर उसे वर मांगने के लिए कहा. गांधारी ने अपने पति के समान ही बलवान सौ पुत्र होने का वर मांगा. इस से समय पर उस के गर्भ रहा और वह दो वर्ष तक पेट में ही रुका रहा. स्त्री स्वभाववश गांधारी घबरा गई और अपने पति धृतराष्ट्र से छिपा कर उस ने गर्भ गिरा दिया. उस के पेट से लोहे के गोले के समान मांस का एक पिंड निकला. दो वर्ष पेट में रहने के बाद भी उस का यह कड़ापन देख कर गांधारी ने उसे फेंक देने का विचार किया. व्यास अपनी योगदृष्टि से यह सब जान कर झटपट उस के पास पहुंचे और बोले, 'अरी सुबल की बेटी, तू यह क्या करने जा रही है?'

"गांधारी ने व्यास से सारी बात सचसच कह दी. उस ने कहा, 'भगवन, आप के

आशीर्वाद से मुझे गर्भ तो रहा, परंतु दो वर्ष पेट में रहने के बाद भी सौ पुत्रों के बदले यह मांसपिंड पैदा हुआ है. यह क्या बात है?'

"व्यास जी ने कहा, 'गांधारी, मेरा वर सत्य होगा. मेरी बात कभी झूठी नहीं हो सकती, क्योंकि मैं ने कभी हंसी में भी झूठ नहीं कहा है. अब तुम चटपट सौ कुंड बनवा कर उन्हें घी से भर दो और सुरक्षित स्थान में उन की रक्षा का विशेष प्रबंध कर दो तथा इस मांसपिंड पर ठंडा जल छिड़को.'

"जल छिड़कने पर उस पिंड के सौ टुकड़े हो गए. प्रत्येक टुकड़ा अंगूठे के पोर के बराबर था. उन में एक टुकड़ा सौ से अधिक भी था. व्यासजी की आज्ञानुसार जब सब टुकड़े कुंडों में रख दिए गए, तब उन्होंने कहा, 'इन्हें दो वर्ष के बाद खोलना'. इतना कह कर वह तपस्या करने के लिए हिमालय पर्वत पर चले गए. समय आने पर उन्हीं मांसपिडों में से पहले दुर्योधन और पीछे गांधारी के अन्य पुत्र उत्पन्न हुए." (संक्षिप्त महाभारत, प्रथम भाग, पृ. 58, गीता प्रेस, गोरखपुर)

दो साल गर्भाशय में रहे, मृत और पथराए मांसमिंड को सौ टुकड़े कर के घी से भरे कुंडों में दो साल और बंद रखने से क्या बच्चे पैदा हो सकते हैं? क्या आधुनिक विज्ञान ने इस तरह परखनली में बच्चे को पैदा किया है? महाभारत में यह सारा तमाशा योगविद्या के नाम पर किया गया बताया गया है, न कि विज्ञान के नाम पर.

यदि वास्तव में योगशक्ति नाम की कोई चीज थी तो व्यास को इस तरह चार साल तक पापड़ बेलने की क्या जरूरत थी? क्या तब उस की योग दृष्टि अंधत्व का शिकार हो गई थी, जब उसे यह बात पता ही नहीं चली कि गांधारी का गर्भ स्वाभाविक समय से ज्यादा समय का हो रहा है और उस में जीव विकसित नहीं हो रहा है? यदि योगशक्ति वास्तव में कुछ थी, तब तो उसे कम से कम उस मृत मांसपिंड से वैसे ही बच्चे उपजा देने चाहिए थे. उस के खंडों को घी के कुंडों में दो साल गलाने और लटकाए रखने की क्या जरूरत थी? चाहिए तो यह था कि योगशक्ति के प्रभाव से गांधारी के यथासमय, बिना कष्ट के, स्वस्थ बच्चे पैदा हो जाते.

यदि वास्तव में उस समय परखनली में बच्चा उपजाने की तकनीक विकसित हुई होती तो स्वाभाविक था कि उस से कम पेचीदा और उस की पहली स्थितियों से संबंधित बातें भी तब ज्ञात होतीं, जिन में प्रमुख हैं—भ्रूण की स्थिति की जानकारी और शल्य क्रिया. उस से, गांधारी के भ्रूण की स्थिति का पता आसानी से चल जाता और ज्यों ही पता चलता कि अंदर मृत मांसपिंड है तो उसे शल्यक्रिया द्वारा निकाल दिया जाना चाहिए था. दूसरे, यदि वास्तव में दो वर्ष गर्भाशय में 'लोहे के गोले के समान' मृत मांसपिंड रहता तो गांधारी इनफैक्शन से अवश्य मर जाती. लगता है योगशक्ति की बातें करने वालों और तथाकथित परखनली वैज्ञानिकों को इतना भी सामान्य ज्ञान नहीं था.

कुछ लोग कहते हैं कि भीमसेन ने हाथियों को आसमान में किसी राकेट फेंकने वाले यंत्र से फेंका था, तभी तो वे अंतरिक्ष में जा कर घूमने लगे थे और वापस नहीं आ सके थे.

यह दावा नितांत कपोलकल्पित है, क्योंकि महाभारत में कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं है कि भीम ने आसमान में हाथी फेंके थे. गीता प्रेस, गोरखपुर से छपे मूल महाभारत में निम्नलिखित स्थलों पर भीम द्वारा हाथियों से भिड़ने का जिक्र है–

आदिपर्व, अ. 137, श्लो. 31-35, भीष्मपर्व 62/49-65, वही 89/26-31, वही 102/31-39, वही 116/37-39, कर्णपर्व अ. 51, वही 61/53-74. इन में से किसी भी जगह पर भीम द्वारा हाथियों को आसमान में फेंकने का उल्लेख नहीं है. जो गप महाभारत में लिखी ही नहीं गई है, उसे उस के नाम पर अपनी ओर से प्रचारित करने वाले पता नहीं किस आदर्श की पूर्ति करने में जुटे हैं! अतः जब मूल कथांश ही उपलब्ध नहीं, तब उस के आधार पर कल्पना कर के सिद्धांत बनाने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता.

दूसरे, सर आइजक न्यूटन (1642 ई. 1727 ई.) के नियमों के ज्ञान से पूर्व तक दुनिया को गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत स्पष्ट ही नहीं था. अतः गुरुत्वाकर्षण की परिधि को तोड़ने के लिए किसी यंत्र का बनाना एकदम असंभव था. यह खोज बहुत बाद की है कि यदि एक गेंद को पांच मील प्रति सेकंड की प्रारंभिक गति से फेंका जाए तो वह अनिश्चित काल तक मुक्त रूप से पृथ्वी की वृत्ताकार उड़ान कर सकती है.

इस तरह भीमसेन द्वारा राकेट से हाथी आसमान में फेंकने का दावा गलत सिद्ध होता है.

कुछ लोग राम द्वारा समुद्र पर पुल बांधने के कथांश को पेश कर के तात्कालिक उन्नत तकनीक व स्थापत्य कला की बात करते हैं.

इस पर टीकाटिप्पणी करने से पहले यदि उक्त पुल बांधने के विषय में वाल्मीकीय रामायण के संबद्ध स्थलों को पढ़ लें तो किसी भी प्रकार की निष्पक्ष सम्मति बनाने में सुविधा रहेगी.

रामायण के युद्ध कांड, सर्ग 22 में श्लोक 54 से 76 तक सेतु (पुल) बांधने का वर्णन है. वहां लिखा है कि राम की आज्ञा से वानर इधरउधर भागने लगे. वे तरहतरह के वृक्षों, पर्वत शिखरों और पत्थरों के टुकड़ों को ला कर समुद्र में धड़ाधड़ फेंकने लगे. जब वे इन चीजों को समुद्र में फेंकते तो समुद्र में बहुत जोर से धमाका होता. इस तरह शिलापत्थरों को फेंक कर वानरों ने पहले दिन 14 योजन (112 मील), दूसरे दिन 20 योजन (160 मील), तीसरे दिन 21 योजन (168 मील), चौथे दिन 22 योजन (176 मील), और पांचवें दिन 23 योजन (184 मील) समुद्र का भाग भर दिया. कुल मिला कर यह दस योजन (80 मील) चौड़ा और सौ योजन (800 मील) लंबा पुल बन गया. इस पर से राम की सेना ने प्रस्थान किया. इसे देखने के लिए देवता और गंधर्व आए.

इस वर्णन के अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण में पुल के विषय में और कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता. इस के आधार पर तात्कालिक तकनीक एवं स्थापत्यकला आदिम युग की 'स्थापत्यकला' से भिन्न नहीं सिद्ध होती. क्या उन्नत स्थापत्यकला

इसी को कहते हैं? क्या पुल बांधने का यह तरीका उन्नत स्थापत्य कला है? क्या पानी में पत्थर, वृक्ष और कूड़ाकरकट फेंक कर पुल बांधा जाता है?

जंगली सभ्यता के समय के इस कथांश को प्राचीनकाल में उन्नत स्थापत्यकला सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत करना अतीत के अंधमोह के वशीभूत हो कर विवेक को खोना है.

कुछ लोग रामायण में वर्णित इस गप को सही सिद्ध करने के लिए कि हनुमान मीलों चौड़े समुद्र को एक छलांग में फांद गए, यह तर्क पेश किया करते हैं कि उन दिनों छोटे हैलीकाप्टरनुमा यंत्र हुआ करते थे. हनुमान ऐसे ही यंत्र के सहारे उड़ कर समुद्र पार कर गए.

निराधार बातें

प्राचीन भारत में उन्नत विज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयास में इस प्रकार की निराधार बातें की जाती हैं. लेकिन खुद रामायण के वर्णन इतने स्पष्ट हैं कि उन्हें किसी मुलम्मे की जरूरत नहीं. वाल्मीकि ने हनुमान के समुद्र पर से उड़ने का चित्रण करते हुए लिखा है: गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गंधमादन, मैंद, द्विविद, सुषेण और जांबवान ने आपस में परामर्श किया और अपनेअपने बल का बखान किया. किसी ने कहा कि मैं 10 योजन कूद सकता हूं, तो किसी ने कहा कि मैं 20 योजन कूद सकता हूं. किसी ने बुढ़ापे को शक्ति के कम हो जाने का कारण बताया. (किष्किंधा कांड, सर्ग 65).

सर्ग 67 में अंकित है कि सब ने हनुमान को उत्साहित किया. वह आवेश में आ कर महेंद्र पर्वत पर चढ़ गए. छलांग लगाने के लिए जिस चोटी पर चढ़ कर वह उछलने की कोशिश करते, वह चोटी नीचे धंस जाती और पानी ही पानी हो जाता. सुंदर कांड के प्रथम सर्ग में आकाश में जा रहे हनुमान का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने लिखा है कि पक्षी उन से डरते थे. आकाश में उड़ रहे वृक्ष उन की छाती के साथ टकरा रहे थे, इत्यादि.

कोरी गप्प

ये वर्णन नितांत गल्प किस्म के हैं. कोई भी व्यक्ति 100 योजन (लगभग 800 मील) लंबी छलांग नहीं लगा सकता. दूसरे, इस छलांग वाली गप्प को हैलीकाप्टरनुमा यंत्र की कल्पना कर के सही नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि आकाश में उड़ रहे पक्षी तक का हवाई जहाज आदि से टकरा जाना जब उसे मरम्मत के योग्य बना देता है, तब आकाश में उड़ रहे तेज रफ्तार वृक्षों के टकराने पर हैलीकाप्टरनुमा यंत्र की क्या गति होगी, इस का सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है. यह एक ऐसे व्यक्ति की निरंकुश कल्पना है, जिसे यह भी ज्ञात नहीं कि जब दो वेगवान पिंड टकराएंगे तो क्या होगा. इस बेहूदा कल्पना के आधार पर हनुमान के समुद्र पार करने के समय उन्नत विज्ञान के अस्तित्व की बातें प्रमत्त प्रलाप से कम नहीं हैं.

कुछ लोग हस्तिनापुर में बैठे संजय को कुरुक्षेत्र के मैदान में हो रहे युद्ध के दृश्य दिखाई देने संबंधी कथांश के आधार पर उस समय टेलीविजन के होने का दावा करते हैं.

इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि महाभारत (भीष्मपर्व, अध्याय 2) में सिर्फ इतना लिखा मिलता है: "हे राजा धृतराष्ट्र, संजय तुझे सारे युद्ध का वर्णन कहेगा. मैं इसे 'दिव्य चक्षु' देता हूं. इस से इसे प्रकाश और अंधकार तथा दिन और रात में होने वाली हर बात व घटना का ज्ञान होगा. इस से यह मन में उठ रहे विचार को भी जान लेगा. (श्लोक 9–11).

कोई बताए कि क्या यह सब टेलीविजन द्वारा संभव है? क्या टेलीविजन सर्वज्ञ और सर्वव्यापी है कि उसे सर्वत्र होने वाली घटनाओं का सदा ज्ञान हो सके? दूसरे, मन की बातें जानने वाला टेलीविजन तो अभी तक न बना है, न शायद बन ही सकता है, क्योंकि मानव मन इतना क्षिप्रगति और पेचीदा है कि इस में छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी हर संभवअंसभव बात पल भर में आ सकती है और पल भर में ही उस से जा भी सकती है. अतः 'दिव्यचक्षु' को टेलीविजन सिद्ध नहीं किया जा सकता.

यहां यह भी स्मरणीय है कि 'दिव्य चक्षु' वाली बात महाभारत से पहले या बाद के साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलती. यदि वास्तव में कोई टेलीविजन जैसा यंत्र होता तो बाद के साहित्य में कहीं उस का कोई एकाध हवाला तो मिलना ही चाहिए था. परंतु ऐसे किसी भी हवाले की अनुपलब्धि इस बात का प्रमाण है कि यह कोई भौतिक यंत्र न हो कर महाभारत-कार की पौराणिक ढंग की कल्पना का चमत्कार था. कहानी को रहस्यरोमांच द्वारा रोचक बनाना ही उस का उद्देश्य था.

इस का आधार यह अंधविश्वास था कि योग शक्ति (?) द्वारा हर बात संभव है; लेकिन तथाकथित योगशक्ति से भी बात बनती नहीं. यदि वह वास्तव में कोई चीज होती तो उस से अंधे धृतराष्ट्र की आंखें ही वह ऋषि ठीक कर देता, जिस ने उसे युद्ध का हाल बताने के लिए संजय को 'दिव्य चक्षु' दिए थे.

महाभारत में एक से बढ़ कर एक गप योगशक्ति के नाम पर मिलती है, मगर किसी योगी से अंधे राजा की आंखें ठीक नहीं हुईं. यदि उस समय विज्ञान ने टेलीविजन बना दिया था और वह बहुत उन्नत था, तब तो आंखों का आपरेशन कर के नई आंख भी लगाई जा सकती थी, लेकिन अंधा धृतराष्ट्र सारी उमर अंधा ही रहा. उस की आंख का आपरेशन आदि नहीं किया जा सका. स्पष्ट है, तब न विज्ञान उन्नत था और न ही योगशक्ति नाम की कोई अतिमानवीय शक्ति थी/है.

कुछ लोग जयद्रथ वध के समय कृष्ण द्वारा कृत्रिम अंधकार किए जाने की कहानी से 'स्मोक स्क्रीन' की कल्पना करते हैं. उन का कहना है कि कृष्ण ने जो कृत्रिम अंधकार किया था, वह 'स्मोक स्क्रीन' के सिवा और कुछ न था.

दुर्बल आधार

यह आधार बहुत दुर्बल है. इस के द्वारा महाभारत के जमाने में स्मोक स्क्रीन का

अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता. महाभारत में कृष्ण का कथन है:

योगमत्र विधास्यामि सूर्यस्यावरणं प्रति.
अस्तं गत इति व्यक्तं द्रक्ष्यत्येकः स सिंधुराट्..

–महाभारत, द्रोणपर्व, 146/64

अर्थात मैं योग शक्ति के द्वारा सूर्य को ढक दूंगा. इस से अकेले सिंधुराट् (जयद्रथ) को सूर्य छिप गया प्रतीत होगा.

इस के बाद महाभारतकार ने लिखा है:

ततोऽसृजत् तमः कृष्णः सूर्यस्यावरणं प्रति ..68..
योगी योगेन संयुक्तो योगिनामीश्वरो हरिः ..68..

–महाभारत, द्रोणपर्व 146

अर्थात तब कृष्ण ने योग शक्ति के द्वारा सूर्य को अंधेरे से ढक दिया.

महाभारत के ये स्थल स्पष्ट रूप में बताते हैं कि कृष्ण ने योगशक्ति (?) द्वारा सूर्य को अंधकार से ढका था, न कि 'स्मोक स्क्रीन' से. 'स्मोक स्क्रीन' केवल एक व्यक्ति की आंखों से सूर्य को ओझल नहीं करती. उस का योग (?) से दूर का भी संबंध नहीं. दूसरे, यदि वह वास्तव में होती तो बाद के या पहले के साहित्य में कहीं अन्यत्र भी इस का जिक्र होता. पर ऐसा कोई वर्णन उपलब्ध नहीं होता. अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि महाभारत की इस कहानी में 'स्मोक स्क्रीन की कल्पना करना अपनी बुद्धि पर 'स्मोक' यानी धुएं के प्रभाव की सूचना देना है.

रही बात योगशक्ति की. यदि कृष्ण के पास वास्तव में तथाकथित योगशक्ति होती तो बिना पूर्वोक्त आडंबर किए, बिना जयद्रथ को धोखा दिए, उसे (जयद्रथ को) वैसे ही मारा व मरवाया जा सकता था.

कुछ लोगों का कहना है कि महाभारत के जमाने में वर्षा करने वाले (पर्जन्यास्त्र), सर्प बरसाने वाले (व्यालास्त्र) और अग्नि की वर्षा करने वाले (आग्नेयास्त्र) अस्त्रों के प्रयोग का पता चलता है.

ये भ्रमपूर्ण विचार शब्दों को गलत समझने के कारण पैदा हुए हैं. 'पर्जन्यास्त्र' का अर्थ वर्षा करने वाला अस्त्र नहीं था. महाभारत में 'पर्जन्यास्त्र' के प्रसंग में लिखा है:

संधाय च शरं दीप्तमभिमन्त्र्य स पाण्डवः.
पर्जन्यास्त्रेण संयोज्य सर्वलोकस्य पश्यतः..
अविध्यत् पृथिवीं पार्थः पार्श्वे भीष्मस्य दक्षिणे.
उत्पपात ततो धारा वारिणो विमला शुभा

–महाभारत, भीष्म. 221/23-24

अर्थात अर्जुन ने तेज तीर धनुष पर चढ़ा कर, मंत्रपाठ करते हुए, पर्जन्यास्त्र उस

के साथ जोड़ा. सब के देखतेदेखते, उस ने भीष्म की दाहिनी ओर पृथ्वी को चीर डाला. उस ने निर्मल और शुद्ध जल की धारा बह निकली.

इस में कहीं भी पर्जन्यास्त्र द्वारा वर्षा करवाए जाने पर उल्लेख नहीं. यहां तो सिर्फ धरती में से पानी निकालने की बात कही गई है. वह भी विश्वसनीय नहीं, क्योंकि तीर धरती पर मारने से उस से निर्मल जलधारा नहीं बह सकती. कुछ लोगों ने उसे विश्वसनीय बनाने की धुन में कहा है कि यह पर्जन्यास्त्र आजकल के परमाणु विस्फोट की तरह था. इस के प्रयोग से जैसे आजकल धरती से पानी प्राप्त किया जा सकता है, वैसे ही तब भी इस का प्रयोग होता था.

महाभारत में उच्च कोटि का विज्ञान सिद्ध करने के दीवाने दूर की कड़ियां मिलाते हुए यह भी ध्यान नहीं रखते कि परमाणु विस्फोट घायल व्यक्ति के सिरहाने नहीं किया जाता. उस से तो दूरदूर के इलाकों में रेडियोधर्मिता सक्रिय हो जाती है जिस से न केवल घायल ही मरेगा बल्कि स्वस्थ व्यक्ति भी उस का मुकाबला नहीं कर सकते. उस से निर्मल और शुद्ध जल की धारा के बह निकलने की बात तो एकदम बेहूदा है. दूसरे, परमाणु के विषय में शास्त्रों का ज्ञान बिलकुल प्रारंभिक अवस्था का है. शास्त्रों में धूलिकण के छठे भाग को परमाणु कहा गया है, जो किसी भी तरह ठीक नहीं. वह तो अणु भी नहीं, परमाणु की तो बात ही छोड़ो.

'व्यालास्त्र' का जिस प्रकार का वर्णन महाभारत में मिलता है, उस से यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि इस से सर्पों की वर्षा होती थी. कर्णपर्व के अध्याय 10 में आता है कि अर्जुन और कर्ण के युद्ध में कर्ण ने 'व्यालास्त्र' का प्रयोग किया. इस अस्त्र के प्रहार से अर्जुन का मुकुट गिर गया (देखें, श्लोक 33 से 38). यहां कहीं भी ऐसा कुछ नहीं जिस से यह पता चले कि इस से सर्पों की वर्षा होती थी. महाभारत में सर्पों की वर्षा का कहीं भी उल्लेख नहीं.

दूसरे, टीकाकारों ने 'व्यालास्त्र' का अर्थ 'सांप के मुख की तरह मुंह वाला तीर' किया है, न कि सर्प बरसाने वाला बम. गीता प्रेस, गोरखपुर से छपे मूल महाभारत के कर्णपर्व के अध्याय 10 में स्पष्ट रूप से लिखा है:

'श्रीकृष्णेनार्जुनस्य सर्पमुखशराद् रक्षा.'

अर्थात श्रीकृष्ण ने सांप के मुख वाले तीर से अर्जुन की रक्षा की.

स्पष्ट है व्यालास्त्र सांप बरसाने वाला बम नहीं था.

'आग्नेयास्त्र' को अग्नि की वर्षा करने वाला अस्त्र (बम) कहना भी ठीक नहीं. महाभारत, (वनपर्व, अ. 22) में कृष्ण का कहना है: "मैं आग्नेयास्त्र को धनुष के साथ मिला कर युद्ध में राक्षसों का वध करूंगा" (श्लोक 29). यह आग्नेयास्त्र क्या था? आदिपर्व, अध्याय 224 से पता चलता है कि यह कृष्ण के चक्र का नाम था. इसे आग्नेयास्त्र इसलिए कहते थे, क्योंकि अग्नि देवता ने यह अस्त्र दिया था–अग्नि प्रदत्त होने से आग्नेय (देखें, श्लोक 23 से 27). वनपर्व के अध्याय 22 में भी इसी आग्नेयस्त्र उर्फ सुदर्शन चक्र का ही उल्लेख है (देखें, श्लोक 29 से 37).

एक आर्यसमाजी सज्जन ने लखनऊ की एक मासिक पत्रिका में हमारे लेख का खंडन करने की अपनी ओर से कोशिश की है. (हम इसे शरारत नहीं कहते, यद्यपि इन महाशय ने हमारे लेख को 'सरिता की शरारत' कहा है.) उस में सिवा इस बात के और कुछ नहीं कि जो मंत्र हम ने अपने लेख में उदधृत किए थे, उन के अर्थ उन आधुनिक भाष्यकारों की पुस्तकों से उठा कर लिख दिए हैं जिन्होंने वेदों को आधुनिक युगानुरूप बनाने के उद्देश्य से वेदों के नए अर्थ किए हैं. वेद मंत्रों के ये वे अर्थ नहीं हैं, जो वास्तव में उन के हैं; बल्कि ये वे हैं जिन्हें आधुनिक भाष्यकार वेदों में दर्शाना चाहते हैं.

भारतीय संविधान के मुख्य शिल्पी कहे जाने वाले डा. भीमराव अंबेडकर का कथन इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है. उन्होंने लिखा है: "लोगों को यह बताने का कोई लाभ नहीं कि शास्त्रों को यदि व्याकरण से 'इस तरह' पढ़ा जाए या उन की यदि 'इस तरह' व्याख्या की जाए तो उन के अर्थ और ही निकलेंगे तथा वे उन अर्थों से भिन्न होंगे जिन्हें लोग उन के अर्थ समझते चले आ रहे हैं. (देखें, एनाहिलेशन आफ कास्ट, पृष्ठ 92).

बात बिलकुल स्पष्ट है. वेदोंशास्त्रों के जो अर्थ हजारों वर्षों से यहां के ऋषि, मुनि और विद्वान करते व लोगों को समझाते आ रहे हैं, वही ठीक अर्थ हैं. आज उन में विज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करने के नाम पर उन्हें तोड़मरोड़ कर पेश करना न केवल बौद्धिक बेईमानी है, बल्कि उन (वेदोंशास्त्रों) से ज्यादती करना भी है.

प्राचीन भारत में आयुर्विज्ञान

वेद मानव के बहुत पुराने अभिलेख हैं. इस में वर्तमान हिंदुओं के पूर्वजों (आर्यों) के आरंभिक जीवन के साक्ष्य हैं. उस तथाकथित सतयुग में जिन रोगों का मानव को सामना करना पड़ता था, उन के, तात्कालिक ज्ञान के आलोक में, उस ने इलाज भी ढूंढ़े; चाहे उन में से अधिकतर आज हमें नीमहकीमी ही लगते हों.

वेदों में जिस तरह के उपचार थे, उन्हें चरक ने 'दैव व्यपाश्रय भेषज' अर्थात देवताओं की कृपा पर आश्रित औषधि कहा है. उस नें लिखा है:

'तत्र दैवव्यपाश्रयं मंत्र ओषधि मणि मंगल बलि उपहार
होम नियम प्रायश्चित्त तथा स्वस्त्यन प्रणिपात गमनादि.'

–चरक संहिता 1/11/54

दैव व्यपाश्रय उपचार वे हैं जिन में मंत्र पढ़ना, प्याज, सरसों जैसी ओषधि को गले में लटकाना (जैसे आज भी गांवों में शिशु के गले में लटकाते हैं), मणियां, शुभकारी अनुष्ठान, आहुतियां, उपहार, हवन, प्रतिज्ञा, प्रायश्चित, उपवास, देवताओं की प्रसन्नता के लिए पूजा विशेष, सिर झुकाना और तीर्थों को जाना आदि शामिल हैं.

ऋग्वेद में ऐसा इलाज करने वालों की काफी प्रशंसा की गई है. अनेक देवताओं की उन के चिकित्सासामर्थ्य के कारण स्तुति की गई है, जैसे–

रुद्र की स्तुति करते हुए कहा गया है: हे रुद्र, हमारे पुत्रों को ओषधि द्वारा परिपुष्ट करो. मैं ने सुना है कि तुम वैद्यों में सर्वश्रेष्ठ हो:

उन्नो वीरान् अर्षय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वाभिषजां शृणोमि

–ऋ. 2/33/4

सोम की स्तुति में कहा गया है: हे सोम, तुम इस विश्व में बीमारों का इलाज करने वाले हो:

भिषक्ति विश्वं यत्तुरम्

–ऋ. 8/79/2

वरुण की स्तुति करते हुए कहा गया है: हे वरुण, तुम्हारी सैकड़ों हजारों औषधियां हैं:

शतं ते राजन भिषजः सहस्रम्

–ऋ. 1/24/8

मरुत की स्तुति में कहा गया है: सुंदर दान वाले मरुतो, अपनी ओषधि ले आओ. सुंदर यज्ञ वाले मरुतो, सिंधु नदी, चिनाब नदी, समुद्र और पर्वत में जो औषध है, तुम वह सब औषध पहचान कर हमारे शरीर की चिकित्सा के लिए ले आओ. मरुतो, जिस प्रकार रोगी के रोग की शांति हो, उसी प्रकार बाधित अंग को जोड़ो:

मरुतो मारुतस्य न आ भेषजस्य वहता सुदानवः
यत् सिंधौ यदसिक्न्यां यत्समुद्रेषु मरुतः सुबर्हिषः,
यत् पर्वतेषु भेषजम्
विश्वं पश्यंतो विभृथा तनूष्वा तेना नो अधि वोचत,
क्षमा रपो मरुत आतुरस्य न इष्कर्ता विहुतं पुनः

–ऋ. 8/20/23, 25–26

विश्वेदेवों की स्तुति करते हुए कहा गया है कि उन के हाथ में जल औषध बन जाता है और वह सब रोगों का शामक होता है:

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः,
आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्

–ऋ. 10–137–6

वायु देवता की प्रशंसा करते हुए कहा गया है: वायु, तुम इस ओर बह कर ओषध ले आओ और जो अहितकर है, उसे यहां से बहा ले जाओ. तुम संसार के ओषध-रूप हो. तुम देवदूत हो:

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः,
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयते.

–ऋ. 10/137/3

अश्विद्वय को तो चिकित्सा के निराले देवता माना गया है, जो देवताओं तक की बीमारियों का इलाज करते थे. ऋग्वेद कहता है: दिव्य वैद्य (भिषक्) अश्विद्वय हमारा मंगल करें. उन्होंने जिन ओषधियों से पक्थ की रक्षा की, जिन से अध्रिगु और बभ्रु की रक्षा की, उन्हीं से वे आतुरों की चिकित्सा करें:

उत त्या दैव्या भिषजा शं नः करतो अश्विना

–ऋ. 8/18/8

याभिः पक्थमवथो याभिरध्रिगुं याभिर्बभ्रुं विजोषसम्,
ताभिर्नो मक्षू तूयमश्विना गतं भिषज्यतं यदातुरम्

–ऋ. 8/22/10

उन से उषा, सूर्य, अग्नि, इंद्र, वरुण, विष्णु, आदित्य, रुद्र और वसुओं के साथ सोम पीने की प्रार्थनाएं की गई हैं:

अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुनादित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा,
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना

–ऋ. 8/35/1

अश्विनीकुमारो, तुम अग्नि, इंद्र, वरुण, विष्णु, आदित्यगण, रुद्रगण और वसुगण के साथ और उषा तथा सूर्य के साथ मिल कर सोमपान करो.

विश्वैर्देवैस्त्रिभिरेकादशैरिहाद्भिर्मरुद्भिर्भृगुभिः सचाभुवा

–ऋ. 8/35/3

हे अश्विद्वय, तुम इस यज्ञ में तैंतीस देवताओं, मरुतों और भृगुओं के साथ सोम पान करो.

लेकिन ऋग्वेद से यजुर्वेद तक पहुंचतेपहुंचते चिकित्सकों की यह प्रशंसा न केवल काफूर हो गई, बल्कि उन के प्रति घृणा के रूप में भी परिणत हो गई. ऐसा क्यों हुआ, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है. इस का उत्तर खुद यजुर्वेद ने ही दे दिया है.

यजुर्वेद का कहना है कि चिकित्सा करने वाले देवता अश्विद्वय (दोनों अश्विनीकुमार) अपवित्र हैं क्योंकि वे आम जनता में जाते हैं. हर छूतअछूत के यहां जाते हैं. देवताओं के दलाल पुरोहित ही 'शुद्धता' के विपरीत आचरण करते हैं. ब्राह्मण को चिकित्सा कार्य कदापि नहीं करना चाहिए, क्योंकि चिकित्सक (भिषक्) अपवित्र होता है:

ते देवा अब्रुवन्अपूतौ वेमौ मनुष्यचरौ भिषजौ इति.
तस्मात्ब्राह्मणेन भेषजं न कार्यम्, अपूतो ह्येषोऽमेध्यो यो भिषक्.

–यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता 6/4/9

यजुर्वेद से यह भी पता चलता है कि तब तक चिकित्सा के देवता अश्विद्वय का बहिष्कार हो चुका था. उन्हें यज्ञों में आहुति नहीं दी जाती थी. उन को व उन के प्रतिनिधि अन्य चिकित्सकों को उसी हालत में सहा जाता था, जब उन के बिना गुजारा नहीं होता था.

यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में आता है कि एक बार यज्ञ का सिर कट गया. तब देवता अश्विद्वय के पास उसे ठीक कर देने की प्रार्थना ले कर पहुंचे. इस पर उन्होंने (अश्विद्वय ने) कहा कि यदि हमें यज्ञ में भाग दोगे तभी हम ठीक करेंगे. देवता इस शर्त को मान गए. तब पहले दोनों अश्विनीकुमारों को 'बहिष् पवमान स्तोत्र' से शुद्ध किया गया और बाद में उन्हें आहुति दी गई (तैत्तिरीय संहिता 6/4/9).

यजुर्वेद की एक दूसरी संहिता–काठक संहिता–में आता है कि देवताओं के चिकित्सक अश्विद्वय को सोम की आहुति नहीं दी जाती थी. जब एक बार यज्ञ का सिर कट गया तो देवता उसे ठीक करने की प्रार्थना ले कर अश्वियों के पास गए. तब उन्होंने कहा, "हमें भी देवताओं के मध्य बैठ कर सोम पीने की अनुमति हो, हमारे लिए भी आहुति डाली जाए." तब देवताओं ने अश्वियों को 'बहिष् पवमान स्तोत्र' से शुद्ध कर के उन्हें आहुति दी. (काठक संहिता 27/4).

यही बात कपिष्ठल/कठ संहिता में कही गई है. यजुर्वेदीय मैत्रायणी संहिता में आता है कि यज्ञ का सिर कट जाने पर सोमपान के अयोग्य ठहराए गए अश्वियों के पास देवता ऐसे दौड़े गए जैसे मानव वैद्यों के पास दौड़े जाते हैं:

यथा भिषजमुपधावन्ति. (शेष तैत्तिरीय संहिता के समान)

–मैत्रायणी संहिता, 4/6/2

शुक्ल यजुर्वेद के व्याख्या ग्रंथ शतपथ ब्राह्मण (4-1-5-1 से 14) में आता है कि सुकन्या ने अश्वियों से कहा कि तुम अपूर्ण हो. जब उन्होंने पूछा कि हम अपूर्ण कैसे हैं तो सुकन्या के पति च्यवन ने उत्तर दिया कि कुरुक्षेत्र में देवता जो यज्ञ करते हैं, उस में तुम्हें शामिल नहीं करते. इस दृष्टि से तुम अधूरे हो. यह सुन कर अश्विद्वय वहां गए, जहां देवता यज्ञ कर रहे थे. वहां जब 'बहिष् पवमान स्तोत्र' का पाठ हो चुका तो उन्होंने देवताओं से कहा कि हमें भी आहुति दो और हमारा भी दूसरे देवताओं की तरह आह्वान करो. इस पर देवता बोले–हम तुम्हारा आह्वान नहीं करेंगे, तुम्हें आदर से नहीं पुकारेंगे क्योंकि तुम घूमते रहे हो, आम लोगों से घुलतेमिलते रहे हो, तुम इलाज करते रहे हो":

न वामुपह्वयिष्यामहे बहुमनुष्येषु संसृष्टमचारिष्टं भिषज्यन्ताविति.

स्पष्ट है कि चिकित्सक को हर आदमी के पास जाना पड़ेगा, ऊंचनीच का ध्यान किए बिना उसे सब की सहायता करनी पड़ेगी. इस सर्वजन समभाव को यजुर्वेदीय पुरोहितों ने पसंद नहीं किया और चिकित्सा के देवता को अछूत घोषित कर दिया.

महाभारत में आता है कि च्यवन ऋषि ने जब इंद्र को अश्वियों के साथ सोमपान करने के लिए कहा तो उस ने उत्तर दिया:

अस्माभिर्निन्दतावेतौ भवेतां सोमपौ कथम्,
देवैर्न सम्मितावेतौ तस्मान्मैवं वदस्व नः
अश्विभ्यां सह नेच्छामः सोमं पातुं महाव्रत,
यदन्यद् वक्ष्यसे विप्र तत् करिष्यामि ते वचः
अश्विभ्यां सह सोमं वै न पास्यामि द्विजोत्तम,
पिबत्वन्ये यथाकामं नाहं पातुमिहोत्सहे

–महा. अनुशासन पर्व, 156/17, 18, 21

हे विप्र, अश्विनीकुमार हम लोगों द्वारा निंदित हैं. फिर वे सोमपान के अधिकारी कैसे हो सकते हैं? ये देवताओं के सदृश नहीं. अतः उन के लिए इस तरह की बात न करें. हम उन के साथ सोमपान नहीं करना चाहते. अतः इसे छोड़ कर यदि किसी अन्य काम की आप आज्ञा देंगे तो उसे मैं अवश्य पूर्ण करूंगा. द्विजश्रेष्ठ, यह निश्चित है कि मैं दोनों अश्विनीकुमारों के साथ सोमपान नहीं करूंगा. अन्य देवताओं की इच्छा हो तो वे उन के साथ सोमपान कर लें. मैं तो ऐसा नहीं कर सकता.

यही नहीं, चिकित्सक को बलि का पशु भी बनाया गया. यजुर्वेद में जहां पुरुषमेध

में बलि दिए जाने वाले व्यक्तियों की सूची दी गई है, वहां लिखा है: पवित्राय भिषजम् **(यजुर्वेद, 30/10) अर्थात पवित्र के लिए भिषक (चिकित्सक) की बलि दे.**

इस के बावजूद लोगों ने बीमारियों से छुटकारा पाने के प्रयास जारी रखे. अथर्वन ऋषि के वंशजों ने इस दिशा में कुछ प्रगति भी की.

ऋग्वेदकाल में तो केवल मंत्रों से झाड़फूंक होती थी.

विष दूर करने का नुस्खा

सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामारे अस्य योजनं,
हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार.

–ऋ. 1/191/10

अर्थात अश्व द्वारा परिचालित हो कर सूर्यदेव दूर स्थित विष को दूर करते हैं. विष, मधुविद्या तुम्हें अमृत के रूप में परिणत कर देती है.

राजयक्ष्या (तपेदिक) का उपचार

अंगादंगाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि,
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते:

–ऋ. 10/163/6

अर्थात प्रत्येक अंग, प्रत्येक रोम, शरीर के प्रत्येक जोड़ और तुम्हारे सर्वांग में जहां कहीं यक्ष्मा रोग उत्पन्न हुआ है, मैं उसे वहां से दूर करता हूं.

नींद लाने की दवा

य आस्ते यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः,
तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा

–ऋ. 7/55/6

अर्थात जो भी यहां बैठा हो, चलताफिरता हो या देखताभालता हो, हम हर एक की आंखें बंद कर रहे हैं. सब कोई इस स्थिर भवन की भांति निश्चल हो जाए.

पुत्र उत्पन्न करने का नुस्खा

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्,
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे.

–ऋ. 10/183/2

अर्थात मैं ने मानस चक्षु से देखा कि तुम्हारी मूर्ति उज्ज्वल है. तुम यथासमय अपने शरीर में गर्भाधान की कामना करती हो. तुम ने पुत्र की इच्छा की है. मेरे आस आ कर तुम तरुणी हो जाओ. तुम पुत्र उत्पन्न करो.

जलोदर रोग का इलाज

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिव:, मृळा सुक्षत्र मृळय

–ऋ. 7/89/2

अर्थात हे वरुण, यह तेरा महागर्जन अंतरिक्ष में भरता है. मैं फूली हुई मशक के समान हूं. अतः लड़खड़ाता हुआ चलता हूं. महाशक्तिशालिन्, सुख दे. रक्षा कर. सुख दे.

लेकिन अथर्वा के वंशजों ने भेषज (औषध) का भी प्रयोग इस के साथ आरंभ कर दिया, यद्यपि यह भेषज आज की अपेक्षा आदिम रूप में ही था. उन्होंने जंगिड (अथर्व. 19/34/1), गुल्गुल (अथर्व. 19/38/1), कुष्ठ (अथर्व. 19/39/1), आदि कुछ औषधियों का प्रयोग आरंभ किया. यह एक करेला दूसरा नीम चढ़ा वाली बात थी. एक तो चिकित्सा वैसे ही दूषित, ऊपर से मंत्रों द्वारा झाड़फूंक के स्थान पर औषध का प्रयोग, वृक्षों की जड़ों, बूटियों आदि का प्रयोग.

इसलिए अथर्वा और उस के वंशजों का बहिष्कार किया गया. उन के द्वारा संगृहीत अथर्ववेद को 'वेद' ही नहीं स्वीकारा गया. ऋग्वेद से संबद्ध किसी ब्राह्मण ग्रंथ में अथर्ववेद का नाम तक नहीं मिलता. यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, कौषीतकी ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में भी इसे वेदों में परिगणित नहीं किया गया है. कात्यायन (शुक्ल यजुर्वेद से संबद्ध) और लाट्यायन (सामवेद से संबद्ध) श्रौत सूत्रों जैसे दूसरे प्राचीन ग्रंथों में भी इस का उल्लेख नहीं है.

छांदोग्य ब्राह्मण (6/11) ने केवल तीन वेदों की बात की है. अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद उपजा. यह त्रयी विद्या है.

अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि, सामान्यादित्यात् स एतां त्रयीं विद्याम्.

मनुस्मृति भी केवल तीन वेदों का नाम लेती है. यथा:

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्,
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु:सामलक्षणम्.

–मनु. 1/23

अर्थात उस परमात्मा ने यज्ञों की सिद्धि के लिए अग्नि, वायु और सूर्य से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को प्रकट किया.

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुष:, सामवेद: स्मृत: पित्र्य:

–मनु. 4/124

अर्थात ऋग्वेद के देव, यजुर्वेद के मनुष्य और सामवेद के पितर देवता हैं.

आपस्तंब ने अथर्ववेद के परिशिष्ट भाग को स्त्रियों और शूद्रों के पढ़ने योग्य घोषित किया है:

अथर्वणस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति.

–आपस्तंब धर्म सूत्र 2/11/29/12

विष्णुधर्मसूत्र (विष्णुस्मृति) ने अथर्वा के वंशजों द्वारा प्रवर्तित जड़ों आदि से उपचार को निषिद्ध घोषित किया. मूलक्रियास्वनभिरतिः (25/7) अर्थात जड़ों से इलाज करने में रुचि नहीं रखनी चाहिए.

मनु ने जड़ों से उपचार को गोहत्या के समान (उपपातक) घोषित किया है:

गोवधः 59 हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च. 63.

–मनु. 11/59, 63

जड़ों से उपचार का ही निषेध नहीं किया गया, बल्कि चिकित्सक को भी अति अपवित्र और निंदनीय माना गया:

भिषक् चिकित्सकस्य...अन्नमनाद्यम्

–आपस्तंब धर्मसूत्र 1/6/19/14, 1/6/18/21 गौतम धर्मसूत्र 2/2/17

अर्थात चिकित्सक और शल्य चिकित्सक का अन्न खाने के योग्य नहीं होता.

पूयं चिकित्सकस्यान्नम्

–मनुस्मृति 4/220

अर्थात चिकित्सा करने वाले का अन्न पीब के समान है, अतः ग्राह्य नहीं.

नानृग्ब्राह्मणो भवति....न चिकित्सकः

–वसिष्ठस्मृति 3/4

अर्थात वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं जो वेद नहीं जानता और जो चिकित्सा का काम करता है.

वैद्यो...चतुर्विप्रा न पूज्यन्ते बृहस्पतिसमा यदि

–अत्रि संहिता, 387

अर्थात वैद्य आदि चार तरह के ब्राह्मणों का सत्कार नहीं करना चाहिए, चाहे वे बृहस्पति के समान ही विद्वान क्यों न हों.

चिकित्सकस्य यच्चान्नमभोज्यम्

–महाभारत, शांतिपर्व 36/30, वसिष्ठ स्मृति 4/2, मनुस्मृति 4/212, याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय, श्लो. 162

अर्थात चिकित्सक का अन्न खाने के अयोग्य है.

चिकित्सकान्....वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः

–मनु. 3/152

अर्थात चिकित्सा करने वाले ब्राह्मण को न श्राद्ध में भोजन कराए और न किसी देवपूजा आदि के अवसर पर.

भिषजे पूयशोणितम्

–मनु 3/180

अर्थात चिकित्सा कर के आजीविका चलाने वाले ब्राह्मण को भोजन कराने से पीब और रक्त खाने वाले कीड़ों की योनि में उत्पन्न होना पड़ता है. (मनुस्मृति, मणिप्रभा हिंदी टीका, पृ. 145).

भिषजे पूयशोणितम्

–महाभारत, अनुशासनपर्व, 90/13

अर्थात श्राद्ध में यदि वैद्यक करने वाले ब्राह्मण को जिमाया जाए तो उसे खिलाया गया अन्न पितरों के लिए पीब और रक्त के समान हो जाता है. (महाभारत, हिंदी टीकासहित, पृ. 5746, गीता प्रेस, गोरखपुर) भाव यह है कि वैद्य को खिलाने के 'अपराध' में खिलाने वाले के पितरों को दंड मिलता है. उन्हें पीब और रक्त खाना पड़ता है.

चिकित्सा को इतना गंदा और घटिया घोषित किया गया कि हिंदू धर्मशास्त्र इसे करने की आज्ञा केवल वर्णसंकरों (अंतर्जातीय विवाहों की संतानों, जिन्हें नीच समझा जाता था और जो एक तरह से सभ्य समाज के बहिष्कृत लोग थे) एवं अवैध संतानों को देते हैं.

उशना स्मृति में यह काम ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री की संतान को सौंपा गया है:

ब्राह्मणाद् वैश्यायामम्बष्ठ:, हि अंबष्ठा: शल्यजीविन:

–उशनास्मृति 31

अर्थात ब्राह्मण द्वारा वैश्य स्त्री से उत्पन्न संतान अंबष्ठ कहलाती है. वह शल्य चिकित्सा कर के अपना निर्वाह करे.

उशना ने एक अन्य वर्णसंकर जाति को भी यह काम सौंपा है. वह है क्षत्रिय स्त्री और ब्राह्मण पुरुष के गुप्त संबंधों के परिणामस्वरूप जन्मी भिषक जाति. इसे आयुर्वेद के आठों अंगों को पढ़ कर अपनी आजीविका चलाने का निर्देश दिया गया है:

नृपायां विप्रतश्चौर्यात् संजातो यो भिषक् स्मृत: वैद्यक:
आयुर्वेदमथाष्टांगं तंत्रोक्तं धर्ममाचरेत्, कामिकीं वृत्तिमाचरेत्

–उशना स्मृति 26, 27

अपरार्क का मत है कि भिषक शल्य चिकित्सा एवं रोगियों की सेवा कर के अपनी आजीविका चलाए.

मनु का कथन है: अंबष्ठकों का पेशा चिकित्सा है.

अंबष्ठानां चिकित्सनम्

–मनु. 10/47

चिकित्सा और चिकित्सक के प्रति दुर्भाव को वैदिक परंपरा के कवियों तक ने सूक्तियों में पद्यबद्ध कर के आम आदमी के मन में उसे बैठाने की पूर्ण कोशिश की. यथाः

वैद्यराज नमस्तुभ्यं यमराजसहोदर,
यमो हरति वै प्राणान् त्वं प्राणान् धनानि च.

अर्थात हे वैद्य, तुम यमराज के भी बड़े भाई हो. तुम्हें दूर से ही नमस्कार. यम तो केवल प्राणों को हरता है, लेकिन तुम प्राणों के साथसाथ धन को भी हरते हो.

वैद्यनाथ नमस्तुभ्यं क्षपिताशेषमानव,
त्वयि संन्यस्तभारोऽयं कृतान्तः सुखमेधते. (मय)

आयुर्विज्ञान की परंपरा

अर्थात सारी मानव जाति का विनाश करने वाले हे वैद्यनाथ, आप पर भार सौंप कर यमराज अब आराम कर रहा है. आप को दूर से ही नमस्कार है.

प्राचीन भारत में इतना सब कुछ होने पर भी आयुर्विज्ञानियों की एक परंपरा मिलती है. लेकिन यह परंपरा अवैदिक लोगों की है, जिन में शामिल हैं व्रात्य, चार्वाक और बौद्ध.

इस परंपरा ने आयुर्विज्ञान का विरोध करने वाले पुरोहित पर भरपूर गोलाबारी की.

पुरीषस्य च रोषस्य हिंसायाः तस्करस्य च,
आद्याक्षराणि संगृह्य वेधाश्चक्रे पुरोहितम्.

अर्थात पुरीष (मल), रोष (क्रोध), हिंसा और तस्कर के आदि अक्षरों को एकत्र कर के विधाता ने पुरोहित की रचना की है.

जब बौद्ध क्रांति को प्रतिक्रांति द्वारा दबा दिया गया, तब पुनः ब्राह्मणवाद ने सिर उठाया और पहले से चली आ रही आयुर्विज्ञान की अवैदिक परंपरा का मूलोच्छेद कर उस के प्रति जनरुचि नष्ट करने का हर संभव प्रयास किया गया, क्योंकि चिकित्सा ब्राह्मण पुरोहित के उस दार्शनिक महल की नींव–कर्मसिद्धांत–पर वज्राघात करती थी, जो कहता था कि बीमारियां पिछले जन्म के दुष्कर्मों के दंडस्वरूप पैदा होती हैं.

गरुड़ पुराण के कई अध्यायों में बड़े विस्तार से बताया गया है कि पूर्वजन्म में कौन सा पाप करने के दंडस्वरूप अगले जन्म में कौन सी बीमारी होती है. अ. 5 के कुछ श्लोक प्रस्तुत हैंः

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्, कन्याघाती भवेत्कुष्ठी
दुश्चर्मा गुरुतल्पगः

मांसभोक्ताऽतिरक्तांगः श्यावदंतस्तु मद्यपः,
अभक्ष्यभक्षको लौल्याद् ब्राह्मणः स्यान्महोदरः
श्राद्धेऽन्नमशुचिं दत्त्वा चित्रकुष्ठी प्रजायते
गुरोर्गर्वेणावमानादपस्मारी भवेन्नरः,
निन्दको वेदशास्त्राणां पांडुरोगी भवेद् ध्रुवम्

–गरुड़पुराण, 5/3-7

अर्थात ब्राह्मण का हत्यारा क्षयरोगी होता है. कन्याघाती कोढ़ी होता है. गुरु की पत्नी से संभोग करने वाला चर्मरोगी होता है. मांसाहारी अति रक्तांग (कुष्ठ विशेष) होता है. शराबी व्यक्ति के दांत काले हो जाते हैं. भक्ष्यअभक्ष्य का ध्यान न रखने वाला जलोदर रोगी होता है. श्राद्ध में अपवित्र अन्न परोसने वाला फुलबहरी ग्रस्त होता है. गर्व से गुरु का अपमान करने वाला मिरगी का शिकार होता है. वेदों और शास्त्रों का निंदक पीलिया रोग से ग्रस्त होता है.

चिकित्सक औषध से इन रोगों को दूर कर के उस 'दंड' में हस्तक्षेप करता था. इस से कर्म सिद्धांत झूठा सिद्ध होता था और उस सिद्धांत का प्रचार करने वालों की रोटीरोजी प्रभावित होती थी.

लेकिन पुरोहित की रोटीरोजी रहे या न रहे, इस से रुग्ण व्यक्ति को क्या लेनादेना? पुरोहित के ऐड़ीचोटी का पसीना एक करने के बावजूद जब लोग चिकित्सा से विमुख न हुए तो पुरोहित ने पैंतरा बदला. उस ने दोधारी नीति अपनाई. एक तो उस ने दैव व्यपाश्रय भिषक अर्थात अपनी पुरोहित ब्रांड चिकित्सा को अचूक चिकित्सा घोषित किया, दूसरे उस ने चिकित्सक पर अपना गलबा डालने की कोशिश की.

एक, उस ने व्रत, तीर्थयात्रा, दान आदि से रोगों के दूर होने के सब्जबाग दिखाने शुरू किए.

स्कंद पुराण में कहा गया है कि सोमवार को व्रत करने तथा सब प्रकार के अनाज पुरोहित की भेंट चढ़ाने से सब व्याधियां नष्ट हो जाती हैं:

प्रथमः सोमवारस्तु तं नक्तेन पूजयेत्.
अन्नानि यान्यभीष्टानि तानि सर्वाणि दापयेत् आरोग्यं जायते

–जयसिंहकल्पद्रुम, पृ. 850 पर उद्धृत

भविष्योत्तर पुराण में शुक्रवार के व्रत को आयु बढ़ाने वाला एवं आरोग्यप्रद कहा है. आगे कहा गया है कि यदि व्यक्ति ब्राह्मणों को संतुष्ट करे, शुक्र देवता की सोने की मूर्ति बनवाए. उसे चांदी या कांसे के पात्र में रख कर और सफेद कपड़े में लपेट कर ब्राह्मण को दान करे तो उस की आयु बढ़ेगी तथा उस के रोग नष्ट हो जाएंगे :

पूर्वोक्तक्रमयोगेन द्विजानां तर्पणेन तु,
सप्तमे त्वथ संप्राप्ते सौवर्णं कारयेत् सितम्.
रौप्ये वा कांस्यपात्रे वा स्थापयित्वा भृगोः सुतम्.

संपूज्य परया भक्त्या श्वेतवस्त्रानुलेपनैः.
दद्याद् ब्राह्मणाय, हत्वा, ग्रहकृतान् दोषानायुरारोग्यदो भव.

स्कंद पुराण का कहना है कि शनि ग्रह के कारण पैदा होने वाली व्याधियों को नष्ट करने के लिए शनि की लौह प्रतिमा बना कर, उड़दभात, तिल, लोहा, दक्षिणा, काली गाय अथवा काला बैल ब्राह्मण को दे:

भक्त्योपचारैः संपूज्य प्रतिमां लोहजां मम.
माषौदनं तिलैर्मिश्रं दद्याल्लोहं च दक्षिणाम्
कृष्णां गां वृषभं वापि दद्याद् विप्राय धीमते.

नेत्र रोग और कुष्ठादि चर्म व्याधियों के नाश के लिए रविवार को व्रत रखा जाए. ब्राह्मण दंपती को भोजन करा कर यथाशक्ति लाल वस्त्र, फल एवं दक्षिणा से उसे प्रसन्न करे.

रक्त में विकार से उपजने वाली तकलीफों–फोड़ा, फुंसी, उठाव आदि को शांत करने के लिए मंगलवार को व्रत करे. गुड़, पीले लड्डू तथा लाल वस्त्र दान में दें.

पुरानी बीमारियों को दूर करने के लिए शनिवार को व्रत करें. 19वें शनिवार को जूते, जुराब, नीले रंग के वस्त्र, काले माश (उड़द), चाकू, तेल निर्मित वस्तुएं वृद्ध ब्राह्मण को दें. (ज्वर और कुष्ठ आदि) शरीर तथा आगंतुक (चोट आदि से उत्पन्न) व्याधि के नाश के लिए रविवार को ब्राह्मण की पूजा कर के उसे घृत, गुड़, नमक और सुवर्ण का दान करें. जो सोमवार को ब्राह्मण के लिए उबटन देता है, वह सब रोगों से छूट जाता है. आश्विन के महीने में गोरस, गाय का घी, दूध और दही तथा अन्न देने वाला सब रोगों से छुटकारा पा जाता है. जिस नक्षत्र में रोग पैदा हो, उसी शुभ नक्षत्र में स्नान करे तथा बलि दे. (अग्निपुराण 280/2-5).

जप से इलाज

इस के साथ ही एक अन्य साधन निकाला गया–जप का. बताया गया कि अमुक मंत्र का जप करने से अमुक रोग दूर होता है. यथाः 'ओंकार' आदि मंत्र आयु देने वाले तथा सब रोगों को दूर कर के आरोग्य प्रदान करने वाले हैं. 'औं हूं विष्णवे नमः**' यह मंत्र उत्तम औषध है. इस मंत्र का जप करने से देवता और असुर नीरोग हो गए. 'पुष्कराक्ष' यह नाम मंत्र नेत्र रोगों का निवारण करने वाला है.**

औषध देते और लेते समय इन सब नामों का जप करना चाहिए. औषध कर्म में 'अच्युत' इस अमृत मंत्र का भी जप करे. (अग्नि पुराण–अ. 284, श्लोक 1-10).

धर्मसिंधु में कहा गया है:

रोगानुसारेण लघुरुद्रमहारुद्रातिरुद्राणां जपोऽभिषेको वा.
विष्णुसहस्रनामस्तोत्रस्य शतं सहस्रमयुतं वा जपः सौरजपः.
सूर्यनमस्काराार्घ्यदानानि मुंचामि त्वेति सूक्तजपोऽच्युतानंतगोविंदेति
नामत्रयजपो मृत्युंजयजपश्च रोगानुसारेणेति सर्वरोगहराणि.

–धर्मसिंधु, तृतीय परिच्छेद

अर्थात रोग के अनुसार लघुरुद्र, महारुद्र और अतिरुद्र का जप या अभिषेक, विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र का 100 बार या 1000 या 10,000 बार जप, सूर्य मंत्र का जप, सूर्य नमस्कार, सूर्य को अर्घ्य देना, 'मुंचामि त्वा' इस सूक्त का जप, अच्युत, अनंत, गोविंद इन तीन नामों का जप और मृत्युंजय जप रोग के अनुसार करे. ये सब रोगों को दूर करने वाले हैं.

यहां यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि ये जप भी पुरोहित की आमदनी का साधनमात्र थे. जप के लिए नहानाधोना, मुद्रा विशेष में चिरकाल तक बैठना आदि आवश्यक कहा गया है. रोगी यह सब नहीं कर सकता. अतः दानदक्षिणा ले कर उस के लिए पुरोहित ही जप करता था.

पूर्वोक्त प्रकार की बातें आज भी पंचांगों (जंत्रियों) में लिखी मिलती हैं और आज भी पुरोहित, ज्योतिषी आदि इन का प्रचार करते हैं, इन्हें अपनाने की लोगों को जोरदार शिक्षा देते हैं.

इन के साथ मंत्र, ध्यान आदि की अन्य ऐसी विधियां भी आविष्कृत की गईं जिन में वैद्य नहीं, पुरोहित/पंडेपुजारी अपेक्षित थे. आदिशंकराचार्य ने तरणताल में नहाती देवी के ध्यान के द्वारा बुखार आदि दूर करने के नुस्खे लिखे हैं. उन्होंने 'आनंदलहरी' में लिखा है:

वसन्ते सानन्दे कुसुमितलताभिः परिवृते,
स्फुटनानापद्मे सरसि कलहंससुभगे.
सखीभिः खेलन्तीं मलयपवनान्दोलितजले,
स्मरेद् यस्त्वां तस्य ज्वरजनितपीडापसरति.

–आनंदलहरी

अर्थात हे देवी, वसंत में फूलों से भरी लताओं से घिरे, नाना प्रकार के कमलों से सुशोभित और सुगंधित हवाओं से हिल रहे पानी वाले सरोवर में अपनी सखियों के साथ आनंदपूर्वक खेलती हुई जो तुम्हारा ध्यान करता है, उस का ज्वर दूर हो जाता है.

एक दूसरी पुस्तक–सौंदर्यलहरी–में इस से भी आगे की बात कही गई है:

किरन्तीमंगेभ्यः किरणनिकुरम्बामृतरसं,
हृदि त्वामाधन्ते हिमकरशिलामूर्तिमिव यः.
स सर्पाणां दर्पं शमयति शकुन्ताधिप इव,
ज्वरप्लुष्टान् दृष्ट्या सुखयति सुधाधारसिरया.

–सौंदर्यलहरी–20

अर्थात हे देवी, जो तुम्हारे उस रूप का ध्यान करता है, जिस में तुम्हारे शरीर से आनंद की प्रकाशवती लहरें उसी प्रकार निकलती हैं जैसे चंद्रमणि से निकला करती हैं; वह अपनी दृष्टि मात्र से बड़ेबड़े सांपों के गर्व को गरुड़ की तरह चकनाचूर कर देता है, वह जिस को देखता है, अमृत बरसाने वाली नाड़ी की तरह, उस की हर बीमारी को, हर तरह के बुखार को, शांत कर देता है.

कहते हैं कि सम्राट हर्षवर्धन के समकालीन मयूरभट्ट को बाण की पत्नी के शाप से कोढ़ हो गया था और उसे उस ने सूर्य की प्रशंसा में संस्कृत में सौ श्लोक (सूर्यशतक) लिख कर दूर किया था, (हालांकि सच यह है कि यह बीमारी शाप से नहीं बल्कि माइक्रोबैक्टीरियम लेपरी बैसिल्स नाम के जीवाणु के कारण होती है और यह श्लोक बनाने और पढ़ने से दूर नहीं होती. इस के लिए सल्फोन की गोलियां लंबे अरसे तक खानी पड़ती हैं. आपरेशन की भी जरूरत पड़ सकती है. साथ ही सल्फोक्जोन तथा सोलपसोन दवाइयां भी खानी पड़ती हैं जो आधुनिक चीजें हैं और काफी महंगी हैं) अतः पांच में से एक मरीज का ही सही इलाज हो पाता है. यदि सूर्यशतक के पढ़ने, सूर्य की पूजा करने से कोढ़ दूर हो जाता, फिर तो दुनिया भर के लाखों कोढ़ी कब के नीरोग हो गए होते – सौ श्लोक दुहराए, सूर्य को पूजा और बस. न हींग लगे न फिटकरी, रंग चोखा!

तुलसीदास ने अपनी बांह में होने वाले दर्द के उपचार के लिए हनुमान की स्तुति में 'हनुमानबाहुक' रच दिया और यह प्रचार किया गया कि इस से क्योंकि तुलसी की बाहु की पीड़ा शांत हुई है, अतः जो भी इस का पाठ करेगा उस की भी बाहु-पीड़ा शांत हो जाएगी. इस तरह लोगों को औषधि के स्थान पर पाठ के पीछे लगाया गया.

दूसरे, उस ने चिकित्सक पर भी अपना आधिपत्य जमा कर, अपने को उस से बड़ा दर्शा कर, अपने हलवेमांडे को सुरक्षित किया. उस ने ग्रहों और नक्षत्रों के शुभअशुभ फल की कपोलकल्पित बातों से न केवल आम आदमी को, बल्कि चिकित्सक को भी भरमाने की कोशिश की और ऐसी बातें कीं जिन से रोगी औषध देने से ही पराङ्मुख हो जाए. उस ने कहा कि अमुक नक्षत्र में रोग पैदा होगा तो इतने दिन तक पीड़ा अवश्य रहेगी. उस के बाद स्वत. खत्म हो जाएगी. अतः औषध लेना या न लेना एक ही बात है.

नीचे कुछ नक्षत्रों के विषय में भिन्नभिन्न रोग अवधियां अंकित हैं: अश्विनी नक्षत्र में रोग की उत्पत्ति होने पर एक दिन या 9 दिन अथवा 25 दिन तक पीड़ा होती है. भरणी नक्षत्र में रोग उत्पन्न होने पर 11 अथवा 21 अथवा 1 महीने तक पीड़ा होती है अथवा मृत्यु हो जाती है. कृत्तिका में 10 दिन या 9 दिन अथवा 21 दिन पीड़ा रहती है:

> अश्विन्यां रोगोत्पत्तौ एकाहं नवदिनानि वा पंचविंशतिदिनानि वा पीड़ा
> भरण्यामेकादशैकविंशतिर्वा मासं वा मृत्युर्वा.
> कृत्तिकायां दश नवैकविंशतिर्वा
>
> –धर्मसिंधु, तृतीय परिच्छेद 1–3

इसी तरह 27 नक्षत्रों के विषय में काल्पनिक रोग अवधियां लिखी मिलती हैं. इस सब का परिणाम यह हुआ कि लोगों में औषध न लेने की प्रवृत्ति बढ़ी और वैद्य हतोत्साहित हुए. लोग रोग निवृत्ति के लिए वैद्य के पास जाने की अपेक्षा पुरोहित और ज्योतिषी के पास यह जानने के लिए जाने लगे कि रोग किस नक्षत्र में पैदा हुआ है और कितने दिन बाद शांत होगा.

हर व्यक्ति मृत्यु से डरता है. उसे अपने से दूर रखना चाहता है. पुरोहितों ने, जिन्हें अपनी दानदक्षिणा मिलने न मिलने तक का कुछ ज्ञान न था, लोगों को वैद्य से दूर कर के अपने चंगुल में फंसाने के लिए उन्हें बताना शुरू किया कि अगर अमुक तिथि को आदमी बीमार होगा तो उस की मृत्यु निश्चित है. एक बहुत लंबी सूची में से कुछ योग निम्नलिखित हैं:

जन्मनक्षत्र, जन्मराशि और अष्टम चंद्रमा में रोग का आरंभ होने पर मृत्यु होती है. रविवार को मघा द्वादशी, सोमवार को विशाखा एकादशी, मंगलवार को पंचमी आर्द्रा के योग में मृत्यु होती है:

जन्मनक्षत्रे जन्मराशौ अष्टमचंद्रे रोगोत्पत्तौ मृत्युः
अर्कादिवारे क्रमेण मघाद्वादश्यौ विशाखैकादश्यौ पंचम्याद्रे...योगे मृत्युः
—धर्मसिंधु, तृतीय परिच्छेद

लोगों को इस तरह अंधकारमय भविष्य से भयभीत कर उन के रोग तो पंडोंपुरोहितों से दूर न हो सकते थे, पर उन्होंने अपनी गरीबी अवश्य दूर कर ली. 'धर्मसिंधु' में आगे लिखा है कि जिसजिस नक्षत्र में रोग आरंभ होने से मृत्यु अवश्य होती बताई गई है, उसउस नक्षत्र की शांति अवश्य करनी चाहिए. शांति में मुख्यतः उस नक्षत्र की सोने की प्रतिमा बनानी चाहिए, उस की पूजा कर के, वह सुवर्णमूर्ति तथा एक गाय पुरोहित को दी जानी चाहिए:

येषु नक्षत्रेषु मरणमुक्तं तत्र शांतिरावश्यकी....नक्षत्रदेवताप्रतिमां
सौवर्णीं संपूज्य....आचार्याय प्रतिमां च दद्यात्.

ध्यान रहे, पुरोहित ने कहीं भी यह बात नहीं कही कि इस तरह शांति करने से मृत्यु टल जाएगी. यदि दान देने के पश्चात संयोगवश कोई बच गया तो पुरोहित अपनी पीठ पर थापी दे कर उस का उदाहरण यहांवहां दे कर दूसरों को उलटे उस्तरे से निर्विकार भाव से मूंड़ता था. यदि दान देने वाला मर जाता, तब भी पुरोहित के लिए कोई धर्म संकट नहीं पैदा होता था. वह बड़ी ढिठाई से मृतक के संबंधियों को बताता कि मृत्युयोग था. उस को कोई कैसे टाल सकता था. हां, हम ने जो अनुष्ठान किया, मृतक ने जो दान आदि दिया है, उस से उस की सद्‌गति होगी. उसे स्वर्ग में देवदुर्लभ स्थान प्राप्त होगा.

जो लोग फिर भी औषध खाने से विमुख नहीं हुए, पुरोहितों ने उन के दवाई खाने के दिन तक पर अपना अधिकार जमाया. उन्हें नक्षत्र जानने और मंत्रोच्चारण करने के चक्र में फंसाया ताकि वैद्य से पहले रोगी उन के यहां भेंट चढ़ाएं:

ज्येष्ठामूलश्रुतिस्वातीमृदुक्षिप्रपुनर्वसौ, गुरुशुक्रेन्दुवारेषु शस्तं भेषजभक्षणम्
—धर्मसिंधु, पृ. 675

अर्थात ज्येष्ठा, मूल, श्रवण, स्वाति, पुनर्वसु नक्षत्रों, गुरुवार, शुक्रवार और सोमवार को औषध ग्रहण करना उत्तम है.

998/20

औषध चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी तिथि, भौमवार, एवं मंद, दारुण तथा उग्र नक्षत्र में शुरू न करे. चिकित्सक को चाहिए कि विष्णु, गौ, ब्राह्मण, चंद्रमा, सूर्य आदि देवों की पूजा कर के रोगी के उद्देश्य से निम्नलिखित मंत्र का उच्चारण करते हुए औषध प्रारंभ करे:

ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः, ऋषयश्चौषधीग्रामा भूतसंघाश्च पांतु ते.
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा, सुधैवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते.

अर्थात ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, रुद्र, इंद्र, भूमि, चंद्रमा, सूर्य, अनिल, अनल, ऋषि, औषधिसमूह तथा भूतसमुदाय—ये तुम्हारी रक्षा करें. जैसे ऋषियों के लिए रसायन, देवताओं के लिए अमृत तथा श्रेष्ठ नागों के लिए सुधा ही उत्तम एवं गुणकारी है, उसी प्रकार यह औषध तुम्हारे लिए आरोग्यकारक एवं प्राणरक्षक हो. (अग्निपुराण, 280/7-14).

इस तरह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में ब्राह्मण पुरोहित ने चिकित्साशास्त्र को पैर जमाने से रोकने के लिए अनेक हथकंडे अपनाए. कभी चिकित्सक को नीच और अपवित्र घोषित किया गया तो कभी चिकित्सा को समाज में निंदित लोगों का पेशा बताया और बनाया गया. कभी दानदक्षिणा के अवसर जुटाने वाले कामों को चिकित्सा के नाम पर प्रचारित किया गया तो कभी चिकित्सा विज्ञान पर ग्रहनक्षत्रों की मनहूस छाया डाल कर उसे अंधविश्वासों का पुंज बनाने की कोशिश की गई. इस सब का दुष्परिणाम यह हुआ कि जनता वैद्यों से चिकित्सा करवा कर भी मन में उन्हें नीच, अपवित्र और गंदा मानती रही.

चिकित्सकों के प्रति यह अपवित्रता और नीचता की भावना 19वीं शताब्दी तक स्पष्ट देखी जा सकती है. 1830 ईसवी के लगभग जब कलकत्ता मेडिकल कालिज खुला तो इसी कारण वहां दाखिला लेने के लिए तथाकथित ऊंची जातियों का कोई बिरला ही विद्यार्थी हौसला करता था.

आज प्राचीन भारत का गुणगान करने वाले अतीतवादी हिंदू चरक आदि प्राचीन आयुर्विज्ञानियों की उपलब्धियों को हिंदू धर्म व वेदों की महानता के रूप में प्रस्तुत करते हैं; जबकि वास्तविकता यह है कि वे हिंदू धर्म व वैदिक परंपरा के कारण नहीं, बल्कि उन के जानलेवा विरोध के बावजूद पनपे. इस प्रतिकूलता के कारण ही बहुत कम नाम ऐसे हैं, जिन्होंने आयुर्विज्ञान को समृद्ध किया.

एक तरह से बौद्ध क्रांति के खत्म होने के साथ ही आयुर्विज्ञान में मौलिक खोजें खत्म हो गईं. भारतीय संस्कृति के निष्पक्ष विद्वानों का मत है कि भारत में दवाइयों और शल्यचिकित्सा के क्षेत्र में बौद्ध काल में जो असाधारण प्रगति हुई, उस का कारण है बुद्धधर्म का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धांत कि दुखों को नष्ट करना है. (देखें, द कल्चरल हैरिटिज आफ इंडिया, जिल्द 3, पृ. 445).

ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में हुए बौद्ध नागार्जुन के बाद शायद ही कोई ऐसा नाम हो जिसे आयुर्विज्ञान को उन्नत करने वालों में शामिल किया जा सके. इसी कारण आज का आयुर्वेद का नामलेवा (पक्षपाती) हिंदू हजारों वर्ष पहले के ग्रंथों

की ओर भागता है, जबकि उस समय के आयुर्विज्ञान को बाद की शताब्दियों के ज्ञान की अपेक्षा निम्नस्तर का होना चाहिए था, यदि बाद की शताब्दियों में उस में उत्तरोत्तर उन्नति हुई होती.

आज हिंदू धर्म व वेद विरोधी परंपरा के लोगों की उपलब्धियों को हिंदू धर्म व वेदों की उपलब्धियां बना कर क्यों पेश किया जा रहा है? इस प्रश्न के उत्तर के दो भाग हैं. एक तो यह कि अतीतवादी हिंदू को आयुर्वेद में 'वेद' शब्द देख कर भ्रम होता है कि यह उस के वेदों की ही शाखा है, जबकि आयुर्वेद में 'वेद' मात्र ज्ञान का अर्थ देता है—आयु का ज्ञान.

वैसे 'वेद' शब्द को हिंदू भोलेपन के कारण ही अपना रहा हो, ऐसी बात नहीं. यह आयुर्वेद को वेदों से जोड़ने का चतुराईपूर्ण तरीका भी है. इसी आधार पर तो अवैदिक आयुर्विज्ञान को वैदिक बताया जाता है.

दूसरे यह कि अतीत को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए आवश्यक है कि उस में से फालतू को निकाला जाए और जो नहीं है, वह जोड़ा जाए. तभी सर्वांग सुंदर चित्र उभर सकता है. उन्हें मानव के लिए अतिउपयोगी आयुर्विज्ञान जब अपने हिंदू अतीत में नहीं मिलता तो वे अहिंदू अतीत को हिंदू अतीत बनाने का हथकंडा अपनाते हैं. लेकिन इस तरह अधर्म अर्थात छलकपट से धर्म की कब तक महानता स्थापित रह सकती है?

हिंदू धर्म की इस तरह झूठी महिमा स्थापित करने के स्थान पर हमें सच्चाई को, चाहे वह कड़वी है, स्वीकार कर के आधुनिक विज्ञान के आलोक में आगे बढ़ना चाहिए और हर मूर्खतापूर्ण बात को त्याग कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए; क्योंकि महत्त्वपूर्ण हिंदू धर्म की महिमा नहीं, बल्कि महत्त्वपूर्ण है मानव का आरोग्य, मानव का कल्याण.

टेस्टट्यूब बेबी और हिंदू धर्म ग्रंथ

इस देश में एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसे लोगों का है, जो विज्ञान के प्रत्येक आधुनिक आविष्कार के बाद यह दावा करने लगता है कि इस का आविष्कार तो हमारे पूर्वजों ने बहुत पहले ही कर लिया था और इस के समर्थन के लिए उदाहरण ढूंढ़ते हुए वे वेदोंपुराणों तक सरपट दौड़ लगाने लगते हैं.

जब से आधुनिक वैज्ञानिकों ने टेस्ट ट्यूब में से बच्चे को पैदा किया है, तब से ये लोग यह सिद्ध करने के लिए हाथपैर मार रहे हैं कि उन के पूर्वजों ने यह चमत्कार तो हजारों वर्ष पहले ही कर दिखाया था.

इस के लिए वे वेदों, पुराणों आदि की काल्पनिक एवं असंभाव्य किस्से कहानियों को वैज्ञानिक शब्दावली के पैबंद लगा कर पेश कर रहे हैं और इस तरह के लेख कई पत्रपत्रिकाओं ने बड़े जोरशोर से प्रकाशित हो रहे हैं.

इस से पहले कि हम उन किस्सेकहानियों को उद्धृत कर उन पर विचार करें, हमें यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'टेस्ट ट्यूब बेबी' (परखनली शिशु) है क्या और उस की उत्पत्ति की प्रक्रिया क्या है.

इस प्रक्रिया को अंगरेजी में 'इन विट्रो फरटेलाइजेशन एंड एंब्रियो ट्रांसफर' (आई.वी.एफ.ई.टी.) कहते हैं. जिस का अर्थ है–परखनली में उपजाऊपन और गर्भ का स्थानांतरण.

इस प्रक्रिया में क्या किया जाता है? इस में स्त्री के डिंबाशय में हारमोनों द्वारा डिंब को परिपक्व किया जाता है, तब उसे वहां से निकाला जाता है.

डिंबाशय से डिंब को निकालने के लिए अब 'अल्ट्रा साउंड तरंगों' का उपयोग किया जाने लगा है. जब तरंगें महिला के गर्भ में छोड़ी जाती हैं तो डिंबाशय के डिंब अल्ट्रा साउंड यंत्र के परदे पर उभरने लगते हैं. इन डिंबों को एस्पाइरेटर द्वारा निकाल दिया जाता है.

(इस प्रक्रिया में न तो स्त्री को बेहोश किया जाता है और न ही ज्यादा देर लगती है. पूरी क्रिया में मरीज को एक सूई चुभोई जाती है.)

इन निकाले गए डिंबों का सूक्ष्मदर्शी यंत्र से निरीक्षण करने के बाद उन्हें 'पेट्री डिश' में रखा जाता है, जिस में जीवाणुरहित पोषक द्रव्य होता है.

उक्त विधि से प्राप्त डिंबों को छः घंटे तक तथा नर शुक्राणुओं को 30 मिनट तक 37 डिग्री सेंटीग्रेड पर इनक्यूबेटर में रख कर गतिशील किया जाता है.

पूर्वोक्त 'पेट्री डिश' में डिंबों और शुक्राणुओं को मिला कर फिर इसी इनक्यूबेटर में रख दिया जाता है. दो दिन बाद ये भ्रूण में बदलना शुरू कर देते हैं. इन भ्रूणों को एक नली द्वारा हवा के दबाव से महिला के गर्भ में स्थापित कर दिया जाता है और उचित समय पर स्त्री बच्चे को जन्म देती है.

संक्षेप में यह है परखनली में शिशु. यहां हम ने पेचीदा डाक्टरी शब्दावली के स्थान पर सरल शब्दावली में सारी प्रक्रिया प्रस्तुत कर दी है, जिसे आम आदमी भी आसानी से समझ सकता है.

अब हमें यह देखना है कि हिंदू धर्म ग्रंथों की किस तरह की किस्सेकहानियों को अतीतवादी हिंदू 'परखनली में जन्मे शिशुओं' के उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत करते नहीं अघाते.

प्रस्तुत हैं ऐसे कुछ उदाहरण और उन के विषयों में विभिन्न ग्रंथों के विवरणः

घड़े से अगस्त्य और वसिष्ठ

ऋग्वेद में आता है कि मित्र और वरुण देवता उर्वशी नामक अप्सरा को देख कर कामपीड़ित हुए. उन का वीर्य स्खलित हो गया, जिसे उन्होंने यज्ञ के कलश में डाल दिया. उसी कलश से अगस्त्य और वसिष्ठ उत्पन्न हुएः

> उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोधि जातः,
> द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुस्करे त्वाददंत.
> सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुंभे रेतः सिषिचतुः समानम्,
> ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्
>
> –ऋग्वेद 7/33/11–13

अर्थात "हे वसिष्ठ, तुम मित्र और वरुण के पुत्र हो. हे ब्रह्मन्, तुम उर्वशी के मन से उत्पन्न हो. उस समय मित्र और वरुण का वीर्य स्खलन हुआ था. विश्वदेवगण ने दैव्य स्तोत्र द्वारा पुष्कर के बीच तुम्हें धारण किया था. यज्ञ में दीक्षित मित्र और वरुण ने स्तुति द्वारा प्रार्थित हो कर कुंभ के बीच एकसाथ ही रेत (वीर्य) स्खलन किया था. अनंतर मान (अगस्त्य) उत्पन्न हुए. लोग कहते हैं कि ऋषि वसिष्ठ उसी कुंभ से जन्मे थे."

कार्तिकेय की उत्पत्ति

वाल्मीकीय रामायण में आता है कि अग्नि देवता ने गंगा को गर्भवती किया. जब वह उसे धारण करने में कठिनाई अनुभव करने लगीं तो उस ने उसे हिमालय के पास एक जंगल में फेंक दिया. उस फेंके हुए गर्भ से जो बालक उत्पन्न हुआ, वह कार्तिकेय (शिव का दूसरा पुत्र) कहलाया.

> देवतानां प्रतिज्ञाय गंगामभ्येत्य पावकः,
> गर्भं धारय वै देवि देवतानामिदं प्रियम्

समंततस्तदा देवीमभ्यषिंचत पावक:
तमुवाच ततो गंगा सर्वदेवपुरोगमम्.
अशक्ता धारणे देव तेजस्तव समुद्धतम्
इह हैमवते पार्श्वे गर्भोऽयं संनिवेश्यताम्.
गंगा तं गर्भमतिभास्वरम्
उत्ससर्ज महातेजा: स्रोतेभ्यो हि तदानघ
निक्षिप्तमात्रे गर्भे तु तेजोभिरभिरंजितम्
तं कुमारं ततो जातम्

–वा. रामायण 1/ 37/12, 14–15, 17–18, 21–23

अर्थात देवताओं के पास प्रतिज्ञा कर के अग्नि देवता गंगा के पास आया और बोला, 'हे देवी, तुम मुझ से गर्भधारण करो. देवताओं की यह इच्छा है.' तब अग्नि ने उसे सींच दिया अर्थात गर्भवती कर दिया. वह उस के तेजोमय गर्भ को धारण करने में कठिनाई अनुभव करने लगी. गंगा ने अग्नि के कथनानुसार उस गर्भ को हिमालय के पास फेंक दिया. उस के फेंकने पर एक तेजस्वी बालक कुमार अर्थात कार्तिकेय पैदा हुआ.

साठ हजार पुत्र

वाल्मीकीय रामायण के बालकांड में एक अन्य कथा आती है, जिस में बताया गया है कि राजा सगर की दो रानियां थीं–केशिनी और सुमति. केशिनी ने एक पुत्र को जन्म दिया, लेकिन सुमति के गर्भ से एक तूंबा निकला. उस के फटने से साठ हजार पुत्र उस से निकले.

सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुंबं व्यजायत,
षष्टि: पुत्रसहस्राणि तुंबभेदाद् विनि:सृता:.
घृतपूर्णेषु कुंभेषु धात्र्यस्तान् समवर्धयन्,
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे

–वा. रामायण 1/38/17–18

अर्थात सुमति ने एक तूंबे को जन्म दिया. उसे फाड़ कर साठ हजार पुत्र निकले. उन्हें धायाओं ने घी के घड़ों में डाल दिया. काफी समय बाद वे सब बड़े हो गए.

ब्रह्मांडपुराण में इस कथा के कुछ अन्य सूक्ष्म अंश भी दिए गए हैं. उस में आता है:

सुमतिश्चापि तत्काले गर्भालाबुमसूयत.
भगवानौर्वस्तत्रागच्छद् यदृच्छया, तमुवाच त्वरान्वित:.
गर्भालाबुरयं राजन्न त्यक्तुं भवतार्हति,
पुत्राणां षष्टिसहस्रबीजभूतो यतस्तव.
तस्मात्तत्सकलीकृत्य घृतकुंभेषु यत्नत:,

निःक्षिप्य सपिधानेषु रक्षणीयं पृथक्पृथक्.
काले पूर्णे ततः कुंभान् भित्त्वा निर्यांति ते पृथक्,
एवं ते षष्टिसाहस्रं पुत्राणां जायते नृप.
राजा च तत्तथा चक्रे. ततः संवत्सरे पूर्णे घृतकुंभात्
क्रमेण ते,
भित्त्वाभित्त्वा पुनर्जज्ञुः सहसैवानुसारम्.

–ब्रह्मांडपुराण, उपो. पादः, 51/39-46

अर्थात सुमति ने तब एक गर्भ तूंबे को जन्म दिया. तभी वहां और्व ऋषि अकस्मात आ पहुंचा. उस ने राजा से कहा कि इस तूंबे को फेंको नहीं. इस में तेरे साठ हजार पुत्रों का बीज निहित है. इसे काट कर साठ हजार टुकड़े करो और प्रत्येक को घृत के एकएक घड़े में रख कर ऊपर से ढक दो. समय पूरा होने पर वे उन घड़ों को तोड़ कर अपने आप बाहर आ जाएंगे. राजा ने ऐसा ही किया. एक वर्ष के बाद एकएक घड़े को तोड़ कर वे बाहर निकलने शुरू हो गए.

नाक से बच्चा

विष्णु पुराण में आता है कि मनु ने छींक मारी और एक बच्चा उस के सामने आ गिरा :

क्षुतवतश्त मनोरिक्ष्वाकुः पुत्रो जज्ञे घ्राणतः

–विष्णुपुराण 4/2/11

अर्थात छींकने के समय मनु की नाक से इक्ष्वाकु नामक पुत्र का जन्म हुआ.

गोद में गिरे वीर्य से बच्चे

शिव पुराण में आता है कि शिव और पार्वती के विवाह में जब पार्वती ने अभी चार प्रदक्षिणाएं ही की थीं कि ब्रह्मा को पार्वती का अंगूठा दिखाई दे गया. उसे देखते ही वह कामोन्मत्त हो गया और उस का वीर्य स्खलित हो गया. वह वीर्य ब्रह्मा की गोद में गिरा. उस ने उसे छिपाना चाहा, लेकिन उस से असंख्य ब्रह्मचारी पैदा हो गए :

प्रदक्षिणं तथा चाग्नेश्चतुर्धा च कृतं तदा,
ब्रह्मणः स्खलनं जातं शिवांगुष्ठदर्शनात्.
तद् गोपितं तदा तेन ह्युत्संगे पतितं च यत्,
ततो जातास्त्वसंख्याता बटुका ब्रह्मसूत्रकाः.

–शिवपुराण, ज्ञानसंहिता 18

गिरे वीर्य से हजार वर्ष बाद बच्चा

ब्रह्मवैवर्तपुराण में आता है कि कृष्ण ने अपना वीर्य स्खलित होने पर उसे

लज्जावश पानी में मिला दिया. उस से एक हजार वर्ष उपरांत एक बच्चा उत्पन्न हुआ:

कृष्णस्य कामबाणेन रेतः पातो बभूव ह,
जले तद्रेचनं चक्रे लज्जया सुरसंसदि.
सहस्रवत्सरांते तड् डिंभरूपं बभूव ह,
ततो महान् विराड् जज्ञे

–ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखण्ड, 4/23–24

अर्थात काम वशीभूत हुए कृष्ण का वीर्य स्खलित हो गया. उन्होंने देव सभा में लज्जावश उसे छिपाते हुए पानी में गिरा दिया. एक हजार वर्ष के पश्चात वह डिंभ बन गया और उस से महान विराट का जन्म हुआ.

लकड़ी से पुत्र

देवी भागवत पुराण में आता है कि एक बार वेदव्यास यज्ञ के लिए आग जलाने के उद्‌देश्य से अरणीमंथन (बांस की छड़ियों को रगड़ना) कर रहे थे तभी घृताची नामक अप्सरा को देख कर कामोन्मत्त हो गए. उन का वीर्यपात हो गया, जो अरणी पर गिरा. उस से एक व्यास समान आकृतिवाला पुत्र उत्पन्न हुआ जो शुकदेव कहलाया:

कामस्तु देहे व्यासस्य दर्शनादेव संगतः.
बहुशो गृह्यमाणं च घृताच्या मोहितं मनः,
मंथनं कुर्वतस्तस्य मुनेरग्निचिकीर्षया,
अरण्यामेव सहसा तस्य शुक्रमथापतत्.
सोविचिंत्य तथा पातं ममंथारणिमेव च,
तस्माच्छुकः समुद्‌भूतो व्यासाकृतिमनोहरः.

–देवीभागवतपुराण 1/14/4–8

अर्थात उसे (घृताची अप्सरा को) देखते ही व्यास कामवश हो गए. घृताची ने उन का मन हर लिया. आग पैदा करने के लिए अरणी मंथन करते मुनि का वीर्य अरणी पर ही गिर गया. उस की परवाह न करते हुए व्यास अरणीमंथन करते रहे. उस से व्याससदृश आकृति वाला शुक नामक बालक पैदा हुआ.

श्रीमद्‌भागवतपुराण में आता है कि अपने बड़े भाई उतथ्य की गर्भवती पत्नी ममता के साथ बृहस्पति ने बलात्कारपूर्वक संभोग किया और उस के वीर्य से भरद्वाज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ.

अंतर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः,
प्रवृत्ते वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमवासृजत.
तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तृत्यागविशंकिताम्,
नामनिर्वचनं तस्य श्लोकमेकं सुरा जगुः.
मूढे भर द्वाजमिमं भर द्वाजं बृहस्पतेः,

यातौ तदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम्.
चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम्, व्यसृजत्.

–श्रीमद्‌भागवतपुराण, 9/20/36-39

अर्थात, बृहस्पति गर्भवती भावज से संभोग में प्रवृत्त हुआ. उसे रोका. वह गर्भ को शाप दे कर संभोगरत हुआ और उस का वीर्य स्खलित हुआ. उस वीर्य को भावज फेंकना चाहती थी ताकि उस का पति उस से नाराज हो कर उसे त्याग न दे. तब देवताओं ने कहा–हे मूर्ख औरत, इस द्वाज (वीर्य) को भर (धारण किए रह). उस ने उसे धारण किया और जिस पुत्र को उस ने जन्म दिया वह 'भरद्वाज' कहलाया.

दोने से द्रोणाचार्य

यही भरद्वाज एक बार गंगास्नान करने गया. वहां उस ने स्नान कर के कपड़े बदल रही घृताची नामक अप्सरा को देखा. उस के शरीर के एक भाग से उस का कपड़ा सरक गया. उसे देख भरद्वाज का वीर्य स्खलित हो गया, जिसे उस ने एक द्रोण (दोने अथवा प्याले) में रख दिया. उस से एक बालक उत्पन्न हुआ, जो द्रोण से उपजने के कारण 'द्रोण' कहलाया.

गंगाद्वारं प्रति महान् बभूव भगवानृषिः
भरद्वाज इति ख्यातः.
ददर्शाप्सरसं साक्षाद् घृताचीमाप्लुतामृषिः,
रूपयौवनसम्पन्नां मददृप्तां मदालसाम्.
तस्या पुनर्नदीतीरे वसनं पर्यवर्तत,
व्यपकृष्टांबरां दृष्ट्वां तामृषिश्चकमे ततः.
तत्र संसक्तमनसो भरद्वाजस्य धीमतः,
ततोऽस्य रेतश्चस्कंद तदृषिर्द्रोण आदधे.
ततः समभवद् द्रोणः कलशे तस्य धीमतः.

–महाभारत आदिपर्व, 129/33-38

सरकंडे से कृपाचार्य

महाभारत बताता है कि शरद्वान ऋषि ने जानपदी नामक अप्सरा को वन में जब एकवसना देखा तो उस का वीर्यपात हो गया जो एक सरकंडे के गुच्छे पर गिरा. उस से कृप नामक बालक पैदा हुआ जो कौरवों और पांडवों का धनुर्वेद का आचार्य बना.

महाभारत लिखता है:

ततो जानपदीं नाम देवकन्यां सुरेश्वरः प्राहिणोत्.
तामेकवसनां दृष्ट्वा गौतमोऽप्सरसं वने,
प्रोत्फुल्लनयनोऽभवत्.
धनुश्च हि शरास्तस्य कराभ्यामपतन् भुवि,

वेपथुश्चापि तां दृष्ट्वा शरीरे समजायत.
तेन सुस्राव रेतोऽस्य.
रेतस्तत् तस्य शरस्तंबे पपात च.
तस्याथ मिथुनं जज्ञे गौतमस्य शरद्वतः,
मृगयां चरतो राज्ञः शंतनोस्तु.
स राज्ञे दर्शयामास मिथुनं सशरं धनुः.
कृपया यन्मया बालाविमौ संवर्धिताविति.
तस्मात् तयोर्नाम चक्रे तदेव स महीपतिः.

–आदिपर्व, 129/6–20

अर्थात तब इंद्र ने जानपदी नाम की अप्सरा को भेजा. उसे वन में एक वस्त्र पहने देख कर शरद्वान की आंखें फट गईं. उस के हाथ से धनुषबाण गिर गए. शरीर कांपने लगा. उस का वीर्य स्खलित हो गया. वह वीर्य सरकंडे के गुच्छे पर गिर गया. उस से दो बच्चे (एक लड़का और एक लड़की) उत्पन्न हुए. शिकार को निकले राजा शांतनु को उस के एक आदमी ने ये बच्चे दिखाए. वह उन्हें घर ले आया. उस ने क्योंकि उन पर कृपा कर के उन्हें पालापोसा था, अतः उन के नाम भी वैसे ही रखे कृप और कृपी.

आदमी की कोख से लड़का

श्रीमद्भागवतपुराण में आता है कि राजा युवनाश्व ने एक बार इंद्रयज्ञ रचा. रात को प्यास से पीड़ित हो कर वह यज्ञशाला में पहुंचा. वहां पुरोहितों को सोते देख कर वह एक घड़े में से पानी ले कर पी गया. उस पानी को पुत्रोत्पन्न करने वाले मंत्रों से अभिमंत्रित किया हुआ था, अतः राजा के पेट में से कुछ समय बाद उस की दाईं कोख को फाड़ कर एक बालक उत्पन्न हुआ जो बाद में मांधाता नाम का चक्रवर्ती राजा हुआः

इष्टिं स्म वर्तयांचक्रुरैंद्रीं ते सुसमाहिताः.
राजा तद् यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तर्षितः,
दृष्ट्वा शयानान् विप्रांस्तान् पपौ मन्त्रजलं स्वयम्.
ततः काल उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम्,
युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्ती जजान ह. मांधाता.

–श्रीमद्भागवतपुराण 9/6/26–31

जंघाओं और भुजाओं से बच्चे

इसी पुराण में अन्यत्र आता है कि राजा वेन के मर जाने पर ऋषियों ने उस की जांघ का मंथन किया और उस से निषाद नामक पुत्र उत्पन्न हुआः

ऋषयो विपन्नस्य महीपतेः,

ममन्थरूरुं तरसा तत्रासीद् बाहुको नरः.
काककृष्णोऽतिह्रस्वांगो ह्रस्वबाहुर्महाहनुः,
ह्रस्वपान्निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस्ताम्रमूर्धजः.
स निषादस्ततोऽभवत्.

–श्रीमद्भागवतपुराण 4/14/43–45

अर्थात ऋषियों ने मृत राजा वेन की जंघा का बहुत तेजी से मंथन किया. उस से एक आदमी निकला. उस का कौए जैसा काला रंग था. वह छोटे अंगों, छोटी भुजाओं, बड़ी ठुड्डी, छोटे हाथों, आगे से नीची नासिका, लाल आंखों और तांबई केशों वाला था. वह निषाद कहलाया.

फिर उसी मृत राजा की भुजाओं को रगड़ा गया. उन से पुनः एक लड़का और एक लड़की पैदा हुए :

अथ तस्य पुनर्विप्रैरपुत्रस्य महीपतेः,
बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत.
तद् दृष्ट्वां मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः ऊचुः.
अयं तु पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः.
इयं च सुदती देवी अर्चिर्नाम वरारोहा.

–श्रीमद भगवत पुराण 4/15/1–5

अर्थात फिर उस पुत्रहीन राजा के शव की भुजाओं का विप्रों ने मंथन किया. उन से एक लड़का और एक लड़की उपजे. उन्हें देख कर ब्रह्मवेत्ता ऋषियों ने कहा, यह लड़का पृथु नाम से विख्यात होगा और महाराज बनेगा तथा यह लड़की अर्चि नाम से जानी जाएगी.

गाय से मानव शिशु

पद्मपुराण में आता है कि आत्माराम नामक निस्संतान ब्राह्मण को एक महात्मा ने एक बार ऐसा फल दिया जिस के खाने से अपनेआप गर्भ ठहर सकता था. ब्राह्मण ने यह फल खुद न खा कर अपनी गाय को खिला दिया.

त्रिमासे निर्गते चाथ सा धेनुः सुषुवेऽर्भकम्,
सर्वांगसुंदरं दिव्यं निर्मलं कनकप्रभम्.
भाग्योदयोऽधुना जात आत्मदेवस्य पश्यत,
धेन्वा बालः प्रसूतस्तु, देवरूपीति कौतुकम्.
गोकर्णं तं सुतं दृष्ट्वा गोकर्णं नाम चाकरोत्.

–पद्मपुराण, उत्तरखंड, 4/62–65

अर्थात तीन महीने के बाद गाय ने एक सुंदर, दिव्य और स्वर्ण की तरह चमक रहे बालक को जन्म दिया. लोग कौतुकवश कहने लगे, देखो आज आत्मदेव की

किस्मत जागी है. उस बच्चे के कान गाय के कानों के समान थे, अतः आत्मदेव ने बालक का नाम 'गोकर्ण' रख दिया.

लोथड़े से 101 बच्चे

महाभारत के आदि पर्व में आता है कि धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी के पेट में दो साल तक गर्भ ठहरा रहा, जबकि उधर कुंती ने एक सुंदर पुत्र को जन्म दिया. उस से खिन्न हो कर उस ने अपने गर्भ को एक दिन बहुत पीटा, जिस से उस का गर्भपात हो गया. उस गिरे मांस के लोथड़े को उठा कर वह बाहर फेंकना चाहती थी कि तभी वहां व्यास ने उपस्थित हो कर कहा कि इस के सौ टुकड़े कर के उन्हें घृतपूर्ण घड़ों में जल्दी से रख दो. उस ने अंगूठे की पोर के परिमाप के एक सौ एक टुकड़े कर के उन्हें घृतकुंभों में सुरक्षित रख दिया. तीन महीनों में उन घड़ों से सौ पुत्र और एक लड़की उत्पन्न हुई :

> संवत्सरद्वयं तं तु गांधारी गर्भमाहितम्.
> श्रुत्वा कुंतीसुतं जातं सोदरं घातयामास गांधारी
> दुःखमूर्च्छिता, ततो यज्ञे मांसपेशी लोहाष्ठीलेव संहता.
> तामुत्स्रष्टुं प्रचक्रमे, अथ द्वैपायनो त्वरितः समुपागमत्.
> घृतपूर्णं कुंडशतं क्षिप्रमेव विधीयताम्.
> सुगुप्तेषु च देशेषु रक्षा चैव विधीयताम्.
> अंगुष्ठपर्वमात्राणां गर्भाणां पृथगेव तु.
> एकाधिकशतं पूर्णं यथायोगं विशांपते.
> ततस्तांस्तेषु कुंडेषु गर्भानवदधे तदा.
> ततः पुत्रशतं पूर्णं धृतराष्ट्रस्य पार्थिव.
> मासत्रयेण संजज्ञे कन्या चैका शताधिका.

—महाभारत, आदिपर्व, 114/9-13,18-22,40-41

आग से दो बच्चे

महाभारत का कहना है कि राजा द्रुपद के पुत्रेष्टि यज्ञ में रानी को खिलाने के लिए एक विशेष तरह का पदार्थ तैयार किया गया था. उसे रानी ने यज्ञशाला में उपस्थित हो कर ग्रहण करना था, परंतु ऋतुमती होने के कारण वह यज्ञशाला में उपस्थित हो कर उसे ग्रहण न कर सकी. इस पर याज नामक पुरोहित ने वह पदार्थ अग्नि में फेंक दिया :

> एवमुक्त्वा तु याजेन हुते हविषि संस्कृते,
> उत्तस्थौ पावकात् तस्मात् कुमारो देवसंनिभः.
> कुमारी चापि पांचाली वेदीमध्यात् समुत्थिता,
> सुभगा दर्शनीयांगी.

—महाभारत आदिपर्व, 166/39, 44

अर्थात याज ने इस प्रकार कह कर उस पदार्थ को, हवन सामग्री को, जल रहे हवन कुंड में फेंक दिया. उस में से एक लड़का निकला, जो देवताओं के समान था. उस से द्रौपदी नामक एक लड़की भी निकली जो बहुत सुंदर अंगों वाली थी. वह लड़का धृष्टद्युम्न कहलाया जो महाभारत युद्ध में पांडवों का सेनापति बना.

मछली के पेट से मानव

महाभारत में राजा उपरिचर की कथा आती है जिस में कहा गया है कि उक्त राजा का एक बार जंगल में वीर्यपात हो गया. उस ने उसे उठा कर पत्ते पर रखा और उसे बाज के हाथ अपनी पत्नी के पास उसे धारण करने के लिए भेज दिया. जब वह पक्षी उसे ले जा रहा था तब उस पर दूसरा बाज झपट पड़ा जिस से वह वीर्य नीचे नदी में गिर गया और उसे मछली बनी हुई एक अप्सरा निगल गई. दस महीनों के बाद वह मछली पकड़ी गई. उस के पेट में मछेरों को एक लड़का और एक लड़की मिले. राजा उपरिचर ने लड़के का नाम 'मत्स्य' रखा और उसे अपना लिया, जबकि लड़की मछेरों को सौंप दी, जो बाद में सत्यवती नाम से प्रसिद्ध हुई और पराशर के पुत्र व्यास की मां बनी.

राजोपरिचरेत्येवं नाम तस्याथ विश्रुतम्.
तस्य रेतः प्रचस्कंद चरतो गहने वने.
स्कन्नमात्रं च तद् रेतो वृक्षपत्रेण भूमिपः प्रतिजग्राह.
श्येनं ततोऽब्रवीत् मत्प्रियार्थमिदं सौम्य शुक्रं मम गृहं नय.
अभ्यद्रवच्च तं सद्यो दृष्ट्वैवामिषशंकया.
श्येनपादपरिभ्रष्टं तद् वीर्यमथ वासवम्.
जग्राह तरसोपेत्य साद्रिका मत्स्यरूपिणी,
कदाचिदपि मत्सीं तां बबंधुर्मत्स्यजीविनः.
मासे च दशमे प्राप्ते तदा भरतसत्तम,
उज्जह्रुरुदरात् तस्याः स्त्रीं पुमांसं च मानुषम्.
तयोः पुमांसं जग्राह राजा परिचरस्तदा,
स मत्स्यो नाम राजासीद् धार्मिकः.
सा कन्या दुहिता तस्या मत्स्या,
राजा दत्ता दाशाय. द्वैपायनो जज्ञे.
सत्यवत्यां पराशरात्.

–महाभारत, आदिपर्व, 63/34, 49–50,54,57,59–61,63,67,86

खीर से गर्भ

राम और उन के भाइयों की उत्पत्ति के विषय में वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि जब राजा दशरथ की उम्र साठ हजार वर्ष की हो गई तो उन्होंने एक यज्ञ का आयोजन किया.

ततो वै यजमानस्य पावकादतुलप्रभवम्,
प्रादुर्भूतं महद् भूतं महावीर्यं महाबलम्,
दिव्यपायससंपूर्णां पात्रीं पत्नीमिव प्रियाम्,
प्रगृह्य विपुलां दोर्भ्यां स्वयं मायामयीमिव.
समवेक्ष्याब्रवीद् वाक्यमिदं दशरथं नृपम्.
भार्याणामनुरूपाणामश्नीतेति प्रयच्छ वै,
तासु त्वं लप्स्यसे पुत्रान् यदर्थं यजसे नृप.
ततस्तु ताः प्राश्य तमुत्तमस्त्रियो महीपतेरुत्तमपायसं
पृथक्, हुताशनादित्यसमानतेजसोऽचिरेण गर्भान्
प्रतिपेदिरे तदा.

–बालकांड, 16/11,15–20,30

अर्थात उस यज्ञ के अग्निकुंड में से एक पुरुष निकला. उस के हाथों में खीर से भरा एक पात्र था. उस ने वह पात्र दशरथ को देते हुए कहा, "राजन, इस खीर को तुम अपनी पत्नियों को खाने के लिए दो. इस से तुम्हें पुत्रों की प्राप्ति होगी." रानियों ने उसे खाया और गर्भवती हो गईं. उचित समय पर उन्होंने चार पुत्रों को जन्म दिया.

खेत में उगा मानवशिशु

सीता के विषय में रामायण का कहना है कि जब राजा जनक खेतों में हल चला रहा था तब वह उसे खेतों में से मिली थी. जनक ने क्योंकि उसे जमीन से उठाया था, अतः वह अयोनिजा (स्त्री के पेट से न पैदा हुई) कही गई.

अथ मे कृषतः क्षेत्रं लांगलादुत्थिता ततः.
क्षेत्रं शोधयता लब्धा सीतेति विश्रुता,
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा.
वीर्य शुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा.

–बालकांड, 66/13–15

अर्थात जनक का कथन है कि जब मैं हल चला रहा था तब यह हल के फाले से ऊपर को आई थी. इस का नाम सीता है. यह धरती से पैदा हुई मेरी पुत्री है. यह किसी मानवी के पेट से उत्पन्न नहीं हुई है.

ये कहानियां मुख्यतः दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं–1 अज्ञानजन्य 2. बेसिरपैर की.

अज्ञानजन्य कहानियों को पुनः चार उपशीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है.

(क) ऐसी कहानियां जो इस अज्ञानवश पेश की जाती हैं कि बच्चा परखनली में ही जन्मता है, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं होता; जैसा कि पहले हम ने देखा है. जिन कहानियों में घड़ों में से बच्चे जन्मते दिखाए गए हैं, उन्हें पेश करने वाले लोग इसी अज्ञानता के शिकार हैं.

(ख) ऐसी कहानियां जो पेट और गर्भाशय के अंतर को न समझने के कारण पेश की जाती हैं. बच्चा गर्भाशय में विकसित होता है, न कि पेट में. इसी अज्ञान के कारण मुंह से निगले वीर्य से पेट में बच्चे विकसित होते हैं और इस तरह की कहानियों को परखनली शिशु के प्रतिरूप बताने वाले इसी प्रकार की अज्ञानता के शिकार हैं.

(ग) ऐसी कहानियां जो वीर्य के कीटाणुओं की प्रकृति से परिचित न होने के कारण पेश की जाती हैं. इन में वीर्य को ऐसे पदार्थ के रूप में पेश किया जाता है जिस पर दूसरे जीवाणुओं, तापमान की कमीबेशी आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और उस की कार्यक्षमता वैसी की वैसी ही रहती है, जबकि असलियत यह है कि एक निश्चित तापमान से कम या अधिक होने पर उस के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं और उन की उत्पादन क्षमता समाप्त हो जाती है.

जिन कहानियों में वीर्य को लकड़ी पर गिरा हुआ, पत्तों आदि पर पड़ा हुआ दिखाया गया है, उन्हें पेश करने वाले लोग वीर्य की प्रकृति संबंधी अज्ञान के शिकार हैं.

(घ) ऐसी कहानियां जिन्हें भ्रूण की प्रकृति के विषय में अज्ञानता के कारण पेश किया जाता है. भ्रूण को तरल नाइट्रोजन में रख कर (नाइट्रोजन 270 सेंटीग्रेड पर तरल होती है) सुरक्षित रखा जा सकता है. उस में दो साल तक भ्रूण रह सकता है परंतु जिन कहानियों में भ्रूण के सौ या साठ हजार टुकड़े कर के उन्हें घृतकुंभों में रखा जाना चित्रित है और जिन में उन घड़ों से तीन महीने के अंदर बच्चे जन्मते दिखाए गए हैं, उन्हें पेश करने वाले लोग भ्रूण संबंधी ज्ञान के अभाव में ही ऐसा कर रहे हैं.

शेष सब कहानियां जिन में आग की लपटों से बच्चे जन्मते हैं, गाय और घोड़े मानव शिशुओं को जन्म देते हैं, नाक, जंघा व भुजाओं में से बच्चे निकलते हैं, उन्हें परखनली शिशु के प्रमाण स्वरूप पेश करना न केवल अज्ञानता का ढिंढोरा पीटना है बल्कि बेतुकापन, बेहूदापन, पागलपन और बेसिरपैर की हांकना भी है.

संक्षेप में कहा जा सकता है कि धर्म ग्रंथों की इन व ऐसी कहानियों का विज्ञान की अपेक्षा अज्ञान से संबंध है. इस तरह लालबुझक्कड़ों की भांति दूर की अनमिली कड़ियों को खींचखींच कर मिलाने के प्रयासों से न हिंदू धर्म ग्रंथों की महिमा बढ़ सकती है और न खुद हिंदू समाज का ही कल्याण हो सकता है. हां, इन से वैज्ञानिक विचारधारा के पनपने के रास्ते में बाधाएं अवश्य खड़ी हो सकती हैं.

जरूरत है वैज्ञानिक विचारधारा को अपनाने और इस तरह हीनभावनाग्रस्त व पलायनवादी मानसिकता को त्यागने की. इसी में हिंदू समाज और समूचे देश का कल्याण निहित है.

प्राचीन भारत में खगोलविज्ञान

प्राचीन भारत में 'ज्योतिष' शब्द ज्योतिर्विज्ञान अर्थात खगोलशास्त्र का पर्याय था. ज्योतिषी वे लोग कहलाते थे, जो उन दिनों उपलब्ध साधनों से नक्षत्रों और ग्रहों की गति और स्थिति का अध्ययन करते थे. अर्थात, वे प्राचीन भारत के खगोलशास्त्री या ज्योतिर्विद् थे.

यद्यपि उन का अध्ययन आज के दृष्टिकोण से पूरा वैज्ञानिक न था, तथापि इतना स्पष्ट है कि यदि वह अध्ययन निर्बाध चलता रहता तो भारत में आधुनिक युग के आने तक खगोल विज्ञान में पर्याप्त उन्नति हो गई होती.

खगोलविज्ञान में उन्नति का सीधा अर्थ था–भौतिक ज्ञान का विस्तार और ग्रहों व सितारों संबंधी अंधविश्वासों और काल्पनिक परलोकों में विश्वास का विनाश. परंतु इस के परिणामस्वरूप पुरोहितशाही का धंधा मंदा पड़ जाता. उन्होंने इस खतरे को भांप लिया था. केवल भांपा ही नहीं, बल्कि इसे दूर करने के लिए आवश्यक कदम भी उठाए.

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी. पुरोहितों ने वेदों के नाम पर अपनी दुकानदारी खूब चला रखी थी. इन वेदों में कहा गया है कि पृथ्वी अचला है और सूर्य देवता घूमते हैं.

(क) यः पृथिवीं व्यथमानमदृंहद् स जनास इंद्रः

–ऋग्वेद 2/12/1

अर्थात हे मनुष्यो, इंद्र ने सृष्टि के आरंभ में कांपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया.

(ख) विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिंद्रगुप्ताम्

–अथर्व. 12/1/11

अर्थात अनेक रूपों वाली अचला पृथ्वी की इंद्र रक्षा करता है.

(ग) ध्रुवां भूमिं पृथ्वीं धर्मणा धृतां... चरेम

–अथर्व. 12/1/17

अर्थात हम इस अचल भूमि, जिसे धर्म ने धारण किया हुआ है, पर विचरण करते हैं/करें.

सूर्य के विषय में वेदों का कहना है कि सूर्य देव स्वर्णमय रथ पर चढ़ कर देवताओं और मनुष्यों को अपनेअपने कर्म में लगाते हुए संपूर्ण लोकों को देखते हुए आते हैं:

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेश्यन्नमृतं मर्त्यं च,
हिरण्ययेन सविता रथेना देवा याति भुवनानि पश्यन्.

–यजु. 33/43

पुरोहितों और ब्राह्मणवाद के अस्तित्व के आधारभूत वेदों के उपर्युक्त कथनों के विपरीत ज्योतिर्विदों ने अपने साधनों से पृथ्वी की गतिशीलता की उद्घोषणा कर दी. आर्यभट्ट ने पांचवीं शताब्दी में कहा–प्राणेनैति कलां भूः **(आर्यभटीयम्, आर्या 4)**

अर्थात पृथ्वी प्राण नामक काल परिमाण (पल का षष्ठांश) में एक कला तक चलती है.

अगर यह बात लोगों के गले उतर जाती और लोग इस पर विश्वास कर लेते तथा आर्यभट्ट के उपकरणों द्वारा उसे चलती देख लेते तो वेदों की सर्वोच्चता, प्रामाणिकता और ईश्वरीयता एकदम नष्ट हो जाती. इस के साथ ही इन के नाम पर दुकानदारी चलाने वालों की रोटीरोजी भी बंद हो जाती. इसलिए आर्यभट्ट पर दो तरीकों से हमले शुरू हो गए, जो एकदो दिन नहीं, बल्कि शताब्दियों तक जारी रहे.

सच्चाई को झुठलाने का प्रयास

पहले तरीके के अंतर्गत निहित स्वार्थी तत्त्वों ने शताब्दियों तक आर्यभट्ट पर व्यंग्यबाण चलाने का क्रम जारी रखा. ब्रह्मगुप्त (598/660 ई.) ने आर्यभट्ट के ही शब्दों को ले कर प्रत्याक्रमण किया:

प्राणेनैति कलां भूर्यदि तर्हि कुतो वज्रेत् कमध्वानम्

–ब्रह्मसिद्धांत, अ. 11

यदि आर्यभट्ट का कथन मान लिया जाए कि पृथ्वी एक 'प्राण' में एक कला तक चलती है, तब वह यह बताए कि वह किस रास्ते से और कहां को जाती है?

वराह मिहिर (लगभग 600 ई.) ने आर्यभट्ट के कथन पर आक्षेप करते हुए लिखा कि जो यह कहते हैं कि पृथ्वी घूमती है, न कि सूर्य आदि, उन से हमारा कहना है कि ऐसा होने पर पक्षी अपने घोंसलों में नहीं जा सकेंगे. यदि पृथ्वी तीव्र वेग से पूर्व की ओर भ्रमण करती है, तो ध्वजा को पृथ्वी के वेग से सर्वदा पश्चिम की ओर ही उड़ना चाहिए और यदि वह मंद वेग से चलती है तो ऐसे में वह 24 घंटों में चक्र पूरा नहीं कर पाएगी:

भ्रमति भ्रमस्थितेव क्षितिरित्यपरे वदन्ति नोडुगणः,
यद्येवं श्येनाद्या न खात् पुनः स्वनिलयमुपेयुः

अन्यच्च भवेद् भूमेरहना भ्रमरंहसा ध्वजादीनाम् नित्यं
पश्चात् प्रेरणमथाल्पगा स्यात् कथं भ्रमति?

–पंचसिद्धांतिका, अ. 13

सातवीं आठवीं शताब्दी (639 से 748 के मध्य) के लल्लाचार्य ने वराह मिहिर जैसी ही बातें करते हुए लिखाः

यदि च भ्रमति क्षमा तदा स्वकुलायं कथमाप्नुयुः खगाः,
इषवोऽभिनभः समुज्झिताः निपतिताः स्युरपाम्पतेर्दिशि.
पूर्वाभिमुखे भ्रमे भुवो वरुणाशाभिमुखो व्रजेद् घनः
अथ मंदगमात्तदा भवेत् कथमेकेन दिवा परिभ्रमः

–शिष्यधीवृद्धितंत्र, 42–43

अर्थात यदि पृथ्वी चलती है तो फिर पक्षी अपने घोंसलों में नहीं पहुंच सकेंगे और आकाश में फेंका हुआ बाण सदा पश्चिम में गिरेगा. यदि पृथ्वी पूर्व की ओर घूमती है तो फिर बादल हमेशा पश्चिम को जाएगा. यदि कहो कि पृथ्वी धीरेधीरे चलती है इसलिए बादल पश्चिम को नहीं जाते, तो हमारा कहना है कि ऐसी मंदगति से एक दिवस में पृथ्वी का भ्रमण कैसे पूरा होगा?

भास्कराचार्य (1114 से 1400 ई. के मध्य कहीं) ने तो पृथ्वी के गतिशील होने की बात को मानने से साफ इनकार करते हुए उसे अचला घोषित किया हैः

यथोष्णतार्कानलयोश्च शीतता विधौ,
द्रुतिः के कठिनत्वमश्मनि,
मरुच्चलो भूरचला स्वभावतो...

–सिद्धांतशिरोमणि, गोलाध्याय 5

अर्थात जैसे सूर्य और अग्नि में उष्णता, चांद में शीतलता, जल में गति और पाषाण में कठोरता है, उसी प्रकार पृथ्वी स्वभाव से ही अचल है.

पृथ्वी के साथ उस के कथित तौर पर अचल होने के गुण को इतना ज्यादा जोड़े जाने के कारण ही संस्कृत और हिंदी में 'अचला' शब्द पृथ्वी का पर्याय बन गया. पृथ्वी का विशेषण 'अचला' पृथ्वी का ही दूसरा नाम (संज्ञा) बन चुका है. इसलिए 'अचला' कहने पर और किसी चीज का बोध न हो कर पृथ्वी का ही बोध होता है.

स्पष्ट है कि इस पहले हमले के रूप में आर्यभट्ट पर कुतर्कों, व्यंग्यबाणों की बौछार करने तथा मजाक उड़ाने का सिलसिला शताब्दियों तक जारी रहा. हां, ये सचमुच कुतर्क थे. इसीलिए तो धरती भी घूम रही है और पक्षी भी घोंसलों में पहुंच रहे हैं, ध्वजा व बादल भी पश्चिम में नहीं जा रहे हैं.

दूसरा हमला जालसाजी के रूप में किया गया. दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में (देखें, भारतीय ज्योतिष, पृ.323) आर्यभट्ट के 'आर्यभटीयम्' ग्रंथ का एक जाली संस्करण तैयार किया गया. उस में धरती को अचला (स्थिर) लिखा गया. बाद में

यह बात फैलानी शुरू की गई कि आर्यभट्ट की यही असली पुस्तक है और उस ने धरती को कहीं गतिशील लिखा ही नहीं है.

प्रश्न यह है कि अगर उस ने अपनी मूल पुस्तक में पृथ्वी के गतिशील होने की बात नहीं लिखी थी तो शताब्दियों तक उसे कोसते क्यों रहे और 500 वर्ष बाद दसवीं शताब्दी में एकाएक यह ज्ञान कैसे हो गया कि आर्यभट्ट ने धरती को 'अचला' कहा है?

हेराफेरी साफ दिखाई पड़ती है. यह तरीका कोपरनिकस तथा गैलीलिओ के सिद्धांतों को खत्म करने के लिए अपनाए गए स्थूल तरीकों की अपेक्षा ज्यादा खतरनाक, ज्यादा धूर्ततापूर्ण और ज्यादा दूरगामी प्रभाव डालने वाला था. यही कारण है कि कोपरनिकस आदि के खत्म कर दिए जाने के बाद भी यूरोप में विज्ञान आगे बढ़ता रहा और भारत में आर्यभट्ट जैसों को जीवित रहने देने के बावजूद उन के सिद्धांतों की बड़ी सफाई से कपाल-क्रिया कर दी गई.

दोधारी रणनीति

यह तो खगोल विज्ञानी अर्थात ज्योतिर्विद को समाप्त करने के प्रयास का एक उदाहरण मात्र है. सामूहिक तौर पर ज्योतिर्विदों का सामना करने के लिए दोधारी रणनीति अपनाई गई. पहली तो यह कि निहित स्वार्थियों ने हर पोथी व धर्म ग्रंथ में, जहां कहीं भी मौका मिला, यह घोषणा कर दी कि ज्योतिर्विद लोग नीच हैं, घृणा के पात्र हैं और अपवित्र हैं, उन्हें किसी प्रकार का सहयोग व सम्मान नहीं दिया जाना चाहिए.

इस तरह के कुछ धर्मशास्त्रीय आदेश प्रस्तुत हैं:

ज्योतिर्विदो, श्राद्धे यज्ञे महादाने न वरणीया: कदाचन
श्राद्धं च पितरं घोरं दानं चैव तु निष्फलम्
यज्ञे च फलहानि: स्यात् तस्मात्तान् परिवर्जयेत्
आविक: चित्रकारश्च वैद्यो नक्षत्रपाठक:,
चतुर्विप्रा न पूज्यंते बृहस्पतिसमा यदि.

–अत्रिसंहिता, 385–87

अर्थात ज्योतिर्विदों को श्राद्ध, यज्ञ और किसी बड़े दान के लिए नहीं बुलाना चाहिए. इन्हें बुलाने से श्राद्ध अपवित्र, दान निष्फल और यज्ञ फलहीन हो जाता है. आविक (बकरीपाल), चित्रकार, वैद्य और नक्षत्रों का अध्ययन करने वाला–ये चार तरह के ब्राह्मण यदि देवताओं के गुरु बृहस्पति के समान भी विद्वान हों, तो भी उन का सम्मान नहीं करना चाहिए.

नक्षत्रैश्च यो जीवति, ईदृशा ब्राह्मणा ज्ञेया अपांक्तेया
युधिष्ठिर रक्षांसि गच्छते हव्यमित्याहुर्ब्रह्मवादिन:.

–महाभारत, अनु. 90/11–12

अर्थात जो ब्राह्मण नक्षत्रों के अध्ययन से जीविका चलाता हो, ब्राह्मणों को उसे अपनी पंक्ति में साथ बैठ कर भोजन नहीं करने देना चाहिए. हे युधिष्ठिर, ऐसे व्यक्ति द्वारा खाया हुआ श्राद्ध भोजन राक्षसों के पेट में जाता है, न कि पितरों के.

नक्षत्रैर्यश्च जीवति एतान्
विगर्हिताचारानपांक्तेयान् द्विजाधमान्,
द्विजातिप्रवरो विद्वाननुभयत्र विवर्जयेत्

–मनुस्मृति, 3/162,167

अर्थात नक्षत्रजीवी लोग निंदित, पंक्ति को दूषित करने वाले और द्विजों में अधम हैं, इन्हें विद्वान द्विज देवयज्ञ और श्राद्ध में कभी भोजन न कराएं.

वर्ज्यान् प्रवक्ष्ये त्वथ, नक्षत्रशास्त्रेण च जीवमानान्

–निर्णयसिंधु परिच्छेद 3

अब मैं निषिद्ध ब्राह्मणों की गणना करता हूं, वे जो नक्षत्रों के शास्त्र का अध्ययन कर जीविका चलाते हैं.

नक्षत्रोपजीवी इत्यादयो विप्रा हव्यकव्ययोर्वर्ज्याः

–धर्मसिंधु परिच्छेद 3

अर्थात नक्षत्रों से जीविका चलाने वाले को देवपूजा (यज्ञ आदि) और श्राद्ध में नहीं बुलाना चाहिए.

ज्योतिर्विदों को सम्मान न देने और उन पर आर्थिक प्रतिबंध लगाने के बाद उन का घटिया ढंग से मजाक उड़ाते हुए इन लोगों ने कहाः

गणयति गगने गणकः चंद्रेण समागमं विशाखायाः,
विविधभुजंगक्रीडासक्तां गृहिणीं न जानाति.

अर्थात जो ज्योतिर्विद आकाश में चंद्र के विशाखा (नक्षत्र) से समागम की गणना करता है, उसे यह तो पता नहीं होता कि उस की घरवाली भी अनेक व्यभिचारी पुरुषों से समागम करती है!

इसी तरह की बातें अन्य अनेक ग्रंथों में देखी जा सकती हैं.

इतने पर भी जब लोगों ने ज्योतिर्विदों को सम्मान देना जारी रखा तो पुरोहितवाद ने दूसरी तरकीब अपनाई, जिसे पंचमांगियों (फिफ्थ कालमनिस्ट) की नीति कह सकते हैं. पुरोहितों ने ज्योतिर्विदों की निंदा करते हुए भी उन के विषय के नाम ज्योतिष को इस नीति के तहत से अपनाना शुरू कर दिया कि इसे अपना बना कर अंदर से नष्ट करेंगे और वे इस में आश्चर्यजनक रूप से सफल भी हुए. जहां पहले 'ज्योतिष' का अर्थ ज्योतिर्विद द्वारा ग्रहों, नक्षत्रों आदि का अध्ययन करना था, वहां इन पंचमांगियों ने इसे ग्रहों, नक्षत्रों आदि का व्यक्ति के भावी जीवन पर 'पड़ने वाले'

असर का 'अध्ययन' बना दिया और वे ज्योतिर्विद की जगह 'दैवज्ञ' (क़िस्मत को जानने वाले) बन गए.

जहां पहले ज्योतिष में ग्रहों, नक्षत्रों की गणनाओं की प्रधानता के कारण ज्योतिष 'गणित' कहलाता था, अब वही पंचमांगियों की 'कृपा' से 'फलित' (ग्रहों के अच्छेबुरे फल बताने वाला) बन गया.

ज्योतिष की प्राचीनतम पुस्तक 'वेदांग ज्योतिष' में अपने विषय की महिमा का प्रतिपादन करते हुए लेखक ने ज्योतिष को 'गणित' कह कर पुकारा है:

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा,
तद् वद् वेदांगशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्.

–वेदांग ज्योतिष, श्लो.4

अर्थात जिस प्रकार मयूरों की शिखाएं एवं नागों की मणियां सब से ऊंचे स्थान पर होती हैं, ठीक उसी प्रकार वेदांगशास्त्रों में गणित (ज्योतिष) का सर्वोपरि स्थान है.

लेकिन पंचमांगियों ने 'गणित' की कब्र पर 'फलित' का पौधा लगा दिया और ज्योतिर्विद या गणक (गणना करने वाले) का हुलिया बदल कर उसे 'दैवज्ञ' बना दिया.

इस से खगोल विषयक अध्ययन, खोज, परीक्षा आदि सब रुक गए और सब कुछ धीरेधीरे अपनी मौत मर गया. परिणामस्वरूप पुरोहितशाही का भयंकर शत्रु बन सकने से पहले ही खगोल शास्त्र को दफन कर दिया गया.

लेकिन पुरोहित इन अभावात्मक उपलब्धियों (नेगेटिव एचीवमेंट्स) से ही संतुष्ट नहीं रहा. उस ने इसे भावात्मक (पोजिटिव) बनाना शुरू कर दिया.

वे अब अपने को 'दैवज्ञ' कहने लगे. वे लोगों के भाग्यों के न केवल ज्ञाता, बल्कि उसे बनाने और बिगाड़ने में भी अपने को समर्थ बताने लगे, 'भाग्यविधाता' बन गए! वराहमिहिर ने 'दैवज्ञ' के गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है कि वह शांतिक (उत्पातों के निवारणार्थ वेदोक्त मंत्रपाठ, हवन यज्ञादि), पौष्टिक (आयु, धन आदि को बढ़ाने के मंत्रयंत्र), अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, वशीकरण, स्तंभन, चालन आदि के टोनेटोटके) को जानने वाला, देवपूजन, व्रत, उपवासों में निरत, अपने शास्त्र द्वारा आश्चर्यजनक विषय ला कर प्रभाव को बढ़ाने वाला, दैवात्यय (प्राकृतिक विपत्तियों) के निवारणार्थ शांतिकर्म बताने वाला होना चाहिए:

शांतिपौष्टिकाभिचारस्नानविद्याभिज्ञो विबुधार्चनव्रतोपवास-
निरत: स्वतंत्राश्चर्योत्पादितप्रभाव: पृष्टाभिधाय्यन्यत्रदैवात्ययात्

–बृहत्संहिता, 2–2

स्पष्ट है कि इन 'गुणों' का खगोलशास्त्र से दूर का भी कोई संबंध नहीं है.

इन दैवज्ञों ने जनसाधारण को तो उल्लू बना कर लूटा ही, राजाओं की ओर इन

का ध्यान विशेष रूप से गया. राजाओं को तरहतरह के सब्जबाग दिखा कर अपने जाल में फंसाया गया. वराहमिहिर के कुछ कथन प्रस्तुत हैं:

> अप्रदीपा यथा रात्रिरनादित्यं यथा नभः,
> तथाऽसांवत्सरो राजा भ्रमत्यन्ध इवाध्वनि
> तस्माद् राज्ञाधिगन्तव्यो विद्वान् सांवत्सरोऽग्रणीः,
> जयं यशः श्रियं भोगान् श्रेयश्च समभीप्सता
> नासांवत्सरिके देशे वस्तव्यं भूतिमिच्छता,
> चक्षुर्भूतो हि यत्रैषः पापं तत्र न विद्यते
> न सांवत्सरपाठी च नरकेषूपपद्यते,
> ब्रह्मलोकप्रतिष्ठां च लभते दैवचिंतकः
> न तत्सहस्रं करिणां वाजिनां च चतुर्गुणम्,
> करोति देशकालज्ञो यथैको दैवचिन्तकः

–बृहत्संहिता, 2/24, 26–28, 37

अर्थात जैसे दीपहीन रात्रि और सूर्यहीन दिन में अंधा व्यक्ति भटकता है, उसी तरह दैवज्ञ के बिना राजा भटकता है. जय, यश, श्री, भोग और मंगल की इच्छा रखने वाले राजा को चाहिए कि वह विद्वान और श्रेष्ठ दैव के पास जा कर अपना भविष्य पूछे. अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्य को दैवज्ञरहित देश में निवास नहीं करना चाहिए, क्योंकि जहां दैवज्ञ नहीं होता, वहां पाप रहते हैं. दैवज्ञों की विद्या को पढ़नेपढ़ाने वाला मनुष्य नरक में नहीं जाता. वह ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है. जो काम एक दैवज्ञ कर सकता है, वह काम 1000 हाथी और 4000 घोड़े भी नहीं कर सकते.

इस तरह के आत्मप्रशंसात्मक कथनों से इन्होंने रंक से ले कर राजा तक को भ्रमित कर खूब लूटा और उल्लू बनाया. साथ ही, खगोलविज्ञान को भी अंधकूप में दफन कर दिया.

ये बड़ी होशियारी से भविष्य बताते जो प्रायः द्विअर्थी अथवा संदिग्ध शब्दों में होता. यदि बात झूठी सिद्ध हो जाती तो कोई न कोई बहाना बना देते या सीधे ही मुकर जाते कि हम ने तो यह कहा ही न था. हम ने तो 'यह' कहा था. इन का ऐसा चरित्र काल्पनिक नहीं है. खुद इन के ग्रंथों में ऐसे गुणों का दैवज्ञ में होना जरूरी बताया गया है. वराहमिहिर लिखता है:

> 'दक्षः प्रगल्भो वाग्मी देशकालवित् न
> पर्षद्भीरूः सहाध्यायिभिरनभिभवनीयः कुशलः'

–बृहत्संहिता, 2–2

अर्थात दैवज्ञ चतुर, ढीठ, वाचाल, मौके की नजाकत को समझने वाला, जनसमूह में निर्भय बना रहने वाला, सहपाठियों से हार न मानने वाला और मनुष्यों की विभिन्न चेष्टाओं को जानने वाला हो.

स्पष्ट है कि ये अपने वाक्चातुर्य से छोटे से ले कर बड़े तक को भरमाते रहे. राजाओं तक को अपने चंगुल में फंसाए रहे. राजसत्ता के इतने निकट रहने वाले इन लोगों का कोई विरोध नहीं कर सकता था, क्योंकि विरोधी का कुचला जाना पूर्वविदित था.

भविष्यवक्ताओं की पोल

फिर भी भारत में समयसमय पर ऐसे निडर बुद्धिजीवी पैदा होते रहे हैं, जिन्होंने झूठ के इन व्यापारियों और भविष्यवाणियों के सौदागरों की पोल खोलने में कोई कसर नहीं छोड़ी. नीचे ऐसे कुछ कथन प्रस्तुत हैं:

एकं संदिग्धयोस्तावद् भावि तत्रेष्टजन्मनि,
हेतुमाहुः स्वमंत्रादीनसांगानन्यथा विटाः

–नैषधचरितम् 17/55

अर्थात ये बदमाश संदिग्ध मामलों में से एक की भविष्यवाणी कर देते हैं, यदि इत्तफाक से वह ठीक निकल आए तो उसे अपनी योग्यता का चमत्कार बताते हैं. यदि गलत निकले तो कह देते हैं–आप ने फलां पूजा, फलां पाठ ठीक से नहीं किया था, अतः ऐसा हुआ है. हमारी भविष्यवाणी तो ठीक ही है.

विलिखति सदसद् वा जन्मपत्रं जनानाम्,
फलति यदि तदानीं दर्शयत्यात्मदाक्ष्यम्,
न फलति यदि लग्नद्रष्टुरेवाह मोहं,
हरति धनमिहैवं हंत दैवज्ञपाशः.

–सुभाषितरत्नभांडागारः

अर्थात दुष्ट दैवज्ञ मनुष्यों का अच्छा या बुरा फल जन्मपत्रिका में लिख देता है. यदि इत्तफाक से वैसा ही फल मिल जाए तो अपनी शेखी बघारता है कि देखो, जैसा हम ने लिख दिया था, वैसा ही हुआ. यदि वैसा न हो तो वह कह देता है कि यह बांचने वाले की गलती है, मेरी नहीं. हाय, इस संसार में दैवज्ञ इसी तरह दूसरों का धन हरण करते हैं.

व्योम्नि दूरे स्थितानां सदसद्प्रभावं ग्रहाणां गणयति यः,
गृहे तस्यांगना केन सह रमते न दैवज्ञो जानाति सः.

अर्थात आकाश में दूर स्थित ग्रहों के अच्छेबुरे प्रभाव को बताने वाले दैवज्ञ को यह पता नहीं होता कि घर में उस की पत्नी किस से अवैध संबंध स्थापित कर के आनंद मना रही है.

ग्रहाणां चरितं स्वप्ननिमित्तौत्पातिकं तथा
फलन्ति काकतालीयं तेभ्यः प्राज्ञा न बिभ्यति.

–वेणीसंहार, 2/15

अर्थात ग्रहों की चाल, स्वप्न, शकुन आदि के फल यदि संयोग से कभी सच्चे हो जाएं तो हो जाएं, वैसे ये सच्चे नहीं होते. अतः बुद्धिमान इन से नहीं डरते हैं.

त्रैलोक्यनाथो रामोऽस्ति वसिष्ठो ब्रह्मपुत्रकः,
तेन राज्याभिषेके तु मुहूर्तः कथितोऽभवत्.
तन्मुहुर्तेन रामोऽपि वनं नीतोऽवनीं विना,
सीतापहारोप्यभवद् विरिंचिवचनं वृथा.

–भोजप्रबंध, श्लो. 20-21

अर्थात राम तीन लोकों का राजा था और वशिष्ठ ब्रह्मा का पुत्र था. उस वशिष्ठ ने राम के राज्याभिषेक के अवसर का मुहूर्त निकाला था. लेकिन उस 'अतिशुभ' मुहूर्त के परिणामस्वरूप राम को अपना राज्य छोड़ कर वन जाना पड़ा. उस की पत्नी सीता का अपहरण हुआ और ब्रह्मा के पुत्र का वचन झूठा सिद्ध हुआ.

इस तरह के अनेक कथन यत्रतत्र बिखरे पड़े हैं, जिन में दैवज्ञों की खाल नोची गई है. लेकिन ब्राह्मणपुरोहितों ने जनता को भड़का कर ऐसे लोगों को 'नास्तिक,' 'म्लेच्छ,' 'चांडाल' आदि कह कर उन्हें जातिच्युत करवाया, समाज में उन का हुक्कापानी बंद किया गया और सब ओर से उन्हें प्रताड़ित किया गया. इस तरह उन्हें अपनी मौत मरने को विवश किया गया.

धर्मशास्त्रकारों ने ज्योतिषियों अर्थात गणित का काम करने वालों को वर्णसंकर घोषित किया. स्मरण रहे, 'वर्णसंकर' हिंदूधर्म में बहुत बड़ी गाली थी. ऐसे लोग समाज से निकाल दिए जाते थे और पशुओं जैसा जीवन जीने के लिए विवश किए जाते थे.

उशना स्मृति में ज्योतिष का काम 'भिषक्' नामक वर्णसंकर जाति को सौंपा गया है:

नृपायां विप्रतश्चौर्यात् संजातो यो भिषक् स्मृतः,
अभिषिक्तनृपस्याज्ञां प्रतिपाल्य तु वैद्यकः
आयुर्वेदमथाष्टांगं तन्त्रोक्तं धर्ममाचरेत् ज्योतिषं
गणितं वाऽपि कायिकीं वृत्तिमाचरेत्

–उशनास्मृति 26-27

ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय कन्या के गुप्त प्रेम की संतान 'भिषक' कहलाती है. यह दवादारू अथवा गणित ज्योतिष (खगोलविज्ञान) के द्वारा अपनी आजीविका चलाए.

सह्याद्रिखंड (26/45-86) के अनुसार 'माहिष्य' अथवा 'अंबष्ठ' नामक वर्णसंकर जाति ज्योतिष के व्यवसाय को अपनाए. याज्ञवल्क्य ने माहिष्य के विषय में लिखा है कि वह क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य नारी से उत्पन्न होता है :

वैश्याशूद्रयोस्तु राजन्यान्माहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ

–1/92

वैखानस (10/12) ने यह काम 'मूर्धावसिक्त' नामक वर्णसंकर जाति को सौंपा है, जो ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय नारी की अवैध संतान है.

स्पष्ट है कि कोई भी सवर्ण (उच्च जातीय) व्यक्ति वर्णसंकर जातियों के पेशे को अपनाने का साहस नहीं कर सकता था. करता तो जाति और सवर्ण समाज से बहिष्कृत होता. ऐसे में साधनहीन, उपेक्षित और सभ्य समाज से बहिष्कृत लोग ग्रहों, नक्षत्रों आदि का क्या अध्ययन कर सकते थे?

लोगों को मूंड़ने का सिलसिला

इस तरह भौतिकविद्या के अध्ययन के अवसरों को सदा के लिए समाप्त करने से ब्राह्मणशाही का 'दैवज्ञ' (भविष्यज्ञाता) बन कर, अंधविश्वास फैला कर लोगों को उलटे उस्तरे से मूंड़ने का मार्ग निष्कंटक हो गया, जो आज तक अक्षुण्ण चला आ रहा है. ये आज भी लोगों के भोलेपन का अनुचित लाभ उठाते हैं.

विभिन्न समस्याओं से घिरे लोगों का इस मृगमरीचिका के पीछे भागतेफिरना किसी को अखर सकता है. लेकिन उन की ऐसी आदत भी इन्हीं की बनाई हुई है. ये ज्योतिषी हर झूठी भविष्यवाणी, या हर झूठ पर कह उठते हैं कि हमारा मतलब यह नहीं, वह था. जब हम ने ज्योतिष लगाया या, तब के मुताबिक सब ठीक था. लेकिन 'यह' राहु या केतु बीच में आ गया, इस ने स्थिति बिगाड़ दी. शास्त्र के मुताबिक हम ने ठीक कहा था. हम झूठे हो सकते हैं, शास्त्र थोड़े ही झूठे हो सकते हैं. ऐसी बातों से सामान्य व्यक्ति बहल जाता है.

कई बार ऐसा भी होता है कि किसी बड़े ज्योतिषी की लड़की विवाह के दूसरे ही दिन विधवा हो जाती है या ज्योतिषी के घर डकैती पड़ जाती है.

इस पर जब उन से पूछा जाए तो उन का गढ़ागढ़ाया उत्तर होता है—जैसे नाई अपने सिर के बाल स्वयं नहीं काट सकता और डाक्टर अपनी चिकित्सा स्वयं नहीं कर सकता, वैसे ही दूसरों का भविष्य बताने वाला ज्योतिषी भी अपना भविष्य स्वयं नहीं जान सकता.

साधारण आदमी इस उत्तर को सुन कर निरुत्तर हो जाता है, और बिना इस के सभी पक्षों पर विचार किए, ऐसे ही अन्य अवसरों पर स्वयं उस उत्तर को तोते की तरह बोलने लगता है.

यदि यह मान भी लिया जाए कि एक नाई अपने बाल स्वयं नहीं काट सकता तो भी इस का कारण उस का नाई होना नहीं होता, बल्कि इस का कारण यह होता है कि जिस तरह वह दूसरों के सिर के चारों ओर अपना हाथ घुमाफिरा सकता है, उस तरह अपने सिर के चारों ओर नहीं घुमा फिरा सकता. अर्थात उस के द्वारा स्वयं अपने बाल न काट सकने का कारण शारीरिक बाधा है. लेकिन जन्मपत्री, कुंडली आदि पर वह बात लागू नहीं होती. जैसे हम दूसरों का जीवन 'पढ़' सकते हैं, वैसे ही अपना भी. जन्मपत्री दूसरे की हो या अपनी, उसे तो केवल पढ़ना है.

जिस तरह नाई को अपने सिर के चारों ओर हाथ चलाने में शारीरिक बाधा पेश आती है, वैसे अपनी जन्मपत्री बांचने पर ज्योतिषी को कोई बाधा पेश नहीं आती. ऐसा

नहीं होता कि अपनी जन्मकुंडली पढ़ने पर उस की आंखों में मोतियाबिंद उतर आता हो या उसे जन्मपत्री पर के आंकड़े और खाने न दिखाई देते हों. अतः नाई वाली बात बिलकुल गलत और असंबद्ध दृष्टांत है.

अब डाक्टर की बात को लेते हैं. देखने में आता है कि सभी डाक्टर इलाज स्वयमेव करते हैं. केवल कुछ अवसर ऐसे होते हैं जब डाक्टर अपना इलाज खुद नहीं कर पाता.

मस्तिष्क के असंतुलन, शरीर की निर्बलता, बीमारी विशेष की अत्यधिक गंभीरता, तत्संबंधी आधुनिकतम उपकरणों का उस के पास न होना, उस विषय का विशेषज्ञ न होना आदि कारणों से डाक्टर कई बार अपने इलाज में असमर्थ हो सकता है. लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब ऐसी स्थिति होती है तब डाक्टर अपना इलाज न कर सकने के साथ ही दूसरों का इलाज करने के योग्य भी नहीं होता. अपनी शल्यक्रिया स्वयं न कर सकने का कारण स्पष्टतः शारीरिक बाधा है.

लेकिन जब ज्योतिषी अपना भविष्य नहीं जान पाता, तब क्या वह दूसरों का भविष्य बताने के भी अयोग्य हो जाता है? अपने को दूसरों का भविष्य बताने के अयोग्य तो वह कदापि नहीं समझता. फिर डाक्टर वाला दृष्टांत यहां कैसे चरितार्थ हो सकता है? यह भी विषम दृष्टांत है.

स्पष्ट है कि दोनों दृष्टांत गलत और असंबद्ध हैं. फिर केवल दृष्टांत से ही बात नहीं बनती. एक दृष्टांत के समकक्ष दूसरा दृष्टांत बड़ी आसानी से दिया जा सकता है. क्या कोई ऐसा मुनीम है जो अपने घर का लेखा तो न लिख सकता हो, परंतु दूसरों का लिख सकता हो? क्या कोई रसोइया है जो दूसरों को तो रोटी पका कर खिला सकता हो, परंतु अपने लिए न पका सकता हो? क्या कोई ऐसा मिस्त्री है, जो दूसरों की दीवार बनाता हो, परंतु अपने लिए न बना सकता हो?

मुनीम, रसोइया और मिस्त्री अपने लिए तो दूसरों से भी ज्यादा अच्छा काम कर सकते हैं. ऐसे ही मनुष्य अपने बारे में दूसरों की अपेक्षा कहीं ज्यादा जान सकता है, क्योंकि उस के पास अपनी प्रवृत्ति का दूसरों की प्रवृत्ति से अधिक ज्ञान रहता है.

इस तरह हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में खगोल विज्ञान का बड़ी होशियारी से गला घोंटा गया और उस के स्थान पर जन्मपत्रियों और कुंडलियों की कुंडलदार भूलभुलैयां रची गईं, जिन के परिणामस्वरूप विज्ञान की प्रयोगशालाओं के स्थान पर अंधविश्वासों की पगपग पर दुकानें खुलीं.

आज जबकि खगोलभौतिकी में इतनी उन्नति हो रही है, इन झूठ के धार्मिक सौदागरों को लगाम डाली जानी चाहिए. इन पर कानूनन प्रतिबंध लगे ताकि लोगों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक बनाने में मदद मिले और साधारण नागरिक संविधान के अनुच्छेद 51-क में प्रतिपादित मौलिक कर्त्तव्यों का पालन करने की स्थिति में हो सके, अन्यथा खगोलविज्ञान पर अरबों रुपए प्रति वर्ष खर्च करना बिलकुल व्यर्थ सिद्ध होगा.

सौरमंडल अब पहले की तरह रहस्यमय नहीं रहा...

जैसेजैसे ज्ञान और विज्ञान में उन्नति होगी, तैसेतैसे अनजानी और भेदभरी चीजें कम होती जाएंगी. पिछले दस वर्षों की अपेक्षा आज ऐसी चीजों की संख्या कम हो गई है. 1965 में चंद्रमा हमारे लिए एक रहस्य था, लेकिन आज ऐसी स्थिति नहीं हैं. आज चांद के धरातल से लाई गई धूलि पर बहुत से प्रयोग हो चुके हैं. अब चंद्रमा 'देवता' न हो कर पत्थर और मिट्टी का ही एक पिंड है, सौरमंडल के 31 उपग्रहों में से एक.

आकाश में रात्रि के समय उत्तर से दक्षिण की तरफ धुंधले हलके रंग की प्रकाश की चादर फैली दिखाई पड़ती है. इसे आकाशगंगा कहते हैं. यह लगभग एक खरब तारों का समूह है. यह आकाशगंगा अपने केंद्र के चारों ओर चक्कर लगा रही है. हाल ही में 3000 नई आकाशगंगाओं का पता चला है. हमारा सूर्य पृथ्वी और दूसरे ग्रहों को साथ ले इस (आकाशगंगा) के चारों तरफ घूमता है. आकाशगंगा के केंद्र के चारों ओर एक चक्कर लगाने में सूर्य को 2250 लाख वर्ष लगते हैं. भारतीय ज्योतिषी और पुराने वेदशास्त्र सूर्य को चलता फिरता बताते हैं. उन का कहना है कि सूर्य हर रोज पूर्व से पश्चिम की ओर यात्रा करता है. इस से दिनरात बनते हैं. यह सरासर गलत है.

सूर्य और उस के चारों ओर घूमने वाले सभी पिंडों को सौरमंडल कहते हैं. सौरमंडल में छः प्रकार के पिंड हैं:

1. सूर्य, 2. ग्रह, 3. क्षुद्र ग्रह, 4. उपग्रह, 5. उल्काएं, 6. धूमकेतु.

ग्रह

ग्रह नौ थे. अब आठ रह गए हैं–बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, वारुणी, वरुण और नौवां यम (इसे ग्रहों की सूची से निकाल दिया गया है).

ये ग्रह ज्योतिषियों के नौ ग्रहों से भिन्न थे. इन में यम (प्लूटो) की खोज तो 1930 में क्लाइड टॉमबॉघ ने की थी. अंतरराष्ट्रीय खगोलविज्ञानी संघ (आईएयू) ने अब इस ग्रह को ग्रहों की सूची में से खारिज कर दिया है. साथ ही तीन नए छोटे (ड्वार्फ) ग्रहों को सौरमंडल में स्वीकार कर लिया है. वे हैं–शैरॉन, एस्टेरॉयड सेरेस

और 2003 यूबी 313 (नया नाम : एरिस). इन के बारे में परंपरागत ज्योतिषियों को कुछ भी ज्ञात नहीं था.

बुध (मरकरी): यह सूर्य का बहुत नजदीकी ग्रह है, अतः यहां पृथ्वी की तुलना में बहुत अधिक गरमी होती है. यहां का तापमान इतना अधिक है कि इस के सूर्य की ओर वाले आधे भाग पर यदि सीसा रखा हो तो वह पिघल जाएगा. बुध पर वायुमंडल नहीं है. यहां पानी न होने के कारण जीना बहुत कठिन है. इस ग्रह को सूर्य के उदय होने के कुछ समय पहले या सूर्य के अस्त होने के कुछ समय बाद ही अच्छी तरह देखा जा सकता है.

शुक्र (वीनस): इसे शाम के समय अथवा प्रातः काल देखा जा सकता है. यह बहुत चमकीला होता है. धुएं की घनी तह इस ग्रह को ढके रहती है. वैज्ञानिकों को यहां भी जीवन की आशा नहीं है.

पृथ्वी (अर्थ): यह वह ग्रह है जिस पर हम सब लोग रहते हैं.

मंगल (मार्स): पृथ्वी को छोड़ कर केवल यही ऐसा ग्रह है जहां वनस्पति तथा प्राणियों के जीवित रहने की उम्मीद की जाती है. मंगल का अधिकतम तापमान 113 डिग्री फारेनहाइट और न्यूनतम तापमान शून्य से 56 डिग्री फारेनहाइट नीचे है. यहां पर आक्सीजन बहुत कम है, और वस्तुओं का भार भी बहुत कम हो जाता है. इस ग्रह का रंग हलका लाल है. यहां पानी भी है.

बृहस्पति(जूपिटर): यह सूर्य से बहुत दूर है, अतः यहां सर्दी बहुत होती है. इस के चारों ओर घने बादल छाए रहते हैं. यहां वस्तुओं का भार बहुत बढ़ जाता है.

शनि (सैटर्न): यह बहुत सुंदर ग्रह है. इस के मध्य में तीन पतले और चौड़े छल्ले हैं. वैज्ञानिकों का कहना है कि ये छल्ले कई पदार्थों के अरबों छोटेछोटे टुकड़ों से बने हैं. इस ग्रह पर ठंड बहुत होती है.

वारुणी (यूरेनस): यह शनि से भी ज्यादा ठंडा है. इस के चारों ओर बादलों की बहुत मोटी तह जमी होती है. यह प्रकाश को अंदर नहीं आने देती है. इसलिए यहां घना अंधेरा छाया रहता है.

वरुण (नेपच्यून): यह वारुणी से भी अधिक ठंडा तथा धुंधला है. यह बादलों की मोटी तह से ढका रहता है.

यम (प्लूटो): यह ग्रह पृथ्वी से सब से ज्यादा दूर है. इस पर नासा का यान 'न्यू हाराइजन्स' 2015 में पहुंचेगा. इस का व्यास 2360 किलोमीटर है (यानी यह इतना है जितना कि चंडीगढ़ से बेंगलूर है) और सूर्य से 5. 9 अरब किलोमीटर दूर है. इस के तीन चंद्रमा (उपग्रह) हैं. यह 248 दिनों में सूर्य की परिक्रमा करता है तथा धुरी पर 6.8 दिन में एक बार घूमता है. एरिस प्लूटो से 115 किलोमीटर बड़ा है और सूर्य से सबसे अधिक दूरी पर स्थित है –14.5 अरब किलोमीटर. इसे दूरबीन के बिना

नहीं देखा जा सकता. यह पृथ्वी से बहुत छोटा है लेकिन पृथ्वी से ज्यादा ठंडा है. सतह का तापमान -233 डिग्री सेल्सियस है. अब इसे ग्रह सूची से खारिज कर दिया गया है.

जब से प्लूटो ग्रह को अंतरराष्ट्रीय खगोलविज्ञानी (आईएयू) ने ग्रहों की सूची में से निकाला है, तब से भारतीय ज्योतिषी कई तरह की उलटी सीधी बातें कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि इस से उन की विश्वसनीयता का भंडा फूट जाएगा.

उन का कहना है कि इसे ग्रहसूची में से निकाल देने से भविष्यवाणी करने में असुविधा होगी. हमारा इन से पूछना है कि जब तक 1930 में यह खोजा नहीं गया था, तब तक तथाकथित भविष्यवाणी कैसे किया करते थे? जैसे 1930 से पहले तुक्केबाजी किया करते थे, अब भी वैसे ही करने में क्या बाधा है? तुक्केबाजी तो उसी प्रकार हो सकती है चाहे प्लूटो ग्रहसूची में हो या न हो. कुछ दूसरे इस का चालाकी से स्वागत कर रहे हैं और इसे भारतीय खगोलविदों का दुनिया द्वारा लोहा मानना बता रहे हैं.

ज्योतिषी मंगलाप्रसाद का कहना है कि प्लूटो को ग्रहों की श्रेणी से बाहर करने के फैसले ने महान भारतीय खगोलशास्त्री आर्यभट्ट और वराहमिहिर द्वारा सदियों पूर्व लिखे गणितीय और खगोलीय निबंधात्मक लेखों की पुष्टि की है. भारतीय ज्योतिषविज्ञान में यह हमेशा से ग्रहों की श्रेणी से बाहर रहा है.

यह सारी अनैतिहासिक मार्केबाजी है, जिस का उद्देश्य आम लोगों को भ्रम में डालना है. प्लूटो को 1930 में खोजा गया था. अतः इस के बारे में न 477 ई. में जन्मा आर्यभट्ट कुछ लिख सकता था और न 550 ई. में जन्मा वराहमिहिर. जब यह ग्रह ही तब अज्ञात था, तब आर्यभट्ट या वराहमिहिर के इस को मानने या न मानने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता था? सारी बात ही एकदम इतिहास-विरुद्ध और भ्रम पैदा करने वाली है.

हमारा पूछना है कि यदि तुम्हारे आर्यभट्ट और वराहमिहिर प्लूटो को ग्रह नहीं मानते थे, तो क्या वे यूरेनस (वारुणी) को ग्रह मानते थे? इस ग्रह को दुनिया भर के खगोलविद ग्रह मानते हैं और इसे हर्शेल ने 1781 में खोजा था. क्या वे नैपच्यून (वरुण) को ग्रह मानते थे? उसे भी दुनिया भरर के खगोलविद ग्रह मानते हैं और इसे 1846 में खोजा गया था. इस बारे में भारतीय ज्योतिषियों ने क्यों मौन धारण कर रखा है? क्या इसलिए कि उन के कुछ भी कहने से वे दुनिया भर में हास्यास्पद हो जाएंगे? क्या इसीलिए कि इस से ज्योतिषियों के नौ ग्रहों के ढोल की पोल खुल जाएगी?

नौ ग्रह : नकली

जब से (1930 ई. से) खगोलविज्ञानियों ने नौ ग्रहों की सूची को मान्यता दी थी, तब से भारतीय ज्योतिषियों को भोलेभाले आम लोगों और पढ़ेलिखे लोगों को भी यह कह कर भ्रमित करने का एक बढ़िया बहाना मिल गया था कि हम जिन नौ ग्रहों की बात करते हैं, उन्हें तो विज्ञान भी मानता है. हम तो पहले से ही, हजारों सालों से

ही नौ ग्रहों की बात करते आ रहे हैं. विज्ञान अब 1930 के बाद जाकर कहीं उन नौ ग्रहों तक पहुंच पाया है.

यह सरासर धोखा है और नौ की संख्या का नाम लेकर लोगों को बुद्धू बनाना है, क्योंकि यद्यपि खगोलविज्ञान 1930 से अभी कल तक नौ ग्रहों को मानता आया है, तथापि हमारे ज्योतिषियों के नौ ग्रह वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत ग्रह नहीं थे. वे तो तारे, उपग्रह, ग्रह और कल्पित ग्रहों का सतनजा थे. निम्नलिखित श्लोक में उन नौ ग्रहों के नाम बताए गए हैं :

सूर्यश्चन्द्रो मंगलश्च बुधश्चापि बृहस्पतिः,
शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति ग्रहा नव.

(सूर्य, चंद्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु–ये नौ ग्रह हैं.)

इन में सूर्य ग्रह नहीं है, बल्कि तारा (स्टार) है. चंद्रमा ग्रह नहीं है, बल्कि एक उपग्रह है. ऐसे उपग्रह हमारे सौरमंडल में 34 हैं, परंतु हमारे त्रिकालज्ञों, वेदांगज्योतिषियों और सर्वज्ञों को केवल एक चांद का ही पता था और उसे भी ग्रह बता रहे थे.

राहु और केतु ग्रह या उपग्रह कुछ हैं ही नहीं. वे काल्पनिक धब्बे मात्र हैं. इस तरह सूर्य, चंद्र, राहु और केतु को निकाल देने पर वास्तव में ज्योतिषियों के पास केवल 5 ग्रह बचते हैं. इस में न पृथ्वी ग्रह शामिल है, न यूरेनस (वारुणी) और न नैपच्यून (वरुण).

नौ ग्रह : असली

खगोलविज्ञानियों के नौ ग्रह ये थे–मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, पृथ्वी, यूरेनस, नैपच्यून और प्लूटो. प्लूटो के निष्कासन के बाद 8 ग्रह रह गए हैं. इनमें न तो सूर्य शामिल है, न चंद्र और न राहु व केतु.

विज्ञान के अनुसार सूर्य ग्रह नहीं, तारा है. चंद्रमा ग्रह नहीं एक उपग्रह है. परंतु राहु और केतु नाम की तो कोई चीज कहीं है ही नहीं.

ऊपर दी गई भारतीय ज्योतिषियों के नौ ग्रहों की नकली और विज्ञान की असली सूची का मिलान करके कोई भी व्यक्ति बड़ी आसानी से यह समझ सकता है कि ज्योतिष किस तरह धोखे का व्यापार है.

यदि ग्रहों का व्यक्तिगत जीवन पर वास्तव में प्रभाव पड़ता भी होता, तो भी भारतीय ज्योतिष से उस का सही आकलन कदापि नहीं हो सकता था. जब आठ ग्रह हों, तब पांच ग्रहों से गणना ठीक कैसे हो सकती है? यदि ग्रहों का प्रभाव पड़ता हो तो एक तारे का और एक उपग्रह का प्रभाव कैसे पड़ सकता है? यदि सचमुच के ग्रहों का प्रभाव पड़ता हो तो काल्पनिक राहु केतु का प्रभाव कैसे पड़ सकता है? इस प्रकार हम किसी भी दृष्टि से देखें, सब ओर बंटाधार है.

ग्रहों की सूची से प्लूटो को निकाल देने से ज्योतिषियों को अब ग्रहों की संख्या –नौ–का अनुचित लाभ उठाने में दिक्कत आ सकती है. इसीलिए वे छटपटा रहे हैं.

कभी इसके निकलने से ज्योतिष के गड़बड़ाने की बातें हो रही हैं तो कभी इस निष्कासन को ही 'दुनिया द्वारा भारतीय ज्योतिष का लोहा मानना' बताया जा रहा है, हालांकि इसमें लोहे वाली कोई बात तक नहीं है, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं.

जिन आर्यभट्ट (जन्म 477 ई.) और वराहमिहिर (550 ई.) का नाम लेकर प्लूटो के निष्कासन को अपनी प्राप्ति बताया जा रहा है, उन्हें तो मरे हुए भी हजार साल से ज्यादा हो चुका था, जबकि प्लूटो को आधुनिक खगोलविदों ने खोज निकाला था. जिस चीज के अस्तित्व के बारे में किसी व्यक्ति के मरने के 14-15 सौ साल बाद पता चले, उस की बाबत 14-15 सौ साल पहले मर चुका व्यक्ति क्या खाक बता सकता है? किसी पुराने या प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम लेने मात्र से भारतीय ज्योतिषियों की निराधार व निर्मूल बातों को कोई बुद्धिमान व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता.

ग्रहों की चाल

प्रत्येक ग्रह अपनी कक्षा (मार्ग) में चलता हुआ सूर्य के गिर्द चक्कर लगाता है. अपने भिन्नभिन्न नापों के ग्रहपथों पर वे अलगअलग रफ्तार से घूमते हैं. सूर्य की गुरुत्व शक्ति ग्रहों को अपनीअपनी कक्षा में थामे रखती है और उन्हें अंतरिक्ष में इधरउधर भटकने से रोकती है. यदि सूर्य में गुरुत्वाकर्षण शक्ति न होती तो न यह सौर परिवार होता और न पृथ्वी पर जीवन होता, क्योंकि सौरमंडल की सारी और असली शक्ति का केंद्र सूर्य ही है. यदि सूर्य से प्रकाश और ताप न मिलते तो हमारी पृथ्वी चट्टानों और बर्फ से घिरी एक मुरदा गेंद मात्र ही होती.

यह बात खास तौर पर ध्यान देने योग्य है कि जगहजगह लोगों को फंसाने तथा लूटने के लिए जाल फैला कर बैठे ज्योतिषियों के मुख से आम तौर पर सुने गए राहु और केतु नामक ग्रह असल में ग्रह नहीं हैं. वैज्ञानिकों को ये ग्रह कहीं दिखाई नहीं दिए. ये 'ग्रह' लोगों को वहम में डाल कर उन्हें डराने तथा लूटने के लिए कल्पित किए गए हैं.

इस के अलावा, यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि लोगों का भविष्य बतलाने का दावा करने वाले ज्योतिषी ऐसे कई ग्रहों को जानते तक नहीं, उन की पुस्तकों में उन ग्रहों का कहीं नाम तक नहीं जो हमारे सौरमंडल में मौजूद हैं और जिन्हें वैज्ञानिकों ने कुछ समय पहले ही खोज निकाला है. वारुणी (यूरेनस), वरुण (नैपच्यून) और यम (प्लूटो) आदि ऐसे ही ग्रह हैं. वैसे अब प्लूटो को ग्रहों में से खारिज कर दिया गया है. फिर मनुष्यों पर ग्रहों का प्रभाव पड़ने की बात कहने वाले उन ज्योतिषियों पर विश्वास करना मूर्खता नहीं तो और क्या है जिन्हें ग्रहों की पूरी जानकारी तक नहीं है.

क्षुद्र ग्रह (ऐसटराइड)

सौरमंडल में ऊपर कहे गए नौ (अब आठ) बड़े ग्रहों के अतिरिक्त बहुत से छोटेछोटे ग्रह भी हैं. ये सूर्य के चारों ओर घूम रहे हैं. इन्हें 'क्षुद्र ग्रह' कहते हैं. इन में

से बहुत से क्षुद्र ग्रह मंगल और बृहस्पति के ग्रहपथों के मध्य में पड़ने वाले रास्ते से होते हुए सूर्य के गिर्द चक्कर लगाते हैं.

आज तक 2000 से ज्यादा क्षुद्र ग्रह गिने जा चुके हैं. शायद इन की संख्या इस से भी ज्यादा हो. बहुत छोटे होने के कारण अधिक शक्तिशाली दूरबीन से भी ये इस से ज्यादा संख्या में नहीं देखे जा सके हैं. इन का आकारप्रकार निश्चित नहीं है. ये चट्टानों के टुकड़े मात्र हैं. सब से बड़ा क्षुद्र ग्रह 800 किलो मीटर का व्यास है और सब से छोटे क्षुद्र ग्रह का व्यास 1.6 किलोमीटर से भी कम है. अब प्लूटो भी इन में शामिल हो गया है.

ग्रहों के ज्ञान (?) से रोजीरोटी कमाने वाले भारतीय ज्योतिषी इन्हें जानते तक नहीं थे. इन्हें अब वैज्ञानिकों ने खोज़ निकाला है.

उपग्रह

जिस तरह सारे ग्रह सूर्य के गिर्द चक्कर काटते हैं, ठीक उसी तरह कुछ पिंड ग्रहों के गिर्द घूमते हैं. इन्हें उपग्रह (सैटैलाइट) अथवा चंद्रमा कहते हैं. हमारे सौरमंडल में कुल 34 चंद्रमा हैं. पृथ्वी का एक, बृहस्पति के बारह, शनि के नौ, वारुणी के पांच और मंगल व वरुण के दोदो चंद्रमा हैं तथा प्लूटो के तीन चंद्रमा हैं. बाकी दो ग्रहों का कोई चंद्रमा नहीं है.

यहां यह बात याद रखनी चाहिए कि भारतीय ज्योतिषी 'चंद्रमा देवता' को ग्रह बताते हैं, जब कि असल में वह उपग्रह है. वे पृथ्वी के एक ही चंद्रमा को जानते हैं. उन्हें हमारे सौरमंडल के बाकी 33 चंद्रमाओं का जरा भी ज्ञान नहीं, और न ज्योतिष के ग्रंथों में ही कहीं उन का उल्लेख मिलता है. क्या यह बात ज्योतिष शास्त्र के अधूरे और अपूर्ण होने की सूचक नहीं?

चंद्रमा देवता को स्मार्ट-वन नामक रोबोट यान ने पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार 7200 किलोमीटर प्रति घंटा की रफ्तार से 3-9-06 की रात को टक्कर मारी है. फलतः जोरदार धमाके के साथ रोशनी उठी और चांद की सतह पर तीन मील से दस मील चौड़ा गड्ढा बन गया. इस टक्कर में उठे मलबे के कम से कम 30 वर्ग मील में फैल जाने का अनुमान है. 'स्मार्ट-वन' के मिशन मैनेजरगेरार्ड स्वेहम ने कहा कि इस टक्कर ने चांद की सतह से इतनी मिट्टी जरूर खोदी होगी जिस से चांद के बारे में जरूरी जानकारियां जुटाई जा सकें.

बेचारा चंद्रमा देवता देखता रह गया. कुछ कर नहीं सका. किसी ज्योतिषी ने इस घटना की कभी भविष्यवाणी नहीं की थी.

उल्काएं

कई बार रात्रि में हमें 'टूटते हुए तारे' दिखाई देते हैं. वे असल में तारे न हो कर धूल या चट्टानों के ऐसे कण या टुकड़े होते हैं, जो बाहरी अंतरिक्ष से पृथ्वी के वायुमंडल में आ गिरते हैं. कभीकभी ये टुकड़े रेत के कणों जितने होते हैं. इन्हें उल्काएं (मिटिअर) कहते हैं.

उल्काएं सूर्य के चारों ओर चक्कर काटती हैं और आम तौर पर नजर नहीं पड़तीं. यदि कोई उल्का पृथ्वी के समीप आ जाती है तो पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति उसे नीचे खींच लेती है. ज्यों ही चट्टान व धूल के कण हमारे वायुमंडल के शिखर भाग में पहुंचते हैं वे वायु से रगड़ खा जाते हैं जिस से ताप उत्पन्न होता है. उस ताप के कारण वे कण जल उठते हैं और चमकने लगते हैं. पृथ्वी से 160 किलोमीटर ऊपर होने पर उल्का जलने लगती है तथा आकाश के आरपार एक पतली सी प्रकाश की धारा छिटकाने के बाद यह गैस बन जाती है. उल्काएं पृथ्वी पर पहुंचे बिना ही आम तौर पर गायब हो जाती हैं.

कई बार उल्काएं बड़े आकार की होती हैं. अतः वे पूरी तरह जले बिना ही पृथ्वी पर आ गिरती हैं और धरती के अंदर गहरे धंस जाती हैं. उल्काओं के इस प्रकार के अधजले हिस्सों को 'उल्काश्म' कहते हैं. कई उल्काश्म निकिल और लोहे के होते हैं. परंतु ऐसे उल्काश्म बहुत लंबे अरसे के बाद ही गिरते हैं. कई बार इन का भार 60 टन से भी अधिक होता है. दक्षिणी अमरीका के एरिजोना नामक स्थान पर एक उल्काश्म के गिरने से जो गड्ढा बना था उस का व्यास 1.6 किलोमीटर तथा गहराई 180 मीटर थी. कनाडा के क्वेबेक नामक स्थान पर तो उल्काश्म के गिरने से यह गहरी झील ही बन गई थी. सन 1905 में साइबेरिया में भी एक उल्काश्म गिरा था, जिस से 25 मील में फैला जंगल जल कर राख हो गया था.

इन उल्काओं को 'तारे का टूटना' कह दिया जाता है. पुरानी पीढ़ी के लोग 'तारे के टूटने' को बहुत बुरा कहा करते हैं, क्योंकि धर्मशास्त्रों में टूट रहे तारे को देखना बहुत अशुभ और हानिकारक कहा गया है. यह सब अंधविश्वास का ही परिणाम है.

धूमकेतु

सौर परिवार के सब सदस्यों में सब से ज्यादा अजीब हैं धूमकेतु. इन्हें अंगरेजी में 'कामेट' कहते हैं. इस यूनानी शब्द का अर्थ है: लंबी पूंछ वाला. हमारे यहां भी उसे 'पूंछ वाला तारा' कहते हैं. इन नामों के पड़ने का कारण यह है कि इस का सिर बहुत ज्यादा चमकीला होता है और इस के पिछली ओर एक लंबी सी पूंछ फहराती रहती है. रात्रि में यह एक धारी की तरह आकाश को चीरता हुआ प्रतीत होता है. प्राचीन काल में लोग (कुछ अंधविश्वासी आज भी) इस से भयभीत हो जाते थे.

वास्तव में धूमकेतु कोई हानि नहीं पहुंचाता और न इस के उदय होने से संसार की तबाही का कोई संबंध है. 4 जुलाई 2005 को नासा के वैज्ञानिकों ने टेंपल-1 नाम के धूमकेतु के साथ डीप इंपैक्ट अंतरिक्ष यान को अपनी पूर्वयोजना के अनुसार टकराया है. यह यान 13 करोड़, 40 लाख किलोमीटर की दूरी तय कर के पूर्व निर्धारित लक्ष्य से टकराया. उस से अंतरिक्ष में मलबे का एक बादल फटा. बस, बात खत्म हो गई. दुनिया अपनी रफ्तार से चल रही है. इस टक्कर से वैज्ञानिकों को कई महत्त्वपूर्ण तथ्य हस्तगत होने की आशा है. इस से धूमकेतु से संबद्ध अंधविश्वासों को अवश्य आघात पहुंचेगा.

धूमकेतु क्या हैं? ये छोटेछोटे धूलिकणों, चट्टानों के टुकड़ों और गैसों के अंशों

का एक विशाल पुंज होते हैं. ये विशाल अंतरिक्ष से घूमतेघामते आ जाते हैं. इसीलिए इन्हें 'अंतरिक्ष में भटकने वाले' उपनाम भी दिया गया है. सूर्य के समीप पहुंचने पर इन की गति तेज हो जाती है और फिर धीरेधीरे ये गायब हो जाते हैं. जब ये सूर्य के निकट पहुंचते हैं, तब इन के सिर में से गैस निकल कर एक लंबी सी पूंछ बना देती है. इसी कारण यह पूंछ सदा सूर्य से उलटी दिशा में रहती है. धूमकेतु चाहे किसी भी मार्ग पर चले उस का सिर सदा सूर्य की ओर रहता है. देखने पर ऐसा लगता है मानो वह पीछे की ओर चल रहा हो.

जिस तरह ग्रह सूर्य के चारों ओर ग्रहपथों पर घूमते हैं, उसी प्रकार धूमकेतुओं की भी कक्षाएं हैं. लेकिन वे कक्षाएं लंबी, तंग और अंडे की शक्ल की होती हैं.

कई धूमकेतु केवल एक बार प्रकट हो कर सदा के लिए लुप्त हो जाते हैं. अब तक 1000 से ऊपर ऐसे धूमकेतु देखे जा चुके हैं. कई धूमकेतु बारबार दिखाई देते हैं. हेली का धूमकेतु सब से ज्यादा प्रसिद्ध है. यह 76 साल में एक बार ही दिखाई पड़ता है. सन 1986 में यह दिखाई दिया था. हाल ही में 'वेस्ट' नाम के एक नए धूमकेतु का भी पता चला है.

सौर परिवार के पूर्वोक्त सदस्यों के अलावा सन् 1957 से कुछ नए सदस्य भी बनने शुरू हो गए हैं. ये नए सदस्य मानवनिर्मित उपग्रह हैं जो अंतरिक्ष में तब तक पृथ्वी के गिर्द चक्कर लगाते रहेंगे, जब तक कि वे किसी उल्का आदि पिंड से टकरा कर चूरचूर नहीं हो जाते.

गंगा आदि नदियां और वैज्ञानिक तथ्य

हिंदू धर्म में अनेक नदियां पापनाशक और पवित्रता लाने वाली मानी जाती हैं. इन में से गंगा, यमुना, गोदावरी और नर्मदा का हिंदू धर्म ग्रंथों में विशेष महत्त्व गाया गया है. विशेष अवसरों, यथा–ग्रहण, कुंभ, संक्रांति, अमावस्या, पूर्णिमा आदि पर लाखों लोग इन में नहाते हैं, इन का पानी अमृत समझ कर पीते हैं और अपने को कृतार्थ समझते हैं.

जिस किसी भी हिंदू धर्म ग्रंथ को उठाएं, उस में इन नदियों की महिमा की बाढ़ आई हुई प्रतीत होती है. यह महिमा इतनी अतिशयोक्तिपूर्ण और इतनी लंबीचौड़ी है कि देखते ही बनता है.

नीचे इन माहात्म्यों के कुछ अंश प्रस्तुत हैं:

यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गंगाभिषेचनम्,
सर्वं तत् तस्य गंगांभो दहत्यग्निरिवेंधनम्

–महाभारत, वनपर्व 85-89

अर्थात यदि कोई व्यक्ति सैकड़ों पापकर्म कर के गंगा में नहा ले तो गंगा का पानी उस के उन पापों को उसी प्रकार जला देता है जिस प्रकार आग ईंधन को जला देती है.

पूर्वे वयसि कर्माणि कृत्वा पापानि ये नराः,
पश्चाद् गंगां निषेवन्ते तेऽपि यांत्युत्तमां गतिम्
स्नातानां शुचिभिस्तोयैर्गांगेयैः प्रयतात्मनाम्,
व्युष्टिर्भवति या पुंसां न सा क्रतुशतैरपि
यावदस्थि मनुष्यस्य गंगातोयेषु तिष्ठति,
तावद् वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते
वाप्वीरिताभिः सुमनोहराभिर्द्रुताभिरत्यर्थसमुत्थिताभिः,
गंगोर्मिभिर्भानुमतीभिरिद्धाः सहस्ररश्मिप्रतिभा भवंति

–महा. अनुशासनपर्व 26/30-32, 81

अर्थात जो मनुष्य जीवन की पहली अवस्था में पापकर्म कर के पीछे गंगा का सेवन करते हैं वे भी उत्तम गति को प्राप्त होते हैं. गंगा के पवित्र जल में स्नान कर के जिन का अंतःकरण शुद्ध हो गया है, उन पुरुषों को जितना पुण्य प्राप्त होता है, उतना

पुण्य सैकड़ों यज्ञ करने वालों को भी नहीं प्राप्त होता. जब तक मनुष्य की अस्थियां (हड्डियां) गंगा के पानी में रहती हैं, तब तक, अर्थात उतने हजार वर्षों तक वह स्वर्ग में सम्मान प्राप्त करता है. वायु से प्रेरित हो बड़े वेग से ऊंचा उठने वाली गंगा की परम मनोहर एवं कांतिमती तरंगों से नहा कर प्रकाशित होने वाले पुरुष परलोक में सूर्य के समान तेजस्वी होते हैं.

सप्तावरान् सप्त परान् पितृंस्तेभ्यश्च ये परे,
पुमांस्तारयते गंगां वीक्ष्य स्पृष्ट्वावगाह्य च

–पूर्वोक्त ग्रंथ–61

अर्थात गंगा का दर्शन, उस के जल का स्पर्श और उस में स्नान कर के मनुष्य सात पीढ़ी पहले के पूर्वजों का और सात पीढ़ी आगे होने वाली संतानों का तथा इस से भी आगे के पितरों और वंशजों का कल्याण करता है.

श्रुता अभिलषिता दृष्टा स्पृष्टा पीतावगाहिता,
या पावयति भूतानि कीर्तिता च दिनेदिने
गंगा गंगेति यैर्नाम योजनानां शतेष्वपि
स्थितैरुच्चारितं हंति पापं जन्मत्रयार्जितम्

–विष्णुपुराण 2/8., गंगावाक्यावली पृ. 110, तीर्थचिंतामणि पृ. 202,
गंगाभक्तितरंगिणी पृ. 9, पद्मपुराण 6/21/8 एवं 23/12 और ब्रह्मपुराण 175/82

अर्थात जब कोई गंगा का नाम सुनता है, जब कोई उस के दर्शन की इच्छा करता है, जब कोई उसे देखता है या उस का स्पर्श करता है या उस का पानी पीता है या उस में डुबकी लगाता है या उस का नाम लेता है, तो गंगा प्रतिदिन उसे पवित्र बनाती है. यदि कोई व्यक्ति सैकड़ों योजनों (एक योजन–आठ या नौ मील) से भी गंगा का नाम ले तो वह उस के तीन जन्मों के पापों को नष्ट कर देती है.

तिस्रः. कोट्योऽर्ध कोटी च तीर्थानां वायुरब्रवीत्,
दिवि भुव्यन्तरिक्षे व तत्सर्वं जाह्नवी स्मृता.

–कूर्मपुराण 1–39–8; पद्मपुराण 1–47–7 एवं 5–60–59, मत्स्य पुराण 102/5

अर्थात गंगा वायु पुराण द्वारा घोषित स्वर्ग, अंतरिक्ष एवं पृथ्वी में स्थित साढ़े तीन करोड़ पवित्र स्थलों के बराबर है और वह उन का प्रतिनिधित्व करती है.

प्रयाग माहात्म्य

गंगायमुना के संगम की महिमा गाते हुए ऋक्परिशिष्ट कहता है:

सितासिते सरिते यत्र संगते तत्र प्लुतासो दिवमुत्पतन्ति,
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासोऽमृतत्वं भजन्ते.

–ऋक्परिशिष्ट

अर्थात जो लोग श्वेत (गंगा) और कृष्ण (यमुना) दो नदियों के मिलनस्थल पर स्नान करते हैं, वे स्वर्ग को प्राप्त करते हैं. जो धीर लोग वहां अपना शरीर त्यागते हैं, अर्थात वहां डूब कर मर जाते हैं आदि, वे अमरत्व को प्राप्त करते हैं.

महाभारतकार का कहना है कि माघ मास की अमावस्या को प्रयाग में तीन करोड़ 10 हजार तीर्थों का समागम होता है अर्थात वहां नहाने से इतने तीर्थों में नहाने का पुण्य प्राप्त होता है. जो नियमपूर्वक उत्तम व्रत का पालन करते हुए माघ मास में प्रयाग में स्नान करता है, वह सब पापों से मुक्त हो कर स्वर्ग में जाता है:

दशतीर्थसहस्राणि तिस्रः कोट्यस्तथा पराः
समागच्छन्ति माघ्यां तु प्रयागे भरतर्षभ,
माघमासं प्रयागे तु नियतः संशितव्रतः
स्नात्वा तु भरतश्रेष्ठ निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात्

–महाभारत, अनुशासन पर्व, 25/36-38

मत्स्यपुराण का कहना है कि प्रयाग के दर्शन, नामसंकीर्तन अथवा वहां की मिट्टी को छूने तक से मनुष्य पापमुक्त हो जाता है:

दर्शनात् तस्य तीर्थस्य नाम संकीर्तनादपि,
मृत्तिकालभनाद् वापि नरः पापात् प्रमुच्यते.

–मत्स्यपुराण 104/12 तथा कूर्मपुराण 35/27-28

कूर्मपुराण ने प्रयाग में स्नान करने वालों के स्वर्ग में जाने और वहां मरने वालों के मोक्ष प्राप्त करने की बात कही है:

एतत् प्रजापतेः क्षेत्रं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्,
अत्र स्नात्वा दिवं यांति ये मृतास्तेऽपुनर्भवाः.

–कूर्म. 35/20

अर्थात वह प्रजापति का पवित्र स्थल है. जो यहां स्नान करते हैं वे स्वर्ग को जाते हैं और जो यहां मर जाते हैं, उन का दोबारा जन्म नहीं होता.

यमुना माहात्म्य

यमुना को कृष्ण के साहचर्य ने अति पवित्र बना दिया. 15वीं-16वीं शताब्दी तक के हिंदी कवि कृष्णलीला का वर्णन करते हुए यमुना की महिमा भी प्रतिपादित करते रहे, जिस से यह नदी भी बहुत लोकप्रिय बन गई. आज भी कीर्तनघरों और जगरातों में कृष्णभक्तों विशेषतः स्त्रियों को, यमुना की महिमा गाते देखा जा सकता है. पद्मपुराण, उत्तरखंड में (अध्याय 195 से 197) यमुना का गंगा आदि अन्य नदियों जैसा ही माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है. वैसे इस का ज्यादा माहात्म्य प्रयागमाहात्म्य में दिया गया है, क्योंकि वहां गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम माना गया है. फिर भी यहां कुछ धर्म ग्रंथों से यमुना माहात्म्य के कुछ अंश उद्धृत हैं:

गंगां च यमुनां चैव प्लक्षजातां सरस्वतीम्,
रथस्थां सरयूं चैव गोमतीं गण्डकीं तथा
अपर्युषितपापास्ते नदीः सप्त पिबन्ति

—आदिपर्व, 169/20-21

अर्थात गंगा, यमुना, पाकर की जड़ से प्रकट हुई सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती (गोदावरी), गंडकी—इन सात नदियों का जो व्यक्ति पानी पीता है, उस के पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं.

यमुना चाक्षयस्रोता
एतत् प्रस्रवणं पुण्यमिन्द्रस्य मनुजेश्वर
राजन् पुण्या पापभयापहा

—वनपर्व, 125/21,23,25

अर्थात यमुना का स्रोत अक्षय है. इस का प्रवाह इंद्र के लिए भी पुण्यप्रद है. यह पापों के भय को दूर करती है.

ऊर्जशुक्ला द्वितीयायामपराह्णेऽर्चयद् यमम्,
स्नानं कृत्वा भानुजायां यमलोकं न पश्यति

—स्कंद पुराण

अर्थात कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की दूसरी तिथि को जो व्यक्ति दोपहर के बाद यमुना में स्नान कर के यम की पूजा करता है, उसे यम लोक में नहीं जाना पड़ता अर्थात वह स्वर्ग को प्राप्त होता है.

गोदावरी माहात्म्य

गोदावरी को 'गोमती' भी कहते हैं. इस का इतना ज्यादा माहात्म्य है कि इसे 'आदिगंगा' कहा जाता है. महाभारत का कहना है कि जो व्यक्ति जनस्थान (दंडक वन के एक भाग का नाम) में गोदावरी में स्नान कर के उपवास करता है, वह राजा बनता है, राजलक्ष्मी उस की सेवा करती है.

जनस्थाने तथा मन्दाकिनीजले,
विगाह्य वै निराहारो राजलक्ष्म्या निषेव्यते.

—अनुशासन 25/29

ब्रह्मपुराण (124/93) का कहना है कि सब प्रकार के कष्टों को दूर करने के केवल दो उपाय हैं—गोदावरी और शिव. इसी पुराण में अन्यत्र (152/38-39) कहा गया है कि गोदावरी में तीनों लोकों के साढ़े तीन करोड़ देवता स्नानार्थ आते हैं. गोदावरी में केवल एक बार नहाने का इतना पुण्य है जितना गंगा में लगातार 60 हजार वर्षों तक नहाने का होता है.

वराहपुराण का कथन है कि जब बृहस्पति सिंह राशि में हो (ऐसा 12 वर्षों

के बाद एक बार होता है), तब यदि गोदावरी में स्नान किया जाए और वहां पितरों का तर्पण एवं श्राद्ध किया जाए तो यदि वे (पितर) पहले नरक में भी पड़े हुए होंगे तो स्वर्ग को प्राप्त करेंगे. यदि वे पहले ही स्वर्ग में हों तो उन का मोक्ष हो जाता है.

धर्मसिंधु का कहना है:

अत्र सिंहस्थे गुरौ गोदावरीस्नानं महापुण्यम्.

–पृ. 14

अर्थात यदि बृहस्पति के सिंह राशि में स्थित होने पर गोदावरी नदी में स्नान किया जाए तो महापुण्य प्राप्त होता है.

नर्मदा माहात्म्य

नर्मदा की महिमा अनेक पुराणों में गाई गई है. यद्यपि यह कुल 240 किलोमीटर लंबी है, तथापि इस की महिमा बड़ी नदियों जैसी ही है. मत्स्यपुराण कहता है:

नर्मदा सरिता श्रेष्ठा सर्वपापप्रणाशिनी,
तारयेत् सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च
पुण्या कनखले गंगा कुरुक्षेत्रे सरस्वती,
ग्रामे वा यदि वाऽरण्ये पुण्या सर्वत्र नर्मदा
त्रिभि: सारस्वतं तोयं सप्ताहेन तु यामुनम्,
सद्य: पुनाति गांगेयं दर्शनादेव नार्मदम्

–मत्स्यपुराण 186,8,10,11 पद्मपुराण, आदिखंड 13/6–7; कूर्मपुराण 2/40/7–8

अर्थात नर्मदा पापनाशक नदियों में श्रेष्ठ है. यह चर और अचर दोनों प्रकार के लोगों व पदार्थों का कल्याण करती है. गंगा कनखल में और सरस्वती कुरुक्षेत्र में पवित्र है, परंतु नर्मदा सभी स्थानों पर पवित्र है, चाहे ग्राम हो, चाहे वन. सरस्वती तीन दिन स्नान करने पर पवित्र करती है, यमुना सात स्नानों के बाद पवित्र करती है, और गंगा केवल एक स्नान से पवित्र कर देती है, परंतु नर्मदा के तो दर्शन मात्र से मनुष्य पवित्र हो जाता है.

नर्मदा सरितां श्रेष्ठा रुद्रदेहाद् विनि:सृता,
तारयेत् सर्वभूतानि स्थावराणि चसणि च.

–मत्स्यपुराण 190/17, कूर्मपुराण 2/40/5 और पद्मपुराण, आदिखंड 17/13

अर्थात नर्मदा नदियों में श्रेष्ठ है. यह रुद्र देवता के शरीर से निकली है. यह सब चल और अचल प्राणियों का कल्याण करती है.

नारदीयपुराण (उत्तरार्ध) का कथन है कि नर्मदा के दोनों तटों पर अमरकंटक (जहां से यह निकलती है) से ले कर साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं:

सार्धत्रिकोटितीर्थानि गदितानीह वायुना,
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च रेवायां तानि सन्ति च.

–77/ 27–28

एक मीटर में 416 तीर्थ

मत्स्यपुराण का कहना है कि जहां से नर्मदा निकलती है और जहां जा कर सागर में गिरती है, इस बीच नर्मदा पर 10 करोड़ तीर्थ हैं अर्थात एक मीटर में 416 से 417 तीर्थ हैं.

अत्रान्तरे महाराज तीर्थकोट्यो दश स्मृताः

–मत्स्यपुराण 194/45, पद्मपुराण, आदिखंड 21/44

वैसे अग्निपुराण (113/2) और कूर्मपुराण (2/40/13) के मत से तीर्थों की संख्या 60 करोड़ एवं 60 हजार है. यानी एक मीटर में लगभग 2500 तीर्थ हैं.

नर्मदा के किनारे मरने या आत्महत्या करने का बहुत पुण्य है. मत्स्यपुराण का कथन है कि जो व्यक्ति अग्नि या जल में प्रवेश कर के या उपवास कर के नर्मदा के किनारे आत्महत्या करते हुए प्राण त्यागता है, वह पुनः माता के गर्भ में नहीं आता अर्थात उस का आवागमन खत्म हो जाता है:

अनाशकं तु यः कुर्यात् तस्मिंस्तीर्थे नराधिप,
गर्भवासे तु राजेन्द्र न पुनर्जायते पुमान्

–मत्स्यपुराण 194/29–30

मत्स्यपुराण अन्यत्र लिखता है कि जो व्यक्ति अमरकंटक (नर्मदा का उद्‌गम स्थान) में प्राण त्यागता है, वह सौ करोड़ वर्षों तक रुद्रलोक में सम्मानित जीवन व्यतीत करता है:

परित्यजति यः प्राणान् पर्वतेऽमरकण्टके,
वर्षकोटिशतं साग्रं रुद्रलोके महीयते.

–मत्स्यपुराण 186/53–54

विष्णु पुराण का कथन है कि नर्मदा के नाम में इतनी शक्ति है कि यदि कोई रात एवं दिन में और अंधकारपूर्ण स्थान में जाने से पहले "प्रातः नर्मदा को नमस्कार है," "रात्रि में नर्मदा को नमस्कार है," "हे नर्मदा, तुम्हें नमस्कार, मुझे विषधर सांपों से बचाओ"–इस मंत्र का जप करता है उसे सांपों का भय नहीं रहता:

नर्मदायै नमः प्रातर्नर्मदायै नमो निशि,
नमोऽस्तु नर्मदे तुभ्यं त्राहि मां विषसर्पतः

–विष्णुपुराण 4/3/12–13

राजकुमार बनने का नुस्खा

महाभारत का कहना है कि नर्मदा में स्नान कर के 15 दिन निराहार व्रत रखने वाला मनुष्य अगले जन्म में राजकुमार बनता है:

नर्मदायामुपस्पृश्य तथा शूर्पाकरकोदके,
एकपक्षं निराहारो राजपुत्रो विधीयते.

–अनुशासनपर्व 25/50

त्रिकालदर्शियों को यह दिखाई ही न दिया कि भारत में एक समय ऐसा भी आएगा जब राजकुमार नामक प्राणी समूल नष्ट हो जाएंगे! तब 15 दिन का व्रत और नर्मदा स्नान क्या करेगा?

बुद्धि की कसौटी पर

गंगा आदि नदियों के गाए गए ये माहात्म्य बिलकुल झूठे और थोथे हैं. इतना ही नहीं, ये हानिकारक भी हैं. इन नदियों के विषय में जो तथ्य वैज्ञानिकों ने सामने रखे हैं, वे यदि किसी आम नदी के विषय में होते तो लोग उस में नहाना या उस का पानी पीना तो दूर, उस के पास तक न फटकते.

लेकिन इन माहात्म्यों के खून में रचे होने के कारण आज जनता चेतावनियों के बावजूद लाखों की संख्या में बड़े धार्मिक आवेश में इन में नहाने को भागती है और इन के रोगकारी पानी को पी कर अपने को कृतार्थ समझती है. जो जितना ज्यादा धार्मिक एवं अंधविश्वासी है, वह उतनी ही ज्यादा असावधानी से इन में डुबकियां लगाता है.

सामान्य ज्ञान की बात है कि हमारे द्वारा किया गया बुरा काम हमारे किसी नदीनाले में नहाने से अनकिया नहीं हो सकता. यदि हम किसी की हत्या कर दें तो क्या हमारे गंगा आदि में नहाने से वह हत्या नहीं रहेगी? क्या किया गया बुरा काम हमारे शरीर पर लगी धूल है जो गंगा आदि में नहाने से धुल जाएगी?

यदि नहीं तो फिर पापों के धुल जाने की बातों का क्या अर्थ है? यदि इन नदियों में स्नान करने से पाप धुल सकते होते तो जेलों, पुलिस और अदालतों की क्या जरूरत थी? हर अपराधी की गंगा में डुबकी लगवा कर पापशुद्धि व अपराधनिवृत्ति कर दी जाती.

इन नदियों के माहात्म्यों से पापशुद्धि और अपराधनिवृत्ति होने के स्थान पर पापवृद्धि और अपराधों में प्रवृत्ति अवश्य हुई है. इन में विश्वास रखने वाला हर व्यक्ति जब इन नदियों में नहाता है, अपने पाप धुल जाने के कारण वह अपने को हलका, पापमुक्त एवं निर्दोष महसूस करता है जिस से वह पुनः निस्संकोच हो कर पुरानी बेढंगी चाल चलता रहता है.

इस तरह हर डुबकी नए दुष्कर्म करने के लिए उत्प्रेरक सिद्ध होती है. जब 'पापनाशक घोलों से भरी नदियां' प्रवहमान हों तब भी यदि लोगों को पाप करने की उत्प्रेरणा नहीं मिलेगी तो कब मिलेगी!

यह कहना कि अमुक नदी में नहाने से स्नान करने वालों की सात पहली पीढ़ियां और सात बाद की पीढ़ियां तर जाएंगी, पागलपन की हद है. जब हिंदू धर्म यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु के उपरांत अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेता है, तब उस के बाद की सातवीं पीढ़ी में जन्मे व्यक्ति के गंगा स्नान से पहले ही कर्मफल भोग चुके व्यक्ति का कब, क्यों और कैसे भला हो सकता है, यदि गंगास्नान से नहाने वाले का भला होता भी हो? दूसरे, आगे की सात पीढ़ियों के कल्याण का क्या अर्थ है? जो अभी जन्मे ही नहीं, जिन्होंने अभी कोई दुष्कर्म किया ही नहीं, उन के पाप कट जाने का क्या कोई अर्थ है?

जब कोई व्यक्ति इन माहात्म्यों को अतिशयोक्तिपूर्ण और थोथे कहता है तो प्रायः कह दिया जाता है क्या तुम जानते हो, तुम्हारी मां कौन है? इस का पता तुम्हें लोगों से चलता है कि अमुक स्त्री तुम्हारी मां है. इसी प्रकार इन तीर्थों की महिमा का ज्ञान शास्त्रों से ही हो सकता है. तुम्हारी कल जन्मी साइंस इसे नहीं जान सकती. हमारे ऋषिमुनियों ने तपस्या से सब कुछ जान कर शास्त्रों में लिखा है. आस्तिक बन कर, श्रद्धापूर्वक उन्हें गुरुमुख से पढ़ो, सब पता चल जाएगा और कुतर्क अपनेआप नष्ट हो जाएगा, इत्यादि.

दलील में दम नहीं

इस तरह की बातों से धर्मगुरु और धर्म के ठेकेदार पंडेपुरोहित व धर्म के दूसरे धंधेबाज लोगों की जबान बंद करने की कोशिशें करते हैं. अकसर वे इस में सफल भी हो जाते हैं. जब वे "मां को लोगों द्वारा जानने" की 'दलील' देते हैं, तब आम लोग एकबारगी पांवों के नीचे से मिट्टी खिसकती महसूस करते हैं, यद्यपि यह उन्हें भी ज्ञात रहता है कि यह उन के प्रश्न का उत्तर नहीं.

मां को बच्चा कैसे जानता है, इस का गंगा आदि नदियों के माहात्म्यों की वैधता के प्रश्न से क्या संबंध? इस असंबद्ध दृष्टांत के कारण ही आम आदमी हड़बड़ाहट में हथियार डाल देता है. अतः इस 'दलील' की कलई खोलना बहुत जरूरी है.

मार्च, 1984 में 'बाबू हरिदास आवड़े स्मारक भाषणमाला' में भाषण दे कर लौटते समय लेखक को नागपुर रेलवे स्टेशन पर ऐसा ही वार्त्तालाप सुनने के लिए मिला था. एक हट्टाकट्टा आदमी जो गेरुए वस्त्र पहने था और बहुत से सूटकेसों में सामान भरे हुए था, हाथ में थरमस व टूइनवन लिए गाड़ी की प्रतीक्षा में बैठा था. बातोंबातों में वह लेखक के एक साथी से उलझ पड़ा और लगा शास्त्रों की धौंस देने. वह बोला, "तुम्हें क्या पता तुम्हारी मां कौन है? तुम केवल लोगों से जानते हो कि फलां तुम्हारी मां है. ऐसे ही परोक्ष ज्ञान को तुम क्या जानो?"

इस पर लेखक के साथी ने कहा, "बच्चा मां को खुदबखुद जान लेता है. जब वह देखता है कि फलां नारी कहती है कि मैं तेरी मां हूं, वह उस की देखभाल करती है, उस को दूध पिलाती है, उस से प्यार करती है और घर के सारे स्त्रीपुरुष उसे उस का बेटा कहते हैं, समझते हैं और अन्य कोई स्त्री उस की मां होने का दावा नहीं करती, तब वह बिना किसी के बताए ही जान लेता है कि वह उस की मां है."

इस पर साधु बोला, "हो सकता है वह उस की असली मां ही न हो. उसे अस्पताल में किसी अन्य बच्चे से बदल दिया गया हो."

इस पर लेखक बोला, "हो सकता है कि वह बच्चा जन्मा ही घर पर हो. वह अस्पताल में जन्मा ही न हो."

इतना कहना था कि वह चिल्लाने लगा, "तुम नास्तिक हो, तुम कुतर्की हो. तुम सीखना नहीं चाहते. हमारा समय बरबाद किया." इत्यादि.

लोग इकट्ठे हो गए. जब उन्हें सारी बात बताई गई तो कुछ उस का पक्ष लेने लगे और कुछ मूकदर्शक बन कर यह तमाशा देखते रहे.

उस दिन तो बात वहीं खत्म हो गई. लेकिन रह अधूरी ही गई थी. इस का पूरा किया जाना बहुत जरूरी है ताकि इस के सब पक्ष और उन पर संभावित आपत्तियां व समाधान सब लोगों को विदित हो सकें.

यह कहा जाता है कि बच्चा जिसे मां समझता है, संभव है कि उस की असली मां न हो, बच्चे को किसी ने बदलवा दिया हो.

इस पर हमारा कहना है कि आप का लोगों से क्या अभिप्राय है. यदि कहें कि 'सामान्य लोग', तो हमारा कहना है कि जब कोई व्यक्ति बच्चा बदलवाता है तो यह काम अतिगोपनीयता से किया जाता है. इस के लिए वह काम करने वाले लोगों को काफी रुपयापैसा देता है.

जो काम इतनी गोपनीयता से किया गया हो, उस के विषय में आम लोग बच्चे को क्या खाक बताएंगे? ऐसे में तो बच्चा उसी नारी को अपनी मां समझता रहेगा जो उस का लालनपालन करती है और लोग भी उसे ही उस की मां कहते रहेंगे. ऐसे में 'लोगों' का कहना क्या यथार्थ रह जाता है?

कई बार तो 'लोग' जानबूझ कर बच्चे को गलत मां को असली मां मानने के लिए विवश करते देखे गए हैं. जब जन्मते ही बच्चा दत्तक पुत्र बना लिया जाता है, तब ऐसा ही किया जाता है. तब भी आम 'लोगों' का कथन यथार्थ को जानने में सहायक नहीं माना जा सकता.

स्पष्ट है कि गड़बड़ी वाली स्थिति में सामान्य लोग भी उसी तरह यथार्थ को जानने में सहायक नहीं हो सकते जिस तरह कि अबोध बच्चा. ऐसे में यथार्थ ज्ञान का क्या कोई साधन रह जाता है? हां, वे सब लोग जो गड़बड़ी करने में भागीदार थे, वे दस्तावेज जो इस के साक्षी हैं और अब तो विज्ञान ने ऐसे अनेक तरीके भी ढूंढ निकाले हैं जिन में बच्चे और मां को पहचाना जा सकता है. उदाहरण के तौर पर संबंधित लोगों से अच्छी तरह पूछताछ कर के, संबद्ध दस्तावेजों की, यदि कोई हो, जांचपड़ताल कर के और वैज्ञानिक विधियों द्वारा सूक्ष्म निरीक्षण कर के यथा 'डी एन ए' टेस्ट आदि के द्वारा, यह पता लगाया जा सकता है कि अमुक स्त्री बच्चे की असली मां है या नकली.

इसी प्रकार शास्त्रों की बातों व नदियों के माहात्म्यों को तर्क और सामान्य बुद्धि के आधार पर परख कर तथा नदियों के पानी को प्रयोगशाला में विविध परीक्षणों से जांच कर यह पता लगाया जा सकता है कि कौन सा माहात्म्य ठीक है और कौन

सा गलत तथा किस नदी का कहां का पानी कितना शुद्ध है और कहां का कितना प्रदूषित.

वैज्ञानिक प्रयोगशाला में

गंगा आदि बहुप्रशंसित नदियों के पानी की वैज्ञानिकों ने अनेक स्थानों पर अनेक अवसरों पर सूक्ष्म परीक्षा की है. वे जिन निर्णयों और तथ्यों पर पहुंचे हैं उन में से कुछ संक्षेप में निम्नलिखित हैं–

जून, 1980 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में पर्यावरण विज्ञान के 50 विशेषज्ञ एक सम्मेलन में इकट्ठे हुए और उन्होंने नौका में बैठ कर गंगा का सर्वेक्षण किया. इस विषय में यू.एन.आई. की ओर से जून, 1980 को प्रकाशित समाचार में कहा गया था कि जब वे विशेषज्ञ सर्वेक्षण से लौटे तो गंगा की गंदगी के कारण उन में से कई बीमार हो गए और कइयों को उलटियां आने लगीं. उन में से कई उस दिन खाना तक नहीं खा सके थे. उन में से एक ने कहा था, "गंगा के इस पानी को पीना तो एक ओर रहा, मैं तो इसे हाथ से छू भी नहीं सकता."

इंडियन साइंस कांग्रेस के प्रधान प्रो. ए. के. शर्मा ने 1981 में कहा था कि गंगा दुनिया की सब से ज्यादा प्रदूषित हो चुकी नदी है.

1979 से केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ऋषिकेश से बंगाल की खाड़ी तक के गंगा के लगभग 2,525 किलोमीटर लंबे जलप्रवाह के प्रदूषण का अध्ययन कर रहा है. इस अध्ययन से पता चला है कि गंगा कानपुर में विशेष रूप से प्रदूषित है. वहां 1966 के बाद से जल प्रदूषण की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है. उत्तर प्रदेश विधान सभा में दिए गए सरकारी बयान के अनुसार कानपुर के चमड़े के कारखानों द्वारा गंगा का 25 प्रतिशत प्रदूषण होता है, जब कि 60 प्रतिशत प्रदूषण मल प्रवाह एवं गंदे नालों से होता है.

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के भूगोल विभाग के एक वरिष्ठ प्राध्यापक डा. कायस्थ द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण से पता चला है कि कानपुर में चार करोड़ गैलन अशुद्ध जल प्रतिदिन गंगा में प्रवाहित किया जाता है.

कानपुर के बाद गंगा इलाहाबाद पहुंचती है जहां गंगा, यमुना और सरस्वती का 'पवित्र' संगम है, जिस में नहाने का विशेष 'माहात्म्य' है जो ऊपर संक्षेप में दिया जा चुका है. यहां गंगा की लगभग तीन सौ मीटर लंबी जलधारा का विश्लेषण करने पर पता चला है कि रासायनिक खाद के जरिए लगभग 5,600 घन मीटर प्रतिदिन की दर से विषैले पदार्थ गंगा में प्रवाहित किए जाते हैं.

खाद के कारखाने से निकले विषैले पदार्थों में प्रदूषणकारी नाइट्रोजन, अमोनिया और नाइट्रेट की मात्रा बहुत ज्यादा होती है. यही कारण है कि इलाहाबाद के निकट, गंगा किनारे के आबादी वाले क्षेत्रों के पेड़पौधों और वायुमंडल पर निरंतर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता साफ दृष्टिगोचर हो रहा है.

इलाहाबाद के सेंट्रल इनलैंड फिशरीज रिसर्च इंस्टिट्यूट के वैज्ञानिकों का कहना है कि गंगा में जहां खाद के कारखाने के अवशेष गिरते हैं, वहां से कोई 16

किलोमीटर दूर तक के जलप्रवाह में ब्रहुत बड़ी संख्या में मछलियां मरी हैं और पालतू जानवरों को भी नुकसान पहुंचा है.

एक अध्ययन के मुताबिक इलाहाबाद में गंगा के जल में बैक्टीरिया जीवाणुओं का औसत प्रति मिलीलीटर 300 के लगभग है.

केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने अप्रैल, 1980 में कुंभ मेले के दौरान एक सर्वेक्षण कर के पाया था कि सामूहिक स्नान के कारण गंगा के पानी में जीवाणुओं की संख्या में अचानक 1,300 गुणा वृद्धि हो गई थी. जनवरी, 1982 में हुए कुंभ मेले के दौरान भी ऐसे ही तथ्य सामने आए थे.

इलाहाबाद के बाद गंगा वाराणसी में प्रवेश करती है. यहां पर गंगाजल में प्रदूषण की मात्रा में सर्वाधिक वृद्धि होती है. गंगाजल प्रदूषण योजना के अंतर्गत कार्यरत वैज्ञानिक डा. बी.डी. त्रिपाठी द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार वाराणसी के श्मशान घाटों पर 22 से 30 हजार शव 11 से 15 हजार टन लकड़ी की सहायता से प्रतिवर्ष जलाए जाते हैं. इस के फलस्वरूप दो से तीन हजार टन राख एवं 110 से 150 टन अधजला मांस गंगा में प्रवाहित होता है. (गंगा में लाश के प्रवाहित होने से कहा जाता है, मृतक सीधा स्वर्ग में जाता है. इस पुण्य के लालच में यह प्रदूषण होता है, जो जीवितों के भी 'स्वर्गवास' का प्रबंध करता है!) इस से आसपास के क्षेत्रों में पानी का तापमान तीन से पांच डिगरी सेंटीग्रेड बढ़ जाता है और आक्सीजन की मात्रा में 30 से 50 प्रतिशत की कमी हो जाती है.

अन्य कई स्थानों पर हुए वैज्ञानिक सर्वेक्षणों में गंगा में हैजा, मियादी बुखार, पीलिया, फीलपांव आदि रोगों के कीटाणु तथा बहुत से रोग पैदा करने वाली फफूंदी पाई गई है.

वाराणसी का राजघाट तो प्रदूषण का भी राजघाट है, क्योंकि यहां का पानी पीने लायक तो क्या, स्नान के भी योग्य नहीं है. यहां के प्रति 100 मि.ली. जल में 50,000 कालीफार्म जीवाणु पाए जाते हैं, जब कि शुद्ध पानी में प्रति 100 घन सेंटीमीटर में एक भी कालीफार्म जीवाणु नहीं होना चाहिए.

1980 में मुगलसराय और उस के आसपास के इलाके में आंखों की खुजली का जो रोग फैला था, वैज्ञानिकों ने उसे गंगा के प्रदूषण की ही 'कृपा' बताया था. इस से न केवल इनसान, बल्कि वनस्पति तक दुष्प्रभावित हुई है. वाराणसी जिले का आमों के लिए प्रसिद्ध चंदौली क्षेत्र सड़ेगले वृक्षों से भर गया है. न केवल आम, बल्कि सागवान जैसे मजबूत वृक्ष भी इस के शिकार हुए हैं.

वाराणसी के बाद पटना एवं बरौनी स्थित तेलशोधक एवं रासायनिक खाद कारखानों से काफी मात्रा में विषैले पदार्थ गंगा में प्रवाहित किए जाते हैं. इस के परिणामस्वरूप गंगाजल अत्यंत प्रदूषित हो जाता है.

भागलपुर विश्वविद्यालय के दो प्राध्यापकों–के.एस. बिलग्रामी और जे.एस.दत्त मुंशी–ने बरौनी से फरक्का तक 256 किलोमीटर लंबी गंगा की जलधारा में प्रदूषण का अध्ययन कर के पाया है कि मोकामा पुल के पास नदी में प्रदूषण बहुत भयानक है. यहां एक बहुदेशीय जूता कारखाना, शराब डिस्टिलरी, ताप बिजलीघर और

रासायनिक खादों के कारखाने अपना कचरा गंगा में फेंकते हैं. इस भाग में प्रदूषण इतना विषैला है कि जूता कारखाने के पास वाले क्षेत्र के जल में छोड़ी गई मछली 48 घंटों में ही मर जाती है, तो शराब डिस्टिलरी के निकट के पानी में वह पांच घंटे भी जीवित नहीं रह पाती.

बरौनी तेलशोधक कारखाने का कचरा इतना ज्वलनशील है कि 1968 में तो मुंगेर के पास गंगा में आग ही लग गई थी.

फरक्का बांध के बाद गंगा की धारा हुगली, कलकत्ता और हावड़ा की ओर बढ़ जाती है. 'देश का पर्यावरण' नामक पुस्तक के अनुसार हुगली का मुहाना कलकत्ता के चारों ओर बने 150 प्रमुख कारखानों के कचरे से भरा पड़ा है. यहां 87 जूट मिलों, 17 कपड़ा मिलों, सात चमड़ा कारखानों, पांच कागज व लुगदी कारखानों और चार शराब की डिस्टिलरियों के अतिरिक्त 361 नालों से शहर का गंदा पानी निरंतर गंगा में गिरता रहता है.

स्नान और पीने योग्य पानी में बी.ओ.डी. (बायोकैमिकल आक्सीजन डिमांड) की मात्रा तीन इकाइयों से अधिक नहीं होनी चाहिए, लेकिन गंगाजल में यह मात्रा हरिद्वार, नरोरा, कन्नौज, इलाहाबाद और वाराणसी में सात इकाइयां हैं और कानपुर में 10 इकाइयां.

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं ने गंगाजल का रासायनिक विश्लेषण कर के पाया है कि उस में आक्सीजन की मात्रा प्रति लीटर 20 मिलीग्राम से भी ज्यादा है, जब कि होनी चाहिए प्रति लीटर पांच मिलीग्राम से भी कम.

यमुना आधी गंदी

वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद की पत्रिका में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार 16 केंद्र यमुना के प्रदूषण का अध्ययन कर रहे हैं. इस अध्ययन के अनुसार यमुना के स्वच्छ और प्रदूषित भागों का अनुपात लगभग 50 प्रतिशत है. यमुना की कुल 1,014 किलोमीटर लंबाई में से 482 किलोमीटर क्षेत्र प्रदूषित है. दिल्ली शहर की गंदगी यमुना को इस हद तक गंदा कर देती है कि उस का पानी मथुरा पहुंच कर साफ होता है. परंतु मथुरा और उस के बाद आगरा में उस में जो कचरा मिलता है, वह उसे इटावा तक गंदा रखता है.

रिपोर्ट में आगे कहा गया है कि यदि 100 घन सेंटीमीटर पानी में एक भी 'काली फार्म' बैक्टीरिया न हो तो वह शुद्ध माना जाता है, परंतु जल प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड को वजीराबाद में यमुना के पानी में 100 घन सेंटीमीटर में 7,500 कालीफार्म मिले और ओखला के निकट दो करोड़ 40 लाख.

पंद्रगाम मच्छी समाज के अनुसार गुजरात राज्य औद्योगिक विकास निगम की रासायनिक औद्योगिक इकाइयों से निकलने वाले गंदे तत्त्वों के नर्मदा में मिलाए जाने से इस का पानी जन स्वास्थ्य के लिए खतरा बन गया है.

गुजरात राज्य जल एवं वायु प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के सदस्य डा.एम.जी. दवे का कहना है कि भड़ौच शहर के आसपास स्थापित उद्योगों द्वारा लगभग 50,000 लीटर

औद्योगिक तरल कचरा प्रतिदिन नर्मदा में प्रवाहित किया जाता है. इस कारण भड़ौच में शुक्लातीर्थ के बाद नर्मदा का पानी पीने के योग्य नहीं रह गया है. यहां पानी में विलीन आक्सीजन की मात्रा आठ से नौ प्रतिशत है.

भड़ौच से ही कुछ दूर भुलाव में स्थित इंजीनियरिंग की 12 औद्योगिक इकाइयों के कारण भी नर्मदा का जल प्रदूषित हो रहा है.

गरुडेश्वर से आगे नर्मदा का पानी रासायनिक अवयवों के भारी मात्रा में मिलाए जाने के कारण खारा हो गया है और पीने योग्य नहीं रह गया है.

गोदावरी : मछली नहीं जी सकती

गोदावरी में करीब 150 कारखानों का गंदा पानी और उस के साथ घातक रसायन पहुंचते हैं. उत्तर प्रदेश जल प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अनुसार लखनऊ में सर्वाधिक प्रदूषण एक डिस्टिलरी के कारण है. लगभग दो वर्ष पूर्व इस डिस्टिलरी के दूषित उत्प्रवाह के कारण ही गोदावरी में हजारों मछलियों की मृत्यु हो गई थी. 7 मार्च, 1983 को मछलियों के पुन: मरने पर जांच के दौरान पाया गया कि डिस्टिलरी के आगे नदी के बाएं किनारे पर जल में घुलनशील आक्सीजन की मात्रा शून्य है.

बोर्ड का कहना है कि हर दिन लगभग 15 टन ठोस कचरा और एक लाख घन लीटर गंदा पानी गोदावरी में गिरता है. इस नदी में मिलने वाला गंदा पानी नदी के मौजूदा जलप्रवाह से भी अधिक है. अत: यह नदी एक उथला, गंदा नाला बनती जा रही है.

गोदावरी में औद्योगिक जल के साथ मरकरी, साइनाइड, आर्सेनिक कैलशियम, क्रोमियम जैसे तत्त्व पहुंचते हैं. इन के प्रभाव से कैंसर, लकवा और स्नायु रोगों का खतरा बढ़ जाता है.

लखनऊ शहर का गंदा पानी करीब 25 छोटेबड़े नालों से हो कर गोदावरी में मिलता है. उस के साथ मिथेन, कार्बन डाइआक्साइड, कार्बन मोनोआक्साइड तथा हाइड्रोजन जैसी हानिकारक गैसें और अनेक रोगों के जीवाणु नदी में पहुंचते हैं.

कुछ लोग कहते हैं कि गंगा की अलौकिक शक्ति तो प्रत्यक्ष है. उस का पानी बोतल में भर कर रख दो, वह कभी खराब नहीं होगा.

यह बात सरासर गलत है. बोतल में पानी के न खराब होने की तो बात छोड़ो, वह तो खुद गंगा में ही खराब हो चुका है. उपरिलिखित आंकड़े, वैज्ञानिक परीक्षण और वैज्ञानिकों की रिपोर्टें क्या बता रही हैं? जो पानी बहती नदी में ही जीवाणुग्रस्त है, जो मछलियों को पांच घंटे से भी कम समय में मार देता है, उस के बोतल में खराब न होने का क्या अर्थ? क्या वह पहले ठीक था जो यह कहा जाता है कि बोतल में खराब नहीं होता?

गंगा का जल, जो कि पहले ही खराब हो चुका है, बोतल में खराब नहीं होता, यह कहना वैसा ही है जैसा काले पकड़े को रोशनी वाले कमरे में ले जा कर यह कहना कि यह कपड़ा इस कमरे में काला नहीं होता!

कई लोग यह कहते सुने जाते हैं कि हम हरिद्वार से गंगाजल लाए थे, वह तो

बिलकुल ठीक है, वह सड़ता नहीं, अतः गंगा में अलौकिक शक्ति माननी ही पड़ेगी.

लेकिन यह बात बिलकुल गलत है. हरिद्वार का गंगाजल भी पूरी तरह शुद्ध नहीं है. हरिद्वार में बी.ओ.डी. (बायोकैमिकल आक्सीजन डिमांड) की मात्र सात इकाइयां हैं, जब कि स्नान और पीने योग्य पानी में यह मात्रा तीन इकाइयों से ज्यादा नहीं होनी चाहिए.

दूसरे, यह जल भी सड़ता है. हमारे लड़कपन में हमारे अपने घर में एक बोतल में गंगाजल था, जिस में जाला बना हुआ था. वह गंगाजल से गंदाजल बन चुका था. लेकिन हमारे सनातनधर्मी मातापिता उस का प्रयोग हर धार्मिक अवसर पर करना अपना परम धार्मिक कर्त्तव्य माना करते थे.

तीसरे, कनखल आदि में जहां बेशुमार हड्डियां डाली जाती हैं, वहां थोड़े से स्थान का पानी उन हड्डियों में विद्यमान जलशोधक तत्त्वों के कारण अवश्य साफ है. लेकिन वह किसी अलौकिक शक्ति के कारण नहीं, वह तो वहां हड्डियों के डालने और प्रदूषक तत्त्वों के भारी मात्रा में न आ मिलने के कारण है.

वैसे यदि किसी नदी का पानी काफी समय तक बंद बोतल में निर्विकार भी पड़ा रहे तो भी उस से संबद्ध नदी में अलौकिक शक्ति नहीं सिद्ध हो सकती. बाजार में अर्क खिंचा पानी (डिस्टिल्ड वाटर) बोतलों में बंद मिलता है. वह किसी पवित्र नदी का पानी नहीं होता. वह आम नल या नगरपालिका के जल आपूर्ति विभाग द्वारा नागरिकों को दिया जाने वाला पानी होता है. उस में कोई औषधि नहीं मिलाई जाती. केवल उसे भबके द्वारा खींचा जाता है और वह काफी समय तक खराब नहीं होता.

पानी में अलौकिक शक्ति

क्या देर तक ठीकठाक बना रहने के कारण वह डिस्टिल्ड वाटर 'अलौकिक शक्ति संपन्न' हो जाएगा? क्या उस से नहाने से पाप व अपराध धुल जाएंगे? यदि देर तक बोतल में बने रहने से (बिना परीक्षण के ही) किसी नदी के पानी में अलौकिक शक्ति सिद्ध होती है, तब तो डिस्टिल्ड वाटर में उस से भी ज्यादा अलौकिक शक्ति माननी होगी; क्योंकि उस की निर्विकारता व शुद्धि का तो संसार भर की प्रयोगशालाओं में परीक्षण हो चुका है.

कुछ लोग 'पवित्र' नदियों के पानी में अलौकिक शक्ति सिद्ध करने के लिए अन्य प्रकार की बातें करते हैं. उन का कहना है, हम ने अमुक नदी का दो चम्मच जल पिया, हमारी फलां बीमारी दूर हो गई, फलां दुख दूर हो गया.

इस तरह की बातों से भी अलौकिक शक्ति का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता. यह केवल मानसिक तसल्ली का परिणाम है. जब किसी मानसिक कारण को दूर कर दिया जाए, मन को जरा बल मिल जाए, तो वह बीमारी काफी हद तक हट सकती है जो मानसिक तनाव आदि के कारण उपजी हो. लेकिन इस तरीके से वह बीमारी कदापि दूर न होगी जो मानसिक कारणों से न उपजी होगी.

डा. इब्राहिम कोवूर ने अपनी पुस्तक 'बीगान गाडमैन' के अध्याय नौ में लिखा है कि 1921 से 1924 तक के अरसे के दौरान वह कलकत्ता में पढ़ते थे. उन्हें हर

साल ग्रीष्मावकाश के दिनों केरल प्रदेश स्थित अपने घर आते समय गंगाजल लाने के लिए घर और आसपास वालों की ओर से विशेष आग्रह किया जाता था.

लेकिन पहले ही वर्ष गंगा में नहाते समय जब गंदी और गलीसड़ी लाश का एक हिस्सा डा. कोवूर के सिर को चिपचिपा कर गया तब उन्हें गंगा के गंदेपन से ऐसी घृणा हुई कि उन का किशोर मन फिर कभी न गंगा की ओर गया और न ऐसा गंदा पानी बोतलों में भर कर ले जाने और अपने प्यारे लोगों को पिलाने लायक माना.

लेकिन घर वालों और पड़ोसियों का आग्रह था. कलकत्ता से उन का घर 1,500 मिलोमीटर था. वह खाली बोतलें लिए चल पड़े. जब उन के निवास स्थान से पहले के स्टेशन पर गाड़ी रुकी, उन्होंने वहां के रेलवे के नल से बोतलें भर लीं और घर पहुंच कर सब को वह 'गंगाजल' दे दिया. सब ने उचित आदरसम्मान से उस जल को स्वीकार कर लिया.

कुछ दिनों बाद वह कलकत्ता लौट गए. अगले साल फिर यही क्रम चला. इस बार उन्हें उन लोगों ने उस जल से अपनी बीमारियों, अपने दुखों के दूर होने की अनेक कहानियां सुनाईं, जिन्होंने पिछले साल स्टेशन वाला 'गंगाजल' प्राप्त किया था और उस का अपनेअपने ढंग से प्रयोग किया था. यह क्रम लगातार चार साल चलता रहा. हर बार पिछले वर्ष के 'गंगाजल' के चमत्कार उन्हें सुनने को मिलते रहे.

इस से क्या सिद्ध होता है? केवल यही कि उन सहजविश्वासी एवं भोलेभाले लोगों को यह पूर्ण विश्वास था कि यह 'पवित्र' गंगाजल है और इस के पीने से हमारा अवश्य कल्याण होगा. इसे पी कर उन्हें मानसिक बल मिला जिस से मानसिक कारणों से उत्पन्न दुखकष्ट कुछ कम हो गए. यह 'चमत्कार' मानसिक बल के कारण घटित हुआ, न कि गंगाजल के कारण; क्योंकि असल में तो वह 'स्टेशन जल' ही था.

दूषित जल बीमारियों का घर

यहां एक और बात स्पष्ट हो जानी चाहिए. यदि प्रदूषित पानी सचमुच गंगा नदी से भी ले कर पिया जाएगा तो वह मानसिक बल पैदा करने के बावजूद अनेक बीमारियां और अन्य दुष्प्रभाव अवश्य पैदा करेगा जिन के जीवाणु या जिन्हें पैदा करने वाले घातक तत्त्व उस पानी में विद्यमान होंगे.

यह अलग बात है कि सहजविश्वासी व्यक्ति उन बीमारियों और दुष्प्रभावों को अपने पिछले जन्मों के पापों का फल मान कर असली परंतु दूषित गंगाजल का दोष अपने ही माथे मढ़ता रहता है.

स्पष्ट है कि किसी तथाकथित पवित्र नदी में कोई अलौकिक शक्ति नहीं. सब प्रदूषक तत्त्वों की विद्यमानता में प्रदूषित होती हैं और सब उन के अभाव तथा जलशोधक पदार्थों के संसर्ग से शुद्ध होती हैं. फिर भी यदि लोग इन के दीवाने हैं और इन के पास भागे जाते हैं, तो यह उन पंडेपुजारियों के लगातार प्रचार का परिणाम है जिन की रोजीरोटी इन के 'पवित्र' और 'अलौकिक शक्ति संपन्न' माने जाने पर ही निर्भर है.

उपनिषद् : क्या ये दर्शन ग्रंथ हैं?

उपनिषदों का भारतीय फलसफे में बहुत महत्त्व है. वेदों के बाद इन्हीं का नाम लिया जाता है. इन्हें हिंदू दर्शन का उद्गम भी कह दिया जाता है. प्रायः शापनहावर की इस भावोक्ति को कि "संसार में उपनिषदों की भांति लाभदायक और ऊंचा उठाने वाला कोई अन्य साहित्य नहीं....ये....मेरे जीवन का सहारा रहे हैं और यही मेरी मृत्यु की सांत्वना बनेंगे," उद्धृत करते हुए उपनिषदों की प्रशंसा की जाती है. बिल ड्यूरेंट ने कहा है कि आधुनिक युग तक जो महत्त्व ईसाइयों के लिए न्यू टैस्टामेंट का रहा है, वही भारत में उपनिषदों का रहा है.

मुक्तिकोपनिषद में उपनिषदों की सख्या 108 बताई गई है. वैसे आज 220 के लगभग उपनिषद मिलते हैं, लेकिन इन में से केवल 12 ही सर्वोपरि और प्राचीन माने जाते हैं: वे ये हैं 1. ईशावास्य, 2. ऐतरेय, 3. छांदोग्य, 4. केन, 5. तैत्तिरीय, 6. कठ, 7. श्वेताश्वतर, 8. बृहदारण्यक, 9. प्रश्न, 10. मुंडक, 11. मांडूक्य, 12. कौषीतकी उपनिषद्.

रचना काल

इन का रचना काल 800 ई.पू. से 500 ई.पू. के बीच माना जाता है. शेष उपनिषद तो बहुत बाद के हैं. 20वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक उपनिषदों की रचना होती रही है. यहां हम प्राचीन और सर्वमान्य उपनिषदों तक ही सीमित रहेंगे.

यज्ञ विरोध

उपनिषद् साहित्य वेदों के कर्मकांड के विरुद्ध विद्रोह स्वरूप अस्तित्व में आया, इन में ईश्वर द्वारा रचित कहे जाने वाले वेदों तक की निंदा की गई मिलती है. मुंडक उपनिषद में कहा गया है:

अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा
कल्पोव्याकरणं निरुक्तं छंदो ज्योतिषम् इति.

–1/1/5

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष ये निकृष्ट (अपरा) हैं.

'अपरा' शब्द की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने अपने भाष्य में लिखा है:

अपरा हि विद्याऽविद्या, सा निराकर्तव्या.
तद् विषये हि विदिते न किंचित् तत्त्वतो विदितं स्यादिति.

–मुंडकोपनिषद्, 1-1-4 पर शंकरभाष्य

अर्थात अपरा विद्या तो अविद्या (अज्ञान) ही है, अतः उस का निराकरण किया जाना चाहिए. उस के विषय में जान लेने पर तो तत्त्वतः कुछ भी नहीं जाना जाता.

वेदों के कर्मकांड की निंदा करते हुए इसी उपनिषद् में आगे कहा गया है:

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म.
एतच्छ्रेयो येऽभिनंदंति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यंति..

–मुंडक उपनिषद् 1/2/7

ये यज्ञ रूपी नौकाएं जिन की संख्या 18 बताई जाती है, अथवा जिन्हें 16 ऋत्विक्, यजमान और यजमानपत्नी–इन 18 व्यक्तियों द्वारा साध्य बताया जाता है, दृढ़ नहीं हैं. जो इन्हें कल्याणकारक मान कर इन्हीं में निरत हो जाते हैं, वे जन्म और मृत्यु से छुटकारा नहीं पा सकते. बारबार जन्म ले कर वृद्धावस्था और मृत्यु का कष्ट उन्हें सहना ही पड़ता है.

पुरोहितवाद का विरोध

इतना ही नहीं, उपनिषदों में यज्ञकर्ताओं और यज्ञों व कर्मकांड में विश्वास रखने वालों को गालियां तक दी गई हैं:

एतत् श्रेयो येऽभिनंदंति मूढाः पंडितम्मन्यमानाः
जंघन्यमानाः, मूढाः अंधाः, बालाः

–मुंडक 1/2/7-9

अर्थात कर्मकांड में ही श्रेय मानने वाले मूढ़ हैं, अपने आप को विद्वान समझने वाले (पर वास्तव में अज्ञानी) हैं, बारबार ठोकरें खाने वाले अंधे हैं और छोकरे हैं.

ये वाक्य बहुत विद्रोही और क्रांतिकारी हैं. इन्हें देख कर लगता है कि उपनिषद् वास्तव में कर्मकांड व पुरोहितवाद के विरोधी थे; लेकिन जब अगले पृष्ठ उलटते हैं तो पता चलता है कि उपनिषदों की इस तथाकथित क्रांतिकारिता के पीछे कोई ज्यादा ईमानदारी न थी. ऐसा लगता है कि कर्मकांड से ऊबे हुए लोगों को वश में रखने के लिए यह नारेबाजी की गई. अपने क्रांतिकारी और कर्मकांडविरोधी होने का लोगों को विश्वास दिला कर, उन के विश्वासपात्र बन कर, उन्हें ठगने का यह एक षड्यंत्र मात्र प्रतीत होता है क्योंकि कर्मकांडनिंदक पूर्वोक्त वाक्यों के बाद यह उपदेश दिया गया है.

यज्ञ समर्थन

कर्मसु चामृतम्

–मुंडक 1/1/8

अर्थात कर्मकांड में अमरत्व है.

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च.
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति..

–मुंडक 1/2/3

अर्थात उस व्यक्ति की सात पीढ़ियां नष्ट हो जाती हैं जो अग्निहोत्र के बाद अमावस्या, पूर्णमासी और चतुर्मासी यज्ञ नहीं करता, जो फसल काटने के मौसम के बाद अतिथि यज्ञ नहीं करता, जो यथासमय आहुति नहीं देता और हवन नहीं करता, जो सब देवताओं के लिए किए जाने वाले तरहतरह के पूजापाठ व अनुष्ठान नहीं करता अथवा नियम के विरुद्ध बलि चढ़ाता है.

अश्लीलता की झलक

उपनिषदों में 'ब्रह्म और आत्मा' की बातें मानी जाती हैं, लेकिन इन में कुछ स्थल ऐसे हैं कि उन्हें देख कर ऐसा लगता है मानो कामसूत्र के कुछ पृष्ठ इन में घुसेड़ दिए गए हों. छांदोग्य उपनिषद् में लिखा है :

उपमंत्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्ताव: स्त्रिया सह शेते स उद्गीथ:
प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहार: कालं गच्छति सन्निधनं
पारं गच्छति तन्निधनमेतद् वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्.

–छां. उ. 2/13/1

अर्थात जब पुरुष किसी स्त्री के साथ समागम करना चाहता है तो पहले संकेत करता है. यह 'हिंकार' है, पहले इस की उपासना करे. फिर स्त्री को वस्त्रादि दे कर प्रसन्न करता है, अत: प्रसन्न दृष्टि से 'प्रस्ताव' की उपासना करे. स्त्री के साथ जो सहवास किया जाता है. उस में 'उद्गीथ' की उपासना करे. हर स्त्री के प्रसन्नतापूर्वक संमुख होना, प्रत्येक के साथ शयन करना, यह प्रतिहार है. इस दृष्टि से 'प्रतिहार' की उपासना करे. मैथुन में समय बिताने और संभोग के समाप्त होने की 'निधन' की दृष्टि से उपासना करे. यह 'वामदेव्य साम' संभोग में स्थित है.

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनी भवति
मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्
प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम्.

–2/13/2

अर्थात जो साधक इस 'वामदेव्य साम' को इस प्रकार संभोग में सन्निविष्ट जान कर इस की उपासना करता है, उस को कभी स्त्री का वियोग नहीं होता. जब भी वह संभोग करता है, उस के बच्चा उत्पन्न होता है. वह पूरी आयु प्राप्त करना है. उस की

संतति और कीर्ति की वृद्धि होती है. उसे किसी भी स्त्री को नहीं छोड़ना चाहिए अर्थात सब से संभोग करना चाहिए. यह उस के लिए नियम है.

अंतिम वाक्य पर 8वीं शताब्दी में हुए आदि शंकराचार्य ने भाष्य करते हुए लिखा है :

न कांचन कांचिदपि स्त्रियं स्वात्मतल्पप्राप्तां न परिहरेत्समागमार्थिनीम्.

अर्थात समागम चाहने वाली जो स्त्री शय्या पर आ जाए, ऐसी किसी भी स्त्री का त्याग न करे.

ध्यान रहे इस में 'शय्या पर आई हुई' अपनी तरफ से जोड़ा गया है, मूल में कोई शब्द इस का संकेत नहीं करता. 'समागम चाहने वाली' विशेषण भी अपनी ओर से जोड़ा गया है.

इस के अतिरिक्त छांदोग्य उपनिषद् के अध्याय पांच में लिखा है:

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिध् यदुपमंत्रयते स धूमो
योनिरर्चिर्यदंतः करोति ते अंगाराः अभिनंदा विस्फुलिंगाः.

–5/8/1

हे गौतम, स्त्री जाति अग्नि है. उस का गुप्तांग ही ईंधन है. कामक्रीड़ा के लिए बोलना ही धुआं है. उस की योनि ही ज्वाला है. उस में पुरुष की जननेंद्रिय का प्रवेश ही अंगारे हैं और आनंद की प्राप्ति ही चिनगारियां हैं.

इस से मिलताजुलता वर्णन 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में भी मिलता है. वहां लिखा है:

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो
योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेंऽगारा अभिनंदा विस्फुलिंगाः

–6/2/13

गौतम, स्त्री अग्नि है. उस का गुप्तांग ईंधन है. गुप्तांग पर उगे बाल धुआं हैं. योनि ज्वाला है. लिंग प्रवेश अंगार हैं और कामानंद ही चिनगारियां हैं.

ब्रह्मानंद बनाम कामानंद

ब्रह्मानंद की उपमा कामानंद से देते हुए उपनिषद् कहते हैं:

तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नानंतरमेवमेवायं
पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नांतरम्.

–बृहदारण्यक उपनिषद्, 4/3/21

जैसे पुरुष प्रिय स्त्री के आलिंगन में अंदर और बाहर का सब कुछ भूल जाता है, वैसे ही आत्मज्ञान होने पर व्यक्ति सब कुछ भूल जाता है.

भाष्यकार ने लिखा है:

यथा लोके प्रिययेष्टया स्त्रिया संपरिष्वक्तः सम्यक् परिष्वक्तः

> कामयन्त्या कामुकः सन् न बाह्यमात्मनः किंचन किंचिदपि वेद एवमेव प्राज्ञेन परमार्थेन स्वाभाविकेन स्वेनात्मना परेण ज्योतिषा सम्परिष्वक्तः सम्यक् परिष्वक्तः न बाह्यं किंचन वस्त्वन्तरं नाप्यान्तमात्मनि वेद.
>
> –बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/21 पर शंकरभाष्य

अर्थात जिस प्रकार पुरुष संसार में प्रिय और इष्ट स्त्री से भलीभांति आलिंगित हुआ और कामना करने वाली के साथ स्वयं भी कामुक हो कर अपने से बाहर का सब कुछ भूल जाता है, उसी प्रकार परम ज्योति से भलीभांति लिपटा हुआ वह सब कुछ भूल जाता है–न उसे किसी बाहरी वस्तु का ज्ञान रहता है, न आंतरिक वस्तु का.

यहां सर्वत्र साफ तौर पर सैक्स पर ब्रह्मज्ञान का मुलम्मा चढ़ाने की कोशिश की गई है. इसी में तांत्रिक संप्रदाय की उत्पत्ति के बीज निहित हैं और इसी में 'संभोग से समाधि' की शिक्षा छिपी पड़ी है.

पाठक कौन?

इस तरह के स्थल उन के लेखकों के मनोरोगी होने के परिचायक हैं जिन्हें सर्वत्र काम के उपकरण ही दृष्टिगोचर होते हैं. उन का वर्णन करते हुए वे बेहयाई की सीमा तक चले गए हैं. इस से ये ग्रंथ आध्यात्मिक पुस्तकों की जगह 'काम ग्रंथ' बन गए हैं. शायद इसीलिए जंगलों में अबोध लड़कों को बिलकुल पास बैठा कर (उप+निषद्) इन ग्रंथों को पढ़ाया जाता था.

कोई कह सकता है कि उपनिषद् लड़कों व युवाओं को नहीं, वृद्धों को पढ़ाए जाते थे; उन लोगों को पढ़ाए जाते थे जो गृहस्थ आश्रम का त्याग कर के वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम में पदार्पण करते थे.

यह बात सही नहीं, क्योंकि जिस तरह की कामशास्त्रीय बातें उन में कही गई हैं, वे वृद्धों के लिए तो एकदम निरर्थक थीं. वे उन बातों को न जीवन में चरितार्थ कर सकते थे और न उन में उन की रुचि ही हो सकती थी. अतः उन की उपयोगिता वृद्धों के लिए नगण्य थी.

बृहदारण्यक उपनिषद् के निम्नलिखित अंशों पर एक बार दृक्पात करें:

> स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियं ससृजे तां सृष्ट्वाध उपास्त तस्मात् स्त्रियमध उपासीत स एतं प्रांचं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत.
>
> –6/4/2

अर्थात सुप्रसिद्ध प्रजापति ने विचार किया कि मैं इस वीर्य की स्थापना के लिए किसी योग्य प्रतिष्ठा (आधार भूमि) का निर्माण करूं, अतः उन्होंने स्त्री की सृष्टि की. उस की सृष्टि कर के उन्होंने उस के अधोभाग की उपासना की (मैथुन कर्म का विधान किया); अतः स्त्री के अधोभाग (नीचे के हिस्से) की उपासना (सेवन) करे. प्रजापति ने इस उत्कृष्ट गतिशील प्रस्तरखंड सदृश शिश्नेंद्रिय को (उत्पन्न कर के

उसे) स्त्री की (योनि की) ओर प्रेरित किया, उस से इस स्त्री का संसर्ग किया.

–बृहदारण्यक उपनिषद्, सानुवाद शंकरभाष्य सहित, पृ. 1336, गीताप्रेस गोरखपुर.

पं. अखिलानंद शर्मा, जो पहले आर्यसमाजी विद्वान थे और बाद में उसे तिलांजलि दे कर सनातनधर्म के लिए शास्त्रार्थ करने लगे थे, ने अपनी पुस्तक 'वेदत्रयीसमालोचन' में उक्त संदर्भ का अर्थ करते हुए लिखा है:

'प्रजापति ने मन में यह संकल्प किया कि मनुष्यवंश को बढ़ाना चाहिए. यह सोच कर स्त्री को पैदा किया और उस को अपने अधोभाग में स्थित किया. इसीलिए रतिसमय में उस को अधोभाग में रखते हैं.'

–वेदत्रयीसमालोचन, संवत् 1974 (1927 ई.), पृ. 33.

यहां ध्यान देने वाली यह भी बात है कि इस में कोई महान रहस्योद्‌घाटन नहीं किया गया है, बल्कि आधीअधूरी बात की गई है. यदि स्त्री के अधोभाग का सेवन करना चाहिए तो क्या पुरुष भी अपने अधोभाग का ही उपयोग नहीं करता? फिर स्त्री को नीचा दिखाने का क्या औचित्य है?

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासां स्त्रीणां सुकृतं वृंक्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्यस्य स्त्रियः सुकृतं वृंजते.

–बृहदारण्यक उप. 6/4/3

अर्थात, स्त्री की उपस्थेंद्रिय (योनि) वेदी है, वहां के रोएं कुशा हैं, योनि का मध्यभाग प्रज्वलित अग्नि है, योनि के पार्श्वभाग में जो दो कठोर मांसखंड हैं, उन को मुष्क कहते हैं, वाजपेय यज्ञ करने से यजमान को जितना पुण्यलोक प्राप्त होता है, उतना ही उसे भी प्राप्त होता है, जो इस प्रकार जान कर मैथुन का आचरण करता है, वह इन स्त्रियों के पुण्य को अवरुद्ध कर लेता है और जो इसे नहीं जानता, वह यदि मैथुन करता है तो स्त्रियां ही उस के पुण्य को अवरुद्ध कर लेती हैं.

–बृहदारण्यक उपनिषद्, सानुवाद शंकरभाष्य सहित, पृ. 1338, गीताप्रेस, गोरखपुर

यह उपदेश या 'गूढ़' ज्ञान वृद्धों के किस काम का, जो अब मैथुन से निवृत्त हो चुके हैं? यदि कोई इन्हें इस प्रकार का अनुपयोगी ज्ञान देता है तो उस ज्ञानदाता का ज्ञानित्व ही संदेहास्पद हो जाएगा.

यहां यह उल्लेखनीय है कि अद्वैत आश्रम से बृहदारण्यक उपनिषद् के शंकरभाष्य का जो अंग्रेजी अनुवाद छपा है, उस में पूर्वोद्‌धृत दूसरे अनुच्छेद (6/4/3) का और उस के परवर्ती दो और अनुच्छेदों (6/4/4; 6/4/5) का भी अनुवाद छोड़ दिया गया है. इन पर शंकर के भाष्य का भी अनुवाद छोड़ दिया गया है. यह तथ्य इस बात को पुनः रेखांकित करता है कि ये व ऐसे अन्य स्थूल एवं अश्लील स्थल दर्शनग्रंथ के अनुरूप नहीं हैं.

बहुपत्नीवाद का उद्घोष

उपनिषद् कदमकदम पर बहुपत्नी प्रथा की घोषणा करते हैं और बारबार योनि व जननेन्द्रिय पर लौट आते हैं. कई लोग कहते हैं कि यह 'संततिविज्ञान' है.

हमारा कहना है कि हमें विज्ञान और बकवास के अंतर को समझकर ही किसी विवरण पर विज्ञान का लेबल चस्पां करना चाहिए. नीचे जो अवतरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं, उन को पढ़ कर पाठक स्वयं निर्णय कर सकता है कि यह संततिविज्ञान है या उस के नाम पर बकवास.

> स यामिच्छेद् कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदंगादंगात् संभवसि हृदयादधिजायसे. स त्वमंगकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति.
>
> –बृहदारण्यक उपनिषद् 6-4-9

अर्थात, पुरुष अपनी जिस पत्नी के संबंध में ऐसी इच्छा करे कि यह मुझे हृदय से चाहे, उस की योनि में अपनी जननेन्द्रिय को स्थापित कर के और अपने मुख से उस के मुख को मिला कर, उस के उपस्थभाग (योनि प्रदेश) का स्पर्श करते हुए इस मंत्र का जप करे–'हे वीर्य! तुम मेरे प्रत्येक अंग में प्रकट होते हो, विशेषतः हृदय से नाड़ी द्वारा तुम्हारा प्रादुर्भाव होता है, तुम मेरे अंगों के रस हो. अतः जिस प्रकार विष लगाए हुए बाण से घायल हरिणी मूर्च्छित हो जाती है, उसी प्रकार तुम मेरी इस पत्नी को मेरे प्रति उन्मत्त बना दो–इसे मेरे अधीन कर दो.'

–बृहदारण्यक उपनिषद्, सानुवाद शंकरभाष्य सहित, पृ. 1345, गीताप्रेस, गोरखपुर

> अर्थं प्रजननेन्द्रियम्
>
> –शंकरभाष्य.

(यहां 'अर्थ' शब्द का अर्थ है–जननेंद्रिय.)

> अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति.

अर्थात, अपनी जिस पत्नी के विषय में ऐसी इच्छा हो कि वह गर्भधारण न करे तो उस की योनि में अपनी जननेंद्रिय को स्थापित कर के उस के मुख से अपना मुख मिला कर अभिप्राणन कर्म कर के अपानन क्रिया करे (पुरुष अपनी शिश्नेंद्रिय द्वारा स्त्री की योनि में जो वायु प्रविष्ट करता है, उसे 'अभिप्राणन कर्म' कहते हैं और वह जो अपनी शिश्नेंद्रिय को बाहर निकालते हुए उस वायु को भी बाहर निकाल देता है, उस क्रिया को 'अपानन' कहते हैं) और कहे–'इंद्रियस्वरूप वीर्य के द्वारा मैं तेरे रेतस् (वीर्य) को ग्रहण करता हूं,' ऐसा करने पर वह रेतोहीन ही हो जाती है–गर्भिणी नहीं होती.

–बृहदारण्यक उपनिषद्, सानुवाद शंकरभाष्य सहित, पृ. 1346, गीताप्रेस गोरखपुर.

अथ यामिच्छेद् दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति.

–बृहदारण्यक उपनिषद् 6/4/11

अर्थात, पुरुष को अपनी जिस पत्नी के संबंध में ऐसी इच्छा हो कि यह गर्भधारण करे, वह उस की योनि में अपनी जननेंद्रिय स्थापित कर के उस के मुख से मुख मिला कर पहले अपाननक्रिया कर के पश्चात अभिप्राणन कर्म करे और कहे–'मैं इंद्रियरूप वीर्य के द्वारा तेरे रेतस् का आधान करता हूं.' ऐसा करने से वह गर्भवती ही होती है.

–बृहदारण्यक उपनिषद्, सानुवाद शंकरभाष्य सहित, पृ. 1346 गीता प्रेस गोरखपुर.

इन तीनों अनुच्छेदों का अद्वैत आश्रम से प्रकाशित बृहदारण्यक उपनिषद् के शंकरभाष्य के अंगरेजी अनुवाद में अर्थ नहीं किए गए हैं. इन पर शंकर के भाष्य का भी अगरेजी में अनुवाद नहीं किया गया है. यह तथ्य तथाकथित संततिविज्ञान के ढोल की पोल नहीं खोलता तो और क्या है?

इन व पहले उद्धृत और अनुद्धृत किए जा चुके ऐसे अन्य अवतरणों के विषय में टिप्पणी करते हुए देवदत्तशास्त्री ने अपनी पुस्तक 'उपनिषद् चिंतन' में लिखा है:

इन के अतिरिक्त और भी ऐसे वर्णन हैं जो अश्लील, अशिष्ट और कामवासना को भड़काने वाले हैं. बृहदारण्यक (6/2/13) और छांदोग्य उपनिषद् (5/8/1-2) में जो कुछ लिखा है, उस का भावार्थ लिखने में लज्जा, घृणा और संकोच हो रहा है... बृहदारण्यक उपनिषद् का ऋषि बेहद कामी जान पड़ता है, उस ने तो स्त्री संभोग के आनंद को ब्रह्मानंद के तुल्य माना है. इतना ही नहीं, बल्कि 'तस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा' **अर्थात 'सुषुप्ति (बेहोशी) की हालत में मनुष्य आनंद प्राप्त करता है' लिखता है: ''उपर्युक्त ढंग से अनेक प्रमाण ऐसे हैं जो ब्रह्मविद्या को कलंकित करने वाले हैं. खेद है कि भाष्यकारों, टीकाकारों तथा उपनिषदों के आलोचकों ने अब तक ऐसे विचारों पर परदा डालने की ही कोशिश की है.''**

–उपनिषद् चिंतन, 1955 ई, पृ. 121-123.

शास्त्रीजी की बात से हम पूरी तरह सहमत हैं. यदि इस तरह का कूड़ा न होता तो उपनिषदों के विचारों की आभा कहीं ज्यादा आकर्षक होती और उन का दार्शनिक दृष्टि से मूल्य कहीं ज्यादा अधिक होता. परंतु जो बात शास्त्रीजी छोड़ गए हैं, वह यह निर्णय करना है कि क्या कूड़ा बाद में उपनिषदों में मिलाया गया या यह उन का मौलिक व अभिन्न अंग है? कुछ लोगों ने इसे प्रक्षिप्त कहा है, परंतु खेद है कि वे ठोस प्रमाणों के प्रकाश में अपना दावा सिद्ध करने में असफल रहे हैं.

क्या मंत्र पढ़ने से कोई स्त्री गर्भधारण कर सकती है? क्या मंत्र पढ़ने से कोई स्त्री गर्भधारण से वंचित की जा सकती है? यदि ऐसा संभव होता फिर तो भारत सरकार का परिवार कल्याण मंत्रालय परिवार नियोजन के इस सरलतम उपाय का प्रचार करने से कदापि न चूकता. एनडीए की सरकार ने वैदिक गणित, वेदांग ज्योतिष आदि का

डट कर प्रचार किया और उसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से मान्यता भी दिलाई. यदि उक्त गर्भनिरोधक मंत्रपाठ गप न हो कर वास्तविक होता तो वह परिवार नियोजन के लिए इस का भी उसी दृढ़ता से प्रचारप्रसार कर सकती थी. परंतु उस ने इसे तनिक भी महत्त्व नहीं दिया. स्पष्ट है, उन्हें भी इस तथाकथित संततिविज्ञान में सत्य का लवलेश तक नहीं दिखाई दिया.

बचकानापन

कुछ लोग कहते हैं कि माना इन पूर्वोद्धृत अनुच्छेदों में विज्ञान के स्थान पर कोकशास्त्रीय बकवास है; परंतु 6वें अध्याय के चौथे ब्राह्मण के 14वें व 15वें अनुच्छेदों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता. उन में तो साक्षात संततिविज्ञान है.

यह बात कहनेसुनने में बहुत अच्छी प्रतीत होती है; परंतु संततिविज्ञान की दृष्टि से यह बकवास नहीं तो बचकानी अवश्य है. यदि उन अनुच्छेदों का अर्थसहित स्वाध्याय करें तो सारी बात स्वतः स्पष्ट हो जाएगी.

> स य इच्छेत् पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति
> क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै.
>
> –बृहदारण्यक उपनिषद् 6/4/14.

अर्थात जो पुरुष चाहता हो कि मेरा पुत्र शुक्ल वर्ण का हो, एक वेद का अध्ययन करे और पूरे सौ वर्षों की आयु प्राप्त करे उसे चाहिए कि पतिपत्नी दूध और चावल को पकाकर खीर बना लें और उस में घी मिला कर खाएं. इस से वे उपर्युक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं.

यहां शुक्ल वर्ण के पुत्र के लिए शुक्ल वर्ण के दूध और शुक्ल वर्ण के चावलों की खीर की बात कही गई है. क्या सफेद खीर खा कर अफ्रीका के लोगों के बच्चे शुक्ल वर्ण के पैदा होने शुरू हो जाएंगे? क्या इस तरह गर्भस्थ शिशु का वर्ण (रंग) बदल जाएगा? यह तो निरी तुक्केबाजी है, विज्ञान वाली इस में कोई बात नहीं.

> अथ य इच्छेत् पुत्रो मे कपिलः पिंगलो जायेत द्वौ
> वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं
> पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै.
>
> –बृहदारण्यक उपनिषद् 6/4/15

अर्थात जो चाहे कि मेरा पुत्र कपिल या पिंगल वर्ण का हो, दो वेदों का अध्ययन करे और पूरे सौ वर्षों तक जीवित रहे, वह और उस की पत्नी दही के साथ भात पकाकर व उस में घी मिला कर खाएं. इस से वे वैसे पुत्र को जन्म देने में समर्थ होंगे.

तुक्केबाजी

यहां भी पहले जैसी ही तुक्केबाजी है. भात के रंग से क्या गर्भस्थ शिशु का रंग

कपिल अथवा पिंगल हो जाएगा? यदि इसी तरह से रंग बदलता हो तो हर भैंस काली न हो कर हरी होनी चाहिए, क्योंकि वे लगभग सारा समय हरा चारा ही खाती हैं.

फिर खीर का एक वेद और भात का दो वेदों के अध्ययन से क्या संबंध है? यदि खीर खाने वाला एक वेद का अध्ययन करने में और भात खानेवाला दो वेदों का अध्ययन करने में समर्थ पुत्र को जन्म देता है तो तीन और चार वेदों का अध्ययन करने वाले व्यक्ति के मातापिता क्या खा कर उसे जन्म देते हैं? सायणाचार्य ने संस्कृत में और ग्रिफ्थ ने अंगरेजी में चारों वेदों का अनुवाद किया है. उन के मातापिता क्या एक ही सामग्री का उपयोग करते थे? और वह क्या थी?

> अथ य इच्छेत् पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन् वेदाननुब्रुवीत
> सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै.
>
> –बृहदारण्यक उपनिषद् 6/4/16

अर्थात जो चाहे कि मेरा पुत्र श्याम वर्ण व अरुण नयन हो, तीन वेदों का अध्ययन करे तथा पूरे सौ वर्षों तक जीवित रहे, वह और उस की पत्नी जल में चावल पका कर भात तैयार कर लें और उस में घी मिला कर खाएं. इस से वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को जन्म देने में समर्थ होंगे.

यहां तुक्केबाजी की हद कर दी गई है. दूध जैसे संतुलित और संपूर्ण आहार में चावल पका कर खाने वाले के तो यहां एक वेद को पढ़ने में समर्थ पुत्र पैदा होगा, परंतु उस की अपेक्षा कम पौष्टिक जल में चावल पका कर खाने वाले के यहां तीन वेदों को पढ़ने में समर्थ पुत्र पैदा होगा! पंजाब में कई अन्य राज्यों के गरीब मजदूर वर्षों से पानी में चावल पका कर खाते आ रहे हैं, परंतु यहां किसी के तीन वेदों को पढ़ने वाला पुत्र नहीं जन्मा है. त्रिवेदी या त्रिपाठी क्या इसी फार्मूले के तहत अस्तित्व में आए हैं?

जल में चावल पकाकर खाने वालों के यहां न तो श्याम वर्ण शरीरों वाले पुत्र जन्मे हैं, न लाल आंखों वाले.

पानी के रंग का या उस में पकाए चावलों का जन्मने वाले बच्चे के श्याम शरीर और अरुण नेत्रों से क्या संबंध है? सारी बातें निराधार, निर्मूल और अटकलपच्चू हैं.

बृहदारण्यक उपनिषद् (अथवा शतपथ ब्राह्मण, क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद् उसी का एक अंश है) शायद सारे हिंदू साहित्य में एकमात्र ऐसा ग्रंथ है, जिस में लड़की उत्पन्न करने का नुस्खा लिखा मिलता है.

> अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति
> तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै.
>
> –बृहदराण्यक उपनिषद् 6/4/17

अर्थात जो चाहता हो कि मेरी पुत्री विदुषी हो और पूरे सौ वर्षों की आयु पाए, वह और उस की पत्नी तिल और चावल की खिचड़ी पकाकर उस में घी मिला कर खाएं. उस से वे उक्त योग्यता वाली कन्या को जन्म देने में समर्थ होंगे.

लड़कियों की महत्ता

यद्यपि उपनिषद् बालिका को भी महत्त्व देने के कारण प्रशंसा के पात्र हैं, तथापि इसे विज्ञान की दृष्टि से सराहनीय नहीं कहा जा सकता. तिल और चावल की खिचड़ी से क्या गर्भस्थ शिशु का लिंग निर्धारित व परिवर्तित किया जा सकता है? क्या तिल और चावल की खिचड़ी का बालिका के जन्मने से कोई संबंध जुड़ता है? चावल तो सब प्रकार के पुत्रों के संदर्भ में खाने के लिए कहे गए हैं; उन में तिल मिला देने से, पुत्र के स्थान पर पुत्री कैसे पैदा हो जाएगी? यह पूर्वोक्त बेतुकी बातों में एक और वैसी ही बात जोड़ने के सिवा और कुछ नहीं है.

आज भारत में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों का अनुपात बहुत कम है. 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में एक हजार पुरुषों के मुकाबले में स्त्रियां केवल 933 हैं. वैसे कई इलाकों में वे सिर्फ 709 है. इस से बालिकाओं की भ्रूणहत्या रोकने के प्रयास तेज हो गए हैं. कई उपाय प्रचारित व प्रसारित किए जा रहे हैं. यदि उपनिषद् के फार्मूले में जरा भी वैज्ञानिकता होती, यदि उस के अनुसार आचरण करने से लड़की पैदा हो सकती, तो भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालय इस 'परम सत्य' को अवश्य रेखांकित करते. एनडीए के शासन में तो इस के प्रचारप्रसार की पूरी संभावना थी, जब वैदिक गणित, वेदांग ज्योतिष आदि को सब प्रकार के विरोध के बावजूद, देश पर थोपा गया. परंतु उन्होंने भी इस फार्मूले की तरफ आंख उठा कर देखा तक नहीं. यह पुनः इस की अवैज्ञानिकता का प्रमाण है.

इस अनुच्छेद में पुत्री के पंडिता (विदुषी) होने की बात कही गई है. इस से लगता है कि तब पुत्रियां/लड़कियां विदुषी भी होती होंगी. परंतु इस स्थल पर जो प्राचीनतम भाष्य उपलब्ध होता है, उस में जो कुछ कहा गया है, वह हमारी सारी आशाओं पर तुषारपात कर देता है. शंकराचार्य ने अपने भाष्य में लिखा है:

दुहितुः पांडित्यं गृहतंत्रविषयमेव वेदेऽनधिकारात्.

—बृ. उ. 6/4/1 पर शंकरभाष्य

अर्थात गृहशास्त्र (घरगृहस्थी के कामों) में निपुण होना ही पुत्री का पांडित्य है, उस का विदुषी होना है, क्योंकि उसे वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है.

जबाला की कहानी

शंकराचार्य की व्याख्या यद्यपि अनुदार है तथापि ऐसा लगता है कि उन्होंने वही अर्थ लिखा है जो इन ग्रंथों को मानने वाले उक्त वाक्य का परंपरा में करते आए हैं. छांदोग्य उपनिषद् में जबाला नामक लड़की का वर्णन मिलता है, जिस ने सत्यकाम को युवावस्था में जन्म दिया था. जब सत्यकाम गुरु के पास विद्या प्राप्ति के लिए जाता है, वह उस से उस का गोत्र पूछता है. क्योंकि उसे इस बारे में कुछ ज्ञात नहीं, अतः वह अपनी मां जबाला के पास आ कर उस से अपना गोत्र पूछता है. इस पर उस

की मां जो उत्तर देती है, वह उस युग की लड़कियों के पांडित्य का कच्चा चिट्ठा पेश कर देता है. वह कहती है:

> नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि, बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने
> त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद् गोत्रस्त्वमसि, जबाला तु नामाहमस्मि
> सत्यकामो नाम त्वमसि. स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति.
>
> –छांदोग्य उप. 4/4/2

इस पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने कई बातें अपनी ओर से जोड़ कर, जो मूल में प्रयुक्त किसी शब्द द्वारा नहीं कही गई हैं, लिखा है: 'हे तात! जिस गोत्र वाला तू है, मैं इस तेरे गोत्र को नहीं जानती. क्यों नहीं जानती? इस प्रकार कही जाने पर वह बोली–पति के घर में अतिथि और अभ्यागत आदिकों की बहुत टहल करने वाली मैं परिचारिणी, परिचर्या करने वाली अर्थात शुश्रूषा परायणा थी. इस प्रकार परिचर्या में चित्त लगा रहने के कारण गोत्रादि को याद रखने में मेरा मन नहीं था. तथा इस समय युवावस्था में ही मैं ने तुझे प्राप्त किया था. उसी समय तेरे पिता का देहांत हो गया. इसलिए मैं अनाथ हो गई और इसी से मुझे इस का कुछ पता नहीं कि तू किस गोत्रवाला है. मैं तो जबाला नाम वाली हूं और तू सत्यकाम नाम वाला है; अतः यदि आचार्य तुझ से पूछें तो तू यही कह देना कि 'मैं सत्यकाम जाबाल हूं.'

–छांदोग्योपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्य सहित, पृ. 381–82 गीताप्रेस गोरखपुर.

यह सारा वर्णन क्या बताता है? जबाला एक शब्द में बताया जा सकने वाला अपना गोत्र तक नहीं बता पाती. अतिथियों की सेवा करने में यदि वह मग्न भी रहती थी तो भी क्या वह एक शब्द याद नहीं रख सकती थी? उस ने अपना नाम याद रखा, अपने बेटे का नाम याद रखा; परंतु न उसे गोत्र का नाम मालूम है; न पति का.

शंकराचार्य ने कहा है कि उस के पति की मृत्यु हो गई थी, अतः उस से भी पूछ नहीं सकी. गोत्र तो विवाह के समय ही मालूम हो जाता है. यदि उसे नहीं मालूम था, यदि उस का पति मर गया था तो वह अपने पति के किसी संबंधी से, किसी देवर, जेठ आदि से, किसी दूर के रिश्तेदार से पूछ सकती थी. क्या पति के साथ ही सब की एकबारगी मृत्यु हो गई थी? उस के परिवार का कोई पुरोहित होगा, उस से पूछ लेती. नहीं, उसे इस की सुध नहीं. वह केवल गृहकार्य में मग्न रही थी.

क्या यही पांडित्य था, यही गृहकार्य में निपुणता थी जो लड़की को यह भी ज्ञात नहीं होने देती थी कि उस का गोत्र क्या है? उस के पति का नाम क्या है, उस का गोत्र क्या है? क्या यह घोर अज्ञानता का आलम नहीं है?

पंडितराज स्वामी भगवदाचार्य ने 'दशोपनिषदः' पुस्तक में, जो 1962 में प्रकाशित हुई थी, दस उपनिषदों पर संस्कृत में लिखे संस्कारभाष्य में जबाला के प्रकरण पर अपने ढंग से प्रकाश डाला है. वे लिखते हैं–

सा जबाला पुत्रमेनमुवाच तात त्वं यद्गोत्रोसि तस्य गोत्रस्य नाम नाहं वेद. कुतः? अहं परिचारिणी परितश्चारिण्यासम्. अतोहं बहु बहुषु गृहेषु जनेषु वा चरन्ती यौवने युवावस्थायां त्वामलभे लब्धवती. साहं तव गोत्रस्य नाम न जानामीति.

अर्थात वह जबाला अपने पुत्र से बोली—तात तू जिस गोत्र का है उस का नाम मैं नहीं जानती. क्यों? मैं परिचारिणी, चारों ओर चलतीफिरती रहती थी. अतः बहुत से घरों या जनों में घूमतीफिरती हुई मैं ने तुझे यौवन में प्राप्त किया था. वह मैं तुम्हारे गोत्र का नाम नहीं जानती.

इस तरह अर्थ लिखने के बाद स्वामीजी लिखते हैं—जबाला अपने पति का नाम नहीं जानती. अतः वह यह नहीं बताती कि उस का पति कौन था. वह अपना वर्ण भी नहीं जानती और गोत्र भी नहीं. यह सब कैसे हुआ, यह उत्सुकता पैदा होती है. फिर इस उत्सुकता को शांत करने के लिए स्वामी भगवदाचार्य स्वयं ही लिखते हैं:

> वस्तुतस्तु संभाव्यते स्यान्नाम जबाला ब्राह्मणपुत्रीति. परं परिचरणकर्मणा सा लब्धवती पुत्ररत्नम्. परिचरणकर्मणेत्यस्य परिचरणं कुर्वत्यास्तस्याः पुत्रोत्पत्तिः. यदि तस्याः कश्चन नियतः पतिः स्याज्जीवन्वा मृतो वा तन्नामग्रहणमवश्यं सा कुर्यात्. न च सा तथा करोति. ततोनुमीयतेविवाहितैवासीत्सा, तस्यामेव दशायां यतः कुतोपि सत्यकामं जनयामास. अतएव साशक्ता सत्यकामजनकनिर्देशे. (...) सत्यकामस्तु जारज एवेति. जबालाविषये किंचिदन्यदपि विचारणीयम्. सा कथयति यौवने त्वामलभ इति. यौवनं तु बहुकालव्यापि. सा तु नासीदधिकवया. यतोद्यावधि सत्यकामो नासीदुपनीतः एतेन बालकाल एव तस्य प्रतीयते. कथं तर्हि यौवने त्वामलभ इत्युक्ति संगतार्था भवेत्? किं च कथं न सा सत्यकामस्य पितुर्नाम गृह्णति? कथं न सत्यकामजनकनाम्ना तं प्रख्यापयति, कथं च स्वनामै व तत्प्रख्यापनमिति? अतोवश्मयत्र किंचिद् गोपनीयं, किंचिद् गूहनीयं चासीदेवेत्यलं बहुना श्रमेण.
>
> —छांदोग्योपनिषद् संस्कारभाष्येण संवलिता, 1962 ई. पृ. 22–23.

अर्थात असल में यही संभावना है कि जबाला नाम की एक ब्राह्मण पुत्री थी. उस ने, परिचरण (इधरउधर घूमती हुई) करती हुई ने पुत्र को प्राप्त किया. यदि उस का कोई नियत पति, जीवित या मृत, होता तो वह उस का नाम अवश्य लेती. परंतु वह ऐसा नहीं करती है. अतः यही अनुमान होता है कि वह अविवाहित थी. उसी दशा में जिस किसी से उस ने सत्यकाम को जन्म दिया. अतः वह सत्यकाम के जनक का नाम लेने में असमर्थ है. सत्यकाम जारज (अवैध संतान) ही है.

जबाला के विषय में कुछ और भी विचारणीय है. वह कहती है कि मैं ने यौवन में तुझे प्राप्त किया. यौवन तो काफी समय तक फैली हुई अवस्था है. वह अधिक उमर

की न थी, क्योंकि अभी तक तो उस के पुत्र का उपनयन संस्कार भी नहीं हुआ था. इस से यही प्रतीत होता है कि वह अभी बचपन में ही था. ऐसे में यह उक्ति कैसे संगत हो सकती है कि मैं ने तुझे यौवन में प्राप्त किया था? और वह सत्यकाम के पिता का नाम क्यों नहीं बताती? सत्यकाम को उस के पिता के नाम से प्रसिद्ध क्यों नहीं करती? क्यों उसे अपने ही नाम से प्रसिद्ध करती है? इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि यहां अवश्य कुछ गोपनीय है, अवश्य कुछ छिपाने योग्य है. इस पर और माथापच्ची की जरूरत नहीं.

स्वामीजी के संस्कारभाष्य से यही प्रतीत होता है कि घूमतीफिरती लड़की जबाला किसी जार द्वारा गर्भवती कर दी गई. अतः वह सत्यकाम को 'जार की संतान' (जारज) कहते हैं. परंतु मुझे उन की थ्यूरी पूरी तरह कायल करने वाली प्रतीत नहीं होती. यदि जबाला का कोई जार होता तो वह उस का नाम अवश्य जानती होती. उसे उस का गोत्र भी अवश्य ज्ञात होता. उस को अपना वर्ण तक भी ज्ञात न होना तो यही दर्शाता है कि वह महामूढ़ थी. यह मूढ़ता जारकर्म का परिणाम न हो कर उस के साथ हुए बलात्कार की ही परिणति हो सकती है. उसे बलात्कार से पहुंचे सदमे के कारण, संभव है, अपना वर्ण भूल गया हो. बलात्कारी को क्योंकि वह जानती नहीं थी, अतः उस के नाम और गोत्र के बारे में वह कुछ भी नहीं जानती थी. यदि यही वास्तविकता रही हो तो कहना पड़ता है कि तब भी लड़कियां मर्द पशुओं से सुरक्षित नहीं थीं.

इसी तरह रैक्व प्रकरण में हम देखते हैं कि राजा जानश्रुति अपनी पुत्री को एक छकड़े वाले और खुजली के मारे हुए 'ज्ञानी' की भेंट चढ़ा आता है. लड़की को उस से कुछ लेनादेना नहीं है, न वह उस की पसंद है, न वह उस की उमर का है, न वह सुंदर, स्वस्थ और वरणीय है. लड़की बेचारी मूकपशु की तरह उस के हवाले कर दी जाती है—न उस का कोई मानवाधिकार है, न उस की भावनाओं का कोई महत्त्व है. क्या यह लड़की के पांडित्य का प्रमाण है? क्या यह किसी भी तरह इस बात का सूचक है कि वह लड़की विदुषी थी? क्या यह तत्कालीन समाज में, उपनिषद्कारों के समाज में, लड़की की दयनीय दशा का मुंह बोलता प्रमाण नहीं है?

स्वामी भगवदाचार्य ने जानश्रुति द्वारा रैक्व को कन्या की भेंट चढ़ाने पर टिप्पणी करते हुए अपने संस्कार भाष्य में लिखा है:

> अत्र किंचिद् वक्तव्यम्. अनार्य एवायं रैक्व आसीत्. अनार्य एव च जानश्रुतिः. न हि कश्चिद्ब्रह्मवेत्ता वर्षिः कन्याजिघृक्षया भोगलिप्सया च तत्त्वज्ञानमुदेष्टुं सज्जो भवेत्. अनेनैवमुखेनेत्युक्त्या स कामुक आसीदिति स्पष्टं व्यज्यते. रैक्वेण नाधिकारी परीक्षितः कन्यैव सर्वस्वमिति मत्त्वा स स्वकर्तव्यं विसस्मार. राजकन्येति तत्सौन्दर्ये न संदेहः. तस्याः प्रफुल्लं मुखं वीक्ष्य कामातुरः स स्वविज्ञातां विद्यां राज्ञे दातुं सन्नद्धोभवत्. जानश्रुतिरप्यनार्य एव. अतः स्वकीयां कन्यामादाय तामनापृच्छ्यैव तस्मा

अदात्. सर्वथायं क्रमोनार्य एवेति वयं विद्मः.

रैक्वोपि कश्चन मूर्ख एवासीत्. न स किंचिज्जानाति स्म.
पक्षिणां संवादेन रैक्वमुपासीनो राजा तु परममूर्खः.
अवश्यं नात्र किंचित् तत्त्वं ब्रह्मजिज्ञासुना ग्रहीतव्यमिति.
–छांदोग्य उपनिषद्, संस्कारभाष्य संवलिता, 1962, ई. पृ. 20–21.

अर्थात "यहां मुझे कुछ कहना है. रैक्व अनार्य था. जानश्रुति भी अनार्य था. कोई भी ब्रह्मवेत्ता या ऋषि कन्या को प्राप्त करने के लिए और भोगलिप्सा से प्रेरित हो कर अपने तत्त्वज्ञान का उपदेश देने के लिए सन्नद्ध नहीं होता. उस (रैक्व) का यह कहना कि 'इस के इस मुख से' स्पष्ट बताता है कि वह कामुक था. रैक्व ने उपदेश देने से पहले जानश्रुति के बारे में यह भी नहीं जानना चाहा कि वह ज्ञान प्राप्ति का अधिकारी है या नहीं. लड़की को ही सब कुछ समझता हुआ वह अपने कर्त्तव्य को भूल गया. राजकुमारी के सुंदर होने में क्या संदेह? उस का खिला हुआ मुखड़ा देख कर वह कामातुर रैक्व अपनी विद्या उस राजा को देने को तैयार हो गया. जानश्रुति राजा भी अनार्य है. इसीलिए वह अपनी लड़की को उस की इच्छा पूछे बिना, उस रैक्व के सुपुर्द कर आया. हमें तो यह सारा घटनाक्रम अनार्य ही प्रतीत होता है. रैक्व भी कोई मूर्ख ही था. वह कुछ भी नहीं जानता था. पक्षियों की बातें सुनकर उस के पास जा पहुंचने वाला राजा तो महामूर्ख था. इस सारे प्रकरण से ब्रह्म को जानने के इच्छुक को तनिक भी तत्त्व ग्रहण नहीं करना चाहिए.

इस तरह के विवरणों से भरपूर पोथियों को पूज्य ठहराना या उन्हें दर्शनशास्त्र के महत्त्वपूर्ण दस्तावेज कहना जानबूझ कर लोगों को अंधेरे में रखना है. ये स्थल पटरी मार्का घासलेटी साहित्य से भी ज्यादा गएबीते हैं. इन का अनुवाद प्रस्तुत करते हुए भी व्यक्ति शर्मसार हो जाता है. 'धर्मनिरपेक्ष' भारत सरकार को अश्लील साहित्य निवारक कानून के तहत इस तरह की पुरानी पोथियों पर पाबंदी लगा देनी चाहिए. इसी में नई पीढ़ी का भला है जिसे आए दिन धार्मिक साहित्य न पढ़ने के कारण हर मंच पर से तथाकथित धार्मिक लोग कोसते रहते हैं.

नारी के प्रति

उपनिषदों में नारी से उसी प्रकार अपमानजनक और तिरस्कारपूर्ण बरताव करने की शिक्षा दी गई है जैसे मनु ने दी थी. बृहदारण्यक उपनिषद् का कहना है:

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिंद्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति.
–6/4/7

अर्थात स्त्री यदि मैथुन न करने दे तो उसे उस की इच्छा के अनुसार वस्त्र आदि दे कर उस के प्रति प्रेम प्रकट करे. इतने पर भी यदि वह मैथुन न करने दे तो उसे डंडे से या हाथ से (थप्पड़, घूंसा आदि) मारकर उस के साथ बलपूर्वक समागम करे. यदि

यह भी संभव न हो तो 'मैं तुझे शाप दे दूंगा, तुम्हें वंध्या अथवा भाग्यहीना बना दूंगा'–ऐसा कहकर 'इंद्रियेण' इस मंत्र का पाठ करते हुए उस के पास जाए. उस अभिशाप से वह 'दुर्भगा' एवं वंध्या कही जाने वाली अयशस्विनी (बदनाम) ही हो जाती है.

–देखें 6/4 पर शंकरभाष्य

यह सब क्या है? क्या 'अतिक्रामेद्' (बलपूर्वक समागम करे) की शिक्षा बलात्कार का ही एक रूप नहीं है? कई सभ्य देशों में तो पत्नी तक से बलपूर्वक समागम अपराध माना जाता है. इस स्थल में क्या आध्यात्मिकता या दार्शनिकता है? यह तो कामसूत्रीय अंशों का उपनिषदीकरण मात्र प्रतीत होता है.

कई लोग ऐसे स्थलों को प्रक्षिप्त अंश बताते हैं. परंतु अपनी बात के समर्थन में कोई ठोस आधार उन के पास नहीं है. शंकराचार्य के भाष्य प्राचीनतम उपलब्ध भाष्य हैं. परंतु उन्होंने इन स्थलों को सहज रूप में ही लिया है और सीधेसीधे अर्थ कर दिए हैं. उन्हें न ये स्थल चौंकाने वाले लगे और न प्रक्षिप्त. अतः यही कहना पड़ता है कि प्रक्षिप्तवाद एक तरह का पलायनवाद है, जो कटु यथार्थ का सामना करने से बचने के लिए कमजोर बहानेबाजी करता है.

उपनिषदों के बड़ेबड़े ब्रह्मवादी ऋषिमुनि तक कईकई पत्नियां रखते थे. उन की दृष्टि में नारी चल संपत्तिमात्र थी. इसलिए कई पत्नियों का एक ही स्वामी होता था. याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मज्ञानी की दो पत्नियां थीं–एक मैत्रेयी, दूसरी कात्यायनीः

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च'

–बृहदारण्यक. 4/5/1

बहुपत्नीत्व वाले समाज में स्त्री का जीवन सपत्नी के कारण कंटकाकीर्ण होता है. उपनिषद् काल में ब्रह्मज्ञानियों के घरों तक में स्त्री का जीवन सपत्नी की उपस्थिति से निष्कंटक नहीं था.

उपनिषदों के रचयिताओं की दृष्टि में स्त्री चल संपत्ति होने के कारण वह मूक पशु की तरह उपहारस्वरूप दे दी जाती थी. छांदोग्यउपनिषद् का जानश्रुति और रैक्व (अ. 4/खंड 2 व 3) प्रसंग इस बात का ज्वलंत प्रमाण है. राजा जानश्रुति रैक्व के पास छः सौ गौएं, एक हार और खच्चरों से जुता एक रथ ले कर जाता है और उस भेंट के बदले उस से ज्ञान प्राप्त करना चाहता है. परंतु रैक्व उसे ज्ञान देने के लिए सहमत नहीं होता. दूसरी बार जानश्रुति एक हजार गौएं, एक हार, खच्चरों से जुता रथ और अपनी लड़की–ये चीजें भेंट के रूप में ले कर जाता है. उपनिषद् में कहा गया हैः

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति.

–छांदोग्य उप. 4/2/5

अर्थात उस राजकन्या के मुख को ही (विद्याग्रहण का द्वार) समझते हुए रैक्व

ने कहा 'अरे शूद्र! तू ये (गौएं आदि) लाया है, (सो ठीक है) पर तू इस विद्याग्रहण के द्वार से ही मुझ से भाषण कराता है.

तात्पर्य यह कि भेंट की गई कन्या को देख कर रैक्व राजा जानश्रुति को ज्ञान देने के लिए तत्पर हो गया. इसीलिए शंकराचार्य ने अपने भाष्य में लिखा है:

> इयं जायार्थं ममदुहितानीता... इत्युक्तस्तस्या जायार्थमानीताया राज्ञो दुहितुर्हैव मुखं द्वारं विद्याया दाने तीर्थमुपोद्गृह्णञ् जानन्निति.
>
> –छा. उप. 4/2/5 पर शंकरभाष्य

अर्थात यह पत्नी अर्थात आप की भार्या होने के लिए अपनी कन्या लाया हूं... ऐसा कहे जाने पर भार्या होने के लिए लाई गई इस राजकन्या के मुख को ही विद्यादान का द्वार अर्थात तीर्थ समझते हुए रैक्व ने कहा.

स्पष्ट है, उस कन्या को भेंट में स्वीकार कर के रैक्व ज्ञान देने के लिए राजी हो गया. यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि औपनिषदिक विचारधारा आधी मानवता को (स्त्रियों को) मानव ही नहीं मानती थी. वे मात्र वस्तु थीं जो गौओं, रथों आदि की तरह भेंट की जा सकती थीं.

उपनिषदों में कई तरह के बेतुके नुस्खे बताए गए हैं. श्रद्धांध लोग इन की वैज्ञानिकता का दावा करते नहीं शरमाते. उदाहरण के लिए एक नुस्खा देखिए:

> अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पंडितो विगीत: समितिं गम: शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रवीत सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मंतमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा.
>
> –बृहदारण्यक 6/4/18

अर्थात यदि कोई यह चाहे कि मेरा पुत्र प्रख्यात विद्वान, सभा में जाने योग्य, सुवक्ता, वेदों का ज्ञाता और सौ वर्ष की आयु भोगने वाला हो तो उसे चाहिए कि वह दंपती बैल या सांड के मांस में चावल पका कर और घी मिला कर खाए.

कई लोग उपनिषद् में प्रयुक्त 'औक्षेण वार्षभेण वा**' को देख कर अपने को बड़ी असुविधाजनक स्थिति में पाते हैं. ऐसे में वे शब्दों के अर्थ बदलने का पलायनवादी मार्ग अपनाते हैं. वे कहते हैं कि 'औक्षेण' का अर्थ है: 'उक्षा नामक औषधि से' तथा 'आर्षभेण' का अर्थ है: 'ऋषभ नाम की औषधि से.'**

परंतु ये अर्थ कपोलकल्पित और वास्तविकता के सर्वथा विपरीत प्रतीत होते हैं. इन शब्दों के जो अर्थ प्राचीनतम भाष्यकार शंकराचार्य ने किए हैं, वे हमारे अर्थ की प्रामाणिकता पर स्वीकृति की मोहर लगाते हैं और अर्थों को तोड़मरोड़ कर पेश करने वालों को मुंह चिढ़ाते हैं.

शंकर ने अपने भाष्य में इन शब्दों की व्याख्या करते हुए लिखा है:

> औक्षेण वा मांसेन. उक्षा सेचनसमर्थ: पुंगवस्तदीयं मांसम्.
> ऋषभस्ततोऽप्यधिकवयास्तदीयमार्षभं मांसम्.

अर्थात अथवा उक्षा के मांस से. उक्षा का अर्थ है: गर्भाधान करने में समर्थ बैल/बछड़ा, उस का मांस. ऋषभ उक्षा से भी ज्यादा उमर के बैल/बछड़े को कहते हैं, उस के मांस को 'आर्षभ मांस' कहते हैं.

यहां शंकराचार्य ने साफ तौर पर "औक्षेण मांसेन**" का अर्थ 'गर्भाधान करने में समर्थ बछड़े का मांस' किया है और 'आर्षभ मांसम्' का अर्थ 'उक्षा से भी ज्यादा उमर के बछड़े का मांस' किया है.**

शंकरभाष्य के उक्त अंश का अंग्रेजी में अनुवाद करते हुए स्वामी माधवानंद ने लिखा है:

The meat is restricted to that of a vigorous bull, able to breed, or one more advanced in years.

–द बृहदारण्यक उपनिषद् विद द कमेंटरी आफ शंकराचार्य, अंगरेजी अनुवाद स्वामी माधवानंद, 10 वां पुनर्मुद्रण, 2004 पृ. 654, अद्वैत आश्रम, कोलकाता.

नुस्खे में सिवा उस गोमांस को खाने की शिक्षा देने के और कौन सी वैज्ञानिकता है, जिसे खाना हिंदू धर्म में अब पाप बताया जाता है?

इसी तरह के अन्य नुस्खे भी उपनिषदों में मिलते हैं. बृहदारण्यक उपनिषद् में पत्नी के जार (यार) को दंड देने का नुस्खा अंकित किया गया है:

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद् द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमं शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति. स वा एष निरिंद्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति.

–बृहदा. 6/4/12

अर्थात मिट्टी के कच्चे (न पकाए) बरतन में अग्नि रख कर विपरीत रीति से सरकंडों का बर्हिष (बिछौना) बिछा कर उस की बाण जैसी सींकों को घी में भिगो कर उन के अग्रभाग को विपरीत दिशा में ही रखते हुए उस अग्नि में चार आहुतियां दे. आहुति के पहले 'मम समिद्ध**' आदि मंत्रों का पाठ कर के अंत में हर बार 'असौ' बोल कर उस (यार) का नाम ले. इस प्रकार करने वाला विद्वान ब्राह्मण जिस को शाप देता है उस (यार) की मृत्यु हो जाएगी.**

यह पति नामक प्राणियों को लूटने का धूर्ततापूर्ण हथकंडा है क्योंकि उपर्युक्त फारमूले में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिस से एक जगह अग्नि में घृत नष्ट करने के परिणामस्वरूप दूसरी जगह संबद्ध व्यक्ति मर जाए.

यद्यपि इस तरह के टोटकों से कुछ भी नहीं हो सकता तथापि यह बड़ी हैरानी की बात है कि बहुपत्नियों वाले समाज में मर्दों को केवल पत्नियों के यारों को नष्ट करने की ही आवश्यकता महसूस हुई, और उन्होंने टोटका गढ़ लिया. उन्हें औरतों को सौतों से बचाने की आवश्यकता कभी महसूस नहीं हुई. अतः सौतनाशक कोई टोटका उपनिषदों में उपलब्ध नहीं होता. यहां एक हाथ से ही मर्दवादी ताली बजती रही जो आज भी अक्षुण्ण है!

इस जारनाशक विधि के अंत में उपनिषद्कार ने लिखा है:

तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित् परो भवति.

–बृहदारण्यक उप. 6/4/12

अतः इस प्रकार ही जारनाशक-विधि को जानने वाले श्रोत्रिय (वेदज्ञ) की पत्नी से हासपरिहास की भी इच्छा न करे, समागम (मैथुन) की तो बात ही छोड़ो; क्योंकि ऐसे अभिचार (दूसरे को मार देने वाले टोने) जानने वाला विद्वान उस का शत्रु बन जाता है.

यहां यह उल्लेखनीय है कि यह टोना केवल श्रोत्रिय (वेदज्ञ) ब्राह्मण की पत्नी से मैथुन करने वाले को मारने के लिए बताया गया है और उसी के संदर्भ में चेतावनी दी गई है कि वेदज्ञ की पत्नी के साथ संभोग करने से बचे, क्योंकि वह जारनाशक यज्ञ/टोने के द्वारा प्राण ले सकता है.

वेदज्ञ ब्राह्मण के अतिरिक्त जो अन्य लोग हैं यथा सामान्य ब्राह्मण (जो वेदज्ञ न हो), क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–उन की पत्नियों के जारों को नष्ट करने का यहां न संकेत है और न उन के संदर्भ में उन्हें (जारों को) चेतावनी ही दी गई है.

क्या उन की पत्नियों के जारों की करतूतें क्षम्य हैं? यदि उन की पत्नियों के जारों की करतूतें क्षम्य हैं तो श्रोत्रिय की पत्नी के जार की वैसी ही करतूत अक्षम्य क्यों? केवल श्रोत्रिय को अपनी पत्नी के जार से मुक्ति पाने की सुविधा उपलब्ध कराना और शेष सभी के संदर्भ में आंखें मूंदें रहना, क्या किसी भी तरह उचित ठहराया जा सकता है? क्या इस से समाज में यौन अराजकता का दैत्य मुंह बाए नहीं घूमेगा?

अंधविश्वास

ब्रह्मविद्या के भंडार उपनिषद् अंधविश्वासों और वहमों का बहुत नियोजित ढंग से प्रचार करते प्रतीत होते हैं. छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है:

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति.
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने."

–5/2/8

अर्थात यदि स्वप्न में कोई स्त्री दिखाई दे तो समझो कि अभीष्ट काम में अवश्य सफलता होगी.

यह निरा वहम का प्रचार नहीं तो और क्या है? स्वप्न में किसी स्त्री के दिखाई देने और कार्य में प्राप्त होने वाली सफलता का परस्पर क्या वैज्ञानिक संबंध है?

एक दूसरा स्वप्न संबंधी अंधविश्वास प्रतिपादित करते हुए वही उपनिषद् कहता है:

पुरुषं कृष्णं कृष्णदंतं पश्यति स एनं हंति.

अर्थात जिसे स्वप्न में काले दांत वाले काले पुरुष का दर्शन हो, उसे समझना चाहिए कि मेरी मृत्यु निकट है.

छांदोग्य उपनिषद् (3/16) में 116 वर्ष तक जीने का नुस्खा दिया गया है. कहा है कि जीवन के पहले 24 वर्षों में यदि कोई रोग कष्ट दे तो इस मंत्र का जप करे–'हे प्राणरूप वसुबाण, यह मेरे यज्ञ का प्रातः सवन विद्यमान है. इसे माध्यंदिन स्वरूप मेरी आयु के साथ एकीभूत कर दो.'

इस प्रकार जप करने से वह कष्टमुक्त हो कर नीरोग हो जाता है. मनुष्य जीवन के अगले 44 वर्ष मानो यज्ञ के माध्यंदिन सवन हैं. अतः यज्ञकर्ता को इस आयु में यदि कोई रोग कष्ट पहुंचाए तो उसे इस प्रकार कहना चाहिए, 'हे प्राणरूप रुद्रगण, मेरे इस माध्यंदिन सवन को तृतीय सवन के साथ एकीभूत कर दो. यज्ञस्वरूप मैं प्राणरूप रुद्रों के मध्य में कभी विच्छिन्न (नष्ट) न होऊं.' ऐसा कहने से वह उस कष्ट से छूट जाता है और नीरोग हो जाता है.

इस के पश्चात जो 48 वर्ष हैं, वे तृतीय सवन हैं, यदि यज्ञकर्ता को इस आयु में कोई रोगादि संतप्त करे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिए, 'हे प्राणरूप आदित्यगण, मेरे इस तृतीय सवन को आयु के साथ एकीभूत कर दो. यज्ञस्वरूप मैं प्राणरूप आदित्यों के मध्य में कभी विनष्ट न होऊं.'

ऐसा कहने से वह उस कष्ट से मुक्त हो कर नीरोग हो जाता है.

अंत में उपनिषद् अपनी बात के समर्थन में निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करता है:

> एतद् ह स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म
> एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं
> वर्षशतमजीवत् प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद.
>
> –छांदोग्य उपनिषद् 3/16/7

अर्थात इस प्रसिद्ध विद्या को जानने वाले ऐतरेय महिदास ने कहा था– 'अरे रोग, तू मुझे क्यों कष्ट देता है? मैं इस रोग द्वारा मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकता.' वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहा था. जो इस प्रकार जानता है, वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहता है.

इस पर अपने भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं:

> अन्योऽप्येवंनिश्चयः षोडशं वर्षशतं प्रजीवति य
> एवं यथोक्तं यज्ञसंपादनं वेद जानाति, स इत्यर्थः.
>
> –छांदोग्य उपनिषद् 3/16/7 पर शंकरभाष्य

अर्थात ऐसे ही निश्चयवाला दूसरा कोई पुरुष भी, जो इस पूर्वोक्त यज्ञसंपादन को जानता है, एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहता है.

क्या यह संभव है? क्या मंत्र पढ़ने मात्र से रोग दूर हो सकता है? क्या चाहने अथवा जानने मात्र से कोई 116 वर्ष तक जीवित रह सकता है? शंकराचार्य खुद इस सब को भलीभांति जानते थे, जैसा उन के भाष्य से स्पष्ट है. परंतु इस के बावजूद वह मात्र 32 वर्ष जीवित रह सके. क्या इस डींग को असत्य सिद्ध करने के लिए और प्रमाण अपेक्षित है?

अवैज्ञानिक कल्पनाएं

उपनिषदों में अंधविश्वासों के अतिरिक्त कई अन्य अवैज्ञानिक कल्पनाएं भी उपलब्ध होती हैं. छांदोग्य उपनिषद् लिखता है :

चंद्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य

छा. उप. 8/13/1

अर्थात वह ऐसे छूट गया जैसे राहु के मुख से चंद्रमा छूटता है. यह इस प्रचलित अंधविश्वास का प्रतिपादन है कि चंद्रग्रहण के समय चंद्रमा को राहु निगल जाता है.

बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि अश्वमेध यज्ञ करने वालों को मिलने वाले लोक का परिमाण सूर्य के रथ की 32 दिनों की यात्रा है, पृथ्वी 64 की और सागर 128 की. जहां स्वर्ग और पृथ्वी दो परतों की भांति मिलते हैं वहां छुरे की धार अथवा मक्खी के पंख जितना स्थान खाली है. वहां से हो कर अश्वमेध यज्ञ करने वालों के लिए निश्चित स्थान पर पहुंचा जाता है. यही 'स्वर्ग' है.

द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तं समंतं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति तां समंतं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेण...तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनो भवन्नित्येवमिव

–बृहदा. उप. 3/3

स्कूल जाने वाला बच्चा भी यह जानता है कि न कहीं पृथ्वी और आकाश मिलते हैं और न ही आकाश के किसी भाग में स्वर्ग नामक कोई स्थान है. यह बात भी बच्चों को भली प्रकार ज्ञात है कि सूर्य न कोई आदमी है और न ही उस का कोई रथ है.

छांदोग्य उपनिषद् में लिखा है कि मरने के बाद व्यक्ति पहले सूर्य लोक को प्राप्त होता है. फिर उस से ऊपर चंद्र लोक को प्राप्त होता है.

मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चंद्रमसं चंद्रमसो विद्युतं तत्पुरूषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पंथा इति

–छां. उप. 4/15/5,5/10/2

अर्थात व्यक्ति उन महीनों से संवत्सर को, संवत्सर से सूर्य को, सूर्य लोक से ऊपर चंद्र लोक को जाता है. चंद्रलोक से विद्युत लोक को प्राप्त होता है. वहां से दिव्य पुरुष उसे ब्रह्म के पास ले जाता है.

यह बात प्राइमरी स्कूल के बच्चे भी जानते हैं कि चंद्रमा सूर्य की अपेक्षा धरती के बहुत निकट है, लेकिन उपनिषदों के सर्वज्ञ ब्रह्मज्ञानी, जिन के अनुसार ब्रह्म को जान लेने के बाद सब कुछ ज्ञात हो जाता है, चंद्रमा को सूर्य से दूर बता रहे हैं!

शरीर विज्ञान

बृहदारण्यक उपनिषद में हृदय और नाड़ियों के विषय में जो कुछ लिखा गया

है, वह भी तथाकथित सर्वज्ञों की अज्ञानता और अनर्गल कल्पना का प्रत्यक्ष प्रमाण है. वहां लिखा है कि हृदय के चारों ओर 72.000 नाड़ियां हैं:

हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते.

–बृहदा. 2/1/19

अर्थात हिता नाम की 72,000 (बहत्तर हजार) नाड़ियां हृदय से संपूर्ण शरीर में व्याप्त हो कर स्थित हैं.

छांदोग्य उपनिषद् में इस कल्पना को और ज्यादा अनर्गल बनाते हुए लिखा है:

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिंगलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येति.

–8/6/1

अर्थात वे जो हृदय के पास की नाड़ियां हैं, वे भूरे, सफेद, नीले, पीले और लाल रंग की हैं.

प्रश्न उपनिषद् ने तो एकदम असंभव बात कही है. उस का कहना है कि इन नाड़ियों की संख्या कुल 72,72,00,000 है.

हृदि ह्येष आत्मा. अत्रैतदेकशतं नाड़ीनां तासां शतं शतं एकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवंति.

–3/6

अर्थात हृदय में 101 नाड़ियां हैं. उन में से प्रत्येक की 100-100 शाखा नाड़ियां हैं. उन शाखा नाड़ियों में से प्रत्येक की 72,000 प्रतिशाखा नाड़ियां हैं. यह संख्या 72,72,00,000 बनती है. इन में यदि मुख्य शिराएं भी जोड़ दी जाएं तो यह संख्या 72,72,10,201 हो जाती है. एक पुराने संस्कृत टीकाकार ने यह संख्या 72,72,06,201 बताई है.

ब्रह्मज्ञानियों की इस सर्वज्ञता पर किसी टिप्पणी की जरूरत प्रतीत नहीं होती.

अपराध विज्ञान

उपनिषदों में अपराध-विज्ञान संबंधी जो विधान उपलब्ध होते हैं, उन्हें देख कर तो यही लगता है कि उन में जंगली सभ्यता के अवशेषों के सिवा अन्य कुछ भी नहीं. उदाहरणार्थ, चोरी के मामले में उपनिषद् की राय सुनिए:

पुरुषं सौम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत् स्तेयमकार्षीत् परशुमस्मै तपतेति. स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते. सोऽनृताभिसंधोऽनृतेनाऽत्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति. स दह्यतेऽथ हन्यते.

–छांदोग्य. 6/16/1

अर्थात हे सौम्य, राजकर्मचारी पुरुष के हाथों को बांध कर लाते हैं तथा कहते

हैं कि इस ने चोरी की है. राजा लोहे का तपा हुआ कुल्हाड़ा उस के हाथों पर रखवाता है. यदि वह सचमुच चोर हो तो जल जाता है और मारा जाता है.

यह बिलकुल वहशीपन है. तपाया हुआ लोहा हर व्यक्ति का हाथ जलाएगा, चाहे उस ने कुछ चुराया हो या नहीं. इस से सही और गलत व्यक्ति का पता लग ही नहीं सकता. उपनिषदों का इस अज्ञानता एव क्रूरतापूर्ण पद्धति को समर्थन देना क्या अपने जंगली होने का प्रमाण देना नहीं है?

जातिपांति की जड़ें

उपनिषदों ने भारतीय इतिहास में पहली बार जातिपांति का आधार स्पष्ट शब्दों में पिछले जन्मों के अच्छेबुरे कर्मों के फल को बताया है. इस के बाद तो यह विचार ऐसा बद्धमूल हुआ कि आज तक उखड़ने का नाम नहीं लेता. छांदोग्य उपनिषद् का कहना है :

> तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणाः अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा
>
> —5/10/7

अर्थात जो अच्छे काम करते हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन अच्छी योनियों/जातियों को प्राप्त होते हैं और जो अशुभ काम करते हैं वे कुत्ते, सूअर या चांडाल योनि/जाति को प्राप्त होते हैं.

यह जातिपांति को जन्म के आधार पर ही नहीं, बल्कि पिछले जन्म में किए गए कर्मों के आधार पर भी बताना भारत की फूट को ईश्वरीय विधान बताने के समान है, क्योंकि ईश्वर ही पिछले जन्मों के कर्मों का इनाम व दंड देने वाला बताया जाता है. जब उस ने ही ऊंची और नीची जातियां व्यक्तियों के पिछले कर्मों के आधार पर बना दीं, तब उन्हें कौन मिटा सकता है और इन के परिणामस्वरूप देश में उपजी फूट को कोई इनसान दूर करने का यत्न कैसे कर सकता है?

एक तरफ ब्रह्मज्ञान की बातें करना कि सब में एक ही आत्मा है; कि संसार अज्ञान के कारण प्रतीत होता है, वैसे तो सब ब्रह्म ही है; कि ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या है और दूसरी ओर इनसानों में कल्पित की गई जातियों को सत्य मानना और उन के साथ अगलेपिछले कर्मों के फलों को जोड़ना—क्या ब्रह्मज्ञानियों को इतनी बड़ी असंगति नजर ही नहीं आई या इसे 'भेदअभेद' और 'ऊंचनीच' को समान समझ कर वे वैसे ही निर्विकार भाव से पचा गए?

ऐसा लगता है कि ब्रह्मज्ञान की ऊंचीऊंची और अस्पष्ट सी बातें करते हुए भी तथाकथित ब्रह्मज्ञानी इस मिथ्या जगत की ऊंचनीच और स्वार्थसिद्धि को हमेशा ध्यान में रखते थे. राहुल सांकृत्यायन का कहना है कि ब्रह्मज्ञान प्रचार आजीविका का ऐसा साधन था, जो यज्ञों में मिलने वाली दक्षिणा की अपेक्षा भी ज्यादा मजबूत था. (देखें दर्शनदिग्दर्शन, पृ. 476). यह बात तब और भी ज्यादा स्पष्ट हो जाती है जब हम

देखते हैं कि याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मज्ञानी, संसार को एकदम मिथ्या प्रचारने के बावजूद, हजारहजार गौएं और दसदस हजार सिक्के ब्रह्मज्ञान के व्यापार में प्राप्त करते हैं और जब उन से कोई उत्तर नहीं बन पड़ता, तब प्रश्नकर्ता को रहस्यमय भय दिखा कर चुप करा देते हैं.

जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपंचालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवां सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृंगयोराबद्धा बभूवुः.

–बृहदारण्यक उपनिषद 3/1/1

अर्थात विदेह देश में रहने वाले राजा जनक ने एक बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ द्वारा यजन किया. उस में कुरु और पांचाल देशों के ब्राह्मण एकत्र हुए. राजा जनक को यह जानने की इच्छा हुई कि इन ब्राह्मणों में सब से बढ़कर वेदज्ञ कौन है? इसलिए उस ने एक हजार गौएं गोशाला में रोक लीं. उन में से प्रत्येक के सींगों में 10-10 पाद (एक पाद औंस के एकतिहाई के बराबर था) सुवर्ण के बंधे हुए थे.

तान् होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति.
अथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सौम्योदज सामश्रवा इति.

अर्थात उस (राजा जनक) ने उन से कहा–पूज्य ब्राह्मणगण! आप में जो ब्रह्मिष्ठ (ब्रह्म अथवा वेद को जानने वाला) हो, वह इन गौओं को ले जाए. तब याज्ञवल्क्य ने अपने ही शिष्य (ब्रह्मचारी) से कहा–हे सामश्रवा! तू इन गौओं को हांक ले.

तब याज्ञवल्क्य ने प्रश्नों के उत्तर दिए. शंकराचार्य बृहदारण्यक उपनिषद् 3/9/27 की भूमिका में लिखते हैं :

अब्रह्मविदो ब्राह्मणाञ् जित्वा गोधनं हर्तव्यमिति

अर्थात ब्रह्म को न जानने वाले ब्राह्मणों को जीतकर गौएं ले जाना उचित ही है.

इसी प्रकार जब बालाकि काशिराज अजातशत्रु को ब्रह्मज्ञान देने का प्रस्ताव करता है, तब राजा स्वयमेव उस की फीस (कीमत) के बारे में कह देता है कि मैं इस के बदले में तुम्हें हजार गौएं दूंगाः

बालाकिर्होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति, स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मः.

–बृहदारण्यक उप. 2/1/1

अर्थात बालाकि ने काशिराज अजातशत्रु से कहा–'मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूं.' अजातशत्रु ने कहा, 'इस वचन के लिए में आप को एक हजार गौएं देता हूं.'

राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से एक ब्रह्मविषयक प्रश्न पूछा और एकदम उस की फीस उसे देने की घोषणा कर दीः

हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः

–बृहदारण्यक उपनिषद 4/1/4

अर्थात विदेहराज जनक ने कहा–'मैं आप को हाथी के समान हृष्टपुष्ट बैल उत्पन्न करने वाली एक हजार गौएं देता हूं.'

इस तरह के अन्य संदर्भ भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं. इन में यही सिद्ध होता है कि अभौतिक (काल्पनिक) ब्रह्म की बातों से पर्याप्त कमाई होती थी. उस की बातें करने वालों की एक निश्चित फीस थी, जो 'समझदार' लोग अपने आप उन्हें दे देते थे.

यदि कोई इस ब्रह्म के बारे में तर्क करता था, संदेह करता था या प्रश्न उठाता था, तब ब्रह्मवादियों को ऐसा लगता था मानो कोई उन की रोटीरोजी पर लात मार रहा हो. वे प्रश्न करने वाले को हतोत्साहित करते थे, रहस्यमय व अज्ञात भय से उसे डराने का यत्न करते थे और उसे खतरनाक परिणाम की चेतावनी देते थे. 'तुम्हारा सिर धड़ से अलग हो कर नीचे गिर जाएगा'–यह एक आम भय था जो दिखाया जाता था. जब गार्गी ने यह प्रश्न पूछा कि ब्रह्मलोक किस में ओतप्रोत है? (कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति) **तब अपने को उस की जिज्ञासा शांत करने में असमर्थ पा कर याज्ञवल्क्य ने उसे यही भय दिखाते हुए कहा था :**

गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनप्तिप्रश्न्यां वै
देवतामतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी उपरराम.

–बृहदारण्यक उपनिषद् 3/6/1

अर्थात हे गार्गी, अतिप्रश्न मत कर. तेरा मस्तक न गिर जाए! जिस के विषय में अतिप्रश्न नहीं करना चाहिए, तू उस देवता के विषय में अतिप्रश्न कर रही है. हे गार्गी, तू अतिप्रश्न न कर. तब गार्गी चुप हो गई.

इस पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने लिखाः

न्यायप्रकारमतीत्य आगमेन प्रष्टव्यां देवतामनुमानेन मा प्राक्षीरित्यर्थः, पृच्छन्त्याश्च मा ते तव मूर्धा शिरो व्यपप्तद् विस्पष्टं पतेत्. देवताया स्वप्रश्न आगमविषयः, तं प्रश्नविषयमतिक्रान्तो गार्ग्याः प्रश्नः, आनुमानिकत्वात् स यस्या देवतायाः प्रश्नः सातिप्रश्न्या, केवलागमगम्येत्यर्थः, अतो गार्गि मातिप्राक्षीः, मर्तुं चेन्नेच्छसि.

अर्थात तू न्यायोचित प्रकार को छोड़ कर शास्त्रगम्य देवता को अनुमान (तर्क) से मत पूछ. इस प्रकार पूछने से तेरा मस्तक (सिर) स्पष्ट तौर पर गिर जाएगा. देवता का स्वप्रश्न शास्त्र का विषय है, गार्गी का प्रश्न आनुमानिक (तर्क आधारित) होने के कारण उस प्रश्नबिषय का अतिक्रमण करता है. यह प्रश्न जिस देवता के विषय में है, उसे केवल शास्त्रों द्वारा जाना जा सकता है, अतः उस के विषय में अतिप्रश्न मत कर. हे गार्गी, यदि तुझे मरने की इच्छा न हो तो अतिप्रश्न मत कर.

यहां गार्गी के स्वतंत्रचिंतन और उस की जिज्ञासा का गला घोंटा गया है. उसे रहस्यमय भय से डराकर चुप करा दिया गया है; परंतु इस में न तो उस के प्रश्नों का उत्तर है, और न ही याज्ञवल्क्य व उपनिषद् ने उन के उत्तर को ढूंढ़ने का कहीं यत्न ही किया है. क्या यह सत्य की खोज है या खोज की कब्र खोदी गई है–इस का निर्णय हर बुद्धिमान स्वयमेव कर सकता है.

इसी तरह जब याज्ञवल्क्य ने शाकल्य से एक प्रश्न पूछा, तब भी उसे धमकाया और अज्ञात भय से उसे अभिभूत करने का प्रयास किया:

त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति.

–बृहदारण्यक उपनिषद् 3–9–26

अर्थात हे शाकल्य, तुझ से मैं उस औपनिषद पुरुष के बारे में पूछता हूं; यदि तुम स्पष्टतया नहीं बता सकोगे, तो तुम्हारा मस्तक (सिर) गिर जाएगा.

उपनिषद् में लिखा है कि क्योंकि शाकल्य उस के बारे में नहीं जानता था, अतः वह कुछ भी बता न सका. इस पर उस का सिर गिर गया:

तं ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि
हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यय जह्रुरन्यन्मन्यमाना:

–बृहदारण्यक उपनिषद् 3/9/26

अर्थात किंतु शाकल्य उस का उत्तर नहीं जानता था. इसलिए उस का मस्तक गिर गया. यही नहीं, चोर लोग उस की अस्थियों को कुछ और ही समझ कर चुरा ले गए.

उपनिषद् की इन बेतुकी, असंभव और हास्यास्पद बातों पर मुलम्मा चढ़ाने के प्रयास में कई विद्वानों ने अर्थों को तोड़मरोड़ कर तर्कसंगत बनाना चाहा है. प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान गंगाप्रसाद उपाध्याय ने शतपथ ब्राह्मण के अपने भाष्य में इस स्थल के अर्थ करते हुए लिखा है (स्मरण रहे बृहदारण्यक उप. शतपथ ब्राह्मण के 14 वें कांड का ही एक अंश है):

"मैं तुझ से उपनिषत् वाले पुरुष के विषय में पूछता हूं. यदि तू न बताएगा तो तेरे सिर का पतन हो जाएगा. शाकल्य उस को न समझा और उस के सिर का पतन हो गया. उस का सिर नीचा हो गया और उस को कुछ और समझकर चोर उस की हड्डियों को उठा ले गए (अर्थात वह वहां से खिसक गया.)"

–शतपथब्राह्मण, भाग 3, पृ. 441

सिर (मस्तक) के धड़ से अलग हो कर गिरने की बात को असंभव मान कर उपाध्याय जी ने यहां 'सिर नीचा होना' मुहावरा इस्तेमाल किया है. परंतु वह इस धड़ की हड्डियों के चोरों द्वारा चुराए जाने पर कोई वैदिक परदा नहीं डाल सके. खिसियाकर उन्होंने कोष्ठक में चोरों द्वारा उस की हड्डियों के उठा ले जाने का अर्थ लिखा है–"अर्थात वह वहां से खिसक गया!" वह खिसक गया या नहीं, यह तो निश्चित नहीं; परंतु यह निश्चित है कि स्वयं उपाध्याय जी इस असुविधाजनक स्थिति से अवश्य खिसक गए हैं.

यदि 8वीं 9वीं शताब्दी में शंकराचार्य ने इस उपनिषद् पर अपना भाष्य न लिखा होता तो कई अतीतवादियों ने इस स्थल के मनमाने अर्थ कर के उपनिषद् की कथित महिमा को बचाने के लिए शब्दों के साथ बलात्कार करना था. परंतु शंकरभाष्य की विद्यमानता में क्योंकि ऐसे प्रयासों के ढोल की पोल खुलने का अंदेशा बना रहता है, अतः ज्यादा लोगों ने इस झूठ के मार्ग का अवलंबन नहीं किया है.

शंकराचार्य ने अपने भाष्य में लिखा है:

> तमौपनिषदं पुरुषं शाकल्यो न विज्ञातवान् किल, तस्य ह मूर्धा विपपात विपतितः. किं चापि हास्य परिमोषिणस्तस्करा अस्थीन्यपि संस्कारार्थं शिष्यैर्नीयमानानि गृहान् प्रत्यपजह्रुः अपहृतवन्तः, किन्निमित्तम्? अन्यद् धनं नीयमानं मन्यमानाः.
>
> –बृहदारण्यक उपनिषद् 3-9-26 पर शंकरभाष्य

अर्थात शाकल्य उस औपनिषद पुरुष को नहीं जानता था. अतः उस का मस्तक गिर गया. यही नहीं उस के शिष्यगण जो उस की अस्थियों को संस्कार के लिए घर की ओर ले जा रहे थे, उन्हें लुटेरों ने छीन लिया. क्यों? उन्हें ले जाते देख कर उन्होंने उसे कोई अन्य चीज, धन आदि, समझ लिया था.

शंकराचार्य ने इस विषय में किसी तरह का कोई संदेह न छोड़ते हुए आगे लिखा है:

> अष्टाध्यायां किल शाकल्येन याज्ञवल्क्यस्य समानान्त एव किल संवादो निवृत्तः, तत्र याज्ञवल्क्येन शापो दत्तः–पुरेऽतिथ्ये मरिष्यसि न तेऽस्थीनि चन गृहान् प्राप्स्यन्तीति. स ह तथैव ममार. तस्य हाप्यन्यन्मन्यमानाः परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुः.

अर्थात शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें कांड में, जिस में आठ अध्याय हैं (अष्टाध्यायी), भी शाकल्य के साथ याज्ञवल्क्य का इस तरह के अंत वाला संवाद हुआ है. वहां याज्ञवल्क्य ने उसे शाप दिया है कि 'तू अपवित्र देश में और अपवित्र तिथि को मरेगा तथा तेरी हड्डियां भी घर तक नहीं पहुंचेगी.' वह इसी प्रकार मरा. यहां तक कि अन्य वस्तु समझकर उस की हड्डियों को लुटेरे ले गए.

पाठकगण के लिए यह जानना मनोरंजक सिद्ध होगा कि उपाध्यायजी ने शतपथब्राह्मण के अपने भाष्य में इस स्थल का अर्थ करते हुए लगभग यही कुछ दुहराया है: "याज्ञवल्क्य ने कहा, 'तूने तो देवता के भी पार की बात पूछ ली. अमुक तिथि से पहले मर जाएगा. तेरी हड्डियां भी घर तक न पहुंच सकेंगी.' वह शाकल्य वस्तुतः मर गया और उस की हड्डियों को लोग कुछ और समझकर चुरा ले गए."

–शतपथ ब्राह्मण, भाग 3, पृ. 97

यहां आर्यसमाजी विद्वान ने शंकराचार्य का ही अनुसरण किया है. खेद है कि उन्होंने यहां बिना किसी प्रकार की टिप्पणी किए, इस गप को परम सत्य मान लिया

है. क्या शाप से कोई मर सकता है? क्या शब्द पोटैशियम साइयोनाइड हैं? क्या किसी शापवादी ने कभी किसी अत्याचारी, आक्रमणकारी, बलात्कारी आदि को शाप से मारा है? कितने शकों, हूणों, गजनवियों, गोरियों, बाबरों आदि को इन शाप के परमाणु बमों से आज तक मारा गया है?

यह बड़ी अजीब स्थिति है कि जो आदमी पृष्ठ 97 पर इस गप को ब्रह्मवाक्य मान कर चलता है, वही पृ. 441 पर लीपापोती कर के इसे तर्कसंगत बनाने का प्रयास करता हुआ दिखाई देता है.

उपनिषद् और पुरातनपंथी लोग शाप को वास्तविक चीज समझते हैं. यदि यह एक घातक वास्तविकता है तो प्रश्न उठता है कि क्या एक प्रश्न के उत्तर में शाप दे कर किसी को नष्ट करना, इस बात का परिचायक नहीं है कि उत्तर देने वाला गुंडागर्दी करता है? क्या यह तरीका किसी सत्य के अन्वेषक का हो सकता है? क्या यह स्वतंत्र चिंतन का गला घोंटना नहीं?

यहां तो ऐसा लगता है कि तथाकथित गुरु या उत्तर देने वाले ने यह पहले ही निश्चित कर रखा है कि 'इस' के बाद या इस दायरे के बाहर यदि कोई प्रश्न करे तो उसे नष्ट कर दो. यह अपनी मूढ़ता और अज्ञानता को दादागिरी से छिपा कर अपने ओढ़े हुए तथाकथित सर्वज्ञता के मुखौटे को बनाए रखने की कवायद मात्र है. यह तो ऐसे है जैसे श्रेणी में कोई छात्र अध्यापक से गणित का सवाल समझाने के लिए कहे और वह उस छात्र की इसलिए पिटाई करना शुरू कर दे कि उस ने अति कठिन प्रश्न (अतिप्रश्न) हल करने के लिए अध्यापक से कह दिया है.

यह व्यवहार अध्यापक की महानता का नहीं, उस की अज्ञानता का सूचक है. उसे वह कठिन सवाल हल नहीं करना आ रहा. अब यदि वह छात्र को साफसाफ कह दे कि मुझे यह हल करना नहीं आता तो, उसे लगता है कि सारी श्रेणी यह समझेगी कि मास्टर नालायक है. यदि वह हल करने का नाटक करता रहे तो सवाल हल होगा नहीं. ऐसे में उस की बुद्धिमत्ता उसे बताती है कि कोई बहाना बना कर छात्र को पीटना शुरू कर दो, सारी क्लास आतंकित हो कर चुप हो जाएगी और सवाल हल करने की नौबत ही नहीं आएगी. जो लोग किसी के प्रश्न पर बौखला कर शाप दे कर उसे आतंकित करते थे, वे भी इसी अध्यापक के साथी थे.

प्राचीनकाल में तो ऐसे अध्यापकों की ऐसी चालें चल गईं, परंतु आधुनिक युग में यह सब संभव नहीं. अब या तो अध्यापक को सवाल हल करना होगा, या यह कह कर कि मैं कल इसे समझाऊंगा, समय ले कर इसे हल करना सीखना होगा. जिन प्राचीन अध्यापकों ने शाप दे कर गार्गियों को आतंकित किया, शाकल्यों की हत्या की वे आज हमारे लिए सम्मान के नहीं, घृणा के पात्र हैं.

यदि वे अपनी सीमा को स्वीकार कर लेते और सर्वज्ञता का दंभ न करते तो हमारे यहां दर्शन और विज्ञान में निर्बाध प्रगति होती, सत्य को खोजने का मार्ग प्रशस्त होता और अर्धसत्यों को सत्य के तौर पर स्वीकार कराने के लिए दादागिरी का निंदनीय आश्रय न लेना पड़ता. अगर दुनिया में सर्वत्र याज्ञवल्क्य मार्का लोग ही होते तो आज हम सीढ़ी के पहले डंडे पर ही होते.

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि कई लोग भारतीय संस्कृति की महानता का गुणगान करते हुए यूरोपीय संस्कृति की निंदा किया करते हैं और कहा करते हैं कि हमारे यहां यूरोप की भांति इन्कवीजीशन (यातनागृह) नहीं थे. यहां हर तरह के विचार निर्विरोध पल्लवित व पुष्पित हुए हैं.

काश, यह दावा सच्चा होता! वास्तविकता तो यह है कि यूरोप में विरोधी विचारों वाले जहां यातना सह कर सकुशल इन्कवीजीशन से लौट आते थे और सामान्य नागरिक का जीवन जीते थे, हमारे यहां शाप के द्वारा व्यक्ति का सिर तत्काल धड़ से अलग कर दिया जाता था! उस की हड्डियां तक घर नहीं पहुंचने दी जाती थीं! हम वाकई महान थे, हमारी संस्कृति यूरोपीय संस्कृति की अपेक्षा वाकई श्रेष्ठ थी, क्योंकि हमारे यहां विरोधी को यातना सहन नहीं करनी पड़ती थी. हम सीधे उस के सिर को धड़ से अलग कर के उसे यातनाओं से मुक्त कर देते थे! हमारी संस्कृति दयालु जो है! करुणामय जो है!!

इतना ही नहीं, ब्रह्मज्ञान बेचने के काम में पूरी सौदेबाजी चलती थी. छांदोग्य उपनिषद् में इस माल का भाव बहुत तेज दिखाई पड़ता है. राजा जानश्रुति दाद और खुजली से पीड़ित रहने वाले रैक्व नामक एक ब्रह्मज्ञानी के पास ब्रह्मज्ञान लेने गया. वह अपने साथ 600 गौएं, सोने का एक हार और खच्चरों से जुता एक रथ ले कर गया ताकि इन के विनिमय में वह उसे गुरुमंत्र दे दे. लेकिन माल कम होने के कारण वह उसे लौटा देता है. तब राजा एक हजार गौएं, एक हार, खच्चरों से जुता रथ और अपनी युवा बेटी पेश करता है. तब जा कर ब्रह्मविद्या के सौदागर ने उसे ब्रह्मज्ञान दिया. खुद उपनिषद् के शब्दों में:

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाऽऽजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालपयिष्यथा इति.

—4/2/5

अर्थात उस लड़की के मुख को हाथ में ले कर वह ब्रह्मज्ञानी बोला, 'तुम इन सब को लाए हो. अब मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान देता हूं.'

शंकराचार्य ने इस पर भाष्य करते हुए लिखा है:

तस्या जायार्थमानीताया राज्ञो दुहितुर्हैव मुखं द्वारं विद्याया दाने जानन्नित्यर्थः,
अनेनैव मुखेन विद्याग्रहणतीर्थेनालापयिष्यथा आलापयसीति मां भाणयसीत्यर्थः

अर्थात, पत्नी होने के लिए लाई गई उस राजकन्या के मुख को ही विद्यादान का द्वार जानते हुए रैक्व ने कहा, इस मुख यानी विद्याग्रहण के द्वार से ही तू मुझ से आलाप (संभाषण) कराता है, अर्थात मुझे ब्रह्मज्ञान देने को विवश करता है!

रैक्व जानश्रुति प्रसंग से एक और भी महत्त्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश पड़ता है. वह है—शूद्र शब्द का अर्थ और शूद्रों की स्थिति. रैक्व जानश्रुति को 'शूद्र' कहता है, जबकि वह क्षत्रिय था. इस पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने, शायद सारे भारतीय साहित्य में पहली बार, शूद्र शब्द के अर्थ पर प्रकाश डाला है. उन्होंने लिखा है—

ननु राजासौ. हंसवचनश्रवणाच्छुगेनमाविवेश; तेनासौ शुचा आद्रवतीति...शूद्रेत्याहेति.

–छांदोग्य उपनिषद् 4/3/3 पर शंकरभाष्य

अर्थात वह (जानश्रुति) राजा है. हंस के वचनों को सुन कर उस में शोक का आवेश (प्रवेश) हो गया था. उस शोक से वह द्रवीभूत हो रहा था.

इस से पूर्व शायद शूद्र का शब्दार्थ किसी ने नहीं लिखा था. इस से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शूद्र सदा शोकग्रस्त रहे थे, क्योंकि शूद्र का शब्दार्थ ही यह है कि शूद्र वह जिस में शोक प्रविष्ट हो गया हो. दुनिया में शायद इस तरह का शब्द और इस तरह की दयनीय स्थिति वाले लोग अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है. यह हमारे सामाजिक जीवन और हमारे दार्शनिक चिंतन का कच्चा चिट्ठा है.

कुछ ब्रह्मज्ञानी अपना सौदा बेचने से पूर्व लोगों का समय और उन की शक्ति पर्याप्त मात्रा में नष्ट करते और उन्हें अपने पीछे घुमाया करते थे. फिर कहीं जा कर कथित ब्रह्मज्ञान प्रकट करते थे जो आम प्रचलित थोथी बातों के सिवा कुछ न होता था.

छांदोग्य उपनिषद् (8/12/1-2) में आता है कि इंद्र को प्रजापति ने 100 वर्षों तक टरकाया. इधरउधर की बातों में भरमाया और 100 वर्षों के बाद जब उसे ज्ञान दिया तो वही परंपरागत थोथी बातें:

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना
तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो
वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न ह वै सशरीरस्य
सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं
वाव संतं न प्रियाप्रिये स्पृशतः

–8/12/1

अर्थात हे इंद्र, यह शरीर नाशवान है. आत्मा अज्ञानतावश इसे अपना आप समझने लगती है. इस से उसे सुखदुख महसूस होता है. जब ब्रह्मज्ञान से शरीर और आत्मा को एक समझने की भूल दूर हो जाती है, तब सुख और दुख समाप्त हो जाते हैं.

इस जरा सी बात के लिए इंद्र को 100 वर्षों तक लटकाए रखा गया. इन्हीं कथाओं को सुनासुना कर धर्मगुरु गुरुमंत्र देने के लिए वर्षों भोलेभाले लोगों को अपने पीछे घुमाते हैं और उन का यथासंभव हर प्रकार का शोषण करते हैं तथा बाद में रामराम जपो जैसा कोई थोथा सा वाक्य बोल कर उन्हें गुरुमंत्र दे देते हैं. इंद्र को सौ वर्ष बाद गुरुमंत्र मिला था, लेकिन आजकल के लोगों का अहोभाग्य है कि उन्हें धर्म के उदारमना एकाधिकारी कुछ ही वर्षों में वह परम दुर्लभ तत्त्व दे देते हैं!

ज्ञान के स्रोत

उपनिषदों में ज्ञान के स्रोत भी बहुत ही अजीब किस्म के हैं. कठोपनिषद् का

मुख्य पात्र नचिकेता मृत्यु के देवता यमराज (?) से ब्रह्मविद्या सीख कर आता है. उसे बताया जाता है कि संसार ब्रह्म के अधीन चल रहा है. जो इस रहस्य को जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है.

छांदोग्य उपनिषद् के अध्याय चार में सत्यकाम नामक एक साधक को कभी बैल ब्रह्मज्ञान का उपदेश देता है तो कभी हंस और कभी मुर्गी. बृहदारण्यक उपनिषद् (2/5/16) में घोड़े की गरदन ब्रह्मज्ञान देती है. छांदोग्य उपनिषद् के दूसरे अध्याय के 14वें खंड में उपकोसल नामक एक साधक को अग्नि ने ब्रह्मज्ञान के दोने बांटे. इसी उपनिषद् के बारहवें और तेरहवें खंड में एक सफेद रंग के कुत्ते के साथ मिल कर भौंक रहे कुत्ते के निरर्थक कोलाहल को सस्वर दोहराने का पुण्य बताते हुए कहा गया है कि इस से अन्न की प्राप्ति होती है.

अन्नमिहाहदन्नयते

–छा. उप. 1/12/5

बैल, मुर्गा, हंस और घोड़े जिन के ज्ञान के स्रोत हों और पशुपक्षी जिन के गुरु हों, उन का ज्ञान कैसा होगा? इस पर विशेष टिप्पणी की आवश्यकता नहीं.

उपनिषदकारों को पता था कि वे कितने पानी में हैं. ब्रह्मज्ञान की ऊंचीऊंची बातें करने के बावजूद उन्हें अपनी कमजोरियों का पता था. वे जानते थे कि उन का भंडा आस्तिक और नास्तिक, सहज विश्वासी और बुद्धिवादी दोनों फोड़ेंगे, अतः उन्होंने पूरी होशियारी से प्रतिरक्षात्मक समर नीति अपनाई.

यद्यपि उपनिषदों ने वेदों को निकृष्ट कहा (मु. उ. 1/1/5) है, तथापि सहज विश्वासियों का मुंह बंद करने के लिए, उन के संभावित आक्रमणों को रोकने के लिए, उन्होंने अपने को भी वेदों के साथ ही ईश्वर से पैदा हुए घोषित किया. बृहदारण्यक उपनिषद् का कहना है:

अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः
सामवेदोऽथर्वांगिरसः उपनिषदः

–2/4/10

अर्थात ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, उपनिषद् हैं, वे इस महद्भूत के ही निःश्वास हैं. दूसरे शब्दों में उस परमात्मा से वेदों के साथसाथ उपनिषद् भी उत्पन्न हुए हैं.

यह बात वास्तविकता के सर्वथा विपरीत है. यदि उपनिषद् वास्तव में सृष्टि के आरंभ में ईश्वर द्वारा रचे गए होते तो उन में भूतकालिक क्रियाएं न होतीं, क्योंकि सृष्टि के आरंभ में भूतकाल हो ही नहीं सकता था. दूसरे, सृष्टि के आरंभ में परमात्मा भूतकालिक राजाओं और ब्रह्मज्ञानियों की ओर संकेत नहीं कर सकता था. तीसरे, यदि ये एक ही सर्वज्ञ ईश्वर की रचना होते तो इन में स्थानस्थान पर परस्पर विरोधी बातें न होतीं. चौथे, उपनिषदों के ईश्वररचित होने की घोषणा करने के पश्चात भी उपनिषद रचे जाते रहे हैं और उन की संख्या पूर्वोद्धृत उक्ति से पहले रचे गए

उपनिषदों की अपेक्षा बहुत ज्यादा है. उन की रचना 20वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक होती रही है और उन में से कइयों के लेखकों के नाम तक प्रसिद्ध हैं. ऐसे में उपनिषदों को ईश्वररचित कहना बिलकुल आधारहीन और असत्य है.

उपनिषद्कारों को सब से ज्यादा भय बुद्धिवादियों से था. उन्हें उपनिषदों को ईश्वर की रचना कह कर संतुष्ट नहीं किया जा सकता था. उन का मुकाबला करने के लिए उपनिषदों ने पहले ही उन पर हमला कर दिया और घोषणा कर दी कि बुद्धिवादी लोग ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के अयोग्य हैं. वे उस तक पहुंच ही नहीं सकते, जब तक कि वे बुद्धि अथवा तर्क का साथ नहीं छोड़ते. उपनिषदों की इस संबंध में कुछ घोषणाएं देखिए:

नैषा तर्केण मतिरापनेया

–कठ. 1/2/9

अर्थात तर्क द्वारा उस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त नहीं किया जा सकता.

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन.

–मुंडक 3/2/3

अर्थात इस ब्रह्म/आत्मा को प्रवचनों, बुद्धि और ज्यादा ज्ञान से व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता.

इस तरह की घोषणाओं का परिणाम यह हुआ कि लोग अज्ञान को गुण समझ कर, बुद्धि से घृणा करने लगे और ब्रह्मज्ञान के अंधकार में संतुष्ट रहने लगे. यही कारण है कि हमारे यहां एक अच्छे पढ़ेलिखे की अपेक्षा एक अनपढ़ ब्रह्मज्ञानी और धर्मगुरु को ज्यादा प्रामाणिक माना जाता है, और तर्क करने वाले को बददिमाग, नास्तिक और रूहानी बातें समझने के अयोग्य करार दिया जाता है.

फासिज्म के जनक

जिस देश में सदियों से स्वतंत्र तौर पर सोचने को निंदनीय अवगुण कहा जाता रहा हो, अज्ञान में खुश रहने को परमानंद कहा गया हो और कुछ लोगों के सहीगलत उद्‌गारों को आंखें बंद कर के स्वीकार करने का उपदेश दिया गया हो, वहां, जैसा कि भारत के एक महान बुद्धिवादी विद्वान एम.एन. राय ने कहा है, "अधिनायकवाद के दोनों रूपों–निरंकुश शासन और फासिज्म–में से एक अवश्य उपजता है."

राय ने अपनी पुस्तक 'फासिज्मः इट्स फिलासफी एंड प्रैक्टिस' में यह बात सप्रमाण सिद्ध की है कि उपनिषदों की इन शिक्षाओं के कारण भारत में सदियों से निरंकुश राजेरजवाड़े हुए और उन्हीं की बदौलत जरमनी में फासिज्म जन्मा; क्योंकि इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि फासिज्म का जन्मदाता नीत्शे अपने गुरु शापनहावर की तरह उपनिषदों से बेहद प्रभावित था. उस ने उपनिषदों के ब्रह्मज्ञानी से ही अपना अतिमानव का सिद्धांत लिया. दोनों के स्वभाव समान हैं, दोनों ही की बातों को आंखें बंद कर के मानने के लिए कहा गया है, दोनों ही तर्क से ऊपर कहे गए हैं, दोनों ही का दावा है कि उन्हें प्रेरणा अतिमानवीय स्रोतों से मिलती है.

उपनिषदों में यद्यपि सर्वत्र ब्रह्म के व्याप्त होने की बातें की गई हैं, तथापि उपनिषद्कार भेदभावपूर्ण व्यवहार को छोड़ नहीं सके. छांदोग्य उपनिषद् का कहना है:

> इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वान्तेवासिने. नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इति
>
> –छा.उ. 3/11/5-6

अर्थात ब्रह्मज्ञान पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र को दे या किसी बहुत विश्वासपात्र शिष्य को, अन्य किसी को न दे, चाहे वह कोई भी हो, चाहे वह समुद्र से घिरी सारी पृथ्वी को धन से ढक कर भेंट कर रहा हो.

इस में स्पष्ट तौर पर भेदभाव का उपदेश है. यह भारत के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ. जिस का ज्येष्ठ पुत्र न हो या कोई भी पुत्र न हो, वह अपना ज्ञान किसे दे? संभव है किसी का कोई विश्वासपात्र शिष्य न हो या गुरु शक्की स्वभाव के कारण किसी पर विश्वास न करता हो. यदि विश्वासपात्र शिष्य हो भी परंतु ज्ञान प्राप्ति के बाद उस की मृत्यु हो जाए, तब ज्ञान देने वाला क्या करे? दोनों स्थितियों में वह अपना ज्ञान अपने साथ ही ले कर मर जाएगा. ऐसा हुआ भी है. स्मृतियों और नीति संबंधी पुस्तकों में ऐसे श्लोक हैं जिन में कहा गया है कि यदि अधिकारी शिष्य न हो तो विद्वान को चाहिए कि वह किसी अयोग्य को ज्ञान देने की अपेक्षा उसे साथ ले कर ही मर जाए.

इस तरह के विधान ज्ञान पर एकाधिकार बनाए रखने के लिए किए गए. ज्येष्ठ पुत्र को ज्ञान देने का कारण है कि प्राचीन भारत में ज्येष्ठ पुत्र ही पिता के बाद संयुक्त परिवार का मुखिया बनता था. अतः यह पिता द्वारा अपना एकाधिकार अपने परिवार के भावी मुखिया को सौंपने का विधान मात्र है.

सिर्फ विश्वासपात्र शिष्य को ज्ञान देने का अर्थ भी यही है कि वह सीमित लोगों में ही रहे, क्योंकि ज्ञान के सर्वजनसुलभ होने से उस की महत्ता न रहेगी. दूसरे लोग उस की असलियत से परिचित हो जाएंगे. ज्ञानी व्यक्ति अपने पुत्रों के गुरु भी प्राचीन काल में बहुधा स्वयं ही हुआ करते थे. अतः घूमफिर कर विश्वासपात्र शिष्य ज्येष्ठ पुत्र ही होता था.

कुछ तो ज्ञान के इस एकाधिकार को बनाए रखने के प्रयासों के फलस्वरूप उस (ज्ञान) पर रहस्यमयता की धुंध चढ़ी और कुछ उपनिषद्कारों के इस तरह के कथनों से कि वे ईश्वररचित हैं व ईश्वरवचन हैं. इस दोहरे रहस्यमय आवरण ने भारतीय दर्शन के स्वतंत्र विकास को अवरुद्ध किया. आगे के बड़ेबड़े कुशाग्रबुद्धि विद्वान और दार्शनिक अपने मौलिक चिंतन को इन्हीं उपनिषदों के चौखटे में फिट करने के प्रयास में लगे रहे ताकि उन के विचारों को ईश्वर वचनों के विरुद्ध कह कर त्याग न दिया जाए.

इसीलिए प्रमुख दार्शनिक संप्रदायों के आचार्यों ने उपनिषदों के परस्पर विरोधी भाष्य लिखे. सब अपने को उपनिषद्सम्मत बनाने के प्रयास में अपने ढंग

के भाष्य लिखने में मग्न रहे. परवर्ती दार्शनिक दूरदूर की कड़ियां मिला कर अपने को उपनिषदों के अनुकूल ढालते रहे. इस देश की प्रतिभा का इन उपनिषदों ने कितना अपकार किया इस का अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है.

उपनिषदों में, जैसा कि प्रसिद्ध जर्मन विद्वान विंटरनित्स ने कहा है, भारतीय विचारधारा में निराशावाद के लक्षण सर्वप्रथम प्रकट हुए हैं, जो परवर्ती भारतीय साहित्य में पगपग पर दृष्टिगोचर होता है (विंटरनित्स कृत भारतीय साहित्य का इतिहास (हिंदी संस्करण) भाग 1, खंड 1, पृ. 196).

रामधारी सिंह 'दिनकर' का कहना है कि मोक्ष का सिद्धांत निरूपित करने में बारबार जीवन की दुखपूर्णता की चर्चा की गई, इसलिए समाज में एक प्रकार का निराशावाद फैलने लगा और लोग जीवन में उस उत्साह को खोने लगे, जो वेदकालीन भारतवासियों की विशेषता थी. उपनिषदों ने संन्यास और वैराग्य की भावना को भी प्रेरित किया.

अतएव, पहले जहां लोग सांसारिक सुखों के भोग के लिए डटकर परिश्रम करने में आनंद मानते थे, वहां अब वे गृहस्थाश्रम को छोड़कर, असमय ही, वैराग्य और संन्यास लेने लगे. (संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 98) और संन्यास, जैसा कि स्वामी विवेकानंद जैसे संन्यासी ने भी माना है, सभी सुयोग्य व्यक्तियों को समाज से अलग कर देता है.

उपनिषदों में तथाकथित ज्ञान की इतनी ज्यादा प्रशंसा की गई कि वह भौतिक आनंदों की उपेक्षा तक सीमित न रह कर सांसारिक जीवन के प्रति घृणा के रूप में परिवर्तित हो गई, क्योंकि जितने जोर से ब्रह्मज्ञान/ब्रह्मानंद की प्रशंसा हुई, उतने ही जोर से संसार की वस्तुएं नाशवान और निस्सार प्रतीत हुईं. बाद के दर्शन कुछ तो उपनिषद्मूलक थे और कुछ को अपना संबंध उन से मजबूरी में जोड़ना पड़ा. अतः उन सब में उपनिषदों की निराशावादिता व्याप्त है.

आस्तिक कहे जाने वाले वे दर्शन, जो उपनिषदों से प्रेरणा लेते हैं, निराशावाद पर खड़े हैं. इतना ही नहीं उपनिषदों की निराशावादिता वातावरण में इतनी घनी थी कि वह जैन और बौद्ध जैसे उन नास्तिक मतों में भी संक्रमित हुई जिन्होंने उपनिषदों से न केवल कोई संबंध नहीं जोड़ा, बल्कि उन का कई सैद्धांतिक मतभेदों के कारण खंडन भी किया.

इसलिए 'दिनकर' ने लिखा है कि संन्यास, पलायनवाद आदि का दायित्व जैन व बौद्ध मतों के मत्थे मढ़ना उचित नहीं, क्योंकि 'संन्यास, मोक्ष और निवृत्ति की भावना तो उपनिषदों में ही प्रकट होने लगी थी.' (संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 42)

जब सिर्फ हवाई ज्ञान पर बल दिया जाए और उसी अनुपात में संसार के प्रति घृणा का भाव प्रज्वलित किया जाए तथा भिक्षा मांग कर खाने को श्रेष्ठ घोषित किया जाए तब संसार के सुचारु रूप में चलने के लिए किन्हीं नियमों को बनाने व निश्चित करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती. ऐसे में नैतिकताअनैतिकता में भी कुछ भेद

नहीं रह जाता. यही कारण है कि उपनिषदों में नैतिकता की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है.

तैत्तिरीय उपनिषद् (1/11) में ब्रह्मज्ञान को प्राप्त न हुए साधारण व्यक्ति के लिए नैतिकता का पैमाना ब्राह्मणों को घोषित किया गया है.

> अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्
> ये तत्र ब्राह्मणा: संमर्शिन: युक्ता: आयुक्ता: अलूक्षा धर्मकामा: स्यु:,
> यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथा:. एष आदेश: एष उपदेश:,
> एषा वेदोपनिषत्, एतदनुशासनम्, एवमुपासितव्यम् एवमु चैतदुपास्यम्.
> –तैत्तिरीय उप. 1/11/3–4

अर्थात जब तुम्हें किसी कर्म या आचार व्यवहार के विषय में संदेह हो, तब जो वहां धर्म करने में प्रवृत्त या किसी प्रेरणा से धर्म कार्य करने वाले, निर्दयता रहित, धार्मिक और सम्यक् विचार करने में समर्थ ब्राह्मण हों, उन की ओर देखो. वे वहां जैसा व्यवहार करते हों, तुम भी वैसा ही व्यवहार करो. यही हमारा उपदेश हैं, यही वेदों का रहस्य है, यही हमारी शिक्षा है. ऐसा ही आचरण करना चाहिए और ऐसा ही उचित है.

नैतिक व अनैतिक व्यवहार, जानने का यह पैमाना बहुत घटिया और अपूर्ण है, क्योंकि यह एक जाति विशेष के आचरण को सर्वोच्च आदर्श बताता है. यह कथन उपनिषदों पर ब्राह्मणों के एकाधिकार का सूचक है. दूसरे लोग तो ब्राह्मण जाति के आचरण का अनुकरण कर अपने को सही मार्ग पर लाएं, परंतु खुद ब्राह्मणों के आचरण की नैतिकताअनैतिकता की कसौटी क्या है? इस बात का क्या प्रमाण है कि ब्राह्मणों का आचरण हमेशा नैतिक ही होगा? क्या उपनिषदों ने इस प्रकार ब्राह्मणों को हर सही गलत काम करने का लाइसेंस नहीं दे दिया?

इसी कारण ब्राह्मण नरमेध करते रहे, शूद्रों से अमानवीय व्यवहार का आदेश देते रहे, दासों का व्यापार करवाते रहे, दूसरी जातियों से यज्ञ करवाते रहे, दूसरी जातियों से दानदक्षिणा के नाम पर धन खींचते रहे, परंतु लोग इसे आदर्श आचरण मान कर चलते रहे, उन का अनुकरण करते रहे. इस सब का कारण उपनिषदों की ब्राह्मणों को नैतिकता के एकाधिकारी घोषित करने वाली एकांगी शिक्षा में निहित प्रतीत होता है.

नैतिकता जरूरी नहीं

यहीं बस नहीं, उपनिषदों ने इस से भी आगे बढ़ कर बात की है. उन्होंने ब्रह्मज्ञानी को अच्छेबुरे सब प्रकार के काम करने की एकदम स्वतंत्रता दे दी है. इसे स्वतंत्रता न कह कर यदि यह कहा जाए कि यह मनमानी करने का अबाधित अधिकार (लाइसेंस) है तो ज्यादा उपयुक्त होगा. मुंडक उपनिषद् का कथन है:

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः.
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे.

–मु.उ. 2/2/8

अर्थात जब ब्रह्मज्ञान हो जाता है, तब हृदय की गांठें खुल जाती हैं. बुद्धि के संदेह मिट जाते हैं और किए गए कामों के अच्छे व बुरे प्रभाव नष्ट हो जाते हैं.

इसी उपनिषद् में आगे कहा गया है:

यदा पश्यः पश्यते ब्रह्मयोनिम्,
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति

–3/1/3

अर्थात जब व्यक्ति को ब्रह्मा के भी आदिकारण के दर्शन हो जाते हैं, तब वह पुण्य और पाप को छोड़ कर आगे बढ़ जाता है, वह अच्छेबुरे में निर्लेप हो जाता है और परम समता को प्राप्त होता है.

कौषीतकि उपनिषद् का कथन है:

यो मां विजानीयान्नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन न पितृवधेन
न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं च न चकृषो मुखान्नीलं वेत्तीति

–कौ उप. 3/1

अर्थात जो मुझे जान लेता है, ऐसे ज्ञानी पुरुष को मातृहत्या, पितृहत्या अथवा भ्रूणहत्या आदि पाप नहीं लगते. उसे कोई महापाप नहीं सताता. वह किसी पाप का भागी नहीं होता. पाप की प्रवृत्ति जागृत होने पर भी उस के मुख से नीलापन नहीं झलकता अर्थात उस का मुख मन में बुरे विचार उठने पर भी विवर्ण नहीं होता.

इसे प्रामाणिक बनाने के लिए इसी जगह इंद्र अपना उदाहरण दे कर बताता है कि मैंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के बाद कई हत्याएं की, लेकिन मेरा बाल भी बांका नहीं हुआ.

मां विजानीयात् त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमवाङ्मुखान् यतीन् सालावृकेम्यः
प्रायच्छं बह्वीः संधा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीनतृणवहमन्तरिक्षे
पौलोमान् पृथिव्यां कालकाश्यांस्तस्य मे तत्र न लोम च नामीयते.

–कौ. उप. 3/1

अर्थात मुझ इंद्र ने विश्वकर्मा के पुत्र त्रिशिर का वज्र से वध कर दिया, अनेक नीचे मुख किए संन्यासियों को मारकाट कर भेड़ियों के आगे डाल दिया और अनेक बार प्रह्लाद, पुलोमी और कालकश के लोगों को नष्ट कर दिया, लेकिन मेरा बाल भी बांका नहीं हुआ.

इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष पापपुण्य व विभिन्न उचित अनुचित दृश्यों को देखता है परंतु पाप पुण्य उसे छूते नहीं.

सुकृतदुष्कृते सर्वाणि न द्वन्द्वानि स एष विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्मविद्वान्

–कौ. उप. 1/4

कठोपनिषद् में ब्रह्मज्ञानी को धर्म और अधर्म से तथा अच्छे और बुरे से परे कहा गया है.

अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मात्

–कठो. 1/2/14

ईश उपनिषद् का कहना है कि ब्रह्मज्ञानी कोई भी काम करे, वह उस से लिप्त नहीं होता:

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे (2)

इस प्रकार किए जाने वाले कर्म मनुष्य को लिप्त नहीं करते. यही बात छांदोग्य (8/4/1) उपनिषद में भी कही गई है.

इस तरह ब्रह्मज्ञानी को सही गलत काम करने की उपनिषदों ने छूट दे रखी है. ऐसे में उपनिषदों व उन के आदर्श पुरुषों अर्थात ब्रह्मज्ञानियों से नैतिकता की क्या आशा की जा सकती है? दूसरे, उपनिषद् का कहना है कि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है. जब असल में परमात्मा ही मनुष्य के माध्यम से काम करने वाला हो, तब वहां नाचीज (अकिंचन) मानव संबंधी नैतिकता का दखल कैसा? क्योंकि मनुष्य तो वैसे ही उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है.

इसीलिए तो उपनिषदों व वेदांत के परम आचार्य शंकराचार्य ने कहा है:

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः?

अर्थात जो ब्रह्मज्ञानी त्रिगुणों से ऊपर उठ जाते हैं उन के लिए विधि और निषेध अर्थात करणीय और अकरणीय–'डूज एंड डू नाटस'–का क्या अर्थ?)

उपनिषद् : आत्मज्ञान या शब्दजाल

उपनिषद् वैदिक साहित्य में वेदों के बाद महत्त्व की दृष्टि से दूसरे या तीसरे नंबर पर आते हैं. यों तो खुद वेदों में ही उपनिषद् समाए हुए हैं. यजुर्वेद का 40वां अध्याय ईशावास्य उपनिषद् कहलाता है, जिसे प्रथम उपनिषद् माना जाता है.

बाद के दर्शनकारों ने तो उपनिषदों को वेदों से भी ऊपर माना है. यही कारण है कि उन के ग्रंथों में वेदमंत्र तो कहींकहीं ही मिलता है, परंतु उपनिषद् वाक्य पदपद पर उल्लिखित हैं. उपनिषदों को भारतीय दर्शन के मूलग्रंथ कहा जाता है, जिन से सारा भारतीय (हिंदू) दर्शन निकला, तथापि इन का अपना कोई नियोजित और स्पष्ट दर्शन नहीं है.

कई उपनिषद् परस्पर असंबद्ध और परस्पर विरोधी कथनों के संग्रह हैं. देवदत्त शास्त्री के शब्दों में, 'हर उपनिषद् में अपना खंडन अपने आप किया गया है. एक उपनिषद् किसी एक विषय पर कुछ कहती है और दूसरी कुछ. प्रत्येक उपनिषद् एकदूसरे से सैद्धांतिक विरोध रखती है.' (उपनिषद् चिंतन, पृ. 126).

कई उपनिषदों से तो ऐसा लगता है कि उन के अज्ञात लेखकों का उद्देश्य कोई पुस्तक लिखना नहीं था. ये तो उन की डायरियां या नोटबुक मात्र थीं, जिन में समयसमय पर उन्होंने, कालांतर में अपनी स्मृति के लिए, अपने व दूसरे लोगों के विचार बिना किसी पूर्वापर संबंध के अंकित किए हों.

यही कारण है कि इन में से अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवाद जैसे कई परस्पर विरोधी दार्शनिक संप्रदाय निकले. प्रत्येक संप्रदाय के आचार्य ने अपने भाष्य में अपने अभीष्ट सिद्धांत को प्रतिपादित करने वाले वाक्यों को प्रधानता देते हुए कहा कि अन्य विचार उपनिषद्कारों ने खंडन के उद्देश्य से पूर्वपक्ष के रूप में रखे थे और जिस सिद्धांत का हम समर्थन करते हैं उसे उन्होंने उत्तरपक्ष यानी अपने सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया था. अतः यही उपनिषदों का वास्तविक सिद्धांत है. सभी दार्शनिक संप्रदायों ने उपनिषदों की इसी कमजोरी का लाभ उठा कर अपनी पैठ जमाई.

संक्षेप में उपनिषदों का दर्शन है: परमात्मा (ब्रह्म) द्वारा जगत रचा गया. आत्मा पिछले जन्मों के कर्मों के फलों को पाने के लिए जगत में आती है. अज्ञान दूर होने पर कर्मबंधन नष्ट हो जाते हैं और उसे आत्मसाक्षात्कार हो जाता है. तब ब्रह्म को जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है. व्यक्ति का मोक्ष हो जाता है. मोक्ष के बाद उसे जगत में पुनः नहीं आना पड़ता.

आत्मा, परमात्मा और जगत इन तीनों के पारस्परिक संबंधों और प्रत्येक के गुण व स्वभाव को ले कर जो विभिन्न और परस्परविरोधी कथन उपनिषदों में मिलते हैं, उन से अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, त्रैतवाद आदि जनमे.

आत्मा का स्वरूप

आत्मा उपनिषदों का केंद्रीय तत्त्व है. यह परमात्मा और जगत के बीच का संपर्क सूत्र है. उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्म को जान लेने के बाद सब कुछ ज्ञात हो जाता है. उपनिषद् ऐसे ही तथाकथित सर्वज्ञ ब्रह्मवेत्ताओं की रचनाएं कहे जाते हैं. लेकिन ब्रह्म को जानने के बाद सब कुछ ज्ञात हो जाने का सिद्धांत थोथी, डींग मात्र प्रतीत होता है. एक ही ब्रह्म को सब के प्राप्त होने पर सब एक जैसे ही 'सर्वज्ञ' होने चाहिए, सब का ज्ञान एक समान होना चाहिए. लेकिन एक 'ब्रह्मज्ञानी' का ज्ञान दूसरे से मेल नहीं खाता. प्रत्येक ब्रह्मज्ञानी आत्मा के विषय में सब कुछ जानने का दावा करते हुए अपनी ही हांक रहा है.

कठोपनिषद्कार कहता है:

अंगुष्ठमात्र: आत्मा

–2/6/17

अर्थात आत्मा अंगूठे के आकार की है.

श्वेताश्वतर उपनिषद् का ब्रह्मज्ञानी कहता है:

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च. भागो जीव: स विज्ञेय:

–5/9

अर्थात बाल के अगले भाग का जो सौवां हिस्सा है, उस के सौवें भाग के समान जीवात्मा है.

छांदोग्य उपनिषद् का ब्रह्मज्ञानी कहता है:

एष म आत्मांतर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा
श्यामाकाद्वा श्यामाकतंडुलाद्वा एष म आत्मांतर्हृदये ज्यायान्
पृथिव्या ज्यायानंतरिक्षात् ज्यायांदिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य:

–3/14/3

अर्थात यह आत्मा चावल, जौ, सरसों और सावां चावल के दाने से छोटी है. यह आत्मा पृथ्वी, अंतरिक्ष और दूसरे लोकों से बड़ी है.

मुंडकोपनिषद् का ब्रह्मज्ञानी कहता है:

"एषोऽणुरात्मा"

–3/1/9

अर्थात यह आत्मा अणु है.

तैत्तिरीय उपनिषद् का ब्रह्मज्ञानी कहता है:

'रेतसः पुरुषः'

—2/1/1

अर्थात वीर्य से आत्मा उपजी.

आत्मा के स्वरूप संबंधी पूर्वोक्त वाक्य 'सर्वज्ञों' द्वारा कहे गए हैं. इन में से कौन सा गलत है और कौन सा सही और क्यों? इन प्रश्नों का उत्तर किसी उपनिषद् में नहीं. जो चीज अणु है, वह अंगूठे जितनी कैसे हो गई? जो चीज बाल के अगले हिस्से के सौवें भाग के पुनः सौवें भाग के समान है, वह पृथ्वी और अंतरिक्ष से भी बड़ी कैसे हो गई? जो छोटी से बड़ी बनती है, यह विकारग्रस्त होती है, जो विकारग्रस्त होती है वह न नित्य हो सकती है, न शाश्वत. स्पष्ट है कि उपनिषद्कार इस विषय में स्वयं निश्चित नहीं हैं.

हर एक ने बिना किसी आधार और प्रमाण के अपनीअपनी हांकी है.

उपनिषदों में आत्मा को अमर, अजर, सदा रहने वाली के साथसाथ अजन्मा भी कहा गया है:

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्,
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे.
हंता चेन्मन्यते हंतुं हतश्चेन्मन्यते हतम्,
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते.

—कठ उप. 1/2/18-19

अर्थात आत्मा न उत्पन्न होती है, न मरती है. यह न तो किसी अन्य कारण से उत्पन्न होती है और न स्वतः ही कुछ बनी है. यह अजन्मा, नित्य (सदा से वर्तमान), शाश्वत (सर्वदा रहने वाली) और पुरातन है. यह शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं नहीं मरती. यदि मारने वाला अपने को आत्मा को मारने में समर्थ मानता है और यदि मारा जाने वाला अपने को मरा हुआ समझता है तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते क्योंकि यह आत्मा न तो मारती है और न मरती है.

यही श्लोक गीता (2/20,19) में अक्षरशः दोहराए गए हैं और आज तक के सारे आत्मवादी हिंदू ग्रंथों में उद्धृत हुए हैं, यद्यपि इन में एक ही अर्थ के वाचक शब्द इकट्ठे करने से पुनरुक्ति दोष है. परंतु इन से आत्मवादी लोग भावनाओं में इतने बहे कि किसी को इन्हें संशोधित करने तक का खयाल नहीं आया.

यह बहुत दिलचस्प बात है कि किसी भी उपनिषद् में आत्मा को अजरअमर सिद्ध करने के लिए कोई दलील या आधार नहीं बताया गया. उपनिषद्कार उसे स्वयंसिद्ध मान कर चले हैं, जबकि यह उन की अज्ञानजन्य तरंग के अतिरिक्त और कुछ नहीं, क्योंकि आज तक कोई भी वैज्ञानिक और बुद्धिवादी ढंग से अजर, अमर, शरीर से भिन्न और पुनर्जन्म लेने वाली आत्मा को सिद्ध नहीं कर सका है.

अजन्मा का जन्म

आत्मा को यद्यपि अजन्मा कहा है, तथापि कुछ उपनिषदों में इसे वीर्य से उत्पन्न

भी बताया गया है. जो चीज किसी अन्य से उपजती है, वह तो सदैव नहीं बनी रह सकती. जिस की उत्पत्ति होती है, उस का विनाश अवश्य होता है. अतः वीर्य से उत्पन्न होने के कारण आत्मा किसी भी तरह अमर नहीं रह सकती. जब वह अमर नहीं, तब न अगलेपिछले जन्मों के कर्मों के फल भुगतने की नौबत आ सकती है और न पुनर्जन्म की.

दूसरे उपनिषदों में आत्मा को बुढ़ापे, मृत्यु, शोक और पुण्यपाप से अछूती रहने वाली बताया गया है. छांदोग्य उपनिषद् (8/4/1) में कहा गया है:

अथ य आत्मा...न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे
पाप्मानोऽतो निवर्त्ततेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः

अर्थात आत्मा के पास बुढ़ापा और मृत्यु नहीं पहुंच सकती. उसे मानसिक संताप (शोक) नहीं होता और पुण्यपाप उस का स्पर्श नहीं कर सकते. उस के समीप से सकल पाप उसे स्पर्श किए बिना ही लौट जाते हैं क्योंकि वह पापरहित है और ब्रह्मलोक पापशून्य है.

आत्मा पर जब किसी भी अच्छे या बुरे काम का असर नहीं होता, तब आत्मा एक के बाद एक नया शरीर 'पूर्व जन्म' के कर्मों का फल भोगने के लिए कैसे धारण कर सकती है? यदि क्षण भर के लिए यह मान भी लिया जाए कि आत्मा एक के बाद एक नया शरीर धारण करती है, तब भी यह किसी भी हालत में सिद्ध नहीं हो सकता कि वह नया शरीर उसे पिछले जन्मों के कर्मों के फलों को भोगने के लिए मिलता है क्योंकि जिस पर अच्छा या बुरा किसी भी प्रकार का असर नहीं होता, वह न अच्छेबुरे कर्मों का फल भोग सकती है और न अच्छा बुरा कोई काम ही कर सकती है. अकारण पुनर्जन्म यदि असंभव है तो कर्मफल भोगने के लिए अनावश्यक है. दोनों ही तरह पुनर्जन्म असिद्ध है.

जब आत्मा अलिप्त है, तब कर्मों का कर्ता शरीर ही रह जाता है. उस शरीर के कर्मों का फल अकर्ता आत्मा को कैसे दिया जा सकता है? जब एक शरीर मर जाता है, उसे जला या दफना दिया जाता है, तब उस के कर्मों का फल भोगने की बात ही नहीं रह जाती. ऐसे में उस व्यक्ति का कर्मफल भोगने के लिए पुनर्जन्म सिद्ध ही नहीं होता.

जब आत्मा कर्मों से अलिप्त है, तब वह बंधन में कैसे पड़ सकती है? जो बंधन में पड़ ही नहीं सकता उस के मुक्त होने की बात ही व्यर्थ है. जब आत्मा स्वभावतः अबंध्य है, तब उस के मोक्ष के लिए ब्रह्मज्ञान या परमात्मा के दर्शन या आत्मसाक्षात्कार की जरूरत ही कहां है?

उपनिषदों के पक्षधर कहते हैं कि आत्मा अज्ञानता के कारण शरीर से अपनी अभिन्नता स्थापित कर लेती है, अतः शरीर द्वारा किए गए काम को अपने द्वारा किया गया समझती है. इसी के परिणामस्वरूप उसे उन कर्मों का फल भोगने के लिए जन्मांतरों में घूमना पड़ता है.

इस बात को कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता. क्योंकि जब

आत्मा वास्तव में कर्म करती ही नहीं, तब उसे उन के फल कैसे दिए जा सकते हैं? कर्मों के फल देने की व्यवस्था सर्वज्ञ परमात्मा के अधीन बताई जाती है. (श्वेताश्वतर उप. 6/11).

जब 'सर्वज्ञ परमात्मा' यह पूर्णतः जानता है कि आत्मा ने यह काम वस्तुतः किया ही नहीं है, बल्कि शरीर ने किया है, चाहे आत्मा अज्ञानतावश यह समझती भी हो कि उस ने काम किया है; तब वह आत्मा को क्यों और कैसे फल दे सकता है? क्या सर्वज्ञ परमात्मा इतना नासमझ और बेवकूफ है कि वह अकर्ता आत्मा को उस द्वारा न किए गए कर्मों का फल यह जानते हुए भी देगा कि आत्मा अकर्ता है और वह प्रत्येक अच्छे व बुरे कर्मफल से सदा अछूती, अतएव अदंड्य भी है?

यदि परमात्मा अकर्ता आत्मा को शरीर द्वारा किए कर्मों के लिए दंड देता है तो इस का मतलब है कि या तो वह सर्वज्ञ नहीं, वह असलियत नहीं जानता या फिर वह न्यायकारी न हो कर तरंगी और लहरी है, जो मनमानी करता है. वह तटस्थ नहीं और जो तटस्थ नहीं, वह खुद कर्मचक्र में है और जो कर्मचक्र में है वह संसार का शासक नहीं हो सकता. इस तरह वह परमात्मा ही नहीं रहता.

अनर्गल प्रलाप

कुछ उपनिषदों ने आत्मा को परमात्मा से उसी तरह उपजी बताया है जिस तरह आग से चिनगारियां उपजती हैं (मुंडकोपनिषद् 2/1/1, श्वेताश्वतर उप. 4/10) जो उपजता है, वह नष्ट अवश्य होता है. जो नाशवान है वह अजर, अमर नहीं हो सकता और न ही उस का पुनर्जन्म ले कर कर्मफल भोगना संभव है.

दूसरे, यदि आत्मा परमात्मा का अंश है, तब तो वह भी उस की तरह सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप और अलिप्त होगी. ऐसे में आत्मा अज्ञान में पड़ ही नहीं सकती और न ही अज्ञान के वशीभूत हो कर अपने को शरीर से अभिन्न मान सकती है. तब उस के द्वारा न शरीर कृत कर्मों को अपने द्वारा किए हुए मानने की गुंजाइश रह जाती है और न पुनर्जन्म की.

इस सब के बावजूद उपनिषद् पुनर्जन्म मानते हैं. लगता है कि उपनिषद्कारों ने ये बातें अज्ञान के आवेश में कही हैं, न कि बुद्धिपूर्वक. इसीलिए ये सत्य न हो कर परस्परविरोधी और अधूरी हैं. एक जगह आत्मा को अजन्मा कहा है तो दूसरी जगह वीर्य से उपजी और तीसरी जगह परमात्मा से उत्पन्न. एक ओर इसे नित्य, शाश्वत आदि कहा गया है तो दूसरी ओर उसे उत्पन्न हुई होने के कारण परोक्षतः नाशवान माना गया है. निस्संदेह यह सब अटकलपच्चू है, निरी तुक्केबाजी.

जब आत्मा नाशवान है और वह किसी अगलेपिछले कर्म का फल भोगने के लिए पुनर्जन्म ले ही नहीं सकती, तब यह कहना कि परमात्मा ने आत्माओं को उन के कर्मों के फल देने के लिए संसार की रचना की, बिलकुल गलत है.

यदि आत्मा वास्तव में अजरअमर है तो फिर मुंडक, श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों के ब्रह्मज्ञानियों को झूठा मानना पड़ेगा. दोनों प्रकार के परस्परविरोधी कथनों के वक्ता सही नहीं हो सकते.

आत्मा की प्राप्ति क्यों?

यद्यपि उपनिषदों का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति के अंदर आत्मा विद्यमान है और सारा ज्ञान उसे ही होता है, तथापि वे आत्मा को प्राप्त करने के तरीकों की चर्चा करते हैं. समझ नहीं आता कि जब आत्मा हमारे अंदर पहले से ही है तो दोबारा उसे प्राप्त करने का क्या मतलब है और क्या लाभ है?

आत्मज्ञान के साधन

मुंडकोपनिषद् आत्मा की प्राप्ति के साधनों की चर्चा करते हुए लिखता है:

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन.
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्.

–मुंडक. 3/2/3 एवं कठ उप. 1/2/23

अर्थात यह आत्मा शास्त्रों के पढ़ने से, बुद्धि से या बहुश्रुत (बहुत ज्ञान) होने से प्राप्त नहीं होती, बल्कि वह उसे प्राप्त होती है जिसे वह खुद छांट कर स्वीकार कर लेती है. उस चुने हुए व्यक्ति के आगे वह अपना स्वरूप प्रकाशित करती है.

यहां साफ तौर पर सब साधनों को नकार दिया गया है और प्रयत्नहीनता का उपदेश देते हुए कहा गया है कि आत्मा उसे ही मिलती है, जिसे वह अपना स्वरूप प्रकट करने के लिए स्वयं चुन लेती है. शेष सब चाहने वालों के प्रयत्न एकदम निष्प्रयोजन और व्यर्थ हैं.

इसी मुंडकोपनिषद् में फिर साधनों की उपयोगिता का प्रतिपादन किया गया है:

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्.
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम.

–3/2/4

अर्थात यह आत्मा बलहीन, प्रमादी और तपस्वी से प्राप्त नहीं की जा सकती. इन उपायों में जो विद्वान यत्नशील होता है, उस की आत्मा ब्रह्म के धाम में प्रवेश करती है.

यहां यत्नशील के ब्रह्मधाम में प्रवेश की बात है. लेकिन पूरे कथन का कोई अर्थ नहीं बनता. पहले तो कहा है कि बलहीन, प्रमादी और तपस्वी से आत्मा प्राप्त नहीं की जा सकती. फिर कह दिया है, 'जो इन उपायों से यत्नशील होता है, वह ब्रह्मधाम पहुंच जाता है.' इस से व्यक्ति कौन सा साधन अपनाए? क्या प्रमाद, निर्बलता और तपस्या का? कुछ स्पष्ट नहीं.

अज्ञानता में कही गई बातें

इसी उपनिषद् में अन्यत्र (3/1/9) कहा गया है कि आत्मा को चित्त से प्राप्त करना चाहिए 'आत्मा चेतसा वेदितव्यः'.

इतने परस्परविरोधी कथनों वाली पुस्तकें किसी भी तरह दर्शनशास्त्र के सम्मानित पद की अधिकारिणी नहीं हो सकतीं. ये तो अव्यवस्थित बुद्धि वाले लोगों की निर्बल बातों के संग्रह से ज्यादा महत्त्व की प्रतीत नहीं होतीं.

इसी तरह के परस्परविरोधों को देख कर देवदत्तशास्त्री ने लिखा है: "उपनिषद् भी पुराणों की भांति भानुमती का पिटारा बना दिए गए. जिस के जी में जो आया, वही उस ने निबद्ध कर दिया....इस तरह से हर उपनिषद् में अपना खंडन अपनेआप किया गया है" (उपनिषद् चिंतन, पृ., 124-26).

उपरिलिखित उपनिषद् वाक्यों में एक प्रश्न जो बहुत महत्त्वपूर्ण है, जो उभर कर सामने आता है वह यह है कि जब सारा ज्ञान आत्मा ही धारण करती है, तब आत्मज्ञान की प्राप्ति किसे होगी? उपर्युक्त साधनों से आत्मज्ञान प्राप्त कौन करे? आत्मा खुद आत्मा का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकती है? एक आदमी अपने ही कंधे पर कैसे चढ़ कर बैठ सकता है?

आत्मा का ज्ञान तो आत्मा से भिन्न ही कोई प्राप्त कर सकता है और ऐसे किसी 'भिन्न' की उपनिषदों में कोई सत्ता नहीं है. अतः आत्मा के ज्ञान का प्राप्तकर्ता जब तक कोई अन्य नहीं है, तब तक आत्मा की प्राप्ति के साधन और उपदेश ऐसे ही हैं जैसे मुरगी ने अंडे दिए ही न हों और कोई उन्हें गिनने लग जाए.

परस्पर विरोधी कथन

मुंडक उपनिषद् (3/2/3) का कहना है कि 'जिसे' आत्मा चुनती है, उसी के सामने अपना स्वरूप प्रकट करती है. शेष चाहने वालों के प्रयत्न व्यर्थ हैं. इस का क्या अर्थ है? वह 'जिसे' कौन है? 'ज्ञानप्राप्ति' करने वाला कौन है?

कठ उपनिषद् का कहना है कि निष्काम पुरुष अपनी इंद्रियों के प्रसाद से आत्मा की उस महिमा को देखता है और शोकरहित हो जाता है:

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः

–1/2/20

जब आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञाता है ही नहीं, तब यह देखने वाला कौन है जो आत्मा की महिमा को देखता है? जब इंद्रियां और यहां तक कि मन भी आत्मा तक नहीं पहुंच सकते (तैत्तिरीय उप. 2/4) तब इंद्रियों की सहायता से आत्मा की महिमा देखने का क्या अर्थ है? किसे कहां और क्यों देखना है?

इन प्रश्नों का उत्तर देना तो एक ओर रहा, उपनिषद्कार तो इन प्रश्नों तक को नहीं सोच सके.

यद्यपि आत्मा, परमात्मा और जगत के विषय में उपनिषद्कारों के विभिन्न और परस्पर विरोधी मत हैं तथापि परमतत्त्व (ब्रह्म) की प्राप्ति सब का लक्ष्य रही है. ब्रह्म प्राप्ति की ललक में उपनिषद्कारों ने निद्रा और मृत्यु का आह्वान किया. उन की ओर भारतीय जनता को प्रेरित किया क्योंकि उन का कथन था कि आत्मा निद्रा की स्थिति

में नाशवान संसार और मृत्यु को पार कर जाती है. तब उसे अपनी अमरता का आभास होता है.

योऽयं विज्ञानमय: पुरुष: स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि

–बृहदा. 4/3/7

अर्थात यह जो आत्मा है, वह निद्रा अवस्था में इस संसार और मृत्यु के सब रूपों के पार चली जाती है.

समाधि या बेहोशी

इस तरह के शास्त्रीय निर्देशों ने भारत की जनता को निद्रा से प्यार करने की प्रेरणा दी. इस के लिए 'समाधि' के द्वारा काल्पनिक निद्रा पैदा करने की कोशिशें की गईं. इसी से भारत में तांत्रिक मत पैदा हुआ, जिस ने शराब आदि मादक द्रव्यों द्वारा वैसी स्थिति पैदा करने के प्रयत्न किए. आज के कई भगवान और 'महर्षि' समाधि की उस स्थिति तक पहुंचने का सुगम व स्वल्प मार्ग एल.एस.डी. को बताते हैं.

जो लोग गहन निद्रा प्राप्त कर के अपनी चेतना को पूर्णतया नष्ट करने को ही जीवन का उच्चतम लक्ष्य स्वीकारते हों, वे अवश्य इस से आगे बढ़ कर मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर होंगे और बृहदारण्यक उपनिषद् में यह बात कही भी गई है–

"स वा अयं पुरुषो जायमान: शरीरमभिसंपद्यमान: पाप्मभि:
संसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाण: पाप्मनो विजहाति."

–4/3/8

अर्थात जन्म लेते ही व्यक्ति पापों और बुराइयों से घिर जाता है, मृत्यु के समय वह इन्हें छोड़ कर आगे बढ़ जाता है.

मृत्यु ही मोक्ष

निद्रा की अवस्था में आत्मा अस्थायी तौर पर संसार और मृत्यु को पार करती है तथा मृत्यु की स्थिति में और भी ज्यादा आगे निकल जाती है. इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् (4/4/12) का कथन है कि आत्मा को जान लेने के बाद शरीर की ओर ध्यान देने या शरीर का खयाल रखने की क्या जरूरत है?

आत्मानं चेद् विजानीयाद् अयं अस्मीति पूरुष:
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्.

यह लोगों को आत्मघात की प्रेरणा देने से कम नहीं. यदि इस तरह के उपदेश ज्ञान हैं तो फिर अज्ञान किसे कहते हैं? चेतना के नाश को उच्चतम ज्ञान की स्थिति कहना उपनिषदों की एक घातक शिक्षा है.

भारत में आध्यात्मिकता का व्यापार करने वाले अर्वाचीन भगवान और आधुनिक

महर्षि उपनिषदों के इसी शिल्प के मुताबिक चल रहे हैं. वे निद्रा लाने और चेतना नष्ट करने के लिए आधुनिकतम उपकरणों का प्रयोग करते हैं. यदि वे लोग और उन की पद्धति निंद्य है तो फिर उन की प्रेरणा के मूल स्रोत उपनिषद् प्रशंसास्पद कैसे?

उपनिषद् पुनर्जन्म के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं, लेकिन जो व्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है उस के विषय में उन का मत है:

अथ मर्त्योऽमृतो भवति (कठ. 2//6/15). **अर्थात आदमी अमर हो जाता है.**

न च पुनरावर्तते (छां. उ. 3/8/15/1). **अर्थात उस का पुनर्जन्म नहीं होता.**

अमृताः भवंति (केन उप. 3/5). **अर्थात ब्रह्मवेत्ता अमर हो जाते हैं.**

तेषां न पुनरावृत्तिः (बृहदा. 6/2/15). **उन का संसार में फिर आना नहीं होता.**

यज्ज्ञात्वा मुच्यते जंतुरमृतत्वं च गच्छति (कठ. उप. 2/6/8) **अर्थात ब्रह्म को जान लेने सें आत्मा का छुटकारा हो जाता है और अमरता की प्राप्ति होती है.**

ये वाक्य लुभावनी नारेबाजी के सिवा कुछ नहीं. ये लोगों को ब्रह्मज्ञानियों द्वारा अपने 'ब्रह्मज्ञान' के प्रति आकृष्ट करने के लिए की गई इश्तिहारबाजी मात्र प्रतीत होते हैं. इन में वास्तविकता का नामोनिशान तक नहीं क्योंकि जब पुनर्जन्म का होना ही निश्चित नहीं, तब उस से छुटकारा दिलवाने के वादे क्या अर्थ रखते हैं? क्या कोई वस्तु मृत्युरहित हो सकती है? हर बनी वस्तु का टूटना अनिवार्य है. फिर मृत्युरहित स्थिति तक पहुंचाने की बातें क्या महज सब्जबाग दिखाना नहीं? आज तक इन उपनिषदों के ज्ञान ने कितने व्यक्ति 'मृत्युरहित' बनाए हैं? क्या वे लोग स्वयं मृत्यु से बच सके, जिन्होंने इन उपनिषदों के ब्रह्म का साक्षात्कार करने का दावा किया था और इन्हें रचा था? जब वे स्वयं ही मृत्यु के चंगुल से न बच सके, तब उन के द्वारा रचे गए ग्रंथों को पढ़ने व पूज्य ठहराने से अमरता की आशा क्या दुराशामात्र नहीं?

दूसरे, यदि क्षणभर के लिए आत्मावादियों की तरह यह मान भी लिया जाए कि आत्मा को अच्छे कर्मों के फलस्वरूप कुछ रिआयत मिलती है, तब भी यह मानना बिलकुल गलत है कि उसे सदा के लिए जन्ममरण से छुट्टी मिल सकती है क्योंकि नियम यह है कि जिस का आदि है, उस का अंत अवश्य होगा. जिस समय किसी आत्मा को मोक्ष प्राप्त होता है, तब उस मोक्ष की शुरुआत होती है. अतः मोक्ष अनंत काल के लिए नहीं हो सकता.

मोक्ष को अनंत मानने से तो खुद आत्मावादियों के इस सिद्धांत का खंडन हो जाएगा कि दुनिया अनादि और अनंत है तथा परमात्मा सर्वशक्तिमान है. यदि धीरेधीरे सब आत्माएं अच्छे काम कर के अनंत काल के लिए जन्ममरण से छूट जाएं तो एक दिन ऐसा अवश्य आएगा जब परमात्मा के पास दुनिया में लाने के लिए कोई आत्मा ही नहीं बचेगी. उस के बाद सदा के लिए दुनिया समाप्त हो जाएगी. तब दुनिया अनंत नहीं रह पाएगी. इस के बाद परमात्मा कभी दुनिया न बना पाएगा. इस से परमात्मा सर्वशक्तिमान नहीं रहेगा.

यदि यह कहा जाए कि परमात्मा और आत्माएं बना लेगा तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जो पैदा होगा, वह नष्ट अवश्य होगा. जिन आत्माओं को परमात्मा पैदा करेगा, वे अमर नहीं होंगी, वे भी एक दिन नष्ट हो जाएंगी.

ऐसे में उपनिषदों का 'सदा के लिए मोक्ष' का सिद्धांत स्वयं आत्मा और परमात्मा पर उलटा पड़ता है. यही कारण है कि आर्यसमाज दूसरे हिंदुओं के विपरीत मोक्ष को अस्थायी मानता है और उपनिषदों के सिद्धांत का स्पष्ट तौर पर खंडन करता है. (देखें 'सत्यार्थ प्रकाश' नवम समुल्लास)

ऊपर उद्धृत वाक्यों से एक महत्त्वपूर्ण बात यह सिद्ध होती है कि आत्मा स्वभावतः अमर नहीं है. यदि वह स्वभावतः अमर होती तो ये 'सर्वज्ञ ब्रह्मज्ञानी' यह क्यों कहते कि ब्रह्म को प्राप्त कर के आत्मा अमर हो जाती है? यदि वह पहले से ही अमर है तो उसे ब्रह्मप्राप्ति के पश्चात अमरता प्राप्त होने का क्या अर्थ है? दोनों में से एक 'सर्वज्ञ' ब्रह्मज्ञानी अवश्य गलत है.

वैसे आत्मा नामक कोई अमर वस्तु है ही नहीं. यही व्यवहार और विज्ञान से सिद्ध है. अतः स्वभाव से ही आत्मा को अमर मानने वाले ब्रह्मज्ञानी तो स्पष्टतः गलत हैं.

रही बात उन की, जो 'ब्रह्मप्राप्ति' के बाद अमरता प्राप्त होने की बात करते हैं. जो अमरता सादि है (एक समय विशेष पर उत्पन्न होगी) वह सांत होगी (उस का अंत अवश्य होगा). ऐसे में अमरता हो ही नहीं सकती.

उसे अमरता कहना सरासर गलत है. इस प्रकार दोनों ब्रह्मवादियों के मत गलत सिद्ध होते हैं.

इधर कुछ उपनिषदों ने तो स्पष्ट तौर पर यह घोषणा की है कि आत्मा ब्रह्म को प्राप्त कर ही नहीं सकती. ऐसे उपनिषदों में स्वयं कठोपनिषद् भी है, जो एक जगह ब्रह्म को प्राप्त करने वाले को अमर बताता है. प्रस्तुत हैं कुछ स्थलः

न च तस्यास्ति वेत्ता (श्वेताश्वतर 3/19). **अर्थात ब्रह्म को कोई जान नहीं सकता.**

यतो वाचो निवर्तंते अप्राप्य मनसा सह (तैत्तिरीय 2/4). **अर्थात ब्रह्म तक न वाणी की पहुंच है और न मन की.**

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा (कठ. 2/6/12). **अर्थात ब्रह्म वाणी, मन और आंख से प्राप्त नहीं किया जा सकता.**

अधूरी व अस्पष्ट बातें

यदि उसे प्राप्त किया ही नहीं जा सकता, तब उसे प्राप्त करने के लिए बारबार उपदेश देने का ही क्या अर्थ रह जाता है? फिर यह कहना कि ब्रह्म को प्राप्त कर के आत्मा, अमर हो जाती है, उस का पुनर्जन्म नहीं होता, क्या कोरा झूठ नहीं? जब आत्मा, उपनिषदों के अनुसार, पहले से ही अमर है, तब ब्रह्मज्ञान के पश्चात वह दोबारा अमर कैसे हो जाएगी?

उपनिषदों की ऐसी ही परस्परविरोधी, अधूरी और अस्पष्ट बातों को देख कर आम आदमी घबरा उठता है और भयभीत हो कर यह मानने लगता है कि यह ज्ञान बहुत उच्च कोटि का है, मेरी समझ से बाहर का है और सिर झुका कर उन्हें पूजने लग जाता है. उधर पेशेवर लोग यह प्रचार करते नहीं थकते कि ऐसा उच्च ज्ञान तो गुरुमुख से ही सीखना चाहिए. यह पुस्तकों को पढ़ने से प्राप्त नहीं हो सकता. इस के

कारण आम आदमी फिर इस या उस साधुसंन्यासी को गुरु बना कर उस से मुंडने लगता है.

उपनिषद्कारों ने मन व मस्तिष्क के बारे में अधूरे ज्ञान के कारण पहले तो बिना किसी आधार के आत्मा की कल्पना कर ली, फिर उस का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस में उलझ गए, जिस तरह मकड़ी पहले जाला बुन लेती है और बाद में उस में स्वयमेव उलझ जाती है. वह जाले से तब तक मुक्त नहीं हो सकती जब तक कि जाले को नष्ट नहीं कर दिया जाता. इसी प्रकार उपनिषदों के आत्मज्ञान के जाले से तब तक मुक्त नहीं हुआ जा सकता जब तक व्यक्ति बुद्धिवाद के द्वारा आत्मा के विचार को समूल नष्ट नहीं कर देता.

पहले पहल तो उपनिषद्कार निस्संदेह मकड़ी की तरह की अपनी कल्पना के जाले में फंसे, परंतु शीघ्र ही यह उन के लिए स्वार्थ सिद्ध करने का साधन बन गया. छांदोग्य उपनिषद् में आता है कि कैसे एक आत्मज्ञानी एक हजार गायों, एक हार, खच्चरों से जुते रथ और एक कुंआरी युवती के बदले अपना ज्ञान जानश्रुति राजा को बताता है (4/2/2).

देवदत्तशास्त्री ने इस की चर्चा करते हुए लिखा है, "कन्या का सुंदर मुंह देख कर ऋषि के मुंह में पानी आ गया और बोले, शूद्र, यह भेंट उचित है. इस कन्या के मुखकमल की बदौलत तू मेरा उपदेश प्राप्त कर सकेगा." (उपनिषद् चिंतन, पृ. 121).

बृहदारण्यक उपनिषद् का याज्ञवल्क्य ऐसे ही एक सौदे में एक हजार गाएं और दस हजार सुवर्ण मोहरें प्राप्त करता है (देखें अ. 3).

छांदोग्य उपनिषद् (8/12/1-2) में प्रजापति एक सौ वर्ष तक इंद्र को अपने पीछे घुमाता रहता है.

इसीलिए महापंडित राहुल सांकृत्यायन का कहना है कि यह ज्ञान पुरोहित वर्ग के लिए (उपनिषद् काल में इस में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों शामिल थे) पहले के जीविका के साधनों की अपेक्षा ज्यादा मजबूत साधन था. (दर्शनदिग्दर्शन, पृ. 476).

इस जाल में हर ऐसे व्यक्ति के फंस जाने की संभावना थी जो आत्मा को मान कर चलता. उसे एक बार मान लेने पर उस के 'ज्ञान' में उलझ जाना तो बिलकुल आसान व स्वाभाविक था, शतप्रतिशत अपेक्षित था. इस में केवल वह व्यक्ति नहीं फंस सकता था, जो दिमाग से काम लेने वाला था, जो तर्कवितर्क कर सकता था. अतः आत्मज्ञान के सौदागरों ने पहले ही यह घोषणा करनी शुरू कर दी कि यह ज्ञान तर्क से प्राप्त नहीं हो सकता. इसे तो गुरु के प्रति श्रद्धा (अंधश्रद्धा?) से ही प्राप्त किया जा सकता है.

नैषा तर्केण मतिरापनेया (कठ. उप. 1-2-9) **अर्थात तर्क द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता.**

नायमात्मा प्रवचनेनलभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन. (मुंडक उप. 3/2/3). **अर्थात यह आत्मज्ञान प्रवचनों, बुद्धि और ज्यादा अध्ययन व ज्ञान आदि से प्राप्त नहीं हो सकता.**

इस तरह की घोषणाओं से लोग अज्ञान को गुण समझ कर बुद्धि से घृणा करने लगे और आत्मज्ञान के घोर अंधकार में ही संतुष्ट रहने लगे. यही कारण है कि आज भी एक अच्छे पढ़ेलिखे एवं सुसंस्कृत व्यक्ति की उपेक्षा एक अनपढ़, गंवार और अस्वस्थ मन वाला तथाकथित आत्मज्ञानी ज्यादा प्रामाणिक और सम्मान का पात्र समझा जाता है तथा तर्क करने वाला 'नास्तिक' एवं रूहानी बातें समझने के 'अयोग्य' समझा जाता है.

तर्क और बुद्धिवाद के डर के कारण ही इस साहित्य को उपनिषद् अर्थात बिलकुल पास बैठा कर दिया जाने वाला ज्ञान कहा गया है. उपनिषद् का अर्थ 'रहस्य' भी है. इस ज्ञान को रहस्यमय बनाया गया और इस बात का पूरा ध्यान रखा गया कि यह रहस्य ही रहे. केवल उसी के पास जाए, जिस से भंडा फूटने का किसी प्रकार का खतरा न हो. छांदोग्य उपनिषद् का कहना है,

> इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्, प्रणाय्याय वांतेवासिने. नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूयः
>
> –छांदोग्य उप. 3/11/5–6

अर्थात यह ज्ञान पिता या तो अपने ज्येष्ठ पुत्र को दे या किसी बहुत ज्यादा विश्वासपात्र शिष्य को. अन्य किसी को न दे, चाहे वह बदले में सारी पृथ्वी को धन से ढक कर दे रहा हो या उस से भी ज्यादा धन दे रहा हो.

इस का गूढ़ार्थ है. ज्येष्ठ पुत्र पिता के बाद परिवार का मुखिया बनता था. अतः पिता की विद्या का भंडा फोड़ कर वह अपने परिवार के भरणपोषण की समस्या पैदा नहीं कर सकता था. विश्वासपात्र शिष्य को भी इसीलिए यह शिक्षा दी जाती थी कि वह भी इसे रहस्य बनाए रखेगा. जिस से इस का भंडा फूटने की संभावना हो, उसे इसे किसी भी कीमत पर नहीं देना चाहिए.

आत्मज्ञान न केवल आजीविका का अच्छा साधन था, बल्कि इसे सब प्रकार के कानूनी दायरे से भी मुक्त घोषित किया गया. आत्मज्ञानी चाहे कुछ भी करे, वह कानून से ऊपर था. कौषीतकि उपनिषद् कहता है, "मैं ने प्रजापति के तीन सिर वाले पुत्र विश्वरूप का वध किया. नीचे को मुख किए हुए यतियों को मैं ने टुकड़ेटुकड़े कर के भेड़ियों के आगे डाल दिया. अनेक बार प्रह्लाद, पुलोम और कालकाश्य लोगों को नष्ट किया, परंतु मेरा एक रोम भी बांका नहीं हुआ. इस प्रकार मुझे जान लेने पर ज्ञाता का पुण्यलोक अक्षुण्ण रहता है. जो मेरे रूप को जानता है, उसे मातृवध, पितृवध, चोरी और गर्भ गिराने का पाप नहीं लगता (उस समय भी गर्भपात पाप था) और न पाप प्रवृत्ति के उत्पन्न होने पर उस के मुख से नीलापन झलकता है:

> मामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात् त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमवाड मुखान्यतीं–सालवृक्षेभ्यः प्रायच्छं बह्वीः संधा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीनतृणमहममंतरिक्षे पौलान् पृथिव्यां कालकाश्यांस्तस्य मे तत्र न लोम च नामीयते. स यो मां विजानीयान्नास्य

केन च कर्मणा लोको मीयते ने मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पांप च न चकृषो मुखान्नीलं वेत्तीति.

–कौ. उप. 3/1

इस तरह स्पष्ट है कि आत्मज्ञान के नाम पर अच्छी आजीविका के साथसाथ विशेषाधिकारों का भी आनंद उठाया गया, जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले में फंसी मक्खियों से आराम के साथ पेटपूजा करती है. उपनिषद् ज्ञान की अपेक्षा उलझाव और अज्ञान ही ज्यादा फैलाते हैं, एवं इन की शिक्षाएं लाभकारी होने की अपेक्षा हानिप्रद ही ज्यादा हैं.

रामायण की ऐतिहासिकता

जब कभी हमारे पूर्वजों के इतिहास बोध की बात चलती है तो प्रायः वाल्मीकि रामायण को इतिहास ग्रंथ के तौर पर पेश किया जाता है और यह स्थापित करने की कोशिश की जाती है कि प्राचीन भारतीयों का इतिहास बोध बहुत स्पष्ट था.

लेकिन जब हम रामायण को उठाते हैं तो वहां कुछ और ही दिखाई पड़ता है. रामायण के लेखक ने रामायण की प्रकृति का कई स्थलों पर उल्लेख किया है. उस ने इसे कहीं भी 'इतिहास' नहीं कहा. इस प्रसंग में रामायण के शुरू और अंत के कुछ स्थल यहां प्रस्तुत हैं:

न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति

–बालकांड, 2/35

अर्थात ब्रह्मा ने वाल्मीकि से कहा, तुम्हारे काव्य में कुछ भी झूठा नहीं होगा.

कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम्

–वही. 2/41

वाल्मीकि ने कहा, मैं संपूर्ण रामायण काव्य की रचना करूंगा.

आदिकाव्यमिदं त्वार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्.

–उत्तर कांड, 111/16

अर्थात यह वही आदिकाव्य है, जिसे पहले वाल्मीकि ने रचा.

नित्यं शृण्वन्ति संहृष्टाः काव्यं रामायणं दिवि

–उत्तर कांड, 111/3

अर्थात वे प्रसन्न हो कर स्वर्ग में नित्य रामायण काव्य को सुनते हैं.

स्कंद पुराण में रामायण का पांच अध्यायों में माहात्म्य गाया गया है. उस में भी पदपद पर इसे 'काव्य' अथवा 'महाकाव्य' ही कहा गया है:

रामायणं महाकाव्यं सर्ववेदेषु सम्मतम्.

–उत्तर खंड, रामायण माहात्म्य 1/19

अर्थात रामायण महाकाव्य सब वेदों के अनुकूल है.

श्रुत्वैतदार्षं दिव्यं हि काव्यं शुद्धिमवाप्नुयात्

–वही, 22

अर्थात इस ऋषि प्रणीत काव्य को सुन कर व्यक्ति शुद्ध हो जाता है.

रामायणं नाम परं तु काव्यम्

–वही, 27

अर्थात रामायण नामक परम काव्य है.

श्रुत्वा चैतन् महाकाव्यम्

–वही, 5/54

अर्थात इस रामायण महाकाव्य को सुन कर.

रामायणमादिकाव्यम्

–वही, 5/61

अर्थात रामायण आदि काव्य है.

इन अंत:प्रमाणों और बहिर्साक्ष्यों से स्पष्ट है कि रामायण को न उस के रचयिता ने इतिहास माना और न रामायणभक्तों ने. सब ने एक स्वर से इसे काव्य कहा है.

क्या रामायण कल्पना है?

प्रश्न उठता है कि क्या रामायण शत प्रतिशत कल्पना है? क्या यह ऐतिहासिक काव्य नहीं है? जब अयोध्या आदि स्थान आज तक मिलते हैं, तब यह कल्पना कैसे हो सकती है?

हमारा निवेदन है कि रामायण मूल रूप में संभवत: बहुत छोटी सी ऐतिहासिक घटना थी–दशरथ के राजमहलों के अंदर एक षड्यंत्र हुआ. राम, सीता और लक्ष्मण कुछ समय तक वनों में रहे. वहां उन्हें कई लड़ाइयां लड़नी पड़ीं. अंत में उन का पैतृक राजसिंहासन पर अधिकार हो गया. पतिपत्नी में जुदाई हो गई. इतनी बात ऐतिहासिक हो सकती है. इस बात का जो बतंगड़ बनाया गया, वह लगभग सारी की सारी कल्पना है.

रामायण ऐतिहासिक काव्य भी नहीं, क्योंकि ऐतिहासिक तथ्य का बेसिरपैर का बतंगड़ ऐतिहासिक काव्य नहीं होता. ऐतिहासिक काव्य में इतिहास के पिंजर पर वास्तविकता का या कम से कम संभवता का रक्तमांस चढ़ा कर उसे सजीव बनाया जाता है, न कि उस पर कपोलकल्पनाओं को लपेट कर उसे मनमरजी से ढाला जाता है. रामायण में यही दूसरी स्थिति दिखाई पड़ती है.

इस में 60 हजार वर्ष की उमर में दशरथ के पुत्र पैदा होते हैं. वे भी हवनकुंड से पैदा हुए एक व्यक्ति द्वारा दी गई खीर खाने से गर्भवती हुई रानियों से (बालकांड, सर्ग 16). राम की पत्नी सीता खेतों में शाकसब्जी की तरह उगती है (सर्ग 66). राजा सगर की एक रानी 60 हजार पुत्रों को जन्म देती है (सर्ग 38). अहल्या नामक एक

नारी हजारों वर्षों तक केवल हवा खा कर जीवित रहती है (सर्ग 48). एक गाय पल भर में हर इच्छित वस्तु उपस्थित कर देती है. रंभाने मात्र से पहलवों, शकों, कांबोजों तथा यवनों की सेनाएं पैदा कर देती है (सर्ग 54). राम 11 हजार वर्ष राज्य करते हैं (सर्ग 97). 5 हजार वर्ष का व्यक्ति वहां अभी लड़कपन में है (उत्तर कांड, सर्ग 73).

जटायु नामक गीध संस्कृत में प्रश्नोत्तर करता है (अरण्यकांड). एक बंदर 8 सौ मील चौड़े समुद्र को एक छलांग में फांद जाता है (सुंदरकांड). 10 सिरों वाला व्यक्ति राज करता है. रामरावण युद्ध में मरने वाले वानर और रीछ शाम को फिर जीवित हो जाते हैं (युद्धकांड, सर्ग 120). कुंभकर्ण पैदा होते ही कई हजार लोगों को खा जाता है (युद्धकांड, सर्ग 61). ऋषि अगस्त्य के आगे निर्जीव विंध्याचल पर्वत सिर झुका देता है (अरण्यकांड, सर्ग 11). राम अकेले ही 72 मिनटों से भी कम समय में युद्धभूमि में 14 हजार शूरवीर राक्षसों को धनुषबाण से मार गिराते हैं (अरण्यकांड, सर्ग 30). केसरी की पत्नी अंजना हवा के चलने मात्र से गर्भवती हो जाती है (उत्तरकांड, सर्ग 35).

एक वानर का बच्चा कई लाख मील अंतरिक्ष में ऊपर जाता है और सूर्य को आराम से ऐसे पकड़ लेता है मानो गुलाब का फूल हो (उत्तरकांड, सर्ग 35). राजा ययाति अपने पुत्र से उस का यौवन ले लेता है और कई वर्षों के बाद उसे लौटा देता है, मानो यह चोला हो (उत्तरकांड, सर्ग 59). शंबूक नामक तपस्वी का कत्ल करने पर एक मृत ब्राह्मणपुत्र जीवित हो जाता है (उत्तरकांड, सर्ग 76).

ये कुछ मुख्य स्थल गिनाए गए हैं. ऐसे सभी स्थलों को गिनाना सारी रामायण की विस्तृत विषयसूची बनाने के समान है, क्योंकि ऐसे स्थल हर सर्ग में हैं और कई जगह तो हर श्लोक में हैं.

इतनी असंभाव्य और अयथार्थ बातों से लबालब भरे काव्यग्रंथ को ऐतिहासिक काव्य कैसे कहा जा सकता है? क्या अयोध्या आदि कुछ स्थलों के उल्लेख मात्र से ये सारी बेसिरपैर की कल्पनाएं ऐतिहासिक बन जाएंगी?

रामायण की घटना का समय

रामायण की मूल घटना त्रेतायुग में घटित हुई बताई जाती है यानी आज से 12 लाख 96 हजार वर्ष पूर्व. लेकिन रामायण में उल्लिखित अयोध्या आदि वे स्थान इन निराधार पुरातनपंथी बातें करने वालों के लिए गलफांस सिद्ध हो रहे हैं, जिन से वे इसे इतिहास ग्रंथ सिद्ध करना चाहते हैं.

रामायण में अयोध्या के अतिरिक्त अन्य अनेक स्थानों का भी उल्लेख है, जैसे शृंगवेरपुर, जहां तक राम आदि अयोध्या से रथ में बैठ कर गए थे और जहां से सुमंत्र रथ ले कर लौट आया था; भारद्वाज आश्रम, जहां राम आदि पहुंचे थे और जहां राम को मना कर वापस लाने के लिए चला हुआ भरत भी सेना सहित रुका था; नंदिग्राम, जहां राम की पादुकाओं (खड़ाऊं) को सिंहासन पर बैठा कर भरत अयोध्या का

राजप्रबंध देखता था; चित्रकूट, जहां राम आदि ने वनवास का बहुत सा समय बिताया था.

ये पांचों स्थल आज विद्यमान हैं. इन स्थानों की पुरातत्त्व विभाग ने काफी खुदाई भी की है. डाक्टर वी.वी.लाल 'रामायण से संबद्ध स्थलों का पुरातत्त्व' योजना के अधीन रामायण से संबद्ध स्थलों की 1975 से खुदाई करवा रहे हैं. इस काम में 'इंडियन इंस्टिट्यूट आफ एडवांस स्टडीज, शिमला' (जिस के वे निदेशक हैं) और आरकिओलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' दोनों सहयोग कर रहे हैं.

अयोध्या

डा. लाल ने 1975, 1976-77 और 1979-80 में अयोध्या के जन्मभूमि प्रदेश, हनुमानगढ़ी, सीता की रसोई, नल टीला, कौशल्या घाट आदि 14 अलगअलग स्थानों की खुदाई करवाई. सब तरह के परीक्षणों के बाद वे इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि सारी खुदाई के दौरान ऐसा कुछ भी नहीं मिला जो 'उत्तरी काले मृत्पात्रों के युग' से पहले का हो. यह युग ईसापूर्व 7वीं 8वीं शताब्दी के शुरू तक जाता है, जब रंजित, धूसर मृत्पात्रों का प्रयोग पूरी तरह बंद हो गया था.

स्पष्ट है कि ईसापूर्व 7वीं 8वीं शताब्दी से पहले अयोध्या कहा जाने वाला स्थान कभी आबाद नहीं हुआ था. यह पहली बार गौतम बुद्ध से कोई सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले ही आबाद हुआ.

शृंगवेरपुर

जिस शृंगवेरपुर में निषादराज ने राम आदि को गंगा पार करवाई थी, उस में 1976-77 से हर मौसम के दौरान खुदाई हुई है. 1984 के फरवरीमार्च में भी खुदाई चल रही थी, ऐसा डा. लाल के 27 मार्च को लेखक को लिखे एक पत्र से स्पष्ट होता है.

इस स्थान पर 'उत्तरी काले मृत्पात्रों' से पहले के दो युगों के बरतन मिले हैं–गेरुए मृत्पात्र और कलछौंहे मृत्पात्र, लेकिन ये दोनों भी 11वीं शताब्दी ईसापूर्व से पहले के नहीं हैं. डा. लाल का कहना है कि कार्बन-14 (कार्बन के रेडियोसक्रिय अणु को जीववैज्ञानिक अध्ययनों में खोजी तत्त्व के तौर पर प्रयुक्त करना) और थर्मोलुमिनेसेंस (तपाए जाने पर तपे पदार्थ से निकलने वाले प्रकाश से पदार्थ की आयु का निर्णय) से पता चलता है कि गेरुए बरतन 11वीं शताब्दी ईसापूर्व के हैं और कलछौंहे बरतन 10वीं शताब्दी ईसापूर्व के मध्य के.

भारद्वाज आश्रम

यह इलाहाबाद में आनंद भवन के निकट स्थित है. यहां राम आदि और ससैन्य भरत कुछ समय के लिए ठहरे थे. यहां कलछौंहे बरतनों के साथ उत्तरी काले मृत्पात्र मिले हैं, जो डा. लाल के अनुसार इस बात के प्रमाण हैं कि जब यह आबाद हुआ, तब कलछौंहे बरतनों के युग का अंतिम चरण था और उत्तरी काले मृत्पात्रों के युग

का प्रारंभ था. यह समय ईसा पूर्व नौवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध था.

नंदिग्राम

यह स्थान अयोध्या के दक्षिण में 10-12 किलोमीटर की दूरी पर है. यह भरतकुंड के बिलकुल निकट है. इस से थोड़ी दूरी पर तमसा नदी के दक्षिण में एक टीला है जो 'रहेत' (रिहायश) कहलाता है. इस की खुदाई से पता चलता है कि यह भी 'उत्तरी काले मृत्पात्रों' के युग से पहले अर्थात, 7वीं 8वीं शताब्दी ईसापूर्व से पहले आबाद नहीं हुआ था.

चित्रकूट

यद्यपि यहां की योजनाबद्ध ढंग से खुदाई नहीं हुई है, तथापि जो थोड़ी बहुत हुई है, उस में उत्तरी काले मृत्पात्र और कलछौंहे मृत्पात्र मिले हैं, जो इस के 7वीं 8वीं शताब्दी ईसा पूर्व में आबाद होने के सूचक हैं.

इन पुरातात्त्विक अन्वेषणों से स्पष्ट है कि रामायण के कथानक से मुख्यतः संबद्ध अधिकतर स्थान 7वीं, 8वीं शताब्दी ईसापूर्व से पहले आबाद नहीं हुए थे. ऐसे में अयोध्याकेंद्रित रामायण की मूल घटना 7वीं शताब्दी ईसा पूर्व से पहले की कदापि नहीं हो सकती.

रामायण का रचना काल

वाल्मीकि रामायण जिस रूप में आज उपलब्ध होती है, वह बहुत बाद की रचना है. यह ईसा पूर्व 7वीं शताब्दी की रचना भी किसी तरह सिद्ध नहीं होती.

बुद्ध के बाद की रचना

वर्तमान वाल्मीकि रामायण गौतम बुद्ध (ईसापूर्व 6ठी शताब्दी) के बाद की रचना है, क्योंकि इस में 'चैत्य' शब्द अनेक स्थानों पर मिलता है, जो बौद्धों का विशेष शब्द है.

देवायतनचैत्येषु सान्नभक्ष्याः सदक्षिणाः

–अयोध्या कांड 3/18

अर्थात चैत्यों और मंदिरों में अन्न और दक्षिणा प्रस्तुत करनी चाहिए.

येभ्यः प्रणमसे पुत्र चैत्येष्वायतनेषु च

–वही 25/4

अर्थात हे पुत्र, चैत्यों और मंदिरों में जा कर तुम जिन्हें प्रणाम करते हो.

चैत्यांश्चायतनानि च प्रदक्षिणं परिहरञ् जगाम नृपतेः सुतः

–वही 17/16

अर्थात राम चैत्यों और मंदिरों को अपने दाहिने छोड़ते हुए आगे बढ़े.

भूमीगृहांश्चैत्यगृहान् उत्पतन् निपतंश्चापि

–सुंदरकांड 12/15

अर्थात हनुमान भूमिगृहों और चैत्यगृहों पर उछलतेकूदते हुए....

चैत्य शब्द स्पष्टतः बौद्धों का है. संस्कृत के शब्दकोशों में चैत्य का अर्थ बुद्ध मंदिर अथवा बुद्ध की मूर्ति मिलता है.

1. चैत्य-ए बुद्ध आर जैन टेंपल (द स्टुडेंट्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, वी. एस. आपटे, पृ. 111).

2. चैत्य-बुद्ध या जैन मंदिर (संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. 440).

3. चैत्य–चैत्यमायतने बुद्धबिम्बोद्देशकवृक्षयोः **(त्रिकांडशेषः 3-3-2).**

इस की व्याख्या में शीलस्कंध ने लिखा है–आयतने बुद्धादिवन्दनस्थाने बुद्धबिम्बं बुद्धप्रतिमा, बुद्धविशेषो वा. **(सटीक त्रिकांडशेष, 1919 ई., पृ. 200).**

अर्थात चैत्य; बौद्धों का वंदना करने का स्थान, अथवा बुद्ध की प्रतिमा अथवा बुद्ध है.

4. चैत्य-चैत्यमायतने बुद्धबिम्बे **(मेदिनीकोषः).**

अर्थात चैत्य, बुद्ध मंदिर या बुद्ध की मूर्ति को कहते हैं.

न केवल 'चैत्य' बल्कि स्वयं बुद्ध का भी रामायण में नामोल्लेख किया गया है, यद्यपि गाली देते हुए.

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धः तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि,
तस्माद् हि सः शक्यतमः प्रजानां स नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात्

–अयोध्या कांड, 109/34

अर्थात जैसे चोर दंडनीय होता है, इसी प्रकार (वेदविरोधी) बुद्ध (बौद्ध मतावलंबी) भी दंडनीय है. तथागत (नास्तिक विशेष) और नास्तिक (चार्वाक) को भी यहां इसी कोटि में समझना चाहिए. इसलिए प्रजा पर अनुग्रह करने के लिए राजा द्वारा जिस नास्तिक को दंड दिलाया जा सके, उसे चोर के समान दंड दिलाया ही जाए, परंतु जो वश के बाहर हो, उस नास्तिक के प्रति विद्वान ब्राह्मण कभी उन्मुख न हों, उस से वार्त्तालाप तक न करे. (देखें श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण, हिंदी अनुवाद, पृ. 303, गीता प्रेस गोरखपुर, सं. 2033).

बुद्ध का उल्लेख

प्राचीन टीकाकारों ने भी इस श्लोक में बुद्ध का ही उल्लेख माना है. 18वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुए व्याकरण के प्रकांड पंडित नागेश भट्ट ने 'रामायणतिलक' नामक संस्कृत टीका में लिखा है:

बौद्धादयो राज्ञश्चोरवद् दण्ड्या इत्याह यथा हीति.
बुद्धो बुद्धमतानुसारी तथा चोरवद् दण्ड्य इति हि प्रसिद्धम्.

अर्थात बुद्ध के अनुयायी आदि को राजा उसी तरह दंडित करे जैसे चोरों को दंडित किया जाता है. इस श्लोक में बुद्ध का अर्थ बुद्ध का अनुयायी है.

इस से भी पहले 15वीं शताब्दी की गोविंदराजकृत व्याख्या भी मिलती है. उस ने इस श्लोक में आए शब्द 'तथागत' की व्याख्या करते हुए कहा है:

तथागतं बुद्धतुल्यम्.

अर्थात तथागत का अर्थ है बुद्ध जैसा.

स्पष्ट है कि रामायण की रचना बुद्ध के काफी समय बाद हुई.

अब प्रश्न रह जाता है कि बुद्ध के बाद इस की रचना कब हुई और इधर की ऐसी तिथि कौन सी है, जिस से पहले वर्तमान रामायण महाकाव्य रचा जा चुका था.

बुद्ध या बौद्धों को चोर के समान दंडनीय उस युग में कहा गया, जब बुद्धधम्म को अशोक द्वारा राजाश्रय देने से ब्राह्मण बहुत चिढ़ गए थे और अपनी इस चिढ़ को प्रकट कर सकने की स्थिति में भी थे. यह समय ईसा पूर्व 185 के इधर का है, क्योंकि 185 ईसापूर्व में ब्राह्मणवादी पुष्यमित्र शुंग ने अंतिम बौद्ध राजा बृहद्रथ मौर्य को कत्ल कर के फिर से ब्राह्मणवाद का वृक्ष रोपा था. स्पष्ट है कि रामायण इस के बाद की रचना है. यह बात अन्य प्रमाणों द्वारा भी पुष्ट होती है, जो निम्नलिखित हैं:

1. रामायण में छेदवाली कुल्हाड़ी का उल्लेख है. प्रसिद्ध पुरातत्त्वविज्ञानी डा. हंसमुख धीरजलाल सांकलिया ने निष्कर्ष निकाला है कि ईसापूर्व 300 से ईसापूर्व 500 से पहले भारत में छेदवाली कुल्हाड़ी का प्रयोग नहीं होता था.
2. ईसापूर्व चौथी और तीसरी शताब्दी के बौद्ध लेखकों को रामायण का कोई ज्ञान न था. बौद्ध जातकों में दैत्यों और कल्पित पशुओं की अनेक कथाएं मिलती हैं, लेकिन उन में राक्षस रावण और वानर हनुमान आदि की कहीं कोई कथा नहीं है और न ही उन का नामोल्लेख है. यदि वाल्मीकि रामायण का तब अस्तित्व होता, तो वे इस की कोई न कोई कहानी अवश्य लिखते.
3. रामायण (किष्किंधा कांड 43/12) में सुग्रीव ने यवनों के देश तथा शकों के नगरों को कुरुदेश तथा मद्रदेश के बीच बताया है. स्पष्ट है कि उस समय यवनों व शकों का पंजाब के भूभाग पर अधिकार था. (डा. हेमचंद्र राय चौधरी, प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, हिंदी अनुवाद पृ. 5) स्मरण रहे, प्रथम शक राजा माओज ने 20 ईसा पूर्व से 22 ईसवी के दौरान भारतीय भूभाग पर राज्य किया. इस के बाद ही कुरु और मद्रदेश के बीच शकों के नगर बस सकते थे, यानी प्रथम शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध में.
4. वर्तमान रामायण में 24 हजार श्लोक हैं, परंतु कात्यायनीपुत्र द्वारा रचित 'ज्ञान प्रस्थान' की टीका महाविभाषा के अनुसार प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में रामायण में केवल 12 हजार श्लोक थे. (देखें जरनल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, 1907, पृ. 99).

स्पष्ट है कि ईसा की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में रामायण मूल रूप में रची जा चुकी थी.

वर्तमान रामायण का काल

अब प्रश्न पैदा होता है कि वर्तमान रामायण कब रची गई? इस के उत्तर में निवेदन है कि रामायण (सुंदर कांड, सर्ग 9 से 11) में रावण के अंतःपुर के रात्रिकालीन दृश्य का चित्रण है, जो अश्वघोष रचित 'बुद्धचरितम्' (5/57-61) के गौतम के अंतःपुर के दृश्य का अनुकरण है. ई.बी. काडवैल ने बुद्धचरितम् के अपने संस्करण की भूमिका में लिखा है कि यह दृश्य बुद्ध आख्यान का आवश्यक अंग है, जब कि रामायण में यह अनावश्यक विस्तार है. वस्तुतः यह अंश वाल्मीकि का नहीं. यह अनुकरण किसी परवर्ती क्षेपक लेखक की कृति है.

अश्वघोष कनिष्क (समय 78 ईसवी, कुछ के अनुसार ईसा की दूसरी शताब्दी का पूर्वार्ध) का समकालीन था. स्पष्ट है कि ईसा की दूसरी शताब्दी में या उस के तुरंत बाद रामायण में क्षेपक मिल रहे थे. धीरेधीरे यह 24 हजार श्लोकों का पोथा बन गई. बहुत संभव है, यह काम सौ दो सौ साल में पूरा हुआ हो. अतः वर्तमान रामायण ईसा की तीसरीचौथी शताब्दी से पहले की रचना नहीं है.

इस तरह रामायण काफी बाद की रचना सिद्ध होती है, जब अनेक काव्य रचे जा चुके थे. लेकिन परंपरा रामायण को 'आदिकाव्य' कहती आ रही है. देखना यह है कि क्या रामायण वास्तव में आदिकाव्य है. इस प्रश्न का उत्तर खुद रामायण में मिल जाता है.

आदिकाव्यमिदं त्वार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्.

–उत्तरकांड, 111/16

अर्थात यह पहले वाल्मीकि द्वारा रचित आदि काव्य है.

शृणोति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम्.

–युद्धकांड 128/112

अर्थात वाल्मीकि द्वारा रचे गए इस काव्य को जो सुनता है.

शृण्वंति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम्.

–युद्धकांड 128/114

अर्थात जो लोग वाल्मीकि द्वारा पहले रचे गए इस काव्य को सुनते हैं.

ये वाक्य क्या सिद्ध करते हैं? इन में प्रयुक्त पुरा (पहले) शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है. क्या खुद वाल्मीकि अपनी पुस्तक में कभी यह लिख सकते थे कि इस पुस्तक को पहले वाल्मीकि ने लिखा था? स्पष्ट है कि ये कथन बाद के प्रक्षेपकर्ताओं के हैं. उन्होंने 12 हजार से 24 हजार श्लोक की बनाई गई रामायण को लोगों के गले उतारने के प्रयास में लिख दिया कि यह आदि काव्य (मूलकाव्य) ही है अर्थात पहले से ही रचा हुआ काव्य है, जिसे पूर्वकाल में वाल्मीकि ने बनाया था. (यहां आदि काव्य मूलकाव्य के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, न कि सर्वप्रथम के अर्थ में).

इस तरह हम देखते है. कि 'आदिकाव्य' और 'पुरा वाल्मीकिना कृतम्' रामायण के सर्वप्रथम काव्य होने के सूचक न हो कर उस में समयसमय पर थोक में मिलाए गए प्रक्षेपों के मुंहबोलते अकाट्य प्रमाण हैं.

जो ग्रंथ शताब्दियों के बीतने के साथ बढ़ कर अपने मूल से दोगुना बड़ा हो गया हो, जो अपना मूल रूपाकार खो बैठा हो, वह यदि वास्तव में किसी कालखंड का कभी इतिहासग्रंथ रहा भी हो, तो भी अपनी प्रामाणिकता और उपयोगिता से हाथ धो बैठता है. रामायण तो खैर शुरू से ही इतिहास न हो कर काव्य थी, जिस में यथार्थ के स्थान पर कवि की कल्पना की उन्मुक्त उड़ान थी और जिस में उत्तरोत्तर शताब्दियों में वृद्धि होती रही है.

ऐसे में वर्तमान रामायण को न इतिहास माना जा सकता है और न ही इतिहासआश्रित काव्य. यह केवल 'काव्य' था और केवल काव्य है और वह भी उतना प्राचीन नहीं जितना प्रायः कह दिया जाता है.

महाभारत की ऐतिहासिकता

प्रसिद्ध हिंदू इतिहासकार डा. रमेशचंद्र मजुमदार ने एक जगह भारतीयों के ऐतिहासिक बोध पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "इतिहास लेखन के प्रति भारतीयों की विमुखता भारतीय संस्कृति का भारी दोष है. उन्होंने कभी भी गंभीरतापूर्वक इतिहास लेखन की ओर ध्यान नहीं दिया."

सैकड़ों वर्ष पूर्व अलबरूनी ने भी इसी तरह के विचार व्यक्त किए थे,"हिंदूलोग घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम की ओर अधिक ध्यान नहीं देते. वे घटनाओं के कालानुक्रम को लिपिबद्ध करने में अत्यंत असावधानी से काम लेते हैं और जब कभी ऐतिहासिक जानकारी के लिए उन पर दबाव डाला जाता है तो उत्तर देने में समर्थ न होने पर वे कोई कहानी सुनाना आरंभ कर देते हैं."

लेकिन हिंदुत्व के अभिमानी लोग इस कटु यथार्थ को स्वीकार करने से कतराते हैं और भारतीयों के ऐतिहासिक बोध को सिद्ध करने के लिए सुदूर अतीत की कुछ रचनाओं, विशेषतः रामायण और महाभारत, का नाम ले कर यह दावा करते हैं कि उक्त पुस्तकें हमारी इतिहास पुस्तकें हैं.

ब्राह्मण ग्रंथों में 'आख्यान,' 'इतिहास' और 'पुराण' शब्द मिलते हैं. उपनिषदों में इतिहास और पुराण को 'पंचम वेद' तक कहा गया है (छांदोग्य उपनिषद् 7/1) लेकिन इन पंचम वेद कहे जाने वाले इतिहास और पुराणों में देवताओं, राक्षसों, नागों की कथाओं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं. भारतीय संसार को माया या भ्रम मानते रहे. अतः उन के मुताबिक सांसारिक घटनाओं का कालक्रम के अनुसार इतिहास लिखना एक व्यर्थ का काम था, एक मूर्खता थी.

चामत्कारिक घटनाओं का मायाजाल

उन्होंने चामत्कारिक घटनाओं को दिव्यकर्म, इंद्रजाल और मायाजाल के रूप में स्वीकार किया. हिंदू मनीषा विशेष घटनाओं की अपेक्षा सामान्य को अधिक महत्त्व प्रदान करती है. अनुश्रुति और वास्तविकता के अंतर को समझने की उन्होंने चेष्टा नहीं की. परिणामस्वरूप घटनाओं के क्रम की पूर्ण उपेक्षा कर दी गई और कालानुक्रम की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया.

ये ही प्रमुख तत्त्व इन के कथित इतिहासग्रंथों–रामायण और महाभारत–में प्रधानतया उपलब्ध होते हैं. रामायण की अपेक्षा महाभारत की ऐतिहासिकता पर

ज्यादा जोर दिया जाता है. अतः उसे ही ऐतिहासिकता की कसौटी पर परखना किसी निष्कर्ष पर पहुंचने में सहायक हो सकेगा.

इस से पहले कि किसी पुस्तक में लिखित वस्तु की प्रामाणिकता पर विचार किया जाए, यह देखना नितांत आवश्यक है कि वह पुस्तक किस स्वभाव की है, उस का लेखक कौन है, उस का उद्देश्य क्या है.

महाभारत के नाम से जानी जाने वाली पुस्तक किसी एक लेखक की कृति नहीं है. इतिहास पुराण के नाम पर प्रचलित कथाएं गौतम बुद्ध से पहले काफी मात्रा में इकट्ठी हो चुकी थीं. ये गद्य और पद्य, दोनों में थीं. समय पा कर इन कथाओं में वीरों की स्तुतियां भी जोड़ दी गईं, जिन्हें 'गाथा नाराशंसी' कहते हैं. वीरों की इन स्तुतियों का स्वरूप शीघ्र ही 'बृहत्कथा' हो गया और इसी 'नाराशंसी' गाथाओं की प्रणाली का विकास रामायण और महाभारत जैसे ग्रंथों में पाया जाता है.

पूर्व प्रचलित कथाएं

इस से स्पष्ट है कि 'महाभारत' पूर्व प्रचलित कथाओं का संपादित रूप है, न कि किसी एक व्यक्ति की कृति का. इस तथ्य को स्वयं महाभारत सत्य प्रमाणित करता है. महाभारत के हर अध्याय की समाप्ति पर जो पुष्पिका दी गई है उस में लिखा है–

"इति श्रीमन्महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्याम्..."

अर्थात इस प्रकार व्यासनिर्मित महाभारत नामक शतसाहस्री संहिता में)

संहिता का अर्थ है संग्रह. तात्पर्य यह है कि स्वयं महाभारत अपने को पूर्व प्रचलित कथाओं का संग्रह मानता है. महाभारत नाम के कथा संग्रह का संपादक कौन था? अब यह प्रश्न रह जाता है.

महाभारत के आदिपर्व (62/22) से ज्ञात होता है कि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने सब से पहले इस का संपादन किया. तब इस में सिर्फ 8800 श्लोक थे (आदिपर्व 1/117) उस ने अपने संग्रह का नाम 'जय' रखा था. इस के बाद 'वैशंपायन' नाम का दूसरा संपादक हुआ जिस का महाभारत से ही पता चलता है. उस ने व्यास के बाद के आख्यानों को भी इस में जोड़ दिया, जिस से यह संग्रह काफी बढ़ गया. अब इस में 8800 की जगह 24000 श्लोक हो गए. आकारवृद्धि के साथ नाम परिवर्तन भी हो गया और 'जय' अब 'भारत संहिता' कहा जाने लगा (आदिपर्व 1/78).

आख्यान निरंतर बनते गए. उन को एकत्र करने के उद्देश्य से 'भारत संहिता' में फिर परिवर्तन किया गया. इस बार उग्रश्रवा सौति ने इस के 96244 श्लोक बना दिए.

अब यह संग्रह विशालकाय होने के साथसाथ भारी भी हो गया था, अतः उस ने इस का नाम 'महाभारत' कर दिया था–

महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते

–आदि 1/274

महाभारत ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में अस्तित्व में आ चुका था, क्योंकि 400 ई. पूर्व. में रचे गए आश्वलायन ग्रह्यसूत्र (3/4/4) में 'महाभारत' का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है. 500वीं ईसवी में दक्षिण भारत की यात्रा पर आए यूनानी लेखक डायोकायसोस्टीम ने अपने संस्मरण में 'एक लाख श्लोकों वाले महाभारत' का स्पष्ट रूप से जिक्र किया है.

इस से स्पष्ट है कि इसे न तो इतिहास ग्रंथ के रूप में बनाया गया था और न ही इस का स्वरूप इतिहासग्रंथ-सा है. बाद में भी प्राचीन भारतीय विद्वानों और लेखकों ने इसे इतिहास ग्रंथ नहीं स्वीकारा. प्रसिद्ध दार्शनिक कुमारिल भट्ट (700 ई.) ने इसे 'स्मृति ग्रंथ' (धर्म शास्त्रीय पुस्तक) माना है और सुबंधु तथा बाणभट्ट (600 तथा 640 ई.) इसे 'काव्य ग्रंथ' कहते हैं. ऐसे में महाभारत को इतिहास ग्रंथ कहना बिलकुल गलत है.

विषयगत ऐतिहासिकता

महाभारत बहिरंग-परीक्षा में ऐतिहासिक ग्रंथ सिद्ध नहीं होता. अंतरंग परीक्षा में भी यह इतिहास ग्रंथ के सम्मान का अधिकारी प्रमाणित नहीं होता.

'महाभारत' की आधिकारिक कथा कौरवों और पांडवों के युद्ध की चर्चा है. दोनों चाचेताए के पुत्र थे. आपसी संबंध अच्छे न होने के कारण इन का कुरुक्षेत्र के मैदान में 18 दिन तक युद्ध हुआ, जिस में 18 अक्षौहिणी सेना तबाह हुई बताई जाती है.

दूसरे, महाभारत में जो युद्ध का वर्णन किया गया है, वह एकदम अविश्वसनीय और उस युग के अननुरूप है. 18 दिनों में 18 अक्षौहिणी सेना उन दिनों के तीरों, भालों, तलवारों और बरछों से नष्ट नहीं हो सकती थी. उन शस्त्रों से 18 अक्षौहिणी सेना के अंगभूत लाखों हाथियों, घोड़ों, रथों और इनसानों को नष्ट करना महीनों में भी कठिन था, 18 दिन की तो बात ही छोड़ो.

सेना की गणना यथार्थ नहीं

वैसे, सेना की जो गणना बतलाई गई है, वह भी यथार्थ नहीं. स्वयं महाभारत में एक अक्षौहिणी का परिमाण इस तरह बताया गया है: 'एक अक्षौहिणी में 21, 870 हाथी, 21,870 रथ, 65,610 घुड़सवार तथा 1,09,350 पैदल सैनिक होते हैं (महाभारत आदि, 2/22 से 26). ऐसी 18 अक्षौहिणियों में कितने लाख हाथी, रथ, घोड़े और इनसान होंगे, सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है. उन में होंगे –393660 हाथी, 393660 रथ, 1180980 घुडसवार और 1968300 पैदल. लाखों की संख्या में हाथियों और घोड़ों का जिक्र निहायत अनर्गल कल्पना है. भारत में तब उन के होने की बात कल्पनातीत है.

दूसरे, यदि यह पल भर के लिए मान लिया जाए कि उक्त संख्या में हाथी, घोड़े कहीं से पैदा कर लिए थे, फिर भी इस कठिनाई का कोई हल नहीं मिलता कि इतने लाख हाथी, घोड़े, रथ और इनसान कुरुक्षेत्र के मैदान में खड़े कैसे हुए होंगे, उन के

लड़ने की तो बात ही छोड़ो. स्पष्ट है, तथाकथित इतिहास ग्रंथ की 18 अक्षौहिणी फौज के 18 दिनों में नष्ट होने की बात एक बचकानी कल्पना मात्र है, जिस का ऐतिहासिक यथार्थ से दूर का भी संबंध नहीं.

इतना ही नहीं, महाभारत का अधिकांश भाग ऐसा है, जिस में एकदम कपोलकल्पित उपाख्यान (गप्पें) हैं जिन की विद्यमानता में कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति महाभारत को इतिहास ग्रंथ कहने की भूल नहीं कर सकता. उदाहरणार्थ द्रोणाचार्य के व्यक्तिगत जीवन के बारे में प्रकाश डालते हुए तथाकथित इतिहास ग्रंथ में लिखा है कि घृताची नामक अप्सरा को नग्नावस्था में देख कर भरद्वाज ऋषि का वीर्यपात हो गया. उस वीर्य को उस ने द्रोण (काष्ठ पात्र/दोने) में रख दिया, उस से द्रोणाचार्य पैदा हो गया (महा. आदिपर्व अध्याय 129).

ऋष्यशृंग ऋषि के जीवन इतिहास का वर्णन करते हुए इस इतिहास ग्रंथ में लिखा है कि ऋषि विभांडक एक बार नदी में नहा रहा था कि उर्वशी नाम की अप्सरा को देख कर उस का वीर्य स्खलित हो गया. नदी के उस वीर्यमिश्रित पानी को एक मृगी पी गई. उस ने समय पा कर एक मानव शिशु को जन्म दिया, जिस का नाम ऋष्यशृंग रखा गया (वनपर्व, अध्याय 110).

व्यास की माता की उत्पत्ति

व्यास की माता की उत्पत्ति के बारे में महाभारतकार का कहना है कि राजा उपरिचर का एक बार वन में वीर्यपात हो गया. उस ने उसे दोने में डाल कर एक पक्षी–बाज–के द्वारा अपनी रानी गिरिका के पास भेजा. रास्ते में दूसरे किसी बाज ने उस पर झपट्टा मारा, जिस से वह वीर्य यमुना में गिर गया और एक मछली ने उसे निगल लिया. इस से उस मछली ने एक लड़की और एक लड़के को जन्म दिया. लड़की का नाम सत्यवती रखा गया. यही व्यास ऋषि की माता थी.

इस तरह असंख्य दिवास्वप्नों सी कल्पनाएं महाभारत में पदपद पर उपलब्ध होती हैं. ये सब इतिहास ग्रंथों में मिलने वाली बातें न हो कर, प्रमत्तप्रलाप हैं. इस तरह की विषयवस्तु वाले महाभारत को इतिहास ग्रंथ न तो कहा जा सकता है और न माना ही जा सकता है.

इस तथाकथित इतिहास ग्रंथ में उस युद्ध के समय के बारे में कुछ भी निश्चित रूप में उपलब्ध नहीं होता, जिस के गिर्द इस महाभारत की रचना की गई. महाभारत में मिलने वाले ग्रह विद्या संबंधी संकेतों के आधार पर विद्वानों ने उस युद्ध के विषय में विभिन्न मत अभिव्यक्त किए हैं.

'आर्यभट्टीय' (476 ई.) नामक ग्रह विद्या के ग्रंथ के मुताबिक यह युद्ध 3102 ई. पू. में हुआ सिद्ध होता है. पुराण पंथियों का भी यही मत है.

महाभारत युद्ध कब हुआ?

वृद्धगर्ग और वराहमिहिर (600 ई.) जैसे दूसरे ज्योतिर्विद् इस युद्ध को 2449 ई. पू. में हुआ मानते हैं.

श्री मोदक ने ग्रह विद्या संबंधी संकेतों के आधार पर उक्त युद्ध के 5025 ई. पू. होने की बात कही है.

वराहमिहिर के कुछ अनुयायी इसे 2604 ई. पू. में हुआ बताते हैं.

ज्योतिष के ही आधार पर शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने महाभारत का युद्ध 1421 ई. पू. में माना है.

भारत के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के भूतपूर्व महानिदेशक डा. बी.बी. लाल ने महाभारत कालीन स्थलों की खुदाई के बाद यह मत प्रतिपादित किया है कि महाभारत का कथित युद्ध 1100 ई. पू. से 900 ई. पू. के मध्य हुआ. (देखें: सी. वी. वैद कृत महाभारत ए क्रिटिसिज्म. पृ. 50-70; शंकर बाल कृष्ण दीक्षित कृत भारतीय ज्योतिष, पृष्ठ 180; हरियाणा संवाद, 15 जून, 1971 में डा. बुद्धप्रकाश का लेख).

ये परस्परविरोधी मत महाभारत में मिलने वाले ग्रह विद्या संबंधी संकेतों के आधार पर स्थापित किए गए हैं. इन में एकदूसरे से कहीं सैकड़ों वर्षों का अंतर है तो कहीं हजारों वर्षों का. यदि महाभारत वास्तव में इतिहास ग्रंथ होता तो उस में इतने परस्परविरोधी संकेत न मिलते, जिन के आधार पर उपर्युक्त या ऐसे ही परस्परविरोधी परिणाम निकलते. इन विसंगतियों की विद्यमानता में महाभारत को इतिहास ग्रंथ नहीं कहा जा सकता.

महाभारत के युद्ध के विषय में परवर्ती साहित्य में भी कई जगह हवाले मिलते हैं. हर पुस्तक में इस युद्ध की तिथि दूसरी से नितांत भिन्न ही लिखी गई है. उदाहरणार्थ:

वायु, मत्स्य, ब्रह्मांड और भागवत पुराण के अनुसार गणना करने पर यह युद्ध 1924 या 1474 ई. पू. सिद्ध होता है.

कुछ पुराणों में महापद्मानंद और महाभारत के युद्ध के बीच के समय का उल्लेख किया है. उस के अनुसार गिनती करने पर उक्त युद्ध 874 ई. पू. में हुआ सिद्ध होता है.

'कथा सरित सागर' के अनुसार यह युद्ध 700 ई. पू. में हुआ.

'विष्णु पुराण' के मुताबिक यह युद्ध 1500 ई. पू. में हुआ प्रमाणित होता है.

मगध के इतिहास के आधार पर श्रीदत्त ने इस युद्ध के 1250 ई. पू. में होने की बात कही है.

भारत की धार्मिक परंपरा इस युद्ध को 5000 ई. पू. में हुआ मानती है.

इन में से कुछ तिथियां यथा 2605 ई. पू., 3102 ई. पू., 5000 ई. पू. और 5025 ई. पू., आदि तो आर्यों के भारत में प्रविष्ट होने से भी पूर्व की ठहरती हैं. जब वे अभी भारत में आए ही न थे तो वे कुरुक्षेत्र के मैदान में लड़े कैसे? इस का उत्तर यह नहीं हो सकता कि वे भारत के बाहर से आए ही नहीं थे, क्योंकि यह तथ्य दुनिया भर के इतिहासज्ञ मानते हैं कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं हैं. प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेता डा. सांकलिया का कहना है कि महाभारत का युद्ध 1100 ई. पू. से ज्यादा प्राचीन नहीं हो सकता, क्योंकि इस के पूर्व भारत में लोहे का आविष्कार ही नहीं हुआ था.

ये विभिन्न तिथियां भी न केवल महाभारत की ऐतिहासिकता पर अमिट प्रश्न चिह्न हैं, अपितु भारतीयों के ऐतिहासिक बोध को भी अनावृत करती हैं.

रामायण पहले या महाभारत?

प्राचीन भारतीयों के ऐतिहासिक बोध के प्रशंसक जब प्राचीन इतिहास ग्रंथों का नाम लेते हैं, तब वे रामायण का नाम पहले लेते हैं और महाभारत का बाद में. यह उन के मुंह से अचानक ही निकल जाता है, ऐसी बात नहीं, इस के पीछे एक पौराणिक विश्वास है, जिस के अनुसार दुनिया में पहले सतयुग था, जब सब भला ही भला था. उस के बाद त्रेतायुग (रामायण का युग) आया, जब थोड़ी खराबी पैदा हुई. तदनंतर द्वापर युग (महाभारत का युग) आया, जब आधा धर्म और आधी खराबी थी. तत्पश्चात कलियुग आया, जब चारों ओर खराबी ही खराबी फैल गई, इत्यादि.

यह विश्वास बिलकुल अवैज्ञानिक एवं निराधार है. विश्व की सभ्यताओं का इतिहास और समाजशास्त्रीय अध्ययन इस बात के प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि सभ्यताएं असभ्यता से सभ्यता की ओर जाती हैं, न कि सभ्यता से असभ्यता की ओर. जंगली से ग्राम्य और ग्राम्य से नागर सभ्यता पनपती है.

इस दृष्टि से देखने पर महाभारत पहले और रामायण बाद में बनी प्रतीत होती है. प्रसिद्ध जरमन विद्वान डा. बेबर और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रोफेसर डा. ए. ए. मैकडानेल ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है.

दोनों पुस्तकों की तुलना करने पर महाभारत आदिम सभ्यता के ज्यादा निकट दिखाई पड़ती है और रामायण में अपेक्षाकृत ज्यादा सभ्य समाज का चित्रण दिखाई पड़ता है.

वैदिक काल की समाप्ति के तुरंत बाद ही महाभारत रचा गया. इसीलिए इस में अनेक स्थानों पर वैदिक छंद भी उपलब्ध होते हैं. रामायण बहुत बाद में रची गई, जब वैदिक छंदों का प्रयोग लुप्त हो चुका था. महाभारत में जीवन का यथार्थ है, जिस में सभ्यता के लबादे का अभाव है; जब कि रामायण में सभ्यता का नकाब ओढ़ा स्पष्ट दीख पड़ता है. महाभारत के सामाजिक नियम कबीलों के अवशेष लिए हैं. इसलिए पांच पांडवों की एक सांझी पत्नी है. रामायण तक आतेआते ये अवशेष लगभग नष्ट हो चुके थे. वहां हर एक की अपनी पत्नी है और बड़े भाई की पत्नी माता समान और छोटे भाई की पत्नी पुत्री समान मानी जाने लगी थी.

महाभारत रामायण से पहले

न सिर्फ सांस्कृतिक तत्त्वों के आधार पर महाभारत रामायण के पहले की रचना सिद्ध होता है, बल्कि इस के पोषक साहित्यिक एवं भाषा वैज्ञानिक आधार भी उपलब्ध होते हैं.

महाभारत की भाषाशैली नितांत सरल और सादी है. इस में आर्ष प्रयोग, वैदिक त्रिष्टुप छंद, गद्य, पद्य, गद्य पद्य का मिश्रित रूप, प्रतिपाद्य विषय में शिथिलता आदि उपलब्ध होते हैं. ये इस बात के परिचायक है कि तब तक एक अलंकृत काव्यशैली

की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी. इस के विपरीत रामायण में अलंकृत काव्यशैली, संतुलित पद विन्यास आदि दिखाई पड़ते हैं, जो इस के उत्तरकाल में रचे होने के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं.

महाभारत की उबड़खाबड़ रचना के पश्चात धीरेधीरे एक अलंकृत शैली विकसित हुई. उस में रामायण लिखी गई और आगे चल कर वह आदर्श काव्य पुस्तक बन गई. इसीलिए इसे 'आदिकाव्य' कहने लगे. काव्य की श्रेष्ठता ही उस के आदिकाव्य कहलाने का मुख्य कारण है. 'आदि' का अर्थ यह नहीं कि यही पहला काव्य है और इस के पहले कोई काव्य था ही नहीं. अपितु 'आदि' से अभिप्राय है लौकिक संस्कृत में प्रथम कोटि का काव्य, अर्थात इस के पीछे के अन्य काव्य इसी के आधार पर, इसी के आशय पर बने और इसे आदर्श मान कर रचे गए.

यदि यह आदर्शभूत आदिकाव्य महाभारतकार के आगे होता, यदि उस से पहले एक अलंकृत, सुललित शैली विकसित हो चुकी होती तो महाभारत उसी तरह की अलंकृत काव्य रचना होता. यह नहीं हो सकता था कि पहले सुललित रचना शैली विकसित होती और बाद में महाभारत जैसी रुक्ष एवं अटपटी शैली प्रचलित होती और बाद में एकदम सुललित शैली में कालिदास आदि कवियों की एक लंबी परंपरा चल पड़ती.

इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए यही स्वीकारना पड़ता है कि महाभारत की रचना पहले हुई और रामायण की बाद में.

इस के अतिरिक्त एक ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध होता है, जिस पर शायद किसी भी प्रकार की टिप्पणी की गुंजाइश नहीं है. महाभारत के समय में ग्रीकों से संपर्क न होने के कारण, महाभारत में मेष आदि 12 राशियों का कहीं नामोनिशान तक नहीं मिलता. इस के विपरीत रामायण में इन राशियों के नाम उपलब्ध होते हैं. इस से विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि रामायण महाभारत की अपेक्षा अर्वाचीन है, बाद की रचना है (देखें, दीक्षित कृत भारतीय ज्योतिष, पृ. 161 तथा 180).

यही नहीं, वाल्मीकि रामायण (अयोध्या कांड, 109/34) में एक जगह बुद्ध की निंदा करते हुए लिखा है,

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि.

अर्थात बुद्ध चोर है, तथागत अर्थात बुद्ध को नास्तिक समझो.

बुद्ध की यह निंदा इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि रामायण उन के बाद की रचना है.

महाभारत में बुद्ध का कोई जिक्र नहीं मिलता, अतः वह बुद्ध के पूर्व की रचना है.

भारत के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के भूतपूर्व महानिदेशक डा. बी.बी. लाल ने, जो अयोध्या की खुदाई के कार्य में संलग्न हैं, हाल ही में उद्घोषणा की है कि अब तक की गई खुदाई से प्राप्त तथ्यों से यही सिद्ध होता है कि अयोध्या 800 ई.पू. से ज्यादा पुरानी नहीं, जब कि महाभारत की घटनाएं 900 ई.पू. से पहले की सिद्ध होती हैं.

बृहदारण्यक उपनिषद में वैदेह राजा जनक (सीता का पिता) के दरबार में याज्ञवल्क्य ऋषि से भुज्यु लाह्यायनि नामक ऋषि पूछता है: *"क्व पारिक्षिता: अभवन्निति"* अर्थात राजा परीक्षित के खानदान का क्या बना? यह राजा परीक्षित अर्जुन का पोता और अभिमन्यु का बेटा था (देखें, महाभारत, आश्व. अध्याय 66). उस परीक्षित के बारे में राम के ससुर जनक के दरबार में प्रश्नों का पूछा जाना इस बात का प्रमाण है कि महाभारत के एक प्रधान पात्र अर्जुन का पोता उस से (जनक से) पहले हो चुका था. प्रसिद्ध इतिहासकार हेमचंद्रराय चौधरी ने तो यहां तक सिद्ध कर दिया है कि जनक के समय परीक्षित की पांचवीं पीढ़ी का निःचक्षु नामक राजा राज्य करता था.

रामायण और महाभारत को इतिहास ग्रंथ कहने वाले रामायण को महाभारत से पहले का इतिहास बताते हैं, जब कि अकाट्य प्रमाण महाभारत को रामायण से पहले का इतिहास (?) सिद्ध करते हैं.

इस तरह हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक बोध नाम की कोई चीज नहीं थी. रामायण और महाभारत को इतिहास ग्रंथ कहने वालों के सभी तर्क तथ्यों के सम्मुख ठहरने में असमर्थ हैं. महाभारत रामायण की अपेक्षा पहले रचा गया था. इस की विषय वस्तु का अधिकांश काल्पनिक और पौराणिक है. अंतरंग और बहिरंग परीक्षा में यह कसौटी पर पूरा नहीं उतरता. अतः यह सही अर्थों में इतिहास ग्रंथ होने के काबिल नहीं है.

महाभारत की ऐतिहासिकता
आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर

मेरे लेख 'महाभारत की ऐतिहासिकता' पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए सर्वश्री डा. विमलचंद्र पांडेय, महामहोपाध्याय डा. वा. वि. मिराशी, विद्यानिवास मिश्र, करपात्री स्वामी और गोवर्धन पीठ व पुरी के शंकराचार्य आदि के लेख अथवा वक्तव्य प्रकाशित हुए हैं, जिन में इन लोगों ने महाभारत की ऐतिहासिकता को सिद्ध करने के उद्देश्य से कई तर्क दिए हैं. उन पर विचार करना आवश्यक है ताकि प्रबुद्ध पाठक किसी निश्चित तथ्य तक पहुंच सकें.

सब से पहले इन लोगों का कहना है कि महाभारत एक इतिहास ग्रंथ है. अंत:साक्ष्य के मुताबिक भी यह बात सिद्ध होती है–

जयो नामेतिहासोऽयम्

– आदि. 62/20

अर्थात यह 'जय' नाम का इतिहास है.

अतः इसे कल्पना की उपज कहना किसी भी प्रकार उचित नहीं.

यह बात वास्तविकता के नितांत विपरीत है, क्योंकि आदिपर्व के उक्त श्लोक में 'जय' नामक पुस्तक को इतिहास कहा गया है, न कि महाभारत को. 'जय' नामक पुस्तक व्यास ने रची थी, जिस की श्लोक संख्या बहुत कम थी. उस में, हो सकता है, महाभारत के युद्ध के संबंध में कुछ तथ्य रहे हों. पर वह पुस्तक आज अप्राप्य है. आज 'महाभारत' नामक जो ग्रंथ मिलता है, पहले उस का नाम 'जय' था, फिर 'भारत' हुआ और बाद में 'महाभारत.'

'भारत' में 24,000 श्लोक थे. उस में कथाकहानियां कम थीं. 'महाभारत' में 1,00,000 श्लोक हो गए. इस में बहुत सी कथाकहानियां जोड़ दी गईं. (आदि. अ. 1/101,02). इस कहानी संग्रह को 'जय' नामक इतिहास का नाम ले कर इतिहास सिद्ध नहीं किया जा सकता. 'महाभारत' के प्रत्येक अध्याय का समापक वाक्य (पुष्पिका) स्वयं इसे 'संहिता' (संग्रह) कहता है, न कि इतिहास ग्रंथ.

दूसरे, महाभारत के अंत:साक्ष्य पर यह 'काव्य' सिद्ध होता है, न कि इतिहास. आदिपर्व के निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं:

उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्. कृतं मयेदं भगवन् परमपूजितम्.
त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात्काव्यं भविष्यति.
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे.
काव्यस्य लेखनार्थाय गणेशः स्मर्यतां मुने.

–आदि पर्व 1/61,72–74

अर्थात वेदव्यास ब्रह्मा से बोले, "मैं ने यह काव्य रचा है." अब ब्रह्मा ने कहा, "क्योंकि तू ने इसे स्वयं 'काव्य' कहा है, अतः यह काव्य ही कहा जाएगा. कोई कवि इस काव्य की महिमा गाने में समर्थ नहीं. इस काव्य को लिखवाने के लिए गणेश को बुलाइए."

इतिहास नहीं, काव्य

जब स्वयं महाभारत का रचयिता इसे काव्य कह रहा है, इस के लिए 'काव्य' शब्द का बारबार प्रयोग करता है, तब इसे इतिहास कहने का हठ करना अन्याय ही कहा जाएगा. कोई भी बुद्धिमान इसे इतिहास नहीं सिद्ध कर सकता. परवर्ती विद्वानों ने भी इसे इतिहास नहीं कहा. सुबंधु और बाणभट्ट (क्रमशः 600 ई.) ने इसे स्मृतिग्रंथ (धर्मशास्त्रीय) माना है.

'महाभारत' ने स्वयं अपने को कई जगह धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, मोक्षशास्त्र, कामशास्त्र आदि कहा है:

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्.
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना.

–आदि. 62/23

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्.
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना.

–आदि. 2/83

अर्थात व्यास ने यह धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, मोक्षशास्त्र और कामशास्त्र रचा है.

इसे यदि इतिहास ग्रंथ कहना उसे अभीष्ट होता तो वह (व्यास) यह भी लिख सकता था कि यह इतिहास ग्रंथ है. स्पष्ट है, महाभारत के लेखक को इसे इतिहास ग्रंथ कहना कदापि अभीष्ट न था. अतः इसे इतिहास ग्रंथ कहने का हठ करना लेखक के प्रति अन्याय है.

कुछ महानुभाव श्रद्धांधता के वशीभूत हो कर लिखते हैं, "हिंदुस्तानी शरीर में पश्चिमी आत्मा व दिमाग धारण करने वालों के लिए महाभारत इतिहास नहीं, सच्चे हिंदुस्तानियों के लिए तो है."

यह निरा भावुकतापूर्ण कथन है. क्या हर बुद्धिविरोधी बात को सत्य स्वीकारते जाना ही हिंदुस्तानीपन है? क्या पशुपक्षियों और देवताओं व राक्षसों की कहानियों को इतिहास मान लेने से 'हिंदुस्तानी' लोगों का गौरव बढ़ जाएगा?

हिंदुस्तान को आजाद करवाने वालों में सब से बढ़चढ़ कर भाग लेने वाले महात्मा गांधी ने, जिन के हिंदुस्तानीपन पर शक नहीं किया जा सकता, 'महाभारत' के विषय में 'यंग इंडिया' में लिखा था, "मेरे लिए 'महाभारत' ऐतिहसिक ग्रंथ नहीं है. इस को इतिहास से सिद्ध नहीं किया जा सकता. इस में सनातन सच्चाइयों का आलंकारिक रूप में काव्यमय वर्णन किया गया है. इस में कवि अपनी अद्‌भुत शैली के अनुसार ऐतिहासिक पुरुषों और कथाओं को देवदूत, राक्षस और कुछ का कुछ बना कर वर्णन करता है."

गप्पग्रंथ

महाभारत में ऐसीऐसी गप्पें हैं कि कोई भी समझदार हिंदुस्तानी इन्हें इतिहास नहीं मान सकता. उदाहरणार्थ ये पांच वर्णन देखिए:

(1)महाराजा शशबिंदु की एक लाख रानियां थीं. हर एक रानी के पेट से एक हजार पुत्र जन्मे. कुल मिला कर राजा के दस करोड़ पुत्र हुए. तब राजा ने एक यज्ञ किया. उस ने हर एक पुत्र एकएक ब्राह्मण को दान में दे दिया. हर पुत्र के साथ एकएक सौ रथ और एकएक सौ हाथी दिए. (कुल मिला कर दस अरब रथ और दस अरब हाथी बने.) इस के अलावा हर पुत्र के साथ सौसौ युवतियां दान कीं. (दस अरब युवतियां हो गईं.) (द्रोण. अ. 65 तथा शांति. अ. 208).

सोचने की बात यह है कि यदि एक राजा के दस करोड़ पुत्र हों और उन के साथ दस अरब युवतियां हो तो तब शेष भारत की जनसंख्या कितनी रही होगी? दस अरब रथ और दस अरब हाथी एक ही राजा के पास हों तो बाकी राजाओं के हाथियों और रथों को मिला कर कुल कितने रथ और हाथी भारत में रहे होंगे? क्या यह नितांत काल्पनिक विवरण नहीं?

(2) इसी अध्याय में एक और गप्प देखिए. एक राजा हर रोज प्रातः एक लाख साठ हजार गौएं, दस हजार घोड़े और एक लाख स्वर्णमुद्राएं दान दिया करता था. यह काम वह लगातार 100 वर्ष करता रहा.

एक लाख साठ हजार को 365 से गुणा करो. तत्पश्चात 100 से गुणा करने पर जो गुणनफल होगा, उतनी गौएं अकेले उक्त राजा ने दान कीं. (=5,84,00,00,000) इसी प्रकार उस ने 10000x365x100= 36,50,00,000 घोड़े तथा 100000x365x100= 3,65,00,00,000 स्वर्ण मुद्राएं दान कीं.

(3) महाभारत के युद्ध में पांडवों व कौरवों की अठारह अक्षौहिणी सेना के लड़ने की बात कही गई है. एक अक्षौहिणी में 21870 रथ, 21870 हाथी, 65610 घुड़सवार और 109350 पदाति होते हैं. इन्हें 18 से गुणा करने पर लगभग 4 लाख रथ, 4 लाख हाथी, 12 लाख घुड़सवार और 20 लाख पदाति बन जाते हैं. उन का कुरुक्षेत्र के मैदान में एकसाथ लड़ना बिलकुल असंभव बात है. लगभग 40 लाख रथों, हाथियों, घुड़सवारों तथा पदातियों वाली चतुरंगिणी सेना

के चलनेफिरने व ठहरने के लिए जितना स्थान अपेक्षित है, वह कुरुक्षेत्र के मैदान से बहुत ज्यादा विशाल और विस्तृत होना चाहिए.

चार लाख हाथियों और 12 लाख घोड़ों की बात भी अपनेआप में एक गप्प से कम नहीं.

(4) महाभारत के युद्ध में पांडवों की सेना के प्रधान सेनापति (उद्योग. 157/13) धृष्टद्युम्न और महाभारत की नायिका द्रौपदी की उत्पत्ति का जो विवरण आदिपर्व (अध्याय 166/39 से 44) में दिया गया है उस में इतिहास वाली कोई बात नहीं. दोनों की उत्पत्ति हवनकुंड से बताई गई है. महर्षि याज हवन कर रहे थे और जल रही आग में से धृष्टद्युम्न और द्रौपदी निकल आए.

यह विवरण एक जोरदार गप्प से कम नहीं. क्या कभी जल रही आग की लपटों से भी आदमी पैदा होते हैं? आग की लपटों से तो जीवित आदमी भी जल कर मर जाता है. इस के नितांत विपरीत वर्णन करने वाले 'महाभारत' को इतिहास कैसे स्वीकारा जा सकता है?

(5) महाभारत में पांडवों के प्रतिपक्षी थे–दुर्योधन और उस के निन्यानवे भाई. ये धृतराष्ट्र के पुत्र थे. इन की उत्पत्ति के बारे में इस तथाकथित इतिहास में लिखा है कि धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी को गर्भ तो ठहर गया लेकिन दो वर्ष तक बच्चा नहीं जन्मा. इसी समय उसे खबर मिली की उस की देवरानी कुंती के यहां पुत्र जन्मा है. ईर्ष्यावश वह चिल्लाई और दुहत्थड़ मार कर अपना पेट पीटने लगी. उस से उस का गर्भपात हो गया.

ऋषि व्यास ने उस के पेट से निकले मांसपिंड को धुलवाया. धुलते ही उस के सौ टुकड़े हो गए. उन टुकड़ों को उस ने घी के सौ घड़ों में अलगअलग रखवा दिया. कुछ समय पश्चात उन घड़ों से सौ लड़के निकले. एक महीने पश्चात एक लड़की निकली. ये सौ लड़के दुर्योधन और उस के भाई थे.

'महाभारत' के प्रधान पात्रों के जीवनवृत्त इतने कल्पनामय और अविश्वसनीय हैं कि उसे इतिहास कहना और उसे इतिहासग्रंथ न मानने वाले स्वस्थ दिलदिमाग वाले व्यक्ति को 'पश्चिमी आत्मा वाला हिंदुस्तानी शरीर' कह कर तिरस्कृत करने की कोशिश करना स्वयं अपने को बुद्धिमानों के मध्य उपहासास्पद बनाना है.

परंपरावाद

डा. विमलचंद्र पांडेय (अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़) का कहना है कि इतिहास का स्रोत परंपरा होती है, अतः हमें भी उस पर निर्भर करना चाहिए. परंपरा 'महाभारत' को इतिहास मानती आ रही है, अतः 'महाभारत' को इतिहास मानना चाहिए.

यह तर्क बहुत बचकाना है. कोई ठोस तर्क न दे सकने पर डा. पांडेय ने डूबने की स्थिति में तिनके का सहारा लिया है. परंपरा इतिहास के कई स्रोतों में से एक स्रोत तो है, लेकिन यह इतिहास का एकमात्र स्रोत नहीं है.

परंपरावादी डा. पांडेय ने महाभारत युद्ध की तिथि 1100 ई. पू. निश्चित की है,

जबकि परंपरा के अनुसार यह युद्ध आज से 5000 वर्ष से भी ज्यादा पहले हुआ. उन्होंने स्वयं परंपरागत इस विश्वास को सही नहीं माना कि यह युद्ध 'द्वापर युग' के अंत और 'कलियुग' के शुरू में हुआ था. स्वयं परंपरा का उल्लंघन कर दूसरों को परंपरा की दुहाई दी जाती है! यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि परंपरा इतिहास का पूर्णतः विश्वसनीय स्रोत नहीं है.

दूसरे, परंपरा तो जयद्रथ वध के प्रसंग में, यह भी मानती है कि युद्धक्षेत्र में कृष्ण ने अपने हाथ की ओट से सूर्य को अदृश्य कर दिया था. इसी प्रकार परंपरा यह भी स्वीकारती है कि सूर्य धरती पर आया, उस ने कुंती से नियोग कर के कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न किया और सूर्यलोक को लौट गया. (आदि पर्व. अ. 110). इतना ही नहीं, परंपरा यह भी कहती है कि अर्जुन स्वर्ग (?) में इंद्र देवता के पास शिक्षा ग्रहण करने गया था.

परंपराभक्त तो यह भी मानते हैं और कहते हैं (यद्यपि यह 'महाभारत' में भी नहीं है) कि भीमसेन ने हाथी उठाउठा कर आकाश में फेंके थे और वे आज तक आकाश में घूम रहे हैं. कई तो इस से भी ज्यादा बढ़चढ़ कर गप्प मारते हुए कहते हैं कि चंद्रयात्रियों ने राकेट में बैठे हुए उन्हें देखा भी है.

इसी तरह परंपरा यह भी कहती है कि अश्वत्थामा पिछले 5000 वर्षों से जंगलों में मारामारा घूम रहा है. कई लोग इसे सत्यापित करने की गरज से किसी साधुसंत का नाम ले कर यह भी कह देते हैं कि अमुक महात्मा को अश्वत्थामा हरिद्वार के पास मिला था और अमुक को केदारनाथ के पास.

परंपरा यह भी कहती है और 'महाभारत' में भी लिखा है कि 'महाभारत' को लिखने के लिए पशु (हाथी) और मनुष्य के मिश्रित रूप गणेश देवता को बैठाया गया. गणेश का जीवन वृत्तांत अपने में बहुत बड़ी गप्प है. क्या इस तरह की बेबुनियाद और निरी बचकानी कल्पनाओं को डा. पांडेय इतिहास का प्रामाणिक स्रोत स्वीकारते हैं? यदि नहीं, तो फिर परंपरा की दुहाई दे कर 'महाभारत' को इतिहास के तौर पर स्वीकारने का आग्रह क्यों?

नीति या अनीति?

कुछ लोगों ने महात्मा गांधी को उद्धृत करते हुए कहा है कि 'महाभारत' में सत्य और असत्य का, धर्म और अधर्म का संघर्ष चित्रित किया गया है. इस में असत्य पर सत्य की और अधर्म पर धर्म की विजय दिखाई गई है. अतः यह नैतिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है.

यह बात सही नहीं है, क्योंकि विजयी पांडवों को सत्य व धर्म का प्रतीक नहीं माना जा सकता. जो लोग जुए में दो बार हारने के बाद राज्य को हथियाने के लिए अपने पूज्य गुरुओं और संबंधियों को मार सकते हैं, जो लोग एक ही स्त्री को साझी संपत्ति की तरह प्रयोग करते हों, जिन्होंने कृष्ण की 'योगमाया'(?) और नीति के नाम पर विरोधी को मारने के लिए हर छल कपट का आश्रय लिया हो, उन्हें सत्य और धर्म के प्रतीक मानना सरासर गलत है. 'महाभारत' की तरह 'रामायण' की भी

रूपक के तौर पर व्याख्या की जाती है, जो बिलकुल गलत है. राम को किसी भी प्रकार सत्य और धर्म का तथा रावण को किसी भी प्रकार असत्य और अधर्म का प्रतीक सिद्ध नहीं किया जा सकता.

ऐसे में महात्मा गांधी की रूपकवाली बात भी मान्य नहीं हो सकती. कुछ लोगों का कहना है कि मैं ने अपने लेख में अयोध्या कांड (109/34) का जो श्लोक उद्धृत किया है उस का अर्थ सही नहीं किया है. उस में 'बुद्धः' शब्द का अर्थ 'बुद्धि' है, 'महात्मा बुद्ध' नहीं, क्योंकि राम महात्मा बुद्ध से पहले हो चुके थे.

विवादास्पद श्लोक इस प्रकार है:

'यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि'

इस का अर्थ मैं ने किया था—'जैसे चोर है वैसे ही बुद्ध है. तथागत (बुद्ध) नास्तिक है.' अपने इस अर्थ को सही सिद्ध करने के लिए मैं पुराने और नए टीकाकारों के अर्थ यहां प्रस्तुत करने चाहूंगा:

(1) 15वीं सदी की गोविंदराज कृत 'रामायणभूषण' नामक संस्कृत टीका में उक्त स्थल की व्याख्या करते हुए लिखा है:

तथागतम् बुद्धतुल्यम्

अर्थात तथागत का अर्थ है—बुद्ध जैसे.

(2) 18वीं सदी के प्रथम चरण में हुए व्याकरण के महापंडित नागेश भट्ट ने 'रामायण तिलक' नामक संस्कृत टीका में लिखा है:

बौद्धादयो राज्ञश्चोरवद् दंड्याः इत्याह यथा हीति बुद्धो
बुद्धमतानुसारी यथा चोरवद् दंड्यः इति हि प्रसिद्धम्'.

अर्थात बौद्धमत को मानने वालों को राजा चोर की तरह दंड दे. बुद्ध का अर्थ है—बौद्ध को मानने वाला.

(3) गीता प्रेस, गोरखपुर से हिंदी टीका सहित छपी 'वाल्मीकिरामायण' में उक्त श्लोक की टीका में लिखा है: 'जैसे चोर दंडनीय होता है, उसी प्रकार (वेदविरोधी) बुद्ध (बौद्ध मत का अनुयायी) भी दंडनीय है. तथागत (नास्तिक विशेष) और नास्तिक (चार्वाक) को भी यहां इसी कोटि में समझो.' (श्री मद्वाल्मीकिरामायण, संवत 2017, पृष्ठ 468–69).

इन प्राचीन और अर्वाचीन टीकाकारों के अतिरिक्त डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी, चंद्रशेखर पांडेय आदि विद्वानों ने अपनी कृतियों क्रमशः, 'हिंदी साहित्य की भूमिका' और 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में यही अर्थ लिखा है.

ऐसे में यह कहना सरासर गलत है कि मैं ने श्लोकार्थ बदला है. जहां तक मैं जानता हूं इस श्लोक में प्रयुक्त 'बुद्ध' शब्द का अर्थ 'बुद्धि' किसी भी टीका में उपलब्ध नहीं है और न ही 'बुद्धि' अर्थ करने से श्लोक के अर्थ का कोई सिरपैर बनता है. आलोच्य श्लोक निःसंदेह महात्मा बुद्ध की ओर संकेत करता है. फिर तथागत शब्द

भी तो बुद्ध का ही एक नाम है न कि 'बुद्धि' का. अतः 'बुद्ध' का अर्थ 'बुद्धि' करने पर भी बात बनती नहीं. स्पष्ट है, 'रामायण' बुद्ध के बाद की रचना है.

महाभारत की तिथि

कुछ लोगों को इस बात पर आपत्ति है कि मैं ने 'महाभारत' की तिथि 1100 ई. पू. से 900 ई. पू. के मध्य मानी है. उन का कहना है कि ज्योतिष से 'महाभारत' की सही तिथि काफी प्राचीन सिद्ध होती है.

यह बात सही नहीं कि ज्योतिष के द्वारा 'महाभारत' की सही तिथि निश्चित हो सकती है; क्योंकि ज्योतिष के अलगअलग ग्रंथों के आधार पर यह तिथि भी अलगअलग बनती है. 'आर्यभट्टीय' के अनुसार यह 3102 ई.पू. सिद्ध होती है तो वराहमिहिर के अनुसार 2449 ई.पू.; श्रीमोदक अपने ज्योतिष के अनुसार 5025 ई.पू. बताते हैं तो शंकर बालकृष्ण दीक्षित अपने ज्योतिष के अनुसार 1421 ई.पू. क्या इन में कहीं एकता है? क्या ऐसे में ज्योतिष की बैसाखी के सहारे 'महाभारत' की तिथि तक पहुंचा जा सकता है?

दूसरे 'महाभारत' एक काल की रचना नहीं है. इस में भिन्नभिन्न कालों की ग्रह स्थितियों के संकेत मिलते हैं. ऐसे में किस ग्रह संकेत को प्रामाणिक माना जाए और क्यों?

शेष रहा मेरा प्राचीन तिथि को न मानने का प्रश्न. वर्तमान में उपलब्ध 'महाभारत' 600 ई.पू. की भी रचना सिद्ध नहीं होता. इस में लोहे के अस्त्रोंशस्त्रों का वर्णन है. पुरातत्त्ववेत्ता डा. हंसमुख धीरजलाल सांकलिया का कहना है कि भारत में लोहे के शस्त्रों का निर्माण 600 ई.पू. से प्राचीन नहीं. ऐसे में 'महाभारत' 900 ई.पू. की अपेक्षा 600 ई.पू. की रचना रह जाती है.

डा.वा.वि. मिराशी का कहना है कि लोहा भारत में प्राचीन काल से प्रचलित हैं. ऋग्वेद में 'अयस्' (लोहे) का वर्णन है. वहां नगरों की रक्षा व्यवस्था के लिए इस का प्रयोग किया जाता था. अतः यह कहना कि 600 ई.पू. से पहले भारत के लोग लोहे से परिचित न थे, सरासर गलत है.

डा. मिराशी संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान हैं, परंतु '*अयस्*' का अर्थ करते हुए गलती खा गए हैं. 'अयस्' शब्द आज कल संस्कृत में लोहे के लिए प्रयुक्त होता है, लेकिन पहले इस के कई अर्थ रहे हैं–चलना, धातु, स्वर्ण (देखें: आप्टे कृत 'द प्रैक्टिकल संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी' 1912, पृष्ठ 142) अतः वेदों में '*अयस्*' शब्द की विद्यमानता इस बात को सिद्ध नहीं करती कि तब लोग लोहे से परिचित थे और लोहे के शस्त्रों का प्रयोग होता था. मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में भी तांबे और कांसे के ही हथियार मिले हैं, न कि लोहे के. पुरातात्त्विक साक्ष्य के अनुसार 'महाभारत' में वर्णित लोहे के शस्त्रास्त्र 'महाभारत' को 600 ई.पू. से ज्यादा पहले की रचना सिद्ध नहीं होने देते.

कुछ लोगों को 'महाभारत' को 'रामायण' का पूर्ववर्ती लिखने पर आपत्ति है. उन का कहना है कि 'महाभारत' में राम के विषय में उपाख्यान मिलता है, जबकि

'रामायण' में 'महाभारत' का कहीं कोई वर्णन नहीं. अतः 'महाभारत' परवर्ती काल की रचना है और 'रामायण' पूर्ववर्ती काल की.

इतिहासकारों के मत

यह बात मान्य नहीं हो सकती. इस तरह की बातें कहने वाले इस तथ्य से अपरिचित प्रतीत होते हैं कि 'रामायण' और 'महाभारत' में दिए राम संबंधी उपाख्यान का आधार 'दशरथजातक' नामक बौद्ध रचना है. एशियाटिक सोसाइटी की बैठक में पढ़े अपने शोधपत्र में डा. सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस तथ्य का सविस्तार वर्णन किया है. प्रसिद्ध इतिहासकार डा. रमेशचंद्र मजूमदार ने भी इस मत को स्वीकार किया है.

'दशरथजातक' का रामपंडित अपनी बहन सीता से विवाह करता है. 'महाभारत' के राम विषयक उपाख्यान में उस बौद्ध कथानक का हिंदूकरण हुआ. वहीं से प्रेरणा ले कर वाल्मीकि ने अपना महाकाव्य रचा. अतः 'महाभारत' में रामोपाख्यान का होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि रामायण 'महाभारत' से पहले हुई थी.

एक महाशय गीता (3/20) के 'कर्मणैव संसिद्धिमास्थिता: जनकादय:' (जनक आदि ने कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की) के आधार पर कहते हैं कि "जनक 'महाभारत' से पहले हो चुके थे. वह राम के ससुर थे, अतः उन का समकालीन राम भी पहले हो चुका था. स्पष्ट है, 'महाभारत' बाद में हुआ और 'रामायण' पहले."

यह बात भी सही नहीं है. 'महाभारत' में समयसमय पर प्रक्षेप जोड़े गए हैं. उस के तीन परिवर्धनों का तो स्पष्टतः पता चलता ही है. इस तरह के परिवर्धन 13 वीं सदी तक बराबर होते रहे हैं. गीता भी 'महाभारत' में बाद में जोड़ी गई. गीता कृष्ण और अर्जुन के बीच युद्धभूमि में हुआ संवाद नहीं है. स्वयं गीता का एक श्लोक इस बात का प्रबल प्रमाण है–अध्याय 18 के 70वें श्लोक में कहा गया है:

'अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयो:'

अर्थात और जो हमारे इस धार्मिक संवाद को पढ़ेगा.

यहां प्रयुक्त हुआ '*अध्येष्यते*' (पढ़ेगा) शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है.

युद्ध में यदि कृष्ण और अर्जुन के बीच हुआ यह संवाद वास्तविक होता तो इस के लिए '*अध्येष्यते*' (पढ़ेगा) शब्द प्रयुक्त नहीं हो सकता था, क्योंकि तब वे लिख कर अपनी बातें एकदूसरे को नहीं बता रहे थे. यहां 'अध्येष्यते' शब्द इस बात का सूचक है कि गीता की रचना किसी व्यक्ति ने बाद में कृष्ण अर्जुन संवाद के रूप में की. फिर किसी समय 'महाभारत' के कथानक में इसे मिला दिया गया. इसलिए 'महाभारत' की ऊबड़खाबड़ भाषा से गीता की सुललित एवं प्रसन्न भाषा का कोई मेल नहीं दीख पड़ता.

जिस ने गीता की रचना की उस ने '*अध्येष्यते*' शब्द का प्रयोग इसीलिए किया क्योंकि वह लिखित रूप में पुस्तक रच रहा था.

विद्वानों ने तो यह भी सिद्ध कर दिया है कि गीता की रचना 467 ई. में पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठने वाले सम्राट बालादित्य (नरसिंह गुप्त) के समय में उस के

अमात्य बादरायण या उस के किसी शिष्य ने की थी. (देखें: धर्मानंद कोसंबी कृत 'भारतीय संस्कृति और अहिंसा' पृष्ठ 156-7).

ऐसे में, गीता में आए जनक शब्द के आधार पर 'महाभारत' 'रामायण' के बाद की रचना सिद्ध नहीं हो सकता.

विदेह राजा जनक का काल

वस्तुतः 'महाभारत' पहले हुआ और 'रामायण' बाद में हुई. उपनिषदों का वैदिक साहित्य में बहुत महत्त्व है. इन में मिलावट भी नहीं के बराबर है. इन के रचयिता दार्शनिक लोग थे. उन्होंने जो ऐतिहासिक संकेत जुटाए हैं वे काफी विश्वसनीय हैं. बृहदारण्यक उपनिषद (जिस की रचना बुद्ध से तीन पीढ़ी बाद हुई) में विदेह राजा जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य ऋषि से अर्जुन के पौत्र परीक्षित् के वंशजों के बारे में प्रश्न पूछा जाता है, जो इस बात का संकेत है कि जनक से पहले परीक्षित और महाभारत हो चुका था. इस तरह जनक और रामायण बुद्धोत्तरकालीन सिद्ध होते हैं.

बुद्ध से पूर्ववर्ती काल में परीक्षित के होने की बात एक अन्य प्रमाण से भी सिद्ध होती है. अथर्ववेद चारों वेदों में सब से बाद की रचना है. इस के अंतिम सूक्त तो बहुत ही बाद के हैं. इस के कांड 20, सूक्त 127 के 7 वें से ले कर 10 वें मंत्र तक कुरुवंश में हुए राजा परीक्षित के राज्य का वर्णन है. यहां यह ध्यान रहे कि कौरव और पांडव कुरुवंश के थे, इसीलिए अथर्ववेद ने परीक्षित को कुरुवंश का लिखा है.

'महाभारत' और अथर्ववेद की भाषा में काफी समता नजर जाती है. 'महाभारत' में वैदिक छंद तथा शब्दावली, गद्यपद्य का मिश्रण, अपाणिनीय प्रयोग, आदि कई चीजें मिलती हैं जो इसे अथर्ववेद के अंतिम भाग की रचना के समय का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है. 'महाभारत' के कई पात्रों के नाम वेदों में मिलने की बात स्वयं डा. पांडेय और डा. वा. वि. मिराशी भी स्वीकारते हैं.

हेमचंद्र राय चौधरी ने 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एनशेंट इंडिया' (पृष्ठ 16-17) में लिखा है कि राजा परीक्षित का राज्यकाल ई.पू. 9वीं शताब्दी से पहले का नहीं हो सकता.

यह कालनिर्धारण उसी स्थिति में स्वीकार किया जा सकता है जब या तो यह स्वीकार कर लिया जाए कि महाभारत युद्ध में लोहे के शस्त्रों का वर्णन बाद की मिलावट है या फिर 600 ई. पू. से पहले लोहे का अस्तित्व सिद्ध किया जाए.

कुछ लोगों का कहना है कि जनक और उस का दामाद राम बुद्ध से दो पीढ़ी पहले हुए थे. हेमचंद्र राय चौधरी ने जनक को बुद्ध से दो पीढ़ी पहले माना है.

यह मान्यता सही नहीं. जब 'रामायण' असंदिग्ध शब्दों में बुद्ध को पूर्ववर्ती के रूप में उद्धृत करती है तब उसे 'रामायण' के नायक के ससुर से दो पीढ़ी बाद का किस आधार पर कहा जाता है? अतः श्री हेमचंद्र की यह मान्यता गलत है.

पात्र ऐतिहासिकता की कसौटी नहीं

कुछ लोग महाभारत की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने के लिए यह तर्क

प्रस्तुत करते हैं कि 'महाभारत' में कुरुक्षेत्र तथा अन्य ऐतिहासिक स्थलों के साथसाथ कृष्ण, कौरवों, पांडवों तथा उस समय के अन्य कई ऐतिहासिक व्यक्तियों का वर्णन आता है. अतः 'महाभारत' की ऐतिहासिकता स्वतः सिद्ध है.

यह तर्क सही नहीं, क्योंकि किसी पुस्तक में किसी ऐतिहासिक व्यक्तित्व व ऐतिहासिक स्थान का वर्णन मिलना इस बात का प्रमाण नहीं है कि वह पुस्तक इतिहास ग्रंथ है. 'पृथ्वीराजरासो' में पृथ्वीराज नामक ऐतिहासिक व्यक्तित्व का वर्णन मिलता है. उस में कई वास्तविक स्थानों का भी नामोल्लेख है. लेकिन इतना होने पर भी विद्वान उसे इतिहास ग्रंथ नहीं मानते, क्योंकि उस में वर्णित वृत्तांत अन्य साधनों से प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाते.

यही हाल 'महाभारत' का है. इस में यद्यपि भारत के मानचित्र में विद्यमान कुरुक्षेत्र आदि स्थलों का वर्णन है, तथा कृष्ण आदि ऐतिहासिक व्यक्तित्वों की बात भी इस में मिलती है तथापि केवल इसी आधार पर इसे इतिहास ग्रंथ नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस में वर्णित व्यक्तियों के इतिवृत्त बिलकुल असंभाव्य हैं. वे दैवी एवं अलौकिक हैं. इन्हें इतिवृत्त कहना इतिहास के साथ अन्याय करने के समान है, क्योंकि इतिहास तथ्यों का संकलन करता है और उन्हें एक समय तालिका में प्रस्तुत करता है.

महाभारत को इतिहास ग्रंथ कहना तो दूर रहा, इतिहास पर आधारित ग्रंथ कहना भी उचित नहीं.

मेरा ध्यान कुछ मठाधीशों और धर्म के स्वयंभू ठेकेदारों की अखबारों में प्रकाशित उन चुनौतियों की तरफ आकृष्ट किया गया है जिन में महाभारत को सोलह आने सच्चा इतिहास ग्रंथ न मानने वालों को ललकारा गया है.

मेरे विचार में ये ललकारें तब ही कोई अर्थ रखतीं जब ये मठाधीश महाभारत की ऐतिहासिकता पर लगाए गए अमिट प्रश्नचिह्नों को मिटाने के लिए कोई ठोस तर्क व प्रमाण जुटाते; अन्यथा 'धार्मिक' मंचों पर से ललकारना क्या माने रखता है? यह धार्मिक मंचों का नहीं, इतिहासशोध केंद्रों का काम है तथा यह नेतागिरी करने वाले साधुओं का नहीं तटस्थ विद्वानों का विषय है. बिना किसी तर्क के महाभारत को 'परम सत्य' कह कर अपने स्वार्थों के लिए लोगों की भावनाएं भड़काना और सत्य के अन्वेषक विद्वानों को अपमानित करना उन 'धर्मगुरुओं' को शोभा नहीं देता जो 'सत्यमेव जयते' का उपदेश देते नहीं अघाते.

वेदों की निंदक गीता

वेद और गीता दो प्रसिद्ध धर्म ग्रंथ हैं. ये दोनों न केवल प्रसिद्ध हैं अपितु शेष हिंदू धर्म ग्रंथों में विलक्षण भी. दूसरे हिंदू धर्म ग्रंथ, जैसे रामायण, महाभारत, स्मृतियां, उपनिषद और दर्शनशास्त्र मानव रचित माने लाते हैं, जब कि वेद और गीता 'ईश्वर रचित' कहे जाते हैं.

असमानताएं

दोनों में इस समानता को छोड़ कर और कोई समानता नजर नहीं आती. हां, दोनों में आपसी विरोध और असमानताएं पगपग पर मिलती हैं.

वेदों को सृष्टि के आरंभ में परमात्मा (?) द्वारा रचा गया कहा जाता है, जब कि गीता को बहुत बाद में 'कृष्ण' नामक परमात्मा (?) ने रचा. वेदों की भाषा बहुत पुरानी और आम आदमी की समझ से परे है, जब कि गीता साधारण संस्कृत में निबद्ध है, जिस में विद्वानों को व्याकरण विषयक 72 गलतियां मिली हैं. (देखें, डा. खैर कृत 'क्वेस्ट फार ओरिजिनल गीता' पृ. 56) और इसे थोड़ी सी संस्कृत जानने वाला भी समझ सकता है. वेदों में परस्पर असंबद्ध और स्वतंत्र पद्यों व सूक्तों का संग्रह है, जब कि गीता शुरू से अंत तक संवादात्मक कथानक के रूप में चलती है.

विस्तार

वेदों का विस्तार इतना ज्यादा है कि उन के पद्यों से दरजनों गीताएं बन जाएं, लेकिन गीता का विस्तार इतना कम है कि गीता प्रेस, गोरखपुर ने दियासलाई की डबिया की लंबाई, चौड़ाई और ऊंचाई के समान गीता का एक संस्करण प्रकाशित किया है. कुछ वर्ष पूर्व एक किशोर ने सारी गीता पोस्ट कार्ड पर लिख दी थी. वेद विद्वानों के एक वर्ग के अध्ययन का विषय मात्र हैं, जब कि गीता का असंख्य लोग अध्ययन और दैनिक पाठ करते हैं.

ये असमानताएं बहिरंग हैं, अंतरंग असमानताएं इन से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे सिर्फ असमानताएं न रह कर दोनों धर्म ग्रंथों के पारस्परिक विरोध का रूप धारण कर लेती हैं.

विषयगत विश्लेषण

वेदों और गीता का विषयगत विश्लेषण इस निर्णय पर ले जाता है कि ये दोनों धर्मग्रंथ एक ही 'धर्म' के नहीं हो सकते और न ही इन का रचयिता एक ही तथाकथित परमात्मा हो सकता है.

वेदों में जगहजगह इच्छा और कामना पर बल दिया गया है. उन में ऐसे पद्य कदमकदम पर मिलते हैं जिन में इच्छा और कामनापूर्ण उद्‌गार हैं. यानी वेदों के 'ईश्वर' का उपदेश है:

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः.
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे.

–यजु. 40/2

अर्थात हे मनुष्यो, कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करो.

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्.

–यजु. 40/16

अर्थात हे अग्नि, हमें धन की प्राप्ति के लिए सुमार्ग से ले चलिए.

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः.

–अथर्ववेद 3/27/1

अर्थात जो हम से द्वेष करे अथवा जिस से हम द्वेष करें, हम उसे आप की दाढ़ों में रखते हैं अर्थात उस द्वेषबुद्धि का नाश करते हैं.

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं,
जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः
शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्.

–यजु. 36/24

अर्थात वह सकल संसार का द्रष्टा, देवों का हितकर्ता, सदा से शुद्ध और विज्ञान रूप है, उस की कृपा से हम सौ वर्ष पर्यंत देखते, जीते, सुनते और बोलतेचालते रहें, बल्कि सौ वर्ष के अनंतर भी ये सब सुख हम को प्राप्त होते रहें.

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति.
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः.

–अथर्ववेद 14/2/38

अर्थात हे पूषन, जिस में मनुष्य वीर्य को बोते हैं या जो हमारी कामना करती हुई जंघाओं को सुंदरता से विशेषकर आश्रय देती है, जिस में संतानों की कामना करते हुए हम लिंग का प्रहार करते हैं; उस कल्याण करने वाली स्त्री को हमारे लिए प्रेरणा दो.

वध्वश्च वस्त्रम् यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति स इद् रक्षांति तल्पानि हन्ति.

–अथर्ववेद 14/2/41

अर्थात जो वधू के वस्त्र विद्वान ब्राह्मण को दान करता है, वह राक्षसों का नाश करने में समर्थ होता है.

सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभाती:.

–अथर्ववेद 14/2/43

अर्थात हम सुंदर और गतिशील बनें और संतति से पूर्ण हो कर उषाओं को पार करते रहें.

या मे प्रियतमा तनू: सा मे बिभाय वासस:
तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम.

–अथर्ववेद 14/2/50

अर्थात हे वनस्पते, वस्त्रों से सुशोभित मेरा शरीर दमकता रहे, तू उस के आगे नीवी कर, हम कभी नाश को प्राप्त न हों.

वेदों से ऐसे मंत्रों की बहुत बड़ी सूची उपस्थित की जा सकती है.

इस के विपरीत गीता में कामनाहीनता व इच्छारहितता पर बल दिया गया है और कामना व इच्छा करने की जोरदार निंदा की गई है:

मा कर्मफलहेतुर्भू:.

–गीता 2/47

अर्थात हे अर्जुन, तुम कर्मों के फल की इच्छा मत करो.

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनंजय.
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा: फलहेतव.:

–2/49

अर्थात बुद्धियोग की अपेक्षा सकाम कर्म अत्यंत तुच्छ है, अत: तुम समत्व बुद्धियोग का आश्रय ग्रहण करो, क्योंकि फल की कामना करने वाले लोग दीन (कृपण) होते हैं.

अयुक्त: कामकारेण फले सक्तो निबध्यते.

–5/12

अर्थात फल की इच्छा रखने वाले व्यक्ति फल में आसक्त होते हैं और बंधन में पड़ते हैं.

तस्मादसक्त: सततं कार्यं कर्म समाचर.
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुष:.

–3/19

अर्थात आसक्त न हो कर कर्म करो. अनासक्त हो कर काम करने वाला परम

पुरुष अर्थात परमात्मा को प्राप्त करता है.

यह विषयगत विरोध इस बात का सूचक है कि वेद और गीता एक ही ईश्वर (?) द्वारा रचित नहीं हैं. एक ईश्वर (?) सकाम और इच्छासहित कर्मों के पक्ष में है, तो दूसरा निष्काम और इच्छारहित कर्मों की बात करता है. इतना ही नहीं, गीता में इसी विषयगत विरोध के कारण वेदों की नामोल्लेखपूर्वक भी निंदा की गई है:

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः.
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः.

–2/42

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्.
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति.

–2/43

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्.
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते.

–2/44

अर्थात अज्ञानी, वेदवादी, 'इस के सिवा और कुछ नहीं है' यह कहने वाले, कामना वाले और स्वर्ग को श्रेष्ठ मानने वाले लोग जन्ममरण रूपी कर्म के फल देने वाली, भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए किए जाने वाले कर्मों के वर्णन से भरी हुई बातें बढ़ाचढ़ा कर करते हैं. भोग और ऐश्वर्य में आसक्त रहने वाले इन लोगों की बुद्धि मारी जाती है. इन की बुद्धि न तो निश्चय वाली होती है और न ही वह समाधि में स्थिर हो सकती है.

यहां वेदानुयायियों और वेद के कर्मकांड अर्थात यज्ञों को करने वालों को बुद्धिहीन व मूर्ख (अविपश्चित) कहा गया है:

अविपश्चितः अल्पमेधसः अविवेकिन इत्यर्थः

–गीता 2/42 पर शंकरभाष्य

त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन.
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्.

–2/45

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके.
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः.

–2/46

अर्थात हे अर्जुन, सारे वेद सत्त्व, रज और तम–इन तीन गुणों का प्रतिपादन करते हैं, अर्थात इन तीन गुणों से युक्त हैं. इसलिए तुम (उन्हें त्याग कर) तीन गुणों से रहित, सुखदुख आदि के द्वंद्वों से रहित, केवल नित्य सत्त्व गुण में स्थित एवं योगक्षेम को न

चाहने वाले और आत्मपरायण बनो. जैसे बड़े और सब ओर से जल से परिपूर्ण जलाशय को प्राप्त कर के छोटे जलाशय (गड्ढे) से कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसी प्रकार ऊपर वर्णित तथ्यों को जानने अर्थात निर्द्वंद्व, नित्य सत्त्व गुण में स्थित, निर्योग क्षेम व आत्मवान व्यक्ति के लिए वेदों का कोई प्रयोजन नहीं रहता.

यहां ज्ञानवान और नित्य सत्त्व गुण में स्थित व्यक्ति के लिए वेदों की निरर्थकता और व्यर्थता का उद्‌घोष किया गया है:

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला.
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि.

−2/53

अर्थात अर्जुन, जब वेदों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि समाधि में स्थिर होगी, सिर्फ तब तू योग को प्राप्त कर सकेगा.

भावार्थ यह कि वेदों के अध्ययन व तदनुकूल आचरण से व्यक्ति की बुद्धि विचलित हो जाती है, उस में निर्णय करने और किसी ऊंचे तत्त्व को समझने का सामर्थ्य नहीं रहता.

त्रैविद्याः मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते.
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्.

−9/20

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति.
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते.

−9/21

अर्थात वेदों में वर्णित कर्मों को करने वाले एवं सोमरस पीने वाले तथा समस्त पापों से रहित लोग मुझे यज्ञों द्वारा पूज कर स्वर्ग को प्राप्त करना चाहते हैं. वे लोग अपने पुण्यों से इंद्रलोक को प्राप्त हो कर स्वर्ग में दिव्य भोगों को भोगते हैं (20), लेकिन वे उस विशाल स्वर्ग लोक को भोग कर पुण्यों के क्षीण होने पर मृत्यु लोक को पुनः प्राप्त होते हैं. इस प्रकार वेद के मुताबिक चलने वाले अर्थात तदनुकूल आचरण करने वाले और कामना करने वाले लोग बारबार जन्ममरण के चक्कर को प्राप्त होते रहते हैं (21).

अभिप्राय यह कि वेदों के मुताबिक आचरण करने से इनसान जन्ममरण के चक्र से छूट नहीं सकता (जब कि उस चक्र से छूटना हिंदू धर्म में व्यक्ति का अंतिम लक्ष्य है), क्योंकि उन में सांसारिक और कामनापरक बातें हैं जो मोक्ष (?) (सर्वोच्च्व कार्य) प्राप्ति के मार्ग में साधक न हो कर, बाधक हैं.

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्.
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्.

−8/28

अर्थात वेदों के ज्ञान, यज्ञ, तप, दान आदि का जो शुभ फल होता है, योगी पुरुष उस सब को लांघ कर (गीता में वर्णित) ज्ञान से सनातन ब्रह्मपद को प्राप्त करता है.

यहां स्पष्ट तौर पर वेदों के ज्ञान की अपेक्षा गीता के ज्ञान को उच्चतर वस्तु कहा गया है.

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः.
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर.

−11/48

अर्थात हे अर्जुन, न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से कोई मुझे इस प्रकार देख सकता है जैसे कि तुम ने मुझे देखा है.

इस का आशय यह है कि वेदों के अध्ययन व ज्ञान से और उन में प्रतिपादित यज्ञों से ईश्वर नामक सर्वोच्च तत्त्व (?) का साक्षात्कार भलीभांति नहीं किया जा सकता.

वेदों की ऐसी खाल तो नास्तिकों ने भी नहीं उतारी होगी जैसी गीता ने उतारी है. यदि किसी को गीता के पूर्वोद्धृत श्लोकों के अर्थ बिना यह बताए पढ़ाए जाएं कि ये गीता के अंश हैं तो हर व्यक्ति निस्संदेह यही कहेगा कि ये किसी नास्तिक के शब्द हैं. यदि किसी पत्रपत्रिका में इन्हें गीता का नाम निर्देश किए बिना प्रकाशित किया जाए तो बहुत संभव है कि धर्म के नाम पर नेतागीरी करने वाले कुछ लोग भारतीय दंड संहिता की धारा 295 (ए) के तहत प्रकाशक व संपादक पर मुकदमा ही ठोक दें!

एक जगह गीता में वेद के नाम पर गलतबयानी भी की गई है. वेदों में कहीं भी ईश्वर को 'पुरुषोत्तम' नहीं कहा गया, लेकिन गीता के 15वें अध्याय में गीता का वक्ता स्वयंभू ईश्वर (?) कहता है:

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः.

−15/18

अर्थात मैं लोक और वेद में 'पुरुषोत्तम' के रूप में प्रसिद्ध हूं.

गीता में वेदों के देवताविषयक सिद्धांतों का भी वेद-विरोधी ढंग से प्रतिपादन किया गया है. जैसे ऋग्वेद में आता है:

वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवंतु.

−ऋग्वेद 7/49/4

अर्थात जिस में वैश्वानर अग्नि प्रविष्ट हुई है वह आपो देवी (जल देवता) मेरी रक्षा करे.

यहां ऋग्वेद में वैश्वानर अग्नि का जल में वास माना है, पर गीता का कहना है:

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः.
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्.

−गीता 15/14

अर्थात मैं सब प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि हो कर प्राण और अपान से युक्त चार प्रकार (भक्ष्य, पेय, लेह्य और चौष्य) के अन्न को पचाता हूं.

यहां गीताकार ने वैश्वानर अग्नि को प्राणियों के शरीर में विद्यमान और खाए हुए अन्न को पचाने वाली अग्नि कहा है. यह वेद विरोधी बात है, क्योंकि वेदों में वैश्वानर अग्नि पानी में विद्यमान अग्नि को कहा गया है.

अवतारवाद

गीता का वेदविरोधी एक अन्य सिद्धांत है–अवतारवाद. वेदों में परमात्मा के अवतार धारण करने का कहीं उल्लेख नहीं मिलता. पर गीता का यह एक प्रमुख सिद्धांत है. इसी सिद्धांत के आधार पर गीता के कथित वक्ता कृष्ण ने अपने को भगवान कहा और सिद्ध करना चाहा है.

गीता में आता है:

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत.
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्.
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्.
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे.

–गीता 4/7–8

अर्थात जबजब धर्म की ग्लानि होती और अधर्म की उन्नति होती है, तबतब मैं अर्थात (भगवान कृष्ण) पैदा होता हूं. साधुओं की रक्षा और पापियों के विनाश के लिए तथा धर्म को स्थापित करने के लिए मैं हर युग में पैदा होता हूं.

पारस्परिक विरोध

एक धर्म के दो धर्म ग्रंथों में ऐसा पारस्परिक विरोध हिंदू धर्म की ही विशेषता है और हिंदू इतने गीताभक्त हैं, निर्द्वंद्व हैं कि इतने बड़े बुनियादी विरोध को भी निर्विकार भाव से न केवल सहते बल्कि इसे सराहते भी चले आ रहे हैं; जब कि असल में यह सराहनीय न हो कर शोचनीय है! यह स्थिति हमारी बौद्धिक जड़ता की सूचक है. हमें इस से छुटकारा पाने की कोशिश करनी चाहिए और उस दिशा में पहला कदम यह होगा कि हम दोनों धर्म ग्रंथों में से एक को पूरी तरह अस्वीकार करें और इतने बड़े मौलिक विरोध की लानत से छुटकारा हासिल करें.

विद्वानों के एक वर्ग, विशेषत: आर्यसमाजियों, ने पिछली शताब्दी में ही वेद और गीता के इस पारस्परिक विरोध को पहचान कर अपनेअपने ढंग से इस का परिहार करने की कोशिशें शुरू कर दी थीं.

स्वामी दयानंद सरस्वती के शिष्य पं. भीमसेन शर्मा ने इस ओर सब से प्रथम ध्यान दिया और कदम भी उठाया. उन्होंने देखा कि गीता का ईश्वर साकार है जो वेदों में कथित निराकार ईश्वर के सिद्धांत के विपरीत है. अत: उन्होंने जिसजिस श्लोक में भी 'अहं' या 'मां' पद देखा उसउस श्लोक को झट अर्धचंद्र दे कर

बाहर निकाल दिया और लगभग 238 श्लोकों को प्रक्षिप्त बता कर निकाल बाहर किया.

इस दिशा में एक दूसरे आर्यसमाजी विद्वान पं. आर्य मुनि ने इस यक्षप्रश्न के समाधान के लिए एक और ढंग अपनाया. उन्होंने जहां 'अहं' पद देखा, वहां उस का अर्थ 'ईश्वर' कर दिया और जहां उन्हें 'मां' शब्द मिला, वहां उस का अर्थ 'वैदिकधर्म' कर दिया. (देखें, पं. नरदेवशास्त्री वेदतीर्थ कृत 'आर्य समाज का इतिहास', पृ. 235) किंतु पं. भीमसेन के प्रयास की तुलना में यह दूसरा प्रयास उपहासास्पद है.

इन के अतिरिक्त इस दिशा में और भी प्रयास किए गए. पं. भूमित्र शर्मा आर्योपदेशक और पं. शिवदत्त शास्त्री ने भास्कर प्रेस, मेरठ से गीता का एक संस्करण छपवाया, जिस में केवल 13 अध्याय रखे गए. शेष पांच अध्याय निकाल दिए गए. बाद में लाहौर से एक और संस्करण निकाला गया. उस में केवल 70 श्लोक रखे गए. शेष 630 श्लोक निकाल फेंके गए. लाहौर से ही एक अन्य संस्करण प्रो. राजाराम शास्त्री ने संपादित कर प्रकाशित किया. इस में श्लोक तो सब के सब रखे गए, पर उन में से जो वेदविरोधी प्रतीत हुए, उन पर लंबीचौड़ी टिप्पणियां लिखी गईं.

यह काटछांट का तरीका ऊपरी लीपापोती से ज्यादा कारगर सिद्ध न हुआ. इसीलिए गीता के वेद (वैदिक धर्म) विरोधी सिद्धांत उखाड़े न जा सके और संपूर्ण गीता पूर्ववत् छाई रही.

सनातन धर्मी लोग यथापूर्व

'गीता सुगीता कर्तव्या, किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः'

अर्थात गीता को भलीभांति पढ़ना चाहिए. दूसरे बड़ेबड़े पोथों से क्या लाभ? का उद्घोष करते चले आ रहे हैं और वेदों व गीता के पारस्परिक स्वाभाविक विरोध को दृष्टिविगत कर रहे हैं, लेकिन आर्यसमाजी विद्वानों ने 'करो या मरो' का सिद्धांत अपना लिया प्रतीत होता है. वे लीपापोती से संतुष्ट न रह कर वेद और गीता में से एक के वरण और दूसरे के परित्याग पर उतारू हैं.

वैदिक सिद्धांतों का खंडन

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली के वैद्यनाथ शास्त्री ने लिखा है: "गीता में वस्तुतः वेद का, वैदिक सिद्धांतों का खंडन है. उस में अनेक (?) बातें वेद के प्रतिकूल भरी पड़ी हैं. जो पुस्तक ईश्वरीय ज्ञान वेद की छोटे गड्ढे से उपमा दे और उसे त्रैगुण्य विषय वाला बताए, उस को किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है?" (गीता विवेचन, भूमिका, पृ. 6-7)

एक दूसरे आर्यसमाजी विद्वान डा. श्रीराम आर्य ने लिखा है: "वैदिक सिद्धांतों की दृष्टि से गीता स्पष्टतया विषमिश्रित अन्न के समान त्याज्य पुस्तक है. इस के विषैले अंशों का भोले पाठकों की कौन कहे, विद्वानों पर भी प्रभाव हो जाता है. महर्षि

दयानंद ने इसीलिए इस पुस्तक के पठन पाठन की व्यवस्था नहीं की है. (देखें, श्रीराम आर्य कृत 'गीता विवेचन,' पृष्ठ 278).

आर्यसमाजियों के विद्वत्तापूर्ण प्रयासों से वेद और गीता के मध्य की खाई और गहरी हो गई है. लगता है, बौद्धिक जड़ता के टूटते ही, निकट भविष्य में, वेदानुयायियों और गीताभक्तों में ध्रुवीकरण हो जाएगा. इस के साथ ही जनता में फैलाया व फैला हुआ यह अंधविश्वास कि 'वेद और गीता एक ही चीज हैं', भी समाप्त हो जाएगा.

वेदों की निंदक गीता

आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर

मेरे लेख 'वेदों की निंदक गीता' पर पाठकों की प्रतिक्रियाएं प्राप्त हुई हैं. एक पाठक ने लिखा है: "लेखक का यह कहना (है) कि वेद और गीता एक ही ब्रह्म के रचे हुए नहीं हैं. सुनिए कृष्ण के द्वारा ही:

ऊं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः.
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता पुरा..

–गीता 17/23

अर्थात हे अर्जुन, ओम् तत, सत ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानंदघन ब्रह्म का नाम कहा है. उसी से सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिक रचे गए हैं.

"अब इस से अच्छा लेखक को मैं दूसरा प्रमाण और क्या दूं कि गीता और वेद एक ही ब्रह्म के रचे हुए हैं?"

पाठक का यह कथन बिलकुल गलत है कि गीता के इस श्लोक में यह कहा गया है कि एक ही ब्रह्म से आदिकाल में गीता और वेद रचे गए. इस श्लोक में ब्रह्म से ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञों के उत्पन्न होने की बात कही गई है, न कि उस से वेदों और गीता के उत्पन्न होने की.

पाठक ने लिखा है: "लेखक का यह कहना कि गीता ने वेदों की निंदा की है बिलकुल गलत धारणा है. कृष्ण तो स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं कि सब से प्रमुख वेद सामवेद मैं ही हूं–

वेदानां सामवेदोऽस्मि

–गीता 10/22

यहां यद्यपि कृष्ण ने अपने को सामवेद बताया है तथापि यह संतोषजनक नहीं है. इसीलिए 'गीता विवेचन' (द्वितीय संस्करण 1969) में डा. श्रीराम आर्य ने इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लिखा है:

इस में कृष्णजी कहते हैं कि मैं चारों वेदों में से केवल सामवेद हूं. अर्थात तीन वेदों की अपेक्षा सामवेद का महत्त्व बढ़ाया है और अन्यों को इतना श्रेष्ठ नहीं माना

है. यहां भी वेदों में महत्त्व व अधिक महत्त्व का भेद निकाल कर वेदों का निरादर किया है." (पृष्ठ 94).

दूसरी बात यह है कि सामवेद को वैदिक परंपरा अपवित्र मानती है. मनुस्मृति में कहा गया है कि सामवेद की ध्वनि अपवित्र है:

सामध्वनावृग्युजषी नाधीयीत कदाचन

–मनु. 4/123

अर्थात सामवेद की ध्वनि सुनाई पड़ते रहने पर ऋग्वेद तथा यजुर्वेद का अध्ययन कदापि न करे.

सामवेद: स्मृत: पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनि:

–मनु. 4/124

अर्थात सामवेद का पितर देवता है, इस कारण उस (सामवेद) की ध्वनि अपवित्र है.

वैदिक परंपरा के अनुसार सामवेद को अपवित्र कहा गया है. और सब से प्रथम ऋग्वेद गिना गया है. इस के विपरीत सामवेद को ईश्वरस्वरूप कहना वैदिक परंपरा का सीधा उल्लंघन है.

पाठक ने लिखा है कि गीता के अध्याय 11 श्लोक 48 को उद्धृत कर के लेखक ने जो यह लिखा है कि "मैं (ईश्वर) वेदों द्वारा भी इस रूप में नहीं देखा जा सकता हूं." उस का मतलब यह नहीं कि कृष्ण को वेदों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता.

पाठक का यह कथन भी सरासर गलत है. गीता में सिर्फ 11 वें अध्याय के 48वें श्लोक में ही नहीं बल्कि 53वें श्लोक में भी यही बात कही गई है और 54वें श्लोक में उस रूप को देखे जाने के साधन गिनाए गए हैं. श्लोक इस प्रकार है:

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन.
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप..

–गीता 11/54

इस का अर्थ हम खुद न कर के गीता के अधिकारी विद्वान लोकमान्य तिलककृत अर्थ उद्धृत करते हैं. उन्होंने लिखा है: "हे अर्जुन, केवल अनन्य भक्ति से ही इस प्रकार मेरा ज्ञान होना, मुझे देखना और हे परतप, मुझ में तत्त्व से प्रवेश करना संभव है." (गीता रहस्य, पृ. 772)

यहां कहीं भी वेदों को साधन रूप में नहीं लिखा गया है. यहां सिर्फ अनन्य भक्ति को साधन बताया गया है.

पाठक ने गीता के 15वें अध्याय के 15वें श्लोक को उद्धृत कर के लिखा है: 'अर्थात मुझे वेदों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता हूं (है?) तथा वेदों के तत्व (तत्त्व?) को मेरे सिवा और कोई भी नहीं जानता...फिर लेखक कैसे लिख सकता है कि वेदों के द्वारा कृष्ण प्राप्त ही नहीं हो सकते?"

गीता के जिस श्लोकांश का पाठक ने उपरिलिखित अर्थ किया है, वह ऐसे है:

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो

—15/15

इस का हिंदी में सही अर्थ करना बहुत कठिन है. यह वाक्य कर्मवाच्य में है; लेकिन इस का अनुवाद जब हिंदी में होता है तब वह कर्तृवाच्य का वाक्य प्रतीत होने लगता है. गीता के सब से प्राचीन भाष्यकार शंकराचार्य (आठवीं शताब्दी) ने अपने संस्कृत भाष्य में इस स्थल का बिलकुल सही अर्थ लिखा है क्योंकि संस्कृत में कर्मवाच्य में लिखे वाक्य को कर्मवाच्य में ही अर्थ निर्भ्रांत रूप में लिखा जा सकता है. उन्होंने लिखा है:

वेदैश्च सर्वैरहमेव परमात्मा वेद्यो वेदितव्यः

अर्थात सब वेदों को मुझ परमात्मा को ही जानना चाहिए.

गीता प्रेस, गोरखपुर से छपे गीता के अंगरेजी अनुवाद में इस स्थल का अनुवाद करते हुए लिखा है: इट इज आई हूम द फोर वेदाज सीक टु नो (मुझे चारों वेद जानने के प्रयत्न में हैं), (देखें, द भगवद्‌गीता आर द सांग डिवाइन, पृ. 305)

इसी स्थल का अर्थ करते हुए गीता के एक दूसरे अधिकारी विद्वान डा. राधाकृष्णन ने लिखा है: 'आई एम इनडीड ही हू इज टु बी नोन बाई आल द वेदाज (मैं ही वह हूं जिसे चारों वेदों को जानना है), (देखें, द भगवद्‌गीता, डा. राधाकृष्णन, पृ. 331).

ये अंगरेजी अनुवाद भी कुछ सीमा तक शंकरभाष्य के निकट पहुंचते हैं. लेकिन इस श्लोकांश का यह अर्थ कदापि नहीं कि "वेदों से कृष्ण को प्राप्त किया जा सकता है."

वेदों और गीता का रचयिता एक ही ब्रह्म या एक ही व्यक्ति नहीं है. डा. राधाकृष्णन ने गीता के अपने संस्करण की भूमिका में लिखा है: "हमें गीता के रचयिता का कुछ पता नहीं है कि वह कौन है. भारत के आरंभिक साहित्य की पुस्तकें लगभग सभी अनाम हैं. गीता का रचयिता महाभारत के पौराणिक संग्राहक व्यास को बताया जाता है." (द भगवद्‌गीता, भूमिका, पृ. 14)

एक दूसरे विद्वान, धर्मानंद कोसंबी ने गीता के लेखक के विषय में लिखा है: "यह मान लेना उचित जान पड़ता है कि बालादित्य (पांचवीं शताब्दी) के समय में बादरायण या उस के किसी शिष्य ने भगवद्‌गीता लिखी होगी." (देखें, भारतीय संस्कृति और अहिंसा, (हिंदी अनुवाद) पृ. 157, द्वि. आवृत्ति 1957 ई.)

एक अन्य विद्वान डा. गजानन श्रीपाद खैर ने अपनी पुस्तक 'क्वेस्ट फार द ओरिजिनल गीता' में लिखा है कि गीता एक व्यक्ति की रचना न हो कर तीन व्यक्तियों की रचना है. पहले रचयिता ने वर्तमान गीता के प्रथम छः अध्याय लिखे. दूसरे ने जो लिखा वह वर्तमान गीता का आठवां, 14वां, 15वां, 17वां और 18वां अध्याय है. तीसरे रचयिता ने गीता के जिस अंश को लिखा वह वर्तमान गीता का सातवां, नौवां, 10वां, 11वां, 12वां और 16वां अध्याय है. प्रथम लेखक ने 600 ई.

पू. रचना की. दूसरे ने एक शताब्दी बाद और तीसरे ने 300 ई. पू. (देखें, भूमिका पृ. 13)

स्पष्ट है कि गीता उस की रचना नहीं है जिस की रचना वेद है, और न ही दोनों एक ही काल की उपज हैं.

गीता को अति प्राचीन काल से चली आ रही ज्ञानधारा से जोड़ने के प्रयास में उस के अध्याय चार में गीताकार ने कहा है:

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्.
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदु:
स कालेनेह महता योगो नष्ट: परंतप.

–4/1–2

अर्थात कभी भी क्षीण न होने वाला अथवा त्रिकाल में भी अबाधित और नित्य कर्मयोग मार्ग मैं ने विवस्वान को बताया था. विवस्वान ने वह अपने पुत्र मनु को और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को बताया. इस परंपरा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना. पर हे शत्रुतापन अर्जुन, दीर्घकाल के अनंतर वह योग इस लोक से नष्ट हो गया.

स एवायं मया तेऽद्य योग: प्रोक्त: पुरातन

–4/3

अर्थात वही पुरातन योग मैं ने आज तुझे बताया है.

आज हमारे पास इस बात को प्रमाणित करने का कोई साधन नहीं है कि कृष्ण ने विवस्वान को उपदेश दिया था या नहीं. न ही हमें यह ज्ञात है कि वह उपदेश क्या था. विवस्वान ने उस के आधार पर अपने पुत्र मनु से क्या कहा, यह भी अज्ञात है. हां, मनु ने आगे क्या उपदेश दिया, वह मनुस्मृति में अवश्य सुरक्षित है.

गीता ने इच्छारहित हो कर काम करने को 'निष्काम योग' व 'कर्म योग' कहा है और उपदेश दिया है कि मानव को सकाम (इच्छा मन में रख कर) कर्म नहीं करना चाहिए. लेकिन गीता में संदर्भित मनु के जो कथन मनुस्मृति में सुरक्षित हैं, वे गीता की शिक्षा के बिलकुल विपरीत हैं. मनु का कहना है:

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता.
काम्यो हि वेदाधिगम: कर्मयोगश्च वैदिक:
संकल्पमूल: कामो वै यज्ञा: संकल्पसंभवा:.
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजा: स्मृता:
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्.
यद् यद् हि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्
तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्.
यथा संकल्पितांश्चैव सर्वान् कामान् समश्नुते

–मनुस्मृति, 2/2–5

अर्थात कामात्मता (अत्यधिक इच्छाओं का होना) प्रशस्त नहीं होती है और वैदिक कर्मयोग काम्य होना चाहिए (अर्थात उस की इच्छा करनी चाहिए.) काम (इच्छा) का मूल संकल्प होता है और यज्ञ संकल्प से उत्पन्न होते हैं. व्रत, यम और धर्म–ये सभी संकल्प से ही जन्मते हैं. कामना से रहित (व्यक्ति) की कोई क्रिया इस संसार में कभी भी दिखाई नहीं देती. जो कुछ भी कोई करता है, वह सभी कामना से प्रेरित हो कर ही किया जाता है. उन कामनाओं से प्रेरित कर्मों में भली प्रकार से वर्तमान रहता हुआ (प्रवृत्त होता हुआ) मनुष्य देवताओं के लोक को प्राप्त होता है और यहां जैसे भी संकल्पित काम होते हैं, उन सब का भोग करता है. (देखें, बीस स्मृतियां, खंड 1, पृ. 68)

इस से स्पष्ट है कि गीताकार का यह कथन कि मैं ने जो ज्ञान पूर्वकाल में दिया था, उसे ही मनु ने इक्ष्वाकु को दिया, बिलकुल गलत है. इस तरह प्राचीन काल से चली आ रही ज्ञानधारा से अपना संबंध जोड़ने का उस का प्रयास व्यर्थ और षड्यंत्रपूर्ण प्रतीत होता है.

गीता जिस रूप में आज हमें मिलती है, उस से जनसामान्य यह समझता है कि युद्धक्षेत्र में कृष्ण ने अर्जुन को इस का मौखिक उपदेश दिया था. कुछ आर्यसमाजी विद्वानों का कहना है कि कृष्ण ने परमात्मा से तादात्म्य स्थापित कर के गीता उच्चरित की.

ये दोनों धारणाएं निराधार हैं. गीता के अंत में कृष्ण ने जो गीता माहात्म्य 'कहा' है, वह इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि गीता किसी ने घर में बैठ कर लिखी और उसे जनता का श्रद्धाभाजन बनाने के लिए 'कृष्णअर्जुन संवाद' का रूप दे दिया. अध्याय 18 के 70वें श्लोक में कृष्ण का 'कथन' है:

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः

–18/70

अर्थात हम दोनों के इस धर्मसंवाद को जो कोई पढ़ेगा.

कृष्णअर्जुन संवाद

यदि गीता वास्तव में युद्धक्षेत्र में कृष्ण द्वारा दिया मौखिक उपदेश थी तो कृष्ण यह कैसे यह सकते थे कि जो हमारे संवाद को पढ़ेगा? तब तो केवल यह कहा जा सकता था–'जिस ने हमारा संवाद सुना है'. युद्धक्षेत्र में हुई बातचीत को पढ़ा कैसे जाना था? तब न वहां लिपिक था और न प्रेस रिपोर्टर. पढ़ा तब जा सकता था यदि कृष्ण व अर्जुन का संवाद मौखिक न हो कर लिखित रूप में होता.

स्पष्ट है कि जिस ने गीता की रचना कृष्णअर्जुन संवाद के रूप में घर में बैठ कर की, उसे ग्रंथांत में यह ध्यान नहीं रहा कि उपसंहार के श्लोक भी उसी वातावरण में होने चाहिए.

यदि कोई कहे कि यह श्लोक प्रक्षिप्त है तो हमारा पूछना है कि कैसे और क्यों? क्या केवल इसलिए कि यह आप के उलट जा रहा है? पिछले एक हजार वर्षों से तो,

जब का शंकरभाष्य है, यह श्लोक सर्वमान्य चला आ रहा है. किसी भाष्य व टीकाकार ने इसे प्रक्षिप्त नहीं कहा. अतः मनमाने ढंग से इसे प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता.

यदि कोई यह कहे कि कृष्ण सर्वज्ञ व त्रिकालदर्शी थे, उन्हें पता था कि भविष्य में लोग इसे पढ़ेंगे, इसलिए उन्होंने कह दिया, "जो हम दोनों के इस संवाद को पढ़ेगा" तो हमारा निवेदन है कि यह बात भी ठीक नहीं. गीता में कुछ ऐसी बातें हैं जिन से कृष्ण के सर्वज्ञ होने पर अमिट प्रश्नचिह्न लग जाता है. उदाहरणार्थः

(1) यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः,
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः

—15/18

अर्थात मैं क्षर से अतीत हूं, और अक्षर से भी उत्तम हूं. लोक और वेद में मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं.

हमारे सामने 'ए ग्रैमैटिकल वर्डइंडैक्स टु फोर वेदाज' की दोनों जिल्दें पड़ी हैं, जिन में वेदों के प्रत्येक शब्द का वर्णमाला के अक्षरों के अनुसार संग्रह किया गया है. इन में कहीं भी 'पुरुषोत्तम' शब्द नहीं आया है. जब वेदों में पुरुषोत्तम शब्द का अस्तित्व ही नहीं है, तब यह कहना कि "मैं वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं", क्या सर्वज्ञता का सूचक है?

(2) नक्षत्राणामहं शशी

—10/21

अर्थात नक्षत्रों में मैं चंद्रमा हूं.

यह बात प्राचीन भारतीय मान्यताओं और आधुनिक खगोलविज्ञान दोनों दृष्टियों से गलत है. यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता 4/4/10) और शतपथ ब्राह्मण (10/5/45) में 27 नक्षत्रों के नाम हैं. अथर्ववेद (19/7/1) में 28 नक्षत्र कहे गए हैं और महाभारत (अनुशासनपर्व, अ. 64) में 29 नक्षत्रों के नाम बताए गए हैं, जो निम्नलिखित हैं:

(1) कृत्तिका, (2) रोहिणी, (3) मृगशिरा, (4) आर्द्रा, (5) पुनर्वसु, (6) पुष्य, (7) आश्लेषा, (8) मघा, (9) पूर्वा फाल्गुनी, (10) उत्तरा फाल्गुनी, (11) उत्तरा, (12) हस्त, (13) चित्रा, (14) स्वाती, (15) विशाखा, (16) अनुराधा, (17) ज्येष्ठा, (18) मूल, (19) पूर्वाषाढ़ा, (20) उत्तराषाढ़ा, (21) अभिजित्, (22) श्रवण, (23) धनिष्ठा, (24) शतभिषा, (25) पूर्वा भाद्रपदा, (26) उत्तराभाद्रपदा, (27) रेवती, (28) अश्विनी, (29) भरणी.

यहां कहीं भी चंद्रमा को नक्षत्रों में नहीं गिना गया. स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय दृष्टि से चंद्रमा को नक्षत्र नहीं कहा जा सकता.

आधुनिक विज्ञान का मत है कि चंद्रमा न केवल नक्षत्र नहीं है, बल्कि यह ग्रह भी नहीं है. वह तो पृथ्वी का उपग्रह मात्र है. उसे नक्षत्र कहना गलत है. ऐसे में गीता का लेखक सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता.

(3) गीता के 18वें अध्याय में कहा गया है:

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे.
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्..

−18/13

अर्थात हे महाबाहु, किसी भी कर्म के होने के लिए सांख्यों के सिद्धांत में पांच कारण कहे गए हैं, उन्हें मैं बताता हूं, सुनो.

यहां सांख्य में जो पांच कारणों की बात कही है, वह बिलकुल गलत है, क्योंकि सांख्य सिद्धांत में ऐसी कोई बात नहीं मिलती. भदंत आनंद कौसल्यायन ने इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लिखा है: "सांख्यसूत्र तथा सांख्यकारिका ही सांख्यशास्त्र की दो उपलब्ध परंपराएं हैं. दोनों में तो कहीं भी कर्मों के इन पांच हेतुओं का पता नहीं." (देखें, भगवद्गीता की बुद्धिवादी समीक्षा, पृ. 258.)

डा. राधाकृष्णन ने लिखा है कि यहां 'सांख्य' का अर्थ 'वेदांत' करना चाहिए. यह गीताकार की अल्पज्ञता को ढकने का व्यर्थ प्रयास है, क्योंकि सांख्य का अर्थ वेदांत कदापि नहीं हो सकता. स्पष्ट है कि यहां गीताकार मतिभ्रम व स्मृतिभ्रंश का शिकार हुआ है.

गीता के 18वें अध्याय में उस के लेखक ने घोषणा की है कि वह अपनी शरण में आने वालों को सब पापों से मुक्त कर देगा:

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज.
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः

−18/66

अर्थात सब धर्मों को छोड़ कर तू केवल मेरी शरण में आ जा. मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा. तू शोक मत कर.

लेकिन यह बात भी सही प्रतीत नहीं होती क्योंकि जिस महाभारत में गीता संकलित है, उसी के अंतिम पर्व−स्वर्गारोहण पर्व−के प्रथम अध्याय में आता है कि युधिष्ठिर स्वर्ग पहुंच गया. दूसरे अध्याय में आता है कि वहां (स्वर्ग में) उसे अर्जुन दिखाई नहीं दिया जब कि वह अपने जीवनकाल में गीता के वक्ता की शरण में पूरी तरह जा चुका था.

महाभारत में आता है कि जब युधिष्ठिर को वहां अर्जुन दिखाई नहीं दिया तो उस ने देवदूतों से कहा:

भीमं च भीमविक्रांतं प्राणेभ्योऽपि प्रियो मम.
अर्जुनं चेन्द्रसंकाशं यमौ चैव यमोपमौ
द्रष्टुमिच्छामि तां चाहं पांचालीं धर्मचारिणीम्.
न चेह स्थातुमिच्छामि सत्यमेव ब्रवीमि वः

−स्वर्गा. पर्व, 2/10−11

अर्थात मैं अपने प्राणों से भी प्रिय, भयंकर पराक्रमी भीमसेन को, इंद्र तुल्य तेजस्वी अर्जुन को, यमराज के समान अजेय नकुलसहदेव को तथा धर्मपरायणा देवी द्रौपदी को भी देखना चाहता हूं. यहां रहने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है. मैं आप लोगों से यह सच्ची बात कहता हूं.

इस पर देवदूत युधिष्ठिर को नरक में ले गए. वहां असह्य कष्ट और दुख में पड़े प्राणियों की करुणाजनक बातें और चीत्कार युधिष्ठिर को सुनाई देने लगा. इस पर युधिष्ठिर ने उन से पूछा कि वे लोग कौन हैं और वहां किस लिए रहते हैं.

इत्युक्तास्ते ततः सर्वे समन्तादवभाषिरे.
कर्णोऽहं भीमसेनोऽहमर्जुनोऽहमिति प्रभो
नकुलः सहदेवोऽहं धृष्टद्युम्नोऽहमित्युत.
द्रौपदी द्रौपदेयाश्च इत्येवं ते विचुक्रुशुः

–स्वर्गा पर्व. 2/40–41

अर्थात उस के इस प्रकार पूछने पर वे सब चारों ओर से बोलने लगे, "प्रभो, मैं कर्ण हूं," "मैं भीमसेन हूं," "मैं अर्जुन हूं," "मैं नकुल हूं," "मैं सहदेव हूं," "मैं धृष्टद्युम्न हूं," "मैं द्रौपदी हूं," "हम द्रौपदी के पुत्र हैं." इस प्रकार वे सब लोग चिल्लाचिल्ला कर अपनाअपना नाम बताने लगे.

यह तथ्य भी गीता के लेखक के परमात्मा व सर्वज्ञ होने पर अमिट चिह्न लगाता है. ऐसे में गीताकार को सर्वज्ञ मान कर यह नहीं माना जा सकता कि उस ने जो 'पढ़ेगा' (18/70) क्रिया का प्रयोग किया है, वह भावी पाठकों को ध्यान में रख कर किया था. स्पष्ट है, गीता किसी अल्पज्ञ मानव की रचना है, जो वेदों के रचयिताओं से बिलकुल भिन्न है और यह बहुत बाद की रचना है.

वेद ईश्वर की रचना नहीं

रही बात यह कि क्या वेद ईश्वर की रचना हैं, इस विषय में हमारा निवेदन है कि वेद भी ईश्वर की रचना नहीं हैं. वेदों के निम्नलिखित स्थल द्रष्टव्य हैं:

व्यस्मद् द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमी वाश्चातयस्वा विषूचीः

–ऋ. 2/33/2

अर्थात हे रुद्र, तुम हम से द्वेष करने वालों को नष्ट कर दो और शरीर में व्याप्त होने वाले अनेक रोगों को दूर कर दो.

उन्नो वीरां अर्षय भेषजेभिः भिषक्तमं त्वाभिषजां शृणोमि.

–ऋ. 2/33/4

अर्थात तुम हमारे पुत्र आदि को औषधियों से अच्छी तरह संयुक्त करो. मैं तुम्हें श्रेष्ठतम चिकित्सक के रूप में सुनता हूं.

मृड्हा जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः.

–ऋ. 2/33/11

अर्थात, तुम्हारी सेनाएं हम से भिन्न अर्थात हमारे शत्रु को मार दें. हे रुद्र, स्तुति किए जाते हुए तुम स्तुति करने वाले को सुखी करो.

ऋदूदरेण सख्या सचेय यो मा न रिष्येद् हर्यश्व पीत:.
अयं य: सोमो न्यधाय्यस्मे तस्मा इन्द्रं प्रतिरमेम्यायु:..

–8/48/10

अर्थात मैं प्रगाथ, पेट को कष्ट न देने वाले सोम के साथ मित्रता को प्राप्त करूं, पीया गया सोम मुझे कष्ट न दे. मैं इंद्र से दीर्घायु मांगता हूं.

वयं स्याम पतयो रयीणाम्

–ऋ. 8/48/13

अर्थात हे सोम, हम धनों के स्वामी बनें.

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव....यो अस्याध्यक्ष:
परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद

–ऋ. 10/129/7

अर्थात इस जगत का स्वामी सर्वोच्च आकाश में है. यह जानता है. शायद वह भी नहीं जानता कि यह दुनिया कहां से उपजी.

इदं नम ऋषिभ्य: पूर्वजेभ्य: पूर्वेभ्य: पथिकृद्भ्य:

–ऋ. 10/14/15

अर्थात हम से पहले उपजने और सुंदर मार्ग बनाने वाले ऋषियों को नमस्कार है.

स घा न: सूनु: शवसा पृथु प्रगामा सुशेव:. मीढ्वां अस्माकं बभूयात्

–ऋ. 1/27/2

अर्थात अग्नि शक्ति का पुत्र और शीघ्र गमन करने वाला है. वह हमारे ऊपर प्रसन्न हो कर हमें सुख दे और हमारी अभिलाषाओं की पूर्ति करे.

यत्रा: न: पूर्वे पितर: परेयुरेना जज्ञाना: पथ्या: अनुस्वा:

–ऋ. 10/14/2

अर्थात जिस मार्ग से हमारे पूर्वज गए हैं, उसी मार्ग से उत्पन्न हुए सब जीव अपनेअपने कर्मानुसार जाएंगे.

ऐसे अनगिनत मंत्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं. ये 'परमात्मा' (?) द्वारा सृष्टि के आदि में रचे हुए नहीं हो सकते. ये साधारण मानव द्वारा की गई प्रार्थनाएं हैं या बाद की पीढ़ी के आदमी द्वारा अपने पहले की पीढ़ियों के आदमियों का स्मरण मात्र हैं. यदि ये ईश्वररचित होते तो क्या वह इस तरह की प्रार्थनाएं करता? और किस के आगे करता तथा क्यों करता?

वेदों के आदि, मध्य व अंत में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि 'मैं'–

परमात्मा–ने ये वेद बनाए हैं. जहां कहीं वेदों की उत्पत्ति की वेदों में चर्चा है, वहां भी प्रथम पुरुष में बात नहीं की गई है. वहां परमात्मा से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति की यह उक्ति मिलती है: "उस परमात्मा से वेद पैदा हुए." यह उक्ति क्योंकि खुद परमात्मा की न हो कर किसी अन्य व्यक्ति की है और उस ने यहां अन्य पुरुष का प्रयोग किया है, अतः इस से यह प्रमाणित नहीं होता कि वेद ईश्वररचित हैं.

दूसरे, यह उक्ति खुद उस पुस्तक के बीच है जिस के प्रति सम्मति दी जा रही है. यह सम्मति मूल पुस्तक का अपना अभिन्न अंग कैसे हो सकती है? यदि यह वेदों के कथित मूल लेखक ईश्वर की रचना होती तो वह 'उस परमात्मा से' शब्दों का प्रयोग कर के 'अपने' और 'वेदों को पैदा करने वाले उस' के मध्य विभेद क्यों पैदा करता?

ऐसा प्रतीत होता है कि जब पूर्वजों द्वारा रचित पद्यों के आर्य लोग संग्रह (संहिता) तैयार कर रहे थे, जो 'वेद' व 'संहिता' नाम से प्रसिद्ध हुए (वेद का अर्थ संग्रह है, इसीलिए ऋचाओं के संग्रह को ऋग्वेद या ऋक्संहिता कहते हैं. ऐसे ही अन्य वेदों के नाम हैं–यजुर्वेद या यजुः संहिता; सामवेद या साम संहिता आदि). तब उन्होंने उन (संग्रहों अर्थात वेदों) पर प्रामाणिकता की मुहर लगाने के उद्देश्य से उपर्युक्त किस्म के मंत्र रचे. खैरियत यही है कि उन्होंने अन्य पुरुष का प्रयोग किया. प्रथम पुरुष का प्रयोग करते तो स्थिति शायद ज्यादा उलझ जाती.

वेदों में नएनए मंत्र

इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि समयसमय पर वेदों के नएनए मंत्र बनते रहे हैं और वे पहले बने संग्रहों (संहिताओं अथवा वेदों) में मिलाए जाते रहे हैं. खुद वेदों में ही इस बात के प्रमाण मिल जाते हैं, यथा:

अथा सोमस्य प्रयती युवम्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम्.

–1/109/2

अर्थात हे इंद्र और अग्नि, तुम्हारे सोमप्रदानकाल में पठनीय एक नया स्तोत्र रचता हूं.

स नो नव्येभिर्वृषकर्मन्नुक्थैः पुरां दर्तः पायुभिः पाहि शग्मैः

–ऋ. 1/130/10

अर्थात जलवर्षक और नगर विदारक इंद्र, हमारे नए मंत्र (स्तोत्र) से संतुष्ट हो कर विविध प्रकार से रक्षा और सुख देते हुए हमें प्रतिपालित करो.

तदस्मै नव्यमंगिरस्वदर्चत शुष्मा यदस्य प्रत्नथोदीरते

–ऋ. 2/17/1

अर्थात हे स्तोताओ, तुम लोग अंगिरा के वंशजों की तरह नई स्तुति द्वारा इंद्र की उपासना करो.

अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया

–ऋ. 4/16/21

अर्थात हे हरि विशिष्ट इंद्र हम तुम्हारे लिए नए स्तोत्र बनाते हैं.

यही शब्द अविकल रूप में 4/17/21, 4/19/11; 4/20/11; 4/21/11; 4/22/11; 4/23/11 और 4/24/11 में भी मिलते हैं.

सुवीरं त्वा स्वायुधं सुवज्रमा ब्रह्म नव्यमवसे ववृत्यात्

–ऋ. 6/17/13

अर्थात हे इंद्र, हम लोगों द्वारा बनाया नवीन स्तोत्र तुम्हें प्रेरित करे, जिस से हमारी रक्षा हो.

समानमस्मा अनपावृदर्च क्ष्मया दिवो असमं ब्रह्म नव्यम्

–ऋ. 10/89/3

अर्थात हे स्तोता, मेरे साथ मिल कर इंद्र के लिए ऐसे स्तोत्र का उच्चारण करो जो निकृष्ट न हो और जो द्यावापृथिवी में निरुपम हो.

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यं नव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम्

–10/96/11

अर्थात हे इंद्र, तुम अपनी महिमा से द्यावापृथिवी को व्याप्त कर के नित्य नएनए और प्रिय स्तोत्र पाते हो.

स्पष्ट है कि इन नए स्तोत्रों व मंत्रों के रचयिता साधारण मानव थे, जिन्होंने पूर्वजों द्वारा रचे मंत्रों के खो जाने पर या उन के अप्रभावकारी सिद्ध होने पर या उन्हें परिष्कृत करने या अपनी नई रचना रचने के उद्देश्य से समयसमय पर नए मंत्र रचे. अपनी मौलिकता व अपने प्रयत्नों का विशेष उल्लेख अपनी रचनाओं में कर के उन्होंने अपने को देवता विशेष के अनुग्रह को प्राप्त करने के विशिष्ट पात्र बनाना चाहा है, अन्यथा, वे 'अपने नए रचे स्तोत्रों'–इस वाक्यांश का प्रयोग, शायद, न ही करते.

इस तरह न गीता सर्वज्ञ परमात्मा की रचना सिद्ध होती है, न वेद.

पराशर स्मृति

स्मृति शब्द का व्यापकार्थ है–'भूतपूर्व का वर्तमान में अनुस्मरण.' परंतु सीमितार्थ है–'काल विशेष के वर्णाश्रमों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का अभिलेख.' मनुस्मृति, पराशरस्मृति आदि समासांत पद इसी अर्थ के द्योतक हैं.

भारतीय साहित्य पर अद्वैत दर्शन की छाया बहुत प्रभावी रही है. एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं. हम, तुम, सब एक ही तत्त्व हैं–

'ओउम् खं ब्रह्म.'

गीतादि में भी साम्यावस्था का गुणगान किया गया है. हिंदुओं ने बातबात में औपनिषदिक ब्रह्म को खींचा है. परंतु व्यावहारिक संदर्भ में, सामाजिक जीवनमूल्यों में सदैव द्विध्रुवीय द्वैतता का बोलबाला रहा है. इस का कारण स्पष्ट ही है.

भारतीय धर्म, दर्शन अथवा चिंतन कदापि सामाजिक संदर्भ में नहीं रहा. वह सदैव व्यक्तिवादी रहा है. अद्वैतवेदांत, गीता का साम्यवाद एवं सब प्रकार की कल्पित मुक्ति का लक्ष्य घोर व्यक्तिवाद है. यही कारण है कि भारतीय चिंतन मानवता को इकाई नहीं मानता. मानवता तो इन के चिंतन में कहीं आई ही नहीं. यदि मैं गलत नहीं, प्राचीन भारतीय दर्शनशास्त्रों और धर्मशास्त्रों में कहीं भी मानवता शब्द प्रयुक्त तक नहीं हुआ है.

किसी भी स्मृति को उठा लीजिए. सर्वत्र घोर द्वैतभाव दिखाई पड़ेगा. समूची मानवता को स्थूलतः चार खंडों में खंडित किया गया दीख पड़ेगा. किसी धर्मशास्त्र में जो व्यापक आदेश भी दिया गया है, वह भी 'द्विजातियों और शूद्रों को ऐसा करना चाहिए' इन शब्दों में लिखा हुआ मिलता है न कि 'मानव मात्र को ऐसा करना चाहिए' इन शब्दों में.

इसी से भारतीय धर्मशास्त्रियों की संकुचित विचारधारा का अनुमान लगाया जा सकता है. इस असामाजिकता का ही दुष्परिणाम है कि औसतन भारतीय आज भी न केवल नागरिकता और पड़ोसीपन के क्षेत्र में असफल है अपितु पारिवारिक संबंधों को निभाने में भी विषमता अनुभव करता है.

इन स्मृतियों को धर्मशास्त्र भी कहा जाता है. यहां 'धर्म' शब्द सामान्य नियम से अधिक अर्थ रखता है क्योंकि इस में धर्म, परंपरा, सदाचरण, कर्त्तव्य और सारा सत्

(अच्छाई) आ जाता है. (इंडियाज पास्ट, पृ. 164, कृत ए. ए. मेक्डानल). इस तरह धर्मशास्त्र तात्कालिक जीवन का सर्वस्व है, विश्वकोश है.

इन धर्मशास्त्रों व स्मृतियों की काफी संख्या है. इन में 'पराशरस्मृति' बहुत महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है. अंत:साक्ष्य के अनुसार यह कलियुग के लिए नितांत उपयुक्त है (6/24) और इस युग को दृष्टि में रख कर ही रची गई है.

इस पुस्तक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसे एक वर्ग विशेष ने अपने निहित स्वार्थों को दृष्टिगत करते हुए रचा और यथा समय मीठी छुरी एवं अंधविश्वास का प्रयोग किया. अपनी पैठ डालने के लिए शुरू में कुछ क्रांतिकारी से निर्णय लेने का स्वांग रचा गया है. कहा है: "मनुस्मृति सतयुग के लिए है, गौतमस्मृति त्रेता के लिए, शंखस्मृति द्वापर के लिए और पराशरस्मृति कलियुग के लिए." (1/24).

आजीविका के लिए

किसी न किसी तरह अपनी आजीविका चलाने के लिए जो कदम पुरोहितों ने उठाए, उन का मुंह बोलता चित्र पराशरस्मृति में देखा जा सकता है.

हल चलाने से कृमि मरते हैं, अत: कृषक को पापों से बचने के लिए खलिहान से मुंहमांगा अनाज ब्राह्मणों को अवश्य दान करना चाहिए, अन्यथा बहुत अनर्थ होगा. (2/15), उसे चोरी करने का पाप लगेगा, वह ब्रह्महत्यारा हो जाएगा. (2/16). ब्राह्मणों को अपनी उपज का 30वां भाग दे कर किसान सब पापों से छूट सकता है. (2/17). ब्राह्मणों का कहा माने अन्यथा भ्रूणहत्या के समान पाप लगेगा. (6/60).

ब्राह्मण चलतेफिरते पवित्र स्थान हैं. वे जो कुछ कहते हैं, देवता भी उस का समर्थन करते हैं, क्योंकि ब्राह्मणों में सब देवों का वास होता है. जो ब्राह्मणों से जपतप करवाता है, अर्थात उन्हें दक्षिणा देता है, उस को जपतप का पूर्ण फल मिलता है. (6/61 से 63). अग्नि, जल, वेद, सोम, पवन ये सब ब्राह्मणों के दक्षिण कान में रहते हैं. प्रभास आदि तीर्थ और गंगा आदि नदियां ब्राह्मण के दाहिने कान में विद्यमान हैं. (7/38,39) तीनचार ब्राह्मण जिसे पुण्यात्मा कह दें, वह चाहे कितना ही पापी क्यों न हो, उस के पाप उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे पत्थर पर पड़ा हुआ पानी हवा और सूर्य के संयोग से अस्तित्वहीन हो जाता है. (8/17 से 19).

वेद को जानने वाला ब्राह्मण सर्वभक्षी (मांसाहारी) हो कर भी पवित्र ही रहता है. (8/30). यदि किसी ने ब्राह्मण को 'हूं' या 'तू' कह दिया, तो वह सारा दिन पानी में स्नान करता रहे और ब्राह्मण के पैरों पर गिर कर गिड़गिड़ाता रहे. यदि किसी से ब्राह्मण पर तिनके के द्वारा भी प्रहार हो जाए या यदि कोई ब्राह्मण को शास्त्रार्थ में पराजित कर दे तो उसे चाहिए कि वह बारंबार प्रणाम कर ब्राह्मण को प्रसन्न करे. (11/52,3).

प्रायश्चित भी आजीविका का साधन

आजीविका के लिए पुरोहितों ने एक नया मार्ग ढूंढ़ निकाला था–प्रायश्चित. यदि किसी से कोई 'अपराध' हो जाता तो उसे कहा जाता कि तुम वह व्रत रखो और 10

गाय ब्राह्मण को दान दो, यह व्रत करो और 100 गाएं, सुवर्ण और भूमि दान दो. (देखो 9/15, 25, 52, 54, 10/4, 6, 7, 8, 9, 15, 17, 24, 41, 11/3, 12-6, 8, 47 आदि). इन और ऐसे अन्य स्थलों पर यजमानों से गौएं, सोना, रुपयापैसा, भूमि आदि ब्राह्मणों को देने को कहा गया है. चोरी व भ्रूणहत्या, अगम्य स्त्रीगमन या चांडाल के घर का भोजन कर के, यदि कोई दो गौएं ब्राह्मण को दान कर दे तो, पता नहीं कैसे, उस का पाप खत्म हो जाएगा!

यह पेट के लिए की गई व्यवस्था है. तभी तो लिखा है, जो ब्राह्मण के लिए प्राणों की बाजी लगा दे वह हत्या जैसे जघन्य अपराध के पाप से छूट जाता है. (8/43). गौ हत्या को बहुत बड़ा पाप घोषित किया गया है. परंतु ब्राह्मणों को भोजन करा देने से, उन्हें दानदक्षिणा दे देने से, गोवधरूपी पाप निःसंदेह नष्ट हो जाता है:

कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम्. विप्राणां दक्षिणां दद्यात्.
ब्राह्मणान् भोजयित्वा तु गोघ : शुद्ध्येन्न संशयः

–8/49–50

पराशर स्मृति कहती है कि ब्राह्मण चाहे नीच स्वभाव का ही क्यों न हो, वह चाहे कितना भी गयागुजरा क्यों न हो, वह पूज्य ही है. इस के विपरीत शूद्र जातीय व्यक्ति चाहे कितने भी अच्छे स्वभाव वाला व संयमी क्यों न हो, आदरणीय नहीं है:

दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेन्द्रियः,
कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम्.

–8/33

अर्थात ब्राह्मण दुःशील भी पूज्य है. शूद्र जितेन्द्रिय होने पर भी पूज्य नहीं. कौन ऐसा मनुष्य है जो मरखनी गाय को छोड़ कर सुशील गधी को दुहेगा!

अपनी निरंकुशता को बनाए रखने एवं अपने को सर्वोच्च तथा आक्षेपों से ऊपर सिद्ध करने के लिए रूपक बांध कर कहा है कि धर्मशास्त्र रूपी रथ पर चढ़ा, वेदरूपी तलवार वाला ब्राह्मण हंसी में भी जो बात कहे, उसे परम धर्म मानना चाहिए. (8/34).

शूद्रों के लिए उन का आदेश है–ब्राह्मण की सेवाशुश्रूषा करना शूद्रों का परम धर्म है, अन्यथा वे सर्वत्र असफल होंगे. कपिला गाय का दूध पीने से और वेदमंत्रों पर विचार करने से शूद्र सीधा नरक में जाता है. (1/75).

यदि कोई शूद्र, कारीगर अथवा स्त्री की हत्या कर दे, वह दो बार प्राजापत्य व्रत कर ले और ग्यारह बैल ब्राह्मणों को दान कर दे, बस स्त्रीहत्या या शूद्रहत्या का दोष समाप्त. (6/16). इस तरह के विधान शूद्रों और स्त्रियों पर 'धार्मिक' लोगों के अत्याचार ही कहे जाएंगे.

इतना ही नहीं, प्रायश्चित जैसे विधानों में ब्राह्मण का तो एकाध दिन के उपवास से छुटकारा कहा गया है, परंतु शूद्रों के लिए दो से ले कर ग्यारह गाय और ग्यारह

बैल तक दान करने के विधान हैं, ताकि उन का आर्थिक शोषण कर उन्हें सदा के लिए अपने अधीन और परमुखापेक्षी बना लिया जाए जिस से वे बिना हीलहुज्जत क्रीतदासों की तरह जीवन जिएं.

शूद्रों को एक ओर अपना दास बना कर उन से सेवा करवाई जाती है दूसरी ओर उन के प्रति घृणा का उद्घोष इन शब्दों में किया जाता है—कुत्ते या शूद्र से स्पर्श होने पर रात्रि भर उपवास कर, पंचगव्य (गाय का दूध, घी, दही, मूत्र और गोबर—पवित्र पदार्थ) का पान करें. शूद्र के जूठे बरतनों को दस बार राख से साफ करें. (7/25).

स्मृतिकार कहता है, पति के मर जाने के पश्चात स्त्री यदि उस के प्रति वफादारी निभाती हुई अपने स्वाभाविक कामावेग को रुद्ध कर ब्रह्मचारिणी बनी रहे तो मर कर वह स्वर्ग को प्राप्त होती है. (4/31). जो नारी पति के साथ ही चिता में जल मरे वह साढ़े तीन करोड़ वर्ष तक स्वर्ग में रहने की अधिकारिणी होती है. (4/32). पति के शव के साथ दग्ध हो कर पत्नी उसे पापों से उसी प्रकार निकाल लेती है, जैसे सपेरा बिल में से सांप को निकाल लेता है. फिर स्वर्ग में वह उस पति के साथ विविध भोग भोगती है. (4/33). जो स्त्री गरीब, रोगी एवं धूर्त पति का जरा भी तिरस्कार करती है, वह मृत्यु के उपरांत कुतिया बनती है और बारबार सूअरी का जन्म लेती है. (4/16).

इस तरह के विचार आज अमानवीय, असामाजिक और गैरकानूनी हैं, अतः इन्हें हर प्रकार की धार्मिक मान्यता से वंचित करना चाहिए.

स्त्री को किस कदर नीच और अपमान की अधिकारिणी घोषित किया गया है, वह अध्याय सात के प्रस्तुत श्लोक को पढ़ कर पता चल सकता है. मासिक धर्म के समय पहले दिन वह चांडालिन के समान होती है, दूसरे दिन ब्रह्महत्यारी के समान और तीसरे दिन धोबिन के सदृश होती है. (7/20).

जितने घटिया शब्द उन दिनों उपलब्ध हो सकते थे, स्मृतिकार ने स्त्रियों के लिए प्रयुक्त कर दिए. स्त्रियों को क्रयविक्रय का पदार्थ कहते हुए लिखा है कि स्त्री और भूमि, दोनों बराबर हैं. जैसे भूमि किसी अन्य पदार्थ के विनिमय में हस्तांतरित की जा सकती है ऐसे ही नारी भी. (10/25).

धर्म के नाम पर

धर्म के विषय में जो विचार आलोच्य स्मृति में उपलब्ध होते हैं उन्हें पढ़ कर लगता है कि धर्म स्मृतिकारों के हाथों मोम की नाक बन गया था. तभी तो प्रस्तुत स्मृतिकार लिखता है, तीन या चार ब्राह्मण जिसे धर्म कह दें, वही धर्म होता है, दूसरे चाहे हजारों लोग उस के विरुद्ध चिल्लाते रहें. (8/15). तीनचार ब्राह्मण जिसे पवित्र कह दें, वह उसी प्रकार पापों से रहित एवं शुद्ध हो जाता है जैसे पत्थर के ऊपर का पानी सूख जाता है. (8/17). एकदूसरे के साथ बैठने, सोने, सवारी करने और बातचीत करने से एक मनुष्य के पाप दूसरे को उसी तरह लग जाते हैं, जिस तरह पानी में गिरी तेल की बूंद दूर तक फैल जाती है. इन पापों को नष्ट करने के लिए

मनुष्य को चाहिए कि जौ का भोजन किया करे और गौओं के पीछे चला करे तथा अपने भार के बराबर स्वर्ण, चांदी, अनाज आदि दान किया करे. (12/77,8). बस, यही धर्म है.

पुरोहितों ने खानेपीने के विषय में बहुत 'उदारता' बरती है, वे स्वयं गोमांस भी खाने को स्वतंत्र थे और चांद्रायणव्रत से ही शुद्ध भी हो जाते थे.

गोमांसं यदि भुक्तन्तु विप्रेण कृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेत्

—11/1

अर्थात ब्राह्मण यदि गोमांस खा ले तो कृच्छ्र चांद्रायण व्रत करे.

जो सफाई पसंद क्षत्रिय और वैश्य हों, उन के यहां ब्राह्मणां को नित्य हव्यकव्य उड़ाना चाहिए. (11-13).

जिन के स्पर्श मात्र से पुरोहित अपवित्र हो जाते थे व शुद्धि के लिए कई धार्मिक अनुष्ठान किया करते थे और जिन के छुए बरतन पवित्र करने के लिए दसदस बार रगड़ा करते थे, उन के यहां घी, दूध या तेल में पकाए हुए पकवान आदि को ब्राह्मण नदी के किनारे खा सकता था. (11/14). आदेश है कि शूद्र के घर से आए हुए दूध, घी और आटे को ब्राह्मण खा ले. (11/20).

शुद्धि के नाम पर

पराशरस्मृति में शुद्धि के विधान भी कम अविवेकपूर्ण नहीं हैं. नरहत्या जैसे जघन्य अपराध करने वाले को ब्राह्मण को ग्यारह गायें देने या कुछ ब्राह्मणों को भोजन खिला देने पर शुद्ध घोषित किया गया है. इस से अनुमान लगाया जा सकता है कि पशुपक्षी आदि के जीवन का मूल्य कितना तुच्छ रहा होगा!

स्मृति का छठा अध्याय उन तुच्छ विधानों से भरपूर है जो पशुओं या पक्षियों को मार डालने वालों को शुद्ध करते हैं. तीतर, मुरगा, खरगोश, कबूतर, गोह, कछुआ आदि को मार कर चट कर जाने वालों को शुद्ध करने के लिए विधान है—शाम का भोजन न करो. बस. यहां जीवहत्या को साधारण सी बात के रूप में लिया गया है, दूसरी ओर चूहा, बिल्ली, सर्प आदि के मारने को भी अपराध घोषित कर जीवों के प्रति दया का ढिंढोरा पीटा गया है. हानिकारक जीवजंतुओं को प्रतिरक्षा स्वरूप नष्ट करने को अपराध घोषित करना स्मृतिकार की थोथी दयालुता है, जिस का निहितार्थ है अपने लिए दान के अवसर जुटाना है.

शुद्धि के ज्वर की चरम सीमा तो उस समय ज्ञात होती है जब हम पढ़ते हैं—चांडाल (शूद्र पिता द्वारा ब्राह्मण माता से उत्पन्न संतान को चांडाल कहा गया है.) का बरतन यदि कुएं के साथ लग जाए और कोई उस कुएं से पानी पी ले तो उसे तीन दिन 'गोमूत्र' (महापवित्र तरल?) पीना चाहिए. (6/26). परंतु जहां स्वार्थ को धक्का पहुंचता था वहां शुद्धि का ज्वर वैसे ही उतर जाता था जैसे कुनैन के द्वारा मलेरिया. सत्तर सेर के लगभग अन्न को यदि कुत्ता आदि जूठा कर दे, उस को मत त्यागे. (6/67). चांडाल यदि घर में प्रविष्ट हो जाए तो

मिट्टी के बरतन बाहर फेंक दे परंतु जिन में मदिरा और चटनी हो, उन्हें न फेंके. (6/47).

बालविवाह की कुशिक्षा

बालविवाह जैसी पतनकारिणी कुप्रथा को मार्गदर्शक सुधारकों ने जीजान एक कर बड़ी कठिनता से रोका है. परंतु प्रस्तुत स्मृति अपने को वर्तमान काल के उपयुक्त स्वयमेव उद्घोषित करती हुई बालविवाह के कुष्ठ को फैलाती है.

बारह वर्ष बाद जो कन्या का विवाह नहीं करते, ऐसा समझना चाहिए कि वे हर मास कन्या का मासिक रज पीते हैं. (7/7). यदि कन्या का मासिक धर्म शुरू हो जाए और उस की शादी न की जाए तो उस के मातापिता, बड़ा भाई आदि सब उस को देख कर ही नरक के अधिकारी बनते हैं. (7/8). बारह वर्ष के ऊपर की कन्या से शादी करने वाले ब्राह्मण का सामाजिक बहिष्कार करना चाहिए. ऐसी कन्या के साथ एक दिन संभोग करने वाला तीन साल गायत्री मंत्र जपने और मांग कर खाने के बाद शुद्ध होता है. (7/9,10).

स्मृति की युगानुरूपता का दावा करने के लिए आवश्यक था कि उस में कुछ नया और ज्ञानविज्ञान समन्वित होता. इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्मृतिकार ने बौद्धिक प्राणायाम कर कई तथ्य जुटाने की कोशिश की. वे यद्यपि उस के समसामयिकों के लिए विश्वसनीय रहे होंगे, परंतु आज के वैज्ञानिक आलोक में वे लेखक के बौद्धिक दिवालिएपन के ही परिचायक हैं.

संभवतः उस के दिमाग में यह हो कि हर असंबद्ध प्रलाप बौद्धिक धाक जमाने के लिए उपयुक्ततम उपकरण है. कुछ उदाहरण देखिए : सिर को ढक कर, दक्षिण की ओर मुख कर और बाएं पैर पर हाथ रख कर जो भोजन किया जाता है उस में राक्षसी प्रभाव आ जाता है. (1/59). भोजन करते हुए यदि हाथ से पैर छू लिया जाए तो समझो कि अपनी जूठन खाई जा रही है. (6/65). न तो खड़ाऊं आदि पहन कर भोजन करें और न ही पलंग पर बैठ कर. (6/66).

यदि रोगी को शुद्ध करना हो तो स्वस्थ व्यक्ति दस बार स्नान कर उस का स्पर्श कर दे, बस रोगी शुद्ध हो जाएगा. (7/21). यदि कांस्य के पात्र में कभी पैर धो लिए जाएं तो उसे छः महीने तक जमीन में गाड़ दें फिर वह शुद्ध होगा. (7/26). छींकने के बाद, थूकने के पश्चात तथा पतित के साथ बातचीत करते हुए दाहिने कान को छुएं. (7/37).

सब पाप केशों में निवास करते हैं, अतः उन से छुटकारा पाने के लिए केशों को ऊपर की ओर उठा कर उन्हें आगे से दो अंगुल भर काट दें. (9/55). यदि स्त्री अपने यार के घर चली जाए तो उस के पति तथा मातापिता के घर अशुद्ध हो जाते है. उन्हें पवित्र करने के लिए घरों को खोदा जाए, वहां स्थित मिट्टी के सब बरतनों को फेंक दिया जाए. (10/38,39).

भिखमंगों और समुद्र को देख कर ही लोग पवित्र हो जाते हैं. (12/44). काले बिलाव, मृग की काली छाल और बकरे को घर में रखें. (12/45). यदि ब्राह्मण

बरतन से पानी पीता है, हाथों से नहीं तो निश्चित है कि वह कुत्ते की योनि में जन्म लेगा. (12/53). ऐसी ही और बहुत सी अविवेकपूर्ण बातें आलोच्य स्मृति से इकट्ठी की जा सकती हैं.

यह स्मृति स्वास्थ्य विज्ञान व साधारण विज्ञान के नितांत विपरीत उपदेश देते हुए घोषित करती है: बिल्ली, मक्खी, कीड़ेमकौड़े और पतंगों द्वारा दूषित वस्तु को जूठा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ये पवित्रअपवित्र सब का ही स्पर्श करते हैं. (7/32,3). यह शिक्षा कितनी मूर्खतापूर्ण और कितनी घातक है, कहने की आवश्यकता नहीं. जिसे कुत्ते ने काटा हो वह स्नान करे, पवित्र एवं वेदमाता गायत्री को जपे. (5/1). क्या इतने से वह रेबीज के घातक आक्रमण से बच जाएगा?

जमीन पर पड़ा पानी अशुद्ध नहीं मानना चाहिए. (7/33). पान और सोमरस ये दोनों जूठे नहीं होते (7/34). अर्थात जूठा पान या सोमरस पान करना कोई बुरा प्रभाव नहीं डालता. जिस अन्न को सांप, नेवला और बिलाव जूठा कर दे उस पर दोचार दाने तिल और कुशा घास से दोचार बूंद पानी फेंक देने से वह शुद्ध हो जाता है. (71/6).

यदि ब्राह्मण ने मेढक या चूहे का मांस खा लिया हो तो उसे एक दिन जौ खा लेना चाहिए, उस पर दुष्ट प्रभाव नहीं पड़ेगा. (11/12). प्राणियों के शरीर में जो पाप रहते हैं पंचगव्य उन्हें शुद्ध कर देता है. तीनों लोकों में पंचगव्य के समान अन्य कुछ भी शुद्ध नहीं है. पंचगव्य में जो गोमूत्र है उस में वरुण देवता रहता है, गोबर में अग्नि देवता, दही में वायु देवता, दूध में सोम देवता और घी में सूर्य देवता रहता है. (11/38-40).

चंद्रग्रहण के समय मरुत, वसु, रुद्र, सूर्य आदि सब देवता चंद्रमा में लीन हो जाते हैं. अतः चंद्रग्रहण के समय दान देना चाहिए. (12/27). यदि शराब पी ले तो उस पाप को दूर करने के लिए उबलती हुई शराब पीए. (12/74).

प्रस्तुत स्मृति अपने को वर्तमान युग–'कलियुग'–के लिए नितांत उपादेय घोषित करती हुई भी यदि नितांत अनुपादेय और अनुपयुक्त सिद्ध होती है तो स्पष्ट है कि अन्यान्य स्मृतियां तो समाज को पीछे ही ले जाएंगी और समय के पहिए को पीछे की ओर ही मोड़ देंगी. अतः उन्हें या इसे आंखें मूंद कर शिरोधार्य मानना अतीत के अविकसित समाज में अपने को ले जाना है. हमें अतीत के मोह को वर्तमान के प्रकाश में त्याग कर भविष्य के लिए पथ प्रशस्त करना होगा.

पराशर स्मृति

आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर

मेरे लेख 'पराशर स्मृति' पर कुछ तथाकथित धर्म रक्षकों की ओर से कई प्रकार के आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हुए हैं. उन में व्यक्त किए गए विचारों का यद्यपि कोई खास महत्त्व नहीं है तथापि उन से जनमानस में संदेह और संशय के भाव उत्पन्न होने की संभावना है. अतः उन पर विचार कर लेना समीचीन होगा.

एक वेदांताचार्य स्वामीजी का अपने लेख 'कलौ पाराशरा स्मृताः' में कहना है कि पराशर स्मृति में धर्म का बहुत प्रगतिशील स्वरूप प्रतिपादित किया गया है. उस में (1/26) लिखा है कि 'दूसरे युगों में व्यक्ति बुरे विचारों से पतित हो जाता था परंतु कलियुग में केवल बुरे कर्मों से पतित होता है.'

पराशर स्मृति के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए इस तरह की दलीलें देना अपने को हास्यास्पद बनाना है. पराशर स्मृति ने केवल कर्म पर बल दे कर विचारों की नितांत उपेक्षा की है. यह बात प्रशंसनीय न हो कर शोचनीय है. कोई व्यक्ति किसी के बारे में क्या सोचता है, कैसे विचार रखता है, पराशर स्मृति के दृष्टिकोण से यह बात कोई महत्त्व नहीं रखती. यह एकांगी दृष्टि है. भारतीय दंड संहिता में कत्ल के इरादे को दंडनीय अपराध बताया गया है और वह है भी ठीक. कोई व्यक्ति किसी को मारना चाहता है, परंतु उपयुक्त समय या स्थिति न मिल सकने के कारण यदि वह उसे मार नहीं पाया है तो क्या इस से वह व्यक्ति निर्दोष हो गया? पराशर स्मृति तो उसे निर्दोष ही कह देगी, लेकिन कोई न्यायप्रिय और बुद्धिमान व्यक्ति उसे निर्दोष नहीं मानेगा.

किसी समय यदि दो व्यक्ति अचानक किसी बात पर लड़ पड़ें और उस लड़ाई में यदि चोट लगने से एक की मृत्यु हो जाती है तो कानून की नजरों में मारने वाला उतना अपराधी नहीं होता जितना वह व्यक्ति, जिस ने किसी पर मारने की इच्छा से आक्रमण किया हो, चाहे उस आक्रमण में वह व्यक्ति मरा न भी हो.

नैतिकता के दृष्टिकोण से भी ऐसा व्यक्ति निर्दोष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नैतिकता स्वेच्छापूर्वक किए जाने वाले कार्य से ही शुरू होती है. यदि हम किसी के भय से कोई काम करते हैं तो उसे नैतिक या अनैतिक नहीं कह सकते. यदि हम स्वेच्छा से कोई कार्य करते हैं तब यह अवश्य ही नैतिकता या अनैतिकता

के दायरे में आ जाता है. अतः मानसिक विचारों को नितांत उपेक्षित कर के सिर्फ कर्म को महत्त्व देना पराशर स्मृति के रचयिता के असंतुलित दृष्टिकोण का परिचायक है.

महात्मा गांधी ने अहिंसा के सिद्धांत का प्रचार किया. आज इस सिद्धांत का न सिर्फ भारत में सम्मान किया जाता है अपितु संपूर्ण विश्व में इस के प्रति आदर का भाव है. उन्होंने कहा कि अहिंसा का अर्थ किसी को न मारनापीटना ही नहीं है. यह तो अहिंसा का एक अंग है. इसे उन्होंने कायिक अहिंसा कहा है.

अहिंसा को उन्होंने तीन भागों में विभक्त किया है यानी कायिक, वाचिक व मानसिक अहिंसा. वाचिक अहिंसा का अर्थ है कि हमें अपनी वाणी से किसी को दुखी नहीं करना चाहिए. उन का अहिंसा का सिद्धांत तब तक अपूर्ण रह जाता है जब तक मानसिक अहिंसा को इस में शामिल नहीं किया जाता.

उन्होंने कहा कि हम अहिंसा को न केवल शारीरिक और वाचिक रूप में अपनाएं, अपितु मन से भी किसी का बुरा न सोचें. यह अहिंसा के पूर्वोक्त दोनों प्रकारों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है. यदि मानसिक रूप से किसी का बुरा न चाहते हुए कोई ऐसा काम किया जाए जो देखने में हिंसापूर्ण लगता हो तो वह भी अहिंसा में ही शुमार होगा. (देखें, वसंतकुमार लाल कृत 'कनटेंपरेरी इंडियन फिलासफी,' पृ. 108-9).

कर्म और विचार

यदि हम केवल कर्म पर बल देते हुए उस के पीछे कार्यरत विचार की ओर ध्यान न देंगे तो हम किसी रोगी की टांग काट कर उस के प्राणों की रक्षा करने वाले डाक्टर और राहजनी के लिए किसी भद्र पुरुष पर छुरे से आक्रमण करने वाले लुटेरे में अंतर नहीं कर पाएंगे, क्योंकि दोनों का कर्म एक सा है. दोनों शस्त्र से घाव करते हैं, रक्त बहाते हैं. क्या महज इसी आधार पर किसी डाक्टर और किसी हमलावर को एक ही श्रेणी में रखना बुद्धिमत्ता होगी? पराशर स्मृति के अनुसार दोनों एक समान हैं क्योंकि दोनों के कर्म एक जैसे हैं, लेकिन कोई भी बुद्धिमान ऐसा नहीं मानेगा.

कर्म और विचार की समस्या पर योगवसिष्ठ में एक निर्णयात्मक श्लोक मिलता है:

मनःकृतं कृतं राम! न शरीरकृतं कृतम्,
येनैवालिंगिता कांता तेनैवालिंगिता सुता.

अर्थात शरीर से की गई क्रिया का महत्त्व नहीं है, अपितु भावों का महत्त्व है. जो व्यक्ति अपनी पत्नी का आलिंगन करता है, वही डोली विदा करने से पूर्व अपनी बेटी का भी आलिंगन करता है. लेकिन दोनों आलिंगनों में आकाशपाताल का अंतर है. यह अंतर उन आलिंगनों के प्रेरक भावों के कारण ही है, यद्यपि कर्म (क्रिया) में समानता है.

वही स्वामीजी आगे लिखते हैं. पराशर स्मृति में लिखा है, "परदेश में, बीमारी और मुसीबत की हालत में अपने बचाव की कोशिश करे, धर्म तो फिर भी किया जा सकता है. व्यक्ति अपने को समर्थ बनाए. समर्थ हो कर ही धर्मकर्म होते हैं. यह बहुत व्यावहारिक सदुपदेश है. ऐसे उपदेश देने वाली पराशर स्मृति पूज्य ग्रंथ है."

वेदांताचार्य का यह कथन भी गलत चीज को समर्थन देने के समान है. किसी धर्म व नियम के प्रति हम कितने निष्ठावान हैं, इस का परिचय तभी प्राप्त होता है जब हम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उस का पालन करें. संस्कृत में एक उक्ति है:

समुपस्थिते सन्निपाते भिषजां परीक्षा, स्वस्थे को वा न पंडित:

अर्थात जब सन्निपात रोग का इलाज करना हो तभी वैद्यों की बुद्धिमत्ता की परीक्षा होती है, वैसे तो सभी अपने को धन्वंतरि समझते हैं.

यही बात धर्म के विषय में लागू होती है. यदि प्रतिकूल परिस्थितियों में हम अपने धर्म को त्याग देते हैं तो इस का स्पष्ट अर्थ है कि हम उस के प्रति पूरी तरह वफादार व ईमानदार नहीं हैं.

यदि भारत को विदेशी शासन के चंगुल से मुक्त करवाने वाले स्वतंत्रता प्रेमी, पराशर के विचार का अनुसरण करते हुए अपने विचारों को उस समय छोड़ दिया करते जब उन्हें अंगरेजी सरकार गिरफ्तार करने लगती तो क्या आज हम स्वतंत्र होते? पराशर स्मृति की पूर्वोक्त शिक्षा व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन बनाती है और उस की दृढ़ता व आस्था को समाप्त करती है.

एक अन्य महाशय ने गंगाप्रसाद उपाध्याय रचित 'विधवा विवाह मीमांसा' में उद्धृत पराशर स्मृति के एक श्लोक की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि मैं ने उस श्लोक (4/32) को जानबूझ कर छिपाया है. उन का कहना है कि उस श्लोक में पराशर ने विधवा विवाह का विधान किया है. यह पराशर की प्रगतिशीलता का द्योतक है.

उन्होंने जिस श्लोक की चर्चा की है, उस में विधवा विवाह की गंध तक नहीं है. न जाने उन्हें उस में से विधवा विवाह का समर्थन कैसे दीख पड़ा. संस्कृति संस्थान, बरेली से 'बीस स्मृतियां' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है. इस में मूल के साथसाथ हिंदी टीका भी है. उस में लिखा है:

'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ.
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो न विद्यते'

अर्थात पति के नष्ट या मृत होने पर, प्रव्रजित (संन्यस्त), क्लीव और पतित हो जाने पर स्त्रियों का अन्य पति नहीं होता है.' (पृ. 129).

यहां स्पष्ट लिखा है कि पति के मृत व नष्ट हो जाने पर स्त्रियों का अन्य पति नहीं होता. इस में विधवा विवाह का निषेध है, न कि विधान.

विधवा विवाह का विधान तो अभी पिछली सदी में लिखी गई उन पुस्तकों

तक में नहीं देखने को मिलता, जिन के लेखक महान समाज सुधारक कहे जाते हैं. सदियों पुरानी पराशर स्मृति में तो उस के होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती.

पिछली सदी में हुए एक प्रसिद्ध समाज सुधारक स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपने ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है, 'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षत योनि स्त्री (वह स्त्री जिस का कौमार्य भंग हो चुका हो) और क्षतवीर्य पुरुष (वह पुरुष जो स्त्रीसंग कर चुका हो) का पुनर्विवाह नहीं होना चाहिए.

(प्रश्न) पुनर्विवाह में क्या दोष है?

(उत्तर) 1-स्त्रीपुरुष में प्रेम न्यून होगा.

2-जब स्त्री व पुरुष पति व पत्नी के मरने के पश्चात दूसरा विवाह करना चाहें तब प्रथम स्त्री व पूर्व पति के पदार्थों को उड़ा ले जाना और कुटुंब वालों का उन से झगड़ा करना...

3-पातिव्रत्य और स्त्रीव्रत धर्म नष्ट होना इत्यादि दोषों के कारण द्विजों (ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों) में पुनर्विवाह व अनेक विवाह कभी न होना चाहिए...द्विजों में स्त्री और पुरुष का एक ही बार विवाह होना वेदादि शास्त्रों में लिखा है, द्वितीय बार नहीं." (चतुर्थ समुल्लास).

विधवा विवाह मीमांसा

पराशर विधवा विवाह का विधान कर ही नहीं सकता था, क्योंकि भारतीय संस्कृति का विश्वास रहा है कि कोई स्त्री अपने पूर्वजन्म के कुकर्मों के दंडस्वरूप ही विधवा होती है. ऐसे प्राणी के पुनर्विवाह का विधान धर्मशास्त्री किस तरह कर सकते थे, आलोच्य श्लोक कई प्रतियों में निम्नलिखित रूप में मिलता है और यही रूप गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'विधवा विवाह मीमांसा' में दिया है:

"नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ,
पंचस्वापत्सु नारीणानां पतिरन्यो विधीयते."

इस का अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है, "पति के खोने, मरने, संन्यासी, नपुंसक या पतित होने आदि पांच आपत्तियों में स्त्रियों को दूसरा पति करने की विधि है."

श्लोक में आए 'पतौ' शब्द को देख कर के अर्थ करना अर्थात 'पतौ' को पति शब्द का सप्तमी विभक्ति एकवचन का रूप बनाना या समझना संस्कृत के प्रारंभिक ज्ञान से भी रहित होने का प्रमाण देना है. संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'पतौ' शब्द बन ही नहीं सकता. यह शब्द अशुद्ध है और पराशर स्मृति की रचना करने वाले से ऐसी गलती होने की बिलकुल संभावना नहीं है.

पाणिनि का निम्नलिखित सूत्र

'पतिः समास एव'

(1/4/8)

'पतौ' शब्द को सही सिद्ध नहीं होने देता. (देखें, सिद्धांतकौमुदी और

पाणिनीयसिद्धांतकौमुदी (अजंत पुल्लिंग प्रकरण), 'काले हायर संस्कृत ग्रामर' पृ. 42 तथा 'व्याकरण द्वादशाध्यायी' पृ. 59).

दरअसल यहां पर पतिते पतौ में पतिते अपतौ है. पाणिनि के सूत्र 'एङः पदांतादति' (6/1/109) के अनुसार संधि होने पर यह दो तरह से लिखा जा सकता है:

'पतितेपतौ अथवा पतितेऽपतौ.'

पाणिनि के दो सूत्रों 'नञ्' (2/2/6) और 'नलोपो नञः' (6/3/73) के अनुसार अपति शब्द बनता है, और 'पतिः समास एव' (1/4/8) के द्वारा यह सप्तमी विभक्ति एक वचन में 'अपतौ' बनता है. इस का अर्थ है, जो पूरी तरह पति न हो. पूरी तरह पति विवाह के बाद बनता है. उस से पूर्व वाग्दान (सगाई) से आधा पति ही होता है. इस के मुताबिक श्लोक का पूर्ण और सही अर्थ होगा, "जिस से सगाई हुई हो, वह पति नष्ट (परदेश में गया हो और खबर न हो) हो जाए व मर जाए अथवा संन्यासी हो जाए व नपुंसक निकले, या पतित हो जाए तो इन पांच आपत्तियों में दूसरा पति कहा है, अर्थात सगाई होने के बाद दूसरे के संग सगाई कर के विवाह का विधान है (देखें पं. कालूराम शास्त्री कृत व्याख्यान दिवाकर, प्रथम भाग, पृ. 232-33 और पं. भीमसेन शर्मा कृत 'विधवा विवाह मीमांसा,' पृ. 70-71).

'पतौ' का महत्त्व

स्वामी दयानंद ने अपने ग्रंथ 'धर्म विज्ञान' (पृष्ठ 293) में स्पष्ट रूप से लिखा है, "महर्षि पराशर के 'नष्टे मृते...' इत्यादि श्लोकों में भी 'अपतौ' शब्द के प्रयोग से वाग्दत्ता प्रकरण (सगाई) का ही ग्रहण किया गया है."

हरिदास संस्कृत ग्रंथशाला में वाराणसी से प्रकाशित हुई पराशर स्मृति की हिंदी टीका में काशी की ज्योतिषी सभा के मंत्री दैवज्ञ वाचस्पति पंडित वासुदेव ने उक्त श्लोक का अर्थ करते हुए लिखा है, "वाग्दान (सगाई) होने के अनंतर और विवाह से पूर्व पति के विनष्ट होने, मर जाने अथवा विदेश चले जाने पर अथवा नपुंसक या पतित होने पर, इन पांच आपत्तियों में, कन्या का दूसरे व्यक्ति के साथ विवाह कर देना चाहिए." (पृष्ठ 34).

उपरिलिखित अर्थों के अतिरिक्त अन्य प्राचीन टीकाओं में भी अपतौ शब्द ही स्वीकार किया गया है और उस का अर्थ वाग्दत्तापरक (सगाई के संदर्भ में) ही किया गया है. उदाहरणार्थ 'विद्धन्मनोहरा' और 'धर्मरत्न' टीकाएं देखी जा सकती हैं.

सत्रहवीं सदी में हुए व्याकरण के महापंडित भट्टोजि दीक्षित ने अपनी पुस्तक 'चतुर्विंशतिमतसंग्रहः' (पृष्ट 87) में आलोच्य श्लोक को उद्धृत करते हुए जो शब्द लिखे हैं वे इस विवाद में काफी सहायक हो सकते हैं,

"दुष्टे तु पूर्ववरे वाग्दत्तापि वरांतराय देया.

तथा

च पराशरः-नष्टे मृते प्रव्रजिते. अस्यार्थः वाग्दानानंतरं पाणिग्रहणात्प्राकपतौ संभावितौत्पत्तिकपतित्वे पूर्वस्मिन्वरे नष्टे सति लक्षणया दूरदेशगमनेनापरिज्ञातवृत्तांते सति."

अर्थात यदि पूर्व वर में कोई दोष हो तो वाग्दत्ता कन्या भी दूसरे वर को देनी उचित है. इसी बात को पराशर कहते हैं: नष्टे मृते प्रव्रजिते... इस श्लोक का अर्थ है कि वाग्दान (सगाई) के अनंतर और पाणिग्रहण से पूर्व संभावित औत्पत्तिक पति (होने वाले पति, न कि पति) के नष्ट, लक्षणा से उस के गुम हो जाने पर अर्थात यदि वह दूर देश में चला जाए एवं उस का कोई समाचार न मिले, इत्यादि.

इन प्रामाणिक अर्थों और व्याख्याओं की विद्यमानता में श्री उपाध्याय कृत अर्थ कोई महत्त्व नहीं रखता, वह उपेक्षणीय है.

वाममार्गियों का हस्तक्षेप

प्रश्न उठता है कि उपाध्याजी को क्या ये अर्थ ज्ञात न थे जो उन्होंने इस का गलत अर्थ लिया? इस का सीधा और स्पष्ट उत्तर यह है कि वह विधवा विवाह के प्रबल समर्थक थे, जैसा कि उन की पुस्तक से प्रतीत होता है. वह यह भी जानते थे कि यदि विधवा विवाह को हिंदुओं के धर्म ग्रंथों से सिद्ध कर दिया जाए तो वे बिना किसी हीलहुज्जत ही इसे स्वीकार कर लेंगे. अतः उन्होंने पराशर स्मृति के आलोच्य मंत्र का गला दबा कर उस से विधवा विवाह कहलवाया. उन का उद्देश्य प्रशंसनीय था, लेकिन उन्होंने इस के लिए जिस बौद्धिक बेईमानी का रास्ता अपनाया, वह निंदनीय है, दरअसल पराशर स्मृति विधवा विवाह का विधान करती ही नहीं है. अतः यह आरोप लगाना कि मैं ने जानबूझ कर श्लोक विशेष की उपेक्षा की है, सरासर गलत है.

कुछ लोगों का कहना है कि वाममार्गियों ने हमारे ग्रंथों में मिलावट की थी. इसी कारण कहींकहीं गलत किस्म की चीजें उन में देखने को मिलती हैं. दरअसल, शास्त्रों में कोई दोष नहीं. स्मृतियों में भी स्वार्थी और वाममार्गी लोगों ने बहुत गड़बड़ी की. अतः पराशर स्मृति के आक्षेप योग्य अंशों को ले कर ज्यादा हायतोबा नहीं करनी चाहिए.

यह बहाना जितना प्रचलित है उतना ही कमजोर है. वाममार्गियों ने हर पुस्तक की पांडुलिपि में किस प्रकार मिलावट कर दी? तब छापेखाने तो थे नहीं. लोग बहुत श्रद्धा और अभिरुचि के साथ पांडुलिपियां तैयार करते व उन का संरक्षण किया करते थे. ऐसे में हर व्यक्ति के घर सुरक्षित रूप में पड़ी पांडुलिपियों में बाद में अंश जोड़ देने की जरा भी संभावना समझ नहीं पड़ती. दूसरे, उन कालों के विद्वानों ने इन गलत बातों का कहीं खंडन नहीं किया. किसी टीकाकार व व्याख्याता ने इन के विरुद्ध सम्मति नहीं दी, अतः यह मानना कि हर गलत बात हमारे शास्त्रों में वाममार्गी कहे जाने वाले मुट्ठी भर लोगों ने घुसेड़ दी, बिलकुल बचकाना बहाना है.

स्मृतियों में वर्णित विवाह, उत्तराधिकार, दायभाग और दंड संबंधी नियम अब

से सैकड़ों नहीं हजारों वर्ष पहले के हैं. तब सामाजिक व आर्थिक वातावरण आज से बहुत भिन्न था. समाज एक जड़ वस्तु नहीं है जो सदा एक जैसी स्थिति में, अपरिवर्तित रूप में पड़ा रहे. इस के नियम परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं और रहेंगे.

ऐसे में पुराने समय के नियमों को आज की परिवर्तित परिस्थितियों में अनुकरणीय व उचित कहना अंधानुकरण ही कहा जाएगा. स्मृतियों में वाममार्गियों ने कुछ नहीं मिलाया और न ही वे स्मृतिकार थे. स्मृतियों के आक्षेप योग्य स्थल तात्कालिक सामाजिक विकास और परिवेश के अनुसार थे. उन में अपने समय का प्रतिबिंब है. वे हमारे लिए सामाजिक विकास और इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्व रखती हैं, लेकिन उन्हें वर्तमान में आदर्श आचार संहिता नहीं ठहराया जा सकता.

कुछ लोगों ने वही पुराना आरोप दोहराते हुए कहा है कि मैं ने ब्राह्मणों की निंदा की है. यह हिंदू धर्म के प्रति मेरी शत्रुता और घृणा का सबूत है.

यह आरोप भी बहुत क्षीण है. लेख में मेरे अपने शब्द कम और पराशर ऋषि के अधिक हैं. ब्राह्मणों के बारे में जो कुछ उस ने संस्कृत में कहा है, वही कुछ मैं ने हिंदी में प्रस्तुत कर दिया है. मैं स्वयं भी सारस्वत ब्राह्मण कहे जाने वाले वर्ग में जन्मा हूं, चाहे व्यक्तिगत रूप में मेरा जातिपांति में विश्वास नहीं है. हमारे वर्ग ने, हमारे पूर्वजों ने, जो भी गलत काम किए हैं, उन को छिपाने की अपेक्षा सुधारना ज्यादा बेहतर है. हर सच्चाईपसंद इनसान का कर्त्तव्य है कि वह हर झूठ को झूठ कहे, चाहे उस में उस के अपने ही पूर्वजों का हाथ क्यों न हो.

हमारे बुजुर्गों को यह भलीभांति ज्ञात था कि वे भी गलती कर सकते हैं. अतः वे बुजुर्गपन को न तो उत्तरदायित्व से मुक्ति का लाइसैंस समझते थे और न ही यह कि उन का गलत काम सही काम में परिवर्तित हो सकता है. अतः उन्होंने अगली पीढ़ी को साफ शब्दों में कहा है:

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि:

–तैत्तिरीय उप. 1/11/1-2

अर्थात जो हमारे सुचरित (अच्छे काम/आचरण) हों, तुम्हें उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए; दूसरों का नहीं.

स्पष्ट है, उन के किसी कुचरित (गलत काम) का अनुसरण करना उन्हें खुद ही अभीष्ट नहीं है. अतः उन के कुचरित को त्यागना उन का अपमान नहीं, सम्मान है; क्योंकि यह उन के ही आदेश का पालन है!

कायर और सच्चाई को नापसंद करने वाले लोग ही खारे कुएं का पानी यह सोच कर पीते रहते हैं कि यह हमारे बाप ने बनवाया था. हमें निःसंकोच यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हम ब्राह्मणों ने कई अमानवीय और निंदनीय कृत्य किए हैं. वर्तमान समय में स्मृतियां जिस रूप में मिलती हैं, उन में अनेक स्थानों पर आक्षेप योग्य वाक्य और श्लोक भी मिलते हैं ('बीस स्मृतियां,' प्रथम खंड, भूमिका, पृ. 6). यदि हम आज इसे नहीं स्वीकारेंगे तो आने वाली पीढ़ियां हमें भी, उसी थैली के चट्टेबट्टे

कह कर, क्षमा नहीं करेंगी. अतः मेरे लेख में ब्राह्मणों की कथित निंदा से कुपित होने के स्थान पर जात्यभिमानी ब्राह्मणों को आत्मनिरीक्षण करना चाहिए.

आत्मनिरीक्षण करें

बाकी रही हिंदू धर्म के प्रति शत्रुता या घृणा की बात, तो मैं यह बता दूं कि मेरे पिता शास्त्रार्थ महारथी पंडित अमरनाथ शर्मा विभाजन से पहले तक पंजाब और सीमाप्रांत के इलाके में हिंदू धर्म की रक्षा हेतु दशकों तक व्याख्यान देते रहे, शास्त्रार्थ करते रहे और हिंदू धर्म ग्रंथों को बुद्धि व विज्ञान संगत सिद्ध करते रहे. उन्होंने हिंदू धर्म की रक्षा के प्रयास में इस के गलेसड़े अंगों की मरहमपट्टी की, लेकिन वह कोढ़ नष्ट नहीं हुआ. मुझे लगता है कि शल्यचिकित्सा के द्वारा ही इस से छुटकारा मिल सकता है अन्यथा यह बीमारी सारे हिंदू धर्म व समाज को ले डूबेगी.

संभव है मेरे लेख के कुछ शब्द किन्हीं लोगों को न भाते हों, लेकिन पाठकों को समझना चाहिए कि उन से होने वाले कष्ट का शल्य चिकित्सा से होने वाले कष्ट के समान अच्छा परिणाम होगा. बुद्धिमान लोग जब यह देखते हैं कि सब कुछ तबाह होने का खतरा है, तो वे कुछ चीजों को कुरबान कर के काफी कुछ बचा लेते हैं:

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडितः.

हमें मानवताविरोधी, अंधविश्वासपूर्ण व संकुचित विचारों को कुरबान कर के मानवीय मान्यताओं और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बचा लेना चाहिए, इसी में हम सब की भलाई है.

मनुस्मृति : ब्राह्मणवाद का षड्यंत्र

मनुस्मृति हिंदुओं के धर्मशास्त्रों में सब से ज्यादा प्रामाणिक और सब से ज्यादा प्रभावशाली धर्मशास्त्र है. वेदों के बाद धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक मामलों में मनुस्मृति सदियों तक पथप्रदर्शक के तौर पर चलती रही. एक तरह से यह हिंदू राज्यों के लिए संविधान के तौर पर प्रचलित रही. यहां तक कि अंगरेजों के शासनकाल में भी हिंदू रियासतों में संपत्ति आदि के मामलों में मनुस्मृति के मुताबिक निर्णय हुआ करते थे. हिंदू राज्य के साथ इसी घनिष्ठ संबंध के कारण आज भी हिंदू राज्य के पर्याय के तौर पर 'मनुस्मृति राज्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है.

मनुस्मृति मानवताविरोधी और जातिपांति को दृढ़ता से प्रचारित करने वाली पुस्तक है. इसी कारण भारतीय संविधान के पितामह डा. भीमराव अंबेडकर ने हजारों लोगों के समक्ष एक जनसभा में इसे अग्निसात् किया था और मनु को अपनी पुस्तकों में ढीठ और असमीक्ष्यकारी व्यक्ति उद्घोषित किया था.

बाद में भी, डी.एम.के. के. संस्थापक रामास्वामी नायकर, विजयवाड़ा के प्रसिद्ध गांधीवादी व नास्तिक केंद्र के संस्थापक प्रो. गोरा, एथिस्ट सोसाइटी आफ इंडिया के महामंत्री डा. जयगोयल आदि ने इसे सार्वजनिक रूप में अपमानित कर अग्नि की भेंट चढ़ाया था. संसद सदस्य बी. के. गायकवाड़ ने संसद में मनुस्मृति फाड़ कर फेंक दी थी.

ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मनुस्मृति में ऐसा क्या है जो इस के विरुद्ध मानवतावादियों और धर्मनिरपेक्ष विचारकों में इतनी घृणा है.

जातिपांति का विष

मनुस्मृति ने इनसानियत की दुश्मन जातिपांति को न केवल ईश्वररचित बताया बल्कि उसे बनाए रखने का राजाओं को आदेश भी दिया. इसी के प्रताप से हिंदू राजाओं ने जातिपांति को अक्षुण्ण बनाए रखने में कोई कसर न उठा रखी. इसी आधार पर हिंदू रियासतों में विशेष सड़कें शूद्रों के लिए राजाज्ञा से बंद थीं. इसी आधार पर सार्वजनिक कुओं आदि से शूद्रों के पानी लेने पर पाबंदी थी. इसी आधार पर स्कूलों में शूद्रों के बच्चों को कमरों के बाहर अपने घरों से लाए टाट के टुकड़ों पर बैठना पड़ता था.

मनु ने मानवता को मानवता नहीं रहने दिया, बल्कि उस ने पहले से चले आ रहे

चार भिन्नभिन्न वर्णों को नियमों के ऐसे शिकंजे में जकड़ा कि वे पुन: आज तक पूरी तरह ढीले नहीं हो सके. उस ने लिखा:

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादत:.
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्..

−1/31

अर्थात सृष्टि रचयिता ब्रह्मा ने संसार में वृद्धि करने के लिए मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य और पैरों से शूद्र पैदा किए.

इस के साथ ही उस ने पूर्वोक्त हर वर्ण (जाति) के काम भी निश्चित कर दिए: वेद पढ़नापढ़ाना, यज्ञ करनाकराना और दान लेना व देना ब्राह्मणों के लिए; प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना और विषयों में आसक्त न होना क्षत्रियों के लिए और पशु पालना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना तथा खेती करना वैश्यों के लिए. शूद्र के लिए काम निश्चित करते हुए मनु ने लिखा है, "ब्रह्मा ने ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की बिना किसी हीलहुज्जत व मनमुटाव के सेवा करना ही शूद्रों के लिए प्रधान काम बताया है."—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु: कर्म समादिशत्.
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया.

−1/91

शताब्दियों पर शताब्दियां बीतती गईं, मनु के इन आदेशों का पालन होता रहा, क्योंकि ये धर्मशास्त्र के वाक्य थे, वे भी एक प्रामाणिक धर्मशास्त्र के. आज भी अछूत, भंगी और दूसरे अनुसूचित जातीय लोग गांवों और शहरों में परंपरागत गंदे और उपेक्षित पेशे अपना कर सारे गांव के सेवकों के रूप में काम करते हैं. यह सब मनुस्मृति के आदेशों का ही परिणाम है.

ब्राह्मणशाही

मनु ने जातिपांति के विषवृक्ष को सींचा, खाद डाली और उस की रक्षा तो की ही, साथ ही उस ने कुछ जातियों को इतना महत्त्व दिया और कुछ को इतना नीचे गिराया कि यह साफ दिखाई देता है कि उस ने एक जाति विशेष के हितों की रक्षा करने में कोई कसर उठा नहीं रखी. वह जाति विशेष है—ब्राह्मण. इसी कारण मनुस्मृति में ब्राह्मणशाही की कुरूप शक्ल जगहजगह दिखाई पड़ती है. उदाहरण के लिए ये स्थल देखिए:

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकस:.
कव्यानि चैव पितर: किं भूतमधिकं तत:..
भूतानां प्राणिन: श्रेष्ठा: प्राणिनां बुद्धिजीविन:.
बुद्धिमत्सु नरा: श्रेष्ठा: नरेषु ब्राह्मणा: स्मृता:..
उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती.

स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते..
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते.
ईश्वर: सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये..
सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्.
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति..
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुंजते हीतरे जना:..

–1/95–96,98–101

अर्थात ब्राह्मण के मुख से देवता लोग अपना हिस्सा (हव्य), तथा पितर अपना हिस्सा (कव्य) खाते हैं. ब्राह्मण से कौन श्रेष्ठ होगा? इस श्लोक में ब्राह्मणों के लिए हलवापूरी की गारंटी दी गई है, क्योंकि इस में तरीके से यह बात कह दी गई है कि ब्राह्मणों का पेट 'लैटर-बक्स' है. उस में डाले खाद्यपदार्थों को ब्राह्मण देवताओं और पितरों (मरे हुए पूर्वजों) तक पहुंचा देता है.

भूतों (पृथ्वी आदि पांच महाभूतों) में प्राणी (प्राणधारी जीव) श्रेष्ठ हैं. प्राणियों में बुद्धिजीवी (बुद्धि से काम लेने वाले) श्रेष्ठ हैं और बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है.

ब्राह्मण का शरीर धर्म की नित्य देह है, क्योंकि धर्म के लिए उत्पन्न ब्राह्मण मोक्ष लाभ के योग्य होता है.

पृथ्वी पर जो कुछ भी है, वह सब कुछ ब्राह्मण का है. ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न तथा कुलीन होने के कारण वह पृथ्वी पर के सारे धन का अधिकारी है. (100)

दूसरे सब व्यक्ति ब्राह्मण की दया के कारण सब पदार्थों का भोग करते हैं.

ब्राह्मणों को राजाओं से भी ऊपर और उन की सेनाओं से भी ज्यादा शक्तिशाली बता कर उन का राजदरबारों में प्रभुत्व स्थापित करते हुए मनुस्मृति का कथन है:

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत्.
ते ह्येनं कुपिता हन्यु: सद्य: सबलवाहनम्..
यै: कृत: सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधि:.
क्षयी चाप्यायित: सोम: को न नश्येत्प्रकोप्य तान्..

–9/313–314

अर्थात महाविपत्ति में फंसा हुआ भी राजा ब्राह्मणों को कुपित न करे, क्योंकि कुपित ब्राह्मण सेना और वाहन सहित राजा को (शाप तथा तपस्या व मंत्र शक्ति से) तत्काल नष्ट कर देते हैं. (313)

ब्राह्मणों ने (शाप दे कर) अग्नि को सर्वभक्षी और समुद्र को खारे पानी वाला बना दिया तथा चंद्रमा को क्षययुक्त कर पीछे पूरा किया. ऐसे ब्राह्मणों को कुपित कर के कौन नष्ट नहीं हो जाएगा? अर्थात सभी नष्ट हो जाएंगे. (314)

आम जनता पर ब्राह्मणों का आतंक और प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य से 'मनुस्मृति' आगे लिखती है:

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिता:.
देवान्कुर्युरदेवांश्च क: क्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात्..
यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा.
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्ताञ् जिजीविषु:..

–9/315–316

अर्थात जो ब्राह्मण स्वर्ग आदि लोकों और लोकपालों की रचना कर सकते हैं तथा जो क्रुद्ध हो कर शाप आदि से देवों को भी अदेव बना देते हैं अर्थात उन्हें देवत्व से गिरा देते हैं, उन ब्राह्मणों को पीड़ित करने वाला कौन मनुष्य उन्नति कर सकता है?

यज्ञ को करनेकराने वाले ब्राह्मणों के आश्रय से ही पृथ्वी आदि लोक और इंद्र आदि देवता स्थित हैं. उन ब्राह्मणों को जीने का इच्छुक कौन व्यक्ति मारेगा? अर्थात कोई नहीं.

मनुस्मृति न सिर्फ पढ़ेलिखे और योग्य ब्राह्मण को आदर का पात्र घोषित करती है, बल्कि मूर्ख, निकम्मे और दुराचारी ब्राह्मण को भी उतने ही आदर का पात्र दृढ़तापूर्वक उद्घोषित करती है:

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्.
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाऽग्निर्दैवतं महत्..
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति.
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते..
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु.
सर्वथा ब्राह्मणा: पूज्या: परमं दैवतं हि तत्..
जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुव:.
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्र: कथंचन..

–मनु. 9/317–19 तथा 8/20

अर्थात जिस प्रकार शास्त्रविधि से स्थापित अग्नि तथा सामान्य अग्नि दोनों में ही श्रेष्ठ देवता हैं, उसी प्रकार मूर्ख और विद्वान दोनों ही ब्राह्मण श्रेष्ठ देवता हैं.

जिस प्रकार तेजस्वी अग्नि श्मशानों में भी (शव को जलाती हुई) दूषित नहीं होती और यज्ञों में हवन करने पर फिर अधिक बढ़ती ही है.

उसी प्रकार, यद्यपि ब्राह्मण निंदित कर्मों में लगा हुआ हो तथापि वह सब प्रकार से पूज्य है, क्योंकि ब्राह्मण सब से उत्तम देवता हैं.

मूर्ख न्यायाधीश

यही नहीं, मनुस्मृति का आदेश है कि ब्राह्मण चाहे योग्य हो या न हो, लेकिन वही धर्मप्रवक्ता अर्थात न्यायाधीश बन सकता है. शूद्र चाहे योग्य ही क्यों न हो, न्यायाधीश बनने के योग्य नहीं है. (8/20)

हो सकता था कोई राजा किसी योग्य शूद्र को न्यायाधीश बना देता. इस संभावना को भी पूरी तरह समाप्त करने के उद्देश्य से मनुस्मृति भावी विपत्ति का भय दर्शाती हुई कहती है:

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्.
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पंके गौरिव पश्यतः..

−8/21

अर्थात जिस राजा के राज्य में शूद्र न्यायाधीश होता है, उस का राज्य उस के देखतेदेखते कीचड़ में धंसी हुई गाय की तरह, मुसीबत में फंस कर दुखी होता है.

राज्य में ब्राह्मणों के होने को अत्यावश्यक बताने के लिए टेढ़े ढंग से मनुस्मृति का कथन है:

यद्राष्ट्रं...अद्विजम्. विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीड़ितम्..

−8/22

अर्थात जिस राजा के राज्य में ब्राह्मण न हों, वह राज्य दुर्भिक्ष और व्याधियों से पीड़ित हो कर पूरी तरह नष्ट हो जाता है.

क्षत्रिय राजा हुआ करते थे और वे शक्तिशाली भी होते थे. ब्राह्मणों को उन से भय हो सकता था. अतः इस का इलाज करते हुए मनुस्मृति ने घोषणा की:

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः.
ब्रह्मैव सन्नियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम्..

−9/320

अर्थात अत्यंत समृद्ध क्षत्रिय भी यदि ब्राह्मण को पीड़ित करे तो उस का (शाप आदि के द्वारा) शासन करने वाला ब्राह्मण ही है, क्योंकि क्षत्रिय ब्रह्म (की बाहु) से उत्पन्न हुए हैं.

इस कथन से क्षत्रियों को ब्राह्मणों से नीचा दिखाने की कोशिश की गई है. लेकिन ऐसा लगता है कि इस के प्रति क्षत्रियों की अच्छी प्रतिक्रिया न थी. अतः कुछ समय बाद, या तभी ब्राह्मणों ने कूटनीति का आश्रय ले कर यह घोषणा कर दी:

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते.
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते..

−9/322

अर्थात ब्राह्मण के बिना क्षत्रिय और क्षत्रिय के बिना ब्राह्मण समृद्धि को नहीं पा सकते, किंतु मिले हुए ब्राह्मण और क्षत्रिय इस और उस लोक में समृद्धि पाते हैं.

लेकिन ब्राह्मणों ने क्षत्रियों पर अपनी श्रेष्ठता अन्य कई ढंगों से अक्षुण्ण बनाए रखी.

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत्.
भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत्..

−3/111

अर्थात यदि घर में क्षत्रिय जाति का अतिथि आए तो उसे ब्राह्मण को भोजन खिला चुकने के बाद भोजन पूछना चाहिए, उस के साथ नहीं.

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्.
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता..

−2/135

अर्थात दस वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय आपस में पितापुत्र के समान हैं. ब्राह्मण बाप समान और क्षत्रिय पुत्र समान है.

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता.
ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः..

−8/276

अर्थात ब्राह्मण तथा क्षत्रिय यदि एकदूसरे पर किसी बुरे काम को करने का दोष लगा कर एकदूसरे की निंदा करें तो इस के लिए ब्राह्मण को 250 पण (तत्कालीन पैसा) और क्षत्रिय को 500 पण से दंडित करें.

मनुस्मृति ने क्षत्रियों की अपेक्षा वैश्यों को तो बहुत ज्यादा मात्रा में ब्राह्मणों के अत्याचारों के शिकार बनाए जाने की व्यवस्था की है. वैश्य क्योंकि ब्रह्मा के उरु (जंघा) से उपजे बताए गए, अतः मनुस्मृति ने सब से पहले उन्हें शूद्रों के समान नीच घोषित किया.

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः.
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः..

−5/32

अर्थात नाभि से ऊपर जितनी इंद्रियां हैं, वे सब पवित्र हैं, और जो नाभि से नीचे के हिस्से में हैं, वे सब अपवित्र हैं.

वैश्य क्योंकि नाभि के नीचे के भाग से उपजे हैं, अतः वे नीच हैं.

इन वैश्यों के साथ मनुस्मृति के मुताबिक ब्राह्मण कैसा अत्याचारपूर्ण व्यवहार करने के लिए स्वतंत्र हैं, यह जानने के लिए 11वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य हैं :

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनांगेन यज्वनः.
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि..
यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः.
कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद् यज्ञसिद्धये..

−11/11−12

अर्थात यज्ञ करते हुए ब्राह्मण का यदि धनाभाव के कारण एक अंग से यज्ञ पूरा न हो रहा हो तो धर्मात्मा राजा के राज्य में यज्ञकर्ता ब्राह्मण बहुत पशुओं वाले, पाक यज्ञ आदि न करने वाले तथा सोमयज्ञ से भी हीन वैश्य के घर से आवश्यक चीजें ला सकता है. यदि वह मांगने पर न दे तो बलात्कार या चोरी द्वारा उसे वे चीजें लाने की छूट है. धर्मात्मा राजा ऐसे काम के लिए उस ब्राह्मण को दंडित न करे.

मनु का विधान है कि यदि किसी भी वैश्य के पास से धन आदि प्राप्त न हो तो ब्राह्मण उसी बेरहमी से शूद्र के घर से धन छीन लाए, क्योंकि शूद्र का यज्ञ से कोई संबंध नहीं है:

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः.
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः..

−11/13

मनुस्मृति में शूद्रों (आज के सभी अनुसूचित जातीय, अनुसूचित जन जातीय और पिछड़ी श्रेणियों के लोगों) के साथ ब्राह्मण को मनमाना और निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने की असीम छूट है. शूद्र ने चाहे ब्राह्मण का कुछ बिगाड़ा हो या नहीं, ब्राह्मण उसे मनमाने ढंग से पीड़ित और दंडित कर सकता है. मनु का आदेश है :

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः.
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते..

−10/29

अर्थात धनोपार्जन में समर्थ शूद्र को भी धनसंग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि धन को प्राप्त कर वह ब्राह्मणों को ही पीड़ित करने लगता है.

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत्.
न हि तस्यास्ति किंचित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः..

−8/417

अर्थात ब्राह्मण के लिए उचित है कि वह शूद्र का धन बिना किसी भय व संकोच के ले ले, क्योंकि शूद्र का अपना कुछ भी नहीं है. उस का धन उस के मालिक द्वारा हरण करने योग्य है.

शूद्र तो ब्राह्मणों के 'विधाता द्वारा बनाए हुए दास' हैं. मनुस्मृति का आदेश है कि शूद्र चाहे खरीदा हुआ हो या नहीं, उस से दास कर्म कराए, क्योंकि विधाता ने उन्हें ब्राह्मणों की दासता के लिए ही रचा है :

शूद्रं तु कारयेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा.
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा..

−8/413

ब्राह्मण को यदि कोई दुर्वचन कहे तो वह जुरमाने और मृत्युदंड का अधिकारी होता है.

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति.
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति..

–8/267

अर्थात यदि किसी ब्राह्मण को कोई क्षत्रिय दुर्वचन कहे तो उसे एक सौ पण का दंड दे. इसी अपराध के लिए वैश्य को डेढ़ सौ या दो सौ पण का दंड दे और शूद्र का इस अपराध के कारण वध कर देना चाहिए.

लेकिन यदि यही अपराध क्षत्रिय या वैश्य के प्रति खुद ब्राह्मण करे तो उस के लिए दंड इस से बिलकुल आधा है, अर्थात 50 या 25 पण. और शूद्र के प्रति किए गए अपराध के मामले में तो किसी प्रकार का दंड है ही नहीं. शूद्र ब्राह्मण को दुर्वचन कहे तो मृत्युदंड, लेकिन ब्राह्मण शूद्र को दुर्वचन कहे तो सिर्फ 12 पण (पैसे) दंड :

पंचाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने.
वैश्ये स्यादर्धपंचाशच्छूद्रे द्वाद्वशको दमः..

–8/268

यदि ब्राह्मण पर कोई शूद्र दारुण वचन से आक्षेप करे तो उस शूद्र की जीभ काट कर उसे दंडित करना चाहिए :

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन्.
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः..

–8/270

ब्राह्मण की जाति और उस के नाम का उच्चारण कर 'हे यज्ञदत्त, तुम नीच ब्राह्मण हो' ऐसा कह कर, कटु वचन कहने वाले शूद्र के मुख में आग से लाल हुई 10 अंगुल लंबी लोहे की कील डालनी चाहिए :

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः.
निक्षेप्योऽयोमयः शंकुर्ज्वलन्नास्ये दशांगुलः..

–8/271

ब्राह्मण को शूद्र जिस अंग से मारे, राजा उस का वही अंग कटवा दे. जो शूद्र उसे हाथ उठा कर या लाठी से मारे, राजा उस का हाथ कटवा दे. पैर से मारने वाले का पैर कटवा दे. (8/279-80)

ब्राह्मण को यदि कोई शूद्र गर्वपूर्वक उपदेश दे तो उस शूद्र के मुंह और कान में राजा उबला हुआ तेल डलवा दे :

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे व पार्थिवः.

–8/272

ब्राह्मण के साथ यदि एक ही आसन पर शूद्र बैठ जाए तो राजा उसे तपाई हुई लोहे की छड़ से कमर में दाग कर देशनिकाला दे दे अथवा उस के चूतड़ कटवा दे:

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः.
कट्यां कृतांको निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत्..

—8/281

ब्राह्मण के शरीर पर यदि कोई शूद्र दर्प के कारण थूक दे तो राजा उस के दोनों होंठ कटवा दे. यदि वह ब्राह्मण पर पेशाब करे तो राजा उस की मूत्रेंद्रिय कटवा दे और यदि उस पर अपानवायु छोड़े तो उस की गुदा कटवा दे :

अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः.
अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम्..

—8/282

यदि ब्राह्मण के केश, चरण, दाढ़ी, गरदन व अंडकोश को कोई शूद्र अहंकारवश पकड़ ले तो राजा बिना विचारे उस शूद्र के हाथ कटवा दे :

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन्.
पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च..

—2/283

ब्राह्मणों को सदा यह भय रहता था कि कहीं दूसरे लोग भी उन की तरह मुफ्त की खाने न लग जाएं. ऐसे में उन के हिस्से की मात्रा का कम हो जाना स्वाभाविक था. अतः मनुस्मृति ने विधान किया है :

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः.
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत्..

—10/96

अर्थात नीची जाति का व्यक्ति यदि लोभवश ऊंची जाति की आजीविका को अपना ले तो राजा उस का सर्वस्व छीन कर उसे शीघ्र ही देश से निकाल दे.

अपराधों के लिए जो दंडविधान किया गया है, उस में भी मनुस्मृति ब्राह्मणों को छूट देती है. बारबार झूठी गवाही देने पर भी ब्राह्मण को सिर्फ राज्य से निकालने का विधान है जब कि तीनों जातियों—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—के लोगों का सारा धन जब्त कर के उन्हें राज्य से निकालने का आदेश है :

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृप.:
प्रवासयेद् दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत्.

—8/123

मनु ने शारीरिक दंड के लिए 10 स्थान गिनाए हैं— लिंग, पेट, जीभ, हाथ, पैर, नेत्र, नाक, धन और शरीर. इस के साथ ही उस ने लिखा है कि दंड के ये स्थान

क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के लिए हैं. ब्राह्मण तो पीड़ारहित अर्थात बिना किसी प्रकार दंडित किए केवल राज्य से निकाल दिया जाता है.

परस्त्रियों से छेड़खानी व कामुकतापूर्ण व्यवहार करने पर ब्राह्मण से भिन्न तीनों वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के लोग मृत्युदंड के अधिकारी हैं, लेकिन ब्राह्मण को यहां भी विशेषाधिकार प्राप्त है :

अब्राह्मण: संग्रहणे प्राणांतं दण्डमर्हति.

–8/359

अर्थात ब्राह्मण से भिन्न जाति का व्यक्ति किसी स्त्री से कामुकतापूर्ण व्यवहार के कारण मृत्युदंड का अधिकारी होता है.

एक दूसरा विशेषाधिकार देते हुए मनुस्मृति का कहना है कि शूद्र शूद्रवर्ण की स्त्री से ही शादी कर सकता है; वैश्य वैश्य और शूद्र इन दो वर्णों की स्त्रियों से शादी कर सकता है; क्षत्रिय क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्त्रियों से शादी कर सकता है; लेकिन ब्राह्मण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों की स्त्रियों से शादी कर सकता है :

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विश: स्मृते.
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मन:..

–3/13

ब्राह्मणों को मनुस्मृति ने ऋण पर सूद की मात्रा में भी बहुत छूट दी है. क्षत्रियों से ऋण पर तीन प्रतिशत मासिक सूद लेने को कहा है तो वैश्यों से चार प्रतिशत तथा शूद्रों से पांच प्रतिशत. लेकिन ब्राह्मणों से सिर्फ दो प्रतिशत सूद लेने का मनुस्मृति आदेश देती है:

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पंचमं व शतं समम्.
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वश:..

–8/142

करमुक्त जाति

मनु ने आम जनता पर तरहतरह के टैक्स लगाने का विधान किया है. अनाज, वृक्ष, मांस, शहद, गंध, घी, औषधि, रस, फूल, मूल, फल, पत्ता, शाक, घास, चमड़ा, बांस, मिट्टी के बरतन और पत्थर की बनी वस्तुएं–इन का छठा भाग टैक्स के रूप में लेने का विधान है. ऐसे ही पशुओं और सुवर्ण पर टैक्स का विधान है. कारीगरों, बढ़इयों, लोहारों और कुलियों से भी श्रम के रूप में टैक्स लेने का विधान मनुस्मृति करती है.

मतलब यह कि मनु ने टैक्स से किसी को भी मुक्त नहीं किया. कुलियों तक को भी नहीं छोड़ा. लेकिन ब्राह्मणों के बारे में मनुस्मृति न सिर्फ उन से कभी भी टैक्स न

लेने का आदेश देती है बल्कि राजा को यह आदेश भी देती है कि वह उन का ऐसे ध्यान रखे जैसे पिता अपने पुत्र का रखता है. यदि राजा ऐसे नहीं करेगा तो उस के राज्य में अकाल पड़ जाएगाः

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्.
न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन्..

−7/133

अर्थात अति निर्धन होने पर भी राजा ब्राह्मण से टैक्स न ले, बल्कि यह ध्यान रखे कि उस के देश में रहता हुआ ब्राह्मण भूख से पीड़ित न हो.

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा.
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति..

−7/134

अर्थात जिस राजा के देश में ब्राह्मण भूख से पीड़ित होता है, उस राजा का सारा राज्य शीघ्र ही भूख से पीड़ित हो जाता है. अर्थात राज्य में अकाल पड़ जाता है.

श्रुतवृत्ते विदित्वाऽस्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत्.
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम्..

−7/135

अर्थात राजा ब्राह्मण के शास्त्र (शस्त्र ज्ञान) और आचरण का विचार कर उस की धर्मयुक्त वृत्ति (आजीविका) का प्रबंध करे, और पिता जिस प्रकार अपने सगे व वैध पुत्र की रक्षा करता है, उसी प्रकार उस की (ब्राह्मण की) रक्षा करे.

संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम्.
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च..

−7/136

अर्थात राजा द्वारा सुरक्षित होता हुआ ब्राह्मण प्रतिदिन जिस धर्म को करता है, उस से राजा की आयु, उस के धन और राज्य की वृद्धि होती है.

ब्राह्मणों को क़र से छूट देने की बात ही मनुस्मृति ने नहीं की, बल्कि वह यह भी कहती है कि यदि राजा स्वयं मुकदमों का फैसला न करे तो इस कार्य के लिए विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त कर दे :

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्.
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने..

−8/9

मनुस्मृति ने ब्राह्मणों के लिए 'स्त्री आदि भोगसाधक पदार्थों' का प्रबंध करने का भार भी राजा पर डाला है. वे किसी बिगड़े हुए नवाब से कम न थे :

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः.
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद् भोगान्धनानि च..

−7/79

अर्थात राजा बड़ीबड़ी दक्षिणाओं वाले अनेक यज्ञ करे और धर्म के लिए ब्राह्मणों को (स्त्री, गृह, शय्या, वाहन आदि) भोगसाधक पदार्थ तथा धन दे. (देखें मणिप्रभा हिंदी टीका पृ. 337)

अक्षय निधि

राजा वेदाध्ययन के बाद गुरुकुल से आकर गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने वाले ब्राह्मणों को धनधान्य और रहने को गृह दे कर उन की पूजा करे, क्योंकि ब्राह्मण को राजा का अक्षय खजाना कहा गया है :

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्.
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते..

−7/82

ब्राह्मण को दिए दान को चोर चुराते नहीं और शत्रु छीनते नहीं, अतः राजा ब्राह्मणों को दान दे. यह उस के लिए अक्षय निधि सिद्ध होगा :

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति.
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः..

−7/83

अग्नि में दी गई आहुति की अपेक्षा ब्राह्मण के मुख में किया गया हवन अर्थात उसे दिया गया दान बहुत अच्छा होता है, क्योंकि वह न नीचे गिरता है, न कभी सूखता है और न कभी नष्ट होता है:

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्.
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम्..

−7/84

यह दान के नाम पर लोगों के धनधान्य पर हाथ साफ करने का एक प्रलोभनात्मक व आकर्षक तरीका है. इस से भी ज्यादा प्रलोभन देते हुए अगले श्लोक में मनुस्मृति का कथन है:

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे.
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे..

−7/85

दान का फल

अर्थात गैरब्राह्मण को दिए दान का साधारण फल मिलता है. ब्राह्मणों वाले काम

न करने वाले, जाति मात्र के ब्राह्मण को दान देने से दोगुना फल मिलता है. विद्वान ब्राह्मण को दान देने से 10 लाख गुना ज्यादा फल मिलता है और वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण को दिए दान का इतना ज्यादा फल मिलता है कि उस का हिसाब नहीं लगाया जा सकता, वह अनंत फलवाला होता है.

अध्याय आठ के श्लोक 349 में मनुस्मृति का विधान है कि किसी ब्राह्मण की रक्षा करते हुए यदि कोई किसी की हत्या कर दे तो वह हत्यारा निर्दोष रहता है, उसे पाप नहीं लगता. उधर, अध्याय चार में कहा गया है कि ब्राह्मण की हत्या के उद्देश्य से यदि कोई सिर्फ लाठी आदि उठाए, प्रहार न भी करे, तो भी वह सौ वर्ष तक नरक में रहता है:

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया.
शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते..

−4/165

लाठी के प्रहार की बात तो एक ओर रही, मनुस्मृति तो ब्राह्मण को तिनके के साथ भी मारने वाले को सहन करने को तैयार नहीं:

ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम्.
एकविंशतिमाजाती: पापयोनिषु जायते..

−4/166

अर्थात जानबूझ कर क्रोध से जो ब्राह्मण को एक तिनके से भी मारता है, वह 21 जन्मों तक कुत्तेबिल्ली आदि पापयोनियों में जन्म लेता है.

यदि कोई किसी शस्त्र से ब्राह्मण पर हमला कर के उसे घायल कर दे तो इस का उसे बहुत बुरा परिणाम भुगतना पड़ेगा. ब्राह्मण के शरीर से जो खून नीचे गिराता है, वह मरने पर बहुत भारी दुख पाता है. ब्राह्मण के शरीर से निकला हुआ रक्त पृथ्वी पर गिर कर जितने धूलिकणों को गीला करता है, उतने वर्षों तक उस आक्रमणकारी को गीदड़, कुत्ते, गीध आदि खाते हैं. अतः बुद्धिमान मनुष्य ब्राह्मण के ऊपर डंडा आदि कभी न उठाए, न उस का तिनके से ताड़न करे और न उस के शरीर से खून बहाए:

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगंगत:.
दु:खं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्रज्ञतया पर:..
शोणितं यावत: पांसून् संगृह्णति महीतलात्.
तावतोऽब्दानमुत्रान्यै: शोणितोत्पादकोऽद्यते.
न कदाचिद् द्विजे तस्माद् विद्वानवगुरेदपि.
न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक् ..

−4/167−169

मनुस्मृति ने ब्राह्मणों की हवा बांधने और लोगों पर उन का मनोवैज्ञानिक ढंग से

आतंक डालने के लिए विधान किया है कि यदि कोई व्यक्ति कहीं जा रहा हो और उसे रास्ते में ब्राह्मण मिल जाए तो वह उस ब्राह्मण की पहले प्रदक्षिणा करे, उस की पूजा करे, फिर आगे बढ़े (4/39). इसी तरह मनुस्मृति का यह भी आदेश है कि ब्राह्मण क्योंकि बहुत पवित्र हैं, अतः उन्हें देखते हुए मलमूत्र का त्याग न करे (4/48). यह भी ब्राह्मणों को पवित्रता और अलौकिकता की रक्षा के लिए किया गया विधान है.

श्राद्ध के प्रकरण में मनुस्मृति का विधान है कि ब्राह्मणों को आसनों पर बैठा कर उन की पूजा करे (3/209). अग्नि के अभाव में उन ब्राह्मणों के हाथों पर ही तीन आहुतियां दे, क्योंकि 'जो अग्नि है वही ब्राह्मण है' ऐसा वेदों के रचयिता ऋषियों का मत है (3/212), बाद में ब्राह्मणों को भोजन कराए. उन्हें जोजो वस्तु अच्छी लगती हो, वह उन्हें खुशी से परोसे (3/231), स्वयं प्रसन्न हो कर मधुर वचनों से ब्राह्मणों को प्रसन्न करे, धीरेधीरे भोजन कराए और 'यह लड्डू बहुत मधुर एवं मुलायम है, इसे लीजिए,' 'यह कचौरी खस्ता एवं गरम है, इसे लीजिए' इस प्रकार वस्तुओं के गुणों को बारबार बता कर उन्हें खाने को प्रेरित करे.

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुस्मृति में ब्राह्मणवाद की तूती बोलती है. ब्राह्मणों ने उस में हर रिआयत ली है और दूसरों पर हर अत्याचार निर्विकार भाव से ऐसे किया है मानो यह उन का दैवी अधिकार हो. काले युगों की मानवताविरोधी ऐसी पुस्तकें यदि जलाई और फाड़ी नहीं जाएगी तो क्या पूजी जाएगी? क्या इन्हें ठुकराए बिना व आदर्श के आसन से च्युत किए बिना हमारी मानवता की भलाई की ऊंचीऊंची बातें मजाक बन कर नहीं रह जाएंगी?

रावण और भारत सरकार

(1974 में भारत सरकार ने रावण पर दो रुपए का एक डाक टिकट जारी किया था, जिसमें उसके सिर पर गधे का चिह्न बनाया गया था. वाल्मीकीय रामायण में चित्रित रावण के चरित्र को ध्यान में रखकर मैं ने एक पत्र लेख के रूप में लिखा था, जो सरिता जुलाई (द्वितीय) 1974 में छपा था. उस का पाठ नीचे दिया गया है. इस पर पर्याप्त चर्चा हुई और अनेक प्रश्न उठे, जिन के उत्तर 'आलोचना और आपत्तियों के उत्तर' शीर्षक में दिए गए थे.)

भारत सरकार के डाकतार विभाग ने रावण का दो रुपए मूल्य का टिकट प्रकाशित कर अपनी रुग्ण मानसिक अवस्था का परिचय दिया है क्योंकि बिना किसी आधार के टिकट में चित्रित रावण के सिर पर गधे का सिर लगाया गया है. रावण जैसे धुरंधर विद्वान के लिए आदि कवि वाल्मीकि ने अपनी रामायण के सुंदर कांड, सर्ग 6 और 10 में 'महात्मा' और सर्ग 51 में 'महाप्रज्ञ' और 'बुद्धिमान' विशेषणों का प्रयोग किया है.

रावण का चरित्र

रावण के चरित्र में भारतीय मानस को मात्र एक ही बुराई दृष्टिगोचर हुई है: सीता का अपहरण. परंतु यदि तनिक विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि रावण का सीताहरण का उद्देश्य कामुकता न हो कर अपनी बहन के अपमान का प्रतिकार मात्र था. हालांकि हम उस के इस कदम को प्रशंसनीय नहीं कह सकते तो भी इस के कारण हम उस की सब चरित्रगत उपलब्धियों को दृष्टिविगत नहीं कर सकते.

रावण ने यद्यपि सीता का प्रतिकार के रूप में अपहरण किया, तथापि उस ने एक सभ्य एवं शिष्ट व्यक्ति की भांति सीता के सम्मान और सतीत्व की रक्षा की. स्वयं वाल्मीकि ने लिखा है कि रावण ने सीता को अपहरण के उपरांत अपने महलों में न ले जा कर अशोक वाटिका में रखा और वहां भी उस की सेवा के लिए सेवक नहीं, सेविकाएं जुटाईं.

शिष्टता का परिचय

राम द्वारा ली गई सीता की अग्निपरीक्षा भी इस बात की द्योतक है कि रावण ने

किस प्रशंसनीय शिष्टता का परिचय दिया. अतः मात्र सीताहरण की घटना के आधार पर रावण को सब बुराइयों का प्रतीक नहीं बनाया जा सकता.

भेदभाव पूर्णव्यवहार क्यों?

दूसरे, यदि नारी अपहरण के कारण रावण के सिर पर गधे का सिर लगाना युक्तिसंगत है फिर तो कइयों के सिरों को उस से विभूषित करना पड़ेगा! महाभारत से पता चलता है कि अर्जुन ने सुभद्रा का, श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का और बाल ब्रह्मचारी भीष्म पितामह ने काशीराज की तीन (बाद में एक को छोड़ दिया था) बेटियों का अपहरण किया था. अंतिम हिंदू सम्राट पृथ्वीराज चौहान ने संयोगिता का अपहरण किया था.

इन अपहरणकर्ताओं ने तो अपहृताओं को कामुक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयुक्त किया और उस नैतिक उच्चता का इन में अभाव रहा जिस का रावण ने प्रचुर परिचय दिया. फिर भी इन के सिरों पर आज तक किसी ने गधों के सिर नहीं लगाए हैं.

तिरस्कारात्मक दृष्टिकोण

उधर उच्च नैतिक व्यवहार करने वाले रावण के प्रति बिना किसी आधार के तिरस्कारात्मक दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है. यह अपनी निर्णयात्मक बुद्धि का सरेआम दिवाला निकालना है. भारत सरकार को यह टिकट वापस ले कर उसे पुनः संशोधित रूप में प्रसारित करना चाहिए ताकि अतीत के एक व्यक्तित्व के साथ न्याय हो सके.

रावण और भारत सरकार

आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर

मेरे लेख 'रावण और भारत सरकार' पर पाठकों की विविध प्रतिक्रिया हुई. कुछ को रावण के सिर पर गधे का सिर आरोपित करना समुचित प्रतीत हुआ तो कुछ को अनुचित. कुछ सीताहरण को अक्षम्य अपराध मान कर चले हैं, लेकिन कृष्ण, अर्जुन, भीष्म, पृथ्वीराज द्वारा नारी अपहरण को सही सिद्ध कर रहे हैं. कुछ लोगों ने क्रोध, दुख व निराशा की मिश्रित भावना व्यक्त की है.

इस लेख में प्रतिपादित किया गया था कि रावण एक धुरंधर विद्वान एवं महात्मा राजा था. रामायण के मूल लेखक ऋषि वाल्मीकि ने उस का प्रशंसापूर्वक स्मरण किया है. सीता अपहरण एक राजनीतिक एवं प्रतिशोधात्मक कदम था. भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वों–कृष्ण, अर्जुन, भीष्म पितामह, पृथ्वीराज चौहान आदि–ने भी स्त्रियों के अपहरण किए. परंतु उन के सिरों पर गधे का सिर नहीं लगाया जाता, जब कि रावण पर मात्र सीता के अपहरण के आधार पर ऐसा तिरस्कारात्मक चिह्न आरोपित किया जाता है. इस पर कुछ पाठकों को आपत्तियां हैं.

मध्य प्रदेश से एक पाठक का सुझाव है, "भारत सरकार ने जो टिकट प्रसारित किया है, उस पर रावण का चित्र नहीं है, प्रत्युत रावण का मुखौटा है. अतः उस मुखौटे पर यदि गधे का सिर अंकित कर दिया गया है तो उस पर किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए. यदि यहां रावण का चित्र होता तो वह वास्तव में अशोभनीय होता. परंतु ऐसा नहीं है."

यदि यह मान भी लिया जाए कि टिकट पर रावण का चित्र नहीं, मुखौटा है, तथापि उस पर अंकित गधे के सिर का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता. यह मुखौटा है तो रावण का ही. उस के नीचे लिखा हुआ भी है, 'रावण.' ऐसे में मुखौटा रावण के चित्र का ही स्थानापन्न सिद्ध होता है. उस पर आरोपित कोई भी तिरस्कारात्मक चिह्न रावण के व्यक्तित्व का ही तिरस्कार है. यदि किसी संभ्रांत व्यक्ति का मुखौटा बना कर उस के नीचे उस का नाम भी अंकित कर दिया जाए और उस के सिर पर गधे का सिर लगा दिया जाए तो क्या वह उस के व्यक्तित्व का अपमान नहीं होगा? अतः चित्र व मुखौटे की दलील कोई अर्थ नहीं रखती जब कि सर्वविध संदिग्धताओं का निवारक संबद्ध व्यक्ति का नाम भी उस के साथ अंकित है.

जयपुर से एक महाशय लिखते हैं, "यह ठीक है कि रावण बहुत विद्वान व

गुणसंपन्न व्यक्ति था लेकिन इस के साथसाथ वह चरम सीमा का अभिमानी था. 'गधे का सिर' उस के अभिमानी होने का प्रतीक है. इस को सब से ऊपर देने का उद्देश्य यह है कि मनुष्य में कितने ही गुण क्यों न हों, अगर वह अभिमानी है तो सब गुण बेकार हैं. यही कारण है कि राम आदर्श बन गए और रावण राक्षस कहलाता है."

यह मत उस स्थिति में मान्य ठहराया जा सकता था यदि भारतीय संस्कृति में कहीं ऐसा विधान होता कि अभिमानी के सिर पर गधे का सिर लगाया जाना चाहिए, अथवा उस संस्कृति के इतिहास में कोई अन्य ऐसा उदाहरण होता जहां सर्वगुणसंपन्न कोई व्यक्तित्व अपने अभिमान मात्र के आधार पर ही गधे के सिर से लांछित किया गया हो. परंतु दोनों ही प्रकार के आधारों का अभाव है: न कहीं विधान है और न ही कोई ऐतिहासिक उदाहरण है.

विशेष व्यक्तित्वों का अभिमान

भारतीय संस्कृति में कई ऐसे व्यक्तित्व हैं, जिन में अभिमान चरम सीमा का था. ऋग्वेद के मंडल 10, सूक्त 125 के आठों मंत्रों का ऋषि वागाम्भृणी और मंडल 10, सूक्त 119 का ऋषि लव ऐंद्र नितांत आत्मघोषी हैं—किसी भी अभिमानी से ज्यादा. कृष्ण का गीतोपदेश मानो अभिमान का नग्न शाब्दिक चित्र है. गीता में सर्वत्र 'मैं, मैं' की रट लगाई गई है. संक्षेप में, गीता में कृष्ण का आत्मप्रचार ही, अभिमान ही, सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है. लेकिन इन सब के सिर खाली रखे गए हैं, उन पर कहीं गर्दभ शीर्ष नहीं है. अतः उस का रावण के सिर पर आरोपित करना उचित नहीं.

कहा जा सकता है कि ये सब तो सत्पुरुष थे, उन में अभिमान था तो भी कोई गंभीर बात नहीं है. रावण दुष्ट था, अतः उस में अभिमान की अधिकता दर्शाने के लिए उस के सिर पर गधे का सिर लगा कर उसे अपमानित किया जाता है. परंतु यह भी सही बात नहीं है.

भारतीय संस्कृति में दुर्योधन और शिशुपाल बहुत कुख्यात व्यक्ति दर्शाए गए हैं. दोनों को अभिमान के अंशावतार की सीमा तक अभिमानी प्रतिपादित किया गया है. दुर्योधन ने तो राजदरबार में जनसमुदाय के समक्ष द्रौपदी की साड़ी उतरवाने तक का दुस्साहस कर अपने उद्दंड अभिमान को व्यक्त किया. परंतु इन के अभिमान के आधार पर इन के सिरों पर गर्दभ शीर्ष आज तक नहीं लगाया गया. फिर रावण के साथ ऐसा अन्याय क्यों?

रावण राक्षस क्यों?

अभिमान के आधिक्य को आधार बना कर रावण के साथ किए गए दुर्व्यवहार को उचित सिद्ध नहीं किया जा सकता. अभिमानाधिक्य के कारण रावण राक्षस कहलाया, यह कपोलकल्पित मान्यता है. भारतीय संस्कृति में किसी अभिमानी को राक्षस कहने का प्रावधान कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता. संस्कृत के एक प्राचीन शब्दकोश 'अमरकोश' में राक्षसों को देवताओं का ही एक भेद लिखा गया है—

"विद्याधराप्सरो ' यक्षरक्षोगंधर्वकिन्नराः,
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः,"

–अमरकोश, 1/11

अर्थात देवजाति के दस भेद हैं–विद्याधर, अप्सराएं, यक्ष, राक्षस, गंधर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध और भूत.

कोई भी व्यक्ति किसी अभिमानी के अभिमानाधिक्य को दर्शाने के लिए उसे अपने से ऊंचे वर्ग–देवजाति–में नहीं गिनाएगा, प्रत्युत अपने से अपेक्षाकृत निम्न वर्ग से संबद्ध करेगा, विशेषतः तब, जब कि उस का घोर तिरस्कार करना भी अपेक्षित हो.

यहां यह भी स्मरणीय है कि राक्षसों को स्वयं वाल्मीकि ने निंद्य नहीं ठहराया. राक्षस शब्द का प्रयोग उस ने उस अर्थ में नहीं किया जिस में अब प्रायः लोग करते हैं. रावण को यद्यपि वाल्मीकि ने राक्षस कहा है तथापि उसे राक्षस का अन्य प्रकार का अर्थ ही अभिप्रेत था. गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकांड, सर्ग चार, में वाल्मीकि ने लिखा है:

प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा अपः सलिलसंभवः,
तासां गोपायने सत्त्वानसृजत् पद्मसंभवः.

ते सत्त्वाः सत्त्वकर्तारं विनीतवदुपस्थिताः,
किं कुर्मः इति भाषंतः क्षुत्पिपासाभयार्दिताः.

प्रजापतिस्तु तान् सर्वान् प्रत्याह प्रहसन्निव,
अभाष्य वाचा यत्नेन रक्षध्वमिति मानद.

रक्षामः इति तत्रान्यैर्यक्षामः इति चापरैः,
भुंक्षिताभुंक्षितैरुक्तस्ततस्तानाह भूतकृत्.

रक्षाम इति यैरुक्तं राक्षसास्ते भवंतु वः.

–4/9–13

अर्थात प्रजापति ने जल की सृष्टि करने के पश्चात उस के रक्षक कुछ प्राणी रचे. वे प्राणी प्रजापति से पूछने लगे, "हम क्या करें?" उस ने उत्तर दिया, "इन की रक्षा करो." वे प्राणी बोले, "हम रक्षा करेंगे." प्रजापति ने कहा, "जिन्होंने कहा है कि हम रक्षा करेंगे, वे राक्षस कहलाएंगे."

इस से सिद्ध है कि रावण के प्रति राक्षस शब्द का उस अर्थ में प्रयोग करना जिस में अब किया जाता है या जिस अपमानजनक संदर्भ में जयपुरीय महाशय ने किया है, न केवल रावण के प्रति वरन स्वयं आदि कवि के प्रति भी घोर अन्याय है, क्योंकि जिस अर्थ में वक्ता किसी शब्द का प्रयोग करता है, उस से भिन्न अर्थ में उस को लेना बौद्धिक बेईमानी है.

एक अन्य पाठक ने, जिसे आलोच्य लेख 'अज्ञानता से ओतप्रोत' प्रतीत हुआ,

हैदराबाद से लिखा है कि रावण के सिर पर गधे के सिर का अस्तित्व उस के क्रोध की अधिकता का परिचायक है क्योंकि रावण में क्रोध की मात्रा पर्याप्त रूप में थी.

लगता है, यह महाशय भारतीय संस्कृति से नितांत अनभिज्ञ हैं. सुदीर्घ भूतकाल से ले कर वर्तमान काल तक की भारतीय संस्कृति में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता और न ही यह महाशय प्रस्तुत कर सकते हैं जिस से सिद्ध हो कि किसी में क्रोधाधिक्य का संकेत करने के लिए कभी गर्दभ शीर्ष किसी के सिर पर आरोपित किया गया हो. हां, ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते हैं जहां क्रोधी व्यक्तियों के समक्ष सिर झुकाया गया हो, उन्हें पूज्य ठहराया गया हो. दोएक उदाहरण देखिए.

महाक्रोधी दुर्वासा

भारतीय संस्कृति में एक महाक्रोधी व्यक्ति हुए हैं : दुर्वासा ऋषि. यह महाशय हास्यास्पदता की सीमा तक क्रोधी थे. संस्कृत के प्रसिद्ध कवि कालिदास ने अपने नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतलम् (अंक 4) में इन्हें 'सुलभकोपो महर्षि' (जल्दी ही क्रुद्ध हो जाने वाला महर्षि) कहा है. दुर्वासा को इतना क्रोधी होते हुए भी गधे के सिर से युक्त नहीं किया गया. इस के विपरीत उस का ऋषिपन भी कायम रहा. रावण तो दुर्वासा के क्रोध की तुलना में उस का पासंग भी नहीं था. जब वह बिना गधे के सिर के रह सकता है, तब रावण के क्रोधाधिक्य को ही गर्दभशीर्ष से दर्शाने का हठ क्यों?

लक्ष्मण का क्रोध

राजा राम का अनुज लक्ष्मण भी अपने क्रोधाधिक्य के लिए प्रसिद्ध है. रामायण में पदेपदे उस का यह रूप दृष्टिगोचर हुआ है–विशेषतः परशुराम प्रसंग, भरत वनगमन, सुग्रीव राज्यतिलकोपरांत, लंकाकांड एवं उत्तरकांड आदि में, लेकिन किसी ने उस के सिर पर गधे के सिर का चिह्न नहीं लगाया. इस के विपरीत उस के क्रोधाधिक्य को उस का विशिष्ट गुण चित्रित कर उसे शेषनाग के अवतार के रूप में सम्मानित किया गया.

रावण के साथ ही ऐसा अन्याय क्यों?

जब दुर्वासा, लक्ष्मण और परशुराम सरीखे अत्यंत क्रोधी बिना गधे के सिर के रह सकते हैं तब रावण के साथ यह अन्याय क्यों?

फरीदाबाद से एक महाशय लिखते हैं, "एक विवाहित नारी का अपहरण कर के अपनी बहन के अपमान का प्रतिकार लेना सर्वथा अनुचित था क्योंकि परस्त्री का अपहरण करना सब से बड़ा दुष्कर्म होता है. वह अपनी बहन के अपमान का प्रतिकार किसी और रूप में भी ले सकता था."

यद्यपि हम सीता के अपहरण को रावण का प्रशंसनीय कार्य नहीं कहते, तथापि उस की वह नैतिकता अवश्य सराहनीय है जिस का उस ने अपहृता सीता के साथ व्यवहार करते हुए परिचय दिया. आक्षेपकर्ता जो सुझाव या तर्क पेश करते हैं, वही राम व लक्ष्मण पर भी तो लागू होता है. वे भी तो शूर्पणखा के साथ सभ्यतापूर्ण ढंग

से पेश आ सकते थे. विवाह के लिए प्रस्ताव रख रही लड़की के साथ कोई उस तरह असभ्य व्यवहार नहीं करता जैसा राम और लक्ष्मण ने किया. क्या दोनों भाइयों ने सभ्यता का दीवाला नहीं निकाला? वे किसी और ढंग से भी तो उस से पीछा छुड़ा सकते थे.

रावण के बारे में लिखा है कि वह किसी और तरह भी तो भगिनी के तिरस्कार का बदला ले सकता था. वह यदि सीता के साथ भी वही कुछ करता जो राम और लक्ष्मण ने शूर्पणखा के साथ किया तो क्या वह उक्त महाशय के लिए संतोषजनक होता? जिन्हें सीताहरण पर आपत्ति है, वे क्या रावण द्वारा सीता के नाककान काट लिए जाने पर संतुष्ट होते? रावण ने तो सीता के साथ बहुत ही सभ्य व्यक्ति की तरह व्यवहार किया. उस की तो प्रशंसा की जानी चाहिए कि उस ने सीता का अंगभंग कर उसे कुरूप नहीं बनाया. उस की मानवता और उच्च नैतिकता की दाद देनी चाहिए.

प्रसिद्ध इतिहासकार आर. सी. मजूमदार ने 'एंशंट इंडिया' नामक अपनी पुस्तक के पृष्ठ 209 पर लिखा है, "नैतिकता के क्षेत्र में रावण अपने विरोधियों की अपेक्षा बहुत ऊंचा था. हमें तो केवल यहां लक्ष्मण द्वारा रावण की बहन के प्रति किए गए जंगली व्यवहार और रावण द्वारा अपनी बंदी शत्रुरमणी के साथ किए गए सद्व्यवहार की तुलना करनी है."

ऐसे सभ्य एवं शिष्ट व्यक्ति को गधे के सिर से चिह्नित करना न केवल अपनी बुद्धिहीनता का परिचय देना है, अपितु अपनी कृतघ्नता का भी.

जोधपुर के एक सज्जन लिखते हैं, "सीताहरण रावण का एक अनुचित कार्य था, इस का परिणाम सीता को आजन्म भोगना पड़ा."

ठीक है, यह कार्य अनुचित था, लेकिन यह प्रतिशोधात्मक कदम था. सब से अधिक अनुचित कार्य था राम के आदेश पर लक्ष्मण का शूर्पणखा का अंगछेदन. प्रतिशोध की भावना से राजनीतिक स्तर पर रावण ने अपना प्रतिकारात्मक कदम उठाया. अतः सीताहरण के मूल कारण एक तरह से स्वयं उस के पतिदेव और देवर हैं.

दूसरे, सीता को जो 'आजन्म परिणाम भोगना पड़ा,' वह भी राम के कारण था, न कि रावण के कारण. रावण की कारा से मुक्त कराने के पश्चात राम ने सीता के साथ जो दुर्व्यवहार किया, जिस तरह उसे अपमानित व तिरस्कृत किया, वह सिद्ध करता है कि राम स्वयमेव सीता को दूषित समझते थे. सीता स्वयं अग्निपरीक्षा देने के लिए अग्नि में प्रविष्ट हो गई. वह 'सब देवों की उपस्थिति में' उत्तीर्ण हुई. फिर भी अयोध्या में जा कर राम ने धोबी के घर से चुपके से सुने कथित वार्त्तालाप को आधार बना कर उसे निर्वासित कर दिया.

जब इतनी कठिन परीक्षा–अग्निपरीक्षा–इतने लोगों और देवों की उपस्थिति में ले ली गई थी, तब कम से कम, राम को तो विश्वास होना चाहिए ही था सीता की शुद्धता पर. सीता को जो 'आजन्म परिणाम भोगना पड़ा,' उस का कारण स्वयं उस के 'पति परमेश्वर' थे!

सीता अपहरण का रहस्य

हैदराबादी महाशय पुनः पूछते हैं, "लेखक ने सीता के अपहरण को रावण की बहन कर प्रतिकार माना है. तब क्यों रावण बारबार आ कर सीता को विवाह के लिए तंग करता था?"

लगता है, इन्होंने वाल्मीकीय रामायण नहीं पढ़ी, अन्यथा इस प्रश्न का उत्तर उन्हें वहीं से मिल गया होता. रावण ने यदि कामुकता से प्रेरित हो कर अपहरण किया होता तो वह अपनी बंदी सीता से शायद कई बार बलात्कार कर बैठता. सीता का अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण होना, रावण का सीता को सीधे अपने अंतःपुर में न ले जा कर उसे अशोक वाटिका में रखना, उस की सेविकाओं को आदेश देना कि कोई भी ऐसा व्यक्ति उस के पास तक न फटकने पाए जिसे वह नापसंद करती हो,

अब्रवीच्च दशग्रीवः पिशाचीर्घोरदर्शनाः
यथा नैनां पुमान् स्त्री वा सीतां पश्यत्यसम्मतः

–वा. रा. अरण्यकांड, सर्ग 54/4,15

आदि कार्य इस बात के परिचायक हैं कि उसे सीता से शारीरिक क्षुधा की शांति अभीष्ट नहीं थी.

रावण ने सीता से स्पष्ट रूप में कहा था:

एवं चैवमकामां त्वां न च स्पृक्ष्यामि मैथिलि,
कामं कामः शरीरे मे यथाकामं प्रवर्तताम्.

–वा. रा.सुंदरकांड, सर्ग 2/6

अर्थात हे सीता, मैं तुम्हारे शरीर का स्पर्श तक न करूंगा, चाहे मेरे शरीर में काम का प्रचंड वेग भी क्यों न उठ खड़ा हो.

ये शब्द एक संयमी के ही हो सकते हैं, न कि काम के वशीभूत हो कर स्त्री का अपहरण करने वाले के.

अपहरण के अन्य उदाहरण

सीताहरण की घटना को कृष्ण के रुक्मिणीहरण, अर्जुन के सुभद्राहरण, भीष्म पितामह के काशीराज की तीन पुत्रियों के हरण और पृथ्वीराज के संयोगिताहरण के समकक्ष रखने पर बहुत से पाठकों को आपत्ति है. वे पहले अपहरण को पिछले चारों अपहरणों से गंभीर मानते हैं. उन का कथन है कि रुक्मिणी, सुभद्रा, काशीराज की बेटियों और संयोगिता के अपहरण में स्त्री पात्रों की अपनी सहमति थी, जब कि सीता का अपहरण उस की इच्छा के प्रतिकूल हुआ.

रुक्मिणीहरण

विचार करने पर यह तर्काभास ही सिद्ध होता है क्योंकि 'अपहरण' शब्द का

अर्थ ही व्यक्ति या वस्तु विशेष को चुराना या बलपूर्वक छीन ले जाना है. कोई भी अपहरण अपहृत की इच्छा से नहीं होता. अपहरण का अर्थ ही अपहृत की विवशता का परिचायक है.

कृष्ण ने रुक्मिणी का अपहरण किया था, न कि वह अपनी इच्छा से गई थी. भागवत पुराण में लिखा है:

"राजा स कुंडिनपतिः पुत्रस्नेहवशंगतः,
शिशुपालाय स्वां कन्यां दास्यन् कर्माण्यकारयत्."

–10/53/7

अर्थात रुक्मिणी के पिता ने अपने पुत्र के स्नेह को ध्यान में रखते हुए अपनी बेटी रुक्मिणी शिशुपाल को दे दी.

तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं जहार
कृष्णो द्विषतां समीक्षताम्,
रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं
राजन्यचक्रं परिभूय माधवः
ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः
सृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः

–भागवत पुराण, 10/53/55–56

अर्थात महाराज, राजकुमारी रथ पर चढ़ना चाहती थी. इतने में माधव कृष्णचंद्र बराबर आ गए और शत्रुओं के आगे गरुड़-चिह्नयुक्त रथ पर स्फूर्ति से रुक्मिणी को चढ़ा कर चल दिए. जिन क्षत्रियों ने पीछा भी करना चाहा, उन को कृष्ण ने वहीं ठंडा कर दिया. भगवान कृष्णचंद्र, जैसे सियारों के बीच सिंह अपने भाग को बलपूर्वक ले जाता है, उस प्रकार बलभद्र आदि यादवों के साथ आ कर रुक्मिणीजी को हर ले गए और रक्षा करने वाले राजा लोग मुंह ताकते ही रह गए, उन से कुछ करते न बन पड़ा. (पं. रूपनारायण पांडेय, भागवत की शुकोक्तिसुधासागर नामक हिंदी टीका, पृष्ठ 997).

स्वयं पुराणकार ने 'जहार' (चुराया) क्रिया का प्रयोग कर रुक्मिणीहरण के संदर्भ में रुक्मिणी के स्वेच्छा से कृष्ण के साथ भाग निकलने की संभावना को धूमिल कर दिया है. अतः कृष्ण का रुक्मिणीहरण रावण के सीताहरण जैसा ही है. इतना ही नहीं, अपहरण के पश्चात यहां रावण ने आदर्श संयमी का सा व्यवहार किया है, वहां कृष्ण ने अपहृता के साथ यौन संबंध बना कर अर्थात उसे पत्नी बना कर एक साधारण आदमी जैसा बरताव किया. अतः यदि रावण सीताहरण के अपराध के दंडस्वरूप गर्दभ शीर्ष का अधिकारी है तो उसी के समान अपराध करने वाला कृष्ण उस का अधिकारी क्यों नहीं?

सुभद्राहरण

अब रहा अर्जुन का सुभद्राहरण. महाभारत के आदि पर्व, अ. 217, श्लोक 15

में लिखा है कि अर्जुन कृष्ण के साथ द्वारिका पहुंचा. अध्याय 218 से स्पष्ट है कि अर्जुन ने सुभद्रा के प्रति अनुराग प्रकट किया. अध्याय 219 के श्लोक 6, 7, 8, बताते हैं कि रैवतक पर्वत के उत्सव पर परिक्रमा के समय अर्जुन ने सुभद्रा का अपहरण कर लिया. कहीं भी सुभद्रा की रजामंदी का उल्लेख नहीं है. यदि स्त्री अपहरण के अपराधस्वरूप रावण के सिर पर गर्दभशीर्ष आरोपित करना है तो अर्जुन भी उस 'सम्मान' का अधिकारी है.

भीष्म पितामह द्वारा अपहरण

बालब्रह्मचारी (?) भीष्म पितामह द्वारा काशीराज की तीन कन्याओं के अपहरण को (देखें, महाभारत, उद्योग पर्व. अ. 173, श्लोक 13) प्रायः सभी आलोचक छोड़ गए हैं. सिर्फ एक महाशय ने लिखा है, "भीष्म पितामह ने अवश्य किसी सीमा तक गलत कार्य किया था" तथापि उस के दोष को "धार्मिक ग्रंथों में भीष्मजी को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया" कह कर लघु करने का प्रयास किया है.

वास्तव में भीष्म भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है. शस्त्रशास्त्रपटु, दृढ़संकल्पी, दृढ़प्रतिज्ञ, अनुभववृद्ध एवं आजन्म ब्रह्मचारी देवव्रत को 'भीष्म पितामह' के आदरयुक्त नाम से अभिहित करना ही उस के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व के होने का परिचायक है. महाभारत तो उसे वसु देवता के अंश से उत्पन्न हुआ बताता है (आदि पर्व अ. 63, श्लोक 91, 95/47,100/21). इस के द्वारा काशीराज की तीन बेटियों–अंबा, अंबालिका और अंबिका–का अपहरण किया जाना रावण के सीताहरण से किसी प्रकार भी कम गंभीर नहीं. यदि सीताहरण के आधार पर ही रावण के सिर पर गधे का सिर लग सकता है तो तीन स्त्रियों का एक साथ अपहरण करने वाले ब्रह्मचारी पर वह क्यों नहीं लग सकता? वह तो एक नहीं तीन गर्दभशीर्षों से सुशोभित होने का अधिकारी है!

संयोगिताहरण

इसी तरह पृथ्वीराज का संयोगिताहरण है. संयोगिताहरण दूरगामी दुष्प्रभाव डाल गया है. इस अपहरण से उत्पन्न कटुता के कारण ही जयचंद ने विदेशी आक्रामक को निमंत्रित कर इस देश को सैकड़ों वर्षों तक पराधीन कराया. अतः रावण नहीं, पृथ्वीराज गधे के सिर का अधिकारी है, जिस ने बल होते हुए भी शत्रु को छोड़ा और निकटतम संबंधी की लड़की को अपहृत कर देश का बेड़ा गरक किया.

कुछ लोग रुक्मिणी, सुभद्रा, काशीराज की बेटियों और संयोगिता के अपहरण को 'प्रेम विवाह' कह कर इन के दोष को हलका करना चाहते हैं. परंतु ऐसा प्रयास निराधार है. किसी ठोस प्रमाण के अभाव में इन अपहरणों को प्रेम विवाह का रूप नहीं दिया जा सकता. इन अपहरणों में अपहर्ताओं की एकपक्षीय कामुक प्रेरणा के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता. अतः ये सब शुद्ध अपहरण हैं और पूर्णतया गधे के सिर के पुरस्कार के पात्र हैं.

कुछ पाठकों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि रावण ने विवाहिता नारी का अपहरण किया था, अतः यह उस का घोर दुष्कर्म था. इस तर्काभास के द्वारा क्या वे यह कहना चाहते हैं कि कृष्ण आदि ने तो अविवाहिताओं का हरण किया था. इस के द्वारा क्या वह कृष्ण आदि के द्वारा अविवाहिताओं का हरण उचित ठहराना चाहते हैं? क्या अविवाहिता नारी का अपहरण अनुचित नहीं है? कोई भी समझदार व्यक्ति, यदि उस में पूर्वाग्रह व दुराग्रह न हो, अविवाहिता नारी के अपहरण का औचित्य सिद्ध नहीं कर सकता. अपहरण अपहरण ही है, वह चाहे अविवाहिता का हो या विवाहिता का. दोनों ही स्थितियां एक सी गंभीर हैं.

वादितोषन्याय से यदि यह मान भी लें कि रावण के सिर पर गधे का सिर इसलिए लगाया जाता है कि उस ने विवाहिता नारी का अपहरण किया, तो भी स्थिति सुलझती नहीं क्योंकि जिन कथित भगवद्भक्तों व धार्मिक व्यक्तियों ने विवाहिता नारियों के अपहरण किए, उन के सिरों पर भी भारतीय संस्कृति के इतिहास में कभी गर्दभ शीर्ष नहीं लगाए गए हैं.

रामायण के दो पात्र हैं—सुग्रीव और विभीषण. दोनों भगवद्भक्त माने जाते हैं. दोनों ही राम के अंगसंग रहे. इन के आचरण को स्वयं राम और भगवद्भक्त जनसमुदाय का पूर्ण समर्थन प्राप्त रहा है. दोनों ने अपनेअपने अग्रजों को शत्रुओं के हाथों मरवा कर उन की विवाहिता पत्नियों को हथियाया था. रामभक्त तुलसीदास ने भी इस सच्चाई को स्वीकारा है :

> जेहि अघ बधेउ व्याध जिमि बाली, फिरि सुकंठ सोई कीन्ह कुचाली.
> सोई करतूति विभीषण केरी, सपनेहुं सो न राम हिय हेरी.
> —तुलसी रामायण, बाल कांड

अर्थात "जिस पाप से व्याध की नाई बालि को मारा, सुग्रीव ने फिर वही कुचाल की कि भाई की स्त्री को ग्रहण किया. वही करतूति विभीषण ने की कि भाई की स्त्री (मंदोदरी) को ग्रहण किया. सो राम सपने में भी मन में नहीं लाए." (तुलसीरामायण, संत जीवनी टीका. पृष्ठ 49-50)

सारा रामभक्त समुदाय इन दोनों पात्रों को सम्मान की दृष्टि से देखता है. विवाहिताओं का अपहरण करने पर भी किसी ने इन दोनों के सिरों पर गधों के सिर नहीं लगाए और न राम ने ही इन के कृत्यों की कहीं भर्त्सना की.

भागवत पुराण में

इसी तरह भागवत पुराण में आता है कि चंद्रमा देवता ने अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा का बलात् अपहरण कर लिया था. गुरु द्वारा बारबार मांगने पर भी उस ने उसे नहीं लौटाया. फलतः देवों तथा दानवों में युद्ध हुआ:

> सोऽजयद् राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम्.
> पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात्तारां नामाहरद् बलात्.

तदा स देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात्.
नात्यजत्तत्कृते जज्ञे सुरदानवविग्रहः

–भागवत, 9/14/4–5

ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है:

राधा जगाम वाराहे गोकुलं भारतं सती,
वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह.
अतीते द्वादशाब्दे तु दृष्ट्वा तां नवयौवनाम्,
सार्धं रायाणवैश्येन तत्संबंधं चकार सः,
बभूव तस्य वैश्यस्य विवाहश्छायया सह.
कृष्णस्य माता यशोदा या रायाणस्तत्सहोदरः,
गोलोके गोपकृष्णांशसंबंधे कृष्णमातुलः.

–ब्र. वै. पुराण, प्र. खं. 49/36–40

अर्थात राधा भारत स्थित गोकुल में वृषभानु वैश्य की कन्या बनी. उस के बारह वर्ष की होने पर वृषभानु ने उस का रायाण वैश्य से रिश्ता कर दिया. उस वैश्य का वृषभानु की बेटी के रूप में जानी जाने वाली राधा से विवाह हो गया. वह रायाण कृष्ण की माता यशोदा का भाई और कृष्ण का मामा था.

अपनी इसी मामी को कृष्ण ने भांडीर वन में ले जा कर उस से विवाह कर लिया. यह विवाह करवाने वाला भी कोई छोटामोटा पुरोहित नहीं था अपितु स्वयं ब्रह्मा था.

तस्याः हस्तं च श्रीकृष्णं ग्राह्यामास तं विधिः,
वेदोक्तसप्तमंत्राश्च पाठयामास माधवम्.

–ब्र. वै. पुराण. कृ. ज. ख. 15/124

अर्थात ब्रह्मा ने कृष्ण को राधा का हाथ पकड़ाया और वेद में कहे हुए सात मंत्र उसे याद करवाए.

सुग्रीव, विभीषण, चंद्रमा और कृष्ण ने विवाहिताओं का अपहरण किया, लेकिन उन के सम्मान में जरा सा भी अंतर नहीं आया तथा उन के सिरों पर गधे का सिर कदापि नहीं लगाया गया.

इस तरह स्पष्ट है कि 'रावण और भारत सरकार' लेख पर की गई हर आपत्ति निराधार है और रावण के सिर पर गर्दभ शीर्ष आरोपित करने का औचित्य किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता.

रावणलीला

(1974 में डीएमके के रामास्वामी नायकर ने राम को अपमानित करने के लिए एक आंदोलन छेड़ने का आह्वान किया था, जो देश की एकता व सांप्रदायिक समरसता के लिए घातक था. इसका विरोध करने के लिए 'रावणलीला' लेख लिखा गया था. इसमें देशविरोधी शक्तियों की निंदा के साथसाथ यह भी प्रस्ताव दिया गया था कि हमें भी ऐसी हरकतें बंद करनी चाहिए जो दक्षिण भारतीयों की भावनाओं को ठेस पहुंचाती हों.)

उत्तर भारत में अज्ञात अतीत से रामलीला प्रचलित है. परंतु अब दक्षिण भारत में होने जा रही रावणलीला के चर्चे उत्तर भारत के समाचारपत्रों में दिखाई और लोगों के वार्त्तालाप में सुनाई पड़ रहे हैं. यह रावणलीला रामलीला की प्रतिक्रिया में होगी, रामायण के परंपरागत नायक राम को अपमानित तथा तिरस्कृत किया जाएगा और परंपरागत प्रतिनायक को नायक का स्थान दे कर सम्मानित तथा आदृत.

प्रश्न पैदा होता है कि यह उलटी गंगा क्यों? इस का उत्तर जानने के लिए हमें पिछली कालावधि में घटित कुछ घटनाओं को दृष्टिगत करना होगा. पिछले दिनों तमिलनाडु सरकार ने राज्य के मंदिरों में वैदिक व संस्कृत मंत्रों के पाठ पर पाबंदी लगा दी. उस का पक्ष है कि संस्कृत उन की मूल भाषा नहीं है.

कुछ वर्ष पूर्व द्रविड़ मुनेत्र कषगम के तात्कालिक प्रधान रामास्वामी नायकर ने राम की आदमकद कांस्य प्रतिमा को जूतों का हार पहनवाया था और एक विशाल सभा को संबोधित करने के बाद प्रत्येक उपस्थित व्यक्ति से राम की उस प्रतिमा पर जूते बरसाने का अनुरोध किया था.

उन्हीं दिनों पुराणों में वर्णित अश्लील स्थलों के चित्र बना कर, उन्हें लाठियों पर टांग कर जुलूस निकाला गया था, ताकि उत्तर भारत के हिंदुओं के देवताओं के निम्नस्तरीय आचरण और व्यवहार को आगे ला कर उन्हें दुनिया की नजरों से गिराया जाए. देवीदेवताओं के वे अश्लील चित्र तमिल भाषा के प्रसिद्ध पत्र 'तुगलक' में प्रकाशित भी किए गए. वहीं से लेकर 'इलस्ट्रेटिड वीकली आफ इंडिया' आदि ने भी उन्हें प्रकाशित किया.

1968 में इन्हीं रामास्वामी नायकर के नेतृत्व में हिंदू देवमूर्तियों को तोड़ने का अभियान शुरू हुआ था. इस बार के दशहरे से पूर्व ही इन लोगों की ओर से (तत्कालीन) प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को तार भेजे गए थे कि "वह दशहरे

के समागमों में सम्मिलित न हों. क्योंकि इन में उन के पूर्वज रावण को अपमानित किया जाता है जिस से उन की भावनाओं को ठेस पहुंचती है. देश के प्रधान मंत्री के नाते उन्हें ऐसे किसी समारोह में शामिल नहीं होना चाहिए जिस में किसी एक समुदाय के प्रति अन्याय किया जा रहा हो."

उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषाओं की मातृभूता संस्कृत भाषा का देवस्थानों से निष्कासन, उत्तर भारत के नायक राम का अपमान और उत्तर भारतीय देवताओं तथा पुराण ग्रंथों का तिरस्कारपूर्वक उपहास जैसी अवांछनीय घटनाएं क्यों हुईं? अब रावणलीला का उद्योग क्यों हो रहा है?

जहां तक दक्षिण भारतीय भाषाओं और संस्कृत का संबंध है, उस के बारे में प्रायः सब भाषाविज्ञानी एकमत हैं कि संस्कृत दक्षिण भारतीय भाषाओं की जननी तो क्या, उन से उस का दूर का भी संबंध नहीं. संस्कृत भारोपीय परिवार की भाषा है और दक्षिणी भाषाएं द्रविड़ परिवार की हैं. द्रविड़ कुल की भाषाएं दक्षिण भारत में बोली जाती हैं, जिन में मुख्य तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा कन्नड़ हैं. ये उत्तर भारत की आर्य भाषाओं से बिलकुल भिन्न हैं. (डा. धीरेंद्रवर्मा कृत, हिंदी भाषा का इतिहास, भूमिका, पृष्ठ 37).

दक्षिण की भाषाएं

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय भाषा विज्ञान' के पृष्ठ 289 पर इस विषय को और स्पष्ट करते हुए लिखा है: "दक्षिण के चार राज्यों की तमिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम, ये चार भाषाएं अपनी भिन्न प्रकृति रखी हैं. इन चारों का परस्पर कुछ मेलसादृश है. परंतु पिछले अध्याय में वर्णित भाषाओं से इन का वैसा कोई मेल नहीं. यों, भारतीय भाषाओं के दो महावर्ग हो गए. एक है दक्षिण की इन चार भाषाओं का और दूसरा है उन भाषाओं का, जो शेष भारत में फैली हुई हैं."

ये द्रविड़ परिवार की भाषाएं दक्षिण भारत में नर्मदा और गोदावरी से ले कर कुमारी अंतरीप तक फैले हुए भूभाग में बोली जाती हैं. इस के अतिरिक्त उत्तरी लंका, लक्षद्वीप, बिलोचिस्तान, मध्य भारत तथा बिहार व उड़ीसा के कुछ भागों में भी इस परिवार के बोलने वाले बसते हैं. यह परिवार वाक्य तथा स्वर अनुरूपता की दृष्टि से यूराल–अल्टाई परिवार से मिलताजुलता है. (डा. भोलानाथ तिवारीकृत, भाषाविज्ञान, पृष्ठ 116).

इस प्रकार दक्षिण भारतीयों द्वारा संस्कृत का अपने पर प्रभुत्व न मानना किसी वास्तविकता को झुठलाना नहीं है. यद्यपि वास्तव में संस्कृत का द्रविड़ परिवार की भाषाओं से वह संबंध नहीं, जो शेष भारतीय भाषाओं से है तथापि इन द्रविड़ भाषाओं पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है.

लोक सभा के पूर्व अध्यक्ष श्री अनंतशयनम् आयंगर के अनुसार दक्षिण भारत की चारों भाषाओं में 50 प्रतिशत से ले कर 90 प्रतिशत तक शब्द संस्कृत के हैं: तमिल में 50 प्रतिशत, तेलुगु में 75 प्रतिशत, कन्नड़ में 80 प्रतिशत और मलयालम में

90 प्रतिशत. संस्कृत को तिरस्कृत करने के पीछे समग्र उत्तर भारतीय आर्यों की सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति विद्रोह की भावना है.

विद्रोह की भावना क्यों?

उत्तर भारतीय नायकों और देवीदेवताओं को अपमानित करने के पीछे भी यही उत्तर भारत के प्रति विद्रोह की भावना है. बात दरअसल यह है कि आर्य और द्रविड़ दो (मानव) जातियां हैं. विद्वानों का मत है कि ईसा से हजारों वर्ष पूर्व और आर्यों के इस देश में आगमन से पहले द्रविड़ लोग अपने मूल निवास स्थान पूर्वी मैडीटेरेनियन प्रदेश, एशिया माइनर के कुछ भागों (लिसिया) और एजिअन द्वीपों (क्रेटे) से भारत में आए, (डा. सुनीतिकुमार चटर्जीकृत, इंडोआर्यन् एंड हिंदी, पृष्ठ 42).

हजारों वर्षों बाद जब आर्य लोग भारत में आए, तब उत्तरी भारत में द्रविड़ों का निवास था. इन्हें 'दास दस्यु' भी कहा गया है. उत्तरपश्चिम और पश्चिम तक इन का प्रभुत्व था. ये शहरनिर्माता और शांतिपूर्वक जीवन के संस्थापक थे. ये पशुपालन किया करते थे.

1920 में खोजे गए मोहनजोदड़ो और हड़प्पा शहरों की सभ्यता इन्हीं द्रविड़ों की कही जाती है, क्योंकि इन शहरों की खुदाई मेडीटेरेनियन तथा पश्चिम एशियाई सभ्यता के अंशों का बहुतायत में आभास देती है.

उच्च संस्कृति होते हुए भी, ये लोग सैन्य संगठन में कमजोर थे, अतः ये युद्धप्रिय न थे. पहलेपहल इन के शहरों की विशाल दीवारों और जबरदस्त शहरों से आर्य लोग भय खाते थे, लेकिन बाद में उन्होंने अपने लड़ाकू गुणों और सैन्य संगठन से द्रविड़ों को दक्षिण की ओर धकेल दिया. (वही, पृष्ठ 47-48).

इस प्रकार दो विभिन्न (मानव) जातियों में प्रागैतिहासिक काल से एक प्रकार की शत्रुता चली. विजयी आर्यों के प्रभुत्व को पराजित द्रविड़ों ने स्वीकारा भी–सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में. इसी कड़ी में, किसी प्रागैतिहासिक काल में, आर्यों के एक राजा राम ने दक्षिण के एक राजा रावण को पराजित किया.

इस विजय को आर्य राजा राम के राज्य के अंतर्गत रहने वाले एक कवि वाल्मीकि ने वीरकाव्य का रूप दिया. वाल्मीकि की सरल शैली और अभिव्यंजन कुशलता तथा आर्यों के अपने प्रचारवाद के परिणामस्वरूप यह वीरकाव्य बहुत प्रसिद्ध हुआ. इस में प्रतिनायक रावण को गलत और नायक राम को सही बताया गया (चढ़ते सूर्य को नमस्कार!). इस के प्रचार के कारण पराजित द्रविड़ों में अंदर ही अंदर घृणा, आत्मग्लानि और प्रतिशोध की आग जलती रही होगी.

फिर पता नहीं कब से रामलीला शुरू हो गई–इस महाकाव्य का अभिनय. इस अभिनय का एक महत्त्वपूर्ण अंश बनाया गया, प्रतिनायक रावण के नायक राम द्वारा मारे जाने पर उस के पुतले को घृणापूर्वक जलाने को. पहले तो यह कभीकभी ही होता होगा, फिर धीरेधीरे यह प्रतिवर्ष का काम हो गया–दशहरे के रूप में यह सब द्रविड़ों के प्रति आर्यों के मानसिक भावों का प्रतिबिंब था.

यह प्रथा आर्यों के अहं को इतना तृप्त करती थी, उन के रक्त में इतनी घुलमिल

गई थी कि उन्होंने अपनी भावी पीढ़ियों के लिए धर्मशास्त्रों में इस का जिक्र तक नहीं किया. यह प्रत्याशा की गई कि उन की भावी पीढ़ियां प्रत्येक स्थिति में द्रविड़ों के प्रति स्वयमेव घृणा का इजहार करेंगी.

आर्य लोग अपने शास्त्रों को प्रमाण मानते हैं. जब उन से कहा जाता है कि उन के किसी शास्त्र में रावण का पुतला बना कर उसे अपमानित कर जलाने का विधान नहीं है, अतः इस प्रथा को बंद कर देना चाहिए, तो वे कहते हैं, "रावण का पुतला बुराई का प्रतीक है. उस ने सीता उठाई थी, इस की उसे प्रतिवर्ष सजा दी जाती है, ताकि व्यक्ति ऐसे अनुचित कुकृत्य से परहेज करे." परंतु उन का यह कथन ठीक नहीं.

देखा जाए तो बुराई पहले राम ने की, या करवाई–एक नारी के नाककान कटवा कर. विवाह के लिए प्रस्ताव रख रही नारी के साथ इस प्रकार जंगली व्यवहार करने वाले को बुराई का प्रतीक न मान कर, अपनी बहन के साथ हुए अत्याचारों का प्रतिशोध लेने वाले को बुराई का प्रतीक बताना सरासर पक्षपातपूर्ण है.

दूसरे, रावण के पुतले का जलाना क्या सामान्य लोगों को नारी अपहरण से रोक सकता है? आर्यों के प्रतिष्ठित व्यक्तित्वों तक ने इस पुतले को जलाने से कथित रूप में मिलने वाली शिक्षा पर कभी ध्यान नहीं दिया, जनसामान्य की तो बात ही छोड़ो? कृष्ण, भीष्म पितामह, अर्जुन और पृथ्वीराज जैसे प्रसिद्ध आर्य नायकों ने आर्यों की ही नारियों के अपहरण किए और रावण के पुतले को जलाने से मिलने वाली कथित शिक्षा की जरा भी परवा नहीं की. वे परवा तो तब करते यदि वास्तव में इस से कुछ शिक्षा निकलती होती. शिक्षा का नाम तो वे अन्य किसी तर्क के अभाव में ले लेते हैं. वास्तव में तो इस प्रक्रिया के पीछे वही प्रागैतिहासिक आर्य उच्चता की भावना ही काम कर रही है. क्या रावण का पुतला जलाने वाले प्रदेश में अब भी सीताओं का अपहरण नहीं होता–वह भी नितांत कामुकता से प्रेरित हो कर, न कि बहनों के अपमान के प्रतिशोध के रूप में?

आज परिस्थितियां बदल गई हैं. जातिगत उच्चता की बातें करना विश्वशांति के मार्ग में रोड़ा अटकाना है. ऐसे देशों को अंतरराष्ट्रीय भाईचारे से ही निकाल दिया जाता है, जो जातिगत उच्चता के आधार पर शेष मानव जाति के साथ समान व्यवहार करने को तैयार नहीं होते. आज मानव प्रलयंकारी युद्धों की विभीषिका से त्रस्त है. वह इतिहास के वैरवैमनस्य को भुला कर फिर से एकदूसरे के निकट आने की सोच रहा है और तदनुकूल वातावरण बनाने में सारी मानव जाति निरत है.

ऐसे में भारत जैसे देश में, जो इतिहास में पहली बार सारे का सारा एक झंडे तले, एक केंद्रीय शासन के अधीन हुआ है, उत्तर भारत और दक्षिण भारत का विरोध उठना नितांत अवांछनीय व खेदजनक ही कहा जाएगा. यह विरोध खड़ा ही न होता यदि उत्तर भारतीयों ने दूरदर्शिता का सबूत देते हुए दशहरे को बंद कर दिया होता, या उसे इस रूप में परिवर्तित कर दिया होता कि उस से द्रविड़ संस्कृति के अपमान की झलक न आती, परंतु ऐसा हुआ नहीं.

प्रतिशोधात्मक शब्द

उत्तर भारत में प्रतिवर्ष अपने एक पूर्वज को अपमानित होते देख द्रविड़ों में प्रतिशोध की आग विभिन्न रूपों में सुलगनी शुरू हुई. उन्होंने यदाकदा केंद्रीय शासन से पृथक होने की मांग की, राज्यों को अधिक स्वायत्तता देने पर जोर दिया, ताकि वे अपने क्रोध को मार्गीकृत कर सकें. उन्होंने प्रत्याक्रमण किए. अपनी भड़की हुई भावनाओं के आवेश में उत्तर भारतीयों की भावनाओं को ठेस पहुंचाने के हेतु कदम उठाए. कभी संस्कृत पर हमला किया गया तो कभी हिंदू देवीदेवताओं की इज्जत सरेबाजार नीलाम की गई.

रावणलीला भी इसी दिशा में एक और कदम है. इस कदम के निर्णय पर आज उत्तर भारत में तिलमिलाहट है. सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा, पंजाब, के महामंत्री ने तो भारत सरकार से रावणलीला का उपक्रम करने वालों को दंड देने का अनुरोध किया है, क्योंकि इस से हिंदुओं की धार्मिक भावनाएं आहत होती हैं. परंतु आज किसी समस्या का हल एकांगी नहीं हो सकता.

यह नहीं हो सकता कि हम अपनी भावनाओं को सुरक्षित रखने के लिए तो आकाशपाताल एक कर दें परंतु दूसरों की भावनाओं की ओर जरा भी ध्यान न दें. देश के वर्तमान हालात को दृष्टिगत करते हुए यही उचित है कि अपनी भावनाओं को सुरक्षित करते हुए (राम की इज्जत को बचाते हुए) दूसरों की भावनाओं का भी आदर करें (रावण को तिरस्कृत करना भी छोड़ दें.).

यदि रावण का पुतला जलाना बंद कर दिया जाए तो हमारा नैतिक पतन नहीं हो जाएगा. आज जब हम यह पुतला जलाते हैं, तब क्या भारत की सीताओं की इज्जत सुरक्षित है? क्या दशहरा मनाने वाले राज्यों में विवाहिताओं व अविवाहिताओं के अपहरण नहीं होते?

राष्ट्रीय एकता के लिए

देश की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि राष्ट्रीय एकता एक ज्वलंत समस्या है. देश के सभी राज्यों में समन्वय नितांत अभीष्ट है. ऐसे में देश में दो संस्कृतियों की लड़ाई शुरू होना बहुत घातक सिद्ध होगा. देश के हितों को ध्यान में रखते हुए हमें रावण को प्रतिवर्ष अपमानित करना बंद करना होगा. पूर्वजों की आपसी लड़ाई हुई थी तात्कालिक परिस्थितियों के अधीन. वे अपने समय में शायद ठीक ही हों. लेकिन अब उत्तर भारतीयों और दक्षिण भारतीयों का पारस्परिक मनमुटाव कैसा?

भारतीय संस्कृति के उन ठेकेदारों को कुछ संयम से काम लेना चाहिए, जो बहुत अभिमान के साथ रामायण की व्याख्या करते हुए राम की रावण पर विजय को द्रविड़ों पर आर्य सभ्यता की विजय के रूप में पेश करते हैं. पंडित नेहरू ने भी 'लेटर्स फ्राम ए फादर टू हिज डाटर,' (पृष्ठ 164) में इसे उत्तर भारत के आर्यों और दक्षिण भारत के लोगों के बीच हुई लड़ाई कहा है. ऐसी बेतुकी बातें राष्ट्रीय एकता के लिए घातक होंगी.

रावणलीला में राम का अपमान उत्तर भारतीयों के लिए तो असह्य है, परंतु क्या हम यह सोचने के लिए रुकेंगे कि अज्ञात अतीत से अपने पूर्वज रावण को अपमानित होते देख द्रविड़ों पर क्या गुजरती होगी?

उत्तर भारतीयों का पूर्वज विजयी हुआ. विजयी की संतति को अपने बड़प्पन का परिचय देते हुए उद्घोषणा करनी चाहिए कि "यद्यपि कभी हमारे पूर्वज लड़े होंगे लेकिन उस से आज हमारे पारस्परिक संबंधों में दरार नहीं आनी चाहिए. वे दोनों अपनीअपनी जगह ठीक थे. परंतु हम अब आर्य या द्रविड़ नहीं हैं, प्रत्यक्ष भारतीय हैं. हम परस्पर विरोधी जातियां नहीं हैं, एक ही देश के वासी के नाते हमारा आपसी भाईचारा है." तभी समस्या का सही समाधान होगा. दोनों ही संस्कृतियों को एकदूसरे की भावनाओं का समुचित आदर करते हुए शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की ओर पग बढ़ाना होगा.

आर्य, द्रविड़ और रावण

सिर्फ कुछ व्यक्तियों को छोड़ कर लगभग सभी विद्वानों का मत है कि आर्य भारत के मूल निवासी न हो कर बाहर से आए हुए लोग हैं. किंतु विद्वानों की इस सर्वसम्मत राय के बावजूद समयसमय पर ऐसे लेख प्रकाशित होते रहे हैं, जिन में न केवल यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि आर्य बाहर से नहीं आए थे, बल्कि आर्यों और द्रविड़ों के संघर्ष को भी कपोलकल्पित बताया जाता है.

इन लेखकों की राय में आर्य, दास, दस्यु और द्रविड़ नामक कोई जातियां थीं ही नहीं. ये शब्द गुणवाचक थे. वे रावण को आर्यों से भिन्न मान कर बुराई का प्रतीक मानते हैं और इसीलिए रामलीला के अवसर पर उस के तथा कुंभकर्ण, मेघनाद आदि के पुतले जलाए जाने को उचित ठहराते हैं. उन का यह भी कहना है कि दास, दस्युओं को भारत का आदिवासी कहना पाश्चात्य विद्वानों की शरारत है क्योंकि आर्य यहां के आदिवासी थे.

इस विषय में यह कहना उचित होगा कि जिन विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि आर्य बाहर से आए उन में पाश्चात्य विद्वान ही नहीं, आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती और लोकमान्य तिलक जैसे भारतीय विद्वान भी हैं.

अनार्यों से युद्ध

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्व उपकुलपति डा. सत्यकेतु विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और उस का इतिहास' में पृष्ठ 12 पर स्पष्ट लिखा है:

"आर्यों की जो शाखा भारत में प्रविष्ट हुई, उसे इस देश में अनेक आर्यभिन्न जातियों के साथ युद्ध करने पड़े. भारतीय आर्यों ने इस देश में विकसित हुई पूर्ववर्ती सभ्यताओं के स्थान पर अपनी सत्ता की स्थापना की. आर्यों से पहले के ये आर्यभिन्न लोग कौन थे, इस विषय में वैदिक साहित्य से ही कुछ उपयोगी निर्देश मिलते हैं. वेदों में इन्हें दस्यु और दास कहा गया है. वैदिक सूक्तों से यह भी ज्ञात होता है कि ये दस्यु लोग कृष्ण वर्ण के थे और इन की नाक छोटी होती थी, इसलिए इन्हें अनास (नासिकाहीन) भी कहा गया है, पर ये लोग अच्छे बड़े पुरों में निवास करते थे और इन के अनेक सुदृढ़ दुर्ग भी बने हुए थे.

"विजय प्राप्त करने के लिए आर्यों को घनघोर युद्ध करने पड़े. प्रतीत होता है

कि आर्यों के प्रवेश से पूर्व जो जाति इस देश में निवास करती थी, उस की संज्ञा दस्यु या दास थी. आर्यों ने उसे परास्त किया. प्राचीन संस्कृत में ऐसे निर्देशों की कमी नहीं है, जिन से दस्यु का अभिप्राय एक जाति विशेष प्रतीत होता है. वैदिक आर्यों ने जिन दस्युओं को परास्त किया, वे सिंधु घाटी में निवास करते थे और उन्हीं की सभ्यता के भग्नावशेष पंजाब में रावी नदी के और सिंध में सिंधु नदी के तट पर पाए गए हैं."

इस उद्धरण से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि आर्य शब्द जातिवाचक रहा है. यह जाति कहीं बाहर से आ कर यहां बसी थी. इस ने पहले से यहां विद्यमान सभ्यताओं को खदेड़ कर अपने पैर जमाए थे. उन पूर्ववर्ती सभ्यताओं के भग्नावेश हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में मिलते हैं.

अब प्रश्न पैदा होता है कि वे लोग आखिर थे कौन? क्या वे लोग द्रविड़ थे? इन प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए हमें हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से प्राप्त तथ्यों का आश्रय लेना होगा, क्योंकि वे ही प्रस्तुत विषय में निर्णायक सिद्ध हो सकते हैं. इन स्थानों से प्राप्त मानव अस्थिपंजरों की वैज्ञानिक परीक्षा के परिणामों के अनुसार उक्त स्थानों की सभ्यता भूमध्यसागरीय (मैडिटरेनियन) सिद्ध होती है, ऐसा डाक्टर गुहा और कर्नल स्यूअल का मत है.

सिंधु घाटी की सभ्यता

अतः प्रसिद्ध हिंदू इतिहासकार और बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के कालिज आफ इंडोलाजी के भूतपूर्व प्रिंसिपल डाक्टर र. च. मजूमदार का कहना है: "विद्वानों की बहुसंख्या इस पक्ष में है कि हड़प्पा आदि में प्राप्त सभ्यता के जनक मैडिटरेनियन लोग ही थे. ये लोग द्रविड़ थे. इस सभ्यता के भग्नावशेषों के बाद की द्रविड़ भाषाओं और द्रविड़ भाषाभाषियों की सभ्यता के अध्ययन से प्राप्त तथ्यों में पर्याप्त साम्य है, अतः हम सिंधु घाटी की सभ्यता को द्रविड़ सभ्यता कह सकते हैं. यह सभ्यता 2800 ईसवी पूर्व के लगभग की ठहरती है, जब कि आर्यों का आगमन 2000 ईसवी पूर्व के लगभग बहुसंख्यक विद्वानों ने माना है. (एनशंट इंडिया पृ. 27-29)

इस प्रसंग में डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार का भी मत पठनीय है: "विद्वानों का विचार है कि आर्य जाति के इतिहास के रंगमंच पर प्रकट होने से पूर्व पृथ्वी के अनेक प्रदेशों में जिन लोगों ने मानव सभ्यता का विकास किया था, उन्हें हम सामूहिक रूप में भूमध्यसागरीय नस्ल कह सकते हैं. इसी नस्ल को आइबीरियन भी कहा जाता है. इस नस्ल के लोग रंग में कुछ भूरे व कद में छोटे होते थे. संसार की प्राचीनतम सभ्यता का विकास इसी नस्ल के लोगों ने किया. भारत के द्रविड़ लोग भी इसी आइबीरियन नस्ल की एक शाखा माने जाते हैं और अनेक विद्वानों का यह मत है कि सिंधु सभ्यता का विकास इन्हीं आइबीरियन लोगों द्वारा हुआ था." (भारतीय संस्कृति और उस का इतिहास, पृ. 82)

इन भारतीय इतिहासकारों द्वारा स्वीकृत तथ्यों को किस प्रकार गलत ठहराया जा सकता है?

इस संदर्भ में 'भारत में आर्य बाहर से नहीं आए' नामक पुस्तक में दिए गए तर्कों पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा. आर्यों को भारत के मूल निवासी सिद्ध करने के लिए जो तर्क इस में दिए गए हैं, उन्हें हम एकएक कर के लेते हैं ताकि देखा जा सके कि वे किस सीमा तक मान्य हो सकते हैं.

सर्वप्रथम लेखक ने मैगस्थनीज का एक उद्धरण दिया है जिस में कहा गया है: "भारत में एक भी आदमी मूलतः विदेशी वंशोत्पन्न नहीं है. सभी भारत के आदिम आदिवासियों के वंशधर हैं. भारत में कभी विदेशियों का कोई उपनिवेश नहीं हुआ."

प्राचीन भारत के इतिहास के स्रोतों में यद्यपि मैगस्थनीज के 'यात्रा विवरण' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है तथापि वह सर्वांशतः विश्वसनीय नहीं. डा. वी.ए. स्मिथ का कहना है: "मैगस्थनीज के विवरणों की कई बार निंदा की गई है, क्योंकि उस ने अपने विवरणों में कई सुनीसुनाई, अविश्वसनीय, विचित्र बातों को ठीक समझ कर और उन्हें अपनी पुस्तक में स्थान दे कर उसे अशुद्ध व अप्रामाणिक बना दिया है." (ग्लिंपसेज आफ इनशंट इंडिया, पृ. 261 पर उद्धृत).

छः प्रमुख नृवंश

भारत में नृवंशविज्ञान सर्वेक्षण के निदेशक डाक्टर ब.स. गुहा ने प्राचीन भारत की जातियों के विषय में जो अधिकारपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं, वे प्रायः सर्वमान्य हैं. उन्होंने अपनी पुस्तक 'रेशल एलिमैंट्स इन द पापूलेशन' (आक्सफोर्ड यूनि. प्रेस मुंबई, 1944) में विस्तृत सर्वेक्षण के बाद यह प्रतिपादित किया है कि भारत में छः नृवंश प्रधान रहे हैं–

(1) नेगरिटो (नीग्रो). ये लोग अफ्रीका से आए थे और इन के वंशज अंडमान आदि में मिलते हैं.

(2) एबअरिजिनल (आदिवासी). ये प्रोटोआस्ट्रेलायड वंश के थे. ये मैडिटरेनियन सागर के किनारे रहने वालों की संतति थे.

(3) मंगोलायड (मंगोलियन). ये लोग तिब्बत और चीन से आए थे.

(4) द्राविडियन (द्रविड़). ये भी मैडिटरेनियन प्रदेश से आए थे.

(5) पश्चिमी ब्रच्यस्फल. इस वर्ग में अल्पीनी, डिनारी, अरमीनी आदि उपवर्गों के लोग आते हैं. ये मध्य एशिया से यहां आए.

(6) आर्यन (आर्य). ये सब से बाद में भारत में प्रविष्ट हुए. (देखें, बहादुरमल, एम. ए. कृत 'ए स्टोरी आफ इंडियन कलचर' पृष्ठ 3-4 तथा 'हिस्ट्री एंड कलचर आफ द इंडियन पीपल, जिल्द 1, पृ. 145-46).

इन अर्वाचीन अन्वेषणों के समक्ष मैगस्थनीज का विवरण कोई प्रामाणिक दस्तावेज नहीं रह जाता. वह राजदूत था, नृवंशशास्त्री नहीं. अपने समय में उस ने जो सुना या महसूस किया, लिख दिया. "मैगस्थनीज भारत की किसी भाषा का ज्ञाता न था. इस के अतिरिक्त वह पाटलिपुत्र की शाही सड़क और पंजाब प्रदेश से ही परिचित

था. दूसरी बात यह है कि वह भारत में बहुत थोड़े समय के लिए रहा." (देखें, बी.डी. महाजन कृत 'प्राचीन भारत का इतिहास,' पृ. 223). उस के कथन बहुधा ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाते, इसीलिए स्मिथ जैसे विद्वान ने मैगस्थनीज को पूर्णतः प्रामाणिक नहीं माना.

स्पष्ट है कि मैगस्थनीज के बहुत पहले भारत में कम से कम छः विदेशी वंश स्थापित हो चुके थे. इसीलिए तो स्मिथ ने कहा था–"मानवीय दृष्टिकोण से भारत हमेशा मानव वंशों का अजायबघर सा रहा है, जिस में अगणित वंशों का अध्ययन किया जा सकता है." (ग्लिंपसेज़ आफ एंशंट इंडिया, पृ. 18 पर उद्धृत).

भारत में विदेशी उपनिवेश

मैगस्थनीज का यह कथन भी उस के अल्पज्ञ होने का सूचक है कि भारत में विदेशी उपनिवेश नहीं हैं. प्राचीन भारत के अध्ययन से पता चलता है कि ईरानी शासक साइरस प्रथम (558 से 530 ई. पू.) ने सिंध के पश्चिम में रहने वाले भारतीय कबीलों को हराया. उस का काबुल तक के समस्त प्रदेश पर अधिकार था. डेरियस के पर्स पोलिस अभिलेख (518-515 ई.पू.) और नक्शी रुस्तम अभिलेख (515 ई.पू.) उस के द्वारा पंजाब को ईरानी साम्राज्य में मिलाए जाने का वर्णन करते हैं.

जिरक्सीज (486 ई.पू.) के विषय में हेरोडोट्स के विवरण से ज्ञात होता है कि उस का सिंधु प्रदेश पर अधिकार था. जब वह यूनान के विरुद्ध लड़ा तो उस ने भारतीय सेना का प्रयोग किया था. ईरान के अखामनी शासकों का भारतीय प्रदेशों पर आधिपत्य डेरियस तृतीय के समय तक चलता रहा.

'एरियन' के अनुसार जब सिकंदर ने 330 ई.पू. ईरान पर आक्रमण किया तो डेरियस तृतीय ने भारतीय सैनिकों का प्रयोग किया. सिकंदर के आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत की उत्तरपश्चिमी सीमा पर यूनानियों ने स्वतंत्र रियासतों की नींव रखी (देखें, ग्लिंपसेज आफ एंशंट इंडिया, पृ. 234-35 और 49 तथा एन. एन. घोष कृत अरली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ. 94-95).

उत्तर वैदिक काल के निचले युगों में (लगभग पांचवीं सदी ई. पू.) सिंध और पंजाब के भाग भारत से निकल गए. हरवमनी सम्राट दारयवौष के लंबे हाथों ने भारत के अंतर्दाह से लाभ उठा कर उन्हें स्वायत्त कर लिया (देखें, भगवतशरण उपाध्याय कृत भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 66).

आर्य बनाम आर्यावर्त

इन प्रमाणों की विद्यमानता में मैगस्थनीज के कथन का उत्तरार्द्ध भी अप्रामाणिक बन कर रह जाता है, अतः मैगस्थनीज के कथन के बल पर आर्यों को भारत के मूल निवासी नहीं सिद्ध किया जा सकता.

आलोच्य पुस्तक में द्वितीय तर्क यह दिया गया है कि वेदशास्त्रों में आर्यों के कहीं बाहर से आने का उल्लेख नहीं, अतः आर्य यहीं के हैं.

इस विषय में स्वामी दयानंद सरस्वती को उद्धृत करना समुचित होगा. उन्होंने

अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' (अष्टम समुल्लास) में लिखा है कि इस देश का प्राचीन नाम 'आर्यावर्त' था. यह नाम इसलिए दिया गया था कि आर्य लोगों ने तिब्बत से आ कर इसे बसाया था.

'आर्यावर्त' शब्द का अर्थ भी इस बात का द्योतक है कि आर्यों ने यहां चक्कर (आवर्त) लगाए. आर्य शब्द स्वयं भी घुमक्कड़/घुमंतू का पर्याय है. यह शब्द ऋ धातु से बना है, जिस का अर्थ है–चलना. घूमनेफिरने वालों (= आर्यों) ने यहां बारबार सामूहिक रूप में चक्कर लगाए. जैसा कि इतिहास बताता है, आर्यों के समूह कई बार यहां आए थे, न कि एक बार ही. इसी से इस देश का नाम आर्य (घुमक्कड़ों) का आवर्त (चक्कर स्थल) हो गया.

आलोच्य पुस्तक में डा. कीथ को उद्धृत करते हुए लिखा है कि उस जैसे प्रकांड विद्वान ने भी लिखा है कि आर्यों के भारत आगमन की पद्धति के विषय में ऋग्वेद से कोई सहायता नहीं मिलती. इस के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि डाक्टर कीथ का उक्त कथन आर्यों के भारत में बाहर से आने की बात का खंडन नहीं करता. उस का मतलब तो यह है कि आर्य किस रूप में आए, इस का ज्ञान ऋग्वेद से हमें नहीं होता. वह यह कदापि नहीं कहता कि आर्य बाहर से नहीं आए थे.

डाक्टर कीथ का यह कहना उचित है कि ऋग्वेद से आर्यों के आने की पद्धति का पूरा पता नहीं चलता. इस का कारण बताते हुए श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने लिखा है: ऋग्वेद वगैरह लिखने से सदियों पूर्व आर्य लोग सप्तसिंधु में आ कर रहने लगे होंगे, इस कारण उन्हें वैदिक युग के शुरू होने तक अपने मूल निवास की सुध ही नहीं रही होगी. (देखें, ग्लोरी दैट वाज गुर्जरदेश 1, विभाग 2, पृ. 46).

दूसरे, ऋग्वेद में ऐसे वर्णनों की भरमार है जो आर्यों के देवता इंद्र की युद्ध वीरता का बखान करते हैं. उदाहरणार्थ:

हे इंद्र, सुश्रवा नामक राजा के साथ युद्ध करने के लिए आए हुए 20 राजाओं और उन के 60099 अनुचरों को तुम ने पराजित किया. (ऋ. 1/53/9)

'इंद्र ने वृत्र आदि असुरों को 81 बार मारा था.' ऋ. 1/84/13.

'इंद्र ने बहुत सहस्त्र सेनाओं का वध किया है.' ऋ. 4/28/3.

'इंद्र ने 30 हजार राक्षसों को मार डाला.' ऋ. 4/30/21.

इंद्र ने शंबर के 99 नगरों को एक ही काल में विनष्ट कर दिया.' ऋ. 5/29/6.

'हे इंद्र तुम ने शरत नामक असुर की सात पुरियों को वज्र द्वारा विदीर्ण किया है.' 6/20/10.

'अनु और दह्यु की गौओं को चाहने वाले 66066 लोगों को मारा गया. यह सब इंद्र की शूरता के सूचक कार्य हैं.' ऋ. 7/18/14.

असुर, राक्षस कहां से आए?

इन मंत्रों में प्रयुक्त हुए असुर, राक्षस और दूसरे राजा वे लोग हैं जिन के साथ आर्यों को भारत में लोहा लेना पड़ा. आर्यों ने उन को मारा, उन की पुरियां जलाईं और उन्हें पराजित किया. उन्हें अनासाः, मृध्रवाचा, शिश्नदेवाः, अयज्वन, अदेवयु,

दास, दस्यु आदि की संज्ञाएं दीं. (देखें, डाक्टर भगवतशरण उपाध्याय कृत भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 15).

यदि भारत में आर्यों के सिवा कोई था ही नहीं तो हजारों की संख्या में ये राक्षस, असुर या व्यक्तिवाचक राजा कहां से आ गए? उन के साथ युद्ध कैसा? ऐसी वस्तुस्थिति होने पर यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि स्वयं वेदशास्त्र इस बात के साक्षी हैं कि एक तो आर्य यहां कहीं बाहर से आए. दूसरे, उन के असुर, राक्षस आदि लोगों से कठिन मुकाबले हुए. तीसरे, आर्यों ने उन्हें बहुत बड़ी संख्या में तबाह किया, अतः आलोच्य पुस्तक का दूसरा तर्क भी मान्य नहीं ठहराया जा सकता.

तीसरा तर्क आलोच्य पुस्तक में यह प्रस्तुत किया गया है कि ऋग्वेद में आर्य शब्द का उल्लेख केवल तीन स्थलों पर मिलता है, पर यह शब्द कहीं भी जातिवाचक नहीं है.

ऋग्वेद में आर्य शब्द तीन नहीं, 34 सूक्तों में 36 बार प्रयुक्त हुआ है. निम्नलिखित चार स्थलों पर यह जातिवाचक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है.

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते

–1/51/8

अर्थात इंद्र, कौन आर्य और कौन दस्यु है, यह बात समझ लो.

विद्वान्वज्रिन्दस्यवे हेतिमस्यार्यं सहो वर्धया द्युम्नमिन्द्र

–1/103/3

अर्थात इंद्र, हमारी स्तुति जान कर दस्युओं के प्रति अस्त्र निक्षेप करो. इंद्र, आर्यों का बल और यश बढ़ाओ.

आर्याय विशोऽवतारीर्दासी:

–6/25/2

अर्थात हे इंद्र, आर्य के कार्यों को नष्ट करने वाली संपूर्ण प्रजाओं को नष्ट करो.

आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि

–10/65/11

अर्थात आर्यों ने पृथ्वी पर उत्तमोत्तम कार्य किए हैं.

आर्य : जातिवाचक शब्द

उपरिलिखित चारों स्थल आर्यों को दस्युओं से भिन्न जाति के रूप में अंकित करते हैं. इस विषय को और ज्यादा स्पष्ट करते हुए स्वामी दयानंद सरस्वती ने लिखा है: "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, द्विजों का नाम आर्य और शूद्र का नाम अनार्य है...आर्यावर्त से भिन्न पूर्व देश से ले कर ईशान (उत्तरपूर्व), उत्तर, वायव्य (पश्चिमोत्तर) और पश्चिम देशों में रहने वालों का नाम दस्यु और म्लेच्छ तथा असुर है और नैर्ऋत्य (दक्षिणपश्चिम), दक्षिण तथा आग्नेय (दक्षिणपूर्व) दिशाओं में रहने

वाले मनुष्यों का नाम राक्षस था और आर्यावर्त की सूध पर नीचे रहने वालों का नाम नाग" (सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास).

संस्कृत के शब्दकोश भी आर्य शब्द को जातिवाचक ही लिखते हैं: "आर्य हिंदुओं और ईरानियों का नाम" (देखें: संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. 197).

आर्य: हिंदुओं और ईरानियों का नाम. यह नाम उन्हें अनार्य, दस्यु और दासों से पृथक करता था. (देखे, द स्टूडेंट्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ. 86).

आर्य उन भारतीय और ईरानी लोगों के लिए है, जो भारोपीय पूर्वजों की संतान हैं. (एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका में जार्ज ग्रियर्सन के नाम से उद्धृत).

स्पष्ट है कि शूद्रों, दस्युओं, असुरों, नागों और म्लेच्छों से भिन्न आर्य एक जाति रही है और आर्य जातिवाचक नाम रहा है.

आर्यों को भारत के मूलनिवासी सिद्ध करने के लिए अगले तर्क में आलोच्य लेखक का कहना है कि सिंधु घाटी की सभ्यता वैदिक है, वह आर्यों से पहले की नहीं, बल्कि खुद आर्यों की उपज है.

यह मत भी मान्य नहीं ठहराया जा सकता. सर जान मार्शल ने सिंधु घाटी की सभ्यता और वैदिक सभ्यता के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर घोषित किया है कि दोनों में बहुत अंतर है (देखें, द हिस्ट्री एंड कलचर आफ द इंडियन पीपल, जिल्द 1, पृ. 197). विद्वानों ने दोनों सभ्यताओं की विभिन्नताएं विस्तृत रूप में चित्रित की हैं. प्रधानतया वे इस प्रकार हैं:

आर्यों के आर्थिक जीवन में घोड़ों का बहुत महत्त्व था, पर सिंधु घाटी के लोग इस से अपरिचित मालूम होते हैं.

सिंधु घाटी के लोग हाथी और व्याघ्र (सिंह) से परिचित थे, पर आर्य उन से अपरिचित हैं.

सिंधु घाटी के लोग मूर्तिपूजक थे, उन के देवताओं की मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं; पर आर्य लोग मूर्ति पूजा के विरोधी थे. वेदों में स्पष्ट लिखा है–

'न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः'

–यजु. 32/3

अर्थात जिस परमात्मा का नाम महद्यशः है, उस की कोई मूर्ति, शक्ल व तोलने का साधन नहीं (देखें, बुद्धदेव मीरपुरी कृत मूर्तिपूजा-मीमांसा, पृ. 86).

सिंधु घाटी के लोग लिंग और योनि के उपासक थे, जब कि वेदों में ऐसे लोगों की निंदा की गई है–

मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः

–ऋ. 7/21/5

अर्थात लिंग की पूजा करने वाले पुरुष हमारे यज्ञों में कभी न आएं. (देखें, धर्मदेव विद्यावाचस्पति कृत वेदों का यथार्थ स्वरूप, पृ. 380).

इस तरह की द्विध्रुवीय विरोधिताओं के बावजूद दोनों सभ्यताओं को एक कहना

तर्कसंगत नहीं. दस्युओं, असुरों, नागों आदि की उपज सिंधु सभ्यता को आर्यों की सभ्यता नहीं कहा जा सकता और न ही आर्यों के पूर्ववर्ती लोगों के अस्तित्व से इनकार किया जा सकता है. अतः आलोच्य तर्क ठीक नहीं.

अगले तर्क में आलोच्य लेखक सिंधु घाटी में उपलब्ध शिवलिंगों और 'मातृदेवी' की पूजा को वैदिक सिद्ध करने की कोशिश करता है, किंतु इस के खंडन में वही वैदिक प्रमाण पर्याप्त हैं जो किसी भी प्रकार की मूर्तिपूजा का विरोध और लिंगपूजकों की निंदा करते हैं. प्रोफेसर मैक्डानेल का कहना है कि ऋग्वेद के दो पद्य दस्युओं को स्पष्ट रूप से लिंगपूजक कहते हैं. (देखें, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. 129).

सिंधु सभ्यता और आर्य

न केवल पाश्चात्य विद्वान, बल्कि स्वयं द्रविड़ विद्वान भी इस बात को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं कि लिंगपूजा और शिव देवता दोनों द्रविड़ों की देन हैं. (देखें रामचंद्र दीक्षितार कृत ओरिजिन एंड स्प्रैड आफ़ दि तामिलज और टी. आर. शेष आयंगार कृत द एंशंट द्राविडियंस).

ऐसी स्थिति में शिवलिंग-पूजा और मातृदेवी की मूर्ति के आधार पर पूर्व आर्यकाल की सिंधु सभ्यता को आर्य सभ्यता सिद्ध नहीं किया जा सकता.

अपनी बात समाप्त करने से पूर्व आलोच्य लेखक स्वामी विवेकानंद को उद्‌धृत करते हुए लिखता है: "द्रविड़–आर्य थियरी गलत है. सारा भारत आर्य ही है."

इस कथन से यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि आर्य कहीं बाहर से नहीं आए थे. यह कथन तो स्वामीजी के देशभक्तिपूर्ण हृदय का उद्‌गार है ताकि देश में एकता लाई जा सके. ये उन के किसी शोधपत्र की पंक्तियां नहीं हैं कि इन्हें अक्षरशः सही मान लिया जाए. ये राष्ट्रीय एकता को दृष्टि में रखते हुए कहे गए सामान्य वाक्य हैं, अतः ये अपने आप में कोई तर्क नहीं.

पंजाब के निवासी

लेखक के इस कथन में दुराग्रह ही है. डा. अविनाशचंद्रदास और डा. संपूर्णानंद जैसे कुछ एक भारतीय विद्वानों को छोड़ कर प्रायः सभी ने यह माना है कि आर्य बाहर से आए. लोकमान्य तिलक का मत था कि वे उत्तरी ध्रुव से आए और स्वामी दयानंद सरस्वती के विचार में वे तिब्बत से आए थे.

यहां यह स्मरणीय है कि डाक्टर दास और डाक्टर संपूर्णानंद सरीखे जिन विद्वानों ने आर्यों को भारतीय मूल के ही बताया है, वे इन्हें 'सप्तसिंधव' (पंजाब और उत्तरपश्चिमी सीमा प्रांत) के मूल निवासी बताते हैं. (देखें, क्रमशः ऋग्वैदिक इंडिया, आर्यों का आदि देश), लेकिन वह प्रांत किसी भी तरह आर्यों का मूल निवास स्थान सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सप्तसिंधुव न तो मध्यवर्ती स्थान है, न ही यहां ओक जैसे वृक्षों का अस्तित्व है, जिन का ऋग्वेद में जगहजगह वर्णन आया है.

फिर आर्य वहां पाए जाने वाले उस समय के पशुओं और पदार्थों, विशेषतः हाथी और पहाड़ से अपरिचित मालूम होते हैं. वे जहां से आए थे, वहां ऐसे पशु न थे. जब

सप्तसिंधु प्रदेश में उन्होंने इन्हें देखा तो वे चिल्ला उठे–मृगहस्तिन् (हाथ वाला जानवर). यह शब्द बिलकुल नवीन रूप में प्रयुक्त हुआ. ऐसे ही यहां के बड़े पहाड़ों को देख कर विस्मित हो वे चिल्ला उठे–पर्वतगिरि (पूज्य पहाड़). ये शब्द बताते हैं कि ये चीजें आर्यों के अनुभव में नई ही आई थीं, अतः वे सप्तसिंधु (पंजाब) के मूलनिवासी नहीं हो सकते.

दूसरे, सप्तसिंधव शब्द का अर्थ है– सात नदियां, पर पंजाब में कहीं भी ऐसी सात नदियों के नाम नहीं पाए जाते. (देखें, रामगोविंद त्रिवेदी कृत वैदिक साहित्य, पृ. 344). तीसरे, भारतवर्ष को या उस के किसी प्रांत को आर्यों ने सप्तसिंधु के नाम से कभी नहीं पुकारा. पंजाब प्रत्यक्ष ही पांच नदियों से बना है. रहा सिंध प्रदेश; वह आज तक केवल सिंध ही कहलाता है, कोई उसे सप्तसिंधु नहीं कहता.

वेद के जिन मंत्रों से लोग उसे सप्तसिंधु सिद्ध करते हैं, उन में सात किरणों का वर्णन है. वेदों में सप्तसिंधु शब्द किसी ऐसे भूभाग के लिए नहीं आया है, जहां सात नदियां हों क्योंकि वेदों में भूभागों की सीमा के निर्धारण का बिलकुल वर्णन नहीं है. (देखें, रघुनंदन शर्मा कृत वैदिक संपत्ति, पृ. 117-120).

अतः उक्त विद्वानों का पंजाब को सप्तसिंधु कह कर इसे आर्यों का मूल निवास सिद्ध करना सही नहीं कहा जा सकता. वर्तमान में उपलब्ध ज्ञान के आधार पर यह निश्चित है कि आर्य भारत के मूलनिवासी नहीं, यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे भारत से भिन्न किस देश विशेष के मूलनिवासी थे.

कुछ विद्वानों का मत है कि रावण को द्रविड़ों का राजा कहना उचित नहीं. उन के कथनानुसार रावण आर्य राजा था, क्योंकि वह आर्यों के ऋषि पुलस्त्य का पौत्र था.

मातृ सत्तात्मक समाज

ये विद्वान न तो द्रविड़ों की उस समय की सभ्यता से परिचित मालूम पड़ते हैं और न ही भारतीय नृवंशों की विशेषताओं का ही इन्हें ज्ञान प्रतीत होता है. द्रविड़ों में मातृसत्तात्मक समाज रहा है. (देखें, सुनीतिकुमार चटर्जी कृत इंडोआर्यन एंड हिंदी, पृ. 49). मातृसत्तात्मक समाज में स्त्रियां अपने वंश के बाहर के किसी भी अपने मनपसंद व्यक्ति से यौन संबंध स्थापित करने में स्वतंत्र होती हैं, लेकिन बच्चे स्त्रीवंश से ही संबद्ध माने जाते हैं. ऐसे समाज में संपत्ति भी स्त्री की वंश परंपरा में ही हस्तांतरित होती है. (वैबस्टर, थर्ड न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी, 1966).

रावण का पिता विश्वश्रवा यद्यपि आर्यवंशीय पुलस्त्य का पुत्र था तथापि उस की माता निक्रषा सुमाली नामक राक्षस की पुत्री थी. द्रविड़ लोगों को ही हिंदू ग्रंथों में राक्षस कहा गया है, क्योंकि द्रविड़ ही रावण को अपना पूर्वज और अपने को उस के वंशज मानते हैं.

द्रविड़ों में मातृसत्तात्मक समाज होने से रावण को राक्षस (द्रविड़) ही कहा गया है, न कि आर्य. वह अपने पिता विश्वश्रवा का उत्तराधिकारी भी नहीं बना. उस समय

की सामाजिक व्यवस्था के अनुसार उस का वंश वही निश्चित होना था, जो उस की माता का था और वही हुआ भी. परंपरा भी रावण को राक्षस कहती है, आर्य नहीं. यदि द्रविड़ों में उस समय पितृसत्तात्मक समाज होता तो वह अवश्य आर्य कहलाता. अतः मातृसत्तात्मक समाज से अपरिचित लोगों का रावण को आर्य कहना समाजशास्त्रीय अल्पज्ञान का द्योतक है.

कुछ लोग वाल्मीकीय रामायण के कुछ वर्णनों के आधार पर यह तर्क पेश करते हुए रावण को आर्य सिद्ध करना चाहते हैं कि वाल्मीकि ने रावण का वेदों के प्रति स्नेह प्रतिपादित किया है. लंका में राक्षसों के द्वारा हवनयज्ञों के किए जाने का वाल्मीकि ने उल्लेख किया है, आदि.

पारस्परिक आदानप्रदान

उपरिलिखित तथ्यों के प्रकाश में यह कहना ही पर्याप्त होगा कि द्रविड़ और आर्य संस्कृतियों में देर से संपर्क होने के कारण पारस्परिक काफी आदानप्रदान हुआ था. द्रविड़ तो परास्त संस्कृति थी. उस के द्वारा विजेता आर्यों की कई चीजों का अनुकरण किया जाना एक स्वाभाविक सी बात है जैसे हमारे यहां विजेता अंगरेजों की नकल करना एक सामान्य बात रही है. उन के इस देश को छोड़ कर चले जाने के बाद भी बहुत से भारतीय उन की नकल करते पाए जाते हैं. क्या हम अंगरेजों की नकल करने वालों को अंगरेज कह सकते हैं? ठीक ऐसे ही, विजेता आर्यों के नकल किए हुए कुछ रस्मोंरिवाजों का द्रविड़ों में दिखाई देना, उन्हें आर्य, सिद्ध करने के लिए उपयुक्त तर्क नहीं है.

द्रविड़ों में वर्णव्यवस्था नहीं थी, अतः रावण को ब्राह्मण आदि कहना भी सही नहीं है. जब उस जाति में ब्राह्मण आदि जातियों का अस्तित्व था ही नहीं, तब रावण को किस आधार पर ब्राह्मण मानें?

कुछ लोगों ने रावण को दक्षिण का नहीं, अपितु मध्यभारत का राजा कहा है. यह धारणा प्रमाणों के अभाव में मान्य नहीं हो सकती. रावण को लंका का राजा कहा गया है. यह लंका कहां है–इस की इतिहासकारों ने पर्याप्त गवेषणा की है. वाल्मीकीय रामायण के अनुसार यह विंध्याचल के आसपास कहीं है.

प्रसिद्ध इतिहासकार जयचंद्र विद्यालंकार का कहना है–लंका का अर्थ गोंडी द्रविड़ बोली में टापू, दोआब और ऊंचा टीला तीनों हैं. विंध्य के गोंड लोग अपने आप को रावण का वंशज मानते आए हैं. यह सब देखते हुए आधुनिक विवेचकों ने यह निर्णय किया है कि लंका अमरकंटक की चोटी थी. यहां से एक तरफ नर्मदा और दूसरी तरफ सोन निकलती है." (भारतीय इतिहास का उन्मीलन, पृ. 80 तथा आदर्श हिंदी संस्कृत कोष, पृ. 748).

विंध्य दक्षिण का पर्वत है, उस के आसपास के इलाके में कोई स्थान 'लंका' था, अतः रावण दक्षिण का ही राजा था, न कि मध्यभारत का, क्योंकि विंध्य से दक्षिण शुरू हो जाता है. (आप्टे, द स्टूडेंट्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ. 513). दक्षिण के ही लोग उसे अपना पूर्वज स्वीकारते हैं, न कि मध्यभारत के. वाल्मीकीय

रामायण में भी विंध्य के इर्दगिर्द ही राम का घूमना चित्रित है. अतः रावण निस्संदेह दक्षिण का राजा था.

कुछ लोग दोचार शब्द प्रस्तुत करते हुए यह तर्क देते हैं कि अमुकअमुक शब्द द्रविड़ों ने संस्कृत भाषा से लिए थे, अतः संस्कृत भाषाभाषी आर्य यहां पहले विद्यमान थे. उन्हीं की भाषा से द्रविण भाषाएं अस्तित्व में आईं, इत्यादि.

इस विषय में भाषाशास्त्रियों के विचारों को उद्‌धृत करना गुत्थी सुलझाने में पर्याप्त सहायता दे सकता है. उन का मत है, "व्याकरण और शब्दसमूह में शब्द समूह का अपेक्षाकृत कम महत्त्व है, क्योंकि भाषा में विकास और प्रभाव के कारण शब्दसमूह में भी परिवर्तन आता है. अतः एक परिवार की भाषाएं भी प्रायः शब्दसमूह में पर्याप्त भिन्नता रखती हैं, जैसे रूसी और हिंदी. दूसरी ओर दो या अधिक परिवारों की दो या अधिक निकटस्थ भाषाएं आपसी आदानप्रदान से आपस में शब्दसमूह की पर्याप्त समानता रखती हैं, जैसे मराठी और कन्नड़." (भाषा विज्ञान पृ. 95).

भाषाशास्त्रियों का स्पष्ट मत है कि किन्हीं शब्दों की दो भाषाओं में समता देख कर उन्हें एकदूसरी से निकली कहना भ्रांति है, क्योंकि संभव है, दोनों भाषाओं में दो मिलतेजुलते शब्द किसी तीसरी भाषा से आए हों, जैसे रूसी 'चाई' और तुर्की 'चाए'. इन दोनों में यह शब्द चीनी भाषा से आया है.

भाषागत आदानप्रदान

अतः ऐसे शब्दों के आधार पर दो भाषाओं को एक परिवार की नहीं माना जा सकता. तुर्की और हिंदी में अरबी भाषा के बहुत से शब्द हैं, किंतु इसी के आधार पर दोनों को एक ही भाषा परिवार के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता. ऐसा साम्य पारस्परिक आदानप्रदान का परिणाम ही होता है.

अतः कुछ शब्दों के आधार पर द्रविड़ भाषाओं को संस्कृत की पुत्रियां कहना सरासर गलतबयानी है. यदि क्षण भर के लिए यह मान भी लिया जाए कि किसी भाषा में किसी दूसरी भाषा के शब्दों की विद्यमानता उसे दूसरी भाषा की पुत्री बनाती है तो भी स्थिति सुलझती नहीं, क्योंकि पटवी, आलि, नीर, मीन, कठिन, कोण आदि कई सौ शब्द द्रविड़ भाषाओं ने संस्कृत तथा अन्य भारतीय आर्य भाषाओं को दिए हैं. ऐसे में तो यह कहना पड़ेगा कि संस्कृत द्रविड़ भाषाओं की पुत्री है.

दरअसल, ऐतिहासिक क्रम में आगेपीछे उत्पन्न होने वाली जिन दो या अधिक भाषाओं के व्याकरण में समानता हो, वे भाषाएं ही एकदूसरी की माता और पुत्री कही जा सकती हैं, अन्य नहीं. द्रविड़ भाषाओं और संस्कृत के व्याकरण में कोई भी साम्य नहीं है, अतः ये दोनों एक परिवार की भाषाएं नहीं हैं–दोनों विभिन्न परिवारों से संबद्ध हैं. द्रविड़ भाषाएं तुर्की आदि की तरह अश्लिष्ट अंतयोगात्मक हैं और संस्कृत है श्लिष्ट योगात्मक.

अतः कुछ शब्दों की समानता के आधार पर संस्कृत को द्रविड़ भाषाओं की जननी बता कर आर्यों को द्रविड़ों से पहले का सिद्ध नहीं किया जा सकता. उपलब्ध

ऐतिहासिक सामग्री के आलोक में ऐतिहासिक क्रम में द्रविड़ और उन की भाषाएं पूर्ववर्ती तथा आर्य और उन की भाषाएं परवर्ती सिद्ध होती हैं.

रामलीला जब से दक्षिण में विचारविमर्श का विषय बनी, तब से यह कहा जाने लगा कि रावण का पुतला जलाना द्रविड़ों से आर्यों की श्रेष्ठता का द्योतक नहीं है, वह तो राम की कहानी को जीवित रखने का प्रयत्न है.

लेकिन आम धारणा तो यही है कि रावण बुराई का प्रतीक था. मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने उस का वध केवल इसीलिए नहीं किया था कि उस ने सीता का हरण किया था, बल्कि इसलिए किया था कि वह बुराइयों का पुंज था. यही कारण है कि रावण पर राम की विजय बुराई पर अच्छाई की विजय मानी जाती है.

रावण द्वारा अपनी बहन के अपमान के प्रतिशोध में उठाए गए राजनीतिक कदम के अतिरिक्त उस का कोई अन्य दोष सिद्ध करना कठिन है. सीताहरण को ही दोष बताया जाता है, लेकिन राम और लक्ष्मण के साथ भी तो विवाह की प्रार्थना करने वाली निश्शस्त्र युवती के नाककान काटने की घटना जुड़ी है.

अगर महज इसी कारण से रावण का पुतला जलाया जाता है कि उस ने सीताहरण किया था, स्त्रीहरण किया था तो ऐसे लोगों की संख्या हमारे इतिहास में नगण्य नहीं है.

यदि राम की कहानी को जीवित रखना ही वास्तविक उद्देश्य है तो इस के लिए रामायण की शिक्षाओं के प्रचार की आवश्यकता है. राम की कहानी को जीवित रखने के लिए रावण का पुतला जलाने का कोई औचित्य दिखाई नहीं देता. जब शेष महापुरुषों, देवीदेवताओं या राजाओंराजकुमारों की कहानियां उन के प्रतिद्वंद्वियों के पुतलों को जलाए बिना जीवित रह सकती हैं, तब राम की ही कहानी को जिंदा रखने के प्रयास में रावण के पुतले को जलाने की अनिवार्यता में कोई तुक नजर नहीं आती. देश की एकता, अखंडता और स्वतंत्रता को दृष्टि में रखते हुए यह उचित ही होगा कि रावण विषयक पुरानी धारणाओं पर पुनर्विचार किया जाए और उसे आर्य-द्रविड़-संघर्ष का प्रतीक बना कर उछाला न जाए.

गायत्री मंत्र

गायत्री मंत्र हिंदुओं की नसों में खून के साथ ही हरकत करता है. यह मंत्र ऋग्वेद (3-62/10), सामवेद (1462) और यजुर्वेद (22/9;30/2 तथा 36/3) में उपलब्ध है. इस का शास्त्रीय नाम 'सावित्री' है. अज्ञात अतीत से इसे 'कामधेनु' माना जाता रहा है. कोई भी मनोकामना पूरी करनी हो, व्यावसायिक पुरोहित एक विशेष संख्या तक इस की पुनःपुनः आवृत्ति का परामर्श देगा. कभी तो यह संख्या एक हजार तक ही रह जाती है और कभीकभी 51 लाख तक पहुंच जाती है.

वैसे तो यह मंत्र शुरू से ही हिंदुओं को परम प्रिय रहा है परंतु पिछली शताब्दी से इस का जोरदार प्रचार है. पहले यह स्वामी दयानंद सरस्वती ने किया, बाद में लाखों की संख्या में विद्यमान उन के अनुयायियों—आर्य समाजियों—ने. आज भी कई आर्यसमाजी संन्यासी गायत्री मंत्र पर सप्ताह भर व्याख्यान देते देखे जा सकते हैं, परंतु उन में से कइयों के वक्तव्यों का मंत्र के साथ क्या संबंध है, इस का संभवतः स्पष्ट ज्ञान उन्हें भी न हो. कई बार ये व्याख्यान अपने सारे अर्जित ज्ञान को गायत्री मंत्र की ओट में बघारने के सिवा और कुछ नहीं होते.

मंत्र का माहात्म्य

गायत्री मंत्र का माहात्म्य बताते हुए जमीनआसमान के कुलाबे मिलाए जाते हैं. बच्चे के जन्म जैसे शुभ कर्म से नवयुवक की मृत्यु जैसे अशुभ कर्म तक में इस मंत्र को झोंक दिया जाता है.

सन 1964 की बात है. मैं उन दिनों 'प्रभाकर' का छात्र था. एक युवा संन्यासी हमारे शहर के मठ में आया. संयोगवश वह भी उन दिनों 'प्रभाकर' की परीक्षा की तैयारी कर रहा था. एक दिन बातों ही बातों में मैं ने 'प्रभाकर' की कठिनाई और परीक्षा में सफल होने के विषय में आशंका प्रकट की. वह बोल उठा, "पढ़ने की और परीक्षा से डरने की क्या जरूरत है? 12 हजार गायत्री मंत्रों का जाप कर के हवन कर दो, विद्या तुम्हारे आगेपीछे घूमेगी. हम तो किसी दिन ऐसा ही करेंगे. 'प्रभाकर' हमारे सामने क्या है?"

पता नहीं बाद में उस ने ऐसा किया या नहीं और वह पास हुआ या नहीं, परंतु यदि मैं उस के पीछे लग जाता तो निश्चित है कि मैं तो कम से कम पास न होता.

कुछ भी हो, वह संस्कृत और हिंदी अच्छी तरह जानता था और साधारण आदमी

पर संस्कृत का एकाध श्लोक बोल कर प्रभाव डाल देता था. आज सोचता हूं कि उस संन्यासी ने न जाने कितने लोगों को गायत्री मंत्र की अफीम से अकर्मण्य बनाया और अंधविश्वास में डाल कर जीवन में असफल और मूर्ख बनाया होगा?

हमारे शास्त्रों–पुराणों, गृह्य सूत्रों और श्रौतसूत्रों–में गायत्री मंत्र के विषय में बहुत प्रशंसात्मक वचन लिखे गए हैं. उन्हें यदि यहां उद्धृत करना चाहें तो एक लघु पुस्तिका ही बन जाएगी. अतः हम यहां एक ही पुस्तक से उद्धरण देंगे जो आर्यसमाजियों और सनातनधर्मियों की समान रूप से श्रद्धा की पात्र है. वह पुस्तक है–मानव धर्मशास्त्र अर्थात मनुस्मृति.

गायत्री मंत्र इस प्रकार है:

ओं भूर्भुवः स्वः. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि. धियो यो नः प्रचोदयात्.

इस के विषय में मनुस्मृति में लिखा है:

- 'ब्रह्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से 'भूः, भुवः, स्वः' ये तीन व्याहृतियां निकालीं (76).
- यदि विप्र इन तीनों व्याहृतियों के साथ प्रातःसायं गायत्री का जाप करे तो उसे तीन वेद पढ़ने के समान पुण्य प्राप्त होता है (78).
- यदि द्विज तीनों व्याहृतियों के साथ गायत्री का ग्राम के बाहर नदी तीर पर अथवा वन में एक हजार बार जाप करे तो वह बड़े से बड़े पाप से उसी प्रकार मुक्त हो जाता है जैसे सर्प केंचुली उतार कर मुक्त हो जाता है (79).
- जो संध्या समय इस का जाप नहीं करता, वह चाहे शेष धार्मिक कृत्य, हवनादि, क्यों न करता हो, निंदा का पात्र बनता है (80).
- गायत्री को ब्रह्मा अथवा वेद का मुख समझना चाहिए (81).
- जो तीन वर्ष तक सायंप्रातः गायत्री का जाप करता है, वह ब्रह्म को जान लेता है, वायु की तरह कामचारी बन जाता है (संकल्प मात्र से जहां जाना चाहे, जा सकता है) और मृत्यु के उपरांत ब्रह्म ही बन जाता है अर्थात मर कर परमात्मा ही बन जाता है (82).
- गायत्री से बढ़ कर और कोई मंत्र नहीं है (83).

–मनुस्मृति, अध्याय–2

इस स्तोत्र से स्पष्ट है कि गायत्री ऐसी क्लोरीन गैस है, ऐसा ब्लीचिंग पाउडर है कि इस से बड़े से बड़े पाप को भी खुरदबुरद किया जा सकता है. इस के जाप से वेदों को बिना पढ़े ही उन के पढ़ने से प्राप्त होने वाला पुण्य (?) प्राप्त हो जाता है और वायुयान, हेलीकाप्टर, राकेट आदि के बिना ही जहां दिल चाहे, वहां पहुंचा जा सकता है. तभी तो सुनते हैं कि हमारे पूर्वज चंद्रमा पर पहले ही जा चुके हैं! आज के वैज्ञानिक तो कलियुगी और मूर्ख हैं जो प्रयोगशालाओं में दिन रात एक कर के और करोड़ों रुपए खर्च कर के वैज्ञानिक यंत्र बनाते हैं. चुपचाप गायत्री मंत्र का जाप और हवन शुरू कर दें, सब ठीक हो जाएगा और हमारे पूर्वजों के समान उन्नति कर जाएंगे!

जब किसी का पढ़ने में दिमाग न चलता हो, किसी का बेटा व बेटी चतुर न हो, किसी नए काम में सफलता प्राप्त करनी हो, अगले लोक में 'सीट बुक' करवानी हो, परमेश्वर का सारूप्य प्राप्त करना हो, विद्या और बुद्धि में अग्रसर होना हो—सब के लिए—गायत्री मंत्र के गायन को रामबाण कह दिया जाता है.

इसी के द्वारा हवन करने पर बेटा जन्मजात कवि होता है और इसी की अनुकंपा से प्राचीन आर्यों के पद्यसंग्रह—ऋग्वेद—को पढ़ने और समझने का बल मिलता है, इसी के बारबार गुनगुनाने से द्विजों का धर्म अक्षुण्ण रहता है, इसी से ब्राह्मण में 'ब्रह्मवर्चस' और क्षत्रिय में 'क्षात्रतेज' आता है. इस लोक में ही नहीं, परलोक में भी सुख, धनधान्य और मनोकामनाओं की पूर्ति होती है.

"सौ बार गायत्री मंत्र का जप करने से दिन के किए पाप नष्ट हो जाते हैं. 10 हजार जप करने से सब पाप स्वाहा हो जाते हैं. एक लाख जप करने से सोने की चोरी करने वाला, ब्रह्महत्यारा, गुरु की पत्नी से व्यभिचार करने वाला, शराबी—सब शुद्ध हो जाते हैं. किसी को मारना हो तो घी की आहुतियां देता हुआ गायत्री मंत्र जपे. धन की कामना करने वाला कमलों की आहुतियां देता हुआ गायत्री मंत्र जपे और सोने की कामना करने वाला बेल के फलों की आहुतियां देता हुआ. ब्रह्मतेज की कामना करने वाला दूध की आहुतियां दे और ध्यानपूर्वक घी मिले तिलों को आग में जलाए. गायत्री मंत्र नरक में गिरे हुओं को बचाने वाला है. गायत्री जाप करने वाला मर कर स्वर्ग को प्राप्त होता है." (शंखस्मृति, अध्याय 12).

"यदि एक ही समय व्यक्ति बहुत से पाप कर बैठे तो उसे 10 हजार बार गायत्री का जाप करना चाहिए. उस के सब पाप नष्ट हो जाएंगे. (पराशरस्मृति II-56).

मंत्र है या जादू की पुड़िया

गायत्री मंत्र न हुआ, जादू की पुड़िया हो गई! प्रत्येक श्रमसाध्य और प्रयत्नपूर्वक सिद्ध होने वाले काम को करने के लिए 24 अक्षरों के तिपाए मंत्र का प्रचार करने वालों ने अपना आचार्यत्व तो बना लिया, जप करने की फीस ले कर अपनी जीविका चलाने का मार्ग तो आविष्कृत कर लिया, परंतु भारत की सहज विश्वासी, धर्मभीरु तथा परमात्मा पर डोरी फेंक कर चलने वाली कोटिकोटि जनता में आलस्य, अकर्मण्यता और 'शार्टकट' ढूंढ़ने की दूरगामी मारक प्रभाव डालने वाली, संक्रामक महामारी के कीटाणु संचरित कर दिए, जिस के दुष्परिणामस्वरूप उस में नियतिवाद और भाग्यवाद जैसे सत्यानासी एवं आत्मप्रवंचक सिद्धांतों के नासूर फूटे और शताब्दियों तक उसे पराधीनता एवं दासता के जुए तले आर्थिक और बौद्धिक, शारीरिक और मानसिक, सामाजिक और वैयक्तिक तथा धार्मिक और राजनीतिक शोषण का शिकार होना पड़ा. मानवता के दरबार में घोर अपराध करने वाले इन स्वार्थी शेखचिल्लियों, आंख के अंधों, पर गांठ के पूरों को परमात्मा ने (यदि वह कोई है) अवश्य उन कुंभीपाक आदि 21 नरकों में (यदि उन का कोई अस्तित्व है) गिराया होगा जिन का हमें गरुड़पुराण आदि से पता चलता है. भारत के इतिहास को जानने वाली तथा आने वाली पीढ़ियां इन्हें कभी माफ नहीं कर सकतीं.

इस मंत्र में क्या है? इस का अर्थ क्या है? यह सब जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है क्योंकि इस की हवा ही इतनी बांधी जाती है. पुराने विद्वान भाष्यकारों से ले कर आजकल के व्यावसायिक पुरोहितों तक ने इस का अर्थ किया है, क्योंकि हर एक को पहले किए हुए अर्थ असंतोषजनक प्रतीत हुए. हम आधुनिक अर्थकर्ताओं को ही यहां उद्धृत करेंगे क्योंकि उन्होंने पुराने भाष्यकारों की सब गलतियां ठीक कर के बिलकुल सही अर्थ करने का दावा किया है.

सब से पहले हम वेदों के उत्कट प्रचारक स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा किया हुआ अर्थ उद्धृत करते हैं. उन के द्वारा किया अर्थ है: "हे मनुष्यो! जैसे हम लोग कर्मकांड की विद्या, उपासना की विद्या और ज्ञानकांड की विद्या को संग्रहपूर्वक पढ़ के जो हमारी धारणावती बुद्धियों को प्रेरणा करे, उस कामना के योग्य समस्त ऐश्वर्य के देने वाले परमेश्वर के उस इंद्रियों से न ग्रहण करने योग्य परोक्ष सब दुखों के नाशक तेजस्वरूप का ध्यान करें, वैसे तुम लोग भी इस का ध्यान करो." (यजुर्वेद भाषाभाष्य पृ. 1120).

स्वामी दयानंद जी के अनुसार परमात्मा लोगों को उपदेश देता है कि जैसे मैं दुखों के नाशक परमेश्वर का ध्यान करता हूं, वैसे तुम भी करो. कैसा परमात्मा है जिसे स्वयमपि किसी दुखनाशक का ध्यान धरना पड़ता है? इस अर्थ को पढ़ कर पता चलता है कि यह परमात्मा अपना उदाहरण दे कर मनुष्यों को उपदेश देता है कि तुम भी उसी का ध्यान धरो, जिस का मैं धरता हूं. पता नहीं इस मंत्र की हजार या लाख बार की गई आवृत्ति से कैसे वह कुछ हो जाएगा जो गायत्री माहात्म्य में लिखा मिलता है?

अब एक दूसरे चतुर्वेद भाष्यकार विद्वान का अर्थ देखिए: "सत् चित् आनंद स्वरूप जगदुत्पादक ईश्वर के उस श्रेष्ठ तेज का हम सब ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धियों को विशेष प्रेरणा करे अथवा करता है." (श्रीपाद दामोदर सातवलेकर कृत 'वेदामृत', पृ. 438).

इस अर्थ को पढ़ कर भी मंत्र के जाप का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता. उस से होने वाले पुण्यों और भौतिक विजयों की सत्यता का खयाल करना तो नितांत मूर्खता होगी. यदि कोई अंधश्रद्धालु इस मंत्र का दो लाख बार भी जाप करता रहे, तो भी, हमें तो समझ नहीं आता कि कैसे इस से उस को ब्रह्म (?) का ज्ञान हो जाएगा, उस का बड़े से बड़ा पाप कट जाएगा, उस में हवा सी निर्बाध गति आ जाएगी और बिना पुस्तकें पढ़े ही परीक्षा पास कर लेगा. यदि ऐसे ही होता तो भारत में हजारों वर्षों से गायत्री का जाप करने वाले सब बृहस्पति, अरस्तू, सुकरात और लाला हरदयाल ही पैदा होते, न कि घोर अंधविश्वासी और अंगूठा लगाने वाले अनपढ़.

मेरे एक बुजुर्ग दोस्त हैं, बड़े श्रद्धालु किस्म के. एक दिन सायं भ्रमण के समय मिल गए. बातों ही बातों में बोले, 'आजकल मैं प्रातः चार बजे उठ कर कम से कम 10 मालाएं गायत्री मंत्र की जपता हूं."

यह वाक्य सुनने से कुछ ही क्षण पहले जब मैं ने उन से पूछा था कि आजकल

कौन सी पुस्तक पढ़ते हैं तो उन्होंने उत्तर दिया था, "लाला हरदयाल, एम. ए. की 'हिंट्स फार सैल्फ कल्चर." मैं ने गायत्री वाला वाक्य सुनकर कहा, "सेठजी, 'हिंट्स फार सैल्फ कल्चर' पढ़ने वाला यदि गायत्री मंत्र का जाप करता है तो मेरे खयाल में उसे वह पुस्तक पढ़नी ही नहीं आती. क्या आप ने इस पुस्तक के पृष्ठ 109 और 111 कभी नहीं पढ़े जो एक ही समय आस्तिक और नास्तिक का अभिनय कर रहे हो?" वह बोले, "मैं इस पुस्तक के प्रत्येक शब्द का अर्थ जानता हूं."

इस घटना को यहां उदधृत करने का मेरा अभिप्राय यही दर्शाना है कि कैसे पढ़ेलिखों की अक्ल भी इस गायत्री रूपी गाय (कामधेनु?) ने चर ली है. वे शब्दों के अर्थ तो जानते हैं परंतु पुस्तक को हृदयंगम नहीं कर सकते. जिन लोगों ने वह पुस्तक पढ़ी है, वे जानते हैं कि उसे पढ़ कर आदमी बुद्धिवादी हुए बिना नहीं रह सकता और बुद्धिवाद व जाप का ईंटघड़े का बैर है. परंतु वर्षों से गायत्री जपने वाले मेरे दोस्त इतने बौद्धिक दीवालिए हो गए हैं कि बुद्धिवाद और अंधविश्वास में भी अंतर नहीं देख पाते.

वेदों के मर्मज्ञ ए.ए. मैक्डानेल ने इस मंत्र का अर्थ करते हुए लिखा है, "हम सविता देवता के विशिष्ट तेज को प्राप्त करें और वह हमारे विचारों को प्रेरित करे." (ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 75). इस अर्थ से भी इस मंत्र के जाप का वृथापन प्रकट होता है.

इस मंत्र का महत्त्व प्रतिपादित कर के अनुष्ठान करने की सम्मति देने वालों से जब अभीष्ट फल प्राप्त न होने पर इस मंत्र की शक्ति पर 'कलियुगी' प्रभाव की बात की जाती है, जब उन से इस की शक्ति के कुंठित हो जाने और फल प्राप्त न करवाने के विषय पर चर्चा छेड़ी जाती है, तो उन में से कई बड़ी बेहयाई और इतमीनान से फरमाते हैं, "आप ने श्रद्धापूर्वक और पूर्ण विधिविधान से अनुष्ठान नहीं किया, अतः तुम्हें पूर्ण फल कैसे प्राप्त हो जाता है?" शायद ऐसे लोगों को ही लक्ष्य कर के आचार्य चार्वाक ने कहा था:

> "एक संदिग्धयोस्तावद् भावि तत्रेष्टजन्मनि, हेतूनाहुः स्वमंत्रादीनसांगानन्यथा विटाः
>
> –नैषधचरितम् महाकाव्य, 17/63

अर्थात संदेहयुक्त दो कार्यों में से एक अवश्य ही होता है, अर्थात किसी स्त्री को जब बच्चा पैदा होगा, वह या लड़का होगा या फिर लड़की. उन में से यदि इष्ट कार्य हो जाए तो धूर्त लोग उसे अपने मंत्र का प्रभाव बताते हैं और यदि इष्ट कार्य न हो तो कहते हैं, "तुम ने अमुक वस्तु का प्रयोग नहीं किया, अमुक विधान का पालन नहीं किया." वह अन्यत्र लिखता है: "इसीलिए तो आचार्य बृहस्पति कह गए हैं कि कर्मकांड–जप, तप, हवन आदि–सब धनात्मक बुद्धि से रहित लोगों की रोजी का तरीका है." (नैषधचरितम् महाकाव्य, 17/38).

गायत्री बनाम सावित्री

इस मंत्र का नाम, देवता के लिहाज से, 'सावित्री' है और छंद के अनुसार

'गायत्री.' वेदों में गायत्री, उष्णिह्, अनुष्टुभ, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ् और जगती–ये सात छंद मुख्यतया प्रयुक्त हुए हैं. इन में से भी गायत्री छंद ऋग्वेद में बहु प्रयुक्त है. ऋग्वेद का लगभग एकचौथाई भाग (=2450 मंत्र) इसी छंद में रचित है, परंतु उत्तरवैदिक काल में यह बिलकुल बहिष्कृत सा है. तब इस का स्थान अनुष्टुभ छंद ने ले लिया था.

संभवतः ऋग्वेद में बहुप्रयुक्त होने के कारण लोगों के मुंह में 'गायत्री' शब्द चढ़ गया और गायत्री छंद में रचित आलोच्य मंत्र कुछ एक को अधिक प्रिय लगने लगा. उन के अनुकरण पर दूसरों ने भी इसे प्रिय कहना शुरू कर दिया. बाद में, अकर्मण्यता के युग में, जब कि कल्पित दैवी शक्तियों की प्रसन्नता प्राप्त करना ही सब कुछ बन गया था, इस 'प्रिय' मंत्र की प्रशंसा में वागाडंबर रच दिया गया. उत्तरवर्ती संततियों ने उस के अनुकरण पर श्रद्धावश और गर्दोगुबार इस पर चढ़ा दिया. इस से वास्तविकता का कहीं पता ही नहीं चला.

पता नहीं, शुद्धतावादी हिंदू इस मंत्र को ही गायत्री क्यों कहते हैं जब कि छंद के अनुसार अकेले ऋग्वेद में ही 2450 गायत्री मंत्र हैं. शेष सब को छोड़ कर इसी एक को क्यों पकड़ रखा है? क्या शेष 2449 मंत्र निरर्थक और निर्बल हैं? क्या उन के जाप से कथित पुण्य नहीं मिलता? क्या वे अपवित्र हैं? क्या उन का सत्त्व क्षीण हो चुका है?

जिस मंत्र को पकड़ कर रखा गया है, वह वास्तव में शुद्ध गायत्री छंद में नहीं है. गायत्री छंद का लक्षण है: तीन पादों वाला वह छंद जिस के प्रत्येक पाद में आठआठ अक्षर हों और इस प्रकार कुल 24 अक्षर हों. उदाहरणार्थ ऋग्वेद (8/67/20) का निम्नलिखित मंत्र देखिए:

"मा नो हेतिर्विवस्वत आदित्याः कृत्रिमा शरुः. पुरा नु जरसो वधीत्."

इस के हर पाद में आठआठ वर्ण हैं, और कुल 24. छंदशास्त्र में विधान है कि हलंत और आधे वर्ण गणना में अंतर्भुक्त नहीं किए जाते अतः स्, र्, त् आदि छोड़ दिए जाते हैं.

हमारा आलोच्य मंत्र ऋग्वेद (3/62/10) में इस प्रकार आता है: तत्सवितुर्वरेण्यं (7), भर्गो देवस्य धीमहि (8), धियो यो नः प्रचोदयात् (8). इस के अंतिम दो पादों में तो आठआठ वर्ण हैं, परंतु प्रथम पाद में एक वर्ण कम है. अतः इसे शुद्ध गायत्री छंद नहीं कह सकते. यह लंगड़ा छंद है. शायद मंत्र के लंगड़ा होने के कारण ही इस का जाप करने वाले हवा में उड़ न सके और उन्हें विद्या में अप्रयास सफलता न मिल सकी! लंगड़ा तो स्वयं ही कठिनता से चलता है, दूसरों को हवा में कैसे उड़ा देगा? उसे तो विद्यालय को जाने में स्वयं ही कष्ट उठाना पड़ता है, दूसरों को बिना पुस्तकें पढ़े ही परीक्षा में वह कैसे उत्तीर्ण करवा देगा?

यजुर्वेद (36/3) में यह मंत्र इस प्रकार है: "भूर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं (11), भर्गो देवस्य धीमहि (8), धियो यो नः प्रचोदयात् (8). इस में भी अंतिम दो पाद पहले लिखे ऋग्वेद के मंत्र की तरह ठीक हैं, परंतु पहले पाद में उलटी गंगा बह रही

है. उस में एक वर्ण कम था तो इस में तीन वर्ण फालतू हैं. शुद्ध ही नहीं होना! आखिर परमात्मा द्वारा प्रदत्त वेद जो हुए!

वैसे भारतीय परंपरा अधिक और कम अंगों वालों को बुरा एवं अनिष्टकर मानती है. मनु आदि स्मृतिकारों ने तो यहां तक लिखा है कि ऐसी लड़की के साथ विवाह नहीं करना चाहिए जिस के अंग अधिक हों अर्थात छः उंगलियां आदि हों. (मनुस्मृति 3/8) परंतु परमात्मा द्वारा कथित तौर पर आविष्कृत एवं साक्षात्तया प्रदत्त वेदों में किसी छंद में एक वर्ण कम है तो किसी में एक नहीं, तीन वर्ण फालतू हैं.

जहां तक हमारी बुद्धि काम करती है, ऋग्वेदीय मंत्र का नाम गायत्री नहीं 'निचृद् गायत्री' होगा, क्योंकि 23 वर्णों वाले छंद का यही नाम छंदशास्त्रीय ग्रंथों में मिलता है. पर मुसीबत तो दूसरे अर्थात यजुर्वेदीय मंत्र के छंद पर विचारविमर्श करते हुए आती है. छंदशास्त्र हमें एक या दो वर्ण अधिक होने वाले छंद का नामकरण करने का उपाय तो बताता है पर तीन वर्ण अधिक वाले का नहीं.

वैदिक प्रेस, अजमेर में छपी यजुर्वेद संहिता (सन 1927) के पृ. 151 पर इस मंत्र के छंद के विषय में जो सांकेतिक रूप में लिखा गया है, वही उसी प्रेस से छपे स्वामी दयानंद सरस्वती कृत 'यजुर्वेदभाषाभाष्य' (सन 1929) के पृष्ठ 1120 पर स्पष्ट कर के लिखा गया है. स्वामी दयानंद ने लिखा है, "भूर्भुवः स्वः– इस में 'देवी बृहती' छंद है और 'तत्सवितु' इत्यादि में 'निचृद् गायत्री'.

इस से जहां हमारी इस का नामकरण करने की मुश्किल हल हुई है, वहां हमें यह भी पता चलता है कि मंत्रकार में वह चाहे ईश्वर (?) हो या वैदिक काल का कोई कवि, इतना सामर्थ्य नहीं था कि वह तीन पाद का एक शुद्ध छंद रच सके. यदि वेद ईश्वर की रचना है, तब तो यह आक्षेप और भी गंभीर हो जाता है, क्योंकि इतनी बड़ी शक्ति वाले कल्पित परमात्मा का वर्णसंकर (दोगला) छंद बनाना बुरी तरह अखरता है.

ऋग्वेद के मंत्र में भी कथित परमात्मा के छंदज्ञान और छंदनिर्माण सामर्थ्य का दिवाला निकल गया प्रतीत होता है. यदि छंदनिर्माण सामर्थ्य के लिहाज से देखा जाए तो तथाकथित परमात्मा से 'पृथ्वीराज रासो' का कवि चंदबरदाई और 'रामचंद्रिका' का कवि केशवदास कहीं ज्यादा समर्थ सिद्ध होते हैं.

इस प्रकार हम देखते हैं कि (1) गायत्री आदि किसी मंत्र का जाप हमें अभीष्ट किनारे पर नहीं लगा सकता, (2) गायत्री छंद दो अनभीष्ट रूपों में मिलता है–एक लंगड़ा, दूसरा अधिकांगी या दोगला और (3) इसी एक को गायत्री कहना, जो कि वास्तव में शुद्ध गायत्री है ही नहीं और ऋग्वेद के गायत्री छंद में रचित शेष 2449 मंत्रों को छोड़ देना अन्याय व अनुचित है.

गायत्री मंत्र

आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर

मेरे लेख 'गायत्री मंत्र' पर विभिन्न शिविरों से तरहतरह की प्रतिक्रियाएं हुई हैं. लेकिन खेद है कि किसी तथ्य तक पहुंचने के लिए जिस स्वस्थ प्रतिक्रिया की अपेक्षा की जाती है, उस का सर्वत्र अभाव रहा. कुछ एक सांप्रदायिक पत्रिकाओं ने बहुत उलझनदार ढंग से टिप्पणियां की हैं जिन से उन के प्रतिपाद्य विषय अस्पष्ट ही रह गए हैं. इन में सरकंडे की कलम से लिखे गए कुछ एक पत्र भी हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उन के लेखक पूर्णतः शुद्धतावादी हिंदू हैं.

कुछ एक सम्मानित भिखारी उर्फ परान्नभोजी व धर्म के एकाधिकारी अपने गुरुडम और हलवे मंडे को खतरा समझ दुर्वासा का वेश धारण कर के भी आए. इधर धर्म के कुछ स्थानीय स्वयंभू ठेकेदारों ने पूरी तरह व्यक्तिगत द्वेष से प्रेरित हो कर 'धर्मरक्षा' के लिए मेरे विरुद्ध नीच से नीच शब्द प्रयुक्त कर और ओछे से ओछा हथकंडा अपना कर जो अपने वास्तविक भैरव एवं बीभत्स रूप का परिचय दिया, वह अपनी किस्म का ही अप्रिय अनुभव है.

इन विभिन्न प्रतिक्रियाओं में वे लेख के प्रमुख अंशों की प्रायः उपेक्षा कर गए हैं. लेख में तीन बातें प्रधान थीं:

(1) गायत्री मंत्र की पुनःपुनः आवृत्ति से वे फल प्राप्त नहीं हो सकते जो कि मनुस्मृति, शंखस्मृति, पराशरस्मृति आदि धर्मग्रंथों में लिखे गए हैं,

(2) गायत्री मंत्र शुद्ध गायत्री छंद में नहीं है—एक जगह लंगड़ा छंद है तो दूसरी जगह दोगला और

(3) केवल इसी विकृत छंद को अन्य 2449 गायत्री छंदों/मंत्रों की विद्यमानता में क्यों पकड़ कर रखा गया है?

कुछ एक अप्रौढ़ आलोचक इन बातों की ओर ध्यान न दे कर इस बात पर दृष्टि केंद्रित करते हैं कि लेख में स्वामी दयानंद सरस्वती और आर्यसमाजी संन्यासियों पर व्यंग्य किए गए हैं. प्रतीत होता है कि ये अप्रौढ़ आलोचक गायत्री मंत्र का जाप नहीं करते अन्यथा सविता देवता उन को कम से कम इतनी बुद्धि तो देता ही कि वे इस छोटे से लेख को पढ़ कर यह समझ सकते कि लेख के प्रमुखांश क्या हैं!

हम ने लेख में स्वामी दयानंद के विषय में इतना ही लिखा है कि "पिछली शताब्दी में उन्होंने गायत्री मंत्र का बहुत ज्यादा प्रचार किया." आर्यसमाजी संन्यासियों

के बारे में सिर्फ यह लिखा गया है कि उन में से कई सप्ताहसप्ताह तक गायत्री मंत्र पर भाषण देते हैं और इधरउधर की सब कथाकहानियां सुनाते रहते हैं जिन का उस मंत्र से प्रत्यक्षतः कोई संबंध नहीं होता.

हमारे अप्रौढ़ आलोचक इन तथ्यों में भी आक्षेप योग्य स्थल ढूंढ़ने का प्रयत्न करते रहे हैं. इन्हें चाहिए कि ये स्मृतियों में लिखे विधानानुसार गायत्री का जाप करें ताकि ईश्वर (?) इन्हें जरा सी बुद्धि दे, जिस से वे यह जानने के योग्य तो हो जाएं कि लेख के प्रमुखांश क्या हैं और ऐतिहासिक तथ्य क्या हैं.

अब हम लेख के प्रमुख अंशों को लेते हैं. मनुस्मृति, शंखस्मृति, पराशर स्मृति आदि धर्म ग्रंथों में गायत्री मंत्र के जाप के फल बताते हुए अतिशयोक्ति का आश्रय लिया गया है. इन में नरहत्या, सुवर्ण चोरी और गुरुपत्नीगमन जैसे जघन्य अपराधों से मुक्ति के लिए कुछ हजार बार गायत्री मंत्र की आवृत्ति का विधान किया गया है.

इस तरह के विधान अपराधों की भयंकरता और गंभीरता को कम करते हुए व्यक्ति को अप्रत्यक्ष रूप से सुझाते हैं कि 'नरहत्या कर लो, दस हजार बार गायत्री जप लेना, तुम दोष मुक्त हो जाओगे!' इस तरह के विधानों को कोई भी बुद्धिमान मान्य नहीं ठहरा सकता. अभी तक ऐसे किसी फार्मूले का आविष्कार नहीं हुआ है जिस से यह सिद्ध किया जा सके कि नरहत्या करने का अपराध दस हजार बार गायत्री मंत्र जपने से समाप्त हो सकता है.

गायत्री जाप अनर्गल प्रलाप

दूसरे, इन धर्म ग्रंथों में गायत्री जाप के फल बताते हुए यह भी लिखा है कि इस का जाप करने से बुद्धि, धनधान्य और कामचारित्व (संकल्प मात्र से जहां जाना चाहें, जा सकना) आदि की प्राप्ति होती है. गायत्री का कोई अनन्य भक्त चाहे तो इस से भी ज्यादा हसीन कल्पना कर के अपना दिल बहला सकता है.

जिन के मन और मस्तिष्क स्वस्थ हैं, वे जानते हैं कि केवल 'सविता देवता हमारी बुद्धियों को प्रेरणा दें' (धियो यो नः प्रचोदयात्) जपने से ही बुद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती. केवल 'रोटीरोटी' रटने से ही भूख नहीं मिट सकती. अगर रोटीरोटी रटने से ही भूख मिटती होती तो भारत की खाद्य समस्या कब की हल हो गई होती, न हमें अमरीका के आगे हाथ फैलाने होते और न ही रूस के आगे घुटने टेकने पड़ते!

कुछ लोगों ने आरोप लगाया है, 'आप का लेखन हमारी भावनाओं को पीड़ित करता है.' हमारा उन लोगों से नम्र निवेदन है कि उन की भावनाओं को ठेस पहुंचाना हमारा कदापि अभीष्ट नहीं रहा. हम ने केवल धर्म ग्रंथों के वाक्यों को बुद्धि की कसौटी पर परखने की कोशिश की है ताकि सही और गलत का अंतर स्पष्ट किया जा सके. जो सत्य हो, जो बुद्धि संगत हो, उस का आदर होना चाहिए, और जो असत्य हो, बुद्धिविरुद्ध हो, अज्ञान की उपज हो, उसे निर्दयतापूर्वक छोड़ देना चाहिए क्योंकि 'सत्यमेव जयते' (सदा सत्य की विजय होती है) एक सार्वभौमिक सिद्धांत हैं. सत्य तक पहुंचने के प्रयास में बहुत कुछ छोड़ना होता है, बहुत कुछ रौंदना पड़ता है. इस

स्वाभाविक और अनिवार्य प्रक्रिया को 'व्यक्तिगत भावना पर आघात' नहीं समझना चाहिए, अपितु ऊंचे उठ कर सत्य के अन्वेषण में दत्तचित्त होना चाहिए.

लेख का दूसरा प्रमुखांश है, छंदगत अशुद्धता. हम ने छंदशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार लिखा था कि ऋग्वेद में यह छंद लंगड़ा है अर्थात इस में 24 के स्थान पर 23 वर्ण हैं, अतः यह 'निचृद् गायत्री' छंद है, शुद्ध गायत्री छंद नहीं. यजुर्वेद में यह छंद दोगला है अर्थात दो भिन्न छंदों के मेल के कारण यह वर्णसंकर छंद है. इस पर हमारे एक स्वयंभू आचार्य लिखते हैं कि 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' में जो ण् आधा है, उसे पूरा मान लेना चाहिए, इस तरह 24 वर्ण हो जाएंगे.

हम पूछते हैं कि वह कौन सा छंदशास्त्रीय ग्रंथ है जो मध्य के आधे वर्ण को पूरा मानने का परामर्श देता है. छंदों का जरा सा ज्ञान रखने वाला प्रवेशिका का विद्यार्थी भी यह जानता है कि यदि आवश्यकता पड़े तो अंतिम हलंत को पूर्ण माना जा सकता है, न कि मध्य के वर्ण को. उन्होंने यह नहीं बताया कि 'त्' और 'र्' को भी 'त' और 'र' क्यों न मान लिया जाए.

एक दूसरे आचार्य ने लिखा है, "तत्सवितुर्वरेण्यम्' में ण्य में इ और अ का योग है, अतः यहां दो वर्ण हैं, एक नहीं. इस तरह 23 के स्थान पर 24 वर्ण हैं और छंद शुद्ध है." लगता है, आचार्यजी संधियों का खूब अभ्यास करते हैं! और इसी झोंक में यह भी विस्मृत कर जाते हैं कि स्थल यण् संधि का है भी या नहीं. लगता है, वे बहुत वृद्ध हैं और वार्धक्य दोष से गायत्री जपने पर भी उन की बुद्धि ठीक नहीं रही है.

कितना अच्छा होता यदि वे अपने किसी संतुलित बुद्धि वाले छात्र से ही इस विषय पर कुछ सलाहमशवरा कर लेते! यदि उस ने 'सिद्धांत कौमुदी' पढ़ी होती तो वह एकदम अपने पूज्य गुरुजी को बता देता कि यहां यण् संधि नहीं है. यहां उणादि एण्य प्रत्यय है–वृञ एण्यः (3/98). इस सूत्र के अनुसार वृ धातु से एण्य प्रत्यय लगाने पर 'वरेण्य' शब्द निष्पन्न होता है. अतः यहां न 'इ' है और न तथाकथित 'अ'. वस्तुतः इस तरह के हथकंडों से आचार्य जी ने अपने अज्ञान को थोथे पांडित्य से ढकना चाहा है. बुरा हो वैयाकरणों का जिन्होंने हजारों वर्ष पूर्व ही सूत्र बनाकर 'वरेण्य' की निष्पत्ति को निर्विवाद रूप में अंकित कर दिया है! ऐसे में बेचारे पोंगा पंडितों के अज्ञान की सब के समकक्ष प्रदर्शनी लग जाया करती है!

वैदिक परंपरा इस छंद को किस रूप में लेती है, इस का ज्ञान प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है. जिन लोगों ने विधिवत वेद पढ़े हैं, वे जानते हैं कि मूल वेदों में मंत्र के ऊपर उस छंद का नाम अंकित होता है, जिस में वह रचा गया होता है.

वेदों का प्रकाशन बहुत सावधानीपूर्वक और अनेक पांडुलिपियों के प्रकाश में किया जाता है.

वैदिक प्रेस, अजमेर से मूल रूप में छापे गए वेदों की प्रत्येक संहिता के ऊपर मोटे अक्षरों में लिखा गया था कि अनेक विद्वानों ने अनेक पांडुलिपियों के मिलान के बाद बहुत सावधानीपूर्वक प्रूफ पढ़ कर इन्हें प्रकाशित किया है. यहां से छपे ऋग्वेद (संवत 1983 वि.) के पृष्ठ 197 पर स्पष्ट रूप से 'तत्सवितु' इत्यादि मंत्र का छंद 'निचृद् गायत्री' लिखा हुआ है.

वेद जब अपने बारे में खुद बोलते हैं कि अमुक छंद निचृद् है–लंगड़ा है, तब स्वयंभू आचार्यों का उसे, शब्दों में मनमाना हेरफेर कर के पूर्ण सिद्ध करना वैसे ही हास्यास्पद है जैसे कोई व्यक्ति स्वयं कह रहा हो कि 'मैं जीवित हूं,' लेकिन एक दूसरा, उस का 'हितैषी' कह रहा हो कि 'नहीं, तुम जीवित नहीं हो, तुम मृत हो.' पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि इन में प्रामाणिक कौन है.

लेख के दूसरे प्रमुखांश के उत्तरार्द्ध में हम ने यजुर्वेदीय मंत्र के दोगलेपन का जिक्र किया था, जिसे प्रत्येक आलोचक बिना छुए ही छोड़ गया है. इस विषय में हम ने स्वामी दयानंद सरस्वती को अपने लेख में उद्धृत किया था. यहां हम वैदिक प्रेस, अजमेर से छपे मूल यजुर्वेद (सं. 1984 वि.) के पृष्ठ 151 को उद्धृत करना चाहते हैं. वहां लिखा है, "भूर्भुवः स्वः (देवी बृहती छंद), तत्सवितु. (निचृद गायत्री छंद)" अर्थात यजुर्वेदीय छंद में देवीबृहती छंद और निचृद् गायत्री छंद का मिश्रण है. इस तरह स्पष्ट रूप से यह छंद वर्णसंकर अर्थात दोगला है.

अंत में हम ने लिखा था कि 2449 अन्य गायत्री छंद भी तो ऋग्वेद में हैं. उन का जाप न कर के इसी अधूरे छंद को क्यों जपा जाता है? क्या वे छंद निर्बल और सत्त्वहीन हैं? इस के बारे में एक महानुभाव फरमाते हैं, "क्योंकि इस में बुद्धि मांगी गई है, अतः यह श्रेष्ठ मंत्र है, गुरुमंत्र है." लगता है, इन्होंने वेदों का अध्ययन नहीं किया, अन्यथा ऐसे दायित्वहीन ढंग से ऐसा न फरमाते क्योंकि वेदों में सैकड़ों मंत्र ऐसे हैं, जिन में केवल बुद्धि के लिए प्रार्थना की गई है.

प्रसिद्धि का कारण गुण नहीं

वास्तव में यह मंत्र किन्हीं ठोस गुणों के आधार पर प्रसिद्ध नहीं हुआ बल्कि संयोगवश और आकस्मिक रूप में ही इस की प्रसिद्धि हो गई. किसी कुलवृद्ध को यह अच्छा लगा. उस के अनुकरण पर सारा कबीला इसे गुनगुनाने लगा. फिर इस कबीले के दासों और अन्य सदस्यों ने इसे अपना लिया. कालक्रम से यह उत्तरोत्तर विस्तृत भूखंड में फैल गया. आगे चल कर अंधे युगों में पुरोहित वर्ग ने इसे कल्पवृक्ष और कामधेनु के सदृश सामर्थ्यवान और गुणमय घोषित कर दिया ताकि इस के ब्याज से स्वार्थसिद्धि में सहयोग प्राप्त हो. इस तरह स्पष्ट है कि गायत्री मंत्र से (1) न तो किसी कथित फल की प्राप्ति हो सकती है, (2) न ही यह छंद शुद्ध है, और (3) न ही इस के प्रसिद्ध होने के पीछे कोई विशेष आधार है.

गायत्री मंत्र की झूठी महिमा

गायत्री मंत्र भी हजारों मंत्रों की तरह एक साधारण मंत्र है, पर इसे हिंदू धर्म में असाधारण महत्त्व दिया गया है. विभिन्न शास्त्रों में इस की महिमा गाते हुए इसे अलादीन के चिराग की तरह बताया गया है: इस के जप से मनोकामनाएं तो पूरी होती ही हैं, जघन्य से जघन्य पाप भी धुल जाते हैं आदि.

मंत्र की महिमा के ढोल

किसी ने इसे गुरुमंत्र बताया है तो किसी ने महामंत्र. इस की महिमा बखानते समय कभी स्मृतियों की पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं तो कभी पुराणों या अन्य संस्कृत ग्रंथों का हवाला दिया जाता है. अन्य किसी अवलंबन के अभाव में ऐसे प्रसिद्ध व्यक्तियों का नामोल्लेख कर दिया जाता है, जिन्होंने गायत्री मंत्र को अच्छा कहा है.

जहां तक गायत्री मंत्र के अर्थ का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि इस में बुद्धि की याचना की गई है. भाव अच्छा होने के कारण मंत्र को भी अच्छा ही कहना होगा. लेकिन यह कहना असंगत होगा कि उक्त मंत्र की बारबार की गई आवृत्ति किसी तरह फलदायक हो सकती है.

अपराधवृत्ति को बढ़ावा

गायत्री मंत्र के जप को सर्वकार्यसाधक कहा गया है. बहुत से जघन्य अपराधों के दोष को इस मंत्र की किसी निश्चित सीमा तक की गई आवृत्ति दूर कर देती है, ऐसा धर्मशास्त्र बताते हैं. क्या यह संभव है? जो लोग गायत्री मंत्र की पापनाशक शक्ति की महिमा गाते हुए नहीं अघाते, जिन ग्रंथों में गायत्री मंत्र के अविश्वसनीय स्तोत्र लिखे हुए हैं, उन सब को सुनपढ़ कर क्या लोगों को अप्रत्यक्ष रूप से अपराध करने की प्रेरणा नहीं मिलती? निश्चित तौर पर इन महिमाओं के गानबखान से अपराधवृत्ति को बल मिलता है. आस्तिकबहुल इस देश में अपराधों की संख्या यदि बहुत अधिक है तो इस का एक कारण यह महिमागान भी हो सकता है.

कुछ लोगों का कहना है कि केवल गायत्री मंत्र के जप से कुछ नहीं बनता. इस का अर्थ समझ कर तदनुसार कार्य करना चाहिए. योगदर्शन (1/28) में कहा गया है कि मंत्र का अर्थ जानते हुए जप करना चाहिए.

जिनजिन ग्रंथों में गायत्री जप का विधान लिखा है या गायत्री जप के फलों का

गल्प के रूप में वर्णन है, उन में कहीं भी यह नहीं लिखा कि इस का अर्थ जानते हुए जप करना चाहिए या तदनुकूल कार्य भी करना चाहिए. उन ग्रंथों में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता तो क्या इसे उन का अधूरापन माना जाए या यह माना जाए कि वे धोखाग्रंथ हैं जो वाहियात सलाहें दे कर लोगों को गलत मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं?

दूसरे यदि कोई गायत्री मंत्र का अर्थ जानते हुए भी उस का जप कर लेता है तो उस से उस के अपराध कैसे दूर हो जाएंगे? वह हत्या, चोरी या व्यभिचार के दोष से मुक्त कैसे हो जाएगा? बाकी रही अर्थ के अनुसार काम करने की बात. गायत्री मंत्र का सीधासादा अर्थ है: "हम सविता देवता के वरेण्य तेज का ध्यान करते हैं, वह हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे."

इस में ऐसी कौन सी बात है, जिस के अनुसार काम किया जाए? उस में तो सविता से बुद्धि मांगी गई है, प्रार्थना की गई है. उस से कहा गया है कि वह हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे. जप करने वाला अब मंत्र के इस अर्थ को आचरण में कैसे उतारे? इस में व्यक्ति के लिए करने को तो कुछ भी नहीं है. अतः गायत्री मंत्र के संबंध में यह कहना कि अर्थ जानते हुए जप करना और अर्थ के अनुसार आचरण करना, न केवल निरर्थक है, बल्कि प्रवंचनापूर्ण भी है.

कुछ लोगों का मत है कि गायत्री मंत्र का इसलिए अधिक महत्त्व है कि इस में बुद्धि मांगी गई है. इसी कारण यह बाकी मंत्रों से श्रेष्ठ है और महामंत्र है. यह भी कि गायत्री मंत्र मनुष्य रचित नहीं है, यह गुरुमंत्र है आदिआदि. यह कहना नितांत असत्य है कि वेदों में केवल यही मंत्र है, जिस में बुद्धि मांगी गई है, क्योंकि वेदों में एक नहीं अनेक ऐसे मंत्र हैं जो बुद्धियाचनापरक हैं. अथर्ववेद में ही एक स्थान पर (6/108/1 से 5 तक) आए पांच मंत्रों में बुद्धि की प्रार्थना की गई है.

गायत्रीमंत्र यदि मानव द्वारा रचित नहीं तो क्या यह दानव द्वारा रचित है? गायत्री छंद की ही बात की जाए तो अकेले ऋग्वेद में 2449 अन्य मंत्र गायत्री छंद में रचे गए हैं. वे श्रेष्ठ क्यों नहीं हैं? क्या वे मूर्खों द्वारा बनाए गए हैं? यदि गायत्री मंत्र महामंत्र है तो क्या ये लघुमंत्र हैं?

प्रमत्त प्रलाप

स्कंदपुराण के काशीखंड, अध्याय 9, श्लोक 53 में कहा गया है कि "गायत्री वेद जननी है, ब्राह्मण पैदा करने वाली है. गायन करने वालों का त्राण करती है, उन का उद्धार करती है." पद्मपुराण (स्वर्ग खंड 53/48) में कहा गया है कि "गायत्री वेद माता है. संसार को पवित्र करने वाली है. गायत्री से बढ़ कर जपने योग्य दूसरा कोई मंत्र नहीं है." स्कंदपुराण के काशीखंड में ही एक अन्य स्थान पर गायत्री को सब मंत्रों में दुर्लभ कहा गया है और तीनों वेदों में इस से श्रेष्ठ कोई दूसरा मंत्र न होने की बात कही गई है (9/51). देवी भागवत पुराण के अनुसार द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के लिए गायत्री की उपासना नित्य कर्त्तव्य है क्योंकि वे गायत्री की उपासना से ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं (12/81,89-90).

गायत्री के संबंध में उद्धृत किए जाने वाले उपर्युक्त श्लोक सामान्य व्यक्ति के

मन में भ्रांति पैदा करने में पर्याप्त समर्थ हैं. पुराणों में भी इसी तरह कई स्थानों पर गायत्री की खूब महिमा गाई गई है. लेकिन विचार करने पर स्पष्ट होता है कि यह स्तोत्र रचना निहायत बेहूदा है. गायत्री को वेद जननी या ब्राह्मण जननी कहना प्रमत्त प्रलाप है. गायत्री छंद या गायत्री मंत्र वेदों को या ब्राह्मणों को कैसे और कहां से पैदा कर सकता है? आज तक के इतिहास में इस के द्वारा कितने वेदों या ब्राह्मणों की रचना की गई है?

गायत्री के समान अन्य किसी जपनीय मंत्र का अस्तित्व न स्वीकारना, इसे दुर्लभ मंत्र कहना और तीनों वेदों में इस से श्रेष्ठ मंत्र का नहीं होना बताना, सरासर पौराणिक गप है.

गायत्री मंत्र में सिवा बुद्धि की याचना के और कुछ नहीं है. न कोई दार्शनिक चर्चा, न प्राकृतिक वर्णन, न कोई मानवहृदय का उद्‌गार और न कोई सांस्कृतिक महत्त्व की सूचना. इतना होने पर भी इसे श्रेष्ठतम और दुर्लभ बताना यही दर्शाना है कि ऐसा कहने और लिखने वाले पुराणकार की दृष्टि में वेद के शेष सब मंत्र सिवा कूड़ाकरकट के और कुछ नहीं. स्पष्ट है कि पुराणों में गायत्रीविषयक अतिशयोक्तिपूर्ण कथन गप मात्र है.

द्विज के मोक्ष का साधन, जो केवल गायत्री को कहा गया है, यह भी ठीक नहीं. मोक्ष जन्ममरण के चक्र से छूटने की स्थिति को कहा जाता है. जब तक जन्ममरण के चक्र का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता, तब तक इस से छूटने के लिए हाथपैर मारने में क्या तुक है? ऐसे में तो गायत्री की ही व्यर्थता सिद्ध होती है, क्योंकि जिस उद्‌देश्य के लिए इस का अस्तित्व है, वह कोई वास्तविकता ही नहीं है.

भरद्वाज स्मृति में गायत्री शब्द का अर्थ "गायंतं त्रायते यस्माद् गायत्रीति स्मृता बुधैः" (6/146) किया गया है अर्थात यह गायन करने वाले की रक्षा करती है, अतः इसे गायत्री कहते हैं. इस अर्थ के आधार पर गायत्री की उपयोगिता व महत्ता बढ़ाई जाती है.

गायत्री का यह व्युत्पत्तिपरक अर्थ नितांत अव्यावहारिक, काल्पनिक और व्याकरणिक बुद्धिविलास मात्र है. कोई भी व्यक्ति गायत्री जपने से ही सुरक्षित नहीं हो सकता. गायत्री कोई ऐसा कवच नहीं जिस से रक्षा हो सके. यदि गायत्री जप रहे किसी व्यक्ति पर चाकू, तलवार या बंदूक से वार किया जाए तो क्या वह उस को बचा लेगी? कदापि नहीं. और तो और, किसी वृक्ष के नीचे गायत्री जपने वाले परमश्रद्धालु पर गिरने वाली किसी पक्षी की विष्ठा तक को वह नहीं रोक सकती, दूसरी बड़ी विपत्तियों से रक्षा करने की बात तो दूर रही.

दूसरे, भरद्वाज स्मृति में केवल 'गायत्री' शब्द के विषय में कहा गया है. गायत्री एक छंद का नाम है. इस छंद में अकेले ऋग्वेद में ही 2450 मंत्र रचे गए हैं. अतः उन सभी मंत्रों को बचाने वाला समझना चाहिए. उन सब का समान आदर होना चाहिए. लेकिन स्कंदपुराण, देवी भागवतपुराण, पद्‌मपुराण आदि में 'इस' गायत्री मंत्र के अतिरिक्त अन्य सभी मंत्रों को एक तरह से निरर्थक और कूड़ाकरकट बताया है. पुराणों और स्मृतियों में ये अलगअलग बातें क्यों हैं?

दरअसल भरद्वाज स्मृति में 'गायत्री' शब्द का जो अर्थ प्रतिपादित किया गया है,

वह किसी भी तरह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि अलगअलग ग्रंथों में घुमाफिरा कर अपना अभीष्ट अर्थ ही प्रस्तुत किया गया है. गायत्री का सही अर्थ केवल निरुक्त में मिलता है. 'गायत्री गायते: स्तुतिकर्मण:' (7/12). अर्थात स्तुति अर्थ वाली 'गै' धातु से गायत्री शब्द बनता है. अन्यत्र हर ग्रंथकार ने अपना उल्लू सीधा करने के लिए कुछ का कुछ अर्थ पेश किया है. उदाहरणार्थ प्रस्तुत है शतपथ ब्राह्मण (14/8) और बृहदारण्यकोपनिषद् (5/14/4) में प्रतिपादित अर्थ "सा हैषा गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत् प्राणांस्तत्रे तद् यद् गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम" अर्थात 'गय' शब्द का अर्थ है प्राण—अत: गयों की, प्राणों की रक्षिका होने से इसे गायत्री कहते हैं.

छांदोग्योपनिषद् (3/12/1) में इस से सर्वथा भिन्न अर्थ मिलता है, "गायत्री वा इदं सर्वंभूतं यदिदं किं च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वंभूतं गायति च त्रायते." अर्थात इस संसार में स्थावर जंगमोत्पन्न सब कुछ गायत्री है. वाणी ही गायत्री है. वाणी ही सब कुछ है, वाणी ही सब की रक्षा करती है.

इस तरह यह स्पष्ट है कि 'गायत्री' शब्द के अर्थ विभिन्न ग्रंथकारों ने विविध प्रकार से किए हैं. अत: वे निष्फल शब्दक्रीड़ा के सिवा कुछ भी नहीं. इन के पीछे लग कर गायत्री मंत्र का महत्त्व प्रतिपादित करना बुद्धिमत्ता नहीं है, क्योंकि वे गप्पें प्रस्तुत गायत्री मंत्र के लिए ही नहीं हांकी गईं हैं, बल्कि वे तो गायत्री छंद में रचित हर रचना के बारे में हैं क्योंकि गायत्री शब्द के तथाकथित अर्थ हर मंत्र पर चरितार्थ होने अनिवार्य हैं.

गायत्री मंत्र अशुद्ध

जिस गायत्री मंत्र की इतनी महिमा गाई या बताई जाती है, उस के संबंध में रोचक तथ्य यह है कि वह अशुद्ध छंद है. शुद्ध गायत्री छंद में तीन पाद और प्रत्येक पाद में आठ वर्ण होते हैं. आलोच्य मंत्र के प्रथम पाद में आठ की जगह सात वर्ण हैं. अत: यह लंगड़ा छंद है.

इसे शुद्ध साबित करने के लिए गायत्री मंत्र के प्रचारक बड़ी सफाइयां देते हैं और जोड़तोड़ से इसे शुद्ध सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, लेकिन स्वयं वेद में इस के छंद को निचृद् गायत्री (23 अक्षरों का अपूर्ण छंद) बताया गया है. (देखिए, यजुर्वेद- 3/35,22/9, 30/2, ऋग्वेद-3/62/10, सामवेद, मंत्र संख्या. 1462).

गायत्री मंत्र के स्तवन में जितना समय और श्रम लगाया जाता है, उस का सहस्रांश भी यदि मंत्र की गलतियों की ओर ध्यान देने में लगाया जाता तो इस पर बड़ा उपकार होता.

यह मंत्र न केवल छंदगत अशुद्धियों से युक्त है, अपितु संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से भी पूरी तरह अशुद्ध है. गायत्री मंत्र का प्रचलित रूप व्याकरण की दृष्टि से इसलिए अशुद्ध है. मंत्र के शुरू का 'तत्' शब्द नपुंसक लिंग में है और तीसरे पाद का समवर्ती 'यो' पुल्लिग में है. 'तत्' और 'यो' परस्पर संबद्ध हैं, लेकिन लिंगगत असंगति के कारण इन का परस्पर अन्वय नहीं हो सकता. वाक्यारंभ में नपुंसक लिंग है. अत: या तो उसी के अनुसार 'यो' के स्थान पर 'यद्' हो या प्रारंभ में नपुंसक 'तत्' को

'सवितुः' का विशेषण बनाया जाए; अन्यथा गायत्री मंत्र व्याकरणिक अशुद्धियों की गुत्थी मात्र बना रहेगा.

गायत्री मंत्र का शुद्ध रूप

व्याकरण के नियमानुसार आदि के 'तत्' को 'सवितुः' का विशेषण बना कर इसे 'तस्य' के रूप में परिवर्तित कर दिया जाना चाहिए. ऐसी स्थिति में 'यो' को 'भर्ग' के साथ अन्वित करना होगा. तब सही मंत्र ऐसे बनेगा– 'तस्य सवितुः वरेण्यम्, भर्गं देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्.'

मंत्रार्थदीपिका ग्रंथ के लेखक शत्रुघ्न ने ऐसा ही पाठ सही माना है (देखिए–द गायत्रीः इट्स ग्रैमेटिकल प्राब्लेम, पृष्ठ-13). यह पाठ व्याकरण और छंदशास्त्र की दृष्टि से पूर्णतः शुद्ध है. इस में 'वरेण्यं' को तोड़मरोड़ कर शुद्ध गायत्री छंद बनाने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि 'तत्' का 'तस्य' हो जाने से प्रथम पाद में सात के स्थान पर आठ वर्ण हो जाते हैं. इस तरह स्वतः ही शुद्ध गायत्री छंद के अनुरूप 24 वर्ण बन जाते हैं.

एक अन्य प्राचीन ग्रंथकार हलायुध ने अपनी कृति 'ब्राह्मण सर्वस्व' में याज्ञवल्क्य को उद्धृत करते हुए लिखा है कि गायत्री मंत्र के शुरू में स्थित शब्द 'तत्' के स्थान पर 'तम्' होना चाहिए, क्योंकि 'तत्' का मंत्र के किसी भी शब्द के साथ अन्वय नहीं होता. यदि 'तत्' का 'तम्' कर दिया जाए तो उस का अन्वय भर्ग के साथ हो जाएगा. हलायुद्ध के अनुसार यह पाठ ठीक है– तं सवितुर्वरेण्यम् भर्गं देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्. **(देखिए–द गायत्रीः इट्स ग्रैमेटिकल प्राब्लेम, पृ. 12).**

इस शुद्ध रूप में भी पूर्वोद्धृत शत्रुघ्नसम्मत पाठ के समान ही दो शब्दों को शुद्ध करना पड़ता है. 'तत्' के स्थान पर 'तम्' और 'भर्गो' के स्थान पर 'भर्गं.' लेकिन इस के बावजूद छंद निचृद् गायत्री (अपूर्ण) ही रह जाता है.

डाक्टर विश्वबंधु ने उपरिलिखित दोनों वैकल्पिक शुद्ध रूपों के अतिरिक्त एक अन्य रूप उपस्थित किया है. उन्होंने 'तत्' को यथावत् रहने दे कर 'यो' के स्थान पर 'यद्' रखा है. इस संशोधन से शुद्धमंत्र यह रूप धारण करता है 'तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि धियो यन्नः (यद् नः) प्रचोदयात्. **(देखिए– द गायत्रीः इट्स ग्रैमेटिकल प्राब्लेम पृष्ठ 14-15). डा. विश्वबंधु सम्मत पाठ स्वीकारने पर मूल मंत्र में एक ही शब्द शुद्ध करना पड़ता है, लेकिन छंद फिर भी निचृद् गायत्री ही रह जाता है.**

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रचलित गायत्री मंत्र न केवल छंदःशास्त्र की दृष्टि से लंगड़ा और दोगला है, अपितु व्याकरण की दृष्टि से भी अशुद्ध है. यदि वेद ईश्वर की रचना है, यदि गायत्री मंत्र को ईश्वर ने बनाया है तो वह निरक्षर भट्टाचार्य और वज्रमूर्ख साबित होता है. साधारण संस्कृत जानने वाला भी ऐसी गलतियां नहीं कर सकता जैसी ईश्वर कही जाने वाली काल्पनिक सत्ता ने की हैं.

इतना सब होने पर भी इस गायत्री मंत्र में किसी अतिमानवीय शक्ति के होने में विश्वास करना, इस से रोग, शोक, पाप दूर होने और मनोकामनाएं पूरी होने का विश्वास रखना, मूर्खों की दुनिया में रहना है.

गायत्री मंत्र की झूठी महिमा
आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर

मेरे लेख 'गायत्री मंत्र की झूठी महिमा' पर पाठकीय प्रतिक्रिया स्वरूप एक लेख प्राप्त हुआ है. पाठक महोदय ने उस में गायत्री की महिमा में आकाशपाताल के कुलाबे मिलाते हुए कई बातें लिखी हैं, जिन का प्रतिकार न केवल इसलिए आवश्यक है कि ऐसी भ्रांतियां जिन के मन में हों उन्हें यथार्थ का ज्ञान हो सके, बल्कि इसलिए भी कि उक्त लेख ने, पंजाब के एक जनप्रिय हिंदी दैनिक में तीन किस्तों में प्रकाशित हो चुकने के कारण, अनेक लोगों के दिमागों में स्वयं भी बौद्धिक जाला उपजाया होगा.

पाठक महोदय, जिन का नाम विश्वबंधु है, बिना किसी आधार के यह मान कर चले हैं कि मैं ने अपने लेख में 'द गायत्री मंत्रः इट्स ग्रैमेटिकल प्राब्लेम' के लेखक जिस डा. विश्वबंधु का मत उद्धृत किया है, वह वही डा. विश्वबंधु हैं, यद्यपि वह यह भी लिख रहे हैं कि उक्त पुस्तक उन की लिखी हुई नहीं है. यह बहुत बचकानी बात है. जब स्पष्ट है कि उक्त पुस्तक उन की रचना नहीं, तब यह दावा करने का क्या अर्थ है कि उन्हीं महाशय को लेख में उद्धृत किया गया है? क्या विश्वबंधु नाम का दुनिया में और कोई व्यक्ति नहीं हो सकता? क्या 'विश्वबंधु' पर उन्हीं का 'कापी राइट' है?

पाठक महोदय ने गायत्री मंत्र से अज्ञान के नष्ट होने के दावे किए हैं, लेकिन स्वयं उन्हें इतना ज्ञान भी नहीं कि 'द गायत्री मंत्रः इट्स ग्रैमेटिकल प्राब्लेम' के लेखक विश्वबंधु (अब तत्त्वलीन) न केवल पंजाब के वैदिक विद्वानों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं, बल्कि वह वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी ख्यातिप्राप्त हैं.

जिस पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत बोर्ड के सदस्य होने की सूचना पाठक महोदय ने लेख के साथ भेजे अपने लैटर हैड पर मोटे अक्षरों में मुद्रित करवाई हुई है, उसी पंजाब विश्वविद्यालय के 'रिसर्च बुलेटिन' (आर्ट्स) के नंबर 8 (1), 1954 में यह पुस्तिका छप चुकी है और पृथक्शः इस का पुस्तिकाकार में पुनर्मुद्रण डा. विश्वबंधु द्वारा स्थापित एवं वर्धित विश्वेश्वरानंद वैदिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, साधु आश्रम, होशियारपुर, जो पंजाब विश्वविद्यालय का अब दूसरा संस्कृत विभाग है, से हुआ है.

यह वही विश्वबंधु हैं जिन की 'वेदसार' नामक पुस्तक पंजाब विश्वविद्यालय के

एम.ए. संस्कृत पाठ्यक्रम में अभी हाल तक अनिवार्य पत्र (पेपर) में रही है. ऐसे व्यक्ति को पाठक महोदय का 'अनाम लेखक' और 'लालबुझक्कड़' कहना अशिष्टता की चरम सीमा है. यह एक तो चोरी (गलतबयानी) और ऊपर से सीना जोरी है.

यदि गायत्री मंत्र का तोतारटंत पाठक महोदय को इतनी छोटी सी बात का ज्ञान नहीं करा सकता तो इस की गप्पनुमा लंबीचौड़ी महिमा पर कौन बुद्धिमान विश्वास कर सकता है.

पाठक महोदय ने स्वीकार किया है कि गायत्री मंत्र की स्कंदपुराण, देवीभागवत व पद्मपुराण आदि में गाई गई महिमा 'बहुत कुछ अर्थवाद, कल्पनाप्रसूत, रूढ़िजात और मिथ्या अंश हैं' हां, उन्हें मुख्य आपत्ति छंददोष, व्याकरणदोष और अर्थ की महत्त्वहीनता प्रतिपादित करने पर है.

लंगड़ा छंद

उन्हें इस 23 अक्षरों के अधूरे गायत्री छंद को अधूरा व लंगड़ा कहने पर आपत्ति है.

इस पर हमारा निवेदन है कि इसे स्वयं वेद, पिंगल छंदःशास्त्र और वैदिक छंदों के विशेषज्ञों ने निचृद् अर्थात न्यून, लंगड़ा व अधूरा कहा है.

छंदःशास्त्र का प्राचीनतम ग्रंथ है: पिंगलच्छंदःसूत्र. उस में स्पष्ट शब्दों में लिखा है :

ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ

–पिंगलच्छंदःसूत्र 3/59

अर्थात यदि किसी छंद में उस की निश्चित संख्या से एक अक्षर ऊन (न्यून, कम) हो तो उस छंद के नाम के आगे 'निचृत्' शब्द लगेगा. यदि एक अक्षर अधिक हो तो 'भुरिक्' लगेगा.

ग्यारहवीं शताब्दी के पिंगलच्छंदःसूत्र के संस्कृत व्याख्याकार भट्ट हलायुध ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए 'निचृत् गायत्री' का स्पष्ट उल्लेख किया है और लिखा है :

> चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री एकेनाक्षरेण न्यूनेन सा 'निचृत्' इति विशेषसंज्ञां लभते. एकेनाधिकेन 'भुरिक्' इति एवमुष्णिगादिष्वपि द्रष्टव्यम्.
>
> –पिंगलच्छंदः सूत्रम्, वेणीराम शर्मा गौड़ का संस्करण, 1943 ई., बनारस, पृ. 54

अर्थात, 24 अक्षरों वाले गायत्री छंद में यदि एक अक्षर कम हो तो उसे 'निचृत् गायत्री' का नाम दिया जाता है. एक अक्षर ज्यादा हो तो उसे 'भुरिक् गायत्री' कहते हैं. ऐसे ही अन्य छंदों के विषय में जानना चाहिए.

वैदिक छंदों पर अधिकारी विद्वानों ने पर्याप्त गवेषणा की है. हमारे पाठक महोदय

आर्यसमाजी हैं, अतः हम यहां उक्त विद्वानों में से एक आर्यसमाजी विद्वान को ही उद्धृत करना चाहेंगे. श्री युधिष्ठिर मीमांसक एक ऐसे ही विद्वान हैं. उन्होंने 'वैदिक छंदोमीमांसा' नामक अपने तीन सौ पृष्ठों के ग्रंथ में वैदिक छंदों पर विचार किया है. उक्त पुस्तक में उन्होंने लिखा है: एकाक्षरन्यून निचृत्–जब किसी मंत्र में छंद के नियत अक्षरों से एक अक्षर न्यून होता है, तब उस एकाक्षर की न्यूनता को प्रदर्शित करने के लिए छंद के नाम के साथ 'निचृत्' विशेषण लगाया जाता है. यथा–

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्.

–ऋ. 3/62/10

इस ऋचा (वेदमंत्र) के प्रथम पाद में 8 अक्षरों के स्थान पर 7 अक्षर हैं, अतः इस में 23 अक्षर होने से यह 'निचृत् गायत्री' है" (वैदिक छंदोमीमांसा, पृ., 101-102)

'निचृत्' शब्द का अर्थ भी न्यून अथवा अपूर्ण, अधूरा आदि है. वेदों के समकालीन या कुछ समय बाद रचे गए 'दैवतब्राह्मण' नामक ग्रंथ में इस का अर्थ करते हुए लिखा है: निचृत् निपूर्वस्य चृतेः (दैवत ब्राह्मण 3/20) अर्थात निचृत् शब्द नि उपसर्ग के साथ चृत् धातु (नि+ चृत्) के संयोग से बना है. नि उपसर्ग न्यून व अभाव का बोधक है और चृत् धातु के अर्थ हैं–बांधना, प्रकाश करना और चमकना. तदनुसार निचत् का अर्थ होगा, ढ़ीला, प्रकाश रहित अर्थात् अंधा या अंधेरा, चमकरहित. मोनियर विलियमस के अनुसार निचृत् का अर्थ है–एक खराब/दोषपूर्ण छंद.

यह तो हुई शास्त्रीय बात. अब जरा सामान्य बुद्धि से इस पर विचार करें. दो तिपाइयां पड़ी हैं. एक की तीनों टांगें 8-8 इंच हैं, एक की एक टांग 7 इंच और शेष दो 8-8 इंच. अब इस दूसरी तिपाई को क्या कहेंगे? लंगड़ी या कुछ और? वह 'निचृत् तिपाई' है, ऐसे ही जिस तिपाए छंद के एक पाए में 7 अक्षर हों और शेष दो पायों में 8-8, उसे लंगड़ा छंद ही कहेंगे. इसी लंगड़ेपन को छंदःशास्त्रीय शब्दावली में 'निचृत्' कहते हैं.

श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने 'ओरियंटल रिसर्च कानफ्रेंस' के सन 1978 में पूना में हुए अधिवेशन में पढ़े अपने शोध निबंध में, जो कि संस्कृत में है, यह बात साफ तौर पर कही है कि 23 अक्षरों का 'निचृद् गायत्री' छंद 24 अक्षरों के शुद्ध गायत्री छंद की अपेक्षा नीचा और घटिया है:

इयमृग् वैदिकेषु गायत्रीति वा सावित्रीति वा गुरुमंत्र इति वा रूपेण प्रसिद्धा वर्तते. तस्या अयं पाठः 'तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्'. अस्या ऋचः प्रथमे पादे सप्ताक्षराणि, द्वितीयतृतीय पदयोश्चाष्टावष्टौ. एवमियमेकाक्षरहीना त्रयोविंशत्यक्षरा गायत्रीछंदस्का ऋक्...एकाक्षरहीनाया गायत्र्याः स्थानं चतुर्विंशत्यक्षरगायत्र्या अधस्तात् वर्तते

–वैदिक छंदोमीमांसा, द्वितीय परिशिष्ट, पृ. 286

अर्थात यह वेदमंत्र गायत्री, सावित्री अथवा गुरुमंत्र के रूप में प्रसिद्ध है. मंत्र इस प्रकार है:

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्.

इस मंत्र के प्रथम पाद में 7 अक्षर हैं और दूसरे व तीसरे में 8-8. इस प्रकार इस गायत्री छंद में एक अक्षर कम होने से यह 23 अक्षरों वाला गायत्री छंद है. जिस गायत्री में एक अक्षर कम हो, वह 24 अक्षरी शुद्ध गायत्री से नीचे की चीज है.

वेद में जहांजहां यह छंद मिलता है, वहां सर्वत्र इस का छंदनिर्देश करते हुए 'निचृत् गायत्री' लिखा मिलता है—यजुर्वेद 3/35, 22/9, 30/2 और ऋग्वेद 3/62/10 में सर्वत्र इसे 'निचृत् गायत्री' लिखा है (देखें, मूल यजुर्वेद संहिता, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, पंचम संस्करण 1927 ई.)

अतः स्पष्ट है कि 'गायत्री मंत्र' में गायत्री छंद अपूर्ण व दोषपूर्ण है. यह शुद्ध गायत्री न हो कर 'निचृत् गायत्री' है.

व्याकरणिक अशुद्धियां

हम ने अपने लेख में कहा था कि 'तत्' शब्द की बराबरी का 'यत्' शब्द मंत्र में होना चाहिए, जैसे हिंदी में हम 'जो' के साथ 'वह' लगाते हैं: जो परिश्रम करता है, वह सफल होता है. इसे न मानते हुए पाठक महोदय ने कहा है: यहां 'तत्' के समकक्ष 'यत्' की आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'तत्' का अन्वय 'वरेण्यं भर्गः' से करने पर बात बिलकुल ठीक हो जाती है और 'भर्गः' शब्द पुंलिंग भी है और नपुंसक लिंग भी. अपनी बात को सही बताने के उद्देश्य से वे स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा संस्कृत में किया हुआ गायत्री मंत्र का अर्थ उद्धृत करते हैं.

इस पर हमारा निवेदन है कि यहां 'तत्' का समकक्ष 'यत्' शब्द अत्यावश्यक है. 'तत्' नपुंसक लिंग में है और भर्गः भी. इतना तो ठीक है, लेकिन 'तत्' के समकक्ष 'यो' के स्थान पर 'यत्' (नपुं.) भी तो चाहिए. 'यत्' के स्थान पर 'यो' (पुं.) कैसे चल सकता है? यह कहना ठीक है कि भर्गः नपुंसक लिंग और पुंलिंग दोनों है. परंतु वह चाहे किसी लिंग में हो, इस से अंतर नहीं पड़ता. अंतर पड़ता है 'तत्' के लिंग से. वह यदि नपुंसक होगा तो समकक्ष शब्द भी उसी लिंग में होगा और अगर वह पुंलिंग हो तो समकक्ष शब्द भी पुंलिंग में होगा.

यही कारण है कि पाठक महोदय द्वारा उद्धृत स्वामी दयानंद कृत अर्थ में भी 'तत्' और 'यत्' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो 'स्वार्थी दोषं न पश्यति' **(स्वार्थी को अपनी कमियां दिखाई नहीं देतीं) के अनुसार पाठक महोदय को दिखाई नहीं दिए. स्वामी दयानंद ने लिखा है :**

सवितुर्देवस्य तव यत् ओम्भूर्भुवः स्ववरेण्यं भर्गोऽस्ति
तत् वयं धीमहि दधीमहि, धरेमहि ध्यायेम वा

—सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ. 69

अर्थात सविता देवता का जो ओम् भूः भुवः स्वः रूपी वरेण्य भर्ग है, उसे हम धारण करें या ध्याएं.

इतना ही नहीं, स्वामी दयानंद को 'यो' भी खटका था. यही कारण है कि उन्होंने इस मंत्र के अवशिष्ट अंश का अर्थ करते हुए लिखा है :

> (यो) यः सविता देवः परमेश्वरो भवान्. अस्माकं धियः
> प्रचोदयात्, स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु
>
> –वही, पृ. 69

अर्थात जो सविता देव आप परमेश्वर हैं, हमारी बुद्धियों को प्रेरित करें, वह आप ही हमारे पूज्य, उपासनीय इष्टदेव बनें.

स्वामी जी ने यः (यो) को सविता देवता से जोड़कर, उसे भर्गः (भर्गो) से पृथक् कर दिया, क्योंकि अन्यथा वाक्य अशुद्ध बनता था. 'जो' न नपुंसक तत् से जुड़ता था और न नपुसंक भर्गः से. स्वामीजी का यो (यः) को स्थानान्तरित करना हमारे पक्ष का ही प्रकारान्तर से समर्थन है.

ऐसे में पाठक महोदय का कथन बिलकुल गलत है. वह जिसे अधिकारी विद्वान के तौर पर अपने पक्ष के समर्थन के लिए उद्धृत करते हैं, वही उन के पक्ष को झुठला रहा है, अतः स्पष्ट है कि मंत्र व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है.

हम ने तीन संभावित संशोधन अपने मूल लेख में उद्धृत किए थे, जो विभिन्न विद्वानों ने सुझाए थे. यदि स्वामी दयानंद के अर्थ को ध्यान में रख कर पाठ को संशोधित करने की कोशिश करें तो मंत्र ऐसे बनेगाः यत् तत्सवितुर्वरेण्यं 8, भर्गो देवस्य धीमहि 8, धियो यो नः स प्रचोदयात् 9.

लेकिन यह कीचड़ को कीचड़ से धोने के समान होगा, क्योंकि इस से न केवल तीसरे पाद में 8 के स्थान पर 9 अक्षर हो जाएंगे, बल्कि यो के साथ सः की की गई भरती निरर्थक होगी, क्योंकि इन का न आपस में अन्वय होगा, न अर्थ जुड़ेगा और न छंद ही शुद्ध गायत्री बनेगा. तब केवल इतना होगा कि यह 'निचृत् गायत्री' के स्थान पर 'भुरिक् गायत्री' बन जाएगा. लंगड़े की जगह छांगुर (अधिकांगी)!

दुराग्रहपूर्ण आवेश

पाठक महोदय ने गायत्री मंत्र को शुद्ध सिद्ध करने के लिए एक और पैंतरा बदला है. उन का कहना है कि 'तत्सवितुः' शब्दों को यदि मिला कर 'तत्सवितुः' लिखें तो 'तत्' का अर्थ वही होगा जो 'तस्य' का होता है, अतः मंत्र में 'तत्' को 'तस्य' करने का सुझाया गया संशोधन निरर्थक है.

यह बात सिर्फ बात काटने के लिए कही गई है, न कि सत्य अन्वेषण के लिए, अन्यथा जब पाठक महोदय का दृढ़ मत है कि 'तत्' शब्द यहां दूरी के अर्थ में है, न कि 'जो या वह' के अर्थ में; तब इस का अर्थ 'तस्य' किस तरह हो जाएगा? क्या दूरी अर्थ वाले 'तत्' का 'सवितुः' के साथ समास हो सकता है? यदि पाठक महोदय कोई

छोटामोटा व्याकरण देख लेते तो इस तरह दुराग्रहपूर्ण ढंग से अशुद्धियों को शुद्ध करने के आवेश में खुद महाअशुद्धियां करने से बच जाते.

शुद्ध मंत्र

स्पष्ट है कि गायत्री मंत्र व्याकरण की दृष्टि से भी अशुद्ध है और छंद की दृष्टि से भी. दोनों दृष्टियों से इसे शुद्ध करने के लिए 'मंत्रार्थ दीपिका' ग्रंथ के लेखक शत्रुघ्न द्वारा सुझाया संशोधन स्वीकारना होगा और तदनुसार पाठ ऐसे बनेगा : तस्य सवितुर्वरेण्यं ८, भर्गं देवस्य धीमहि ८, धियो यो नः प्रचोदयात् ८.

यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि गायत्री मंत्र का एक अन्य रूप भी वेदों में मिलता है वह है :

भूर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्.

–यजुर्वेद 36/3

गायत्री मंत्र का यह रूप भी कम प्रचलित नहीं है. मंत्र जपने वाले तो इस का ज्यादा महत्त्व बतलाते हैं, लेकिन रूप यह भी शुद्ध नहीं है. यह तथाकथित वर्णसंकर (दोगला) छंद है. वेद में इस का छंद निर्देश करते हुए लिखा है कि 'भूर्भुवः स्वः' अंश में 'देवी बृहती' छंद है और शेष में 'निचृत् गायत्री.' (देखें, मूल यजुर्वेद, पृ.151, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 1927 ई.)

स्पष्ट है कि गायत्री मंत्र के दोनों ही रूप दूषित हैं– छंद की दृष्टि से भी और व्याकरण की दृष्टि से भी.

अर्थ की महिमा

गायत्री मंत्र का सीधा सा अर्थ देते हुए हम ने लिखा था कि इस में कहा गया है: 'हम सविता देवता के वरेण्य तेज का ध्यान करते हैं, वह हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे.'

इस पर पाठक महोदय को दो आपत्तियां हैं. पहली है– 'ध्यान करते हैं' पर, यह 'धीमहि' शब्द का अर्थ है. आपत्ति यह है कि एक तो 'ध्यान' के स्थान पर 'धारण' अर्थ होना चाहिए, दूसरे, 'करते हैं' के स्थान पर 'करें' होना चाहिए.

इस पर हमारा निवेदन है कि 'धीमहि' शब्द का अर्थ जिस प्रकार हम ने किया है वह बिलकुल ठीक है. यजुर्वेद के केवल दो प्राचीन भाष्य मिलते हैं. दोनों में इस शब्द का अर्थ उसी प्रकार है जैसे हम ने किया है.

1. ग्यारहवीं शताब्दी में हुए उव्वट ने अपने 'मंत्रभाष्य' नामक संस्कृत भाष्य में लिखा है:

धीमहि, ध्यै चिन्तायाम्, अस्य छान्दसं संप्रसारणम्.
ध्यायामः चिन्तयामः

–यजुर्वेद 3/35 पर उव्वट-भाष्य

अर्थात धीमहि, ध्यै-चिन्तन करना, वैदिक भाषा में 'ध्यै' का धीमहि बनता है. अर्थ है– ध्यान करते हैं, चिंतन करते हैं.

2. 17 वीं शताब्दी में हुए महीधर ने यजुर्वेद के अपने 'वेददीपभाष्य' नामक संस्कृत भाष्य में लिखा है:

धीमहि ध्यायाम: छांदसं संप्रसारणम्.

–यजुर्वेद 3/35 पर महीधर भाष्य

अर्थात धीमहि ध्यान करते हैं. वैदिक भाषा होने के कारण यह रूप बनता है.

स्पष्ट है कि 'धीमहि' का हम ने जो अर्थ किया है, वह प्राचीन विद्वानों द्वारा किए अर्थों के सर्वथा अनुकूल है.

पाठक महोदय की दूसरी आपत्ति है हमारे इस कथन पर कि इस मंत्र में न तो कुछ ऐसा है जिसे आदमी अपने आचरण में उतार सके और न ही कुछ ऐसा है जिस का अर्थ समझ कर दोहराने से किसी कल्याण की संभावना हो. इस पर पाठक महोदय का कहना है कि "श्री शर्माजी ने इस मंत्र के अत्यंत साधारण अर्थ को ही जानने का प्रयास किया होता तो उन्हें पता चल जाता कि इस मंत्र में करने को इतना कुछ है कि कोई साधक अनंत जन्मों में भी इस महान कार्य से मुक्ति नहीं पा सकता और न ही इस से श्रेष्ठ किसी कर्म की कोई कल्पना मानवीय जीवन के इतिहास में संभव है. वह है–परमपिता, सर्वोत्पादक एवं ऐश्वर्यपूर्ण दानी ईश्वर के वरण करने योग्य, उत्तम गुणों को अपने जीवन में धारण करना."

इस पर हमें दो बातें कहनी हैं. पहली यह कि जिस के गुणों को धारण करने की बात कही गई है, वह तथाकथित परमपिता परमात्मा खुद विवाद का विषय है. उस का अस्तित्व सर्वमान्य तथ्य नहीं है. बौद्ध, बुद्धिवादी लोग, कम्यूनिस्ट, भौतिकवादी, विज्ञानी आदि सब उस के अस्तित्व से इनकार करते हैं. कुछ विचारकों, जैसे कि महान क्रांतिकारी लाला हरदयाल, ने तो यहां तक कहा है कि यदि परमात्मा का अस्तित्व हो भी, तो भी इनसानियत का भला इसी में है कि वह उस के अस्तित्व को नकार दे और उस की उपेक्षा करे. (देखें, हिंट्स फार सेल्फ कल्चर, पृ. 109)

पल भर के लिए हम मान लेते हैं कि परमात्मा नाम की काल्पनिक चीज वास्तव में है. अब देखना होगा कि उस तथाकथित परमपिता परमात्मा में कैसे गुण हैं. इस के लिए हम उस की तथाकथित वाणी, वेदों से सहायता ले सकते हैं. क्योंकि वेदों का वक्ता परमात्मा कहा जाता है, अत: उस के गुणों का उस के अपने 'कथनों' से ज्यादा प्रामाणिक विवरण शायद कहीं मिल ही नहीं सकता. नीचे उस के कुछ 'कथन' उद्धृत हैं, जिन के अर्थ हमारे न हो कर अधिकारी विद्वानों द्वारा किए हुए हैं. (यहां ऋग्वेद के अर्थ सर्वत्र 'हिंदी ऋग्वेद' अनु. पं. रामगोविंद त्रिवेदी, इंडियन प्रेस (प्रा.) लि., प्रयाग से उद्धृत किए गए हैं.):

दुरवस्थापन्न और अभक्ष्यभक्षी

अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम्,
अपश्यं जायाममहीयमानामधा मे श्येनो मध्वा जभार.

–ऋ. 4/18/13

अर्थात हम ने जीवनोपाय के अभाव में कुत्ते की अंतड़ी को पका कर खाया था. हम ने देवों में मध्य में इंद्र के अतिरिक्त अन्य देव को सुखदायक नहीं पाया. हम ने अपनी भार्या को असम्मानित होते देखा. इस के अनंतर इंद्र हमारे लिए मधुर जल लाए.

नारी-द्वेषी

इन्द्रश्चिद्घा तदब्रतीत् स्त्रिया अशांस्यं मनः, उतो अह क्रतुं रघुम्

–ऋ. 8/33/17

अर्थात इंद्र ने कहा कि स्त्री के मन का शासन करना असंभव है. स्त्री की बुद्धि छोटी होती है.

न वै स्त्रैणानि सख्यानि संति सालावृकाणां हृदयान्येता

–ऋ. 10/95/15

अर्थात स्त्रियों का प्रेम वा मैत्री स्थायी नहीं होती, स्त्रियों और वृकों का हृदय एक समान होता है.

बैल, बकरे और घोड़े के मांस का प्रेमी

एष छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः,
अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति.

–ऋ. 1/162/3

अर्थात सब देवों के लिए उपयुक्त छाग (बकरा) पूषा (देवता) के ही अंश (हिस्से) में पड़ता है. उसे शीघ्रगामी अश्व के साथ सामने लाया जाता है, अतएव त्वष्टा देवता के सुंदर भोजन के लिए अश्व के साथ इस छाग से सुखाद्य (सुखपूर्वक खाने योग्य) पुरोडाश तैयार किया जाए.

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति,
यद् हस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु

–ऋ. 1/162/9

अर्थात अश्व का जो कच्चा ही मांस मक्खी खाती है, काटने या साफ करने के समय हथियार में जो लग जाता है और छेदक के हाथों तथा नखों में जो लग जाता है वह सब देवों के पास जाए.

यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति,
सृकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधं शृतपाकं पचन्तु.

–ऋ. 1/162/10

अर्थात उदर का जो अजीर्ण अंश बाहर हो जाता है और अपक्व मांस का जो लेशमात्र रहता है, उसे छेदक (काटने वाला व्यक्ति) निर्दोष करे और पवित्र मांस देवों के लिए उपयोगी कर के पकावे.

उक्ष्णो हि मे पंचदश साकं पचंति विंशतिम्,
उताहमद्मि पीव इदुभा कक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः.

–ऋ. 10/86/14

अर्थात मेरे लिए इंद्राणी के द्वारा प्रेरित याज्ञिक लोग पंदरह बीस सांड या बैल पकाते हैं. उन्हें खा कर मैं मोटा होता हूं. मेरी दोनों कुक्षियों को याज्ञिक लोग सोम से भरते हैं. इंद्र सर्वश्रेष्ठ हैं.

यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभि शूलं निहतस्यावधावति,
मा तद् भूम्यामा श्रिषन् मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु

–ऋ. 1/162/11

अर्थात अश्व, आग में पकाते समय तुम्हारे शरीर से जो रस निकलता और जो अंश (हिस्सा) शूल में आबद्ध रहता है, वह मिट्टी में गिर कर तिनकों में मिल न जाए. देवता लोग लालायित हुए हैं, उन्हें सारा हवि प्रदान किया जाए.

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं ये ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति,
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु

–ऋ. 1/162/12

अर्थात जो लोग चारों ओर से अश्व का पकना देखते हैं, जो कहते हैं कि गंध मनोहर है, देवों को दो तथा जो मांस भिक्षा की अपेक्षा (इच्छा) करते हैं, उन का संकल्प हमारा ही हो.

कामुक और अश्लीलता प्रेमी

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जंगहे,
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता.

–ऋ. 1/126/6

अर्थात यह संभोग योग्य रमणी (रोमशा) अच्छी तरह आलिंगित हो कर, सूतवत्सा (जिस ने बच्चे को जन्म दिया है) नकुली की तरह, चिरकाल तक रमण करती है. यह बहु-रेतोयुक्ता रमणी मुझे बहुवार भोग प्रदान करती है.

उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः,
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका.

—ऋ. 1/126/7

अर्थात मेरे पास आ कर मुझे अच्छी तरह स्पर्श करो. यह न जानना कि मैं कम रोमवाली अतः भोग के योग्य नहीं हूं. मैं गांधारी मेषी (भेड़) की तरह लोमपूर्णा (रोमों से भरी हुई) और पूर्ण अवयवा (जिस के अंग पूर्ण यौवन प्राप्त हैं) हूं.

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या कपृत्,
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः

—ऋ. 10/86/16

अर्थात इंद्र, वह मनुष्य मैथुन करने में समर्थ नहीं हो सकता, जिस का पुरुषांग (लिंग) दोनों जघनों (जंघाओं) के बीच लंबायमान है. वही समर्थ हो सकता है, जिस के बैठने पर लोमयुक्त पुरुषांग बल प्रकाश करता व फैलता है. इंद्र सर्वश्रेष्ठ है.

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते,
सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या कपृद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः

—ऋ. 10/86/17

अर्थात वह मनुष्य मैथुन करने में समर्थ नहीं हो सकता, जिस के बैठने पर लोमयुक्त पुरुषांग बल प्रकाश करता है. वही समर्थ हो सकता है, जिस का पुरुषांग दोनों जघनों के बीच लंबायमान है.)

अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्तादनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः,
शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि

—ऋ. 8/1/34

अर्थात आसंग के आगे (उस के गुह्यदेश-गुप्तस्थान में) 'स्थूल' देखा जाता है. वह अस्थि (हड्डी) से रहित, विशाल और नीचे की ओर लंबायमान है. आंसग की शश्वती नाम की स्त्री ने उसे देख कर कहा, ''आर्य, खूब उत्तम भोगसाधक वस्तु को तुम धारण करते हो.")

व्यभिचारी व पुत्रीभोगी

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्,
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्.

—ऋ. 1/164/33

अर्थात स्वर्ग मेरा पालक और जनक है, पृथिवी की नाभि मेरा मित्र है और यह विस्तृत पृथिवी मेरी माता है. उच्च पात्र-द्वय के बीच योनि है. वहां पिता दूरस्थिता (पृथिवी) का गर्भ उत्पादन करता है.

प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णदनुष्ठितं नु नर्यो अपौहत्,
पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा.

–ऋ. 10/61/5

अर्थात जो प्रजापति का वीर्य पुत्रोत्पादन में समर्थ है, वह बढ़ कर निकला. प्रजापति ने मनुष्यों के हित के लिए रेत (वीर्य) का त्याग किया अर्थात वीर्य छोड़ा. अपनी सुंदरी कन्या (उषा) के शरीर में ब्रह्मा वा प्रजापति ने उस शुक्र (वीर्य) का सेक किया अर्थात वीर्य सींचा.

मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम्,
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ

–ऋ. 10/61/6

अर्थात जिस समय पिता युवती कन्या (उषा) के ऊपर पूर्वोक्त रूप से (पहले मंत्र में कहे अनुसार) रतिकामी (कामुक) हुए और दोनों का संगमन (सहवास) हुआ, उस समय दोनों के परस्पर संगमन से (संभोग करने से) अल्प शुक्र (वीर्य) का सेक (सिंचन) हुआ. सुकर्म के आधारस्वरूप एक उन्नत स्थान में उस शुक्र का सेक हुआ.

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिंचत्,
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्.

–ऋ. 10/61/7

अर्थात जिस समय पिता ने अपनी कन्या (उषा) के साथ संभोग किया, उस समय पृथिवी के साथ मिल कर शुक्र का सेक किया अर्थात वीर्य सींचा, सुकृती देवों ने व्रतरक्षक ब्रह्म (वास्तोष्पति वा रुद्र) का निर्माण किया.

व्यभिचार की शिक्षा

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु,
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि.

–ऋ. 10/85/45

अर्थात ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे इंद्र, पते, ऐश्वर्ययुक्त तू इस स्त्री को वीर्यदान दे कर सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर. हे वीर्यप्रद, पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित या नियोजित स्त्री में दश संतान पर्यंत (तक) उत्पन्न कर, अधिक नहीं तथा हे स्त्री, तू नियोग में ग्यारह पति तक कर अर्थात एक तो उन में प्रथम विवाहित और दश पर्यंत नियोग के पति कर, अधिक नहीं. इस की यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने व रोगी होने से दूसरे पुरुष या स्त्री के साथ संतानों के अभाव में नियोग करे तथा दूसरे के भी मरण व रोगी होने के अनंतर तीसरे के साथ कर ले. इसी प्रकार दसवें तक करने की आज्ञा है. परंतु एक काल में एक ही

वीर्यदाता पति रहे, दूसरा नहीं. इसी प्रकार पुरुष के लिए भी विवाहित स्त्री के मर जाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है और जब वह भी रोगी हो व मर जाए तो संतानोत्पत्ति के लिए दशम स्त्रीपर्यंत नियोग कर लेवे–(स्वामी दयानंद कृत ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृ. 252-53).

अज्ञानी व संदेहवादी

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि:,
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव.

–ऋ. 10/129/6

अर्थात प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उस का वर्णन करे? यह सृष्टि किस उपादान कारण (सामग्री) से हुई? किस निमित्तकारण (सहायक कारण) से ये विविध सृष्टियां हुईं? देवता लोग इन सृष्टियों के अनंतर (पश्चात) उत्पन्न हुए हैं. कहां से सृष्टि हुई. यह कौन जानता है?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न,
यो अस्याध्यक्ष: परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद.

–ऋ. 10/129/7

अर्थात ये नाना सृष्टियां कहां से हुईं, किस ने सृष्टियां कीं और किस ने नहीं कीं–यह सब वे ही जाने जो इन के स्वामी परमधाम में रहते हैं. हो सकता है कि वे भी यह सब नहीं जानते हों.

भेदभाव का उद्घोषक

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत:,
ऊरू तदस्य यद् वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो अजायत

–ऋ. 10/90/12

अर्थात इन का मुख ब्राह्मण हुआ, दोनों बाहुओं से क्षत्रिय बनाया गया, दोनों उरुओं (जंघाओं) से वैश्य हुआ और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ.

अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणं वायवे चाण्डालमन्तरिक्षाय
वंशनर्तिनं दिवे खलतिं सूर्याय हर्यक्षं नक्षत्रेभ्य: किर्मिरं चन्द्रमसे
किला समह्ने शुक्लं पिंगाक्षं रात्र्यै कृष्णं पिंगाक्षम्

–यजुर्वेद 30/21

अर्थात 'हे परमात्मन् वा राजन्, आप अग्नि के लिए मोटे पदार्थ को, पृथिवी के लिए बिना पगों के कढ़िरि के चलने वाले सांप आदि को आकाश और पृथिवी के बीच में, खेलने को बांस से नाचने वाले नट आदि को, सूर्य के ताप-प्रकाश मिलने के लिए बंदर की सी छोटी आंखों वाले शीतप्राय देशी मनुष्यों को चंद्रमा के तुल्य

आनंद देने के लिए थोड़े श्वेतवर्ण वाले को और दिन के लिए शुद्ध पीली आंखों वाले को उत्पन्न कीजिए. वायु के स्पर्श के अर्थ भंगी को, क्रीड़ा के अर्थ प्रवृत्त हुए गंजे को, राज्य विरोध के लिए प्रवृत्त हुओं के लिए कबरों को और अंधकार के लिए प्रवृत्त हुए काले रंग वाले पीले नेत्रों से युक्त पुरुष को दूर कीजिए.–*(यजुर्वेद 30/21 पर स्वामी दयानंद कृत भाष्य, पृ. 1006).*

नशई और बकवासी

(क) हन्ताहं पृथिवीमिमं नि दधानीह वेह वा, कुवित्सोमस्यापामिति

–*ऋ. 10/119/9*

अर्थात मेरी इतनी शक्ति है कि यदि कहो तो इस धरित्री को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जा कर रख सकता हूं. मैं ने अनेक बार सोमपान किया है.

ओषमित् पृथिवीमहं जंघनानीह वेह वा, कुवित् सोमस्यापामिति.

–ऋ. 10/119/10

अर्थात इस पृथिवी को मैं जला सकता हूं. जिस स्थान को कहो, मैं उसे विध्वस्त कर दूं. मैं ने अनेक बार सोमपान किया है.

पशुओं से भोग और नरों से चिकने पदार्थ

(ख) 'हे मनुष्यों, जैसे आज भलीभांति समीप स्थिर होने वाले और दिव्यगुण वाला पुरुष वट वृक्ष आदि के समान जिसजिस प्राण और अपान (गुदा से निकलने वाली हवा) के लिए दु:खविनाश करने वाले छेरी आदि पशु से, वाणी के लिए मेढा से, परम ऐश्वर्य के लिए बैल से भोग करें (उपयोग लें) उन सुंदर चिकने पशुओं के प्रति पचाने योग्य वस्तुओं का ग्रहण करें–' यजुर्वेद 21/60 पर स्वामी दयानंद भाष्य पृ. 788.

गुदा से सांप ले जाओ

(ग) 'हे मनुष्यो, तुम मांगने से पुष्टि करने वाले को स्थूल गुदा इंद्रिय के साथ वर्तमान अंधे सांपों को गुदा इंद्रियों के साथ वर्तमान विशेष कुटिल सर्पों को आंतों से, जलों को नाभि से नीचे के भाग से, अंडकोष को आंड़ों से, घोड़ों को लिंग और वीर्य से, संतान को पित्त से, भोजनों को पेट के अंगों को गुदा इंद्रिय से और शक्तियों से शिखावटों को निरंतर लेओ.'–यजुर्वेद 25/7 पर दयानंद भाष्य पृ. 876.

बकरा आदि का दूध!

(घ) 'हेरे देने हारे, जैसे लेने वाला पढ़ाने और उपदेश करने वालों की संगत करे और वे आज बकरा आदि पशुओं के बीच से लेने योग्य पदार्थ का चिकना भाग

अर्थात घी, दूध आदि उधार किया हुआ लेवें–' यजुर्वेद 21/43 पर स्वामी दयानंद-भाष्य, पृ. 775.

(ड़) 'अन्याय से परधन लेने हारे प्राणियों को जो दंड आदि से शुष्क करता हो उस को वज्र मारें– 'यजुर्वेद 16/20 पर दयानंद भाष्य, पृ. 531.

स्तेनानां पतये नमो. (यजुर्वेद 16/20)

महीधरभाष्य–स्तेना गुप्तचोरास्तेषां पालकाय नम:

अर्थात स्तेनों गुप्तचोरों, के पालक को नमस्कार.

परमात्मा (?) के पूर्वोद्धृत वचनों के आधार पर उस के जो गुण सामने आते हैं, उन के लिए गुण की अपेक्षा अवगुण शब्द ज्यादा उपयुक्त है. इन्हें धारण कर के व्यक्ति या समाज का क्या भला हो सकता है? इन्हें धारण करना तो समाज को दैवी-बारूद से उड़ाने के समान होगा.

कोई कह सकता है कि इन वेदमंत्रों के वे अर्थ नहीं हैं ज़ो ऊपर हम ने लिखे हैं. परमात्मा तो सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि से युक्त है.

इस पर हमारा कहना है कि ऊपर ऋग्वेद के जो अर्थ लिखे गए हैं, वे वेदों के 15 वीं शताब्दी के संस्कृत भाष्यकार सायणाचार्य के अनुसार हैं. वह ईश्वर विश्वासी और हिंदू धर्मी विद्वान था, उस के अतिरिक्त किसी अन्य प्राचीन विद्वान द्वारा किए हुए चारों वेदों के अर्थ नहीं मिलते हैं. यजुर्वेद के अर्थ स्वामी दयानंद सरस्वती कृत हैं, जिन्हें सही ढंग से अर्थ करने वाले 'महर्षि' कहा जाता है. यदि ये विद्वान भी 'ईश्वरीय वाणी' के ऐसे ही अर्थ करते हैं, जिन से परमात्मा में गुणों की अपेक्षा अवगुणों का अस्तित्व प्रमाणित होता है तो इस में दोष उस तथाकथित ईश्वरीय वाणी और ईश्वर का ही होना चाहिए.

कोई कह सकता है कि हमें तो परमात्मा के 'वरेण्य' अर्थात वरण करने योग्य गुणों को धारण करना है. हमें उस के अन्य गुणों व अवगुणों से कोई मतलब नहीं.

इस पर हमारा निवेदन है कि यदि उस में अवगुण भी हैं तो फिर उस में परमात्मत्व क्या है? गुणअवगुण तो हर व्यक्ति में होते हैं. फिर परमात्मा की जरूरत ही क्या है? फिर उस के 'वरेण्य' गुणों को धारण करने के स्थान पर व्यक्ति अपने 'वरेण्य' गुणों का ही स्वतंत्रतापूर्वक क्यों न परिवर्धन करे?

'परमात्मा' के ही 'वरेण्य' गुणों को धारण करने का हठ करना वैसे भी उचित नहीं. 'वरेण्य' का अभिप्राय व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार अलगअलग होगा. जात्यभिमानी उस के ऐसे गुणों को वरेण्य मानेगा, जो जाति के आधार पर भेदभाव के पोषक हैं, मांसाहारी उस के बैल और घोड़े खाने के गुण को वरेण्य समझेगा, अश्लील साहित्य के सौदागर उस के अश्लील कथनों को वरेण्य समझेंगे और नशई व्यक्ति उस की सोमरस पीने की लत को. ऐसे में 'वरेण्य' का अर्थ क्या रह जाता है?

यदि किन्हीं वेदमंत्रों से परमात्मा में सत्य, अहिंसा, त्याग, विज्ञान, प्रेम आदि गुणों का होना सिद्ध हो भी जाए तो भी पूर्वोक्त अवगुणों के भी उस में सिद्ध होने से बात बनती नहीं है. जितनी संभावना उस के तथाकथित सद्गुणों के धारण करने से

कल्याण होने की है, उस से कहीं ज्यादा इस बात की आशंका है कि उस के अवगुणों को धारण करने से व्यक्ति और समाज का लगभग सर्वनाश हो जाएगा.

इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि अहिंसा, सत्य, प्रेम आदि सद्गुणों से व्यक्ति और समाज का कल्याण होता है, लेकिन इन से होने वाला कल्याण इन गुणों के तथाकथित परमात्मा से संबद्ध होने के कारण नहीं होता. कल्याण तो सामाजिक सद्व्यवस्था और वैयक्तिक सदाचार से होता है. यदि इन गुणों का परमात्मा से संबंध किसी तरह से सिद्ध हो भी जाए तो भी यह निर्विवाद है कि यह जपते रहने से कुछ नहीं होता कि हम परमात्मा के 'वरेण्य' गुणों को धारण करें. क्या हमारी भूख हमारे यह जपते रहने से शांत हो जाएगी कि हम भूख को शांत करने के लिए रोटी खाएं?

प्रायः यह कहा जाता है कि यदि गायत्री मंत्र के अर्थ 'समझकर' उसे जपें तो कल्याण अवश्य होता है.

हमारा ऐसे लोगों से पूछना है कि यदि कोई व्यक्ति 'हम भूख को शांत करने के लिए रोटी खाएं'–इस वाक्य के अर्थ समझ कर भी इसे जपे तो क्या उस की भूख शांत हो जाएगी? यदि 'हम परमात्मा के वरेण्य गुणों को धारण करें'–इस वाक्य का अर्थ 'समझ कर' भी इसे जपें तो क्या हम में सद्गुण आ जाएंगे?

कुछ लोग और आगे बढ़ते हैं और कहते हैं कि हमें परमात्मा के 'वरेण्य' गुणों को अपने जीवन में अपनाने की कोशिश करनी चाहिए. उन्हें अपने व्यवहार में परिणत करना चाहिए.

इस पर हमारा कहना है कि जब भूखे व्यक्ति को यह पता है कि खाद्य पदार्थ खाने से ही भूख मिटेगी और वह खाद्य पदार्थ खा भी रहा है, तब यह जपते रहने में क्या तुक है कि 'हम भूख को शांत करने के लिए रोटी खाएं'? हम पल भर के लिए मान लेते हैं कि परमात्मा है, उस में वरेण्य गुण हैं और हम उन्हें अपने आचरण में परिणत करें. लेकिन जब उन तथाकथित वरेण्य गुणों को आचरण में परिणत ही करना है और कर भी रहे हैं तो फिर यह जपते रहने में क्या तुक है कि 'हम परमात्मा के वरेण्य गुणों को धारण करें'? इस तोतारटंत की क्या जरूरत है?

एक साथी कहते हैं: मंत्रार्थ को ध्यान से पढ़ने से बात साफ हो जाएगी. मंत्र में कहा गया है कि 'हम उस सविता देवता के उस वरेण्य भर्ग को ध्याते हैं जो हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे.' इस में साफ तौर पर सविता देवता से प्रार्थना है कि वह हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे. उस से बारबार प्रार्थना करने के उद्देश्य से जप करना है.

इस पर हमारा निवेदन है कि पहले तो यह प्रार्थना नहीं है. इस में प्रार्थना के स्थान पर सूचना है. कोई व्यक्ति मानो दूसरे को व्याकरण की दृष्टि से गलत वाक्य बोल कर कह रहा है कि 'हम सविता देवता के उस वरेण्य भर्ग का ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे.'

दूसरे, यदि यह प्रार्थना भी हो तो भी क्या फर्क पड़ता है? क्या सब के अंदर बसने वाला कहा जाने वाला परमात्मा इस बात का मुंहताज है कि उसे औपचारिक

प्रार्थनापत्र पढ़ कर सुनाया जाए? क्या उसे बिना कहे वैसे ही पता नहीं चलता कि मुझे बुद्धियों को प्रेरित करना है?

क्या घटघट वासी परमात्मा के कानों में नुक्स है, क्या वह बहरा है जो उसे एक बार कहने से सुनाई नहीं देता, जो उसे एक ही वाक्य तोतारटंत से सुनाना पड़ता है? फिर इस बात का क्या प्रमाण है कि वह उसे सुनता भी है, कि वह बुद्धियों को प्रेरित करता ही है या करेगा ही? क्या सविता देवता के 'वरेण्यभर्ग' के ध्यान करने से कुछ नहीं बनता, जो बुद्धियों को प्रेरित करने की दुहाई दी जाती है? अगर नहीं होता तो वरेण्य भर्ग के ध्यान करने का अर्थ ही क्या रह जाता है?

इस तरह स्पष्ट है कि गायत्री मंत्र छंद की दृष्टि से अधूरा है और व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है तथा इस के जपने का किसी भी प्रकार औचित्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वे फल जप से प्राप्त नहीं हो सकते जो विभिन्न पोथों में बताए गए हैं. हमारा कल्याण जपने में नहीं, जुटने में है; मंत्रों में नहीं, यंत्रों में है.

गर्भाधान संस्कार: ब्राह्मणों का विकार

प्राचीन काल से हिंदुओं में जन्म से भी पहले से ले कर मृत्यु के बाद तक कुछ संस्कारों का चलन रहा है. कभी उन की संख्या 40 थी, लेकिन कालांतर में उस में ह्रास हुआ और वह घट कर 16 रह गई. आज तक संस्कारों की पुस्तकों में 16 संस्कार ही प्रचलित हैं. इन में विवाह और अंत्येष्टि संस्कार ज्यादा प्रसिद्ध हैं. लेकिन सब से पहले संस्कार का नाम है–गर्भाधान संस्कार.

गर्भाधान संस्कार स्त्री में गर्भ स्थापित करने का संस्कार है. दुनिया के सब देशों में सब धर्मों के लोग गर्भाधान करते हैं, लेकिन हिंदू धर्म की विशिष्टता यह है कि इस में गर्भ स्थापित करने की क्रिया भी मंत्रों के पाठ, हवन और पुरोहितों के गुलछर्रे उड़ाने के कूटजाल से आच्छादित है.

संस्कारों का अनुष्ठान पुरोहित करवाया करते थे और वे सिर्फ ब्राह्मण जाति के होते थे. यह जाति धार्मिक अनुष्ठान करवाने का काम ही हजारों सालों से करती आ रही है. 'संस्कार विधि' नामक पुस्तक में गर्भाधान की जो अनुष्ठानप्रक्रिया वर्णित है, उस में पुरोहित की संभोग कक्ष में भी काफी भूमिका दिखाई पड़ती है. उक्त वर्णन को पढ़ने के बाद तो यही धारणा बनती है कि गर्भाधान संस्कार उतनी मात्रा में ही धार्मिक है जितनी मात्रा में आधुनिकतम होटलों और क्लबों में संभोग कर रहे व्यावसायिक युगल और पैसा खर्च कर के उन्हें देखने वाले. यदि गर्भाधान संस्कार धर्म का अंग है तो कानूनन निषिद्ध पूर्वोक्त कृत्य और उन में सहभागी व्यक्ति भी धर्मसम्मत माने जाने चाहिए, क्योंकि दोनों की मूल भावना और रूपगत स्थिति में विशेष अंतर नहीं है.

सनातन धर्म पुस्तकालय, इटावा द्वारा 1926 में छपवाई गई 'षोडश संस्कार विधि' में गर्भाधान संस्कार का जो विवरण दिया है, वह संक्षेप में इस प्रकार है:

> जिस रात को गर्भ स्थापित करने के लिए संभोग करना हो, उस सायं सूर्य के दर्शन कर के पुरुष यह संकल्प करे कि आज मैं गर्भ स्थापित करूंगा. तत्पश्चात संध्यावंदन कर के भोजन के बाद एक प्रहर (लगभग तीन घंटे) रात्रि बीतने पर शुद्ध श्वेत वस्त्र धारण कर के फूलों की माला पहने. आभूषणों से शोभायमान पतिपत्नी दीपक की रोशनी में अच्छे बिछौने वाले पलंग पर जाएं. पत्नी पूर्व की ओर सिर और पश्चिम की ओर पैर कर के लेट जाए. लेटी हुई पत्नी की नाभि के आसपास पति हाथ फेरे और निम्नलिखित मंत्र पढ़े (खुद न जानने की स्थिति में पुरोहित की सहायता लेनी होगी):

ओं पूषा भगं सविता मे ददातु रुद्रः कल्पयतु ललामगुम.
ओं विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु.
आसिंचतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते..

–ऋग्वेद 10/184/1

अर्थात पूषा और सविता देवता मुझे भग (स्त्री की योनि) दें, रुद्र देवता उसे सुंदर बनाए. विष्णु स्त्री की योनि को गर्भ धारण करने योग्य बनाए, त्वष्टा गर्भ के रूप का निश्चय करे, प्रजापति वीर्य का सिंचन करे और धाता गर्भ को स्थिर करे.

फिर निम्नलिखित मंत्र पढ़ते हुए (या पुरोहित द्वारा पढ़वाते हुए) पति पत्नी की ओर देखे:

ओं गर्भं देहि सिनीवालि. गर्भं धेहि पृथुष्टुके (सरस्वति).
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधतां पुष्करस्रजौ..

–ऋ. 10/184–2

अर्थात सिनीवाली, गर्भ धारण करो. सरस्वती, तुम भी गर्भ का धारण (रक्षण) करो. स्वर्णमय कमल का आभूषण धारण करने वाले दोनों अश्विनीकुमार, तुम्हारा गर्भ उत्पादित करें.

इस के बाद निम्नलिखित मंत्र पढ़ कर या पुरोहित द्वारा पढ़वा कर संभोग करे:

ओं गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि.
त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि.
जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि.

–यजुर्वेद 1/27

अर्थात मैं तुझे गायत्री छंद से मथता हूं. मैं तुझे त्रिष्टुभ् छंद से मथता हूं. मैं तुझे जगती छंद से मथता हूं.

ओं रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्.
गर्भो जरायुणावृत उल्वं जहाति जन्मना.
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु.

–यजुर्वेद 19/76

अर्थात स्त्री की योनि में प्रविष्ट होता हुआ पुरुष का लिंग वीर्य और मूत्र पृथकपृथक छोड़ता है अर्थात एक ही मार्ग से कार्यवश भिन्नभिन्न पदार्थ निकलते हैं. जरायु से ढका हुआ गर्भ जन्म लेने के बाद जरायु को त्याग देता है. यह सत्य से ही जाना जाता है कि वीर्य जो योनि के पीने योग्य है, अन्न से पैदा होता है. यह इंद्रियों के लिए दूध के समान बल देने वाला और मीठा हो.

इस के बाद निम्नलिखित मंत्र पढ़ कर या पुरोहित से पढ़वा कर पत्नी के हृदय का स्पर्श करे:

ओं–यत्ते सुमीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसिश्रितम्.
वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं,
जीवेम शरदः शतं, श्रृणुयाम शरदः शतम्.

–पारस्कर 1/11

अर्थात हे सुंदर केशों वाली स्त्री, मैं तेरे चंद्रमा के समान प्रसन्न चित्त को जानता हूं. तू भी मेरे हृदय को जान. हम दोनों सौ वर्ष तक देखतेसुनते रहें.

फिर, 'मैं किए हुए गर्भाधान कर्म की अंगपूर्ति के लिए यथाशक्ति ब्राह्मणों को भोजन कराऊंगा, उस से देवता प्रसन्न हों,'–ऐसा संकल्प कर के ब्राह्मणों को दक्षिणा दे कर और उन से आर्शीवाद ले कर उन्हें विदा करे.

धर्म के नाम पर यौन तृप्ति

यह है धर्म के नाम पर किया जाने वाला गर्भाधान संस्कार. यह पुरोहित वर्ग का आम जनता के जीवन के गोपनीय भाग में भी बेरोकटोक हस्तक्षेप करने और यौन तृप्ति का आनंद लेने का धूर्ततापूर्ण आविष्कार है. पतिव्रत धर्म की दुहाई देने वाली भारतीय संस्कृति पता नहीं कैसे इस व्यभिचारनुमा धार्मिक कृत्य को संस्कार के नाम पर सहती रही. पर जिन्हें यहां प्रचलित नियोग जैसी अन्य गंदी प्रथाओं का पता है, उन्हें इस से ज्यादा हैरानी नहीं होगी.

19 वीं शताब्दी में आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानंद ने इस संस्कार को संस्कृत और परिष्कृत करने की इच्छा से अपनी पुस्तक 'संस्कार विधि' में इस की विधि में कई एक छोटेमोटे परिवर्तन किए. लेकिन वह कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं कर पाए. उन के द्वारा परिष्कृत गर्भाधान संस्कार अश्लीलता और पुरोहितवाद से न सिर्फ मुक्त नहीं हुआ, बल्कि खाद्य पदार्थों का वृथा अग्निसात करना उस में और जुड़ गया.

मेरे सामने 'संस्कार प्रकाश' (1927 प्रथम संस्करण) पुस्तक पड़ी है, जो स्वामी दयानंद सरस्वती कृत 'संस्कार विधि' का भाषा टीका सहित संस्करण है. टीकाकार है गुरुकुल कांगड़ी के रामगोपाल विद्यालंकार. उस में गर्भाधान संस्कार विषयक जो विवरण है, वह संक्षेप में इस प्रकार है:

"जिस रात गर्भाधान करना हो, उस दिन हवन आदि करे और वहां निर्दिष्ट 20 मंत्रों से घी की आहुतियां दे. चारों दिशाओं में पुरोहित बैठें. इस के बाद घी, दूध, शक्कर और भात मिला कर छः आहुतियां अग्नि में डाले. तत्पश्चात आठ आहुतियां घी की दे. आठ आहुतियां घी की फिर दे."

हर बार के लिए पृथक मंत्र दिए गए हैं. दूसरी बार जो आठ आहुतियां घी की देनी हैं, उन के साथ पढ़े जाने वाले मंत्रों में वे सब गंदे मंत्र आ जाते हैं जिन के अर्थ इस लेख के शुरू में दिए गए हैं.

"इस के बाद नौ आहुतियां दे. बाद में ताजा घी और मोहन भोग की चार आहुतियां दे. जो घी शेष रहे उसे ले कर वधू स्नानागार में जाए और वहां पैर के नख

से ले कर शिर पर्यंत सब अंगों पर मले. तत्पश्चात वह नहाधो कर हवन कुंड की प्रदक्षिणा कर के सूर्य का दर्शन करे. बाद में पति, उस के पिता, पितामह आदि, अन्य माननीय पुरुषों, पिता की माता, अन्य कुटुंबी और संबंधियों की वृद्धस्त्रियों को नमस्कार करे. तत्पश्चात पुरोहितों को भोजन कराए और सत्कारपूर्वक उन्हें विदा करे."

यह तो हुआ दिन का काम. अब रात के कृत्य के बारे में सुनिए.

"रात्रि में गर्भाधान क्रिया करे. जब वीर्य गर्भाशय में जाने का समय आए तब दोनों स्थिर शरीर, प्रसन्नवदन, मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिका आदि, सब सूधा शरीर रखे. वीर्य का प्रक्षेप पुरुष करे (मानो स्त्री भी वीर्य का प्रक्षेप कर सकती है!). जब वीर्य स्त्री के शरीर में प्राप्त हो उस समय अपना पायु (गुदा) और योनींद्रिय को ऊपर संकुचित कर और वीर्य को खैंच कर स्त्री गर्भाशय में स्थिर करे. गर्भस्थापित होने के दूसरे दिन सात आहुतियां दे. फिर शांति आहुति दे कर पूर्णाहुति दे."

अश्लील विवरण

यह है गर्भाधान का परिष्कृत विवरण. इस में पहले की अपेक्षा भी ज्यादा अश्लीलता है. पहले तो सिर्फ पति की उपस्थिति में अश्लील अर्थों वाले मंत्र पुरोहित पढ़ता था, लेकिन इस संशोधित स्थिति में चार पुरोहित हैं और वे पति की तरफ के बड़ेबूढ़ों व मान्य पुरुषों और वृद्धाओं की उपस्थिति में उन मंत्रों का उच्चारण करते हैं. ऐसे में उस स्त्री की स्थिति बहुत हास्यास्पद और दयनीय होती होगी जिस की योनि और गर्भ को लक्ष्य कर के सार्वजनिक तौर पर अश्लील क्रियाओं का उच्चारण किया जाता था. वह कितनी लज्जा व आत्मग्लानि महसूस करती होगी. ऐसी दु:स्थिति तो वेश्या की भी नहीं होती होगी.

दूसरे, संशोधित रूप में कम से कम 60 आहुतियां दी जाती हैं. इस के अलावा अन्य आहुतियां भी दी जाती हैं. ये आहुतियां अधिकतर घी की कही गई हैं. कुछ दूध, भात आदि की भी कही गई हैं. एक आहुति कम से कम 40-50 ग्राम की हो तो सहज ही अंदाज लगाया जा सकता है कि कितने खाद्य पदार्थ एक गर्भाधान संस्कार के समय अंधविश्वास के अधीन स्वाहा किए जाने का विधान है. हवन आदि का गर्भाधान से क्या संबंध है? दुनिया के किसी देश में भी ऐसा पाखंड नहीं होता. फिर भी उन के बच्चे जन्मते हैं.

पुरोहितवाद का बोलबाला

तीसरे, पुरोहितवाद का बोलबाला इस संशोधित रूप में पहले की अपेक्षा ज्यादा बढ़ गया. पहले थोड़े से मंत्रों को पढ़ने का विधान था. उन्हें कुछ श्रम कर के पति खुद याद कर के भी काम चला सकता था, लेकिन संशोधित रूप में इतने मंत्रों को पढ़ने का विधान है कि स्वयं स्वामी दयानंद ने चार ऋत्विजों (पुरोहितों) का विधान किया है, जो चारों दिशाओं में बैठेंगे.

अतः यह संशोधित रूप तो परंपरागत रूप से भी ज्यादा उपेक्षणीय और निंदनीय है,

गर्भाधान संस्कार पुरोहितों द्वारा लोगों की अज्ञानता का लाभ उठा कर पांचों उंगलियां घी में करने के लिए शुरू किया गया प्रयास प्रतीत होता है. गर्भाधान के विषय में मनुस्मृति और दूसरे ग्रंथों के ऐसे उद्धरण संस्कार विधियों में मिलते हैं जिन में लालबुझक्कड़ी किस्म के नुस्खे और अवैज्ञानिक बातें कही गई हैं. उन्हें आज भी प्राचीन भारतीय आयुर्वेद की यशोगाथा गाते हुए अतीतवादी लोग पेश किया करते हैं. मनु ने लिखा है:

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोड्श स्मृताः
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हिहैः
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या.
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु.
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम्
पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः.
समे पुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः

–मनु. 3/46–49

अर्थात स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल 16 रात्रि का है अर्थात मासिकधर्म शुरू होने के दिन से ले कर 16 (सोलहवें) दिन तक ऋतु काल है. इस काल में गर्भाधान संभव है. उन में प्रथम चार रात्रियों अर्थात जिस दिन रजस्वला हो (मासिकधर्म शुरू हो), उस दिन से आगे के चार दिन निंदित हैं. उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीए, वह स्त्री कोई काम न करे, वह एकांत में बैठी रहे. जैसे प्रथम चार रात्रियां ऋतुदान देने में निंदित हैं वैसे 11वीं और 13वीं रात्रि भी निंदित हैं. बाकी रही 10 रात्रियां ही ऋतुदान देने अर्थात गर्भाधान के लिए श्रेष्ठ हैं. जिन्हें पुत्र की इच्छा हो वे छठी, आठवीं, 10वीं 12वीं, 14वीं और सोलहवीं– इन छः रात्रियों को ऋतुदान देने के लिए उत्तम जानें. जिन्हें कन्या की इच्छा हो वे पांचवीं, सातवीं, नौवीं और 15वीं–इन चार रात्रियों को उत्तम समझें. अतः पुत्रार्थी युग्म (सम) रात्रियों में ऋतुदान दें.

पुरुष के वीर्य के अधिक होने से पुत्र, स्त्री के आर्तव (रज) के अधिक होने से कन्या और दोनों के तुल्य होने से नपुंसक या पुत्रपुत्री दोनों की उत्पत्ति होती है. क्षीण और अल्प वीर्य से गर्भ नहीं ठहरता, ठहरे तो समय से पूर्व गिर जाता है.

धर्मशास्त्रों के ये आयुर्वेदिक लालबुझक्कड़ी नुस्खे आज के वैज्ञानिकों ने पूरी तरह रद्द कर दिए हैं (देखें ए मैरेज मैनुअल, ले. हन्नाह एम. स्टोन, एम. डी. और अब्राहम स्टोन, एम.डी.)

धर्मशास्त्र रजोदर्शन (मासिकधर्म) के दिन से 16वें दिन तक के काल को गर्भाधान के लिए उपयुक्त बताते हैं, जब कि आधुनिक विज्ञान बताता है कि पहले

दस दिन अनुत्पादक दिन होते हैं. इन दिनों किए संभोग से गर्भाधान हो ही नहीं सकता क्योंकि इन दिनों स्त्री की डिंबनलिका में शुक्रकीट से संयोग करने के लिए डिंब मौजूद ही नहीं होता. डिंब निकलने का समय आने वाले मासिकधर्म में ग्यारह दिन पहले किन्हीं पांच दिनों में पड़ता है. यदि किसी स्त्री का 30 दिनों का मासिकचक्र हो तो पहले से ग्यारहवें तथा बीसवें से तीसवें दिन तक के समय में गर्भाधान नहीं हो सकता. वह बारहवें से 19 वें दिन तक ही संभव है. (देखें, डा. लक्ष्मीनारायण शर्मा कृत बर्थ कंट्रोल, पृ. 48-50).

अंधविश्वास

धर्मशास्त्र रजस्वला स्त्री के हाथ का छुआ पानी तक न पीने का विधान करते हैं और उसे एकांत में बिलकुल निठल्ली बैठने को कहते हैं.

स्त्री को मासिक धर्म के दिनों अस्पृश्य बना देना बिलकुल अमानवीय है और इस के पीछे यह अंधविश्वास काम करता है कि स्त्री मासिकधर्म से अपवित्र हो जाती है. पराशरस्मृति का कहना है:

प्रथमेऽहनि चांडाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी, तृतीये रजकी प्रोक्ता

–7/20

अर्थात मासिकधर्म के पहले दिन स्त्री चांडाली के समान अछूत होती है; दूसरे दिन वह ब्रह्मघातिनी के समान अस्पृश्य (न छूने योग्य) होती है और तीसरे दिन वह धोबिन के समान अस्पृश्य होती है.

इस धर्मशास्त्रीय 'ज्ञान' का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है.

स्त्री को उन दिनों एकांत में निर्वासित करना अमानवीय और भद्दा काम है. भद्दा इसलिए, क्योंकि एक तो एकांतवास से स्त्री की गोपनीयता उद्घाटित होती है और अमानवीय इसलिए, क्योंकि एकांत में बैठी स्त्री को जो भी देखेगा, उस के गुप्तांगों की आंतरिक उथलपुथल को समझ जाएगा. इस से स्त्री मारे लज्जा के हीन भावना से ग्रस्त होगी. कई पढ़ेलिखे और समृद्ध परंतु धर्म के मामले में रूढ़िवादी हिंदू परिवारों में यह एकांत निर्वासन आज तक प्रचलित है.

बेकार की बातें

धर्मशास्त्रों का यह आदेश भी बिलकुल गलत है कि मासिकधर्म के दिनों में स्त्री को कोई काम नहीं करना चाहिए. आधुनिक शरीर विज्ञानियों का मत है कि स्त्री को इन दिनों अपना रोजमर्रा का कार्य पूर्ववत करना चाहिए. इस से कोई नुकसान नहीं है. हां, प्रतिस्पर्धात्मक खेलों जैसे बुरी तरह थकाने वाले काम से बचना चाहिए.

धर्मशास्त्रों ने लड़के और लड़की के पैदा होने के विषय में लिखा है कि मासिक धर्म से छठे, आठवें, 10वें, 12वें 14वें और 16वें दिन गर्भाधान करने से पुत्र उत्पन्न होता है और पांचवें, सातवें, नौवें और 15वें दिन गर्भाधान करने से लड़की उत्पन्न होती है. यह निरी बकवास है, क्योंकि छठे, सातवें, आठवें, नवें और 10वें दिन संभोग

करने से कुछ पैदा ही नहीं होता. ऐसे में सम (दो, चार, छः आदि) और विषम (तीन, पांच, सात आदि) दिनों में क्रमशः लड़के और लड़की के उत्पन्न होने का सवाल ही पैदा नहीं होता.

बाकी रही 11वीं और 13वीं रात्रि को गर्भाधान न करने की बात. यह महज अंधविश्वास के तहत कही गई बात है, क्योंकि इन दिनों को छोड़ने का कोई वैज्ञानिक कारण नहीं है. इसी तरह इन 16 दिनों में पूर्णिमा, अमावस्या, चतुर्दशी व अष्टमी को छोड़ने का विधान (मनु. 3/45) भी निरा अंधविश्वासपूर्ण और अवैज्ञानिक है. शेष रही यह बात कि क्या सम और विषम रात्रियों में किए गए गर्भाधानों का उत्पन्न होने वाले बच्चों के लिंग से कोई संबंध है या नहीं, तो इस के उत्तर में इन दो बातों का ध्यान रखना होगा:

धर्मशास्त्र के आदेश अवैज्ञानिक

एक तो यह कि जिस धर्मशास्त्र में यह फार्मूला लिखा है (देखें–मनु. 3/48) उसी में आगे यह भी लिखा है कि पुरुष के वीर्याधिक्य से पुत्र और स्त्री के रजोआधिक्य से कन्या उत्पन्न होती है (देखें–मनु. 3/51). धर्मशास्त्र के ये दोनों आदेश अवैज्ञानिक तो हैं ही, परस्पर विरोधी भी हैं; क्योंकि यदि पुरुष के अधिक वीर्य के कारण ही पुत्र उत्पन्न होता है तो फिर 'सम रात्रियों में ही गर्भाधान करने से पुत्र उत्पन्न होता है' यह कहने में क्या तुक है?

यही बात लड़की पैदा होने के बारे में है. लड़का या लड़की उत्पन्न होने का कारण न सम या विषय रात्रियां हैं और न वीर्य व रज की कमीबेशी. इस का कारण आधुनिक शरीर विज्ञानियों ने और ही बतलाया है, जो इस प्रकार है:

स्त्री का परिपक्व डिंब और पुरुष का शुक्रकीट–एकएक कोशिका (सैल) हैं. परंतु कोशिकाओं की तरह इन में 48-48 क्रोमोसोम न हो कर 24-24 क्रोमोसोम होते हैं (क्रोमोसोम कोशिका के अंदर एक और सूक्ष्म रचना होती है, जिस का आकार लंबी डंडी जैसा होता है.)–24 क्रोमोसोम डिंब में और 24 शुक्रकीट में.

ये क्रोमोसोम दो तरह के होते हैं–एक्स (X) और वाई (Y). स्त्रियों के परिपक्व डिंब में सिर्फ एक्स (X)–क्रोमोसोम होते हैं, जबकि पुरुष के शुक्रकीट में एक्स (X) और वाई (Y)–दोनों तरह के क्रोमोसोम होते हैं. परंतु एक शुक्रकीट में एक ही तरह के क्रोमोसोम होते हैं, अर्थात या तो सब एक्स या सब वाई. जब एक्स क्रोमोसोम वाला शुक्रकीट डिंब से मिलता है तब लड़की पैदा होती है और जब वाई क्रोमोसोम वाला शुक्रकीट डिंब से मिलता है, तब लड़का पैदा होता है.

इस से स्पष्ट है कि न तो समरात्रियां (2,4,6, आदि) पुत्र और न विषम रात्रियां (1,3,5,7 आदि) लड़की पैदा कर सकती हैं तथा न ही स्त्री की बच्चे के लिंग निर्धारण में कोई भूमिका है. पुरुष में क्योंकि दोनों तरह के क्रोमोसोम हैं, अतः केवल वही लिंग निर्धारण के लिए निर्णायक है. अतः लड़कियां पैदा करने वाली स्त्री की निंदा करना नितांत गलत धारणा है, जिसे धर्मशास्त्रों ने अपने अज्ञानावेश में प्रचारित कर रखा है.

ध्यान रहे, पुरुष भी शिशु के लिंग निर्धारण में प्रत्यक्ष व सक्रिय भूमिका नहीं निभाता. संभोग के फलस्वरूप डिंब के साथ किस क्रोमोसोम वाला शुक्रकीट मिलेगा, यह सब अनिश्चित है. अपने अनुसार तो उन्हें आधुनिकतम तकनीक के द्वारा प्रयोगशाला में ही मिलाया जा सकता है, मैथुन के दौरान नहीं. मंत्र, व्रत, दान, हवनयज्ञ आदि, विशेष प्रकार का पौष्टिक आहार या तागेतावीज अथवा समविषम रात्रियां–इस संबंध में एकदम बेकार, निरर्थक और भूमिकाशून्य हैं.

बाल विवाह

देश में बाल विवाह पर कानूनन प्रतिबंध है. 1949 से लड़कियों की विवाह योग्य उम्र कम से कम 16 वर्ष और लड़कों की 18 वर्ष चली आ रही थी, जिसे अक्तूबर, 1978 से लड़कों के लिए 21 और लड़कियों के लिए 18 वर्ष कर दिया गया है.

लेकिन कानूनन प्रतिबंध के बावजूद बाल विवाह देश के कोनेकोने में हो रहे हैं. 1920 में गांवों में यदि 32 प्रतिशत बाल विवाह होते थे तो 1970 में केवल आठ प्रतिशत की कमी हुई. 1961 की जनगणना के अनुसार देश में 200 लाख औरतें ऐसी थीं जिन की शादी 10 से 19 वर्ष की उम्र के दौरान हुई.

परंपरा के चलते गलत भी सही

एक समाचार के अनुसार अप्रैल, 1981 में तीज त्योहर के अवसर पर राजस्थान के मारवाड़ अंचल में 10 हजार बच्चे एक विशाल उत्सव में पतिपत्नी बना दिए गए. मध्य प्रदेश के विदिशा जिले में हुए विवाहों में 111 लड़केलड़कियों के विवाह हुए हैं. उन में 103 तो बच्चे थे–55 बच्चों की उम्र 10 वर्ष थी और 48 बच्चों की उम्र 12 वर्ष.

पिछले दिनों जो बाल विवाह ज्यादा चर्चा का विषय बने, वे साधारण लोगों के न हो कर मंत्रियों के बच्चेबच्चियों के थे. राजस्थान के खान विभाग के राज्य मंत्री नंदलाल ने अपनी आठ व 12 वर्षीया नाबालिग लड़कियों, शीला व मंजु, का विवाह 17 मई को किया. उधर मध्य प्रदेश के राज्यपाल भगवतदयाल शर्मा ने अपनी 16 वर्षीया लड़की की शादी की. इन विवाहों में केंद्रीय मंत्री और मुख्य मंत्री तक उपस्थित रहे.

नंदलाल की बच्चियों के विवाह की वकालत करते हुए तत्कालीन मुख्य मंत्री जगन्नाथ पहाड़िया ने जो कुछ कहा, वह यद्यपि समर्थनीय नहीं तथापि विचारणीय अवश्य है. उन्होंने कहा कि कानून का उल्लंघन हुआ है, पर परंपराओं की अपनी रीति होती है.

परंपराओं का उन्मूलन कैसे हो

ये परंपराएं जितनी गहरी पैठी हुई होती हैं उन का उन्मूलन भी उतना ही कठिन

होता है. यदि इन परंपराओं की जड़ों को लगातार धार्मिक आदेशों और प्रभावशाली व्यक्तियों के जीवन से जल मिलता रहे तो वे कभी उखाड़ी ही नहीं जा सकतीं.

बुराई या पुण्य

राम और सीता हिंदुओं के आदर्श हैं. बहुत से लोग उन्हें भगवान मानते हैं. प्रतिवर्ष दशहरे के अवसर पर उन के जीवन का अभिनय किया जाता है. रामायण की कथा तो जहांतहां प्रायः चलती ही रहती है. अतः राम और सीता के जीवन से प्रभावित होना स्वाभाविक है. जो जितने ज्यादा धार्मिक हैं, वे उतने ही ज्यादा प्रभावित होते हैं. इन दोनों का विवाह बहुत छोटी उम्र में हुआ था. रामायण के अनुसार राम की उम्र विवाह के समय 13 वर्ष थी और सीता की छः वर्ष, क्योंकि सीता अरण्यकांड (सर्ग 47, श्लो. 4, 10-11) में रावण से कहती हैं कि "मैं 12 वर्ष ससुराल में रही हूं. अब मेरी उम्र 18 वर्ष और राम की 25 वर्ष." इस से विवाहित जीवन के 12 वर्ष घटाने पर विवाह के समय दोनों की उम्र क्रमशः छः और 13 बनती है.

इस से यदि जनसाधारण प्रेरणा लेता हो तो क्या आश्चर्य? दूसरे, वेद और अन्य धर्म ग्रंथों में बाल विवाह के वर्णन व आदेश हैं जिन से धर्मप्राण हिंदुओं को बाल विवाह में बुराई के स्थान पर पुण्य दिखाई देता है.

ऋग्वेद में आता है कि नासत्यों (अश्विनीकुमारों) ने विमद को जो स्त्री पत्नी के रूप में दी, वह अर्भग अर्थात कम अवस्था की थी.

नासत्याभ्यां.....यावर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहतू रथेन.

डा. काणे ने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (जिल्द 1, पृ. 273) में लिखा है कि "ऋग्वेद की दो ऋचाओं (1/126/6-7) से पता चलता है कि लड़कियां युवा होने से पूर्व विवाहित होती थीं. ऋग्वेद में एक स्थान पर ऐसा आया है कि इंद्र ने बुड्ढे कक्षीवान को वृचया नामक स्त्री दी, जो अर्भा (बच्ची) थी."

धर्मशास्त्रों में विवाह योग्य लड़की के लिए 'नग्निका' शब्द का प्रयोग किया गया है. (देखें, हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र 1/19/2, गोभिल गृह्यसूत्र 3/4/6, मानव गृह्यसूत्र 1/7/8, वैखानस 6/12). 'नग्निका' के विभिन्न अर्थ मिलते हैं. मातृदत्त ने हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र की व्याख्या में लिखा है :

'नग्निकामासन्नार्तवाम्'

अर्थात वह लड़की जिस का मासिक धर्म शीघ्र शुरू होने वाला है. गृह्यसंग्रह ने 'नग्निका' का अर्थ अयुवा (जो अभी जवान नहीं हुई है) किया है. वसिष्ठ धर्मसूत्र (17/70) के मत में भी नग्निका अयुवा है. वैखानस का मत है–

अष्टवर्षादादशमान्नग्निका

–वैखानस 6/12

आठ वर्ष से ऊपर की परंतु 10 वर्ष से नीचे की कन्या 'नग्निका' है.

स्मृति चंद्रिका (पृ. 80) का मत है:

'यावच्चैलं न गृह्णाति यावत् क्रीडति पांसुभिः.
यावद् दोषं न जानाति तावद् भवति नग्निका..'

अर्थात जब तक लड़की कपड़े पहनना शुरू नहीं करती, जब तक वह मिट्टी से खेलती है, जब तक दोष को नहीं जानती, तब तक वह 'नग्निका' कहलाती है.

जब तक लड़की को मासिक धर्म शुरू नहीं होता, तब तक लड़की नग्निका कहलाती है. (गृह्यसंग्रह)

जब तक स्तन उन्नत नहीं होते, तब तक लड़की नग्निका है–

कुचहीना च नग्निका.

–गृह्यसंग्रह

अपरार्क द्वारा उद्धृत (पृ. 85) भविष्य पुराण के मुताबिक नग्निका 10 वर्ष की लड़की है.

इन सब विभिन्न व्याख्याओं से स्पष्ट है कि 'नग्निका' का अर्थ बच्ची है और धर्मशास्त्र उसे विवाह योग्य घोषित करते हैं.

कुछ दूसरे धर्म ग्रंथों में विवाह योग्य उम्र वर्षों में भी लिखी मिलती है, जिस से इस बारे में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता कि वे बाल विवाह के आदेश देते हैं.

यम स्मृति (स्मृतिमुक्ताफल, वर्णाश्रम धर्म, पृ. 136) का कथन है:

विवाहं चोपनयनं स्त्रीणामाह पितामहः.
तस्माद् गर्भाष्टमः श्रेष्ठो जन्मतो वाष्टवत्सरः..

अर्थात ब्रह्मा ने विवाह को ही स्त्रियों का उपनयन संस्कार कहा है. अतः स्त्रियों का विवाह गर्भ से या जन्म से आठवें वर्ष में करना श्रेष्ठ है.

देवल ऋषि का कहना है कि 10 वर्ष के ऊपर और मासिक धर्म शुरू होने से पहले तक कन्या 'गांधारी' कहलाती है. दीर्घायु चाहने वाले मातापिता को इस अवस्था में कन्या का विवाह कर देना चाहिए:

ऊर्ध्वं दशाब्दाद् या कन्या प्राग्रजो दर्शनात्तु सा,
गांधारी स्यात्समुद्वाह्या चिरं जीवितुमिच्छता..

इस विषय में गौतम धर्मसूत्र का कहना है:

प्रदानं प्रागृतोरप्रयच्छन्दोषी

–8/1

अर्थात मासिक धर्म शुरू होने से पहले ही लड़की का विवाह कर देना चाहिए. जो ऐसा नहीं करता, वह दोषी होता है.

आश्वलायन गृह्यसूत्र का आदेश है:

‘अदृष्टरजसे दद्यात्कन्यायै रत्नभूषणम्’

अर्थात जब तक कन्या को मासिक धर्म शुरू न हो, तब तक कन्या का विवाह कर देना चाहिए.

मनु का कथन है कि 30 वर्ष का पुरुष अपने चित्त के अनुकूल 12 वर्षीया कन्या से अथवा 24 वर्ष का युवक आठ वर्ष की कन्या से विवाह करे. यदि धर्महानि की आशंका हो, धर्म को खतरा हो तो इस से शीघ्र भी कर सकते हैं:

त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृदयां द्वादशवार्षिकीम्.
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः..

–9/94

संवर्त स्मृति में कहा गया है कि 10 वर्ष से पहले कन्या का विवाह न करने वाले मातापिता और भाई नरक को प्राप्त होते हैं. आठ वर्ष की लड़की का विवाह सर्वश्रेष्ठ है:

अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी.
दशवर्षा भवेत्कन्या अतः ऊर्ध्वं रजस्वला..
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च.
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्..
तस्माद् विवाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्.
विवाहो ह्यष्टवर्षाया: कन्यायास्तु प्रशस्यते..

–संवर्त 65-67

अर्थात आठ वर्ष की लड़की ‘गौरी,’ नौ वर्ष की ‘रोहिणी’ और 10 वर्ष की ‘कन्या’ कहलाती है. इस के पश्चात लड़की ‘रजस्वला’ (मासिक धर्मवती) कही जाती है. उस कन्या के माता, पिता और भाई उस अविवाहिता रजस्वला को देख कर नरक को जाते हैं. अत: जब तक कन्या ऋतुमती न हो तब तक उस का विवाह कर देना चाहिए. अष्टम वर्ष में कन्या का विवाह होना प्रशंसनीय है.

पराशर स्मृति का कहना है कि यदि कन्या का 12 वर्ष की होने के बाद भी विवाह नहीं किया जाता तो उस के मातापिता प्रतिमास उस के मासिक धर्म का रक्त पीते हैं–

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति.
मासि मासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरः स्वयम्..

–पराशर 7/7

अपनी बात तर्कों के सहारे

वसिष्ठ स्मृति का कथन है कि यदि पिता की लापरवाही के कारण कन्या को विवाह से पहले ही मासिक धर्म शुरू हो जाता है तो ऐसी कन्या का कन्यादान करने

वाले को उसे देखने से भी पाप लगता है. वह दृष्टि मात्र से उसे (कन्यादान करने वाले पिता, भाई आदि को) नष्ट कर देती है. अतः मासिक धर्म शुरू होने से पहले ही कन्या का विवाह कर दे. अविवाहिता लड़की यदि मासिक धर्मवती हो जाए तो पिता को दोष लगता है:

पितुः प्रमादात्तु यदीह कन्या वयः प्रमाणं समतीत्य दीयते.
सा हन्ति दातारमुदीक्षमाणा कालातिरिक्ता गुरुदक्षिणेव
प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयात्पिता.
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति

–वसिष्ठ स्मृति, 17/61–62

जिस धर्म ग्रंथ को खोलें, उसी में बाल विवाह की बात की गई मिलती है. इतना ही नहीं, तरहतरह के हथकंडे अपना कर लोगों को बाल विवाह करने के लिए उत्प्रेरित किया गया है. कहीं 'दीर्घायु प्राप्त होगी' ऐसा कह कर लालच दिया गया है, कहीं नरक प्राप्ति का भय दिखाया गया है. कहीं पाप लगने का भय दिखाया गया है तो कहीं 'मासिक धर्म का रक्त पीना होगा' कह कर बीभत्स भय दिखाया गया है. ऐसे में कौन धर्मप्राण व्यक्ति इन आदेशों के विपरीत जाने का साहस कर सकता है?

कई लोगों का कहना है कि अथर्ववेद के निम्नलिखित मंत्र में युवा लड़की के विवाह का विधान है: 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' **(अथर्व 11/3/5/18) अर्थात, ब्रह्मचर्य से कन्या युवा पति को प्राप्त करती है.**

उन का यह कहना ठीक नहीं. शायद वे समझते हैं कि यहां ब्रह्मचर्य का अर्थ 25 वर्ष की उम्र है, जैसे कि लड़कों के लिए ब्रह्मचर्य की अवधि निश्चित है. लेकिन ऐसा समझना निराधार और अज्ञानमूलक है. लड़कियों के लिए ब्रह्मचर्य के बारे में लौगाक्षिगृह्यसूत्र (19/2) में स्पष्ट लिखा है: 'दशवार्षिकं ब्रह्मचर्यं कुमारीणां द्वादशवार्षिकं वा' **अर्थात लड़कियों का ब्रह्मचर्य 10वें या 12वें वर्ष तक ही रहता है.**

दूसरे, वेद के इस मंत्र में खुद 'कन्या' शब्द का प्रयोग किया गया है. कन्या 25 वर्ष की लड़की नहीं हो सकती. कन्या ज्यादा से ज्यादा 12 वर्ष की लड़की को कह सकते हैं. धर्मशास्त्रों में ऐसी ही परिभाषाएं हैं. लड़की के ब्रह्मचर्य की अवधि भी 10-12 वर्ष की ही बताई गई है. अतः इस मंत्र में भी बाल विवाह की ही बात कही गई है न कि युवा लड़की के विवाह की.

कुछ लोगों का कहना है कि सुश्रुत ने कहा है कि 25 वर्ष से कम उम्र के लड़के और 16 वर्ष से कम उम्र की लड़की का विवाह नहीं होना चाहिए. इस के समर्थन में वे निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत करते हैं:

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तपंचविंशतिम्.
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं गर्भस्थः स विपद्यते..
जातो वा न चिरं जीवेद् जीवेद् वा दुर्बलेन्द्रियः.
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्..

–सुश्रुत, अ. 10/47–48

इस के विषय में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं. पहली तो यह कि सुश्रुत संहिता आयुर्वेद की पुस्तक है, न कि धर्म ग्रंथ. जो कुछ पहले उद्धृत अनेक धर्म ग्रंथों में कहा गया है, उसे छोड़ कर धर्मभीरु लोग आयुर्वेद की एक पुस्तक में कही बात को कितना मानेंगे, इस का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है.

दूसरे, इन श्लोकों में सिर्फ यह कहा गया है कि "सोलह से कम उम्र की लड़की में गर्भाधान न करें, क्योंकि शिशु गर्भ में मर सकता है. यदि जीवित भी रहेगा तो दुर्बल होगा. अतः बहुत छोटी उम्र की लड़की में गर्भाधान नहीं करना चाहिए." इन में कहीं भी यह नहीं कहा गया कि 16 वर्ष से कम उम्र की लड़की का विवाह न करे. इस के विपरीत सुश्रुत ने इन श्लोकों से आगे के श्लोक में विवाह योग्य लड़की की आयु बताते हुए कहा है कि 25 वर्ष के लड़के को 12 वर्ष की कन्या से विवाह करना चाहिए.

अथास्मै पंचविशतिवर्षाय, द्वादशवर्षीयां पत्नीमावहेत्.

–सुश्रुत, शरीराध्याय 10/53

यहां स्पष्ट तौर पर सुश्रुत बालविवाह का विधान कर रहा है.

हानिकारक परंपराओं के विरुद्ध अभियान जरूरी

ऐसी स्थिति में, जब कि आदर्श अथवा प्रभावशाली व्यक्ति, धर्म ग्रंथ, आयुर्वेदीय ग्रंथ–सब बाल विवाह के पक्षधर हों, साधारण धर्मभीरु व्यक्ति बाल विवाह करने से कैसे बच सकता है और परंपरागत कुसंस्कार कैसे मिट सकते हैं? यदि कानून बनाने वाली सरकार वास्तव में बाल विवाह की प्रथा का उन्मूलन करना चाहती है तो उसे उन सब ग्रंथों की भर्त्सना कर के उन की आदर्श ग्रंथ के तौर पर मान्यता रद्द करनी चाहिए जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में बाल विवाह का प्रचार करते हैं, उसे समर्थन देते हैं और उस को दीर्घायु प्रदान करते हैं. साथ ही हानिकारक परंपराओं के विरुद्ध अभियान चलाना चाहिए. तभी लोग बुद्धिवादी और युगानुरूप जीवनपद्धति को अपनाने के योग्य हो सकते हैं. जब तक परंपराओं का कुप्रभाव रहेगा, समाज के नेता उन का और प्राचीन संस्कृति का गुणगान करते रहेंगे. ऐसी अवस्था में कानून अलमारियों में बंद पड़े रहेंगे और लोग अपनी बेढंगी चाल चलते रहेंगे.

परंपराओं के इसी अंधानुकरण का कुपरिणाम है कि 20वीं शताब्दी में राजस्थान में एक औरत से इसलिए सामूहिक बलात्कार किया गया कि वह बाल विवाह के प्रति लोगों को सावधान कर रही थी और 21वीं शताब्दी के पहले दशक में अर्थात 10 मई 2005 को भारतीय जनता पार्टी शासित मध्यप्रदेश में बाल विकास विभाग की एक महिला अधिकारी–श्रीमती शकुंतला वर्मा–के घर में रात को जबरन घुसकर उस का हाथ इसलिए काट दिया गया कि वह बाल विवाह के विरुद्ध आवाज बुलंद कर रही थी. 21वीं शताब्दी में भी अंधे युगों का आचरण हमें कहां ले जाएगा?

नामकरण संस्कार

हमारे धार्मिक जीवन में संस्कारों का बहुत महत्त्व है. अति प्राचीन काल से ही हमारे पूर्वज, आर्य लोग 40 संस्कार मानते थे–गर्भाधान से ले कर अंत्येष्टि तक. लेकिन शताब्दियों के अंतराल में ये संस्कार घटतेघटते 16 रह गए, जो आज भी 'षोडश संस्कार विधि' या 'संस्कार विधि' नाम की पुस्तकों में अनुष्ठान विधियों सहित विस्तारपूर्वक लिखे मिलते हैं. यद्यपि संस्कारविधियों में 16 संस्कार हैं, तथापि आज हम कुछ एक संस्कारों को ही व्यवहार में लाते हैं. उन में से एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है–नामकरण.

अबोधावस्था में जातिभेद का विषबीज

नामकरण संस्कार से तात्पर्य है– शिशु का नाम रखने का संस्कार. मनु का कथन है कि शिशु का नाम उस के जन्म से दसवें व बारहवें दिन शुभ मुहूर्त और अच्छे नक्षत्र में रखना चाहिए:

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्.
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते..

–मनु. 2/30

यही बात गोभिल, शौनक और पारस्कर गृह्यसूत्रों में भी कही गई है. नाम किसी भी दिन रखा जाए और जो भी रखा जाए, उस पर साधारणतया कोई आपत्ति नहीं हो सकती. लेकिन हिंदू धर्म ग्रंथ नामकरण का जो समय और विधि बताते हैं, वह बहुत आपत्तिजनक है, क्योंकि शिशु की अबोधावस्था से ही उस में जातिभेद का विषबीज बो दिया जाता है, जो उस के युवक होने पर उस में इनसान इनसान में भेदभाव और वृथा ऊंचनीच की राष्ट्र व मानवविरोधी मनोवृत्ति के रूप में फलता और फूलता है.

यही कारण है कि हिंदू का परिचय तब तक अपूर्ण रहता है जब तक उस की जाति का उल्लेख नहीं होता.

नामकरण के नाम पर बंटवारा

नामकरण कैसे किया जाए, उस का उत्तर देते हुए संस्कारविधियों में प्राचीन धर्म

ग्रंथों के उद्धरण दिए गए हैं. कुछ एक उदाहरण देखिएः

(क) दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति...शर्म ब्राह्मणस्य,
वर्म क्षत्रियस्य, गुप्तेति वैश्यस्य
–पार. गृ. कां. 1, कं 17, सूत्र 1-4

अर्थात जन्म से दसवें दिन पिता बालक को उठा कर उस का नाम रखता है....ब्राह्मण के नाम के पीछे शर्मा, क्षत्रिय के नाम के पीछे वर्मा और वैश्य के नाम के पीछे गुप्त (इसे आज अंगरेजी प्रभाव के कारण 'गुप्ता' कहते व लिखते हैं) लगाया जाए.

(ख) शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्.
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्..
–मनु. 2/32

अर्थात ब्राह्मण का नाम 'शर्मा' शब्द युक्त करना चाहिए, क्षत्रिय का 'रक्षा' (वर्म) युक्त, वैश्य का 'पुष्टि' शब्द से युक्त और शूद्र का 'दास' शब्द से युक्त.

(ग) शर्म देवश्च विप्रस्य, वर्म त्राता च भूभुजः.
भूतिर्दत्तश्च वैश्यस्य, दासः शूद्रस्य कारयेत्..
–यमस्मृति

अर्थात ब्राह्मण के नाम के अंत में शर्मा या देव हो, क्षत्रिय के नाम के अंत में वर्मा या रक्षक हो, वैश्य के नाम के पीछे भूति या दत्त हो (यथा वसुभूति, देवदत्त आदि) और शूद्र के नाम के अंत में दास शब्द हो (यथा दीनदास, रामदास आदि).

(घ) शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेतिक्षत्रसंयुतम्.
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः..
–विष्णु पुराण

अर्थात ब्राह्मण के नाम के अंत में शर्मा हो, क्षत्रिय के वर्मा, वैश्य के गुप्त और शूद्र के दास.

किसी संस्कारविधि में कोई धर्मशास्त्रीय वचन है और किसी में कोई. स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपनी संस्कार विधि (पृं 66) में नामकरण के उदाहरण दे कर समझाया है– "जैसे देव अथवा जयदेव ब्राह्मण हो तो (उस का नाम) देव शर्मा, क्षत्रिय हो तो देव वर्मा, वैश्य हो तो देव गुप्त और शूद्र हो तो देव दास इत्यादि."
–संस्कारविधि, ई. 1915, वि.सं. 1972

जातिसूचक शब्द

आज भी हिंदुओं के नामों के पीछे शर्मा, देव, वर्मा, गुप्त (गुप्ता), दत्त, दास आदि शब्दों का प्रयोग बराबर मिलता है. यद्यपि आज शहरों, कुछ ग्रामीण क्षेत्रों

में भी, दत्त और देव शब्द विभिन्न जातियों के लोगों के नामों के पीछे मिल जाते हैं, तथापि शर्मा, वर्मा और गुप्त (गुप्ता) ऐसे नामांतक शब्द हैं जिन्हें आज तक किसी ने जातीय सीमा के बाहर जा कर प्रयुक्त नहीं किया है. आज भी ये शब्द जिस व्यक्ति के नाम के पीछे लगते हैं, उस की जाति की स्वयमेव उद्घोषणा कर देते हैं.

जातिपांति एक गलत मान्यता

यहां यह उल्लेखनीय है कि नामकरण के समय जातिभेद मानने का अर्थ है—जन्म से जाति मानना, न कि कर्म से. आर्यसमाज का सिद्धांत है कि प्राचीन काल में व्यक्ति की जाति उस के गुण, कर्म और स्वभाव पर आधारित होती थी. अतः हमें भी जाति जन्म के आधार पर न मान कर गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर माननी चाहिए. स्वामी दयानंद जी ने अपनी पुस्तक 'सत्यार्थप्रकाश' में इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है.

लेकिन वही स्वामी जी अपनी दूसरी पुस्तक 'संस्कार विधि' में, जिसे आर्यसमाज में 'सत्यार्थ प्रकाश' के समान ही सम्मान प्राप्त है, शिशु का नामकरण दसवें दिन करने और जातिभेद के अनुसार ब्राह्मण के लिए शर्मा, क्षत्रिय के लिए वर्मा और वैश्य के लिए गुप्त (गुप्ता) शब्दों के प्रयोग की बात करते हैं. उन्होंने अपने इस मत के समर्थन में एक प्रमाण भी दिया है, जिस का पता उन्होंने नहीं लिखा है—न जाने जानबूझ कर ऐसा किया है या अनजाने. लेकिन संस्कारविधि के भाष्यकार रामगोपाल विद्यालंकार ने उस का पता इस प्रकार दिया है—'पारस्कर गृह्यसूत्र,' 1/17/1-4 (देखें, संस्कार प्रकाश, पृ. 62).

वैसे हिंदी में व्याख्या करते समय स्वामी जी ने लिखा है: "नामकरण का काल जिस दिन जन्म हो, उस दिन से ले के 10 दिन छोड़ 11वें व 101 (एक सौ एक) में अथवा दूसरे वर्ष के आरंभ में, जिस दिन जन्म हुआ हो, नाम धरे" (सं.वि. पृ. 63)

उस दिन नाम कैसे रखें, इस की व्याख्या करते हुए स्वामी जी ने लिखा है: "देव अथवा जयदेव ब्राह्मण हो तो देव शर्मा, क्षत्रिय हो तो देव वर्मा, वैश्य हो तो देव गुप्त और शूद्र हो तो देव दास इत्यादि....बालक का नाम धर के पुनः 'ओं कोसि.' ऊपर लिखित मंत्र बोलना'. (सं.वि.पृ. 66).

11वें व 101 वें दिन अथवा प्रथम वर्षगांठ के दिन नामकरण के संबंध में स्वामी दयानंद ने कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया है और न ही कोई तर्क दिया है. यदि फिर भी स्वामी जी की बात को पूरी तरह मान लिया जाए और उन द्वारा दिए अंतिम विकल्प को भी लें, तब भी स्पष्ट है कि एक वर्ष के अबोध शिशु के गुण, कर्म, स्वभाव का कुछ पता नहीं चल सकता.

जातिवाद आधारहीन छलावा

आगे चल कर उस में कौन से गुण उपजेंगे, वह किस कर्म व पेशे को अपनाएगा और उस का स्वभाव कैसा होगा, यह एक वर्ष के बच्चे के नामकरण के समय

निश्चित हो ही नहीं सकता. अगर हो सकता तो स्वामी दयानंद उस की विधि किसी वेदमंत्र या किसी अन्य प्राचीन पुस्तक के आधार पर अवश्य लिखते. उन के पहले या बाद के किसी अन्य संस्कारविधि-रचयिता ने भी ऐसी किसी विधि का वर्णन नहीं किया है.

स्पष्ट है स्वामी जी ने भी जाति विशेष में जन्म के आधार पर नाम के अंत में शर्मा, वर्मा, गुप्त (गुप्ता) और दास जोड़ा है, और न चाहते हुए भी व्यवहार में न केवल जातिवाद को कोई हानि नहीं पहुंचने दी बल्कि यह भी स्वीकार कर लिया और बता दिया कि जाति जन्म के आधार पर ही निश्चित होती रही है और होनी चाहिए!

विश्वमानवता के लिए जातिगत भेदभाव मिटाना अत्यावश्यक

आज हम विश्वमानवता और धर्म निरपेक्षता की बातें करते हैं लेकिन हम न केवल अपने मनों में जातिगत भेदभाव के प्रति सतर्क हैं बल्कि अपने नामों के पीछे भी जातिगत भेदभाव और ऊंचनीच के लेबल चिपकाए हुए हैं. इन्हें उतार फेंकना धर्मनिरपेक्षता और विश्वमानवता की दिशा में एक सराहनीय कदम होगा.

प्रश्न किया जा सकता है कि मैं अपने नाम के पीछे 'शर्मा' क्यों लगाता हूं? इस के दो पहलू हैं. प्रथम यह कि मेरा नामकरण शैशवावस्था में आम हिंदू शिशु की तरह शास्त्रीय विधि से हुआ था. अतः 'शर्मा' साथ लगना ही था–ब्राह्मण की संतान जो ठहरे!

दूसरे, यही शर्मा अंत वाला नाम मेरे शुरू से ले कर अब तक के विभिन्न प्रमाणपत्रों पर अंकित है. वही सब सरकारी कागजों में है. प्रत्येक स्तर पर नौकरशाही के हाथों नाम परिवर्तन करवाना असंभव नहीं तो अत्यधिक कठिन अवश्य है. अतः सरकारी रिकार्ड में तो 'शर्मा' ही चलता है, लेकिन अन्य सब गैरसरकारी अवसरों, उद्देश्यों, दैनंदिन व्यवहार और पत्रपत्रिकाओं के लिए मैं 'शर्मा' शब्द उड़ा देता हूं.

हां, धर्म की हानिप्रद रूढ़ियों व धर्मशास्त्रों की अनुपयुक्त और राष्ट्र के लिए घातक शिक्षाओं पर विचार करते हुए मैं जानबूझ कर 'शर्मा' शब्द का प्रयोग करता हूं. इस के दो कारण हैं– पहला तो यह कि पाठकों को कड़वे सत्य से साक्षात्कार करने के बाद यह भ्रम न हो जाए कि लेखक कोई विधर्मी है और हमारे धर्म व धर्म ग्रंथों पर कीचड़ उछालने के क्षुद्र उद्देश्य से प्रेरित हो कर लिख रहा है.

अमानवीय व अनुचित चाल के विरुद्ध अभियान जरूरी

दूसरे, एक ईमानदार इनसान की तरह मैं तीव्रता और गंभीरता से महसूस करता हूं कि लोगों को यह ज्ञात हो जाए कि यद्यपि अतीत में ब्राह्मणों ने जानेअनजाने ऐसे विधान बनाए हैं, ऐसी बातें लिखी हैं जो आज अमानवीय, अनुचित और अवैज्ञानिक सिद्ध हो रही है तथापि ब्राह्मण ही आज अपने पूर्वजों द्वारा प्राचीन काल में लिखी धर्मपुस्तकों की वर्तमान में अनुपयुक्त और हानिप्रद शिक्षाओं के विरुद्ध आवाज उठा

रहे हैं और उन्हें पुराने धर्मशास्त्रकारों के 'वंशज' होने के कारण ऐसा करने का अधिकार भी 'स्वतः' एव प्राप्त है.

नाम ऐसा हो जिस से धर्म व जाति की बू न आए

जिन लोगों के नामों के साथ प्राचीन पद्धति का अनुसरण करते हुए जातिसूचक लेबल लगे हुए हैं, वे दो काम कर सकते हैं– एक तो दैनंदिन व्यवहार और गैरसरकारी उद्देश्यों के लिए अपने नामों के साथ उन लेबलों को चिपकाना छोड़ दें. दूसरे, अपने बच्चों के नाम इस प्रकार रखें कि उन से न केवल जाति की बू न आए बल्कि धर्म विशेष की गंध भी न आए. तभी 'नामकरण संस्कार' का 'संस्कार' शब्द सार्थक हो सकता है.

ताकि राष्ट्रीय एकता को बल मिले

यदि नामकरण संस्कार के कारण राष्ट्र के नागरिकों के नामों से ही ऊंचनीच और जातिगत भेदभाव की बदबू आती रहेगी तो तो मुझे लगता है यह 'नामकरण संस्कार' न रह कर एक दिन राष्ट्रवादी हिंदुओं को 'नामकरण विकार' प्रतीत होने लगेगा. अतः जरूरी है कि इस के संस्कारत्व की रक्षा के लिए उन विकृतियों को दूर करें जो इस के साथ कुछ धर्म ग्रंथों ने अभिन्न रूप से जोड़ रखीं है. यह मानवतावाद व राष्ट्रवाद की ही नहीं बल्कि स्वस्थ हिंदुत्व की भी मांग है.

दीवाली

हर त्योहार की कुछ न कुछ पृष्ठभूमि अवश्य होती है. भारत में बहुत से त्योहार मनाए जाते हैं. उन में से किसी का भी अतीत इतना तमसाच्छन्न न होगा जितना दीवाली का है. इसे एक महज संयोग कहें या 'दीपक तले अंधेरा' लोकोक्ति की सत्यता का प्रमाण?

दीवाली का त्योहार अंगरेजी महीने के हिसाब से किसी वर्ष अक्तूबर में पड़ता है तो किसी वर्ष नवंबर में. हिंदू गणना के अनुसार यह कार्तिक मास की अमावस्या को मनाया जाता है.

नवान्नेष्टि पर्व

प्राचीन साहित्य में गृह्यसूत्रों का बहुत महत्त्व है. उन में प्राचीन काल में प्रचलित हर पर्वत्योहार का विधिविधान उपलब्ध होता है. विद्वानों ने 8वीं सदी ईसा पूर्व से ले कर 200 ई. पू. तक के समय में इन्हें रचे गए बताया है. इन ग्रह्यसूत्रों का अध्ययन करने के बाद अध्येता को बहुत हैरानी होती है जब उसे दीवाली नाम के किसी त्योहार का उन में उल्लेख नहीं मिलता. लेकिन जिस दिन दीवाली का त्योहार मनाया जाता है, उस दिन मनाए जाते रहे एक अन्य समारोह का वर्णन अवश्य उपलब्ध होता है.

दीवाली कार्तिक मास की अमावस्या को मनाई जाती है. लेकिन गृह्यसूत्र इस दिन 'नवसस्येष्टि' (नई फसल का यज्ञ) या 'नवान्नेष्टि' (नए अनाज का यज्ञ) अथवा 'आग्रयणकर्म' (नए चावल देवताओं को देने का यज्ञ) करने का उल्लेख करते हैं. (आपस्तंब गृह्यसूत्र 7/19/7, मानव गृ. 2/3/10, आश्वलायन गृ. 2/2/4-5, गोभिल गृ. 3/7/7-24, पारस्कर गृ. 2/17/1-8).

उक्त गृह्यसूत्रों में कार्तिक मास की अमावस्या के दिन चावल या जौ को दूध में पका कर हवन करने का विधान मिलता है:,

> नवान्नां स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽग्रयणदेवताभ्य:
> स्विष्टकृच्चतुर्थाभ्यो हुत्वा तण्डुलानां मुखं पूरयित्वा
> गीर्त्वाचम्योदनपिण्डं संवृत्योत्तरेण यजुषाऽगारस्तूपः उद्विद्धेत्.
>
> –आपस्तंब गृ. 7/19/7

अर्थात कार्तिक की अमावस्या को चावल का स्थालीपाक बना कर तीन प्रधान

आहुतियां दे. फिर स्विष्टकृत आहुति दे. बचे हुए चावलों को अपने मुंह में भर कर निगल जाए. फिर आचमन करे और 'परमेष्ठ्यसि...' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए बचेखुचे चावलों का गोल पिंड बना कर ऊपर की तरफ फेंके ताकि वह या तो मुंडेर से टकराएं या छत की कड़ियों से. (भीमसेन शर्मा कृत व्याख्या, पृष्ठ 46, संस्करण 1905)

मानवगृह्यसूत्र लिखता है:

> नानिष्ट्वाग्रयणेन नवसस्याश्नीयात् पर्वण्याग्रयणं कुर्तीत. शरदि ब्रीहीणाम् अग्रपाकस्य पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा. तस्य जुहोति. सजूरग्नींद्राभ्यां स्वाहा. सजूर्विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा शरदि सोमाय श्यामाकानां वसंते वेणयवानाम्. उभयत्र वाज्येन वत्सः प्रथमजो दक्षिणा ब्राह्मण एव हविः शेषं भुञ्जीतेति श्रुतिः
>
> –मानवगृह्य. 2/3/9–14

अर्थात नवान्नेष्टि किए बिना नया अन्न न खाए. चावलों की आहुतियों के बाद सोम देवता को सावां नामक अनाज की अथवा घी की आहुतियां दें. क्षत्रिय और वैश्य जब यह यज्ञ करें तो उन के यज्ञों से बचे सामान को ब्राह्मण ही खाएं. वे (क्षत्रिय और वैश्य) स्वयं यज्ञशेष को खाने के अधिकारी नहीं हैं. इस यज्ञ की दक्षिणा के रूप में एक बछड़ा यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण को दें.

गृह्यसूत्रों के रचयिता ब्राह्मण पुरोहित थे, अतः उन्होंने नई फसल के आते ही, लगता है, अपना साल भर का राशन जमा करने के उद्देश्य से 'नवान्नेष्टि' की महिमा प्रतिपादित कर दी. मनु ने एक जगह लिखा है: 'सस्यांते नवसस्येष्ट्या' (4/26). इस की व्याख्या करते हुए एक पुराने टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने लिखा है:

> पूर्वार्जितधान्यादिसस्ये समाप्ते शरदि नवानामिति सूत्रकारवचनाद्. असमाप्तेऽपि पूर्वसस्ये नवसस्योत्पत्तौ आग्रयणेन यजेत्. नियतत्वात्तस्याः प्रत्यब्दं सनिमित्तत्वोत्पत्तेः.

अर्थात पहले की कमाई हुई फसल के समाप्त होने पर, या थोड़ीबहुत अभी शेष रहने पर भी जब नई फसल आए, तो नवान्नेष्टि करे. यह प्रतिवर्ष नियमपूर्वक होना चाहिए.

मनु ने अगले श्लोकों में कई भय व अंधविश्वास भी खड़े किए हैं ताकि पुरोहितों के राशन में किसी प्रकार का व्यवधान न पड़े. उस का कहना है:

> नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विजः.
> नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः
> नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः.
> प्राणानेवात्तुमिच्छंति नवान्नामिषगर्द्धिनः
>
> – मनु. 4/27–28

अतः लक्ष्मी के मार्ग में दीपक जलाने का अर्थ होगा उसे घर में प्रविष्ट होने से रोकना. कोई भी लक्ष्मीभक्त ऐसी मूर्खता नहीं करेगा. अतः दीपकों को ज्यादा संख्या में जलाने के पीछे यह कारण नहीं हो सकता.

नीरद चौधरी ने 'आत्मकथा' में लिखा है कि दीवाली के साथ कई तरह की छद्म वैज्ञानिकता जोड़ने के यत्न भी होते रहे हैं और कहा जाता रहा है कि उस दिन जो इतनी मात्रा में दीए जलाए जाते हैं उस का उद्देश्य उस दिन धरती से बहुत बड़ी मात्रा में निकलने वाली हानिकारक गैसों को जलाना होता है.

दरअसल, आलोच्य काल में चूंकि अब धन का आगमन हुआ करता था, अतः जरूरी था कि ऐसे में चोरी का भय हो. इस अंधेरी रात में प्रकाश की बहुत जरूरत थी. लोगों ने चोर आदि से सुरक्षा के लिए अपनेअपने घर में पहले दिनों की अपेक्षा ज्यादा रोशनी करना उचित समझा. बस, यही रोशनी करना कालांतर में एक रूढ़ि बन गया.

जब अर्थतंत्र में परिवर्तन हो गए और कार्तिक की अमावस्या का दिन अर्थव्यवस्था में महत्त्वशून्य हो गया, तब भी लकीर पीटने की तरह इस दिन धन को रात्रि में सुरक्षित रखने के लिए प्रारंभ की हुई दीपकमाला जलाने की रस्म जारी रखी गई, यद्यपि इस की शुरुआत के दिनों का किसी को खयाल तक भी न था. इसीलिए भिखारी तक भी अपनी झोंपड़ी में दो दीपक जलाने से न चूकता था.

जब इस रूढ़ि के शुरू होने के कारण की कुछ लोगों ने जिज्ञासा की तो पुराणपंथी पुरोहितों ने राम के वनवास से लौटने की घटना से उसे जोड़ने की कोशिश की, जो आज पूरी तरह गलत सिद्ध हो चुकी है, और उस का इस दिन की जाने वाली पूजा से कोई संबंध नहीं है. इस दिन कोई भी राम की पूजा नहीं करता, सभी लक्ष्मी का पूजन करते हैं.

धन की सुरक्षा

दीवाली वाले दिन सभी सचेत व सतर्क रहा करते थे क्योंकि प्रत्येक के घर में धन के कारण चोरी की आशंका रहती थी. वातावरण में एक रहस्यमयता सी रहती. रात भी घुप अंधेरी ही होती. ऐसे में भारत के इतिहास के अंधेरे युग में, मध्यकाल में अंधी विद्या (काला इल्म) की तूती बोलने लगी.

लालबुझक्कड़ों ने दीवाली के अंधेरे के अतिशयोक्तिपूर्ण माहात्म्य बताए हैं. इसे ग्रहण वाले दिन के समान सख्त दिन बताया गया. मंत्रशास्त्र में मंत्रों को इस रात को एक खास संख्या तक जप कर उन्हें सिद्ध करने के जगहजगह उल्लेख मिलते हैं. तांत्रिकों में दीवाली का बहुत महत्त्व रहा है. वे इस दिन कई तरह के घृण्य एवं जघन्य उपचारों द्वारा मंत्र सिद्ध किया करते थे.

आज दीवाली नए रूप में सामने आती है. आज की अर्थव्यवस्था में दीवाली का महत्त्व तो है, परंतु वह धनात्मक न हो कर ऋणात्मक ज्यादा है. पहले यहां इस दिन धान्य व धन का आगमन हुआ करता था, आज धान्य और धन का बहिर्गमन होता है.

माली और जानी नुकसान

आज दीवाली पूर्ववर्ती सब युगों से ज्यादा खर्चीली और दूरगामी प्रभाव डालने वाली होती जा रही है. अब न तो चावल की आहुतियों पर खर्च होता है, न ही ज्यादा दीपों पर. आज दीवाली के दिन हजारों टन तेल, घी, मैदा, चीनी, सूजी आदि खाद्यपदार्थ तो खप ही जाते हैं, साथसाथ करोड़ों रुपयों के पटाखे छोड़े जाते हैं. कई प्रकार की दुर्घटनाएं होती हैं, जिन से माली के साथसाथ जानी नुकसान भी होते हैं. यही कारण है कि दीवाली के बाद उपभोग्य पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है. कई एक खाद्यान्नों की तो आपूर्ति भी संतोषजनक नहीं होती.

परंपराबद्ध वे लोग, जिन का वेतन निश्चित होता है या जिन की आमदनी थोड़ी होती है, दीवाली वाले दिन चादर से बाहर पैर फैला लेने के कारण बजट का कचूमर निकल जाने की वजह से बाद में काफी समय तक ठिकाने नहीं आते.

दीवाली वृथा व्यय का रूप धारण कर चुकी है. भारत जैसे विकासशील देश के लिए ऐसा वृथा व्यय अभिशाप के समान है. राष्ट्रीय अपव्यय की समस्या के समाधान के लिए उठाए जाने वाले पगों में दीवाली जैसे त्योहारों के स्वरूप को नियंत्रित करना भी अनिवार्य एवं अपरिहार्य मालूम पड़ रहा है.

बदलती समस्याएं और मान्यताएं

समय के परिवर्तन के अनुरूप समस्याएं और मान्यताएं भी परिवर्तित होती हैं. अतीत में चावलों को फूंकना या धन की रक्षा हेतु दीपकों को अधिक संख्या में जलाना, संभव है, समय के लिहाज से कुछ सार्थक हो; लेकिन वर्तमान में दीवाली के नाम पर बेवजह हजारों टन मिठाई, दूध, घी, तेल, खांड, मैदा, सूजी आदि तथा करोड़ों रुपयों के पटाखे इत्यादि बरबाद करना किसी भी हालत में समीचीन नहीं ठहराया जा सकता. हमें इस अपव्यय की समस्या पर, भावुकता त्याग कर, गंभीरतापूर्वक विचार करना ही होगा.

यदि कोई सामाजिक या राजनैतिक नेता किसी शहर में आए तो क्या उस के उस शहर में आ चुकने के महीनों बाद उस के स्वागत में शहर में समारोह आयोजित किया जाता है? चैत्र, वैशाख में अयोध्या पहुंचने वाले राम के स्वागत को उस तिथि से छःसात माह बाद कार्तिक में होने वाले दीवाली नाम के त्योहार से नत्थी करना, असंदिग्ध रूप में, बौद्धिक दीवालिएपन का परिचायक है.

मकर संक्रांति

प्राचीन भारतीय धर्मपुस्तकों, पुराण ग्रंथों और दूसरे साहित्य में इतने व्रत, उत्सव, पर्व और त्योहार वगैरा मिलते हैं कि उन की संख्या कुल मिला कर वर्ष के दिनों–365–से ज्यादा ही बनती होगी. उलटेसीधे तरीके से हर दिन को कोई न कोई व्रत, त्योहार, पर्व या उत्सव बना दिया गया है. इस सिलसिले में बहुत सी ऊटपटांग बातें लिखी गईं और कई अंधविश्वासपूर्ण कथाएं गढ़ी गईं.

परिस्थिति के अनुसार कई पर्वत्योहार नए बनते गए और कई लुप्त होते गए. जीवित त्योहारोंपर्वों में एक प्रसिद्ध त्योहार है–मकर संक्रांति. पंजाब और निकटवर्ती राज्यों में यह त्योहार दो दिवसीय माना जाता है– पहले दिन 'लोहड़ी' और दूसरे दिन माघी.

इसे मकर संक्रांति क्यों कहा जाता है? स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न पैदा होता है. मकर एक राशि है और संक्रांति का अर्थ है–गति. प्राचीन खगोल विज्ञानियों ने सूर्य के मार्ग को बारह भागों में बांटा था. इस मार्ग को उन्होंने 'क्रांति वृत्त' कहा है. ये 12 कल्पित भाग हैं: मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ और मीन. प्रत्येक भाग को राशि कहा गया है. सूर्य के एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश को 'संक्रांति' कहते हैं. जब सूर्य मकर राशि में प्रविष्ट होता है, तब इस संक्रांति को मकर संक्रांति कहते हैं.

आज यद्यपि स्कूल जाने वाला बच्चा भी यह जानता है कि पृथ्वी गतिशील है, न कि सूर्य; फिर भी पूर्वजों के प्रति आदर के नाम पर उन की हर गलत बात को भी पचाते आ रहे हिंदू अंधाधुंध 'मकर संक्रांति' मनाते चले आ रहे हैं, बिना यह सोचे कि उन के आदरणीय पुराने ग्रंथ कहीं विज्ञान के उलट बातें तो नहीं बता रहे. अच्छे पढ़ेलिखे लोग भी गर्वपूर्वक यह कहते सुने जाते हैं कि मकर संक्रांति के दिन सूर्य मकर राशि में प्रवेश करता है. बीसवीं सदी में भी सूर्य द्वारा पृथ्वी के गिर्द चक्कर लगाने की बातें करना बहुत ही अजीब प्रतीत होता है.

पुराने धर्म ग्रंथों और पुराणों में मकर संक्रांति का बहुत महत्त्व बतलाया गया है. ऋषि वशिष्ठ का कहना है:

अह्नि संक्रमणे पुण्यमहः सर्वं प्रकीर्तितम्,
रात्रौ संक्रमणे पुण्यं दिनार्धं स्नानदानयोः.

सूर्य प्रतिमास नई राशि में प्रवेश करता है और 13 व 14 जनवरी को वह मकर राशि में संक्रांति (पदार्पण) करता है. वह दिन मकर संक्रांति कहलाता है. भारत के ज्योतिर्विद, भारतीय ज्योतिष को सही मानने वाले लोग और भारतीय संस्कृति के स्वयंभू ठेकेदार इस अवैज्ञानिक बात में विश्वास करते हुए जरा भी नहीं शरमाते.

इस पर्व के संदर्भ में एक और अज्ञानतापूर्ण विसंगति उल्लेखनीय है. भारतीय ज्योतिष का कहना है कि मकर संक्रांति के दिन सूर्य उत्तरायण में जाता है अर्थात इस दिन से सूर्य प्रतिदिन उत्तर की ओर खिसकता रहता है ('भारतीय ज्योतिष,' पृ. 46). उत्तरायण काल में सूर्य उत्तर की ओर से उदय होता हुआ दिखाई देता है और उस में दिन बढ़ता जाता है और रात्रि घटती जाती है. (पं. भवानीप्रसाद कृत आर्यपर्वपद्धति, पृ. 174).

यह उत्तरायण काल का सिद्धांत अपने में एक विसंगति है. उत्तरायण काल के शुरू होने का समय 13 व 14 जनवरी बताया जाता है. मकर संक्रांति इसी दिन होती है. जब कि असल में उत्तरी गोलार्द्ध में 23 दिसंबर से रात्रि घटनी शुरू हो जाती है. 23 दिसंबर को ही सूर्य की किरणें मकर रेखा पर लंब रूप में पड़ती हैं. अतः 23 दिसंबर को खगोल में होने वाले प्राकृतिक परिवर्तन का 13 व 14 जनवरी को होना बताना न केवल गलत है, अपितु प्राचीन भारतीयों के ग्रहनक्षत्रों संबंधी भ्रांत ज्ञान का द्योतक भी है.

इस वास्तविकता से परिचित विद्वानों को विवश हो कर लिखना पड़ा है, "इस समय मकर संक्रांति से 23 दिन पूर्व धन राशि के 7 अंश 23 कला पर उत्तरायण होता है. परंतु पर्व मकर संक्रांति के दिन ही होता चला आता है. इस से सर्वसाधारण की ज्योतिषशास्त्र-विषयक अनभिज्ञता का परिचय मिलता है." (आर्यपर्वपद्धति, पृ. 174).

विज्ञान विरोधी कल्पना

गत शताब्दी के ज्योतिष के प्रसिद्ध इतिहासकार शंकर बालकृष्ण दीक्षित का कहना है, "जिस दिन से दिनरात घटने या बढ़ने लगता है, वस्तुतः उसी दिन से क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन आरंभ होता है और यह बात आकाश में भी प्रत्यक्ष दिखाई देने लगती है. पर ऐसा होने पर भी हमारे देश में प्रचलित आजकल के पंचांगों (पत्रा/जंत्री) में अयन प्रवृत्ति उस दिन नहीं लिखी रहती. हमारे पंचांगकार (पत्रों को बनाने वाले) मकर संक्रांति लगभग 22 दिन बाद लिखते हैं. साधारण मनुष्य को शंका होगी कि वास्तविक परिस्थिति के विपरीत ऐसा क्यों किया जाता है?" (भारतीय ज्योतिष, पृ. 533).

इक्कीसवीं सदी के उन्नत वैज्ञानिक युग में प्राचीन भारतीयों के खगोलविषयक अल्पज्ञान का भेरीनाद करने वाले इस पर्व का मनाया जाना बहुत लज्जाजनक है. विज्ञानविरोधी कल्पनाओं पर आधारित पर्वों को मनाते रहने से किसी प्रकार के भले की आशा करना खयालों की दुनिया में रहना है. हां, इन से उन्नति के मार्ग में रोड़ा अवश्य अटकता है.

मनोरंजन के लिए त्योहारों और मेलों का अपना सांस्कृतिक महत्त्व है, लेकिन विचारवान लोगों के मनोरंजन के तौरतरीके अज्ञानतापूर्ण, अवैज्ञानिक मान्यताओं पर आधारित और अंधविश्वासों से सराबोर नहीं होने चाहिए, जैसा कि मकर संक्रांति का हाल है. इस में (क) सूर्य को चलताफिरता और जमीन को खड़ी माना जाता है, (ख) इस के साथ तिलों को पागलपन की हद तक जोड़ दिया गया है, यहां तक कि गोबर और गोमूत्र में तिल मिला कर खाने की बातें कही गई हैं, (ग) यह पर्व उस प्राकृतिक परिवर्तन के घटित होने के 22-23 दिन बाद मनाया जाता है, जिस के शुरू होने के उपलक्ष्य में इस के मनाए जाने की बात कही जाती है.

जब प्रत्यक्ष बातें ही सही नहीं उतर रहीं तब उन ग्रंथों में चिकनीचुपड़ी भाषा में पुण्य संबंधी दिखाए गए सब्जबागों की यथार्थता पर तो विश्वास का कोई आधार ही नहीं रह जाता. यदि पल भर के लिए उन्हें सही मान भी लें, फिर भी 'मकर संक्रांति' के दिन किए जाने वाले 'धार्मिक कृत्यों' का पुण्य मिलना असंभव है, क्योंकि असल में मकर संक्रांति तो 22-23 दिन पहले हो जाती है!

पंजाब और आसपास के इलाके में मकर संक्रांति का पर्व दो दिन मनाया जाता है. पहले दिन बच्चेबच्चियां 'लोहड़ी' मांगते हैं. यह प्रत्यक्ष रूप में भिक्षा मांगना ही है. सामाजिक कोढ़ को पर्व के रूप में प्रस्तुत करना भिक्षावृत्ति को आश्रय देना है. खुशी व मनोरंजन के लिए कल्पित किए गए पर्व के दिन भिक्षा मांगना, लोगों के आगे हाथ फैलाना उसी तरह की बात है जैसी कि दीवाली के दिन जुआ खेलना या विवाह के अवसर पर स्त्रियों द्वारा बरातियों को गंदी गालियां (= सिठनी) देना.

इतनी असंगतियों और विसंगतियों से दूषित पर्व का पुराणों में गाया माहात्म्य तब तक प्रमत्त प्रलाप से ज्यादा महत्त्व का नहीं, तब तक इसे उक्त दोषों से मुक्त कर के एक स्वस्थ त्योहार का रूप नहीं दिया जाता.

अश्वमेध यज्ञ करने के कई तरह के फल बताए गए हैं. यथाः

सर्वान् कामानाप्स्यन् सर्वा विजितीर्विजिगीषमाणः
सर्वा व्युष्टीर्व्यशिष्यन्नश्वमेधेन यजेत

–आश्वलायन 10/6/1

अर्थात सभी पदार्थों के इच्छुकों, सभी विजयों के अभिलाषियों तथा अतुल समृद्धि के आकांक्षियों को अश्वमेध करना चाहिए.

अनुपातकिनस्त्वेते महापातकिनो यथा, अश्वमेधेन शुध्यंति

–विष्णुस्मृति 36/8

अर्थात छोटे और बड़े–सब प्रकार के पापी अश्वमेध से शुद्ध हो जाते हैं.

तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते

–तैत्तिरीय संहिता 5/3/12/2

अर्थात ब्राह्मण की हत्या का पाप अश्वमेध करने से दूर हो जाता है.

शतपथ ब्राह्मण (13/1/9/9) का कहना है कि अश्वमेध करने से वीर पुत्र उत्पन्न होता है.

इन में विश्वशांति की स्थापना की तो कहीं गंध भी नहीं. पता नहीं हैदराबाद में विश्वशांति के लिए अश्वमेध कर के 'नरक में ले जाने वाला शास्त्रविरुद्ध आचरण' क्यों किया गया?

यज्ञ विधि की रूपरेखा

प्राचीन ग्रंथों में अश्वमेध का जो विस्तृत विधिविधान मिलता है, वह संक्षेप में इस प्रकार हैः होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं उद्‌गाता नामक चार पुरोहितों में से प्रत्येक को एकएक हजार गौएं दी जाती हैं और साथ ही एक सौ गुंजा भर कर एक स्वर्ण खंड भेंट किया जाता है. (कात्यायन 20/1/4-6).

फिर चारों पुरोहित अश्व पर जल छिड़क कर चारों दिशाओं में खड़े रहते हैं. उन के साथ एक सौ राजकुमार, एक सौ उग्र (जो राजा नहीं होते), सूत (सारथी का काम करने वाली एक वर्णसंकर जाति), ग्राम मुखिया, क्षत्र (एक वर्णसंकर जाति) एवं संग्रहीता होते हैं.

चार आंखों वाला एक कुत्ता (दो प्राकृतिक आंखें और दो आंखों के पास बने गड्ढे) आयोगव नामक वर्णसंकर जाति के एक व्यक्ति द्वारा या सिधक काष्ठ से बने मूसल से किसी विषयासक्त व्यक्ति द्वारा मारा जाता है.

तब घोड़े को पानी में ले जाया जाता है जहां उस के पेट के नीचे कुत्ते का शव रस्सी से बांध कर तैराया जाता है (आपस्तंब 20/3/6-13, कात्यायन 22/1/38), सत्याषाढश्रौतसूत्र 14/1/30-34). अश्व के आगेआगे एक बकरा ले जाया जाता है. (ऋग्वेद 1/162/2-3).

अग्नि में आहुतियां डाल कर घोड़े को स्वतंत्र रूप से घूमने के लिए छोड़ दिया जाता. उस के साथ चार सौ रक्षक होते हैं. (यजुर्वेद 22/19). एक साल तक घोड़ा ऐसे ही घूमता रहता. जिस किसी राजा के क्षेत्र में घोड़ा प्रवेश करता, वह क्षेत्र घोड़ा छोड़ने वाले राजा का हो जाता, यदि उस क्षेत्र का राजा उस का विरोध न करता.

विरोध करने पर युद्ध होता. यदि घोड़ा छोड़ने वाला युद्ध में हार जाए तो यज्ञ नष्ट हो जाता है. तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/8/9) का कहना है:

परा वा एष सिच्यते योऽबलोऽश्वमेधेन यजते.
यदमित्रा अश्वं विन्देरन् हन्येतास्य यज्ञः.

अर्थात जब अबल व्यक्ति अश्वमेध करता है तो वह फेंक दिया जाता है अर्थात हरा दिया जाता है. यदि शत्रु अश्व को पकड़ ले तो यज्ञ नष्ट हो जाता है.

वर्ष के अंत में घोड़ा वापस अश्वशाला में लाया जाता और 21 स्तंभ (यूप) खड़े किए जाते, जिन से बहुत से बलिपशु बांधे जाते. सूअर जैसे बनैले पशु और पक्षी भी काटे जाते. (आपस्तम्ब 20/14/2). कुछ पक्षी अग्नि की प्रदक्षिणा करा कर छोड़ भी दिए जाते.

अन्य अनेक कृत्यों के बाद घोड़े को मारा जाता. पटरानी मृत अश्व से संभोग करती. इस अप्राकृतिक मैथुन का विस्तृत वर्णन यजुर्वेद के 23वें अध्याय में उवट और महीधर के भाष्यों में उपलब्ध होता है. यह संभोग प्रक्रिया नितांत वितृष्णा पैदा करती है और उस का वर्णन भी संभव नहीं है.

हैदराबाद में हुए अश्वमेध में पता नहीं किस की पत्नी ने यह भूमिका निभाई!

फिर पुरोहित कुमारियों से इतना घृणित अश्लील वार्त्तालाप करते हैं जिसे कोई सभ्य व्यक्ति पढ़ भी नहीं सकता.

यजुर्वेद (उवट एवं महीधर के भाष्य) के 23 वें अध्याय में 10 पद्यों में यह वार्तालाप वर्णित है. हम यहां स्वामी दयानंद सरस्वती की पुस्तक ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका से कुछ मंत्रों के महीधरोक्त अर्थ हिंदी अनुवाद सहित अविकल उद्धृत करना चाहेंगे :

1. गणानां त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम. आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्
–यजु. 23/19

भाष्यम्–अस्य मंत्रस्य व्याख्याने तेनोक्तम्–'अस्मिन्मंत्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति. तद्यथा महिषी यजमानस्य पत्नी यज्ञशालायां पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते. शयाना सत्याह–हे अश्व! गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः, अहम् आ अजानि आकृष्य क्षिपामि. त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि'

भाषार्थः (गणानां त्वा.) इस मंत्र में महीधर ने कहा है कि–गणपति शब्द से घोड़े

का ग्रहण है. सो देखो महीधर का... अर्थ कि 'सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे, और सोती हुई घोड़े से कहे कि–हे अश्व! जिस से गर्भ धारण होता है, ऐसा जो तेरा वीर्य है, उस को मैं खींच के अपनी योनि में डालूं, तथा तू उस वीर्य को मुझ में स्थापन करने वाला है'

–स्वामी दयानंद सरस्वतीकृत ऋग्वेदभाष्यम्, सं. युधिष्ठिर मीमांसक, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. 374

2. ताऽउभौ चतुरः पदः संप्रसारयाव स्वर्गे लोके
प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु

–यजुर्वेद 23/20

महीधरस्यार्थः–'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति. महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति'..2..

भाषार्थ–महीधर का अर्थ–'यजमान की स्त्री घोड़े के लिंग को पकड़ पर आप ही अपनी योनि में डाल देवे ..2.. वही, पृ. 378.

3. यकासकौ शकुन्तिकाहलगिति वञ्चति.
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका

–यजुर्वेद 23/22

महीधरो वदति–'अध्वर्य्वादयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं सवदन्ते. अङ्गुल्या योनिं प्रदेशयन्नाह–स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः. (गभे) भगे योनौ शकुनिसदृश्यां यदा पसो लिंगमाहन्ति आगच्छति, (पसः) पुंस्प्रजननस्य नाम, हन्तिर्गत्यर्थः. यदा भगे शिश्नमागच्छति, तदा (धारका) धरति लिंगमिति धारका योनिः (निगल्गलीति) नितरां गलति वीर्यं क्षरति, यद्वा शब्दानुकरणं गग्गलेति शब्दं करोति'

4. यकोऽसकौ

–यजुर्वेद 23/23

'कुमारी अध्वर्य्युं प्रत्याह. अङ्गुल्या लिंग प्रदेशयन्त्याह–अग्रभागे सच्छिद्रं लिंगं तव मुखमिव भासते'

भाषार्थ–महीधर का अर्थ–'यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उपहासपूर्वक संवाद करते हैं. इस प्रकार से कि अंगुली से योनि को दिखला के हंसते हैं. (आहलगिति.) जब स्त्री लोग जल्दीजल्दी चलती हैं, तब उन की योनि में हलहला शब्द, और जब भग लिंग का संयोग होता है, तब भी हलहला शब्द होता है, और योनि और लिंग से वीर्य झरता है.'

(यकोऽसकौ.) **'कुमारी अध्वर्यु का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिंग का अग्रभाग है, सो तेरे मुख के समान दिखाई पड़ता है.'**

–वही. पृ. 379

5. माता च ते पिता च तेग्रं वृक्षस्य रोहतः.
प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत्

–यजुर्वेद 23/24

महीधरस्यार्थ–'ब्रह्मा महिषीमाह–महिषि हये हये महिषि! ते तव माता च पुनस्ते तव पिता यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः, तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिंगमतंसयत् तंसयति प्रक्षिपति. एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम्. लिंगमुत्थानेनालङ्करोति, वा तव भोगेन स्निह्यामीति वदन्नेवं तवोत्पत्तिः'

भाषार्थ–महीधर का अर्थ–'अब ब्रह्मा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि–जब तेरे माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़ के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिंग को तेरी माता के भग में डाल दिया, तब तेरी उत्पत्ति हुई. उस ने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है, इस से दोनों की उत्पत्ति तुल्य है' वही, पृ. 380.

6. ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय गिरौ भारं हरन्निव.
अथास्यै मध्यमेधतांशीते वाते पुनन्निव

–यजुर्वेद 23/26

महीधरभाष्य–'यथा अस्यै अस्या वावाताया मध्यमेधतां योनिप्रदेशो वृद्धिं यायात्, यथा योनिर्विशाला भवति, तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः. दृष्टान्तान्तरमाह–यथा शीतले वायौ वाति पुनन् धान्यपवनं कुर्वाणः कृषीवलो धान्यपात्रं ऊर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः'

7. यदस्याऽअंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्.
मुष्काविदस्याऽएजतो शोशफे शकुलाविव

–यजुर्वेद 23/28

'यत् यदा अस्याः परिवृक्तायाः कृधु ह्रस्वं स्थूलं च शिश्नमुपातसत् उपगच्छत् योनिं प्रति गच्छेत्, तंसं उपक्षये, तदा मुष्कौ वृषणौ इत एव अस्याः योनेरुपरि एजतः कम्पेते. लिंगस्य स्थूलत्वाद् योनेरल्पत्वाद् वृषणौ बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः. तत्र दृष्टांतः–गोशफे जलपूर्णे गोखुरे शकुलौ मत्स्याविव, यथा उदकपूर्णे गोः पदे मत्स्यौ कम्पेते'

भाषार्थ–महीधर का अर्थ–'पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खींच के बढ़ा लेवें. (यदस्याअंहु.) परिवृक्ता अर्थात जिस स्त्री का वीर्य निकल जाता है, जब छोटा व बड़ा लिंग उस की योनि में डाला जाता है, तब योनि के ऊपर दोनों अंडकोष नाचा करते हैं, क्योंकि योनि छोटी और लिंग बड़ा होता है. इस में महीधर दृष्टांत देता है कि–जैसे गाय के खुर के बने हुए गढ़े के जल में दो मच्छी नाचें, तथा जैसे खेती करने वाला मनुष्य अन्न और भुस अलगअलग करने के लिए चलते वायु में एक पात्र में भर के ऊपर को उठा के कंपाया करता है, वैसे ही योनि के ऊपर अंडकोष नाचा करते हैं' (6-7) वही, पृ. 381-82

8. यद्देवासो ललामगुं प्र विष्टीमिनयाविषुः.
सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा

–यजुर्वेद 23/29

महीधरस्यार्थः–'(यत्) यदा (देवासः) देवाः दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवाः होत्रादयः ऋत्विजो (ललामगुं) लिंगं (प्र आविशुः) योनौ प्रवेशयन्ति. ललामेति सुखनाम, ललामं सुखं गच्छति प्राप्नोति ललामगुः शिश्नः, यद्वा ललामं पुण्ड्रं गच्छति ललामगुः लिंगम्, योनिं प्रविशदुत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः. कीदृशं ललामगुं (विष्टीमिनं) शिश्नस्य योनिप्रदेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः. यदा देवाः शिश्नक्रीडिनो भवन्ति, ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति, तदा (नारी) (सक्थ्ना) ऊरुणा ऊरुभ्यां (देदिश्यते) निर्दिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते. भोगसमये सर्वस्य नार्य्यंगस्य नरेण व्याप्तत्वादूरुमात्रं लक्ष्यते. इयं नारीतीत्यर्थः'

भाषार्थ–महीधर का अर्थ–'(यद्देवासो.) जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज लोग ऐसा हंसते और अंडकोष नाचा करते हैं, तब तक घोड़े का लिंग महिषी की योनि में काम करता है, और उन ऋत्वजों के भी लिंग स्त्रियों की योनि में प्रवेश करते हैं. और जब लिंग खड़ा होता है, तब कमल के समान हो जाता है. जब स्त्रीपुरुष का समागम होता है, तब पुरुष ऊपर और स्त्री के नीचे होने से थक जाती है'. वही, पृ. 383

9. यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते.
शूद्रा यदर्य्यजारा न पोषाय धनायति

–यजुर्वेद 23/30

10. यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते.
शूद्रो यदर्य्यायै जारो न पोषमनु मन्यते

–यजुर्वेद 23/31

महीधरस्यार्थः–'क्षत्ता पालागलीमाह–शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री, यदा अर्य्यजारा भवति, वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति, तदा शूद्रः पोषाय न धनायते पुष्टिं च इच्छति, म र्य्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते, किंतु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः.

(यद्धरिणो.) पालागली क्षत्तारमाह–यत् यदा शूद्र अर्य्यायै अर्य्याया वैश्याया जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते, मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते, किंतु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः

भाषार्थ–महीधर का अर्थ–'(यद्धरिणो.) क्षत्ता सेवकपुरुष शूद्रदासी से कहता है कि जब शूद्र की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है, तब वह इस बात को तो नहीं विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ व्यभिचार कराने से पुष्ट हो गई. किंतु वह इस बात को विचार के दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी हो गई.

(यद्धरिणो.) अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि–जब शूद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्यभिचार कर लेता है, तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि

मेरी स्त्री पुष्ट हो गई, किंतु नीच ने समागम कर लिया, इस बात को विचार के कलेश मानता है..9-10.. वही, पृ. 384

11. उत्सक्थ्याऽअव गुदंधेहि समञ्जि चारया वृषन्.
य स्त्रीणां जीवभोजनः.

–यजुर्वेद 23/21

महीधरस्यार्थः–'यजमानोऽश्वमभिमन्त्रयते. हे वृषन्! सेक्तः अश्व! उत् ऊर्ध्वे सक्थिनो ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या गुदमव गुदोपरि रेतो धेहि वीर्यं धारय. कथम्? तदाह अञ्जि लिंगं सञ्चारय योनौ प्रवेशय. योऽञ्जिः स्त्रीणां जीवभोजनः. यस्मिन् लिंगे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय'.

भाषार्थ–(उत्सक्थ्या.) इस मंत्र पर महीधर ने टीका की है कि–'यजमान घोड़े से कहता है, हे वीर्य के सेचन करने वाले अश्व! तू मेरी स्त्री के जंघा ऊपर को कर के उस की गुदा के ऊपर वीर्य डाल दे, अर्थात उस की योनि में लिंग चला दे. वह लिंग किस प्रकार का है, कि जिस समय योनि में जाता है, उस समय उसी लिंग से स्त्रियों का जीवन होता है, और उसी से वे भोग को प्राप्त होती हैं. इस से तू उस लिंग को मेरी स्त्री की योनि में डाल दे.'.. वही, पृ. 385

हैदराबाद में हुए अश्वमेध में पता नहीं कुमारियां कहां से आईं या लाई गईं और धर्म के नाम पर मौखिक कामतृप्ति का निर्विघ्न जश्न किन पुरोहितों ने मनाया.

फिर पटरानी दूसरी रानियों के साथ घोड़े के टुकड़े करती है. अश्व को काटने से पहले 'ऐतरेय ब्राह्मण' में कही विधि के अनुसार उस के शरीर पर चिह्न लगा लेते थे ताकि उसी रूप में टुकड़े बनें. उन से ज्यादा या भिन्न प्रकार के टुकड़े न बनने देने की छेदक को बारबार चेतावनी दी जाती थी, जैसे आज भी मुर्गा कटवाने वाले काटने वाले को देते हैं.

ऊष्मण्यापिधाना चरूणामंकाः सूनाः परिभूषयन्त्यश्वम्.

–ऋग्वेद 1/162/13

घोड़े के अंग काटने का नियम

अर्थात जिस वेतस शाखा से अश्व के अंग चिह्नित किए जाते हैं और जिस छुरी से चिह्नानुसार अंग काटे जाते हैं, वे सब अश्व का मांस प्रस्तुत करते हैं.

ऋग्वेद के अति प्राचीन व्याख्या ग्रंथ 'ऐतरेय ब्राह्मण' में विस्तार से बताया गया है कि यज्ञ में पशु के किसकिस अंग को किस क्रम से काटना चाहिए और कुल कितने टुकड़े करने चाहिए:

उदीचीनां अस्य पदो निधत्तात्सूर्यं चक्षुर्गमयताद् वातं प्राणमन्ववसृजतादन्तरिक्षमसुं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमित्येष्वेवैनं तल्लोकेष्वादधाति इति. एकधाऽस्य त्वचमाच्छ्यतात् पुरा नाभ्या अपि शसो

वपामुत्खिदतादन्तरेवोष्माणं वारयध्वादिति पशुष्वेव तत् प्राणान्दधाति इति. श्येनमस्य वक्षः कृणुतात् प्रशसा बाहू शला दोषणी कश्यपेवांसाऽच्छिद्रे श्रोणी कवषोरू स्रेकपर्णाऽष्ठीवन्ता षड्विंशतिरस्य वङ्क्रयस्ता अनुष्ठ्योच्च्यावयताद् गात्रं गात्रमस्यानूनं कृणुताद् इति अंगान्येवास्य तद् गात्राणि प्रीणाति इति. ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतादिति...अस्ना रक्षः संसृजतादिति.

–ऐतरेय ब्राह्मण 6/6–7

अर्थात पशु के पैर उत्तर दिशा की ओर मोड़ो. इस की आंखें सूर्य को, श्वास वायु को, जीवन अंतरिक्ष को, श्रवण शक्ति दिशाओं को और शरीर पृथ्वी को सौंप दो. इस प्रकार पुरोहित (होता) पशु को दूसरे लोकों से जोड़ देता है. इस की सारी चमड़ी बिना काटे उतार लो. नाभि को काटने से पहले आंतों के ऊपर की झिल्ली की तह को चीर डालो. इस प्रकार वह पुरोहित पशुओं में श्वास डालता है. इस की छाती का बाज की शक्ल का एक टुकड़ा, अगले बाजुओं के कुल्हाड़ी की शक्ल के दो टुकड़े, अगले पांव के धान की बालियों की शक्ल के दो टुकड़े, कमर के नीचे का अटूट हिस्सा, ढाल की शक्ल के जांघ के दो टुकड़े, पत्तों की शक्ल के दोनों घुटनों के दो टुकड़े और 26 पसलियां–सब क्रमशः निकाल लिए जाएं. इस के प्रत्येक अंग को सुरखित रखा जाए. इस प्रकार वह इस के सारे अंगों को लाभ पहुंचाता है. इस का गोबर छिपाने के लिए जमीन में एक गड्ढा खोदें. प्रेतात्माओं को रक्त दें.

मांस का बंटवारा

इस के अनंतर वही ब्राह्मण ग्रंथ बलि चढ़ाए गए पशु के अंगों के बंटवारे का विधान बताते हुए कहता है:

अथातः पशोर्विभक्तिस्तस्य विभागं वक्ष्याम इति. हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः श्येनं वक्ष उद्गातुः कण्ठः काकुद्रः प्रतिहर्तुर्दक्षिणा श्रोणिर्होतुः सव्या ब्रह्मणो दक्षिणं सक्थि मैत्रावरुणस्य सव्यं ब्राह्मणाच्छंसिनो दक्षिणं पार्श्वं सांसमध्वर्योः सव्यमुपगातॄणां सव्योंऽसः प्रतिप्रस्थातुर्दक्षिणं दोर्नेष्टुः सव्यं पोतुर्दक्षिण ऊरूरच्छावाकस्य सव्य आग्नीध्रस्य दक्षिणो बाहुरात्रेयस्य सव्यः सदस्यस्य सदं चानूकं च गृहपतेर्दक्षिणौ पादौ गृहपतेर्व्रतप्रदस्य सव्यौ पादौ गृहपतेर्भार्यायै व्रतप्रदस्यौष्ठ एनयोः साधारणो भवति तं गृहपतिरेव प्रशिंष्याज्जाघनीं पत्नीभ्यो हरन्ति तां ब्राह्मणाय दद्युः स्कन्ध्याश्च मणिकास्तिस्रश्च कीकसा ग्रावस्तुतस्तिस्रश्चैव कीकसा अर्धं च वैकर्तस्योन्नेतुरर्धं चैव वैकर्तस्य क्लोमा च शमितुस्तद्ब्राह्मणाय दद्याद् यद्यब्राह्मणः स्याच्छिरः सुब्रह्मण्यायै यः श्वःसुत्यां प्राह तस्याजिनमिड़ा (ळा) सर्वेषां होतुर्वा इति. ता वा एताः षट्त्रिंशतमेकपदा यज्ञं वहन्ति षट्त्रिंशदक्षरा वै बृहती. बार्हताः स्वर्गा लोकाः प्राणांश्चैव तत्स्वर्गांश्च लोकानाप्नुवन्ति प्राणेषु चैव तत्स्वर्गेषु च लोकेषु प्रतितिष्ठन्तो यन्ति इति.

स एष स्वर्ग्यः पशुर्य एनमेवं विभजन्ति इति. अथ येऽतोन्यथा तद् यथा से-लगा वा पापकृतो वा पशुं विमथ्नीरंस्तादृक्तत् इति. तां वा एतां पशोर्विभक्तिं श्रौत ऋषिर्देवभागो विदांचकार तामु हा प्रोच्यैवास्माल्लोकादुच्चक्रामत् इति. तामु ह गिरिजाय बाभ्रव्यायामनुष्यः प्रोवाच ततो हैनामेतदर्वाङ् मनुष्या अधीयतेऽधीयते इति.

–ऐतरेय ब्राह्मण, अ. 31

अर्थात अब बलि चढ़ाए गए पशु के विभिन्न अंगों के विभिन्न पुरोहितों व अन्य लोगों में बांटे जाने का प्रश्न उपस्थित होता है. हम इस का वर्णन करेंगे. जबड़े की दोनों हड्डियां और जिह्वा प्रस्तोता नामक पुरोहित को दी जानी चाहिए, बाज की शक्ल जैसी छाती उद्गाता को, गला और तालु प्रतिहर्ता को, कमर के नीचे का दाहिनी ओर का हिस्सा होतृ को, बायां हिस्सा ब्रह्मा को, दाईं जांघ मैत्रावरुण को, बाईं ब्राह्मणच्छंसी को, दाहिने कंधे के साथ का हिस्सा अध्वर्यु को, बाएं कंधे के साथ का हिस्सा मंत्रोच्चारण में साथ देने वाले उपगाताओं को, बायां कंधा प्रतिप्रस्थाता को, दाएं बाजू का निचला हिस्सा नेष्टा को और बाएं बाजू का निचला हिस्सा पोता (पोतृ) को दिया जाना चाहिए. इसी तरह दाहिनी जांघ के ऊपर का हिस्सा अच्छावाक को, बाईं जांघ के ओर का हिस्सा आग्नीध्र को, दाएं बाजू के ऊपर का हिस्सा आत्रेय को, दाएं बाजू के ऊपर का हिस्सा सदस्य को, पीछे की हड्डी और अंडकोष यज्ञकर्ता गृहस्थ को, दायां पांव भोजन देने वाले गृहपति को, बायां पांव भोजन देने वाले गृहपति की पत्नी को, ऊपर का होंठ गृहपति और उस की पत्नी को आधाआधा दे. पशु की पूंछ पत्नियों को दे और वे उसे किसी ब्राह्मण को दे दें. गरदन पर के माणिक व तीन कीकस ग्रावस्तुत को, तीनों कीकस और पीठ के मांसल हिस्से का आधा भाग (वैकर्त) उन्नेता को, गरदन पर के मांसल हिस्से (क्लोम) का आधा और बाएं कान का कुछ भाग वध करने वाले को दिया जाए. यदि वध करने वाला स्वयं ब्राह्मण न हो तो वह हिस्सा वह किसी ब्राह्मण को दे दे. सिर सुब्रह्मण्य को दिया जाए. आग्नीध्र को चमड़ा दिया जाए. इड़ा भाग सब का साझा है या केवल होता को दिया जाए. इस तरह पशु के 36 टुकड़े किए जाते हैं. ये टुकड़े यज्ञ को संपूर्ण करते हैं. यह मांस विभाजन यज्ञकर्ता को स्वर्ग में पहुंचाता है. जो इस तरह से नहीं करते वे बुरे आचार वाले और पापी हैं. बलि के पशु का यह विभाजन श्रुत के पुत्र देवभाग का आविष्कार है. जब वह इस जीवन से जा रहा था तो उस ने यह रहस्य किसी को नहीं बताया. किंतु किसी अलौकिक देवदूत ने बभ्रु के पुत्र गिरिजा को यह सब समाचार बता दिया. तब से मनुष्य इसे उस से सीखते हैं.

अश्व को काटते समय छेदक (पुरोहित अथवा कसाई) के हाथों, नखों में जो मांस लगा रहता था, उसे देवों को अर्पण कर दिया जाता था. कुछ मांस रांधा जाता था और कुछ शूल पर भूना जाता था. पास के लोग उस की गंध की प्रशंसा किया करते थे.

इस विषय में ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र पढ़ने योग्य हैं:

एष छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णे भागो नीयते विश्वदेव्यः.
अभिप्रियं यत् पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति.

–ऋग्वेद 1/162–3

अर्थात सब देवों के लिए उपयुक्त बकरा शीघ्रगामी अश्व के साथ सामने लाया जाता है. त्वष्टा देवता के सुंदर भोजन के लिए अश्व के साथ इस बकरे से सुखाद्य पुरोडाश (केक) तैयार किया जाए.

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति,
यद् हस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु.

–ऋग्वेद 1/162/9

अर्थात अश्व का जो कच्चा मांस मक्खी खाती है, जो काटने या साफ करने के समय हथियार में लग जाता है और जो छेदक के हाथों तथा नखों में लग जाता है, वह सब देवों के पास जाए. यानी मक्खी द्वारा खाए गए या नखों में थोड़ाबहुत फंसे मांस से भी पुण्य का विनिमय करने से नहीं भूले.

वदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति,
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधं शृतपाकं पचन्तु.

–ऋग्वेद 1/162/10

देवताओं के नाम

अर्थात पेट के अंदर का जो अनपचा हिस्सा बाहर हो जाता है और अपक्व मांस का जो लेशमात्र रहता है, उसे छेदक निर्दोष करे और पवित्र मांस देवों के लिए उपयोगी कर के पकाए.

यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभिशूलं निहतस्यावधावति,
मा तद् भूम्यामा श्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु.

–ऋग्वेद 1/162/11

अर्थात अश्व, आग में पकाते समय तुम्हारे शरीर से जो रस निकलता है और जो अंश मूल में आबद्ध रहता है (भूनने के लिए), वह मिट्टी में गिर कर तिनकों में न मिल जाए. देवता लोग लालायित हुए हैं, उन्हें सारा हविः, सारा मांस, प्रदान किया जाए.

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं ये ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति,
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु.

–ऋग्वेद 1/162/12

अर्थात जो लोग चारों ओर से अश्व का पकना देखते हैं, जो कहते हैं कि गंध मनोहर है, देवों को दो, तथा जो मांस की भिक्षा की आशा करते हैं, उन का संकल्प हमारा ही हो.

इस तरह घोड़े को काट, पका और पचा कर भी यह कहा जाता था कि घोड़ा मरा नहीं, वह सीधा स्वर्ग में देवों के पास गया है :

न वा उ एतन् म्रियसे न रिष्यसि देवां इदेषि पथिभिः सुगेभिः

–ऋग्वेद 1/162/21

अर्थात अश्व, तुम न तो मरते हो और न संसार तुम्हारी हिंसा करता है.

सब कुछ समाप्त कर के घोड़े से अर्थात अश्वमेध से धन, पुत्र की और शारीरिक बल की कामना की जाती है:

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्रान् उत विश्वापुषं रयिम्,
अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वा वनतां हविष्मान्

–ऋग्वेद 1/162/22

अर्थात यह अश्व हमें गौ और अश्व से युक्त तथा संसार रक्षक धन प्रदान करे. हमें पुत्र प्रदान करे. तेजस्वी अश्व हमें पाप से बचाओ. आहुति का पदार्थ बने अश्व, हमें शारीरिक बल प्रदान करो.

इस यज्ञ में बहुत से दान की व्यवस्था है, प्रथम एवं अंतिम दिन एक हजार गौएं तथा दूसरे दिन राज्य के किसी एक जिले में रहने वाले सभी अब्राह्मणों की संपत्ति दान में दिए जाने का विधान है. जीते हुए देश के पूर्वी भाग की संपत्ति 'होता' को, उत्तरी भाग की उद्गाता को, पश्चिमी भाग की अध्वर्यु को तथा दक्षिणी भाग की ब्रह्मा एवं उन के सहायकों को देने का विधान है. यदि इतना दान संभव न हो तो चार प्रमुख पुरोहितों को 48,000 गौएं, प्रधान पुरोहितों के तीनतीन सहायकों को 24,000, 12,000 तथा 6,000 गौएं दी जाएं. (देखें धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द 1, पृ. 569).

वाल्मीकीय रामायण में दशरथ द्वारा किए गए अश्वमेध का वर्णन मिलता है. बालकांड में आता है कि उस ने यह यज्ञ पुत्रोत्पत्ति की लालसा से किया था. एक साल तक घोड़े को घुमाने के बाद उसे लौटाया गया और सरयू नदी के किनारे यज्ञ प्रारंभ हुआः

अथ संवत्सरे पूर्णे तस्मिन् प्राप्ते तुरंगमे.
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत
ऋष्यश्रृंग पुरस्कृत्य कर्म चक्रुर्द्विजर्षभाः.
अश्वमेधे महायज्ञे राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः
नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तदुद्दिश्य दैवतम्.
उरगा पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः
शामित्रे तु हयस्तत्र तथा जलचराश्च ये.
ऋषिभिः सर्वमेवैतन्नियुक्तं शास्त्रतस्तदा
पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा.

अश्वरत्नोत्तमं तत्र राज्ञो दशरथस्य ह
कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः.
कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा
पतत्रिणा तथा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा.
अवसद् रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया
होताध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन समयोजयन्.
महिष्या परिवृत्त्याथ वावातामपरां तथा
पतत्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः.
ऋत्विक्परमसम्पन्नः श्रपयामास शास्त्रतः
धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः.
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः
हयस्य यानि चांगानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः.
अग्नौ प्राप्स्यन्ति विधिवत् समस्ताः षोडशर्त्विजः

–बालकांड, सर्ग 14/1–2,30–38

अर्थात तत्पश्चात एक वर्ष पूरा होने पर घोड़ा लौट आया और सरयू नदी के उत्तरी तीर पर राजा का यज्ञ प्रारंभ हुआ (1) बड़े महात्मा इस राजा (दशरथ) के अश्वमेध नामक महायज्ञ में श्रेष्ठ ब्राह्मणगण ऋष्यश्रृंग को अपना मुखिया बना कर यज्ञ संबंधी कर्म करने लगे. (2). पशुओं, पक्षियों और सर्पों को, जिन्हें रखने की आज्ञा शास्त्र देता है, उन के अधिष्ठाता देवताओं के नाम पर, वहां रखा गया (30). ऋषियों ने यज्ञ में वध करने के लिए घोड़े तथा जलचर प्राणियों को यूपों में बांधा (31). उस यज्ञ में तीन सौ पशु यूपों से बांधे गए. राजा दशरथ का वह श्रेष्ठ घोड़ा (जो पृथ्वी पर सर्वत्र घूम कर आया था) भी बांधा गया (32). कौसल्या ने बड़ी खुशी के साथ उस घोड़े की चारों ओर से प्रदक्षिणा कर के उसे तलवार के तीन वारों से मार डाला (33). कौसल्या ने उस वध किए हुए घोड़े के पास सावधानचित्त हो कर धर्म की कामना से एक रात निवास किया (34). तदनंतर होता, अध्वर्यु और उद्गाता ने महिषी, (महिषी उस रानी की संज्ञा है जिस का राजा के साथ राज्याभिषेक किया गया हो) परिवृत्ति, (राजा की शूद्र जाति की पत्नी) तथा वावाता (राजा की वैश्य जाति की पत्नी) इन तीन श्रेणी की रानियों को उस घोड़े से मिलाया (35). जितेंद्रिय तथा श्रौत कर्म में कुशल ऋत्विक (पुरोहित) ने उस घोड़े की चरबी निकाली और शास्त्रानुसार उसे पकाया (36). राजा दशरथ ने हवन की हुई उस चरबी की गंध उचित समय पर विधान के अनुसार सूंघी जिस से उस के पाप दूर हो गए (37). सोलह ऋत्विक ब्राह्मणों ने मिल कर उस घोड़े के जितने अंग थे, उन सभी को अग्नि में हवन किया (38).

महाभारत और अश्वमेध

महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में भी अश्वमेध का विस्तृत वर्णन है. व्यास के

यह कहने पर कि अश्वमेध से व्यक्ति के सारे पाप धुल जाते हैं, युधिष्ठिर ने महाभारत युद्ध में पांडवों द्वारा किए विशाल नरसंहार से उत्पन्न पापों को धोने के लिए यह यज्ञ किया था. उस में तीन सौ पशुओं की बलि दी गई और घोड़े की चरबी की आहुतियां डाली गईं.

यजस्व वाजिमेधेन विधिवत् दक्षिणावता.
अश्वमेधो हि राजेन्द्र पावनः सर्वपाप्मनाम्,
तेनेष्ट्वा त्वं विपाप्मा वै भविता नात्र संशयः.

–आश्वमेधिकपर्व, 71/15–16

अर्थात व्यास ने कहा, "हे युधिष्ठिर, विधिपूर्वक दक्षिणा देते हुए अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करो. राजेंद्र, अश्वमेध यज्ञ समस्त पापों का नाश कर के यजमान को पवित्र बनाता है. उस का अनुष्ठान कर के तुम पापों से मुक्त हो जाओगे, इस में संशय नहीं."

ततो नियुक्ताः पशवो यथाशास्त्रं मनीषिभिः
तं तं देवं समुद्दिश्य पक्षिणः पशवश्च ये.
ऋषभाः शास्त्रपठितास्तथा जलचराश्च ये,
सर्वांस्तानभ्ययुंजंस्ते तत्राग्निचयकर्मणि.
यूपेषु नियता चासीत् पशूनां त्रिशती तथा,
अश्वरत्नोत्तरा यज्ञे कौन्तेयस्य महात्मनः.

–अश्वमेधिक पर्व. 88/33–35

अर्थात तदनंतर मनीषी पुरुषों ने शास्त्रोक्त विधि के अनुसार पशुओं को नियुक्त किया. भिन्नभिन्न देवताओं के उद्देश्य से पशु, पक्षी, शास्त्रकथित वृषभ (बैल) और जलचर जंतु–इन सब का अग्नि स्थापन कर्म में याजकों (पुरोहितों) ने उपयोग किया. कुंतीनंदन महात्मा युधिष्ठिर के उस यज्ञ में जो यूप खड़े किए गए थे, उन में तीन सौ पशु बांधे गए थे. उन सब में प्रधान वही अश्व रत्न था. (महाभारत, खंड 6, गीता प्रेस, गोरखपुर, हिंदी अनुवाद सहित, पृ. 6290).

श्रपयित्वा पशूनन्यान् विधिवद् द्विजसत्तमाः
तं तुरंगं यथाशास्त्रमालभन्त द्विजातयः
ततः संश्रप्य तुरंगं विधिवद् याजकास्तदा.
उपसंवेशयन् राजंस्ततस्तां द्रुपदात्मजाम्
उद्धृत्य तु वपां तस्य यथाशास्त्रं द्विजातयः
श्रपयामासुरव्यग्रा विधिवद् भरतर्षभ.
तं वपाधूमगन्धं तु धर्मराजः सहानुजैः
उपाजिघ्रद् यथाशास्त्रं सर्वपापापहं तदा.
शिष्टान्यंगानि यान्यासंस्तस्याश्वस्य नराधिप
तान्यग्नौ जुहुवुर्धीराः समस्ताः षोडशर्त्विजः

–आश्वमेधिक पर्व. 89/1–6

अर्थात उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने अन्यान्य पशुओं का विधिपूर्वक श्रपण (पकाना) कर के उस अश्व का भी शास्त्रीय विधि के अनुसार आलभन (हनन, कतल) किया (1). राजन, तत्पश्चात याजकों ने विधिपूर्वक अश्व का श्रपण कर के (उसे पका कर) उस के समीप द्रौपदी को शास्त्रोक्त विधि के अनुसार बैठाया (2). भरतश्रेष्ठ, इस के बाद ब्राह्मणों ने शांतचित्त हो कर उस अश्व की चरबी निकाली और उस का विधिपूर्वक श्रपण करना आरंभ किया (3). भाइयों सहित धर्मराज युधिष्ठिर ने शास्त्र की आज्ञा के अनुसार उस चरबी के धूम की गंध सूंघी, जो समस्त पापों का नाश करने वाली थी (4). नरेश्वर, उस अश्व के जो शेष अंग थे, उन को धीर स्वभाव वाले समस्त सोलह ऋत्विजों (पुरोहितों) ने अग्नि में होम कर दिया (5). (महाभारत, षष्ठ खंड, गीता प्रेस, गोरखपुर, हिंदी अनुवाद सहित, पृ. 6290-91).

स्पष्ट है कि अश्वमेध में बड़े पैमाने पर हत्याकांड का विधान है. अतः कई लोग आज इस से शर्मसार हो कर प्राचीन भारतीय संस्कृति और हिंदू धर्म ग्रंथों पर परदा डालने के लिए कई तरह के हथकंडे अपनाते हैं, जिन में चार तरह के हथकंडे प्रमुख हैं.

पहला है वाममार्गियों के सिर दोष मढ़ना. कहा जाता है कि वाममार्गियों ने हमारे ग्रंथों में इस तरह की गलत चीजें घुसेड़ दीं.

यह बात बिलकुल बचकाना प्रयास है. मुद्रण यंत्रों के आविष्कार से पूर्व वाममार्गी लोग उस प्रति में तो अपनी बातें घुसेड़ सकते थे जो उन के पास थी, लेकिन हिंदुओं के घरों व मठों में सुरक्षित पोथों में वे अपनी बातें कैसे घुसेड़ सकते थे?

आज जितनी प्रतियां मिलती हैं, उन सब में ये बातें हैं. क्या सब की सब प्रतियां वाममार्गियों के ही पास थीं? तब बाकी हिंदू क्या करते थे? उन के पास अपनी पुस्तकों की क्या एक भी प्रति न थी?

दूसरे, शताब्दियों तक किसी हिंदू विद्वान, धर्मगुरु अथवा आचार्य ने ऐसी बातों को वाममार्गियों द्वारा घुसेड़ी हुई क्यों नहीं बताया?

प्राचीन समय के बुद्धिवादियों ने समयसमय पर ऐसी बेहूदा प्रथाओं पर हमले किए हैं. सर्वदर्शनसंग्रह (14वीं शताब्दी) में उद्धृत एक श्लोक में कहा गया है:

> अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्,
> भंडैस्तद्वद् परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम्.

अर्थात भांड़ों ने कहा है कि पत्नी को घोड़े का लिंग ग्रहण करना चाहिए. इसी तरह और भी कई कुछ ग्रहण करने योग्य इन्होंने लिखा है.

उस युग में जब ऐसे यज्ञ प्रायः होते रहते थे, बुद्धिवादी लोग ऐसे विधान करने वाले 'ईश्वरीय' वेदों को भांड़ों की वाणी कहते हैं और कोई उन का उत्तर नहीं देता था. तब से अब तक, शताब्दियों में बड़ेबड़े पोथे रचे गए, परंतु इस श्लोक का कोई उत्तर किसी ने नहीं दिया. महीधर ने यजुर्वेद पर भाष्य बाद में लिखा. यदि बुद्धिवादियों का कथन झूठा होता तो वह अपने वेदभाष्य में कोई दूसरी व्याख्या दे सकता था. लेकिन उस ने खुद वही बात लिखी.

सारे हिंदू धार्मिक साहित्य में कहीं भी अश्वमेध की हिंसा, अश्लीलता और बेहूदगी को न तो नकारा गया है और न ही उसे वाममार्गियों की करतूत बताया गया है. अतः आधुनिकों का वाममार्गियों के सिर दोष मढ़ना बिलकुल निराधार है.

स्पष्ट है कि ये ग्रंथ खुद हिंदुओं द्वारा लिखे हुए हैं और इन में किसी वाममार्गी ने कोई बात नहीं घुसेड़ी. आज इन पर जो परदा डालने का प्रयास किया जाता है, उस के पीछे सभ्यता के वर्तमान युग में इन आदिम धर्म संस्कारों से शर्मिंदा हुई, परंतु उन के प्रतिपादक धर्म व धर्म ग्रंथों से मोहवश चिपटी रहने वाली मनोवृत्ति है. इस के शिकार हुए व्यक्ति बिना किसी आधार के यह मान कर चलते हैं कि प्राचीन धर्म ग्रंथ पवित्र और श्रेष्ठ हैं.

दोष दूसरों के सिर

यह मत क्योंकि उन्होंने उन्हें बिना पढ़े ही बनाया होता है, अतः जब आपत्तिजनक प्रतीत होने वाली बातें उन के सामने प्रमाण सहित आती हैं तो वे उन के लिए विधर्मियों को दोषी बता कर अपनी चमड़ी बचाना और धर्म ग्रंथों को निर्दोष बताना चाहते हैं. लेकिन यह तो काठ की हंडिया है जो चूल्हे पर एक बार भी नहीं चढ़ सकती, उस के बारबार चढ़ने की तो बात ही छोड़ो.

इस प्रसंग में प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने जो टिप्पणी अपने मीमांसाशाबरभाष्यम् में की है, वह द्रष्टव्य है:

"ऐतरेय ब्राह्मण का इस मारे गए पशु के मांस खंड का बंटवारा यह स्पष्ट घोषित करता है कि ऐतरेय के मूल प्रवचन काल में अथवा उस के शौनक द्वारा पुनः संस्कार के काल में यज्ञों में पशु की बलि और यज्ञशिष्ट प्रसादरूप मांस का भक्षण ब्राह्मण लोग करते थे. अथवा यह पशुबलि और यज्ञीयमांसशेष का भक्षण उत्तरकाल का प्रक्षेप होगा. पर प्रक्षेप मानने के लिए कोई सुदृढ़ प्रमाण नहीं है." (मीमांसाशाबरभाष्यम्, खंड 3, पृ. 1075).

दूसरा हथकंडा है शब्दों के अर्थ बदलना. कहा जाता है कि अश्वमेध में जो 'अश्व' शब्द है, उस का अर्थ घोड़ा न हो कर अश्वगंधा नामक जड़ी है. वही जड़ी अश्वमेध के अवसर पर हवनकुंड में डाली जाती है, जिस की सुगंध से देवता प्रसन्न और कीटाणु नष्ट होते हैं तथा प्रजा स्वस्थ व सुखी होती है.

हमारा प्रश्न है कि अश्वमेध के अवसर पर दिग्विजय के लिए राजाओं द्वारा सैनिकों की देखरेख में जो 'अश्व' छोड़ा जाता था, क्या वह घोड़ा न हो कर अश्वगंधा नाम की जड़ी हुआ करती थी जिसे किसी नौकर के सिर पर टोकरी में रख कर साल भर घुमाया जाता था?

यदि वह जड़ी थी तो उसे खंभे से बांध कर तलवार से कत्ल क्यों किया जाता था? क्या उसे वैसे ही उठा कर आग में नहीं डाला जा सकता था?

फिर ब्राह्मण ग्रंथों में 'अश्व' के 36 टुकड़े करने का विधान है. वहां बताया है कि जबड़ा किसे देना है, बाजू किसे देना है, पूंछ किस के लिए है, ऊपर का होंठ किस का हैं, गरदन का हिस्सा किस का है. क्या ये अंग जड़ी के हो सकते हैं?

अश्व के खून को प्रेतात्माओं को देने का और उस की चरबी से आहुतियां देने का विधान है. क्या जड़ी में भी खून और चरबी होती है?

फिर यजुर्वेद के मंत्रों में तो पटरानी द्वारा घोड़े के वीर्य छोड़ने वाले लिंग को खींच कर अपनी योनि में प्रविष्ट कराने का विधान है. क्या अश्वगंधा जड़ी का भी लिंग होता है और वह भी वीर्य छोड़ती है?

जैसा कि पहले लिखा है, प्राचीन बुद्धिवादियों ने घोड़े के लिंग को पटरानी द्वारा ग्रहण करने की निंदा की थी. यदि अश्व के स्थान पर अश्वगंधा का अश्वमेध में प्रचलन था तो बुद्धिवादियों को 'घोड़े के लिंग के पत्नी द्वारा ग्रहण करने के विधान' पर हमला करने की क्या जरूरत थी? फिर तो हर कोई कह सकता था—क्या तुम्हें 'अश्व' दिखाई देता है? क्या अश्वगंधा जड़ी नहीं दिखाई देती? क्या जड़ी का भी लिंग होता है जिसे पत्नी द्वारा ग्रहण किया जा सके? लेकिन ऐसा उत्तर सारे हिंदू साहित्य में, अब के कुछ लीपापोती करने वालों को छोड़ कर, कहीं नहीं मिलता.

स्वामी करपात्रीजी महाराज ने तो स्पष्ट शब्दों में जड़ी की हर तरह की संभावना को रद्द करते हुए यज्ञों में पशुओं के ही वध की बात की है और उन के वध को उन के लिए लाभदायक बताते हुए लिखा है—"यज्ञ में किया जाने वाला पशुवध भी पशुओं का स्वर्गप्रापक होने से तथा पशुयोनि निवारणपूर्वक दिव्य शरीर प्राप्ति कराने में कारण होने से पशु का उपकारक ही होता है...वह यज्ञीय पशु अपकृष्ट योनि से विमुक्त हो कर देवयोनि में उत्पन्न होता है." (वेदार्थपारिजात, भाग-2, पृ. 1977-78).

दूसरे, 'आपस्तंब कल्पसूत्र पुराण' में कहा गया है:

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्.
देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पंच विवर्ज्जयेत्..

अर्थात अश्वमेध, गोमेध, संन्यास, श्राद्ध में मांस का परोसना और देवर से नियोग द्वारा पुत्रोत्पन्न कराना—ये पांच चीजें कलियुग में नहीं करनी चाहिए.

ऐसे ही 'बृहन्नारदीय पुराण' में आता है:

नरमेधाश्वमेधकौ गोमेधमखं तथा इमान्.
धर्म्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुः मनीषिणः..

अर्थात नरमेध, अश्वमेध तथा गोमेध यज्ञ—इन धर्म कार्यों को विद्वानों ने कलियुग में निषिद्ध कहा है.

अश्वमेध में यदि अश्व का अर्थ घोड़ा न हो कर जड़ी होता तो इन अर्वाचीन ग्रंथों को इस कलियुग में इसे निषिद्ध घोषित करने की जरूरत न पड़ती. यह निषेध इसलिए किया गया कि बौद्धों की यज्ञों में निरर्थक हिंसा का विरोध करने वाली विचारधारा के प्रभाव के कारण ऐसे यज्ञों की वकालत करना पुरोहितों के लिए बहुत मुश्किल था. उन्हें टेढ़े ढंग से ऐसे बीभत्स यज्ञों की निंदा करनी ही पड़ी.

स्पष्ट है कि अश्वमेध में अश्व का अर्थ घोड़ा ही सदा लिया गया है. अश्वगंधा

जड़ी को न ही किसी अश्वमेध में अश्व के स्थान पर लिया गया और न ही अश्व पर चरितार्थ होने वाली कोई बात अश्वगंधा पर लागू होती है.

तीसरा हथकंडा बहुत ही विचित्र है. स्वामी दयानंद सरस्वती के साथी पंडित भीमसेन शर्मा ने, जो बाद में सनातन धर्म के नेता बन गए, लिखा है: "महीधर वेदभाष्यकार के लिखे अनुसार उन मंत्रों का अर्थ संस्कृत में व लोकभाषा में किसी को भी यज्ञ के समय व अन्यत्र कहनासुनाना कदापि उचित नहीं... महीधर का भी यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि यज्ञ के समय व अन्यत्र कहीं यह अभिप्राय प्रकट किया जाए... किंतु महीधर का भी यही मतलब है कि ऐसा अर्थ कहीं भी कहने योग्य नहीं है. केवल वेदाधिकारी शुद्ध पुरुष जानना चाहें कि इन मंत्रों का क्या अर्थ है तो इस संस्कृत लेख (संस्कृत भाष्य) से वे लोग जान सकें... जब कि वह अर्थ अवाच्य (कहने के अयोग्य) है तो इसी से हम भी उसे कहना उचित नहीं समझते, किंतु यज्ञ व स्वाध्याय आदि के समय केवल मंत्र मात्र वाच्य (पढ़ने व कहने योग्य) हैं." (पं. भीमसेन शर्मा, आश्वमेधिकमंत्रमीमांसा (1911 ई.) पृ. 38-39)

यानी ये लोग कहते हैं कि अर्थ तो ठीक हैं, लेकिन ये अर्थ करने या कहने नहीं चाहिए, मंत्र ही तोते की तरह पढ़ने चाहिए. अर्थों को केवल वेदों का अधिकारी विद्वान अपने स्वाध्याय के लिए पढ़ सकता है, किसी को बताने या सुनाने के लिए नहीं.

इस से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि अश्वमेध में कतलोगारत और अश्लील बकवास के होने को तो ये लोग भी मानते हैं, परंतु यह नहीं चाहते कि इस का जनसाधारण को पता चले; क्योंकि पता चल गया तो लोगों का वेदों-शास्त्रों से विश्वास उठ जाएगा और परिणामस्वरूप उन के नाम पर चलने वाला हलवामांडा बंद हो जाएगा.

यहां पं. भीमसेन शर्मा ने इन अर्थों के कहनेसुनने का निषेध कर के यह तो स्वीकार कर लिया है कि अर्थ तो वास्तव में वही हैं, जो किए गए हैं. उन्होंने यह नहीं कहा कि ये अर्थ विधर्मियों द्वारा किए गए हैं या प्रक्षिप्त हैं.

इसीलिए तो प्राचीन बुद्धिवादियों ने कहा था:

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्.
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः..

—सर्वदर्शनसंग्रह से उद्धृत.

अर्थात अग्निहोत्र आदि यज्ञ, तीनों वेद, त्रिदंड, शरीर पर भस्म मलना ये चीजें, आचार्य बृहस्पति ने कहा है, बुद्धि और पौरुष (उद्यम) हीन लोगों की आजीविका का साधन हैं.

चौथा हथकंडा है छद्म विज्ञान का पैबंद. कुछ लोग कपोल कल्पित वैदिक विज्ञान के नाम पर निर्लज्जतापूर्वक आज भी इस जंगलीपन का औचित्य सिद्ध करते हैं. एक सनातनी पंडित ने लिखा है:

याज्ञिक अश्व का रुधिर दुग्ध के रूप में परिणत हो जाता था और अन्य शरीर

काफूर बन जाता था. गर्भाशय को शुद्ध करने के लिए अश्व के काफूर रूप में परिवर्तित हुए चिकने अंश (चरबी) को विधिवत अग्नि में डाल कर यजमान पत्नी उस धूम से अपने गर्भाशय को धूपित करती थी. इसीलिए एक रात अकेली यजमान पत्नी उस मृत अश्व के निकट यज्ञशाला में रहती थी. वस्तुतः यजमान पत्नी के गर्भाशयगत विषैले वातावरण को दूर करने के लिए यह एक वैज्ञानिक उपचार किया जाता था. (क्यों? (उत्तरार्द्ध) पृ. 878 एवं 80)

एक दूसरे पंडित ने लिखा है:

रानी के गर्भाशय के शोधनार्थ अश्वमेध के उस विशिष्ट घोड़े के पृथककृत अंग से (यानी काटे हुए लिंग से) तैयार किए हुए पदार्थ को रानी अपने अंग में (अपनी योनि में) डालती है. इस से स्त्री का वंध्यत्व दोष दूर हो जाता है. फिर उस अश्व के अंगों के हवन करने से—जो मांत्रिक शक्ति से अद्‌भुत शक्ति वाले तथा सुगंधित हो जाते हैं—वही अभिमंत्रित अग्नि में हुत, इसीलिए सूक्ष्मीभूत अंगों की गंध राजारानी के सूंघने से भीतर प्राप्त हो कर शुक्र और योनि के दोषों को दूर कर देती है. (श्रीसनातनधर्मलोक, भाग 6, पृ. 410-11).

पैबंद लगाने का प्रयास

ये व्याख्याएं जंगलीपन पर मिथ्या वैज्ञानिकता का पैबंद लगाने का प्रयास मात्र हैं, जिन का उद्‌देश्य विज्ञान का नाम ले कर लोगों को अपने जाल में फंसाए रखना है. यही कारण है कि दोनों पंडितों की कल्पित एवं निर्लज्ज व्याख्याएं एकदूसरे से भी मेल नहीं खातीं.

एक कहता है कि मंत्रों के प्रभाव से काफूर रूप में परिवर्तित हुए घोड़े के चिकने अंश को अग्नि में डाल कर यजमान की पत्नी उस से अपनी योनि को धूप देती थी, तो दूसरा कहता है कि घोड़े के लिंग को काट कर तैयार हुए पदार्थ को रानी अपनी योनि में डालती थी और घोड़े के अंगों से हवन करने पर जो धुआं उठता था, उसे सूंघने से वीर्य और योनि के दोष दूर होते थे.

इस बकवास का आधार क्या है? कौन सा आयुर्वेदीय ग्रंथ यह उपचार बताता है? सुश्रुत बताता है या चरक? और तो और, किसी धार्मिक जहालत से भरपूर ग्रंथ में भी अश्वमेध के इस प्रकार के लाभ नहीं बताए गए हैं जैसे 20वीं शताब्दी में इन लालबुझक्कड़ों ने बताए हैं. इसे 'वैज्ञानिक उपचार' बताना विज्ञान का अपमान करना है.

विज्ञान निरीक्षण और प्रयोग का नाम है. जो वैज्ञानिक सत्य है, वह प्रयोग द्वारा कहीं भी दर्शाया जा सकता है. हम सनातन धर्म के इस तरह के पोथे लिखने वालों और तथाकथित वैदिक विज्ञान के दावेदारों को चुनौती देते हैं कि मंत्रों से वे पूरे घोड़े को तो क्या, उस की पूंछ के एक बाल को ही काफूर बना कर दिखाएं.

हमारा ऐसे लोगों से यह भी प्रश्न है कि ऋग्वेद और उवट तथा महीधर के यजुर्वेद भाष्य सही हैं या इन की बातें? वेदों में सर्वत्र हाड़मांस के घोड़े की बात है, उस के मांस को पकाने, पकते मांस की गंध आदि का वर्णन है.

यजुर्वेदीय भाष्यों में सर्वत्र हाड़मांस के व वीर्य सींचने वाले लिंग को पटरानी की योनि में प्रविष्ट करने की बात कही गई है. इन लालबुझक्कड़ों की व्याख्याएं तो उस हिंदू धर्म रूपी वृक्ष की जड़ों–वेदों–पर ही कुठाराघात हैं!

यह हथकंडा पहले तीनों हथकंडों के असफल रहने के कारण खोजा गया है. लेकिन यह भी उसी तरह सहायक नहीं हो सका जिस तरह डूबते को तिनका नहीं बचा पाता.

आदिम काल में कारण–कार्य की जानकारी बहुत कम थी. अतः इस और उस कार्य का कारण 'उसे' और 'इसे' मान लिया जाता था. इसीलिए पापनाश के लिए प्राणियों की हत्या कर दी जाती थी. इस के पीछे यह अज्ञानतामूलक स्थूल सादृश्य काम करता था कि जैसे कबीले के मुखिया को प्रसन्न करने के लिए भेंट चढ़ाई जाती है, उसी प्रकार यदि 'देवता' को भेंट चढ़ाई जाए तो वह प्रसन्न हो जाएगा और मनोकामना पूरी कर देगा.

बचकाना विश्वास

तब भेंटें प्रायः खाद्य पदार्थों की दी जाती थीं. अन्न और जानवर दोनों खाद्य थे. जैसे मुखिया को भेंट में दिया गया प्रत्येक अन्न व ज़ानवर अग्नि में डाल कर भून कर खा लिया जाता था, वैसे ही 'देवता' को 'प्रसन्न' करने के लिए दी जाने वाली हर भेंट अग्नि में डाल दी जाती थी. बस यही बचकाना विश्वास पशु यज्ञों का सार है.

इसी बचकाने विश्वास के अधीन पटरानी का घोड़े से मैथुन कराया जाता था–यह सोच कर कि इस के घोड़े के समान शक्तिशाली पुत्र होंगे.

देखें शतपथ (13/1/9/9.) जहां कहा गया है कि अश्वमेध करने से बहादुर पुत्र पैदा होता है.

जब मैथुन का यह दौर सरेआम चलता तब पुरोहित भी बहती गंगा में हाथ धोने के उद्देश्य से वहां उपस्थित दूसरी लड़कियों से मौखिक कामतृप्ति करने में प्रवृत्त हो जाते.

निहित स्वार्थियों ने बाद में भी इसी तरह के बचकाने विश्वासों को बनाए रखने में अपना फायदा देखा. इस के लिए तरहतरह के पुण्य, 'परलोक' में प्रलोभन आदि घोषित किए गए. आम आदमी की पूर्वजों के प्रति सम्मान और प्यार की स्वाभाविक भावना का अनुचित लाभ उठा कर, उन के नाम पर यज्ञों के माहात्म्य सूचक वाक्य अपने बनाए पोथों में रख दिए या अपने पोथों को उस पूर्वज द्वारा रचित कह कर प्रचारित किया.

उन में यज्ञ करवाने वाले पुरोहितों के लिए प्रत्येक यज्ञ की भिन्नभिन्न मात्रा में फीस (दक्षिणा) भी लिखी गई. दरअसल इसी फीस को प्राप्त करने के लिए तो आज तक पुरोहितों द्वारा इन यज्ञों को जीवित रखने की जीतोड़ कोशिश की जा रही है.

आज जब कि विज्ञान इतनी उन्नति कर चुका है और हम जंगली अवस्था से

बहुत आगे बढ़ कर आधुनिक सभ्यता में जी रहे हैं, तब क्या बचकाना विश्वासों के तहत कल्पित देवताओं के नाम पर इस तरह के बीभत्स पशु यज्ञ करना और खाद्य पदार्थों को निरर्थक स्वाहा करना उचित है, विशेषतः तब जब ऐसे यज्ञों की शास्त्रोक्त क्रूरता एवं अश्लीलता पूर्ण क्रियाओं से वैसे भी हमें सभ्य समाज में लज्जा आती हो और अपनी चमड़ी बचाने के लिए हमें घटिया किस्म के झूठे हथकंडे अपनाने पड़ते हों?

होली, होलिका या होलाका

होली का नाम सुनते ही फाग खेलने, एकदूसरे पर तरहतरह के रंग फेंकने व हर्षोल्लास का चित्र सामने आ जाता है. संस्कृत के मध्यकालीन और अर्वाचीन धर्म ग्रंथों में इस के तीन नाम मिलते हैं: होली, होलिका और होलाका.

मौसमी त्योहार

यह उत्सव फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है. दीवाली की तरह यह भी शुरू में एक मौसमी त्योहार था. रबी की फसल के घर आने की खुशी के उपलक्ष्य में इसे 'नवान्नेष्टि' के रूप में मनाया जाता था.

मानवगृह्यसूत्र 2/3/9व10 में लिखा है :

> 'नानिष्ट्वाग्रयणेन नवस्याश्नीयात्. पर्वण्याग्रयणं कुर्वीत. वसंते यवानां शरदि ब्रीहीणाम्.'

अर्थात नए अन्न का यज्ञ किए बिना नई फसल स्वयं न खाए. वसंत ऋतु की पूर्णिमा को जौ से यज्ञ करे.

तत्पश्चात पूरी विधि का वर्णन करते हुए मानवगृह्यसूत्रकार ने लिखा है:

> 'फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां पुरस्ताद्धानापूपाभ्याम् भगं चार्यमाणं च यजेत्.(1) इंद्राण्या हविष्यान् पिष्ट्वा पिष्टानि समुत्पूययावंति पशुजातानि तावतो मिथुनान्प्रतिरूपाञ् छूपयित्वा कांस्येऽध्याज्यान् कृत्वा तेनैव–रुद्राय स्वाहेति जुहोति ईशानायेत्येके. (2) सायमपूपाभ्यां प्रचरत्यग्नींद्राभ्याम्. (3) आग्नेयस्तुन्दिल:, न तस्य स्त्रिय: प्राश्नंति, सर्वामात्या इतरस्य. (4) स्थालीपाकेनेंद्राणीं श्वो वा. (5)'
>
> –मानवगृह्यसूत्र 2/10

अर्थात फाल्गुन मास की पूर्णिमा के दिन भुने हुए जौ और मालपूओं के साथ भग तथा अर्यमा नामक दो देवताओं के लिए हवन करे. तत्पश्चात यजमान जौ के आटे के उतने पशु बनाए जितने वास्तविक पशु उस के पास हों. आटे के उन पशुओं को पकाए. फिर उन्हें पीस कर ब्राह्मणों के लिए हवनसामग्री बनाए. कांसे के पात्र में पहले घी डाल कर ऊपर से सामग्री डाले और बाद में फिर घी डाले. तदनंतर सायंकाल

दो मालपूए बना कर अग्नि और इंद्र देवता के लिए होम करे. अग्नि देवता का मालपूआ मध्य में मोटा हो. उस का शेष भाग स्त्रियां खाएं. इंद्र देवता के मालपूए को सब बालबच्चे खा सकते हैं. फिर दक्षिणा और दान आदि कर्म करे. सायंकाल के लिए गाय के दूध में जौ पकाए और हवन करे. (देखें. मानवग्रह्यसूत्र, पं. भीमसेन शर्मा कृत व्याख्या, 1905, पृष्ठ 20.)

स्पष्ट है कि फाल्गुन की पूर्णिमा को होने वाले उत्सव में भुने हुए जौ के मालपूए और गाय के दूध में पकाए गए जौ के अतिरिक्त जौ का आटा भी प्रयुक्त होता है. मालपूए और दूध में पकाए गए जौ और चावल तो दूसरे कई यज्ञों में भी प्रयुक्त होते थे पर भुने हुए जौ इसी पूर्णिमा के यज्ञ में प्रयोग में लाए जाते थे. भुने हुए जौ की प्रधानता के कारण लक्षणा से इस त्योहार का नाम 'होलक' पड़ गया, जो कालांतर में होलिका, होलाका या होली बन गया.

संस्कृत में किसी भी भुने हुए अधपके अन्न को 'होलक' कहते हैं. तृणाग्निभ्रष्टार्द्धपक्वशमीधान्यं होलकः, होला इति हिंदी भाषा (शब्दकल्पद्रुम—कोशः) तिनकों की आग में भुने हुए अधपके शमीधान्य (फली वाले अन्न) को 'होलक' कहते हैं. हिंदी में इसे 'होला' कहा जाता है...

होलकः (पु.) मटर, चने, आदि की आग पर भुनी हुई अधपकी फलियां, होरहा. (संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृष्ठ 1279).

समय अप्रतिहत गति से बढ़ता गया. कुछ पीढ़ियों के अनंतर भाषागत परिवर्तनों के अतिरिक्त ज्ञान के क्षितिजों में भी फेरबदल हुए. वैदिक परंपराएं छूटती गईं. एक नया युग बनता गया—पौराणिक युग. धीरेधीरे वैदिक भाषा, यज्ञ और दूसरे वैदिक विधिविधान अपरिचित से होते गए.

अब लोग 'होलकों' की प्रधानता के कारण 'होलक' नाम से प्रसिद्ध त्योहार को 'होलिका' कहने लगे थे. पुल्लिंग से स्त्रीलिंग हो गया. इतना ही नहीं, इस की जाति भी निश्चित कर दी. 'दंपती चतुर्थी' नामक ग्रंथ में चार प्रधान जातियों के नामों पर चार प्रधान पर्वों की जातियां घोषित करते हुए कहा गया है, 'श्रावणी उपाकर्म ब्राह्मण पर्व, विजयदशमी क्षत्रिय पर्व, दीपावली वैश्य पर्व तथा होली शूद्र पर्व है.'

पौराणिक काल में नवान्नेष्टि पर्व के बदले मायने

पौराणिक युग तक आतेआते 'नवान्नेष्टि' अपना व्यक्तिगत इतिहास गंवा चुकी थी. अतः पौराणिक काल में जब लोगों ने इस अतीत को जानना चाहा तो उन्हें कई प्रकार की बातें बताई गईं जो आज ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, चाहे उन दिनों वे कुतूहल शांत करने का दुर्बल साधनमात्र थीं.

भविष्यपुराण

'भविष्यपुराण' में 'होलिका' के विषय में प्रश्न करते हुए युधिष्ठिर कहता है, "हे कृष्ण, हर गांव और शहर में फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन उत्सव क्यों होता है? इस दिन किस देवता की पूजा की जाती है और क्या किया जाता है?"

कृष्ण ने कहा, "सत्ययुग में रघु नामक एक श्रेष्ठ राजा था. एक दिन उस की प्रजा ने उस के पास जा कर हाहाकार किया और 'त्राहित्राहि' कहने लगी. लोगों ने कहा 'हमारे घरों में ढुंढा नाम की राक्षसी दिनरात बच्चों को तंग करती है. हम ने कई तरीकों से उसे भगाना चाहा, पर वह हमारा पिंड नहीं छोड़ती.' प्रजा के ये शब्द सुन कर राजा ने नारद से इस के विषय में चर्चा की. नारद ने कहा, 'हे राजन, आज पूर्णिमा है. अब सर्दी समाप्त हो गई है. प्रातःकाल गरमी शुरू हो जाएगी. बच्चे लकड़ी की बनी तलवारें ले कर योद्धाओं की तरह प्रसन्न हो कर चलें. वे सूखी लकड़ियों और उपलों को सहर्ष एकत्र करें. विधिपूर्वक आग जला कर रक्षोघ्न मंत्रों का उच्चारण करते हुए हवन करें. अग्नि की परिक्रमा करते हुए वे हंसें, गाएं, जिस के मुंह में जो आए उस का उच्चारण करे. अपनीअपनी भाषा में स्त्री के गुप्तांगवाची शब्दों को बोलें.' ऐसा करने पर वह राक्षसी भाग गई. तब से यह होलिका नामक पर्व चल रहा है." (देखें, जयसिंह कल्पद्रुमः, पृष्ठ 773-74)

भविष्यपुराण में जैसेतैसे इस त्योहार को वैदिक परंपरा से जोड़ने की कोशिश की गई है. वैदिक परंपरा से आए यज्ञ के अतिरिक्त 'रक्षोघ्न' मंत्रों के उच्चारण की व्यवस्था है. ये मंत्र यजुर्वेद के पांचवें अध्याय में आते हैं. पौराणिक वृत्तांत में अश्लील शब्दों का उच्चारण करने के लिए बच्चों को निर्देश दिया गया है. संभवतः इस अशिष्ट परिपाटी को दृष्टि में रख कर ही 'दंपती चतुर्थी' के लेखक ने इसे 'शूद्र पर्व' कहा था.

यह बात यहां विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि 'भविष्यपुराण' ने होलक (भुने हुए अधपके अन्न) को ढुंढा नामक राक्षसी बना दिया है और उसे ही 'होलिका' कहा है. करोड़ों सालों के युगों का हिसाबकिताब देने वाले व मनुष्य क्या, देवताओं तक की वंशावलियों का प्रामाणिक (?) विवरण देने वाले पुराणग्रंथों के रचयिताओं की बुद्धि पर तरस भी आता है, हंसी भी. इस से सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है कि पौराणिक काल कितने घोर अज्ञान का युग रहा होगा.

स्वार्थसिद्धि

होलिका नामक राक्षसी से जल्दी ही पुराणकारों की दाल गल गई. जिसे अश्लील शब्दों का उच्चारण कर के भगाने का विधान किया गया था, शीघ्र ही उस की पूजा के आदेश दे दिए गए. नारद पुराण में लिखा है:

फाल्गुने पौर्णिमायां तु होलिका पूजनं स्मृतम्.

अर्थात फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन होलिका पूजन करना चाहिए.

लगता है इस आदेश के पीछे पुरोहित वर्ग का स्वार्थ काम करता था. होलिका को गालियां तो लोग स्वयमेव दे लेते. इस से पुरोहित वर्ग को कुछ प्राप्त न होता. अतः उन्होंने 'पूजन' की बात कही ताकि लोग वैदिक वा लौकिक संस्कृत में श्लोकों का उच्चारण करवाने हेतु उन्हें बुलाएं और इस तरह उन को रसद मुहैया होती रहे.

पुरोहित वर्ग ने होलिका पूजन का न सिर्फ नारा ही लगाया, अपितु उस पूजन के

उपयोगी मंत्र भी रच डाले, 'निर्णयसिंधु' (पृष्ठ 169) आदि ग्रंथों में पूजा का एक मंत्र है :

'असृक्पाभयसंत्रस्तैः कृता त्वं होलि बालिशैः
अतस्त्वा पूजयिष्यामि भूते भूतिप्रदा भव.'

अर्थात हे होलि, राक्षस से डरे हुए बालकों ने तुझे रचा था, इसलिए मैं तेरी पूजा करता हूं. तेरी भस्म मुझे परम ऐश्वर्य देने वाली हो.

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि पूजा हेतु मंत्र बनातेबनाते 'होलिका' राक्षसी से राक्षस बना दी गई—अर्थात लिंग परिवर्तन.

होली का अग्नि से इतना घनिष्ठ संबंध है कि आग लगाने के लिए 'होली जलाना' मुहावरा ही चल पड़ा. वैदिक काल में हवन के समय अग्नि प्रज्वलित की जाती थी. पीछे से ढुंढा राक्षसी को भगाने हेतु अग्नि जलाई जाने लगी. बाद में जलाई गई अग्नि में 'ढुंढा' उर्फ 'होलिका' का अस्तित्व स्वीकारा जाने लगा. उस की कृपादृष्टि पाने के लिए प्रार्थनाएं की जाने लगीं.

जल रही अग्नि में कल्पित की गई देवी (होलिका) से अनुग्रह प्राप्त नहीं किया जा सकता था. अतः अग्नि के शांत होने पर उस की राख को उठा कर शरीर पर मलने में ही उस की कृपा ढूंढ़ी गई. इस बात का संकेत उपर्युक्त पूजनमंत्र में है. इस के अतिरिक्त 'व्रतोत्सवचंद्रिका' (पृष्ठ 228) में होलिका की राख को उठा कर शरीर पर लगाने का मंत्र भी लिखा मिलता है :

'वंदितासि सुरेंद्रेण ब्रह्मणा शंकरेण च.
अतस्त्वं पाहि मां देवि भूतिभूतिप्रदा भव.'

हे भस्म देवी, तुझे इंद्र, ब्रह्मा और शंकर ने प्रणाम किया, अतः तू मेरी रक्षा कर और मुझे ऐश्वर्य प्रदान कर.

जब 'होलिका' पूजन प्रारंभ हुआ, तब पुरोहित वर्ग ने अपना जन्मसिद्ध स्वभाव प्रदर्शित करना शुरू कर दिया. उन्होंने पुरोहितगीरी का सबूत देने के लिए कई तथाकथित बारीकियां प्रतिपादित की. उन्होंने घोषणा की कि भद्रा नक्षत्र में होली नहीं जलानी चाहिए. 'पुराणसमुच्चय' में लिखा है:

भद्रायां दीपिता होली राष्ट्रभंगं करोति वै,
नगरस्य न चेष्टा स्यात्तस्मात्तां परिवर्जयेत्.'

भद्रा नक्षत्र में होली जलाने से देश में विद्रोह भड़क उठता है. इस से नगर का नुकसान होता है. अतः भद्रा में होली नहीं जलानी चाहिए.

यह अंधविश्वासपूर्ण विचार था. फाल्गुन की पूर्णिमा में जब भद्रा नक्षत्र होता है, तब जलाई गई आग का देश में होने वाले विद्रोह से क्या संबंध? भद्रा पूर्णिमा के दिन आधा दिन होता है. उस आधे दिन में सारे संसार में लोग आग जलाते हैं. प्रतिवर्ष इस के परिणामस्वरूप कितने देशों में विद्रोह होते हैं? क्या फ्रांस, रूस, चीन और

बंगलादेश की क्रांतियां उन देशों के 'अज्ञानी' लोगों द्वारा पूर्णिमा के दिन भद्रा नक्षत्र के दौरान जलाई गई आग का दुष्परिणाम थीं?

होली का कपोलकल्पित कथाओं से जुड़ाव

शास्त्र कहे जाने वाले ग्रंथों में होली के अतीत पर इस से ज्यादा प्रकाश नहीं पड़ता. वैसे भारत के विभिन्न प्रांतों में इस के अतीत की विविध व्याख्याएं उपलब्ध होती हैं. पूर्वी भारत के लोग होलिका को पूतना बताते हैं और इस का कृष्ण से संबंध जोड़ते हैं. राजपूताने के लोग हिरण्यकशिपु की बहन और प्रह्लाद की घटना से इसे जोड़ते हैं. महाराष्ट्र और कोंकणपट्टी के लोग भविष्यपुराण के मुताबिक 'ढुंढा' राक्षसी वाली बात कहते हैं. दक्षिण में इसे कामदहन की यादगार बताते हैं.

वैष्णव लोग कृष्ण के साथ इस का संबंध जोड़ते हैं. ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन हिंडोले में झूलते हुए कृष्ण के दर्शन करने से व्यक्ति निस्संदेह स्वर्ग को जाता है.

नरो दोलागतं दृष्ट्वा गोविंदं पुरुषोत्तमं.
फाल्गुन्यां संयतोभूत्वा गोविंदस्य पुरं व्रजेत्.

होली शब्द के उच्चारण के साथ ही मन में जो बिंब बनता है, वह उपर्युक्त सा नहीं होता. वह तो रंगबिरंगी पिचकारियों, गुलाल और अबीर लिए क्रीड़ामग्न एवं हर्षित युवकयुवतियों का चित्र होता है. लेकिन यह विस्मयजनक सच्चाई है कि शास्त्र कही जाने वाली संस्कृत भाषा की किसी भी पुस्तक में रंग उछालते फिरने का न कहीं जिक्र आता है, और न ही कहीं वैसा करने का आदेश मिलता है.

अनुमान है कि रबी की फसल के घर आने की खुशी में प्राचीन काल में लोग अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने हेतु रंगबिरंगे फूल एकदूसरे पर उछालते होंगे, क्योंकि वसंत का आगमन तब तक हो चुका होता था. बाद में, जैसे मौसमी त्योहार का इतिहास राक्षसराक्षसियों से जोड़ दिया गया, वैसे ही वे फूल, चावलों का आटा, गुलाल, अबीर आदि बन गए. उसी क्रम में आज वे सफेदा, पेंट करने वाले पक्के रंग और तारकोल बन गए हैं, और कहींकहीं तो नालियों का गंदा पानी भी!

वास्तव में परवर्ती पीढ़ियों ने अग्नि जलाने और हवन आदि को 'ढुंढा' आदि से जोड़ कर एकदूसरे पर प्रसन्नतापूर्वक रंगबिरंगे फूल उछालने को 'कामदेव' से जोड़ दिया, क्योंकि जिस पौराणिक काल में यह अज्ञानतामूलक और कुछ हद तक मनमाना फेरबदल हुआ, तब तक काम देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था. उस के बाण फूलों के ही बताए गए हैं.

होली एक नवान्नेष्टि पर्व

'नवान्नेष्टि' के अवसर पर हर्षपूर्वक एकदूसरे पर उछाले जाने वाले फूलों को काम देवता की पूजा का अंग समझ लिया गया और 'कामोत्सव' (मदनोत्सव) अस्तित्व में आ गया. यह उत्सव होली के दिन मनाया जाता था. (देखें, हिंदी कामसूत्र,

पृष्ठ 143). इसीलिए 'मदनोत्सव' का अर्थ संस्कृत कोषों में 'होली' भी लिखा मिलता है (देखें, संस्कृतशब्दार्थ कौस्तुभ पृष्ठ 857). कालिदासकृत 'अभिज्ञानशाकुंतलम्', 'मालविकाग्निमित्रनाटकम्' और श्रीहर्षकृत 'रत्नावली' में भी इस का विस्तृत वर्णन मिलता है.

डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मदनोत्सव का वर्णन करते हुए लिखा है, "सम्राट श्री हर्षदेव के विवरण से जान पड़ता है कि मदनोत्सव के दिन दोपहर के बाद सारा नगर मुखरित हो उठता था...नगर की कामिनियां मधुपान कर के (शराब पी कर) ऐसी मतवाली हो जाती थीं कि सामने जो कोई पुरुष पड़ जाता, उस पर पिचकारी से जल की बौछार करने लगती थीं...ढेर का ढेर सुगंधित अबीर दशों दिशाओं में इतना उड़ता रहता था कि दिशाएं रंगीन हो उठती थीं. जब नगरवासियों का आमोद पूरे चढ़ाव पर आ जाता तो नगरी के सारे राजपथ केशर मिश्रित पुष्पों से इस प्रकार भर उठते थे, जैसे उषा की छाया पड़ रही हो." (देखें प्राचीन भारत का कला विकास, पृष्ठ 104).

होली या हुड़दंग

होली के दिन आजकल होहल्ला मचाने, रंग डाल कर वस्त्र व रंग बरबाद करने, गुलाल आदि से लोगों को रंगने व रासायनिक द्रव्यों से त्वचा के रोग लगाने आदि को यौन वर्जनाप्रधान भारतीय संस्कृति के सामंती युग में होती रही कामदेव की पूजा के ध्वंसावशेष ही कहा जाएगा.

आज त्योहारों की उपादेयता पर कई दृष्टियों से विचार करना पड़ता है, क्योंकि आज परिस्थितियां वे नहीं हैं जिन में ये त्योहार पैदा हुए थे. इन परिवर्तित परिस्थितियों में वे त्योहार या उन को मनाने के वे ढंग ही मान्य हो सकते हैं, जिन की आज के जीवन में कोई उपयोगिता हो. इस दृष्टि से देखा जाए तो होली योग्य त्योहारों की सूची में नहीं आती.

हिंदू धर्म और धार्मिक सहिष्णुता

हिंदू धर्म या हिंदू संस्कृति के विषय में जानबूझ कर फैलाई गई अनेक भ्रांतियों में से एक है–हिंदू धर्म की अनुपम सहिष्णुता, विभिन्न या विरोधी विचारों को बेरोकटोक फलनेफूले देना. धार्मिक मंचों पर धर्म के स्वयंभू ठेकेदार, जिन्होंने न स्वयं कमा कर खाया है और न उन के बापदादाओं ने, चिल्लाचिल्ला कर कहते हैं कि हिंदू धर्म सब से ज्यादा सहिष्णु है, इस ने अपने विरोधी पर इसलाम की तरह तलवार नहीं उठाई, यहां सब को अपनेअपने ढंग से पूजापाठ करने और अपने विश्वास के अनुसार चलने का सदा से अधिकार रहा है, इसलिए हिंदू धर्म तो बुनियादी तौर पर धर्मनिरपेक्ष है.

लेकिन इन स्वार्थी धर्मरक्षकों की यदि उस शब्दावली को देखा जाए जो ये प्रमाणों से पुष्ट और तथ्यों द्वारा समर्थित किसी लेख व पुस्तक के खंडन के लिए प्रयोग में लाते हैं तो सारा भंडा फूट जाता है. जब वे घटिया से घटिया हथकंडों पर उतर आते हैं, जब वे लिखी जा सकने वाली हर गाली का प्रयोग करते हैं, जब वे किसी तर्क का उत्तर तर्क से न दे कर धार्मिक उन्माद भड़का कर लेखक को डरा कर देना चाहते हैं, तब किसी प्रकार का संदेह व भ्रम नहीं रहता.

इस तरह के लोगों ने जो खंडनात्मक पुस्तकें लिखी हैं, उन के नाम भी इन की मनोवृत्तियों के मुंह बोलते प्रमाण हैं. जैसे–पौराणिक मुख चपेटिका (पुराणों को मानने वालों के मुंह पर चपेट), सुधारक मान मर्दन (सुधारकों की मिट्टी पलीद), बुद्ध मत का भंडाभोड़, आर्यसमाज की अंत्येष्टि, आर्यसमाज की मौत, दयानंद छलकपट दर्पण, लीडर गुद गर्जन (गुदा का गरजना), मनोरमा कुच मर्दन (मनोरमा के स्तनों को मसलना) आदि.

हिंदू धर्म का इतिहास खुद इस बात की पुष्टि करता है कि वह सहिष्णु नहीं है. हिंदू धर्म के संपूर्ण साहित्य का सर्वेक्षण करने पर जो चित्र उभरता है, वह न केवल दूसरे धर्मों के प्रति, बल्कि स्वयं हिंदू धर्म के विभिन्न संप्रदायों की एकदूसरे के प्रति जो 'सहिष्णुता' रही है, उस की भी पोल खोल देता है. साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि यह बीमारी बहुत पुरानी और बद्धमूल है.

सब से पहले वेदों को लें. उन से स्पष्ट जाहिर है कि हमारे पूर्वज आर्य अपने से भिन्न किस्म की ज़ीवन पद्धति वाले अनार्यों के प्रति कैसे सहिष्णु थे.

अकर्मा दस्युरभि नो अमंतुरन्यव्रतो अमानुषः,
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दंभय.

–ऋ. 10/22/8

अर्थात हमारे चारों ओर यज्ञ न करने वाले दस्यु हैं. वे कुछ नहीं मानते. वे वेदों में विहित कर्मकांड से शून्य हैं और उन की प्रकृति आसुरी है. शत्रुनाशक इंद्र इस दस्यु जाति का विनाश करो.

विशो अदेवीरम्या चरंतीर्बृहस्पतिना युजेंद्रः ससाहे.

–ऋ. 8/85/15

अर्थात देवताओं को न मानने वाले कृष्ण नामक असुर का इंद्र ने बृहस्पति की सहायता से वध कर दिया.

भौतिकवादी ऋषि चार्वाक की हत्या

महाभारत में चार्वाक नामक परिव्राजक का वर्णन आता है. वह भौतिकवादी आचार्य था. युधिष्ठिर की राज्यलिप्सा की निंदा करते हुए जब उस ने विश्व शांति की बात की तो युधिष्ठिर के टुकड़तोड़ ब्राह्मणों ने उसे 'राक्षस' आदि कह कर गालियां दीं और उस की वहीं हत्या कर दीः

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे हुंकारैः क्रोधमूर्छिताः,
निर्भर्त्सयंतः शुचयो निजघ्नुः पापराक्षसम्.
स पपात विनिर्दग्धस्तेजसा ब्रह्मवादिनाम्,
महेंद्राशनिनिर्दग्धः पादपोऽकुरवानिव.

–महाभारत, शांति पर्व/35-36

अर्थात तब ब्राह्मण क्रोध से मूर्च्छित हो कर हुंकार करने लगे. उन्होंने उसे फटकारते हुए, उसे पापी राक्षस कहते हुए मार दिया. वह ब्रह्मतेज से जल कर धरती पर ऐसे गिर पड़ा जैसे बिजली पड़ने से जल कर वृक्ष गिर जाता है.

धर्मशास्त्रों में वैचारिक भिन्नता वाले लोगों का बहिष्कार करने और उन के निकट न रहने का आदेश हैः

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः,
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिंदकः

–मनु. 2/11

अर्थात जो व्यक्ति तर्क के आधार पर वेदों और स्मृतियों का अपमान करे, वह सज्जनों द्वारा बहिष्कृत करने योग्य है.

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते,
न पाषंडिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः.

–मनु. 4/61

अर्थात शूद्र के राज्य में निवास न करे. अधार्मिक लोगों के निवासभूत, पाखंडी समूहों से व्याप्त, चांडाल आदि से भरे हुए ग्राम में निवास न करे.

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः,
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः.
एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः.

–मनुस्मृति, 2/23–24

अर्थात जहां पर काला मृग स्वभाव से ही (कहीं अन्यत्र से ला कर रखा या छोड़ा गयां नहीं) विचरण करता है, वह यज्ञिय देश (यज्ञ के योग्य) है. इस के अतिरिक्त शेष सब म्लेच्छ देश हैं. द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) इन इलाकों में ही निवास करें ताकि म्लेच्छों का संसर्ग न हो.

गीता में भिन्न विचार रखने वालों को 'मूढ़' आदि कह कर तिरस्कृत किया गया है. कुछ स्थल देखने योग्य हैं:

न मां दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यंते नराधमा.

–गीता 7/15

अर्थात मुझे पापी, मूढ़ और नीच आदमी प्राप्त नहीं कर सकते. इसका मतलब है कि जो 'भगवान कृष्ण' को प्राप्त नहीं कर सकते, वे मूढ़, पापी और नीच हैं.

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्,
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु.

–गीता 16/19

अर्थात मैं अपने से द्वेष करने वाले क्रूर और नीच आदमियों को लगातार नीच योनियों में फेंकता हूं.

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्,
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः

–गीता 11/32

अर्थात जो लोग मेरे मत को नहीं मानते, जो उस में दोष निकालते हैं, उन्हें पक्के मूर्ख (सब प्रकार के ज्ञान से रहित) और नष्ट हुए समझो.

वाल्मीकि रामायण में बौद्ध धर्म के संस्थापक महामानव बुद्ध को चोर और दंडनीय कहा गया है:

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धः

–अयो. कां. 109/34

अर्थात जैसे चोर दंडनीय होता है, उसी प्रकार (वेद विरोधी) बुद्ध (बौद्धमतावलंबी?) भी दंडनीय है. (श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, हिंदी अनुवाद, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ. 303).

'अशोकावदान' नामक बौद्ध ग्रंथ में आता है कि पुष्यमित्र शुंग नामक ब्राह्मण राजा ने, जो बृहद्रथ बौद्ध राजा को कत्ल कर गद्दी पर बैठा था, बौद्ध विहार नष्ट कर दिए और घोषणा की कि "एक बौद्ध का सिर लाओ, एक सौ दीनार (सोने का तत्कालीन सिक्का) पाओ."

पुष्यमित्रो यावत् संघारामान् भिक्षूंश्च घातयन् प्रस्थितः, स यावच् छाकलमनुप्राप्तः, तेनाभिहितं यो मे श्रमणशिरो दास्यति, तस्याहं दीनारशतं दास्यामि.

–अशोकावदान

अर्थात पुष्यमित्र भिक्षुओं को मारता और संघारामों (बौद्धविहारों) को जलाता चला गया. वह स्यालकोट तक पहुंचा और घोषणा की कि जो मुझे एक बौद्ध का सिर ला कर देगा, उसे मैं सौ दीनार दूंगा.

शंकराचार्य ने बुद्ध को 'अनापशनाप बोलने वाला' और 'दुनिया का दुश्मन' कहा है:

सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति. सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः.

–ब्रह्मसूत्र–2/2/32 पर शंकर भाष्य

अर्थात बुद्ध ने अपने को अनापशनाप बकने वाला प्रकट किया है और 'अज्ञान से यह प्रजा विमोहित हो जाए' शब्दों से अपना प्रजाद्वेषी रूप सिद्ध किया है. अतः कल्याण चाहने वालों को बुद्ध के मत का आदर नहीं करना चाहिए.

कुमारिल भट्ट ने बुद्धोपदेश को "कुत्ते की खाल में पड़े दूध के समान गंदा व उपेक्षणीय" बताया है:

सन्मूलमपि अहिंसादिश्वदतिनिक्षिप्तक्षीरवदनुपयोगि.

–तंत्रवार्तिक.

माधवाचार्य ने मीमांसासूत्र (1/3/5-7) की व्याख्या करते हुए यही बात प्रकारांतर से कही है:

शाक्योक्ताहिंसनं धर्मो न वा, धर्मः श्रुतिस्त्वतः,
न धर्मो नहि पूतं स्याद् गोक्षीरं श्वदृतौ धृतम्..

–जैमिनीय न्यायमाला विस्तरः

अर्थात बुद्ध द्वारा दिया अहिंसा का उपदेश धर्म है या नहीं? धर्म तो श्रुति से जाना जाता है. वह धर्म नहीं है. कुत्ते के चमड़े की थैली या कुप्पी में रखा हुआ गोदुग्ध पवित्र अर्थात ग्राह्य नहीं होता.

सांख्यतत्त्वकौमुदी के लेखक वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध, जैन आदि के लिए 'म्लेच्छ', पुरुषापसद (नीच पुरुष), पशुप्राय (पशु सदृश) जैसे शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा है:

आप्तग्रहणेनाऽयुक्ताः शाक्यभिक्षुर्निर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृता भवंति. अयुक्तत्वं चैतेषां विगानात्, विच्छिन्नमूलत्वात्, प्रमाणविरुद्धार्थाभिधानात् कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहाद् बोद्धव्यम्.

–सांख्यकारिका 5 पर सांख्यतत्त्वकौमुदी

अर्था 'आप्त' पद के ग्रहण से बौद्धभिक्षु, निर्ग्रन्थ (= जैन), संसारमोचक आदि अनाप्तों के आगमसदृश प्रतीत होने वाले वचनों का निराकरण हो जाता है. इन वचनों की अयुक्तता इन के निंदित होने, उच्छिन्नमूल होने से (= वेदमूलक न होने से), प्रमाण-विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन करने से तथा कुछ ही म्लेच्छ आदि, नीच पुरुषों, पशु सदृशों के द्वारा स्वीकृत होने से सिद्ध होती है.

न्यायमंजरीकार ने बौद्धों के बारे में लिखते हुए कहा है कि वे–

पापकाचारोपदेशिनः, वेदबाह्याः, मोहप्रवृत्ताः, नरके पतनं.

–न्यायमंजरी, चौखंभा संस्करण, पृ. 242–43

अर्थात पापमय आचार का उपदेश देते हैं, वेदों के विरोधी हैं, मोह से प्रेरित हैं और नरकगामी हैं.

शंकरदिग्विजय में मंडन मिश्र और शंकराचार्य के शास्त्रार्थ का एक दृश्य देखें:

(मंडनः) कंथां वहसि दुर्बुद्धे गर्दभेनापि दुर्वहाम्.
शिखायज्ञोपवीताभ्यां कस्ते भारो भविष्यति.

–8/20

अर्थात मंडन–हे दुर्बुद्धि वाले शंकर, जब तुम गधे के द्वारा भी न ढोने लायक कन्था (कथरी) ढो रहे हो, तब शिखा और जनेऊ कितने भारी हैं कि तुम ने उन्हें काट डाला है?

(मंडनः) स्थितोऽसि योषितां गर्भे ताभिरेव विवर्धितः,
अहो कृतघ ता मूर्ख कथं ता एव निंदसि.

–8/24

अर्थात मंडन–हे मूर्ख, तुम ने स्त्रियों के गर्भ में निवास किया है; उन्हीं ने तुम्हारा भरणपोषण किया है. फिर भी उन की निंदा कर रहे हो! सचमुच तुम बड़े कृतघ हो.

(शंकर) यासां स्तन्यं त्वया पीतं यासां जातोऽसि योनितः,
तासु मूर्खतम स्त्रीषु पशुवद् रमसे कथम्.

–8/25

अर्थात शंकर–हे महा मूर्ख, जिन का दूध तुम ने पिया है, जिन की योनि से तुम उत्पन्न हुए हो, उन्हीं स्त्रियों के साथ तुम पशु के समान किस तरह रमण करते हो? तुम्हें लज्जा नहीं आती?

जैन धर्म पाप का मूल?

बौद्ध धर्म का समकालीन एक अन्य मत था–जैन मत. जैसे बौद्धों के विरुद्ध हिंदू धर्म के कई ग्रंथ विषवमन करते हैं, वैसे ही उन्होंने जैनों के विरुद्ध भी किया है. 'भविष्यपुराण' कहता है:

> न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कठंगतैरपि,
> हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेद् जैनमंदिरम्.
>
> –भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व, 3/3/28/53

इस का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वामी दयानंद ने लिखा है: "चाहे कितना ही दुख प्राप्त हो और प्राण कंठगत अर्थात मृत्यु का समय भी क्यों न आया हो, तो भी यावनी अर्थात म्लेच्छभाषा मुख से नहीं बोलनी चाहिए. और उन्मत्त हाथी मारने को क्यों न दौड़ा आता हो और जैनियों के मंदिर में जाने से प्राण बचते हों तो भी जैन मंदिर में प्रवेश न करें. किंतु जैन मंदिर में प्रवेश कर बचने से हाथी के सामने जा कर मर जाना अच्छा है." (एकादश समुल्लास).

'पद्मपुराण' कहता है:

> जैनधर्मं समाश्रित्य सर्वे पापप्रमोहिताः
> वेदाचारं परित्यज्य पापं यास्यन्ति मानवाः
> पापस्य मूलमेवं वै जैनधर्मो न संशयः,
> अनेन मुग्धा राजेंद्र महामोहेन पातिताः
>
> –पद्मपुराण, भूमि खंड 2/38/26-27 कलकत्ता

अर्थात जैनधर्म सारे पापों से भरा हुआ है. (जो) लोग उस से मोहित हो कर वेदधर्म के आचार को त्याग कर उसे ग्रहण कर लेते हैं, वे सब पापी हो जाते हैं. इस में संशय नहीं है कि जैनधर्म पापों की जड़ है. हे राजेंद्र, जो इस पर मुग्ध हो जाते हैं, वे पतित हो जाते हैं. (देखें डा. श्रीराम आर्य कृत 'पुराण किस ने बनाए'? पृ. 16).

सेना के बल पर वेदांत का प्रचार

शंकराचार्य ने वेदांत (अद्वैत मत) का प्रचार किया और कहा, "जगत मिथ्या है, ब्रह्म ही सत्य है. जीव ब्रह्म ही है." जब वह अपने मत का प्रचार करने के लिए निकलते, "तब सुधन्वा राजा की सेना शंकराचार्य के साथ चलती थी. उस के मारू बाजे के गर्जन से ही लोकायत मत वाले भागे. सेना की धूल से ही काणाद (कणाद के अनुयायी) काने हो गए. सांख्य (मत) ने युद्ध की बुद्धि (युद्ध का इरादा) छोड़ दी और योग (मत) वाले भी उन के साथ ही भागे. कौन ऐसा वादी (विरोधी) का बच्चा था जो इस शंकर मुनि के आगे ठहरता? बौद्ध भी एक क्षण के लिए (वाग्) युद्ध में खड़े रह कर भागे. जो वादी अपने को वैदिक मत के अनुचर बताते थे, वे तो हाथों से ही मारपीट कर अलग कर दिए जाते थे. कोईकोई उन के साथी राजा बहुत

दिनों तक बंदी, दास बना कर कारावास में बंद कर दिए जाते थे. पीछे कभी हाथपैर जोड़ने पर क्षमा कर के अपनेअपने राज को वापस कर दिए जाते थे और (सुधन्वा और शंकर की) सेवा करते थे. यतियों के धरणीधर (प्रमुख) शंकर की शूरता भी और दया भी दोनों विचित्र थीं." (देखें–भारतरत्न डा. भगवानदास-रचित 'विविधार्थ,' पृ. 139-40).

यह वर्णन डा. भगवानदास की अपनी कल्पना नहीं, बल्कि यह तो शंकर दिग्विजय के 15वें सर्ग के दोएक श्लोकों का सरल अर्थ मात्र है.

कुमारिल और शंकर ने जैनों और बौद्धों पर जो अत्याचार किए व करवाए, उन का वही परिणाम हुआ जो होना था. स्वामी दयानंद ने लिखा है: "दो जैन ऊपर से वेद मत के और भीतर से कट्टर जैन अर्थात कपटमुनि थे. शंकराचार्य उन पर अति प्रसन्न थे. उन लोगों ने अवसर पा कर शंकराचार्य को ऐसी विषयुक्त वस्तु खिलाई कि उन की क्षुधा (भूख) मंद हो गई. बाद में शरीर में फोड़ेफुंसी निकलने से छः महीने के भीतर शरीर छूट गया"– सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास.

'शंकर दिग्विजय' में आता है कि पद्मपाद ने शंकरभाष्य की एक टीका लिखी थी जिस में मीमांसा के आचार्य प्रभाकर के मत का खंडन किया गया था. वह तीर्थयात्रा पर जाने से पहले उक्त टीका की पांडुलिपि अपने मामा के घर में रख गया, जो प्रभाकर का अनुयायी था. मामा ने सोचा कि 'मुझ में इतनी शक्ति नहीं कि मैं इस ग्रंथ का युक्तियुक्त खंडन कर सकूं. यदि यह ग्रंथ बना रहा तो मेरे गुरु प्रभाकर के मत को बहुत हानि पहुंचेगी. परंतु यदि इसे जला दिया जाए तो गुरु पक्ष का प्रचार बेरोकटोक होता रहेगा. अपने मत का नाश होने की अपेक्षा घर का नाश होना मेरे लिए अच्छा है. क्यों न इस घर के साथ ही इस पुस्तक को भी जला दिया जाए?'

ऐसा विचार कर उस ने स्वयं अपने घर को आग लगा दी और जोर से चिल्लाने लगा कि मेरे घर को आग लग गई है:

> गतेऽत्र मेने किल मातुलोऽस्य ग्रंथे स्थितेऽस्मिन् गुरुपक्षहानिः,
> दग्धेऽत्र जायेत महान् प्रचारो नोक्त्या निराकर्तुमपि प्रभुत्वम्.
> पक्षस्य नाशाद् गृहनाश एव नो वरं गृहेणैव दहामि पुस्तकम्,
> एवं निरूप्य न्यदधाद् हुताशनं चुक्रोश चाग्निर्दहतीति मे गृहम्.
>
> –सर्ग 14/114–115

इस तरह वह दर्शनशास्त्र की अमूल्य पुस्तक सदा के लिए खाक में मिला दी गई.

रामानुज के जीवनचरित में आता है कि वह और कूरेश बौधायनकृत ब्रह्मसूत्रभाष्य के संक्षिप्त संस्करण को कश्मीर से चुरा कर भाग गए थे. यह अलग बात है कि मार्ग में पकड़े गए और वह पुस्तक पुनः कश्मीर पहुंच गई. इस अरसे में कूरेश ने उस पुस्तक को कंठस्थ कर लिया था. उसी स्मृति के आधार पर रामानुज ने अपना श्रीभाष्य रच दिया. (स्वामी भगवदाचार्य, प्रथम भाग, पृ. 559).

हिंदूधर्म को फिर से भारत में स्थापित करने वाले और 'भगवान शंकर के अवतार' कहे जाने वाले शंकर को जब अपनी माता के शव का दाहसंस्कार करना

था, तब किसी भी हिंदू ने न तो लाश उठाने में मदद की और न चिता जलाने के लिए आग दी. (तब दियासिलाई नहीं होती थी. बांस रगड़ कर एक बार जैसेतैसे आग जला ली जाती थी और उसे कभी बुझने नहीं दिया जाता था. बांस रगड़ने की कष्टकर प्रक्रिया से बचने के लिए प्राय: अपने वंश के लोगों से आग मांग ली जाती थी या प्रत्येक व्यक्ति अपने घर में सदा धूनी जलाए रखता था जो पुण्यकार्य समझा जाता था. धर्मशास्त्रों का ऐसा ही करने का आदेश है.)

शंकर के नातेरिश्तेदारों का कहना था : संन्यासी दाह संस्कार नहीं कर सकता. अत: वे अपने घरों से आग देने को तैयार न हुए. उधर शंकर ने अपनी माता को वचन दे रखा था कि मैं अपने हाथों तुम्हारा अंतिम संस्कार करूंगा. इस पर शंकर ने जो किया, उस का वर्णन 'शंकर दिग्विजय' में इस प्रकार मिलता है:

> अनलं बहुधाऽर्थिताऽपि तस्मै बत नाऽऽदत्त च बंधुता तदीया.
> संचित्य काष्ठानि सुशुष्कवंति गृहोपकंठे धृततोयपात्रः,
> स दक्षिणे दोष्णि ममंथ वह्निं ददाह तां तेन च संयतात्मा.
> न याचिता वह्निमदुर्यदस्मै शशाप तान् स्वीयजनान् सरोषः,
> इतः परं वेदबहिष्कृतास्ते द्विजा यतीनां न भवेच्च भिक्षा.
> गृहोपकंठेषु च वः श्मशानमद्यप्रभृत्यस्त्विति ताञ् शशाप,
> अद्यापि तद्देशभवा न वेदमधीयते नो यमिनां च भिक्षा.
> तदाप्रभृत्येव गृहोपकंठेष्वासीच्छ्मशानं किल हन्त तेषाम्.
>
> –सर्ग 14/47–51

अर्थात बारबार मांगने पर भी बंधुजनों ने शंकर को आग नहीं दी तो उस ने घर के समीप सूखी लकड़ियां बटोर कर माता के दाहिने बाजू से मंथन कर अग्नि को निकाला (?) और उस से माता का अंतिम संस्कार किया. 47-48.

चूंकि मांगने पर बंधुबांधवों ने उसे आग नहीं दी, अतः क्रुद्ध हो कर शंकर ने शाप दिया कि ये ब्राह्मण आज से वेद से बहिष्कृत हो जाएंगे और कोई संन्यासी इन के यहां से भिक्षा ग्रहण नहीं करेगा. 49

शाप देते हुए शंकर ने आगे कहा कि तुम्हारे घरों के पास ही आज से श्मशान बना रहे. आज भी न उस देश के ब्राह्मण वेद पढ़ते और न संन्यासी ही उन से भिक्षा ग्रहण करते हैं. 50.

उसी दिन से ले कर उन ब्राह्मणों के घरों के पास ही श्मशान भूमि बन गई. 51.

कुमारिल ने बौद्धों का कत्ल करवाया

'शंकर दिग्विजय' में राजा सुधन्वा द्वारा बौद्धों और जैनों को हिंदू धर्म के आचार्य कुमारिल भट्ट की आज्ञानुसार कत्ल करने का स्पष्ट वर्णन मिलता है. वहां लिखा है:

> आसेतोरातुषाराद्रेर्बौद्धानावृद्धबालकम्,

न हंति यः स हंतव्यो भृत्यानित्यन्वशान्नृपः.
स्कंदानुसारिराजेन जैना धर्मद्विषो हताः.
योगींद्रेणेव योगघ्ना विघ्नास्तत्त्वावलंबिना

–1/93,95

अर्थात राजा ने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि हिमालय से ले कर रामेश्वरम् तक के सारे भूभाग में जो भी बौद्ध मिले, चाहे वह बच्चा हो या बूढ़ा, उसे कत्ल कर दो. जो ऐसा नहीं करेगा, उसे मैं कत्ल कर दूंगा. (93)

कार्तिकेय के अवतार कुमारिल भट्ट की आज्ञा मान कर राजा ने (हिंदू) धर्मद्वेषी जैनों (कुछ के मत में 'जैन' यहां बौद्ध अर्थक है) को उसी प्रकार नष्ट कर दिया जैसे तत्त्वज्ञानी योगी योग के विघ्नों को नष्ट कर देता है. (95)

रामानुज ने ग्यारहवीं शताब्दी में चक्रांकित संप्रदाय चलाया था. यह वैष्णव संप्रदाय है और हिंदू धर्म का अभिन्न अंग है. लेकिन तत्कालीन हिंदू धर्म के एकाधिकारियों के लिए यह असह्य था. अतः इस के विरुद्ध 'पद्मपुराण' कहता है:

शंखचक्रे तापयित्वा यस्य देहः प्रदह्यते,
स जीवन् कुणपस्त्याज्यः सर्वधर्मबहिष्कृतः.

–पदम्पुराण

अर्थात जिस व्यक्ति की देह शंख, चक्र तपा कर दाग दी गई है, जो चक्रांकित है, वह व्यक्ति जीवित होते हुए भी लाश के समान त्याज्य है और उसे किसी धार्मिक काम में शामिल नहीं होने देना चाहिए.

'नारदपुराण' में भी रामानुजीय चक्रांकितों के विरुद्ध पर्याप्त विषवमन किया गया है:

चक्रांकितं तनुर्यत्र तत्र कोपि न संवसेत्,
यदि तिष्ठेत् महापापी सहस्रब्रह्मह भवेत्.
गंगास्नानरतो वापि अश्वमेधरतोपि वा,
चक्रांकिततनुं दृष्ट्वा पश्येत् सूर्यं जपेन्नरः.
जपेच्च शतरुद्रीयमन्यथा रौरवं व्रजेत्.

–नारदपुराण, पुराणमतपर्यालोचन, पृ. 531 से उद्धृत

अर्थात चक्रांकित व्यक्ति जिस स्थान पर रहे, वहां कोई दूसरा न रहे. यदि रहेगा तो वह महापापी होगा. उसे एक हजार ब्रह्म हत्याओं का दोष लगेगा. यदि कोई गंगा में नहाने या अश्वमेध यज्ञ करने के बाद भी किसी चक्रांकित को देख ले तो वह सूर्य की ओर देखे और जप करे, अन्यथा रौरव नामक भयंकर नरक को प्राप्त होगा.

विष्णुस्मृति कहती है.

यथा श्मशानजं काष्ठं सर्वकर्मसु गर्हितम्,
तथा चक्रांकितो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः.

–विष्णुस्मृति

अर्थात जैसे श्मशान की लकड़ी गर्हित (निंदित) होती है, वैसे ही चक्रांकित वैष्णव गर्हित होता है. उसे सब (शुभ) कामों के अवसर पर दूर रखना चाहिए.

शिव और शैवों की निंदा

भागवत पुराण वैष्णव (विष्णु की भक्ति का प्रतिपादक) है. वह हिंदू धर्म के दूसरे संप्रदाय—शिव और शैवों— की निंदा करते हुए कहता है:

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः,
पाखंडिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः
मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ,
नारायणकलाः शान्ताः भजन्तीत्यनसूयवः.

—भागवतपुराण 4/2/28

अर्थात जो शिव का व्रत धारण करने वाले हैं या जो उस के अनुयायी हैं, वे सत् शास्त्रों के द्वेषी और पाखंडी हैं. अतः मुक्ति चाहने वाले लोग शिव की भयंकर मूर्तियों को त्याग कर नारायण (विष्णु) की शांत कलाओं का ध्यान करते हैं.

जैसे भागवतपुराण में हिंदू धर्म के अपने ही देवता शिव पर 'पुष्पवर्षा' की गई है, वैसे ही पद्मपुराण में हिंदू धर्म के एक दूसरे देवता विष्णु पर 'कृपादृष्टि' की वृष्टि की गई है. वहां लिखा है:

विष्णुदर्शनमात्रेण शिवद्रोहः प्रजायते,
शिवद्रोहान्न संदेहो नरकं याति दारुणम्.
तस्मात् विष्णुनामापि वक्तव्यं न कदाचन.

—पद्मपुराण, पुराणमतपर्यालोचन, पृ. 529 से उद्धृत

अर्थात विष्णु की ओर देखना भी शिव से द्रोह करना है और शिव से द्रोह करने से आदमी नरक को जाता है. इसलिए विष्णु का नाम भी नहीं लेना चाहिए.

सौरपुराण की घोषणा है:

चतुर्दशविद्यासु गीयते चन्द्रशेखरः.
तेन तुल्यो यदा विष्णुर्ब्रह्मा वा यदि गद्यते,
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः

—सौरपुराण, 40/15,17

अर्थात चौहद विद्याएं शिव का गुणगान करती हैं. जो व्यक्ति विष्णु को या ब्रह्मा को शिव के बराबर का बताता है, वह इस अपराध के कारण 60 हजार वर्षों तक टट्टी का कीड़ा बनता है.

शिवपुराण में शैवों ने शिव के प्रसाद की बहुत प्रशंसा की है. लिखा है:

दृष्ट्वापि शिवनैवेद्यं यांति पापानि दूरतः,
भुक्ते तु शिवनैवेद्ये पुण्यान्यायांति कोटिशः.

–शिव पुराण, वि. सं. 22/4

अर्थात शिव के प्रसाद को देखने मात्र से पाप दूर भाग जाते हैं. जो उस प्रसाद को खाता है, उसे करोड़ों पुण्य प्राप्त होते हैं.

लेकिन 'पद्मपुराण' ने कहा है कि प्रसाद केवल विष्णु का खाना चाहिए. शिव का प्रसाद गलती से भी खा लेने पर ब्राह्मण चांडाल के समान नीच हो जाता है:

तस्माद् विष्णोः प्रसादो वै सेवितव्यो द्विजन्मना,
इतरेषां देवानां निर्माल्यं गर्हितं भवेत्.
सकृदेव हि योऽश्नाति ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः
निर्माल्यं शंकरादीनां स चांडालो भवेद् ध्रुवं.

–पद्मपुराण, उत्तर खंड, 255/104,105

अर्थात द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को विष्णु का ही प्रसाद खाना चाहिए, अन्य किसी देवता का नहीं. यदि कोई मूर्ख ब्राह्मण शिव का प्रसाद एक बार भी खा ले तो यह निश्चित है कि वह चांडाल हो जाता है.

नीच शैव भले वैष्णव से श्रेष्ठ

वैष्णवों का कहना है कि वैष्णव होने पर ब्राह्मणत्व आदि नहीं रहता. जो आदमी वैष्णव है, वह अवश्य सिद्धि प्राप्त करता है, जहांजहां पुराणों और स्मृतियों में रुद्र की पूजाअर्चना करने को कहा गया है, वह केवल अब्राह्मणों अर्थात शूद्रों के लिए है:

तस्माद्वैष्णवत्वेन ब्राह्मण्यादि विहीयते,
वैष्णवत्वेन संसिद्धिं लभते नात्र संशयः.
शूद्रादीनां तु रुद्राद्या अर्चनीयाः प्रयत्नतः,
यत्र रुद्रार्चनं प्रोक्तं पुराणेषु स्मृतिष्वपि,
तदब्रह्मण्यविषयमेवमाह प्रजापतिः.

–वसिष्ठ स्मृति

लेकिन शैवों ने मौलाना मुहम्मद अली की सी भाषा अपनाई. अली ने दिल्ली में एक भारी सभा में कहा थाः " मेरे लिए फासद (फसाद कराने वाला) और फाजर (परस्त्री से बलात्कार करने वाला) मुसलमान महात्मा गांधी से हजार दरजे बेहतर है." (बलराज मधोक, पाकिस्तान का आदि और अंत, पृ. 27).

ठीक इसी तर्ज पर सौरपुराण ने कहा है कि यदि कोई शैव पाप कर्मों में रत, क्रूर और अपने आश्रम धर्म से शून्य हो तो भी वह हजारों वैष्णवों से श्रेष्ठ होता है:

वैष्णवानां सहस्रेभ्यः शिवभक्तो विशिष्यते,
यदि पापरतः क्रूरः स्वाश्रमाचारवर्जितः.

–सौरपुराण, 11/9

शैव संप्रदाय के लोग जटाएं रखते और विभूति (भस्म) धारण करते थे/हैं. इन का शैव ग्रंथों में बहुत गुणगान किया गया है. परंतु वैष्णवों ने घोषणा की:

भक्तिदं मुक्तिदं भस्म वैष्णवानां विशेषतः,
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन विभूतिं धारयेद् बुधः
एवं जल्पंति ये मूढा मिथ्याचारपरायणाः,
सपद्येव बहिष्कार्या वैष्णवेभ्यो हि ते खलाः
जटायाः धारणं देहे विभूतेर्धारणं तथा,
अवैष्णवं मतं कर्म सत्यं सत्यं महर्षयः..

–बृहद् विष्णुपुराण, अ. 20

अर्थात 'भस्म वैष्णवों को भक्ति और मुक्ति देने वाली है, अतः विद्वान को चाहिए कि वह प्रयत्नपूर्वक विभूति धारण करे,' इस प्रकार जो बड़बड़ाते हैं, वे मूर्ख, पाखंडी और दुष्ट हैं. ऐसे लोगों को शीघ्र ही पृथक कर देना चाहिए. उन का बहिष्कार करना चाहिए, क्योंकि जटा व भस्म धारण करना वैष्णव मत के विरुद्ध है.

न भस्म धारयेद् विप्रः परमापद्गतोऽपि वा,
मोहाद् वै बिभृयाद् यस्तु स सुरापो भवेद् ध्रुवम्.

–वृद्धहारीत संहिता

अर्थात ब्राह्मण घोर संकट में भी कभी भस्म धारण न करे. जो मोहवश इसे धारण करेगा, उसे शराब पीने का दोष लगेगा.

कुलीनो ब्राह्मणो विद्वान् भस्मधारी भवेद् यदि,
वर्जयेत्तादृशं देवि मद्योच्छिष्टघटं यथा.

–वाराह पुराण

अर्थात यदि कोई कुलीन विद्वान भस्म धारण करे तो उसे शराब के जूठे घड़े के समान त्याग दे.

शंख स्मृति में तो भस्म को छूने पर भी वस्त्रों सहित स्नान करने पर ही शुद्ध होने की बात कही गई है:

दीपाग्निर्दीपतैलं च भस्म चास्थि रजस्वलाम्,
एतानि ब्राह्मणं स्पृष्ट्वा सवासो जलमाविशेत्.

–शंख स्मृति

अर्थात दीपक की अग्नि/तेल, भस्म, हड्डी, मासिक धर्मवती स्त्री में से किसी को यदि कोई ब्राह्मण छू ले तो वह वस्त्रों सहित स्नान करने से शुद्ध होता है.

पुंसां जटाधारणं मौढ्यवतां वृथैव.
संभाषणादपि नरा नरकं प्रयान्ति.

–विष्णु पुराण

अर्थात जो जटाधारी है, उन से वार्त्तालाप करने से भी व्यक्ति नरक को जाता है.

शैव त्रिपुंड्र लगाते थे/हैं और वैष्णव ऊर्ध्वपुंड्र (ण). वैष्णवों ने त्रिपुंड्र लगाने वालों को चांडाल घोषित किया:

त्रिपुंड्रधारिणं विप्रं चाण्डालमिव संत्यजेत्.

–पराशर स्मृति

वैष्णवों ने गैरवैष्णवों की निंदा करते हुए घोषणा की कि जो ब्राह्मण वैष्णव संप्रदाय में दीक्षित नहीं, वह चाहे बहुत से शास्त्रों का ज्ञाता क्यों न हो, जीवित रहते हुए वह चांडाल के समान होता है और मर कर वह कुत्ता बनता है:

अवैष्णवः स्याद् यो विप्रो बहुशास्त्रश्रुतोऽपि वा,
स जीवन्नेव चांडालो मृतः श्वानोभिजायते.

–वृद्धहारीत स्मृति, अ. 8

पंचरात्रों से विद्वेष

पंचरात्र वैष्णवों का एक संप्रदाय है. इस के विषय में कूर्मपुराण के 15वें अध्याय में कहा गया है कि पंचरात्रों (पंचरात्र संप्रदाय के लोगों) का जन्म पूर्वजन्म में गोहत्या के महापाप के फलस्वरूप हुआ है एवं वे पूर्ण रूप से अवैदिक (वेदों को न मानने वाले) हैं. शाक्त (देवी के उपासक), शैव (शिव के पूजक) एवं पंचरात्र (संप्रदाय) के धर्म ग्रंथ मानव को भ्रम में डालने वाले हैं. पराशर पुराण ने कहा है कि पंचरात्र के अनुयायी शापभ्रष्ट हैं. वसिष्ठ संहिता, सांब पुराण व सूतसंहिता आदि में उन्हें महापातकी (महापापी) और पूर्णतः अवैदिक कह कर पूरी शक्ति से उन की निंदा की गई है.

उन के विरुद्ध दोषारोपण का अन्य कारण यह भी था कि पंचरात्री अपने संप्रदाय के अंतर्गत स्त्रियों एवं शूद्रों को भी प्रवेश देते थे. आश्वलायन स्मृति के अनुसार केवल जाति बहिष्कृत व्यक्ति पंचरात्रों के धर्मचिह्नों को स्वीकार करते हैं. बृहन्नारदीय पुराण के चौथे अध्याय में यहां तक कहा गया है कि पंचरात्री के साथ वार्त्तालाप करने से नरक में जाना पड़ेगा. इसी प्रकार का निषेध कूर्म पुराण में भी पाया जाता है एवं यह भी कहा है कि उन को (पंचरात्रियों को) अंत्येष्टि क्रिया में सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए.

वायुपुराण का हवाला देते हुए हेमाद्रि का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण पंचरात्र में शामिल हो जाता है तो वह संपूर्ण वैदिक अधिकारों से च्युत हो जाता है. लिंग पुराण भी उन्हें सर्वधर्म बहिष्कृत कहता है. आदित्य और अग्नि पुराण भी उन से पूर्ण विरोध

प्रकट करते हैं जो पंचरात्रों के साथ किसी भी प्रकार का संबंध रखते हैं. विष्णु, शातातप, हारीत, बौधायन और यमसंहिता भी पंचरात्रियों और उन के साथ संबंध रखने वालों से पूर्ण विरोध प्रकट करते हैं. (डॉ. सुरेंद्रनाथ दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, हिंदी अनु. जिल्द 3, पृ. 18-19).

पाषंडिनो विकर्मस्थान् वामाचारांस्तथैव च,
पंचरात्रान् पाशुपतान् वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्.

–कूर्मपुराण, उत्तरार्ध 16/15

अर्थात पाखंडी संप्रदाय के लोगों, बुरे काम करने वालों, वाममार्गी संप्रदाय और पंचरात्र के लोगों का वाणी से भी आदर न करे.

द्वितीयं पांचरात्रे च तंत्रे भागवते तथा,
दीक्षिताश्च द्विजा नित्यं भवेयुर्गर्हिता हरेः.

–पराशरपुराण, भारतीय दर्शन का इतिहास, जिल्द 3, पृ. 19 से उद्धृत

अर्थात पांचरात्र और भागवत संप्रदायों में दीक्षित द्विज भगवान द्वारा अभिशप्त हैं.

अन्य संप्रदायों के विरुद्ध विषवमन

स्कंदपुराण का कहना है कि भगवान ने अधम ब्राह्मणों को पांचरात्र, कापालिक और शाक्त (शक्ति के उपासक) संप्रदायों में सम्मिलित होने का शाप दिया:

पंचरात्रे च कापाले तथा कालमुखेऽपि च,
शाक्ते च दीक्षिता यूयं भवत ब्राह्मणाधमाः

–स्कंदपुराण, दासगुप्त की उक्त पुस्तक, पृ. 19 पर पादटिप्पणी में उद्धृत

भागवतपुराण वैष्णवों, विशेषतः कृष्णभक्तों का धर्म ग्रंथ है, जैसे रामायण रामभक्तों की पुस्तक है. लेकिन पद्मपुराण में भागवत की महिमा प्रतिपादित करते हुए उन लोगों को गधे और चांडाल कहा गया है जो भागवत नहीं पढ़तेसुनते:

आजन्ममात्रमपि येन शठेन किंचिच् चित्तं विधाय शुकशास्त्रकथा न पीता,
चांडालवच्च खरवद् बत तेन नीतं मिथ्या स्वजन्मजननीजनिदुःखभाजा.
जीवच् छवो निगदितः स तु पापकर्मा येन श्रुतं शुककथावचनं न किंचित्,
धिक् तं नरं पशुसमं भुवि भाररूपमेवं वदन्ति दिवि देवसमाजमुख्याः

–पद्मपुराण, भागवत माहात्म्य, 3/42–43

अर्थात जिस दुष्ट ने अपनी सारी आयु में चित्त को एकाग्र कर के श्रीमद्भागवतामृत का थोड़ा सा भी रसास्वादन नहीं किया, उस ने तो अपना सारा जन्म चांडाल और गधे के समान व्यर्थ ही गंवा दिया. वह तो अपनी माता को प्रसवपीड़ा पहुंचाने के लिए ही उत्पन्न हुआ. जिस ने इस शुकशास्त्र (अर्थात

भागवतपुराण) के थोड़े से भी वचन नहीं सुने, वह पापात्मा (पापी) तो जीता हुआ ही मुरदे के समान है. "पृथ्वी के भारस्वरूप उस पशुतुल्य मनुष्य को धिक्कार है"–यों स्वर्गलोक में देवताओं के प्रधान इंद्रादि कहा करते हैं. (देखें, श्रीभागवत सुधासागर, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ. 8).

वासुदेव की पूजा कृष्णभक्ति है, क्योंकि कृष्ण और वासुदेव एक ही माने जाते हैं. इस पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? परंतु 'वसिष्ठ स्मृति' कहती है:

चतुर्वेदी च यो विप्रो वासुदेवं न विन्दति,
वेदभारभयाक्रांतः स वै ब्राह्मणगर्दभः.

–वसिष्ठ स्मृति

अर्थात जो ब्राह्मण चारों वेदों का ज्ञाता है, परंतु वासुदेव को नहीं जानता, उस की भक्ति नहीं करता, वह ब्राह्मण रूपी गधा है, जो वेदों के बोझ के तले दबा हुआ है.

वैष्णवों ने बौद्धों और जैनों जैसे न केवल दूसरे धर्मों को बल्कि हिंदू धर्म के अन्य संप्रदायों शैवों आदि को भी उन की भिन्न धार्मिक मान्यताओं के कारण 'अछूत' घोषित करते हुए कहा है:

बौद्धान् पाशुपतांश्चैव लोकायतिकनास्तिकान्,
विकर्मस्थान् द्विजान् स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत्.

–षट्त्रिंशन्मत, अपरार्क पृ. 923, स्मृति चन्द्रिका 1, पृ. 118

अर्थात बौद्धों, पशुपत मतावलंबियों, लोकायतों, कपिल के अनुयायियों, धर्मभ्रष्ट ब्राह्मणों एवं नास्तिकों से छू जाने पर वस्त्रों सहित पानी में घुस कर स्नान करना चाहिए.

शैवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान्,
विकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सवासा जलमाविशेत्.

–ब्रह्मपुराण, याज्ञ. 3/30 की मिताक्षरा टीका से उद्धृत

अर्थात शैवों, पाशुपतों, लोकायतिकों, नास्तिकों, बुरे काम में लगे द्विजों, धर्मच्युत ब्राह्मणों और शूद्रों से छू जाने पर वस्त्रों सहित पानी में प्रवेश करे.

द्वेष और असहिष्णुता दूसरों के देवताओं, मतों और विभिन्न मत संस्थापकों के प्रति ही न थी, बल्कि यह धर्मपुस्तकों के प्रति भी वैसी ही थी. पद्मपुराण ने 18 पुराणों में से छः पुराणों–मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण, लिंगपुराण, शिवपुराण, स्कंदपुराण और अग्निपुराण– को नरक में ले जाने वाले बताते हुए कहा है कि इन्हें त्याग दें, इन का पाठ व पूजन आदि न करे :

पुराणानि च वक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमात्
मात्स्यं कौर्मं तथा लैंगं शैवं स्कान्दं तथैव च
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे

तथैव तामसा देवि निरयप्राप्तिहेतव:
तामसा नरकायैव वर्जयेत्तानि विलक्षण:.
–पद्मपुराण, उत्तरखंड, अ. 236/3, 17–18,21 (कलकत्ता)

जिस धर्म के धर्म ग्रंथ अपने ही दूसरे हिस्सों के विरुद्ध विषवमन करते हैं उस का अन्यों के प्रति कैसा व्यवहार रहा होगा, यह आसानी से समझा जा सकता है.

विदेशी आक्रमणों का स्वागत

पूर्वोल्लिखित धर्मशास्त्रीय आदेशों के कारण भारत में धार्मिक असहिष्णुता का उन्माद इस कदर रहा है कि यहां समयसमय पर एक धर्म वाला दूसरे धर्म वाले के विरुद्ध विदेशी आक्रमणकारियों तक को बुलाता रहा है या उन का स्वागत करता रहा है. ऐसे कुछ कटु ऐतिहासिक तथ्य नीचे प्रस्तुत हैं:

अशोक का चौथा उत्तराधिकारी शालिशूक मौर्य कट्टर जैन था. उस ने अपने साम्राज्य में धर्म के नाम पर औरंगजेब से भी ज्यादा कत्ल करवाए. काठियावाड़ और गुजरात में उस ने अन्य मतावलंबियों को इस कदर जबरदस्ती जैन बनाया कि प्रजा त्राहित्राहि कर उठी थी. ऐसे में जब बैक्ट्रियन-यूनानी देमित्रियस बाख्त्री ने भारत पर हमला किया तो गैर जैन प्रजा ने उन का स्वागत किया और उसे 'धर्म का मित्र' कह कर संबोधित किया. गार्गीसंहिता के युगपुराण में जहां इस हमले का जिक्र है, वहां देमित्रियम का नाम 'धम्ममीत' (धर्ममित्र) लिखा मिलता है, यद्यपि उस का भारतीय रूपांतर 'दिमित' था. स्पष्ट है, गैरजैनों, विशेषत: ब्राह्मणधर्मियों ने, तब यूनानी हमलावर का स्वागत किया.

अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ बौद्ध था. उसे 187 ईसा पूर्व में कत्ल कर के उस का ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग गद्दी पर बैठा. उस ने ब्राह्मण विधिविधान फिर से प्रचलित किए. मनुस्मृति की नींव इस काल में ही रखी गई. उस ने बौद्धों का बुरी तरह संहार किया. उन्हीं दिनों देमित्रियस का सेनापति और दामाद मिनांदर हाल ही में बौद्ध दार्शनिक नागसेन से प्रभावित हो कर बौद्ध मत का अनुयायी बना था. तंग आए बौद्धों ने पुष्यमित्र शुंग के ब्राह्मण साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए उसे उकसाया.

वह लड़तेलड़ते युद्धभूमि में काम आया. उधर पुष्यमित्र ने बौद्धों पर और ज्यादा सख्ती शुरू कर दी. उस ने पाटलिपुत्र (पटना) से ले कर जालंधर तक के सब बौद्ध विहार जलवा दिए और यह घोषणा की कि जो मुझे एक बौद्ध का सिर ला कर देगा, मैं उसे स्वर्ण की सौ मुद्राएं दूंगा.

पुष्यमित्र का अंतिम उत्तराधिकारी देवभूति (73 ईसा पूर्व) अपने मंत्री वसुदेव के हाथों मारा गया. वसुदेव काण्वायन गोत्रीय ब्राह्मण था. उस के धार्मिक उन्माद से तंग आए जैनों ने उस ब्राह्मण साम्राज्य के विरुद्ध शकों को आमंत्रित किया. उन का अग्रदूत कालकाचार्य था. 'कालकाचार्य कथानक' के अनुसार, कालक 'सगकुल' जा कर शकों को हिंदुगदेस (उज्जैन) लाया. शक उस के पीछे चलते हुए सिंधु नदी को पार कर सुरट्ठ (सौराष्ट्र) आए इत्यादि.

हर्षवर्धन (7वीं शताब्दी में) बौद्ध राजा था. उसे ब्राह्मणों और संन्यासियों ने मिल कर मरवाने का षड्यंत्र रचा. जिस संन्यासी ने उस पर छुरा चलाया था, उस ने जांच के दौरान बताया था कि उस षड्यंत्र में 500 विद्वान ब्राह्मण सम्मिलित हैं, जो राजा द्वारा बौद्धों का सम्मान किए जाने के कारण चिढ़े हुए हैं.

हर्षवर्धन के भाई राज्यवर्धन की हत्या के लिए भी ऐसा ही षड्यंत्र रचा गया था. हर्ष तो बच निकला, लेकिन राज्यवर्धन की तो हत्या कर ही दी गई थी. यह षड्यंत्र भी बौद्धों और ब्राह्मणों के द्वेष का परिणाम था. इस का संचालक था–बौद्धों का महाशत्रु बंगाल या गौड़ का राजा शशांक.

शशांक ने, जो शैव था, बौद्ध धर्म के विरुद्ध पागलपन की सीमा तक वैरपूर्ण कदम उठाए. ह्वेनसांग लिखता है कि उस ने कुशीनगर और वाराणसी के बीच के सभी बौद्ध विहारों को तबाह किया, पाटलिपुत्र में बुद्ध के पदचिह्नों से अंकित पत्थरों को गंगा में फिंकवा दिया, गया के बोधिवृक्ष को कटवा डाला और बुद्ध की मूर्ति के स्थान पर शिव की मूर्ति स्थापित की. इसी कारण हर्ष के राजकवि बाण ने 'हर्षचरितम्' में शशांक को 'गौड़ों में सर्वाधिक निकृष्ट' और 'अधम गौड़ सर्प' कहा है.

क्रूरता की पराकाष्ठा

जिस प्रकार 7वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में शशांक ने उत्तर भारत के बौद्धों की नाक में दम कर रखा था, उसी प्रकार नेडुमारन या सुंदर पांड्य ने उसी शताब्दी के उत्तरार्ध में दक्षिण में जैनों पर अत्याचार करने शुरू कर दिए थे. यह राजा जब गद्दी पर बैठा तब वह जैन था, परंतु बाद में उस की पत्नी के गुरु तिरुज्ञान संमंद ने उसे शैव धर्म में दीक्षित कर लिया. तब से वह अपने पहले के धर्मगुरुओं–जैन साधुओं–के पीछे पड़ गया. उस ने उन पर अनेक तरह के अत्याचार किए. आठ हजार से अधिक जैन साधुओं को उस ने बहुत कष्ट दे कर मरवा दिया. उस के क्रूर कृत्यों का प्रदर्शन अरकाट के तिरुवत्तूर मंदिर की दीवारों पर खुदे हुए चित्रों में किया गया है.

आठवीं ईसवी में जब सिंध के हिंदू राजा दाहिर पर मुहम्मद बिन कासिम ने हमला किया, तब उस के साथ सिर्फ 6,000 सैनिक थे, लेकिन दाहिर की बौद्ध विरोधी नीति से तंग आए बौद्धों ने कासिम का साथ दिया. इस तरह हिंदुओं की असहिष्णुता ने देश की गुलामी की ऐसी गहरी नींव डलवाई जो 1947 में जा कर कहीं उखड़ी, तब भी देश का अंगभंग हुआ और दो धर्मों के खून की नदियां बहीं.

शंकरवर्मा (883 से 902 तक) ने कश्मीर में गैर शैव मंदिरों को लूटा. ग्यारहवींबारहवीं शताब्दी (1193 से 1210 ईसवी) में सुभट वर्मन ने गुजरात में दमोह और खंभात में अनेक जैन मंदिरों को लूटा. कल्हण (1150) ने 'राजतरंगिणी' में कश्मीर के एक राजा हर्ष का वर्णन किया है जिस ने नगर, पुर, ग्राम और किसी महल में कोई मूर्ति नहीं रहने दी थी:

ग्रामे पुरेऽथ नगरे प्रासादो न स कश्चन
हर्षराजतुरुष्केण न यो निष्प्रतिमीकृतः

–रा. त. 7/1095

कश्मीर के इतिहास से पता चलता है कि हर्ष शैव था, क्योंकि उस के पिता कलशदेव ने शिव का सोने का मंदिर बनवाया था. हर्ष ने "अनेक मंदिरों की संपत्ति छीनी, देवताओं की मूर्तियां उखाड़ीं, देवताओं के मुंह पर टट्टी और पेशाब फेंकवाया. उन पर थुकवाना तो साधारण सी बात थी." (काशमीरेतिहासः, पृ. 143) ऐसा प्रतीत होता है यह सब गैरशैव मंदिरों व मूर्तियों के साथ ही किया गया.

ऋग्वेद के प्राचीन मंत्रों में 'असुर' शब्द का प्रयोग देवता के अर्थ में मिलता है. असुरस्य मायया **(ऋ. 5/63/3) इस का अर्थ करते हुए सायण ने लिखा है–**असुरस्योदकनिरसितुः पर्जन्यस्य मायया प्राज्ञया सामर्थ्येन **(असुर की, पानी बरसाने वाले पर्जन्य देवता की माया, प्रज्ञा अर्थात सामर्थ्य से) यह शब्द पारसियों की धर्मपुस्तक 'अवेस्ता' के 'अहुर' का आर्यीकृत रूप है. बाद में जब पारसी विचारधारा से आर्य विचारधारा का विरोध उत्पन्न हो गया तब आर्यों ने पारसियों को चिढ़ाने के लिए 'असुर' का अर्थ 'राक्षस' कर दिया. इसीलिए उत्तरकालीन वेद मंत्रों में 'असुर' शब्द राक्षस का अर्थ देता है और आज तक इसी अर्थ में चला आ रहा है.**

यही कुछ बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष के दौरान पुनरावृत्त हुआ. अशोक ने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय दिया जिस से ब्राह्मणों को हलवापूरी मिलनी बंद हो गई. अशोक के प्रति ब्राह्मणधर्मी आचार्यों को आक्रोश था. अशोक ने राज्य भर में जो शिलालेख लिखवाए उन में अपने नाम के आगे 'देवानं पियः' (देवताओं का प्यारा, संस्कृत में-देवानां प्रियः) विशेषण रखा था. ब्राह्मणों ने इस पर व्याकरण के ग्रंथों में नियम बना दिया कि 'देवानां प्रियः' का अर्थ 'मूर्ख' करना चाहिए. वैयाकरण कात्यायन (150 ईसा पूर्व से पहले) ने लिखा है: "देवानां प्रिय इत्यत्र षष्ठ्या अलुग् वक्तव्यः" इस से 'देवानां प्रियः' का अर्थ मूर्ख कर दिया गया. काव्यप्रकाश (1050 ईसवी) जो संस्कृत की उच्च कक्षाओं में पढ़ाया जाता है, इस शब्द का प्रयोग करता है:

तेऽप्यतात्पर्यज्ञाः तात्पर्यवाचो युक्तेर्देवानां प्रियाः

वे मूर्ख भी तात्पर्य अर्थात वाचोयुक्ति के तात्पर्य को न समझने वाले हैं.

इस के बाद तो भट्टोजि दीक्षित (1513-1593 ई.) ने अपने व्याकरण ग्रंथ 'सिद्धांत कौमुदी' में जो तब से आज तक संपूर्ण भारत में व्याकरण का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ माना जाता है और जिस का सर्वत्र पठनपाठन होता है, कात्यायन के वार्तिक को संक्षिप्त कर के उस का अर्थ भी साथ जोड़ दिया और वार्तिक इस रूप में लिख दिया: देवानां प्रिय इति च मूर्खे. **अर्थात 'देवानांप्रिय' मूर्ख का अर्थ देता है. पिछले चार सौ सालों से वार्तिक का यही रूप सर्वत्र उद्धृत किया जा रहा है. आप्टे के 'संस्कृत अंगरेजी कोश' में इस शब्द का अर्थ–बकरा, मूर्ख आदि लिखा है. (यह कोश 1890 में बना था).**

यह सारी शरारत शुरू हुई कात्यायन के समय से. स्वामी भगवदाचार्य ने लिखा है: देवानां प्रिय: शब्द सम्राट अशोक के समय में मानवाचक प्रतिष्ठासूचक शब्द था और पीछे से वार्तिककार कात्यायन के समय में यह अप्रतिष्ठित शब्द बन गया. *षष्ठ्या आक्रोशे* (6/3/21) पाणिनि के इस सूत्र पर आक्रोश अर्थ में ही *'देवानां प्रिय इति चोपसंख्यानम्'* इस वार्तिक से इस शब्द का अर्थ बिगाड़ा गया है. (देखें, स्वामी भगवदाचार्य, प्रथम भाग, पृ. 551-52).

अशोक बौद्ध था, अतः नास्तिक था. उसे 'मूर्ख' कहा गया. महाभारत में यक्षयुधिष्ठिर संवाद में युधिष्ठिर 'नास्तिको मूर्ख उच्यते' (नास्तिक मूर्ख होता है) कहता है.

संस्कृत व्याकरण, अष्टाध्यायी में एक नियम है: येषां च विरोध: शाश्वतिक: (2/4/9) इस का अर्थ है: जिन में स्वाभाविक और सदा का विरोध है, उन का द्वंद्व समास समाहार (संग्रह) अर्थ में होता है. इस नियम के अनेक उदाहरण व्याकरण ग्रंथों में मिलते हैं, जैसे मार्जारमूषकं (बिल्ली और चूहे का वैर), अहिनकुलम् (सांप और नेवले का वैर). परंतु अष्टाध्यायी के सर्वप्रथम भाष्यकार पतंजलि (लगभग 150) ने महाभाष्य में इस का उदाहरण दिया है: श्रमणब्राह्मणम् (बौद्ध और ब्राह्मण स्वाभाविक और सदा के दुश्मन हैं.)

स्वार्थपूर्ण व्यवस्था

पतंजलि के महाभाष्य पर आधारित शोधग्रंथ 'पतंजलिकालीन भारत' में डा. प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने लिखा है: पतंजलि ने विभाषावृक्षमृग (2/4/12, पृ. 467) सूत्र का भाष्य करते हुए 'श्रमणब्राह्मण' को 'येषां च विरोध: शाश्वतिक:' (2/4/9) का उदाहरण माना है, जिस से स्पष्ट पता चलता है कि पंतजलि से पूर्व शताब्दियों से श्रमणों और ब्राह्मणों में घोर विरोध चला आता था और उस विरोध से सारा समाज इसी प्रकार परिचित था, जिस प्रकार काक उलूक या अहि नकुल वैर से था और इस का कारण यह था कि श्रमण अवैदिक थे. वे यज्ञ योगादि क्रियाकलाप को महत्त्व नहीं देते थे. (पृ. 573).

हिंदू धर्म के प्रतिद्वंद्वी बौद्ध ही थे. उन के प्रति द्वेष और घृणा किस सीमा तक थे, इस का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि मनोरंजन के साधनों–नाटक आदि तक– में इन की खुली अभिव्यक्ति की गई है. उदाहरणार्थ संस्कृत के एक प्राचीन नाटक 'मृच्छकटिकम्' के निम्नलिखित स्थल प्रस्तुत हैं:

नाटक के सातवें अंक में नायक चारुदत्त नायिका वसंत सेना से मिलने के लिए उत्सुक हो रहा है. जब वह उसे मिलने के लिए चलता है, तब उस के मुंह से निकलता है : कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्? (यह पहले ही अशुभ एवं मुंडित बौद्ध भिक्षु का दर्शन क्यों हो गया?) यानी बौद्ध भिक्षु का दर्शन अशुभकारी होता है.

ब्राह्मणों का षड्यंत्र

इस स्थल की व्याख्या करते हुए संस्कृत व्याख्याकार महाप्रभुलाल गोस्वामी ने

लिखा है कि बौद्ध भिक्षु मुंडित होते हैं और उन का सारा शरीर लगभग नंगा होता है. इन का दर्शन अमंगलसूचक होता है. इस बात के समर्थन में उन्होंने किसी धर्मशास्त्र का श्लोक उद्धृत किया है, जिस का अर्थ है: जो व्यक्ति यात्रा के समय या प्रातः मुंडित, कुरूप, नंगे, संतानहीन और पापी को देखता है, उस का बुरा होता है:

तदाह स्मृतिः–'अकेशं दुर्भगं नग्नमनपत्यं च पापिनम्,
पश्यन्नशुभमाप्रोति यात्रायां प्रातरेव वा' इति.

–मृच्छकटिकम्, प्रबोधिनी, प्रकाश व्याख्योपेतम्, पृ. 371, चौखंबा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1962

इसी नाटक के आठवें अंक में एक बौद्ध भिक्षु को राजा का साला बिना किसी कारण दुर्वचन कहता है, उसे 'दुष्ट' कह कर संबोधित करता है, उसे मारतापीटता है और उसे तालाब में चीवर तक नहीं धोने देता जिस में से कुत्ते व गीदड़ पानी पीते हैं.

ग्यारहवीं शताब्दी में चंदेल राजा कीर्तिवर्मा के राज्यकाल में कृष्णमिश्र संन्यासी द्वारा लिखे गए 'प्रबोध चंद्रोदय' नाटक में शैव कापालिक (संप्रदाय विशेष) बौद्धों और जैनों को न केवल गालियां देता है, बल्कि उन पर तलवार से हमला करने को भी उद्यत हो जाता है. फिर उन्हें गिरे हुए सिद्ध करने के लिए नाटककार कापालिक द्वारा एक स्त्री–कापालिनी–उन्हें प्रस्तुत करवाता है, जिस के हाथों वे शराब तक पीते हैं. जैन और बौद्ध धर्म को त्याग कर कापालिक के चेले बन जाते हैं. यह नाटक भी ब्राह्मण और बौद्ध जैन संघर्ष के परिणामस्वरूप उपजी घृणा और शत्रुता का मुंह बोलता प्रमाण है.

तुलसीदास आज लोकप्रिय हिंदू धर्म के दृढ़ आधारस्तंभ माने जाते हैं. उन की पुस्तक 'रामचरितमानस' धर्म ग्रंथ की तरह पूजी जाती है. उस का धर्म ग्रंथ की तरह पाठ किया जाता है. लेकिन हिंदू धर्म की असहिष्णुता ने उन्हें भी नहीं बख्शा. अपने जीवन काल में तुलसी कुछ समय के लिए काशी में रहे जो शैवों का गढ़ थी. अतः शैवों ने वैष्णव तुलसी को पीड़ित करना शुरू कर दिया जिस से उन्हें काशी छोड़ कर जाना पड़ा. 'कवितावली' में इस पीड़ा का वर्णन करते हुए तुलसी ने शिव से प्रार्थना की है जो किसी व्याख्या की मुहताज नहीं:

देवसरि सेवौं वामदेव गाउं रावरे ही,
नाम राम ही के मांगि उदर भरत हौं
जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक,
लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं.
एते पर हू जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै,
ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत हौं.
पाई के उराहनो, उराहना न दीजै मोहिं,
कल कला काशीनाथ कहे निबरत हौं.

–उत्तरकांड, 165

अर्थात हे शिव, मैं आप के गांव काशी में ही गंगा का सेवन करता हूं और रामचंद्र के नाम से भीख मांग कर पेट पालता हूं. अगर मुझ में किसी को कुछ देने की योग्यता नहीं है तो मैं किसी से कुछ लेता भी नहीं हूं. इतने पर भी अगर आप का कोई भक्त अर्थात शैव मुझे कष्ट दे तो, हे शिव, मैं दीन हो कर आप के ही पास उस की शिकायत कर देता हूं. यह उलाहना मैं आप को इसलिए देता हूं ताकि आप यह न कहें कि मैं ने आप से क्यों नहीं कहा. अतः हे काशीनाथ शिव, मैं कलिकाल की इस करनी को आप की सेवा में निवेदित कर अपनी जवाबदेही से निवृत्त हो जाता हूं.

सन 1630 ईसवी (संवत वि. 1687) में बाबा वेणीमाधवदास द्वारा लिखित 'गोसाईंचरित' में भी काशी के पंडितों द्वारा तुलसी को तंग करने का उल्लेख है: 'मानस' (रामचरितमानस) की प्रसिद्धि ने काशी के कुछ लोगों को प्रेरित किया कि वे 'मानस' की प्रति चुरा लें, इसलिए तुलसीदास को वह प्रति अपने मित्र टोडर के यहां सुरक्षित रखनी पड़ी. काशी के पंडितों के कष्ट पहुंचाने पर उन्होंने संवत 1633 और 1640 के बीच में 'राम विनयावली' (विनय पत्रिका) की रचना की. (डा. रामकुमार वर्मा, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 356).

तुलसीदास स्वयं भी कम असहिष्णु न थे. 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से पता चलता है कि वह राम के सिवा अन्य किसी देवता को नमस्कार न करते थे. वह कृष्ण को भी सिर नहीं झुकाते थे, यद्यपि वह भी राम की तरह विष्णु का ही अवतार माने जाते हैं. उक्त पुस्तक में कम से कम दो प्रसंग ऐसे हैं, जो इस प्रकार है:

"जब नंददासजी श्रीनाथजी के दर्शन करने कूं गए. तब तुलसीदासजी हुं उन के पीछे गए. जब श्री गोवर्धननाथजी के दर्शन करे तब तुलसीदासजी ने माथो नमायो नहीं. तब नंददासजी जान गए जो ये श्रीरामचंद्रजी बिना और दूसरे कूं नहीं नमे हैं." (दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृ. 34).

"तब नंददासजी श्रीगोकुल चले.... नंददासजी ने श्रीगुसाईंजी के दर्शन करे. साष्टांग दंडवत करी और तुलसीदासजी ने दंडवत करी नहीं...नंददासजी ने श्रीगुसाईंजी सों बीनती करी ये मेरे भाई तुलसीदास हैं. श्रीरामचंद्रजी बिना और कूं नहीं नमें हैं." (वही, पृ. 35.)

कथा आती है कि एक बार धोखे से कोई वैष्णव तुलसीदास को मदनमोहन (कृष्ण) के मंदिर में ले गया. वहां तुलसी ने निम्नलिखित दोहा कहा:

> कहा कहौं छवि आज की, भले बने हौ नाथ,
> तुलसी मस्तक तब नवै, जब धनुष बाण लो हाथ.

इस पर कृष्ण ने रामचंद्र का रूप धारण किया और तुलसी ने उस रूप को सिर नवाया. क्या यह भक्ति के क्षेत्र में असहिष्णुता की चरम सीमा नहीं है?

ऐसे ही एक बार तुलसीदास जब वृंदावन गए तो वहां सब को 'राधाकृष्ण, राधाकृष्ण' कहते सुन कर बौखला उठे और कहने लगे, 'सीताराम' क्यों नहीं कहते हो? उस से क्या बैर है?

राधाकृष्ण सबै कहैं, आक ढाक अरु कैर,
तुलसी या ब्रज में कहा, सीयाराम सों बैर.

स्वामी दयानंद

स्वामी दयानंद 19वीं शताब्दी में हिंदू धर्म के बहुत बड़े प्रचारक हुए हैं. उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' नामक ग्रंथ में विभिन्न ऐसे मतों की चर्चा की है जो उन के अपने मत से भिन्न थे. उन के प्रति स्वामी दयानंद का कैसा 'सहिष्णुतापूर्ण' रुख था, यह नीचे लिखे कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो जाएगाः

कबीर

कबीर के विषय में स्वामी दयानंद ने लिखा है: "तब ऊटपटांग भाषा बना कर जुलाहे आदि नीच लोगों को समझाने लगा. तंबूरा ले कर गाता था, भजन बनाता था. विशेष कर पंडित, शास्त्र, वेदों की निंदा किया करता था. कुछ मूर्ख लोग उस के जाल में फंस गए. जब मर गया तब लोगों ने उस को सिद्ध बना लिया. जो जो उस ने जीते जी बनाया था, उस को उस के चेले पढ़ते रहे." (एकादश समुल्लास).

गुरुनानक

सिक्खों के पहले गुरु नानक देव के संबंध में स्वामी दयानंद ने लिखा है: "नानकजी का आशय तो अच्छा था, परंतु विद्या कुछ भी नहीं थी. वेदादि शास्त्र और संस्कृत कुछ भी नहीं जानते थे. चाहते थे कि मैं संस्कृत में भी पग उड़ाऊं....उन को अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा अवश्य थी. नहीं तो जैसी भाषा जानते थे, कहते रहते...जब कुछ अभिमान था, तो मानप्रतिष्ठा के लिए कुछ दंभ भी किया होगा. इसीलिए उन के ग्रंथ में जहांतहां वेदों की निंदा और स्तुति भी है, क्योंकि जो ऐसा न करते तो उन से भी कोई वेद का अर्थ पूछता. जब न आता, तब प्रतिष्ठा नष्ट होती." (एकादश समुल्लास).

भागवत

स्वामी दयांनद ने 'भागवतपुराण' के लेखक को निम्नलिखित शब्दों में याद किया है: "वाह रे वाह, भागवत के बनाने वाले लालबुझक्कड़! क्या कहना तुझ को, ऐसीऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शरम न आई, निपट अंधा ही बन गया...भला इन महाझूठ बातों को वे अंध पोप और बाहरभीतर की फूटी आंखों वाले उन के चेले सुनते और मानते हैं. बड़े ही आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं या अन्य कोई! इन भागवतादि पुराणों के बनाने हारे क्यों नहीं गर्भ में ही नष्ट हो गए? या जन्मते समय मर क्यों न गए?" (एकादश समुल्लास).

दयानंद के प्रति असहिष्णुता

शायद ऐसे स्थलों को पढ़ने के बाद ही महात्मा गांधी ने दयानंद, 'सत्यार्थ प्रकाश'

और आर्यसमाज के विषय में निम्नलिखित टिप्पणी की थी: "आर्यसमाज के बाइबिल 'सत्यार्थप्रकाश' को मैं ने दो बार पढ़ा. ऐसे महासुधारक (दयानंद) की लिखी हुई इतनी निराशाजनक पुस्तक मैं ने दूसरी नहीं पढ़ी. उन से जानबूझ कर या बिना जाने जैन धर्म, इसलाम, ईसाई मत और खुद हिंदू धर्म के अर्थ का अनर्थ हो गया. आर्यसमाजी संकुचित हृदय और झगड़ालू स्वभाव के होने के कारण अन्य मतावलंबियों के साथ, और जब उन्हें दूसरा कोई न मिले तो आपस में झगड़ा करते हैं." (यंग इंडिया, अप्रैल, 1924. पं. माधवाचार्य शास्त्री द्वारा पराजय पंचक, पृ. 14 पर उद्धृत).

स्वामी दयानंद ने जैसे अपने से भिन्न प्रत्येक मत के प्रति असहिष्णुता प्रकट की, वैसे ही भिन्नभिन्न मत वालों ने उन के प्रति भी की. राव साहब रामविलास शारदा द्वारा लिखित 'महर्षि दयानंद सरस्वती का जीवनचरित्र' से पता चलता है कि स्वामी दयानंद के जीवन को समाप्त करने के पांच बार प्रयास हुए और पांचवीं बार उन्हें सदा की नींद सुला ही दिया गया. पहली और दूसरी बार चक्रांकित मत वालों ने मारपीट व जान से मार डालने की कोशिश की. तीसरी बार, मूर्तिपूजा का खंडन करने से चिढ़े भगवद्भक्तों ने पान में विष मिला कर दिया, चौथी बार बल्लभ संप्रदाय के लोगों ने रसोइए बलदेवसिंह द्वारा भोजन आदि में विष मिलवाने की कोशिश की. पांचवीं बार चक्रांकित संप्रदाय, भैया फैजुल्लाखां ब्राह्मण और पौराणिक पंडितों तथा नन्हीजान वैश्या के क्रोध के परिणामस्वरूप धौड़मिश्र रसोइए द्वारा दूध में विष दे कर उन्हें मार दिया गया.

ग्यारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के श्रीरंगम के पुजारी वंश में रामानुज का जन्म हुआ जिन्होंने विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय चलाया. दक्षिण में क्योंकि शैवों का प्रभुत्व था, अतः चोल राजा कुलोत्तुंग ने वैष्णव रामानुज को उत्पीड़ित करना शुरू कर दिया जिस के कारण उन्हें 1080 और 1090 के बीच श्रीरंगम को छोड़ कर भागना पड़ा.

कुलोत्तुंग ने रामानुज के मित्र कुरत्तालवार को पकड़ कर उस की आंखें निकलवा डालीं और इस संप्रदाय के दूसरे लोगों पर अत्याचार ढाने शुरू कर दिए. लेकिन इस नए संप्रदाय के संस्थापक भी दूसरों के प्रति ऐसे ही अत्याचार करने लगे. मैसूर राज्य में 10-12 वर्ष रह कर उन्होंने वहां के राजा बिट्टिदेव को अपना अनुयायी बना कर जैनों का संहार करने का काम बड़ी सफाई से जारी रखा गया. रामानुज के अनुयायी बड़े अभिमान के साथ बताते आए हैं कि कैसे उन्होंने बहुत से जैनों के सिर तेल की घानी में डाल कर पीस दिए थे.

रामानुज बनाम रामानंद

रामानुज संप्रदाय नारायण-मंत्र का प्रचारक था, जब कि रामानंदीय संप्रद्राय राम-मंत्र का. दोनों संप्रदायों में इसी बात पर वैमनस्य बना रहा. स्वामी भगवदाचार्य की अनेक पुस्तकों में इस युद्ध का वर्णन है. रामानुज संप्रदाय के आचार्यों ने राम को नीचा दिखाने की कई कोशिशें कीं जिन में से कुछ निम्नलिखित हैं, जो 'स्वामी भगवदाचार्य' (तृतीय भाग) पृ. 22-23 से उद्धृत हैः

अयोध्यावासिनामेषां लोकं सांतानिकं पुरा,
प्रददौ कृपया रामस्तेषामपि परं पदम्.
प्रदातुकामः स तदा वेदांतिन् कूरराजभूत.

–प्रपन्नामृत, 115/34–35

अर्थात श्रीरघुनाथजी अयोध्यावासियों को पहले मुक्ति नहीं दे सके थे, क्योंकि उन में इतनी शक्ति नहीं थी. त्रेतायुग बीत गया. द्वापर भी चला गया. कलियुग के भी कुछ दिन बीत जाने पर भगवान श्री रामचंद्रजी महाराज आचारियों के वंश में कूरेश नाम से उत्पन्न हो कर श्री रामानुज स्वामी के चेला हो कर जब नारायण मंत्र सुने, तब अयोध्यावासियों को परमपद दे सके.

पुत्रकामानां राममंत्रादयः (लोकाचार्य्य)

अर्थात बिना नारायण-मंत्र सुने राम मंत्र से मुक्ति नहीं होती, क्योंकि राम मंत्र से लड़का मिलता है, मुक्ति नहीं.

ईश्वरेण नियमेन कल्पितत्वात् प्रायेण क्षुद्रफलप्रदा एव. (वही).

अर्थात यह भगवान का नियम है कि श्रीराम-मंत्र आदि मुक्ति नहीं देते, किंतु क्षुद्र फल देते हैं.

मंत्रांतराणां संसारवर्द्धकानामत एव क्षुद्रत्वप्रतिपत्तियोग्यानामितर–
भगवन्मंत्राणामुपदेष्टुराचार्यत्वपूर्तिर्नास्ति. (वही).

अर्थात श्रीराम मंत्र आदि संसार में फंसाने वाले हैं तथा क्षुद्र फल देने वाले हैं. अतः राम मंत्र के उपदेश करने वाले गुरु 'आचार्य' नहीं कहे जा सकते.

रामकृष्णादिमंत्रैः किमपराद्धमिति चेत्
तेषामधिकारिविशेषापेक्षितयावदर्थाप्रतिपादकत्वमेव
तदनुपजीव्यत्वप्रयोजकोऽपराधः

–व्यामोहविद्रावण, पृ. 201

अर्थात राम कृष्ण के मंत्र अधिकारियों को अपेक्षित संपूर्ण फलों को नहीं देते, इसी अपराध से हम लोग (आचारी लोग) राम मंत्रादि का उपदेश नहीं करते. (स्वामी भगवदाचार्य, भाग तीन, पृ. 64).

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक सनातन धर्म और आर्यसमाज में सिरफुटौव्वल और मुकदमेबाजी होती रही. ब्रह्म समाजी 'अछूत' बनाए गए, जाति बहिष्कृत किए गए. आज भी सिक्ख-निरंकारी संघर्ष आदि इसी शृंखला की घिनौनी कड़ियां हैं.

इसीलिए भारतीय संविधान के मुख्य शिल्पी डा. भीमराव अंबेडकर ने कहा है: "हिंदू मुसलमानों की आलोचना करते हुए कहते हैं कि उन्होंने इसलाम धर्म को तलवार के जोर पर फैलाया. वे ईसाइयों की भी खिल्ली उड़ाते हुए कहते हैं कि उन्होंने

धार्मिक यंत्रणा देने के लिए गुप्त संस्थाएं और तहखाने बनाए हुए थे, परंतु असल में अधिक अच्छा कौन है? मैं यह बात निस्संकोच कहूंगा कि यदि मुसलमान क्रूर थे तो हिंदू कमीने, और कमीनापन क्रूरता से भी ज्यादा बुरा होता है." (डा. बाबा साहेब अंबेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचेज, जि. 1, पृ. 54, शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र सरकार, 1979).

19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में फ्रेंच में लिखी अपनी पुस्तक में एब्बे जे. ए. डुबि (मृत्यु 1848 ईसवी) ने इस से भी आगे बढ़ कर लिखा था: 'सवर्ण हिंदू प्राय: चोर और बदलचन होता है और अवर्ण (जो किसी जाति में नहीं आता) हिंदू तो लगभग सदा दुर्जन होता है" (हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरेमनिज, पृ. 39, रिप्रिंट: एशिया एजूकेशनल सर्विसेज, नई दिल्ली, 1983).

हिंदू धर्म के मुंहबोले तथ्य

हिंदू धर्म के इतिहास के इन मुंहबोले तथ्यों को झूठ बोल कर संसार की आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता. यदि हम में जरा भी नैतिक साहस है तो हमें अपने हलवेपूरी की परवाह न करते हुए खुले मन से यह स्वीकारना चाहिए कि हम धार्मिक दृष्टि से अन्य लोगों की ही तरह असहिष्णु रहे हैं और यदि यहां विभिन्न मत फैले हैं तो वे हमारी सहिष्णुता के कारण नहीं, बल्कि वे हमारी असहिष्णुता के बावजूद फैले हैं, अपनी जान पर खेल कर फैले हैं.

आज यदि हमें इन घिनौने तथ्यों के कारण सभ्य संसार में सिर झुकाना पड़ता है तो इस का इलाज झूठ बोल कर इन्हें नकारने में नहीं, बल्कि खुले मन से इन्हें स्वीकार कर अपने व्यवहार को असल में सहिष्णु बनाने में निहित है.

यदि हम झूठ बोल कर (जो एक अन्य बुराई है) ऐतिहासिक कटु तथ्यों को नकारते रहे, लोगों को परंपरागत 'सद्‌भाव' बनाए रखने के तोतारटंत उपदेश देते रहे और वर्तमान में घटिया दरजे के असहिष्णु बने रहे, तो हमारी सहिष्णुता की डींगों का निरर्थक बकवास से ज्यादा महत्त्व नहीं होगा. लेकिन यदि असहिष्णुतापूर्ण अपने भूत को स्वीकार कर करते हुए, न कि उसे शानदार बना कर पेश कर के, उस के प्रति हार्दिक खेद प्रकट कर के नया सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार आरंभ करें तो हमारा यह प्रयास न केवल हमारे सही ऐतिहासिक बोध का प्रमाण होगा, बल्कि इस बात का भी मुंहबोलता साक्षी होगा कि हम धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धांत के प्रति ईमानदारी से प्रतिबद्ध हैं.

दूसरे, जिन धर्म ग्रंथों में इस तरह की धार्मिक असहिष्णुता का उन्माद भरा हुआ है, उन का सार्वजनिक पठनपाठन बंद करना होगा और उन के प्रकाशन पर सरकार को पाबंदी लगानी चाहिए ताकि धार्मिक असहिष्णुता के घातक रोगाणु भारतीय जनजीवन को और ज्यादा दूषित न कर सकें तथा सब भारतीय परस्पर सहअस्तित्वपूर्ण जीवन जी सकें.

हिंदू धर्म और सती प्रथा*

हिंदू धर्म में सती का महत्त्वपूर्ण स्थान है या नहीं, इस पर खासा विवाद उठता रहा है. हिंदू धर्म के तथाकथित उदारवादी ठेकेदार यह साबित करने की कोशिश कर करते रहे हैं कि हिंदू धर्म तो स्वच्छ, आदर्श, दूषणरहित व्यवस्था है. परंतु उन के पास इस का आधार क्या है, वे यह नहीं बताते.

हिंदू धर्म का सती प्रथा को बढ़ावा

वास्तव में हिंदू धर्म सती प्रथा को लगभग प्रारंभ से ही प्रेरणा देता रहा है. यह बात दूसरी है कि हर विधवा के लिए ऐसा करना संभव नहीं रहा. इसीलिए विधवाओं को जीतेजी मृत्यु से भी बदतर जीवन बिताने के लिए मजबूर किया गया.

इस लेख में हिंदू धर्म ग्रंथों के उन अंशों का उल्लेख है, जो प्रमाणित करते हैं कि हिंदू धर्म, जैसा कि हमें आज विरासत में मिला है, सती प्रथा का न केवल स्वागत करता है, बल्कि इसे महान पुण्य का काम मानता है.

कुरीतियों के स्रोत धर्म ग्रंथ

इस लेख को प्रकाशित करने का उद्‌देश्य यही है कि हमें स्पष्ट हो जाए कि हमारी कुरीतियों का स्रोत सामाजिक दोष नहीं, बल्कि इन का मूल धर्म ग्रंथ हैं, जिन का अभिशाप आज भी हमारे अवचेतन मन पर मौजूद है.

जब तक हम धर्म ग्रंथों की पोलपट्‌टी से पूरी तरह परिचित न होंगे, तब तक भ्रम में रहेंगे कि हमारे धर्म निर्देश तो सही हैं, उन पर अमल गलत हो रहा है. आवश्यकता यह है कि हम सत्य को पहचानें और यदि सत्य कड़वा है, अनैतिक है तो उसे त्यागने का साहस करें. दोगली बातों से हमारे समाज में सुधार नहीं हो पाएगा.

जब से राजस्थान में 18 वर्षीया रूपकंवर को सती किया गया है, तब से मानवतावादी और प्रगतिशील लोगों द्वारा लानतें डाले जाने के कारण दुनिया को मुंह दिखाने के अयोग्य हुए कुछ लोगों ने बड़े योजनाबद्ध रूप में यह प्रचार शुरू कर दिया है कि सतीप्रथा तो एक सामाजिक बुराई है. इस का हिंदू धर्म से कोई संबंध नहीं. यह

* यह लेख सती प्रथा का समर्थन करने के लिए नहीं, बल्कि यह प्रमाणित करने के लिए प्रकाशित किया जा रहा है कि हमारे ग्रंथ निर्दोष विधवाओं के प्रति कितने क्रूर हैं.

—प्रकाशक की टिप्पणी.

न हिंदू धर्म का अंग है, न हिंदू धर्म ग्रंथ इस का अनुमोदन करते हैं और न ही हिंदू धर्म के अनुसार यह आदर्श है.

इन लोगों ने वेदों के कुछ मंत्र पेश कर के या इधरउधर की हांक कर अपना मत स्थापित करना चाहा है. वे आधार कैसे हैं, इस पर पहले थोड़ा विचार करना अप्रासंगिक न होगा.

अथर्ववेद (9/5-27 व 28) के दो मंत्र पेश कर के कहा जाता है कि वैदिक काल में विधवा का विवाह हो जाता था. अतः उसे सती करने का प्रश्न ही नहीं उठता था.

उक्त वेदमंत्र इस प्रकार हैं–

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथन्यं विंदते परम्,
पंचौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः.
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः,
योऽजं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति.

अर्थात जो स्त्री पहले पति को प्राप्त हो कर फिर दूसरे पति को प्राप्त होती है वह (स्त्री) और उस का दूसरा पति दोनों मिल कर यदि पंचौदन यज्ञ करें और बकरे की बलि दें तो इन का फिर कभी वियोग नहीं होता.

पुनर्भू स्त्री का दूसरा पति समान लोक को जाता है, यदि वह पंचौदन यज्ञ कर के और बकरे की बलि दे कर सुवर्ण की दक्षिणा दे.

इन मंत्रों में कहीं भी विधवा शब्द नहीं आता. यहां केवल एक पति को अपनाने के बाद दूसरे पति को अपनाने की बात है. अतः इस से यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि तब विधवा दूसरा पति कर लेती थी.

कुछ लोगों ने इन मंत्रों में आए 'पुनर्भू' शब्द को ले कर कहा है कि इस का अर्थ 'विधवा का पुनः विवाह' है. यह सरासर गलत है क्योंकि पुनर्भू का यह अर्थ न तो व्याकरणसम्मत है और न ही परंपरानुसार.

व्याकरण के अनुसार 'पुनर्भू' का सीधा अर्थ है–'फिर से हुई'. वस्तुतः यह पारिभाषिक शब्द है और इस का एक विशिष्ट अर्थ है. प्रत्येक पारिभाषिक शब्द का वही असली अर्थ होता है जो परिभाषा करने वालों ने उसे दिया हो. उस का हम मनमाना अर्थ नहीं लगा सकते.

'पुनर्भू' शब्द का अर्थ प्राचीन धर्म ग्रंथों में स्पष्ट किया गया है, जो इस प्रकार है:

अक्षता भूयः संस्कृता पुनर्भूः

विष्णुस्मृति, 15/8

अर्थात पुरुष-संग न की हुई स्त्री (अक्षतयोनि) यदि अपने पति को छोड़ कर पुनः किसी अन्य से संबंध कर ले तो 'पुनर्भू' कहलाती है.

वृद्धपराशर और अंगिरा स्मृतियों में कहा गया है कि एक से ब्याही हुई कन्या यदि दूसरे को ब्याह दी जाए तो वह 'पुनर्भू' कहलाती है–अन्यदत्ता तू या कन्या पुनरन्यत्र दीयते, पुनर्भूः सा प्रकीर्तिता (5/56).

वसिष्ठ स्मृति में कहा गया है कि वह स्त्री 'पुनर्भू' है, जो अपने कुमार (युवावस्था से पहले की स्थिति) पति को त्याग कर अन्य पुरुषों के साथ रहने के बाद पुनः अपने पहले पति के पास आ कर उस का सहारा लेती है. वह स्त्री भी 'पुनर्भू' है, जो अपने नपुंसक या पतित या उन्मत्त पति को छोड़ कर या उस के मरने के बाद अन्य पति को प्राप्त होती है:

या कौमारं भर्तारमुत्सृज्यान्यैः सह चरित्वा,
तस्यैव कुटुंबमाश्रयति सा पुनर्भूर्भवति.
या च क्लीबं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं,
पतिं विंदते मृते वा सा पुनर्भूर्भवति

–वसिष्ठ स्मृति. 17/20-21

इस से स्पष्ट है कि 'पुनर्भू' शब्द इस बात का प्रमाण नहीं है कि वैदिक काल में विधवा ही पुनर्विवाह करवा कर 'पुनर्भू' कहलाती थी. पुनर्भू तो कोई भी ऐसी औरत थी, जो अपने पहले पति को छोड़ कर दूसरे पति को प्राप्त होती थी. पहले केवल जीवित पति को छोड़ने वाली 'पुनर्भू', बाद में पति के मरने पर दूसरा पति करने वाली भी पुनर्भू कही जाने लगी.

यहां यह बात भी ध्यान में रहे कि पुनर्भू सामान्य शब्द नहीं है. यह तो पुनर्विवाह करने वाली स्त्री के प्रति तिरस्कार प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था, क्योंकि किसी भी हालत में पुनर्विवाह धर्मसम्मत नहीं था. यही कारण है कि धर्मशास्त्रों में पुनर्भू, उस की संतान और उस के पति की पगपग पर निंदा की गई है. नीचे कुछ ऐसे स्थल उद्धृत हैं:

'उद्वाहतत्त्व' में कश्यप का वचन है कि ये सात कन्याएं अधम और वर्जनीय हैं. ये खानदान को अग्नि की तरह जलाती हैं...इन में छठी है पुनर्भू और सातवीं है पुनर्भू की संतान–

सप्त पौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः कुलाधमाः,
पुनर्भूप्रभवा च या. इत्येताः काश्यपेनोक्ता दहंति कुलमग्निकाः.

बौधायन का कहना है कि सात प्रकार की पुनर्भू स्त्रियां होती हैं. इन स्त्रियों में से किसी एक को भी ग्रहण करने वाला न संतान को प्राप्त करता है और न धर्म को–इति सप्तविधा पुनर्भूस्तां गृहीत्वा न प्रजां न धर्मं विंदेत्.

अंगिरा ने तो पुनर्भू के हाथ का अन्न खाने का भी निषेध किया है–

तस्याश्चान्नं न भोक्तव्यं पुनर्भूः सा प्रगीयते.

इसी तरह की बात वृद्धपराशर में कही गई है–

अपि तस्या न भोक्तव्यं पुनर्भूः सा प्रकीर्तिता.

–4/56.

पुनर्भू की संतान की निंदा करते हुए हारीत ने कहा है:

पुनर्भूश्च एतासां यान्यपत्यानि चोत्पद्यंते कदाचन,
न तान् पंक्तिषु भुंजीत नैते पंक्त्यर्हका: स्मृता:
–याज्ञवल्क्यस्मृति 1/224 की अपरार्क टीका में उद्धृत

अर्थात, पुनर्भू स्त्रियों में जो संतान उत्पन्न हो, उसे भोजन के समय कभी पंक्ति में न बैठाए, क्योंकि वह पंक्ति के योग्य नहीं है.

मनु का कहना है कि पुनर्भू का पुत्र संपत्ति का अधिकारी नहीं है–

पौनर्भवस्तथा, षडदायादबांधवा:

–मनुस्मृति 9/160.

मनु ने पुनर्भू के पति को भी निंदा का पात्र घोषित किया है–

परपूर्वापतिस्तथा वर्जनीया: प्रयत्नत:

–3/166.

अर्थात जो पहले किसी की पत्नी रह चुकी है उस औरत का पति है, वह श्राद्ध में बुलाने के योग्य नहीं है. यह सदा ध्यान रहे क्योंकि वह ब्राह्मण वर्जनीय है.

इसी बात को दोहराते हुए वृद्धपराशर ने कहा है–

तथैव पतयस्तासां वर्जनीया: प्रयत्नत:

–5/65.

अर्थात जैसे पुनर्भू वर्जनीय है, उसी प्रकार उस का पति प्रयत्नपूर्वक वर्जनीय है.

निर्णय सिंधु में उद्धृत एक वचन में कहा गया है कि जिस के घर पुनर्भू है, वह सदा सब पवित्र कार्यों के अयोग्य है. वह सदा के लिए अपवित्र है–

अन्यपूर्वा यस्य गेहे भार्या स्यात्तस्य नित्यश: अशौचं सर्वकार्येषु देहे भवति सर्वदा.
–निर्णयसिंधु:, परिच्छेद 3

मनु कहता है कि पुनर्भू की संतान को दिया गया दान राख में दी गई आहुति के समान व्यर्थ है–

भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे.

–3/18.

क्या ऐसी दुर्दशा वाली 'पुनर्भू' इस बात का प्रमाण है कि वेद विधवा के पुनर्विवाह की अनुमति देते हैं? ये धर्मशास्त्रीय प्रमाण तो यही प्रमाणित करते हैं कि वेद और अन्य हिंदू धर्मशास्त्र किसी भी स्त्री के पुनर्विवाह की घोर निंदा करते हैं. अत: वेदमंत्र में प्रयुक्त पुनर्भू शब्द के आधार पर यह कहना कि वेद में विधवा विवाह की आज्ञा है, निरा झूठ एवं कोरी बौद्धिक बेईमानी है. वस्तुत: यह शब्द तो पुनर्विवाहिता के लिए एक गाली है.

इस प्रकार हम देखते हैं कि अथर्ववेद के पूर्वोक्त मंत्रों से यह तो सिद्ध नहीं होता

कि वेदों में सतीप्रथा नहीं थी. हां, यह अवश्य सिद्ध होता है कि तब यह नुस्खेबाजी चलती थी कि यदि पतिपत्नी बकरे की बलि दें तो उन का साथ सदा बना रहेगा और यदि पति मर कर पत्नी के पास पहुंचना चाहता है तो वह सोने की दक्षिणा पुरोहितों को दे.

कुछ लोगों ने अथर्ववेद के निम्नलिखित मंत्रों से सतीप्रथा के हिंदू धर्म का अंग न होने की बात सिद्ध करनी चाही है. वे मंत्र इस प्रकार हैं–

उत यत् पतयो दश स्त्रिया: पूर्वे अब्राह्मणा:,
ब्रह्माचेद् हस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा.
ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो, न वैश्य:

–अथर्ववेद 5/17/8-9

अर्थात स्त्री के ब्राह्मण से भिन्न चाहे पहले दस पति हों परंतु जब ब्राह्मण उस का पाणिग्रहण करे तो वही एक उस का पति होता है. उस का ब्राह्मण पति ही असली पति है, क्षत्रिय या वैश्य पति नहीं.

यह मंत्र क्या बताता है? इस से यह तो सिद्ध नहीं होता कि विधवा को सती नहीं किया जाता था. हां, यह अवश्य इस से स्पष्ट होता है कि दूसरों की पत्नियों पर ब्राह्मण अधिकार कर सकता था क्योंकि वह ब्राह्मण था. यह तो ब्राह्मणवाद की अनियंत्रित कामुकता पूर्ति का लाइसेंस है कि यदि किसी क्षत्रिय या वैश्य की पत्नी का हाथ ब्राह्मण पकड़ ले तो वह उस की पत्नी हो जाएगी.

इस का सतीप्रथा के तब प्रचलित होने या न होने से क्या संबंध है? क्या इस तरह के मंत्रों को पेश करने वाले यह कहना चाहते हैं कि सती होने वाली औरतों को ब्राह्मणों की कामपूर्ति का साधन बन जाना चाहिए? क्या वे एक बुराई को हटाने के नाम पर एक दूसरी बुराई को ले आने को ही उचित समाधान समझते हैं?

इस तरह के मंत्रों के आधार पर सतीप्रथा तो कभी बंद नहीं हुई, हां, नंबूदरी ब्राह्मणों ने इन के आधार पर मालाबार, कालीकट आदि में उन्नितिरी तिमूरी आदि जातियों की नारियों के साथ सुहागरात मनाने व उन के साथ विवाहित पतियों से पहले संभोग करने का अधिकार प्राप्त कर के धार्मिक व्यभिचार व धार्मिक वेश्यावृत्ति को अवश्य शुरू किया. (देखें, संतराम, बी.ए. कृत 'हमारा समाज' पृ. 197-98).

कुछ अन्य लोगों ने ऋग्वेद के एक मंत्र (10-18-7) को प्रस्तुत कर के कहा है कि वैदिक काल में विधवाओं के लिए लंबे और शोक व रोग रहित जीवन का आह्वान किया गया है. इस मंत्र में नारी को समानता और जीवन के सारे सुख प्रदान करने की कामना की गई है. यह भारतीय समाज के लिए एक चुनौती है, इत्यादि.

यह मंत्र इस प्रकार है:

इमा नारीरविधवा: सुपत्नीरांजनेन सर्पिषा संविशंतु,
अनश्रवोऽनमीवा: सुरत्ना आरोहंतु जनयो योनिमग्रे

–ऋ 10/18/7

इस मंत्र को राजा राममोहन राय ने अपने एक निबंध में सन 1830 में उद्धृत किया था. उन्होंने इस का जो अर्थ किया वह इस प्रकार है: "हे अग्नि, ये औरतें, जिन के शरीरों पर घी मला हुआ है, आंखों में सुरमा है, जो आंसूरहित हैं, तुम में प्रविष्ट हो रही हैं. तुम पानी के पिता हो (संस्कृत ग्रंथों में पानी की उत्पत्ति अग्नि से बताई गई है). ये औरतें अपने पतियों से वियुक्त न हों, ये स्वयं निष्पाप हैं और स्त्रियों में रत्नों के समान हैं." (देखें, स्लैक्टिड वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, 159).

राममोहन राय के लेख से पहले लिखे गए 'धर्मसिंधु' नामक धर्म ग्रंथ में सती होने की विधि बताते हुए लिखा है कि इस मंत्र का पाठ उस समय करना चाहिए जब विधवा सती होने के लिए अग्नि प्रवेश करे.

ऐसे में उन लोगों की लफ्फाजी पर हंसी आती है और बुद्धि पर रोना, जो इस मंत्र द्वारा सतीप्रथा के हिंदू धर्म का अंग न होने की बात करते हैं.

इधर कुछ लोगों का कहना है कि विधवा मृत पति के शव के पास केवल लेटती थी. फिर उसे वहां से उठा लिया जाता था. उसे जलाया नहीं जाता था.

यह पूरी सच्चाई नहीं है. यह इतिहास की द्वितीय अवस्था है जब लोगों ने बुद्धिवादियों और बुद्ध के प्रचार के परिणामस्वरूप सतीप्रथा को उस की अमानवीय क्रूरता के कारण नकारना शुरू किया, तब 'धर्म' को बचाने के लिए यह मध्यम मार्ग निकाला गया. इस में वास्तविक प्रथा का अभिनय कर के धर्म का पालन भी हो जाता था और विधवा को न जलाने से बुद्धिवादियों के आक्रमणों से बचाव भी हो जाता था. यह अभिनय स्वयं इस बात का प्रमाण है कि सतीप्रथा इस से पूर्व एक वास्तविकता थी.

यह अभिनय यह सिद्ध करने के स्थान पर कि सतीप्रथा हिंदू धर्म का अंग नहीं, यह सिद्ध करता है कि यह क्रूर प्रथा हिंदू धर्म का ऐसा अभिन्न अंग है कि जब कुछ लोगों को मजबूरन इसे छोड़ना पड़ा तब भी इस का प्रतीकात्मक अभिनय अनिवार्य समझा गया.

एक महाशय ऋग्वेद का एक मंत्र (10/18/8) प्रस्तुत कर के कहते हैं कि स्वामी दयानंद ने इस का सही अर्थ किया है. इस से यह संकेत तक नहीं मिलता कि वेदों में सतीप्रथा थी.

उक्त मंत्र इस प्रकार है:

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि,
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि संबभूथ.

–ऋ. 10/18/8

इस का स्वामी दयानंद कृत अर्थ है: "हे विधवे, तू इस मरे हुए पति की आशा छोड़ कर बाकी पुरुषों में से जीते हुए दूसरे पति को प्राप्त हो और इस का विचार और निश्चय रख कि जो तुझ विधवा के पुन: पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पति के लिए नियोग होगा तो यह जना हुआ बालक उसी नियुक्त पति का होगा. ऐसे निश्चय युक्त हो" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास).

यदि यह मंत्र का सही अर्थ है तो इस में विधवा विवाह कहां है? इस में तो नियोग प्रथा की वकालत है. पति की लाश के पास से पत्नी को उठाते हुए इस में कहा गया है कि तुम इसे छोड़ो. जो जीवित हैं, उन में से किसी से संभोग कर के संतान पैदा कर लो. यानी पति की लाश घर में पड़ी है और सब मानवीय भावनाओं एवं सभ्य परंपराओं को ताक कर रख कर उस पत्नी को, जिस का घर उजड़ गया है, पति मर गया है, कहा जा रहा है कि वह किसी दूसरे पुरुष से संभोग कर के संतान पैदा कर ले.

पशु से भी बदतर औरत

यहां तो औरत को भावनाहीन पशु से भी बदतर समझा और उसे केवल बच्चे पैदा करने वाली मशीन बताया गया है, जिस में जब जिस ने चाहा वीर्य डाल कर बच्चा पैदा कर दिया. न उस के दुख से किसी को मतलब, न शोक से. यह तो उसे सती करने से भी ज्यादा बड़ी विडंबना है.

स्वामी दयांनद के इस अर्थ की अपेक्षा सायणाचार्यकृत अर्थ ज्यादा संगत प्रतीत होता है. उस के अनुसार इस में विधवा को मृत पति के पास से उठने के लिए कहा गया है ताकि वह अपने मृत पति की संतान का ध्यान रख सके.

इसी आधार पर परवर्ती धर्मशास्त्रों ने गर्भवती या छोटेछोटे बच्चों वाली विधवा को सती होने से रोकने के विधान बनाए हैं. परंतु इस मंत्र के बल पर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि सतीप्रथा वैदिक काल में थी ही नहीं, क्योंकि यहां एक विशेष स्थिति में, विशेष कारण से, अपवाद प्रस्तुत किया गया है. असल में विधवा तो सती होने के लिए पति के शव के पास पड़ी ही है, परंतु बच्चों के कारण उसे इस मंत्र में समझाया जा रहा है कि तुम बच्चों की ओर देखो और अपना निश्चय छोड़ दो. सायण ने लिखा है:

> हे नारि मृतस्य पत्नि जीवलोकं जीवानां पुत्रपौत्रादीनां लोकं स्थानं गृहमभिलक्ष्य उदीर्ष्व अस्मात् स्थानादुत्तिष्ठ. एतं पतिं उपशेषे तस्य समीपे स्वपिषि अनुमरणनिश्चयमकार्षीः तस्यादागच्छ.
>
> –ऋ. 10.18.8 पर सायणभाष्य

अर्थात हे मृतक की पत्नी, अपने पुत्रपौत्र को ध्यान में रखकर इस स्थान से उठो, जहां तुम पति के शव के पास लेटी हुई हो और तुम ने जो मरने का निश्चय किया है, उसे छोड़ दो.

यदि तात्कालिक धर्म के अनुसार सतीप्रथा न होती तो विधवा सती होने के लिए शव के पास क्यों लेटती और उसे बच्चों का वास्ता दे कर वहां से क्यों उठना पड़ता? स्पष्ट है, यह मंत्र भी तात्कालिक समाज में और वेदों में सतीप्रथा के अस्तित्व का ही सूचक है. स्वामी दयानंद ने इस पर लीपापोती करने के लिए जो नया अर्थ गढ़ा, उस से दूसरी किस्म की असभ्यता को बल मिल गया.

एक अन्य महाशय ने अथर्ववेद के एक मंत्र (18/3/3) को प्रस्तुत किया है और

उस के द्वारा सतीप्रथा के वेदों द्वारा समर्थित न होने की बात कही है.

यह मंत्र इस प्रकार है:

> अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्.
> अंधेन यत् तमसा प्रावृताऽऽसीत् प्राक्तो अपाचीनमनयं तदेनाम्.
>
> −18/3/3

इस का वह अर्थ करते हैं: "जो पति की मृत्यु के विरह रूप घोर अंधकार से ढकी हुई अथवा घिरी हुई है, उस जीवित विधवा युवती को मृतक को ले जाने वालों के मध्य से पृथक ले जा कर पुनर्विवाह को जाती हुई को हम ने देखा और इस विधवा स्त्री को पूर्व पति के पत्नीत्व से हटा कर दूसरे नियुक्त या विवाहित पुरुष की पत्नीत्व को प्राप्त कराया गया है."

इस अर्थ को यदि पल भर के लिए सही मान लिया जाए तो इस में वे सब दोष दिखाई पड़ेंगे तो इस से पहले मंत्र के स्वामी दयानंदकृत अर्थ में दिखाए गए हैं, क्योंकि यहां भी मृत पति के शव के घर में पड़े होने पर ही विधवा को नियोग के लिए अर्थात किसी पुरुष से संभोग कर के संतान पैदा करने के लिए कहा गया है.

वैसे, परंपरा ने कभी इस अर्थ को माना नहीं. यह मनगढ़ंत अर्थ है. प्राचीन सायण भाष्य के अनुसार यह मंत्र नारी-विषयक न हो कर गौ-विषयक है. सायण भाष्य के अनुसार इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार है: "तरुण अवस्था वाली जीवित गौ को मृतक के पास ले जाई जाती हुई देखता है. यह भी अज्ञान से ढकी है. इसलिए मैं इस शव के पास से हटा कर अपने सामने लाता हूं. (देखें, अथर्ववेद, द्वितीय खंड, श्रीराम शर्मा आचार्यकृत हिंदी टीका पृष्ठ 813 तथा आचार्य गोपाल प्रसाद कौशिक कृत हिंदी टीका, भाग दो, पृ. 310).

किसी शब्द का, श्लोक का वही वास्तविक अर्थ होता है, जो उस का अर्थ परंपरा से लोग स्वीकार करते आ रहे हों, न कि वह जो शब्दों से खिलवाड़ कर के कोई कर सकता हो.

घिनौना सिद्धांत

ऊपर जो नियोगपरक अर्थ लिखा गया है, वह मंत्र के शब्दों के किसी तरह भी अनुरूप नहीं है. उक्त मंत्र का यदि सरलार्थ करें तो ऐसा होगा: "मैं ने एक युवती को देखा जो मृतों से विवाही जा रही थी. वह घोर अंधकार से घिरी थी अर्थात निराश थी. मैं उसे आगे से उत्तर (अथवा पश्चिम) दिशा में ले गया."

इस से यह प्रतीत होता है कि युवती को सती किया जाने वाला था, परंतु मंत्र रचने वाला व्यक्ति, जो प्रथम पुरुष में बोलता है, उसे वहां से भगा ले गया.

इस से सतीप्रथा के प्रचलित होने का ही संकेत मिलता है. यहं अलग बात है कि इस मामले में एक व्यक्ति उसे भगा ले जाता है. यह भगा ले जाना एक अपवाद है क्योंकि यहां व्यक्ति केवल अपने व्यक्तिगत अनुभव का बखान कर रहा है.

उपर्युक्त दोनों मंत्रों में नियोग की चर्चा की गई है, जिस के अनुसार स्त्री का

किसी दूसरे पुरुष से संभोग करवाया जाता है. यद्यपि इस प्रथा के प्राचीन भारत में कभी प्रचलित रहने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं, तथापि इस के विषय में वेदों में कोई विशेष सूचना नहीं मिलती.

स्वामी दयानंद और उन के अनेक अनुयायियों ने ही वेदों से नियोग निकालने की कोशिशें की हैं. इस के परिणामस्वरूप वेदमंत्रों के अर्थ अजीब किस्म के हो गए हैं. इसी कारण अनेक आर्यसमाजी विद्वानों ने विवश हो कर घोषणा की है कि चारों वेदों में एक भी मंत्र नहीं जिस में स्पष्ट रीति से इस का प्रतिपादन किया हो. इसलिए हम यह स्पष्ट कह सकते हैं कि वेद इस सिद्धांत का पोषक नहीं है. (वेदतीर्थ नरदेव शास्त्री, आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, 1918 ई., पृ. 84).

यह सिद्धांत इतना घिनौना, असभ्यतापूर्ण और औरत को जलील करने वाला है कि स्वामी दयानंद को ऋषि नहीं, महर्षि कहने वाले लाखोंकरोड़ों आर्यसमाजियों में से किसी एक ने भी पिछले सवा सौ साल से भी ज्यादा अरसे में इस पर अमल नहीं किया. (स्मरण रहे, सत्यार्थप्रकाश का पहला संस्करण 1875 में छपा था).

प्राचीन धर्मशास्त्रों ने भी नियोग की निंदा ही की है. कुछ स्मृतियों ने कहा है कि यह हमारे युग के अनुरूप नहीं है क्योंकि इस की निंदा खुद मनु ने की है:

उक्तो नियोगो मनुना निषिद्धः स्वयमेव तु, युगक्रमादशक्योऽयं कर्तुम्

–वसिष्ठ स्मृति.

मनु ने तो अपने समय की सब से बड़ी गाली नियोग को दी है और कहा है कि यह इनसानों का नहीं, बल्कि पशुओं का धर्म है:

नोद्वाहिकेषु मंत्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्.
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः.
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः,
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति.

–मनुस्मृति, 9/65-66

अर्थात विवाह मंत्रों में कहीं नियोग का नाम नहीं आता और न ही विवाह विधि में विधवाविवाह का कोई संकेत है. नियोग को विद्वानों ने पशुधर्म कह कर इस की निंदा की है. इस पशुधर्म को राजा वेन ने अपने शासन काल में मनुष्यों पर थोपा था.

ऐसे में वेदों के नियोगपरक अर्थों की प्रामाणिकता तो वैसे ही काफूर हो जाती है. यहां यह उल्लेखनीय है कि स्वामी दयानंद ने मनु को प्रमाण मानते हुए भी उस के इस तरह के श्लोकों को 'प्रक्षिप्त' कह कर 'नियोग' का समर्थन जारी रखा (मीठामीठा हड़प, कड़वाकड़वा थू!)

कुछ लोगों का कहना कि वेद में कहा गया है कि हे नारी, तेरा पति मर गया है तो क्या हुआ, तू उठ और देवर के साथ रह.

यह बात बेबुनियाद है और परंपरागत धर्मशास्त्रों के एकदम विपरीत है. किसी वेद में विधवा को देवर के साथ रहने के लिए नहीं कहा गया है.

आश्वलायन गृह्यसूत्र में आता है कि मृतक पति के उत्तर की तरफ पत्नी बैठाई जाए.

यदि मृतक क्षत्रिय हो तो उस के उत्तर में धनुष रख दिया जाए. फिर उस स्त्री को देवर, पतिस्थानीय अंतेवासी (छात्र) या कोई बूढ़ा नौकर उठाए और 'उदीर्ष्वनारी' इस मंत्र को पढ़े. क्षत्रियों के यहां स्त्री उठाने के बदले धनुष उठाया जाएगा और उक्त मंत्र पढ़ा जाएगा. यदि उठाने वाला शूद्र हो तो वह स्त्री या धनुष को उठाए और आचार्य एक तरफ बैठ कर मंत्र का जप करे:

उत्तरतः पत्नीम्. धनुश्च क्षत्रियाय. तामुत्थापयेद्
देवरः पतिस्थनीयोऽतेवासी जरद्दासो वा
उदीर्ष्वनार्यभिजीवलोकमिति. कर्ता वृषले जपेत्.

–आश्वलायन गृह 4/2/16–19

गृह्यसूत्र के इस विधान से शायद कुछ लोगों को लगा हो कि विधवा देवर के साथ रहे. परंतु इस में तो कहा गया है कि विधवा को देवर उठाए, या पति का विश्वासपात्र छात्र या बूढ़ा दास. यदि उठाने मात्र से देवर के साथ विधवा का रहना प्रमाणित होता है, फिर तो पति के छात्र और बूढ़े दास के साथ भी विधवा का रहना मानना पड़ेगा.

वस्तुतः इस विधान से दो बातें स्पष्ट हैं: पहली तो यह कि क्षत्रिय जाति की विधवा को तो उठाया ही नहीं जाता था. उस की जगह केवल धनुष उठाया जाता था. क्षत्रिय विधवा हर हालत में सती होती थी.

दूसरी यह कि इस में कहा गया है कि उठाते समय 'उदीर्ष्वनारी' इस मंत्र को पढ़ा जाए. यह मंत्र क्या कहता है? यह मंत्र ऋग्वेद (7/6/27), कृष्णयजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता 6/1) और अथर्ववेद (18/3/3) में मिलता है. प्राचीन भाष्यकार सायण ने तीनों ग्रंथों पर भाष्य रचा है. मंत्र का पूर्वार्ध स्पष्ट है:

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि.

अर्थात हे नारी, प्राणरहित पति के पास तू सोती है. इस पति के समीप से उठ. मंत्र का उत्तरार्ध है:

हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ

इस का अर्थ करते हुए सायण ने ऋग्वेद भाष्य में लिखा है: तू पाणिग्रहण करने वाले और गर्भधारण करवाने वाले इस पति के संबंध से आई हुई इस संतान को दृष्टि में रख और पति का साथ करने का निश्चय छोड़ दे:

जीवलोकं जीवानां पुत्रपौत्रादीनां लोकं स्थानं
गृहमभिलक्ष्य अस्मात् स्थानादुत्तिष्ठ.
यस्मात् त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहं कुर्वतः
दिधिषोः गर्भस्य निधातुः तवास्य पत्युः

संबंधादागतमिदं जनित्वं जायात्वमभिलक्ष्य संबभूथ संभूतासि,
अनुमरणनिश्चयमकार्षी:   तस्मादागच्छ.

सायण ने कृष्णयजुर्वेद के भाष्य में उत्तरार्ध का अर्थ करते हुए लिखा है कि हे नारी, तू पाणिग्रहण करने वाले, जो तुझ से फिर विवाह करेगा उस पति की वह जो संतान है उस के सम्मुख हो, उसे ध्यान में रख–

त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्रहवतः दिधिषोः
पुनर्विवाहेच्छोः पत्युः एतज्जनित्वं जायात्वं
अभिसंबभूव, मुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि.

यहां सायण उठाई जा रही विधवा से कहता है कि यह पति फिर तुम्हारे साथ विवाह करेगा. यह स्पष्टतः जन्मांतर में वही पति प्राप्त होने की ओर संकेत है.

अथर्ववेद के भाष्य में सायण ने लिखा है कि तुम्हारा पाणिग्रहण करने वाले और गर्भधारण करवाने वाले तेरे पति की पुत्रादि रूप जो यह संतान है, तू इसे प्राप्त हो–

हस्तग्राभस्येति हस्तं गृह्णाति हस्तग्राभः पाणिग्रहणकर्ता, दिधिषोः धारयितुः तव पत्युः इदं जनित्वं अपत्यादिरूपेण जन्मत्वम् अभिसंबभूथ अभिसंप्राप्तासि.

हम ने सर्वप्राचीन भाष्यकार द्वारा तीनों स्थानों पर किए अर्थ इसलिए उद्धृत किए हैं ताकि कोई यह न कह सके कि फलां वेदभाष्य में 'यह' अर्थ है. इन अर्थों से स्पष्ट है कि नारी को उस की संतति का वास्ता दे कर उठाया जाता था, न कि यह कहा जाता था कि तू उठ और देवर के साथ रहना शुरू कर दे. पति मर गया तो क्या हुआ.

निस्संदेह कई लोगों (कबीलों) में यह प्रथा कभी रही है कि वे विधवा का विवाह देवर से कर दिया करते थे. इधर पंजाब में इसे 'चादर डालना' कहते थे. परंतु वे भी ऐसा नहीं करते थे जैसा वेद के नाम पर प्रचलित या प्रचारित किया जा रहा है. वे भी पति के शव के पास से विधवा को उठा कर देवर के साथ सुहागरात मनाने के लिए नहीं कहते थे और न ही वे यह कहते थे कि पति मर गया है तो क्या हुआ, देवर तो है ही. जिस परिवार का बड़ा लड़का मर गया है, वह शोक में संतप्त होगा. उस परिवार का कौन ऐसा पत्थर दिल सदस्य होगा जो उस की लाश के पास पड़ी उस की पत्नी से कहे कि यह मर गया तो क्या हुआ, देवर तो है?

जो लोग यह कहते फिरते हैं कि वेद कहता है कि 'हे विधवा तू उठ, यह (पति) मर गया तो क्या हुआ, देवर तो है ही,' वे यह सिद्ध करने के उन्माद में कि वेदों में क्रूर सतीप्रथा नहीं थी, वेदों को अन्य प्रकार से क्रूर और मानवीय बनाए जा रहे हैं और उन्हें यह ध्यान ही नहीं कि वे वेदों के नाम पर जो कुछ कह रहे हैं, उस से वेदों की झूठी महिमा स्थापित होने के स्थान पर, उन से घोर जंगलीपन की बदबू आने लगेगी. घोर जंगली और मानवीय भावनाशून्य व्यक्ति/ग्रंथ ही एक पत्नी से कह सकता है कि तेरा पति मर गया तो क्या हुआ, देवर जो है.

क्या नारी मात्र लाश है? क्या उस में मानवीय लगाव एवं अन्य भावनाएं नहीं हैं? क्या वह कमीज है जो कुछ क्षण पहले पति ने पहनी थी और उस के शव से उतार

कर देवर को दी? हमारे स्वाध्याय में तो वेद का ऐसा कोई मंत्र नहीं आया जिस में पति के शव के पास पड़ी विधवा से कहा गया हो कि यह मर गया है तो क्या हुआ, तेरा देवर तो जिंदा है. तू उठ और उस के साथ रह.

यदि वास्तव में किसी वेद में यह क्रूरतापूर्ण जंगली विधान है तो कहना होगा कि यह सतीप्रथा से कम क्रूर नहीं क्योंकि सतीप्रथा में जहां शारीरिक यातना है, वहां इस में मानसिक यातना भी है, जो शारीरिक यातना से कम नहीं होती. कई बार तो मानसिक यातना शारीरिक यातना से भी ज्यादा क्रूर, निर्दय एवं असह्य होती है.

वास्तव में, वेदों की 'लोकोत्तर महिमा' स्थापित करने के उद्योग में स्वामी दयानंद ने 'उदीर्ष्व नारी' मंत्र का जो अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में किया है, वही इस सारे क्रूरतापूर्ण व्यवहार/विश्वास की जड़ है. स्वामी दयानंद जी ने मंत्र में आए शब्दों 'अभिजीवलोकं एहि' का अर्थ किया है 'जीवंतं देवरं द्वितीयवरं पतिं प्राप्नुहि' अर्थात तू जीते हुए देवर, द्वितीयवर, पति को प्राप्त कर.

यह मंत्र का अर्थ नहीं, बल्कि शब्दों का गला घोंट कर उन से अपने अभीष्ट अर्थ निकाले गए हैं. 'अभिजीवलोकं एहि' का अर्थ सीधा है–जीव लोक को, जीवित लोगों की दुनिया को प्राप्त कर.' इस में न किसी शब्द का अर्थ देवर है, न दूसरा पति. ('सत्यार्थप्रकाश' में इस मंत्र का अर्थ करते हुए स्वामी जी ने 'देवर' का नाम कहीं नहीं लिया है). स्वामी दयानंदकृत यह अर्थ सारी हिंदू परंपरा का विरोधी है और ऐसा अर्थ इस मंत्र का कदापि नहीं माना गया है. प्राचीन भाष्यकार सायणकृत अर्थ हम ने पहले ही उद्धृत कर दिए हैं.

कुछ लोगों ने स्मृतियों के कुछ ऐसे वाक्य प्रस्तुत किए हैं, जिन में कहा गया है कि विधवा या तो सती हो जाए या ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवित रहे. इस से वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सतीप्रथा वैकल्पिक थी.

इस संदर्भ में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यह वैकल्पिक विधान बुद्धमत के प्रभाव के परिणामस्वरूप बाद में घोषित किया गया. जब लोग मानवीय हत्या के विरुद्ध विद्रोह करने लगे और बौद्ध बनने लगे, तब हिंदू धर्म को बचाने के लिए समरनीति के तौर पर यह विकल्प प्रदान किया गया था.

राजक्रांति के फलस्वरूप जब हिंदू धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो गया, तब फिर विकल्प को छोड़ दिया गया था. यही कारण है कि इन वैकल्पिक विधानों वाले ग्रंथों के बाद के ग्रंथों में सती की महिमा में तो अनेक श्लोक उपलब्ध होते हैं, किंतु जीवित रहने वाली विधवा की प्रशंसा में सारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में एक पंक्ति भी नहीं मिलती. धर्मशास्त्रों का झुकाव किस ओर है और उन की दृष्टि में आदर्श क्या है, वह इस से असंदिग्ध रूप में स्पष्ट हो जाता है.

यही कारण है कि शिलालेखों तक में सतियों की महिमा वर्णित व उल्लिखित है. सतियों की समाधियों की पूजा होती है. उन पर मासिक व वार्षिक मेले लगते हैं और इन सतियों के 'सत' को हिंदू धर्म की अद्वितीय थाती कहा जाता है. राज्य सरकारों व केंद्रीय सरकार के मंत्री तक वहां पहुंचते रहे हैं और उन मेलों में शामिल होने के लिए सरकारी छुट्टियां होती रही हैं.

दूसरे, विकल्प से यह कैसे सिद्ध होता है कि सतीप्रथा हिंदू धर्म का अंग नहीं थी. जब धर्म ग्रंथ एक विषय पर दो वैकल्पिक मत देते हैं तो स्पष्ट है कि दोनों धर्मसम्मत हैं. यदि धर्म ग्रंथ सतीप्रथा का विरोध कर के उस के स्थान पर विधवा को जीवित रखने की बात करते, तभी कहा जा सकता था कि वे सतीप्रथा के विरोधी थे. जब वे यह कहते हैं कि 'या यह करो, या वह करो' तो स्पष्ट है कि 'यह' और 'वह' दोनों उन के लिए समान हैं, उन्हें किसी पर आपत्ति नहीं है. सतीप्रथा भी उन के लिए उतनी ही श्रेष्ठ है, जितना विधवा का जीवित रहना. फिर इस से यह कैसे प्रमाणित होता है कि सतीप्रथा का उन्होंने कभी समर्थन किया ही नहीं था?

इन लोगों द्वारा उद्धृत कथनों से एक बात और सामने आती है, वह यह कि धर्म ग्रंथों में विधवा को जब ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का विकल्प दिया जाता है, तब स्पष्ट हो जाता है कि वे उसे पुनर्विवाह की अनुमति नहीं देते.

अपरार्क का मत

एक महाशय अपरार्क का नाम ले कर कहते हैं कि उस ने सतीप्रथा की निंदा की है. अतः सतीप्रथा हिंदू धर्म का अंग नहीं है. उन्होंने अपरार्क से एक श्लोक उद्धृत किया, जिस में कहा गया है कि विधवा जीवित रह कर अपने मृत पति का भला कर सकती है. उस के साथ जलने पर तो वह आत्मघातिनी होगी.

यह डूबते को तिनके के सहारे के समान है. अपरार्क कौन है? क्या वह हिंदू धर्म में कोई अधिकारी ग्रंथकार है? नहीं, वह केवल एक टीकाकार है, जो 12वीं शताब्दी में हुआ. उस ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर संस्कृत में टीका लिखी थी. वह इतना महत्त्वहीन है कि हिंदू धर्म के अनेक ठेकेदार उस का नाम तक नहीं जानते. इसीलिए उस का हिंदू धर्म में कोई महत्त्व नहीं है. ऐसे आदमी के एक कथन से क्या शेष सब धर्मशास्त्रीय कथन और विधान खत्म हो गए?

असल में, अपरार्क ने सतीप्रथा का विरोध न कर के, उस का समर्थन किया है. अपरार्क से पहले याज्ञवस्क्यस्मृति पर विज्ञानेश्वर ने 11वीं शताब्दी में मिताक्षरा नामक संस्कृत टीका लिखी थी. उस के प्रथम अध्याय के श्लोक 86 की टीका में उस ने लिखा था, "सती होना कोई अधर्म नहीं है. क्योंकि सती होने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है, ऐसा बताया गया है, जो वेदों के अनुसार ही है. सतीप्रथा के संबंध में जो स्मृति में कहा गया है, वह वेद के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि स्त्री सती हो कर स्वर्ग की इच्छा करती है. अतः वह श्रुतिवाक्य (वेदों) के विरोध में नहीं जाती."

इस तर्क को अपरार्क ने स्वीकार किया है. (देखें, डा. पांडुरंग वामन काणे रचित धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द 1, पृ. 351).

अपरार्क की टीका से जो श्लोक उद्धृत किया गया है, वह स्पष्टतः सती विरोधी बौद्धों, चार्वाकों आदि का या उन से प्रभावितों का मत है, जिस का अपरार्क ने खंडन करने के लिए उद्धरण दिया है. ग्रंथकार का मत वह नहीं होता जिसे वह काटने के लिए पूर्वपक्ष के तौर पर उद्धृत करता है, बल्कि वह होता है जो वह पूर्वपक्ष का खंडन

कर के सिद्धांत रूप में प्रतिपादित करता है. प्रस्तुत लेख में अनेक मतों का हम ने खंडन किया है. यह खंडित किया गया पूर्वपक्ष हमारा मत नहीं है. हमारा मत वह है जो खंडन के उपरांत हम ने प्रतिपादित किया है, यह सामान्य बुद्धि की बात है. जो लोग इतना भी नहीं समझते, पता नहीं वे किस बल पर धर्मशास्त्रों में मुंह मारना शुरू कर देते हैं?

एक महाशय 'स्मृतिचंद्रिका' नामक ग्रंथ का नाम ले कर कहते हैं कि उस में कहा गया है कि विधवा का विवाह कर देना चाहिए, उसे ब्रह्मचारिणी रखना निकृष्ट है और सती करना उस से भी ज्यादा निकृष्ट है. इस तरह हिंदू धर्म में विधवाओं को जीवितों के संसार में लौटाने की बलिष्ठ परंपरा रही है.

यह कथन धोखे से भरपूर लफ्फाजी है, क्योंकि स्मृतिचंद्रिका में विधवा के विवाह की बात कहीं नहीं है और न उसे ब्रह्मचारिणी रखने की निंदा है. हां, उसे सती करने को, ब्रह्मचारिणी रखने की अपेक्षा निकृष्ट अवश्य कहा गया है–

यत्तु विष्णुना धर्मांतरमुक्तं मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं
व तदेतद् धर्मांतरमपि ब्रह्मचर्यधर्माज्जघन्यं निकृष्टफलत्वात्
–स्मृतिचंद्रिका, व्यवहार, पृ. 254

अर्थात जो विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है कि विधवा या तो ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे या सती हो जाए, इस में यह दूसरा धर्म अर्थात सती होना ब्रह्मचर्य की अपेक्षा निकृष्ट है, क्योंकि इस का फल नीचा है.

यहां स्पष्ट रूप से विधवा के ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का विधान है, न कि उसे निकृष्ट बताया गया है. हां, यहां सती होने को ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने की अपेक्षा कम फल वाला अवश्य कहा गया है. परंतु यह सच्चाई भी हमारे ध्यान में रहे कि यह वाक्य स्मृतिचंद्रिका में 12वीं शताब्दी में लिखा गया था, परंतु इस का समर्थन न इस के समकालिक किसी ग्रंथ ने किया और न 19वीं शताब्दी तक रचे जाते रहे किसी धर्मशास्त्र ने किया. उन में तो सती ही आदर्श रही है. अतः इस इकलौते कथन से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि सती हिंदू धर्म के अनुसार आदर्श नहीं है. यह कथन तो अपवाद है, नियम नहीं.

इन पूर्वोक्त लोगों ने इस बात पर बल दिया है कि हिंदू धर्म में विधवा का विवाह हो जाता था, अतः उसे सती होने की जरूरत ही नहीं थी.

परंतु ये मत भ्रांतिजनक हैं. ये काले अतीत को सफेद बनाने के प्रयास का अंग हैं. जैसा कि हम ने पहले देखा है, हमारे यहां पुनर्विवाह करने वाली औरत को 'पुनर्भू' कह कर तिरस्कृत किया जाता था, इस से हम अंदाजा लगा सकते हैं कि क्या यहां विधवा के पुनर्विवाह की धार्मिक अनुमति संभव थी.

धर्म ग्रंथों ने विधवा के विवाह पर प्रतिबंध का मामला अनुमान पर नहीं छोड़ा है. उन्होंने स्पष्ट और दृढ़ आदेश दे कर उस का निषेध किया है.

मनु के आदेश हैं कि पति के मर जाने पर नारी दूसरे पति का तो नाम भी न ले, उस के विवाह करने की बात ही छोड़ो–

न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु

–मनुस्मृति, 5/157

हिंदू धर्म के अनुसार केवल इतना ही नहीं कि वह अविवाहिता रहेगी, बल्कि उस पर अन्य प्रतिबंध भी हैं, जो जीवित नारी को मुरदा बनाने वाले हैं, यथा– व्यास का कहना है कि यदि विधवा सती न हो तो उस के केश काट देने चाहिए और वह तप कर के अपने शरीर को दुर्बल बना कर रहे–

जीवंती चेत् त्यक्तकेशा तपसा शोषयेद् वपुः

–2/53

बौधायन धर्मसूत्र का आदेश है कि विधवा एक साल के लिए नमक तक न खाए और धरती पर सोए–

संवत्सरं प्रेतपत्नी...लवणानि वर्जयेदधश्शयीत

–2/2/4/7

वृद्धहारीत स्मृति का कहना है कि विधवा केश संवारना, पान खाना, गंध सेवन, शरीर पर पुष्प लगाना, आभूषण एवं रंगदार वस्त्र पहनना छोड़ दे. वह न तो पीतलकांसे के बरतन में भोजन करे, न दिन में दो बार खाए, न आंखों में काजल लगाए. वह सदा सफेद वस्त्र पहने. सदा भगवान की पूजा करे. रात को कुशा घास की चटाई बिछा कर धरती पर सोए. जब तक जीवित रहे, तप करती रहे. मासिक धर्म के दिनों में वह भोजन के बिना रहे–

केशरंजनतांबूलगंधपुष्पादिसेवनं,
भूषणं रंगवस्त्रं च कांस्यपात्रेषु भोजनम्.
द्विवारभोजनं चाक्ष्णोरंजनं वर्जयेत्सदा शुक्लांबरधरा.
नित्यं संपूजयेद् हरिम् क्षितिशायी भवेद् रात्रौ
कुशोत्तरे तपश्चरणसंयुक्ता यावज्जीवं समाचरेत्
तावत्तिष्ठेन्निराहारा भवेद् यदि रजस्वला

–वृद्धहारीत, 11/206-210

स्कंदपुराण (काशीखंड, अ. 4) में कहा गया है कि विधवा का सिर मुंडा हुआ हो. वह दिन में एक बार भोजन करे, मासमास भर के उपवास करे. उसे चारपाई पर नहीं सोना चाहिए. उसे मरते समय भी बैलगाड़ी में नहीं बैठना चाहिए. उसे चोली नहीं पहननी चाहिए. उसे वैशाख, कार्तिक और माघ मास में विशेष व्रत रखने चाहिए.

इन पाबंदियों के अतिरिक्त विधवा को तिरस्कार और उपेक्षा की भी पात्र बनाया गया है. स्कंदपुराण के अनुसार विधवा सब से बड़ा अमंगल है. विधवादर्शन से सफलता हाथ नहीं लगती, कार्य सिद्ध नहीं होता. विधवा के आशीर्वाद को समझदार लोग सांप का विष समझते हैं. (काशीखंड 4/55/75 एवं 3 ब्रह्मारण्य भाग 50/55).

ऐसी ही बातें मदनपारिजात (पृ. 202-03), निर्णयसिंधु आदि में भी मिलती हैं.

ऐसे में विधवा के विवाह की आशा करना चील के घोंसले में मांस ढूंढ़ने के समान है. विधवाविवाह के प्रति अतीतवादियों, वेदवादियों और धर्म के ठेकेदारों का कितना द्वेषभाव रहा है, इस का अनुमान हम इसी बात से लगा सकते हैं कि वेदों का सही अर्थ लगाने का दावा करने वाले स्वामी दयानंद को वेदों में एक भी मंत्र विधवाविवाह का समर्थक नहीं मिला.

इसी कारण उन्होंने अपने समकालिक ईश्वरचंद्र विद्यासागर से, जो विधवा विवाह को प्रचलित करने की मानवतावादी धुन में कर्ज लेले कर विधवाओं के विवाह खुद कर रहे थे, न केवल कोई प्रेरणा ग्रहण करने से इनकार किया, बल्कि अपनी पुस्तक 'सत्यार्थप्रकाश' में विधवाविवाह का डट कर विरोध भी किया और उस के दोष भी गिनाए. (देखें, चतुर्थ समुल्लास, पृ. 182).

स्वामी दयानंद ने मनु की हां में हां मिलाते हुए कहा है कि उसी स्त्री या पुरुष का पुनर्विवाह संभव है, जिस की केवल भांवरें हुई हों, परंतु पुरुष या स्त्री से सहवास न हुआ हो. जिस पुरुष या स्त्री का एक बार भी स्त्री या पुरुष से सहवास हो चुका हो, उस का पुनर्विवाह नहीं होना चाहिए (देखें, चतुर्थ समुल्लास, पृ. 181).

स्पष्ट है कि हिंदू धर्म में विधवा विवाह कभी वैध नहीं रहा है. यहां तक कि विवाह के मंत्र भी केवल कन्याओं (अविवाहिताओं) के विवाह से संबद्ध हैं. इसीलिए मनु ने कहा है कि विधवा का विवाह हो ही कैसे सकता है, जब विवाह संबंधी मंत्र ही (अविवाहित) कन्याओं के लिए है. पाणिग्रहणिका मंत्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः (8/226).–विवाह मंत्रों में इस प्रकार के संकेत हैं कि "इस कन्या का विवाह है, जिस का कभी पहले विवाह नहीं हुआ, वह अनन्यपूर्विका है."

जो विधवा अपने तौर पर किसी से विवाह कर लेती थी, उस का वह विवाह वैध नहीं होता था क्योंकि वह बिना पूर्ण संस्कार के होता था. इसलिए वह समाज में 'पुनर्भू' कह कर तिरस्कृत एवं उपेक्षित होती थी.

कुछ लोगों का कहना है कि सतीप्रथा का मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में कोई उल्लेख नहीं है, अतः सतीप्रथा हिंदू धर्म का अंग नहीं है.

यह बहुत बचकाना तर्क है. यदि उक्त दोनों स्मृतियों में उल्लेख नहीं है तो इस से यह कैसे सिद्ध हो गया कि वे सतीप्रथा की विरोधी हैं? अनेक स्मृतियों में अनेक विषय नहीं हैं. लेकिन इस का अर्थ यह नहीं कि वे विषय उन स्मृतियों को मान्य नहीं हैं. जो विषय स्मृतियों को मान्य नहीं होते, उन का उल्लेख कर के खंडन किया जाता है. यही स्मृतियों की परंपरा है.

जिस बात का किसी स्मृति ने खंडन नहीं किया, उस का चाहे उस ने उल्लेख न भी किया हो, वह उसे स्वीकार्य ही होती है. इसीलिए तो याज्ञवल्क्य के टीकाकार विज्ञानेश्वर और अपरार्क ने अपनीअपनी टीका में सतीप्रथा को वैध और उचित प्रमाणित किया है. इस कारण इन स्मृतिकारों के परवर्ती स्मृतिकारों ने 19वीं शताब्दी तक सतीप्रथा का समर्थन व गुणगान किया है.

प्रश्न उठता है कि पूर्वोक्त प्रकार की लचर दलीलें क्यों दी जा रही हैं?

इस का उत्तर खोजना कठिन नहीं. इस तरह की बातें कर के वे सतीप्रथा की मजबूरन निंदा कर के भी इस प्रथा के जन्मदाता, प्रचारक एवं प्रसारक हिंदू धर्म एवं धर्म ग्रंथों की रक्षा का प्रयास करते हैं, यानी विषवृक्ष के पत्ते झाड़ कर वे उस की जड़ को यथासंभव अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते हैं. उन के इस तरह के प्रयासों से यही प्रतीत होता है कि वे इस बात के लिए ज्यादा दत्तचित्त हैं कि हिदूं धर्म पर उंगुली न उठे, सतीप्रथा का मुद्दा तो उन के लिए गौण है.

पुरी के शंकराचार्य का मत

इन तथाकथित धर्मरक्षकों की अपेक्षा हिंदू धर्म के संदर्भ में पुरी के शंकराचार्य ने ज्यादा बौद्धिक निडरता और नैतिक ईमानदारी दिखाई है. उनका कहना है कि सतीप्रथा हिंदू धर्म का अभिन्न अंग है. शंकराचार्य की इस बात के लिए प्रशंसा करनी चाहिए कि उन्होंने लीपापोती किए बिना हिदूं धर्म को वैसा ही प्रतिपादित किया है, जैसा यह असल में है. इस से पहले भी वह जातिपांति और छुआछूत के मामले में हिंदू धर्म की मान्यताओं को निडरतापूर्वक मुखरित कर चुके हैं.

हमारा यह दृढ़ मत है कि हिंदू धर्म जैसा है, उसे उसी रूप में प्रतिपादित किया जाना चाहिए, न कि हीन भावना से ग्रस्त हो कर उस के अनभीष्ट पहलुओं पर परदा डालना चाहिए. शंकराचार्य का भी यही मत प्रतीत होता है. परंतु शंकराचार्य यहीं रुक कर कहते हैं कि क्योंकि फलां चीज हिंदू धर्म में 'इस' प्रकार है, अतः यह आदर्श है और आंखें बंद कर के पालन करने योग्य है. यही सनातन धर्म है. इसी में हिंदू जाति का कल्याण है, जबकि हमारा कहना है कि क्योंकि ये चीजें हिंदू धर्म में 'इस' प्रकार हैं, अतः जो धर्म इन चीजों का संग्रहमात्र है, वह खुली आंखों वालों के लिए त्याज्य है, और इसी में हिंदू जगत का कल्याण एवं भारतीय संविधान का पालन है, क्योंकि कोई प्रथा सनातन (सदा से व सदा रहने वाली) हो ही नहीं सकती.

एक मत और है, जो हिंदू धर्म की हर बुराई पर परदा डालने का उपदेश देता है और गंदगी को गलीचे के नीचे छिपाने में ही कल्याण समझता है.

इस संबंध में हमारा कहना है कि यदि किसी को धर्म का कोई पक्ष अरुचिकर व अमानवीय प्रतीत होता है तो उस का खुल कर विरोध करना चाहिए. गंदगी को गलीचे के नीचे दबा देने से सफाई नहीं होती. इस से तो धीरेधीरे कमरा ही गंदगी से भर जाएगा और गलीचा भी गल जाएगा. हम बाकी सब प्रकार की गंदगी को तो उठा कर बाहर फेंक देते हैं, परंतु धार्मिक गंदगी को छिपा कर उस के अस्तित्व को एकदम नकारने लगते हैं. यह बौद्धिक बेईमानी और नैतिक कायरता का मार्ग है, जिस का समर्थन नहीं किया जा सकता.

"सतीप्रथा हिंदू धर्म का अंग व आदर्श नहीं है" – इस मत के समर्थकों के प्रमाणों व तर्कों को काटने के पश्चात व शंकराचार्य के बयान के उपरांत भी यह प्रश्न बना रहता है कि हिंदू धर्म ग्रंथ सतीप्रथा के विषय में क्या कहते हैं?

हिंदू धर्म क्या है? हिंदू धर्म ग्रंथों में प्रतिपादित धर्म ही 'हिंदू धर्म' है. ये धर्म ग्रंथ

कौन से हैं? इन की परंपरा ऋग्वेद से शुरू होती है और धर्मसूत्रों, रामायण, महाभारत, पुराणों, स्मृतियों आदि से होती हुई 19वीं शताब्दी तक चली आती है क्योंकि धर्मसिंधु का लेखक 1805-06 में पंचत्व को प्राप्त हुआ.

वेदों में सती प्रथा

सब से पहले वेदों को देखते हैं. वेदों में निम्नलिखित मंत्र दो बार आया है और इस का विनियोग अंत्येष्टि में होता है. मंत्र इस प्रकार है:

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्.
धर्मं पुराणमनुपालयंती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि.
–कृष्णयजुर्वेद/ तैत्तिरीय संहिता 6/1/13 तथा अथर्ववेद, 18/3/3

इस का अर्थ करते हुए 14वीं शताब्दी के चतुर्वेद भाष्यकार सायण ने लिखा है:

यह नारी स्वर्ग अर्थात पतिलोक को प्राप्त करने की इच्छा से, हे मनुष्य, तुझ मृत के समीप पहुंचती है. तुम्हारे साथ जलमर रही है. यह ऐसा पुरातन धर्म का पालन करती हुई कर रही है. इस तरह तुम्हारे साथ मर रही इस स्त्री को जन्मांतर में इस लोक और परलोक में भी तुम पुत्र, पौत्र, धन आदि प्रदान करना. पत्नी के सती होने के कारण वह व्यक्ति ही जन्मांतर में भी उस का पति बनता है.

इसी मंत्र को आधार बना कर याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकार ने सतीप्रथा को वेदानुरूप घोषित किया. उसी को बाद के ग्रंथकार उद्धृत करते रहे हैं.

ऋग्वेद का भी एक मंत्र इस संदर्भ में द्रष्टव्य है, जिसे विधवा के अग्निप्रवेश करने पर पुरोहित पढ़ते हैं.

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीरांजनेन सर्पिषा संविशंतु.
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आरोहंतु जनयो योनिमग्रे
–ऋ. 10/18/7

अर्थात ये नारियां (पति के साथ) जल रही हैं, अतः पति का साथ होने के कारण अविधवा हैं. इन के शरीरों पर घी मला हुआ है, आंखों में अंजन (सुरमा) लगा है. ये आंसूशून्य हैं. हे अग्नि, ये तुम में प्रवेश कर रही हैं ताकि ये निर्दोष और सुंदर नारियां अपने पतियों से वियुक्त न हों.

रामायण

रामायण बहुत लोकप्रिय ग्रंथ रहा है. रामायण को बिना पढ़े, दशहरा या दूरदर्शन जैसे माध्यमों से उस की मोटीमोटी और तोड़ीमरोड़ी कहानियां जान व सुन कर, अपने को रामायण के ज्ञाता मानने वालों में से कई कहते हैं कि सतीप्रथा राक्षसों (अनार्यों) में प्रचलित थी, आर्यों में नहीं. इसलिए सुलोचना अपने पति के शव के साथ सती हुई थी.

यह बात सरासर गलत है. वाल्मीकिरामायण में, जो रामकथा की सब से प्राचीन

पुस्तक है, सुलोचना के सती होने का कहीं उल्लेख नहीं है. इस के विपरीत आर्यों में इस के अस्तित्व के कुछ प्रमाण अवश्य रामायण में मिलते हैं.

दशरथ की मृत्यु पर कौसल्या कहती है, "मैं महाराज के शरीर को आलिंगन कर अग्नि में प्रवेश करूंगी–

इदं शरीरमालिंग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्

–वा. रा. अयोध्या कांड 66/12

यह अलग बात है कि उसे सती होने से रोक दिया गया (पूर्वोक्त, 66/13).

सीता को रावण जब राम का मायानिर्मित कटा सिर दिखाता है तब वह कहती है, "हे रावण, मैं अपने पति के साथ सती होऊंगी–

रावणानुगमिष्यामि गतिं भर्तुर्महात्मनः

–युद्धकांड, 32/32

उत्तरकांड में आता है कि राजर्षि कुशध्वज को जब शुंभ नामक दैत्य ने मार डाला तब उस की पत्नी ने पति के शव का आलिंगन कर अपने आप को आग में जला डाला, अर्थात वह सती हो गई. कुशध्वज की पुत्री वेदवती कहती है.

ततो मे जननी दीना तच्छरीरं पितुर्मम,
परिष्वज्य महाभागा प्रविष्टा हव्यवाहनम्

–17/14

अर्थात तब मेरी माता मेरे पिता के शरीर का आलिंगन कर अग्नि में प्रविष्ट हो गई.

इस तरह स्पष्ट है कि रामायण के समय में सतीप्रथा थी और यह अनार्यों की अपेक्षा आर्यों में ही अधिक प्रचलित थी.

उत्तर भारत में आज भी घरघर पढ़ी जा रही तुलसीकृत रामायण का तो कहना है कि जो नारी अपने पति से प्रेम नहीं करती वह अगले जन्म में विधवा हो जाती है. अर्थात वैधव्य पूर्वजन्म के कुकृत्य का फल होता है:

पति प्रतिकूल जन्मि जहं जाई,
विधवा होय पाइ तरुणाई

–अरण्य कांड

ऐसी 'पूर्वजन्म' की 'पापिन' को कौन 'धर्मात्मा' जीने देगा? जीने भी देगा तो कौन मानवीय व्यवहार करेगा? क्योंकि अपने 'पूर्वजन्म' के पापों के कारण वह तो पति को खा गई है!

महाभारत

महाभारत के अनेक पात्र धार्मिक श्रद्धा के पात्र हैं. इन में एक पात्र है पांच

पांडवों का पिता कहा जाने वाला राजा पांडु. उस की मृत्यु पर उस की एक पत्नी माद्री ने पति के शव के साथ अपने को जलाया था. (आदिपर्व 125/19). कृष्ण के पिता वसुदेव की चारों पत्नियां देवकी, भद्रा, रोहिणी और मदिरा–अपने पति के साथ जल मरीं. (मौसलपर्व 7/18). कृष्ण की पांच पत्नियों–रुक्मिणी, गांधारी, शैव्या, हैमवती एवं जांबवती ने अपने को कृष्ण के शव के साथ जला दिया (मौसलपर्व 7/73-74). विष्णुपुराण (5/38/2) के अनुसार कृष्ण की मृत्यु पर उन की आठ रानियों ने अग्नि में प्रवेश किया था. भागवतपुराण (1/13/57) के अनुसार धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी ने पति के शव के साथ अपने को भस्म किया था.

धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्रीय साहित्य में परलोक संबंधी अनेक प्रलोभन दिखा कर स्त्री को आत्महत्या के लिए उकसाया गया है:

तिस्रः कोट्योर्द्धकोटी च यानि लोमानि मानवे,
तावत्कालं वसेत् स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति.
व्यालग्राही यथाव्यालं बलादुद्धरते बिलात्,
एवं स्त्री पतिमुद्धृत्य तेनैव सह मोदते

–पराशरस्मृति अ. 4 ब्रह्म पुराण एवं गौतमी माहात्म्य 10/76,74,
दक्षस्मृति –4/18–19, गरुड़पुराण 10/51

अर्थात जो स्त्री पति के साथ अनुमरण करती है (उस की चिता पर जल मरती है), वह साढ़े तीन करोड़ वर्षों तक, जितने मनुष्य के शरीर पर रोम होते हैं, स्वर्ग में निवास करती है. जैसे सपेरा सांप को बिल में से निकाल लेता है, वैसे ही वह स्त्री भी नरक से अपने पति को खींच लाती है, जो उस के साथ जलती है. वह स्वर्ग में उस के साथ आनंद मनाता है (34-35).

तत्र सा भर्तृपरमा स्तूयमानाऽप्सरोगणैः
क्रीडते पतिना सार्धं यावदिंद्राश्चतुर्दश
ब्रह्मघ्नो वा कृतघ्नो वा मित्रघ्नो वा भवेत् पतिः,
पुनात्यविधवा नारी समारोहेद् हुताशनम्.
साऽरुंधतीसमाचारा स्वर्गेलोके महीयते.
यावच्चाग्नौ मृते पत्यौ स्त्री नात्मानं प्रदाहयेत.
तावन्न मुच्यते सा हि स्त्रीशरीरात् कंथचन

–याज्ञवल्क्य स्मृति 1/86 पर मिताक्षरा टीका, अपरार्क पृष्ठ 110, शुद्धितत्त्व पृ. 234

अर्थात पति के साथ मरने वाली नारी स्वर्ग में तब तक आनंद मनाती हुई रहती है, जब तक चौदह इंद्रों का काल समाप्त नहीं हो जाता. जो नारी पति के साथ मरती है वह अविधवा होती है और वह ब्रह्महत्यारे, कृतघ्न एवं मित्रघाती पति तक का कल्याण करती है, अर्थात पति के साथ मरने से नारी उस के पापों को दूर कर देती

है और वह नरक की यातनाओं से मुक्त हो जाता है. वह अरुंधती के समान बन जाती है. (अरुंधती वसिष्ठ की पत्नी थी. कहा जाता है कि वह मर कर सतीत्व के प्रभाव से तारा बन गई जो सप्तर्षि मंडल के निकट चमकता है.) जब तक नारी अपने को पति के शव के साथ नहीं जलाती, तब तक वह बारबार नारी के रूप में जन्म लेती है. (अंतिम श्लोक विष्णुस्मृति में भी प्राप्त होता है.)

मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता.
या स्त्री मृतं परिष्वज्य दग्धा चेद् हव्यवाहने.
सा भर्तृलोकमाप्नोति हरिणा कमला यथा.
साध्वीनामिह नारीणामग्निप्रपतनादृते
नान्यो धर्मोऽस्ति विज्ञेयो मृते भर्तरि कुत्रचित्

–वृद्धहारीत स्मृति, 11/199-202

अर्थात पति के साथ मरने वाली स्त्री को ही पतिव्रता समझना चाहिए. जो स्त्री मृत पति का आलिंगन कर के अग्नि में प्रवेश करती है, वह पतिलोक को वैसे ही प्राप्त होती है, जैसे विष्णु को लक्ष्मी प्राप्त करती है. भली स्त्रियों के लिए इस के सिवा और कोई चारा नहीं कि वे मृत पति के साथ आग में कूद जाएं.

ब्राह्मणी से ले कर चांडालिन तक सब के लिए यही श्रेयस्कर मार्ग है कि वे पति के साथ जल मरें, यदि वे गर्भवती या छोटेछोटे बच्चों वाली न हों–

अयं च सर्वासां स्त्रीणामगर्भिणीनामबालापत्यानामाचांडालं साधारणो धर्मः,
भर्तारं यानुगच्छतीत्यविशेषोपादानात्–

–याज्ञवल्क्य स्मृति 1/86 पर मिताक्षरा टीका; मदनपारिजात, पृ. 186; स्मृतिमुक्ताफल संस्कार, पृ. 162

मिताक्षराकार ने यह भी फतवा दिया है कि सहमरण (पति के शव के साथ जल मरना) वेदसम्मत है. सहमरण द्वारा स्त्री स्वर्ग की कामना करती है. अतः यह वेदों के पूरी तरह अनुकूल है. इस का पालन अवश्य करना चाहिए (मिताक्षरा 1/86).

इसी 'तर्क' को अपरार्क (पृ. 111) मदनपारिजात (पृ. 199) पराशरमाधवीय (भाग 1, पृ. 55-56) आदि ने दोहराया है.

अंगिरा का कहना है कि पति के मर जाने पर उस की चिता पर भस्म हो जाने से बढ़ कर स्त्रियों के लिए कोई अन्य धर्म नहीं है–

सर्वासामेव नारीणामग्निप्रपतनादृते
नान्यो धर्मोहि विज्ञेयो मृते भर्तरि कर्हिचित्.

–अपरार्क पृ. 109 पर और पराशरमाधवीय पृ. 58 पर उद्धृत

बृहस्पति ने कहा है कि जो पत्नी पति की मृत्यु के समय रजस्वला (मासिक धर्मवती) हो, वह मासिक धर्म से निवृत्त होने पर, स्नान करने के चौथे दिन जले. यानी जले जरूर चाहे चार दिन देर से ही सही.

गृहस्थ की मृत्यु हो जाने पर आठदस दिन तक गरुड़पुराण की कथा चलती है. तब शोकावेगग्रस्त श्रोताओं को सती का गुणगान सुनाया जाता है. सती को परलोक में मिलने वाले सुख गिनाए जाते हैं, सती होने की विधि बताई जाती है और बताया जाता है कि सती होने जा रही स्त्री को अग्नि से डर नहीं लगता. उस के लिए अग्नि शीतल हो जाती है, आदि.

इस तरह की बातें बचपन से सुनते रहने से लोगों के मन में पूरी तरह घर कर जाती हैं, जिस के परिणामस्वरूप न तो सती होने वाली इसे अत्याचार महसूस करने की स्थिति में रहती है और न ही उसे सती करने वाले अपराधवृत्ति से ग्रस्त होते हैं.

गरुड़पुराण के दसवें अध्याय में बहुत विस्तार के साथ यह सारा विवरण उपलब्ध होता है.

सब से पहले सती होने की 'सरल' विधि अंकित की गई है: नारी अपने को सुहागिन की तरह सजाए. अच्छे वस्त्र पहने. आंखों में अंजन लगाए. ब्राह्मणों को दान दे और गुरु को नमस्कार कर के घर से चले. देवमंदिर में जा कर भक्ति से प्रणाम करे. सारे आभूषण मंदिर में चढ़ा दे. जहां से बिल्व का फल ले कर और लज्जा व मोह को त्याग कर श्मशान को चल पड़े. वहां सूर्य को नमस्कार कर के चिता की परिक्रमा करे. तत्पश्चात चिता पर बैठ कर पति का सिर अपनी गोद में रख ले. फिर बिल्व का फल सहेलियों को दे कर उन्हें आग लगाने को कहे. उस आग में अपने को इस तरह जला दे, मानो वह गंगा के शीतल जल में डुबकी लगा रही हो. (ग. पु. 10/36-40.)

इस विधि में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात है. इस में ब्राह्मण की रोटीरोजी का पूरा प्रबंध है, यानी मारी जा रही या मरने को उकसाई व बहकाई गई औरत से भी ब्राह्मण को पहले दान मिलना चाहिए, फिर उस के आभूषण उस के हाथ आ जाने चाहिए. होता यह सब धर्म के नाम पर था.

नारी को बहकाते हुए गरुड़पुराण कहता है कि नारी को आग से डरना नहीं चाहिए, क्योंकि जब औरत पति की लाश के साथ आग में बैठती है तब अंगों को जलन महसूस नहीं होती. उस आग में तो केवल पाप जलते हैं. जैसे बरतन को आग में रखने से उस की केवल मैल जलती है. जो नारी सती (सच्ची) होती है, वह मृत पति के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है. इस तरह पति के साथ होने के कारण वह जलती नहीं. (ग. पु. 10/42-43, 45.)

इस तरह के धार्मिक उपदेश गलत बातों से धर्मभीरु नारी को बहकाते रहे हैं और उस की सामान्य बुद्धि पर धार्मिक उन्माद का अमानवीय परदा डाल कर उसे आत्महत्या के लिए प्रेरित करते रहे हैं.

इस प्रकार की दुष्प्रेरणाओं के साथ गरुड़पुराण ने दूसरे धर्मग्रंथों की तरह प्रलोभन भी दिए हैं. धर्मग्रंथकारों ने नारी को अग्निसात करने के लिए राजनीति की तरह साम, दाम, दंड और भेद जैसे हर संभव शस्त्र का प्रयोग किया है.

गरुड़पुराण कहता है कि नारी जब तक पति के शव के साथ अपने को नहीं जलाती, तब तक वह नारी के रूप में जन्म लेती रहेगी और नारी जीवन में मिलने वाले दुख, कष्ट व उपेक्षा झेलती रहेगी. अतः इस सब से एक ही बार छुटकारा पाने के लिए उसे सती हो जाना चाहिए. इससे उसे न केवल संसार से छुटकारा मिलेगा, बल्कि स्वर्ग में वह ऋषि पत्नी अरुंधती के समान पूजा की पात्र भी बनेगी. वहां अप्सराएं उस की स्तुति करेंगी. अपने पति के साथ वह 14 इंद्रों की उम्र तक आनंद मनाएगी, सूर्य के समान चमकने वाले विमान में विहार करेगी और जब तक सूर्य चांद विद्यमान हैं, पतिलोक में निवास करेगी. इतना ही नहीं, बाद में उस का जन्म भी बहुत अच्छे कुल में होगा. (ग. पु. 10/48-49, 52-53)

इस तरह के पारलौकिक भय और प्रलोभन दिखाने के बाद भी धर्म की क्रूरता शांत नहीं हुई. अतः गरुड़पुराण सती न होने वाली नारियों को गालियां देते हुए कहता है कि जो नारी इतने लाभ की परवाह न कर के क्षण भर के जलने के दुख के कारण सती नहीं होना चाहती, वह मूर्ख है.

धर्मसिंधु (18वीं शताब्दी) नामक धर्मग्रंथ में सहगमन (सती होने) का बहुत लुभावना फल प्रदर्शित करते हुए कहा गया है:

स्त्रियों के लिए पति की चिता पर जल मरना सब पापों का नाशक और नरक से बचाने वाला है. इस के कारण स्त्री अगले जन्म में सौभाग्यवती होती है और पुत्रों एवं धन को प्राप्त करती है. सती होने वाली स्त्री साढे तीन करोड़, जितने कि शरीर पर रोम होते हैं, उतने वर्षों तक स्वर्ग में पूजित होती है. सती होने वाली स्त्री माता, पिता तथा ससुराल, इन तीन कुलों को पवित्र करती है.

–धर्मसिंधुः, तृतीय परिच्छेद

इस तरह के लुभावने फलों के कारण ही माता, पिता तथा ससुराल वालों ने न केवल सती होने का विरोध नहीं किया, बल्कि उन्होंने अपने कल्याण की आशा में उसे सती होने के लिए सदा प्रेरित ही किया होगा.

धर्मसिंधु में एक अन्य वचन में कहा गया है कि मृत पति के पीछेपीछे जो पत्नी खुशी से सती होने के लिए श्मशान को जाती है उसे हर कदम पर एक अश्वमेध यज्ञ के समान फल मिलता है.

शुद्धितत्त्व

जैसा हम ने गरुड़पुराण में देखा है, धर्म ग्रंथों ने सती होने का केवल अतिशयोक्तिपूर्ण गुणगान ही नहीं किया, बल्कि सती होने की लंबीचौड़ी विधियां भी लिखी हैं.

शुद्धितत्त्व नामक ग्रंथ के अनुसार यह विधि इस प्रकार है:

विधवा स्नान कर के दो श्वेत वस्त्र धारण करती है. अपने हाथों में कुश लेती है, पूर्व या उत्तर की ओर मुख करती है. आचमन करती है (चुल्लू भर पानी पीती है). तब ब्राह्मण पुरोहित 'ओम् तत्सत्' कहता है और वह नारायण का स्मरण करती है तथा

मास, पक्ष एवं तिथि का संकेत करती हुई प्रतिज्ञा करती है कि मैं पति की चिता पर जलूंगी (यह प्रतिज्ञा संस्कृत में पुरोहित करवाता है. स्त्री को तो पता भी नहीं होता कि वह जो कुछ पुरोहित के पीछेपीछे कह गई है, उस का अर्थ क्या है). तब वह आठ दिक्पालों, सूर्य, चंद्र, अग्नि आदि का आह्वान करती है ताकि वे उस के जल मरने के साक्षी बनें. फिर वह तीन बार अग्नि के चारों ओर चक्कर लगाती है. वह ब्राह्मण "इमा नारीरविधवा..." (ऋग्वेद 10.18.7) यह वैदिक तथा एक पौराणिक मंत्र पढ़ता है जिस का अर्थ है, "ये अच्छी और परम पवित्र नारियां, जो पतिपरायणा हैं, अपनेअपने पतियों के शवों के साथ अग्नि में प्रवेश करें." तब स्त्री 'नमो नमः' कह कर जलती हुई चिता पर चढ़ जाती है.

थोड़े से अंतर के साथ यही विधि 'निर्णयसिंधु' और 'धर्मसिंधु' (परिच्छेद तृतीय, उत्तरार्ध) में भी अंकित की गई है.

ये पूर्वोक्त विधियां उस स्थिति के लिए हैं, जब पति का शव पास हो. यदि पति विदेश या किसी दूरदराज के इलाके में मरा हो तब 'साध्वी पत्नी' के लिए 'पृथक् चिति विधि (अलग चिता) है. तदनुसार, दूसरे देश में पति के मरने पर साध्वी पत्नी पति के दोनों खड़ाऊं छाती पर रख कर शुद्ध चित्त से अग्नि में प्रवेश करे. यह 'पृथक् चिति विधि' है.

देशांतरमृते पत्यौ साध्वी तत्पादुकाद्वयम्.
निधायोरसि संशुद्धा प्रविशेज्जातवेदसम्.

बीभत्स विधान

यदि स्त्री के मासिक धर्म के दिनों में उस के पति की मृत्यु हो जाए तो 'धर्मसिंधु', कहता है कि यदि मासिक धर्म के तीसरे दिन मृत्यु हो तो मृत पति को एक रात रखे, दाह न करे, ताकि अगले दिन मासिक धर्म से निवृत्त हो कर वह सती हो सके. यदि मासिक धर्म के पहले या दूसरे दिन पति मर जाए तो उसे जला दिया जाए. यदि स्त्री उसी दिन पति के शव के साथ ही सती होना चाहे तो वह एक द्रोण (एक तोल विशेष) धान को कूटे ताकि जोर लगने से सारा रज उसी समय निकल जाए. फिर पांच मिट्टियों से शुद्ध हो कर गौएं दान करे. यदि मासिक धर्म का पहला दिन हो तो 30, दूसरा दिन हो तो 20, तीसरा दिन हो तो 10 गौएं दान दे. बाद में ब्राह्मण उसे शुद्ध घोषित करेगा. फिर वह सती हो जाए.

–धर्मसिंधुः, तृतीय परिच्छेद, उत्तरार्ध

ये अनेक और सुदीर्घ उद्धरण हम ने ऋग्वेद, महाभारत, स्मृतियों, पुराणों आदि से दिए हैं. ऐसे में सतीप्रथा को हिंदू धर्म का अंग न मानने वालों से हमें पूछना है कि सतीप्रथा का विधान व गुणगान करने वाले ये ग्रंथ किस धर्म के हैं? क्या ये हिंदू धर्म के ग्रंथ हैं या किसी दूसरे धर्म के? संभवतः कोई भी यह नहीं कहेगा कि ये हिंदू धर्म के ग्रंथ नहीं हैं और सब एक स्वर से यही कहेंगे कि ये ग्रंथ हिंदू धर्म के ही हैं. स्पष्ट है कि इन में दिए गए धार्मिक आदेश हिंदू धर्म के अपरिहार्य अंग हैं. ऐसे में, सतीप्रथा

की तो निंदा करना परंतु हिंदू धर्म और धर्म ग्रंथों का पक्ष लेना क्या परस्पर-विरोधी और आत्मवंचन नहीं? ऐसे में यह कैसे कहा जा सकता है कि सतीप्रथा हिंदू धर्म का अंग नहीं है?

इन धार्मिक आदेशों के अध्ययन से तीन बातें असंदिग्ध रूप से सामने आती हैं.

- पहली यह कि उस के लिए पति के साथ जल मरने के सिवा और कोई विकल्प नहीं है. इसीलिए आज भी, तथाकथित आधुनिक नारी के लिए भी, पति ही सर्वस्व है और विधवा को आज भी अच्छी नजरों से नहीं देखा जाता.
- दूसरी, उसे परलोक में मिलने वाले सुखों, पति का कल्याण होने के आश्वासनों आदि से मुग्ध कर के, उस की बुद्धि पर धर्मोन्माद का परदा डाल कर, उसे आत्मघात के लिए विवश किया जाता था. जब उसे कहा जाता कि 'पति का कल्याण तुम्हारे जल मरने से होगा' तो उसे उस के कल्याण के लिए यह कदम उठाना ही पड़ता था, अन्यथा उसे ससुराल वाले वैसे भी न जीने देते.
- तीसरी, धर्मशास्त्रों ने इस आत्मघात या नारीवध को निर्विकार भाव से प्रस्तुत किया और उसे एक धार्मिक संस्कार बना दिया. इस में पुरोहित मंत्र पढ़ता, संकल्प होते, दान होते, पूजा होती, उस से सारा वातावरण ऐसी पैशाचिक धार्मिकता से भर जाता जिस में यह जघन्य कुकृत्य अपराध भावना पैदा करने के स्थान पर एक पुण्यभाव का एहसास उपजाता था और धार्मिक संतोष सा पैदा करता.

इसी पैशाचिक धार्मिकता के कारण 'अनुमरण' आदि शब्दों के स्थान पर 'सती' शब्द का उदय हुआ. सती का शब्दार्थ है—सच्ची, शुद्ध स्त्री, यानी सच्ची या शुद्ध नारी ही आत्मदाह कर सकती है. यह आत्मदाह ही उस के सती (सच्ची) होने का प्रमाण है. इस से नारी के अंदर धर्म ने आत्मघात करने की विवशता पैदा की, क्योंकि कोई भी नारी यह नहीं चाहती कि कोई उसे असती (बेवफा, अशुद्ध) कहे. अपने को सती बनाए रखने के लिए उस ने विवश हो कर आत्मदाह जारी रखा और इसी भावना को भड़का कर उसे आत्मघात के लिए विवश किया जाता रहा.

यह 'सती' शब्द धर्म की बहुत बड़ी घातक देन है. यदि 'सती' शब्द का अर्थ केवल 'सच्ची' या 'शुद्ध' रहता जो इस का व्याकरण के अनुसार अर्थ है तो संभवतः इस के साथ इतनी पवित्रता और धार्मिकता न जुड़ती. परंतु गरुड़पुराण ने 'सती' शब्द का प्रयोग पति के साथ जल मरने वाली स्त्री के अर्थ में कर के इस दिशा में बहुत बड़ा धार्मिक योगदान दिया है. इस से आम धार्मिक स्त्रीपुरुष को लगा कि 'पति के साथ जल मरना' ही सती (सच्ची) स्त्री होने का प्रमाण है. जो जल मरती है वह सती. जो नहीं जलती, वह 'सती' नहीं मानी जाएगी. इस से, जलने को तैयार न होने वाली स्त्री को बड़ी आसानी से, उस के स्वाभिमान पर चोट कर के, यह कह कर कि 'क्या तू सती (सच्ची पत्नी) नहीं जो जलने से डरती है' जलने के लिए तैयार किया जाता रहा, क्योंकि कोई भी स्त्री यह कभी स्वीकार नहीं कर सकती कि वह असती (बेवफा) है.

इस प्रकार न केवल धर्मशास्त्रीय आदेश सती के लिए विभिन्न हिंदू धर्म ग्रंथों में

उपलब्ध हैं, बल्कि पृष्ठ पर पृष्ठ इस काम के लिए रंगे गए हैं. यहां तक कि इन धर्मशास्त्रों ने अपने नारीनाशक उन्माद में भाषा को भी ऐसी मरोड़ियां दीं कि 'सती' शब्द के उच्चारण के साथ ही नारी को जलनेजलाने के लिए विवश करने वाला 'धार्मिक' भाव उदय होने लगता है.

धर्मशास्त्रीय अवतरणों को पढ़ने के बाद निम्नलिखित दो तथ्य उभर कर सामने आते हैं.

> पहला यह कि धर्मशास्त्र यह दिखाना चाह रहे हैं कि स्त्री को जलाने का विधान उन्होंने उस के भले के लिए ही आविष्कृत किया है.
>
> दूसरा यह कि वेदों के कुछ मंत्रों को छोड़ कर, शेष सारे उद्धृत धर्म ग्रंथ बुद्ध के बाद के हैं.

पहली बात के संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि धर्मशास्त्र नारी के भले के लिए इतने ही चिंतित थे तो वे पुरुष के 'भले' को क्यों भूल गए? उसे अग्नि में भून कर स्वर्ग पहुंचाने का विधान उन्होंने क्यों नहीं किया?

स्पष्ट है, विधवा के प्रति उन का यह प्यार कसाई का बकरे को किया जाने वाला 'प्यार' है. जैसे कसाई बकरे को 'प्यार' से इसलिए पालता है ताकि उस का मांस जल्दी बढ़े और वह उसे मार कर ज्यादा धन कमा सके, उसी प्रकार यहां औरत के प्रति मगरमच्छीय आंसू इसलिए बहाए गए हैं ताकि वह बहक कर जल मरे और परिवार का पिंड छूट जाए.

यह तुलना आकस्मिक नहीं. मनु का कथन है कि वेदों में जो हिंसामय विधान हैं, उन्हें अहिंसा ही समझना चाहिए–

या वेदविहिता हिंसा, अहिंसामेव तां विद्यात्

–मनुस्मृति 5/44

निरुक्त से पता चलता है कि जब वैदिक यज्ञों में बलि दी जाती थी तब हाथ से कुल्हाड़ी चलाई जाती थी, परंतु जो मंत्र तब पढ़ते थे उन में कहा जाता था कि हे कुल्हाड़ी, इस की हत्या मत कर (निरुक्त 1/5/14). ठीक उसी प्रकार की 'सद्भावना' से विधवा जलाई जाती थी.

सती प्रथा की शुरुआत

प्रश्न उठता है कि हिंदू धर्म ने विधवा को मारने की शुरुआत क्यों की? विश्व के अनेक देशों में यह प्रथा थी. इस के मूल में पुरुष की संपत्ति की भावना थी. वह मर कर भी अपनी 'चीजों' को साथ ही रखना चाहता था. युगांडा में मृत राजा की कब्र के पास राजा की पत्नियों को भूखा मरने के लिए बंद कर दिया जाता था. कैलिफोर्निया व अफ्रीका के कुछ आदिवासियों में यह रिवाज था कि राजा के मरने के बाद उस की कब्र के पास एक घर बना कर उस की पत्नियों की टांगें तोड़ कर उन्हें मरने के लिए छोड़ दिया जाता था. मिस्र व यूनान में प्राचीन समय में विधवाओं को जिंदा जलाने या कब्रों में जिंदा गाड़ देने के उदाहरण मिलते हैं, पर ज्योंज्यों मानव

का बौद्धिक विकास और सभ्यता की प्रगति हुई, यह आदिम क्रूर प्रथा लुप्त होती गई. परंतु भारत में बहुत कुछ इस के विपरीत हुआ. इसी लिए ऊपर उद्धृत ग्रंथों में, जो वेदों को छोड़ कर शेष सब ईसा से इधर की शताब्दियों में रचे गए हैं-- उन युगों में, जिन्हें हिंदू धर्म का स्वर्णयुग, मुसलिम युग और अंगरेज युग कहते हैं, सती का महत्त्व गाया गया है.

ऐसा क्यों हुआ? डा. भीमराव अंबेडकर ने अपने शोधपत्र 'कास्ट्स इन इंडिया: देअर मैकेनिज्म, जेनेसिस एंड डेवलपमेंट' में इस के लिए जातिपांति को जिम्मेदार ठहराया है.

यह बात ऊपर से देखने पर अटपटी लग सकती है, परंतु है शतप्रतिशत सही. डा. अंबेडकर ने अपने कथन को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि इतिहास के किसी अज्ञातकाल में पुरोहित वर्ग ने अपने को ज्योंज्यों परमात्मा (?) का दलाल बनाना शुरू किया त्योंत्यों वह इनसानों से दूर हटता गया. अपने को पवित्र और दूसरों से पृथक व अद्वितीय बनाए रखने के लिए उस ने कई हथकंडे अपनाए. उन में सब से मुख्य था अपने वर्ग में ही शादी और अपने वर्ग में जन्मे व्यक्ति को ही अपने वर्ग की सदस्यता प्रदान करना.

इस प्रकार पुरोहित वर्ग एक बंद डब्बा बन गया. यह वर्ग क्योंकि तत्कालीन हिंदू समाज में पवित्र और श्रेष्ठ माना जाता था, अतः दूसरे लोगों ने भी इस का अनुकरण करना शुरू कर दिया.

यह अनुकरण दो कारणों से हुआ. एक तो इसलिए कि पुरोहित वर्ग न तो अपने किसी व्यक्ति को बाहर जाने देता था और न किसी गैर पुरोहित वर्गीय व्यक्ति को अपने में मिलने देता था. इस से दूसरे वर्गों के लोग विवश हुए कि वे भी अपनी सदस्यता पर नियंत्रण रखें.

दूसरे, उन्होंने खुद ऊंचा बनने की धुन में 'उच्च' पुरोहित वर्ग के चरित्र को अपनाना शुरू कर दिया.

इस के परिणामस्वरूप हर वर्ग एक बंद इनसानी डब्बे के समान हो गया, जो वर्ण या जाति कहलाया. इन जातियों में विधवा की समस्या पैदा हुई. हर वर्ग में स्त्रीपुरुष का अनुपात प्रायः समान होता है. इसलिए एक औरत अपने वर्ग में एक बार ही शादी कर सकती थी. पति की मृत्यु होने पर विधवा फालतू हो जाती थी. परंतु पुरुषसत्तात्मक समाज होने के कारण पत्नी के मरने पर पुरुष फालतू नहीं बनता था, क्योंकि एक पुरुष की कई पत्नियां हो सकती थीं. इसीलिए संस्कृत में 'विवाह करने' को 'दारान् करोति' कहते हैं. इस का शब्दार्थ है: 'पत्नियां करता है,' न कि पत्नी करता है.

इसी कारण सारे प्राचीन साहित्य में विधवा के समकक्ष पत्नीरहित पुरुष के लिए एक विशिष्ट शब्द उपलब्ध नहीं होता.

अपने वर्ग में ही शादी का बंधन होने के कारण पुरोहित वर्ग की तथाकथित फालतू औरत (विधवा) अपने जीवन में दोबारा शादी नहीं कर सकती थी क्योंकि कन्या के विवाह का ही विधान था, न कि विवाहिता के विवाह का. अथर्ववेद में कहा है:

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विंदते पतिम्

–अथर्व. 11/5/18

अर्थात ब्रह्मचर्य रखने वाली यानी विवाह पूर्व यौन संबंध स्थापित न करने वाली कन्या युवा पति को प्राप्त करे.

इसी बात को मनु ने जोर दे कर दोहराया है:

(क) न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः

–मनुस्मृति, 9/65

अर्थात विवाहविधि में विधवा के पुनर्विवाह का कहीं विधान नहीं है.

(ख) पाणिग्रहणिका मंत्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः. नाकन्यासु क्वचित्

–मनु. 8/226

अर्थात विवाह संबंधी मंत्र कन्याओं के लिए ही हैं, अकन्याओं के लिए कदापि नहीं.

सब से बड़ी बात तो यह थी कि कोई पुरुष उस से संबंध बनाने को ही तैयार न होता, क्योंकि विधवा को 'पति की हत्यारी' कहा जाता था और वेदों में प्रार्थनाएं हैं कि हे नारी, तू पति को मारने वाली न हो : अपतिध्नी हैधि (अथर्ववेद, 14/2/18). **इसी के परिणामस्वरूप, विधवा को अशुभ, मंगलकार्यों से वर्ज्य और न जाने क्याक्या कहा गया. अभी कल तक विधवा के पास बच्चों को नहीं फटकने दिया जाता था, ताकि कहीं उस की 'अशुभ छाया' से बच्चों को 'कुछ' हो न जाए. आज भी विधवा को देहातों में 'पति को खा गई' कह कर ताना मारा जाता है.**

यदि वह किसी स्ववर्गीय पुरुष को बहकाती या कोई कामावेश में उस के प्रति आकृष्ट होता तो वह निंदा का पात्र बनता, जातिच्युत होता. पर नजला दोनों स्थितियों में विधवा पर ही गिरता. पुरुष का दोष भी उसी के सिर मढ़ा जाता. उस की दुर्गति ज्यादा होती.

यदि वह अपने वर्ग के बाहर के पुरुष को बहकाती, तब भी दंडित होती, जातिच्युत होती. विभिन्न (वर्णसंकर) जातियां ऐसे जातिबहिष्कृत जोड़ों की संतानों से ही उपजी हैं. स्मृतियों में इन के विवरण अंकित हैं. स्पष्ट है कि विधवा के साथसाथ एक पुरुष को भी जातिच्युत होना पड़ता. उसे रखैल बनाने वाले को भी कीमत चुकानी पड़ती. अकेली विधवा कुछ नहीं कर सकती थी.

पुरुष को बचाने के लिए और अनभीष्ट स्थितियों को रोकने के लिए पुरोहित वर्ग ने पेशबंदी के तौर पर विधवाओं को पति के शव के साथ ही खत्म करने का विधान बना दिया. तथाकथित उच्चवर्ग अर्थात पुरोहित वर्ग का अनुकरण करने वाले दूसरे वर्गों ने भी कालांतर में यही अमानवीय ढंग अपना लिया और इस तरह सहमारण की क्रूर प्रथा सर्वत्र फैल गई.

सतियों के आंकड़े

सब स्थानों के सब कालों के आंकड़े तो उपलब्ध नहीं हैं, तथापि बंगाल के कुछ वर्षों के आंकड़े प्राप्त होते हैं, जिन से इस की घातकता एवं व्यापकता का अंदाजा लगाया जा सकता है.

वर्ष	घटनाएं	वर्ष	घटनाएं
1815	378	1816	442
1817	707	1818	839
1819	650	1820	598
1821	654	1822	583
1823	575	1824	572
1825	639	1826	518
1827	517	1828	463

ये केवल एक प्रांत के सिर्फ 14 वर्षों के आंकड़े हैं. इन 14 वर्षों में वहां 8,135 सतियां हुईं व की गईं. संभव है कई सतियां गिनी ही न गई हों. शेष सारे देश में पिछले हजारों वर्षों में कितनी सतियां हुईं व की गईं, उस संख्या का हम अनुमान भी पूरी तरह नहीं लगा सकते.

जो लोग सभ्य जगत में शर्मिंदा होने के कारण या अपने धर्म की चमड़ी बचाने के उद्देश्य से सती प्रथा की महामारी को कम कर के बताते हैं, वे कहते हैं कि पिछले हजारों वर्षों में ज्यादा से ज्यादा कुछ सौ सतियां हुई होंगी. वे कितना बड़ा झूठ बोलते हैं, सहज ही समझा जा सकता है. जो व्यक्ति शुरू ही झूठ से होता है, वह सती प्रथा को समाप्त करने के मुद्दे पर कितना ईमानदार हो सकता है, यह बताने की जरूरत नहीं.

पंजाब में महाराजा रणजीत सिंह के साथ अनेक रानियां जलीं तो राजस्थान में जोधपुर के राजा अजीतसिंह के साथ 64 रानियां जलीं. उधर दक्षिण भारत में एक राजा के साथ 11,000 रानियां जलाई गई बताई जाती हैं.

इस से स्पष्ट है कि सहमरण (सतीप्रथा) पुरोहित वर्ग का क्रूर आविष्कार है, जो धीरेधीरे दूसरे वर्गों में भी पहुंच गया.

यह विधवा के भले के लिए नहीं, बल्कि पुरोहित वर्ग ने इसे अपने भले के लिए, विधवा से छुटकारा पाने के लिए आविष्कृत किया था.

अब दूसरी बात को लेते हैं. विश्व के अनेक देशों में जंगलीपन के दिनों में यद्यपि यह प्रथा प्रचलित थी, परंतु वहां शीघ्र ही समाप्त हो गई. इस के विपरीत यह भारत में सभ्यता के साथ और ज्यादा विकसित हुई. इस का क्या कारण है?

इस का कारण ढूंढ़ना ज्यादा कठिन नहीं. वेदों से ले कर बौद्धयुग की समाप्ति (185 ई.पू.) तक के काल में वेदों के कुछ ही मंत्र सहमारण के लिए मिलते हैं. बाद

में बुद्ध के प्रचार के कारण जातिपांति की भावना काफी ढीली पड़ गई. परिणामस्वरूप ई. पू. 500 के लगभग रचे गए विष्णुधर्मसूत्र ने लिखा कि विधवा सहमरण करे या वह ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवित रहे. इस से स्पष्ट है कि धीरेधीरे सहमरण या सहमारण जीवित रहने देने में परिवर्तित होना शुरू हो गया था. इस में बुद्ध मत का बहुत बड़ा हाथ था.

विधवा का संहार

परंतु पुष्यमित्र शुंग ने अंतिम बौद्ध राजा बृहद्रथ की हत्या कर के 185 ई. पू. में पुनः ब्राह्मणवाद की दृढ़ नींव रख दी, जिस के परिणामस्वरूप जातिपांति का बड़ी कठोरता से पालन किया जाने लगा. जातिपांति का कठोरता से पालन का अर्थ था–विधवा का संहार. क्योंकि विधवा से जाति के बाहर के पुरुषों के संबंध बना लेने का खतरा था, जिस से जाति दूषित हो सकती थी. अतः उसे ठिकाने लगाया जाना पुनः शुरू हो गया. इस काल के बाद रचे हर धर्म ग्रंथ में सहमरण की महिमा गाई गई, लुभावने पारलौकिक सुख बताए गए और पति के साथ जली औरतों को 'सती' कहा जाने लगा तथा उन की चमत्कारी शक्तियों का वर्णन करने वाली कहानियां रची गईं. यह सब इसलिए कि विधवा को जलाने के वक्त समझाने की जरूरत न पड़े, बल्कि बचपन से ही औरत अपनी नियति से परिचित हो जाए.

सती करने की विधियां

इन ग्रंथों में जो विधियां प्रतिपादित की गईं हैं, वे मात्र किताबी हैं, उन में व्यावहारिक विधियां नहीं दी गई हैं. व्यवहार में औरत को भांग, अफीम आदि पिलाई जाती थी. फिर उस के हाथपैर बांध कर उसे चिता में डाला जाता था. ऊपर भारीभारी लकड़ियां रखी जाती थीं. घी आदि डाल कर आग लगा दी जाती थी. राजा राममोहन राय और अनेक विदेशी प्रत्यक्षदर्शियों के विवरण इसी बात की गवाही देते हैं.

जातिपांति की कट्टरता ने बढ़ाई क्रूरता

ब्राह्मणवाद के सुवर्णयुग–गुप्तकाल–के शीघ्र बाद इसलाम का यहां आगमन हुआ. तब यह खतरा पैदा हो गया कि विधवा विजातीय के साथ ही नहीं, विधर्मी के साथ भी संबंध बना सकती है. इस से जाति ही 'दूषित' नहीं होगी, बल्कि 'धर्म' भी 'भ्रष्ट' हो जाएगा. इसलिए ब्राह्मणवाद ने जातिपांति को और भी ज्यादा कठोरता से अपनाने पर बल दिया. अनेक स्मृतियां और पुराण इसी दौरान रचे व परिवर्धित किए गए.

अंगरेजों के आने पर एक 'विधर्मी' के स्थान पर दो 'विधर्मी' हो गए. अब विधवा के बहकने का 'खतरा' और भी ज्यादा बढ़ गया. अब ब्राह्मणवाद ने अपने दांत और ज्यादा तेज कर लिए. 'धर्मसिंधु' आदि ग्रंथ अंगरेजों के काल में ही रचे गए.

इस तरह हम देखते हैं कि जबजब ब्राह्मणवाद अर्थात जातिपांति की कट्टरता

की भावना का उत्कर्ष हुआ, तबतब मानवतावाद का अपकर्ष हुआ और विधवा को अग्निसात किया गया.

संपत्ति और दहेज बने जान के दुश्मन

आज इस के पीछे विधवा की संपत्ति के हिस्से को हड़पने, उस के दहेज को निगलने आदि की भावनाएं भी काम कर रही हैं. रूपकंवर को इसीलिए 'सती' किया गया कि वह कहीं अपने साथ लाया हुआ मोटा दहेज मायके न ले जाए. हजारों सालों से धर्मग्रंथों ने 'सती' के जो लुभावने एवं चमत्कारी आख्यान लोगों के कानों में भरे हैं, उन से मस्तिष्क में जो अवैज्ञानिक विचारों का जाला बना है, उस के परिणामस्वरूप आज भी कई बार संपत्ति आदि के लिए जीवित जला दी गई औरत को लोग 'सती माता' कह कर कातिलों के अपराध के प्रति एकदम अंधे बन जाते हैं.

कलई खुलना जरूरी

जब तक इन धर्म ग्रंथों के सती की महिमा गाने वाले अंशों की कलई नहीं खोली जाती, लोगों की इन से अंधश्रद्धा समाप्त नहीं की जाती और भारतीय संविधान की धारा 51 (क) के अनुसार लोगों में वैज्ञानिक विचार पैदा करते हुए हम नागरिक के मौलिक कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते, तब तक संपत्ति हड़पने वाले या विधवा को खिलाने के 'बोझ' से मुक्त होने वाले यहांवहां धर्म के नाम पर विधवा को मार कर दनदनाते रहेंगे और मारी गई औरत के नाम पर चढ़ावा खाते रहेंगे तथा 'हिंदू धर्म की जय' के नारे गुंजाते रहेंगे. यदि कोई नारी स्वेच्छा से भी सती हुई हो तो भी बात की गंभीरता, उस की क्रूरता और धर्म की पैशाचिक भूमिका तथा हमारी शर्मसारता किसी तरह कम नहीं होती, क्योंकि असली प्रेरणा का स्रोत तो वहां भी धर्म ही है.

साथ ही, इस क्रूर अमानवीय प्रथा के लिए 'सती' शब्द का प्रयोग बंद किया जाए और इस के अनुरूप क्रूर शब्द द्वारा ही इसे अभिहित किया जाए. तभी इस के साथ जुड़ा स्त्री के सच्ची व शुद्ध होने का भाव पृथक हो सकता है. इस के लिए 'सहमारण प्रथा' शब्द उपयुक्त होगा.

कुछ लोगों ने कहा है कि सती आज कोई समस्या नहीं. यदि कोई एकाध सती हो जाती है तो इस पर इतना हायतोबा मचाना व्यर्थ है.

ऐसे लोगों को दो भागों में बांट सकते हैं—एक तो वे हैं जो उस नाविक के समान हैं, जो पानी में बह रहे पर्वताकार हिमखंड की ऊपर दिखाई दे रही छोटी सी चोटी को देख कर यह समझते हैं कि बस, यह इतना ही है, अतः खतरनाक नहीं है. परंतु उन्हें पानी के नीचे छिपे बर्फानी पर्वत का तभी पता चलता है जब उस से टकरा कर उन की नौका छिन्नभिन्न हो जाती है और वे स्वयं भी जलसमाधि लेने के लिए विवश हो जाते हैं. खेद है, तब बहुत देर हो चुकी होती है और उस समय हुए ज्ञान का कोई लाभ नहीं होता.

हिंदू समाज में जो एकाध सती यदाकदा होती है, वह केवल चोटी है. उस का पर्वत जैसा आकार आज हिंदू के दिमाग में, उस के अवचेतन मन में छिपा बैठा है.

यही कारण है कि आज भी उस का आदर्श सती ही है. उस के अंतर्मन का स्पष्ट चित्र तब देखने को मिलता है, जब वह औरत के सती होने की खबर सुनता है. तब वह भावावेश में भाटों के स्तर पर उतर आता है और सतियों के अतिशयोक्तिपूर्ण गुण गाने लगता है. उस की 'उदारता' तब देखते ही बनती है.

सन् 1987 में रूपकंवर के सती होने के 13 दिन बाद सती की चुनरी की रसम पर करीब 2 लाख लोग इकट्ठा हुए थे और 70 लाख रु. चढ़ावा आया था. कुछ ही दिनों में वह रकम करोड़ों की हो गई थी. उस के चित्र लोगों ने सौसौ रुपए में खरीद लिए थे.

यह हाल अनपढ़ हिंदू का ही हो, ऐसी बात नहीं. इस में अनगिनत पढ़ेलिखे, उच्च अधिकारी और उच्च जनप्रतिनिधि तक शामिल हैं. इन की सतीप्रशंसा ज्यादा सूक्ष्म भी है और ज्यादा गुमराह करने वाली भी. जब ये कहते हैं, "हमारी संस्कृति इतनी महान है कि इस की एकएक चीज लासानी है, यहां की सतीप्रथा का पश्चिम की तलाक संस्कृति सौ जन्मों में भी मुकाबला नहीं कर सकती. हमें अपनी सतियों पर सदा गर्व रहेगा और उन के कारण हमारी संस्कृति सदा विश्ववंद्य रहेगी." तो इस से भलाचंगा आदमी भी पथभ्रष्ट हो जाता है और स्वयं उन की बोली बोलने लगता है.

यह प्रवृत्ति ही सतीप्रथा के विरुद्ध उठी जनगण की आवाज को 'हायतोबा' और 'कोलाहल' बताती है. इसी प्रवृत्ति में संविधान में प्रतिपादित पश्चिमी 'धर्मनिरपेक्षता' को भारतीय अर्थ दे कर उस के सिर को नीचे और पैरों को ऊपर कर दिया है. यह प्रवृत्ति अपने में बहुत विस्फोटक है और किसी भी समय अनुकूल वातावरण पा कर यह ज्वालामुखी जैसा घातक रूप धारण कर सकती है. अतः इस का रोका जाना अत्यंत आवश्यक है.

दूसरी किस्म के लोग वे हैं जो सती प्रथा पर हुए हमलों को सहने के तो अयोग्य हैं, परंतु अंदर से उस के कट्टर समर्थक हैं. वे हमलों को रोकने के लिए समरनीति के तौर पर ऐसी बातें करते हैं कि अब तो सती प्रथा रही ही नहीं है. फिर इतनी हायतोबा क्यों? दरअसल, ये लोग उस हार रहे शत्रु की तरह हैं जो अपनी विजय के साधन जुटाने चाहता है. अतः इन की प्रवृत्ति भी पूरी तरह नाशकारी है. इस से भी सजग रहने की सख्त जरूरत है.

सती प्रथा-एक धार्मिक बुराई

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि सती प्रथा हमारे धर्म का अभिन्न अंग है. यह एक धार्मिक बुराई है; न कि सामाजिक बुराई, जैसा कि कुछ लोग कह रहे हैं. यह एक अमानवीय एवं क्रूर धार्मिक विधान है.

यदि हम इसे वास्तव में निंदनीय और त्याज्य समझते हैं तो हमें इसे धार्मिक मान्यता प्रदान करने वाले, इस के प्रवर्तक और प्रचारक एवं वास्तविक दोषी को भी समझना होगा और वह है—धर्म.

यदि धर्म ग्रंथों से लोगों की अंधश्रद्धा समाप्त हो जाए तो इस और दूसरी अनेक धार्मिक बुराइयों से लोगों को स्वयमेव मुक्ति मिल जाएगी. परंतु यदि धर्म और धर्म

ग्रंथों को गरम हवा तक से बचाते हुए हम धार्मिक बुराइयों को सामाजिक बुराइयों का नाम देते हैं तो हमारी ईमानदारी उस डाक्टर की योग्यता जितनी है, जो रोग के कीटाणुओं को बनाए व बचाए रख कर तथा सिरदर्द को पेटदर्द कह कर इलाज करना चाह रहा है.

यदि वास्तव में इलाज अभीष्ट हो तो हमें कीटाणुओं को मारना होगा और बीमारी को सती नाम देना होगा. कीटाणु अपने शरीर में उपजे हैं, वे अपने हैं, अतः उन्हें बचाना चाहिए; ऐसी समझ आत्महत्या ही है.

इसी प्रकार सतीप्रथा जैसी क्रूर एवं अमानवीय धार्मिक प्रथा के कीटाणु हैं–धर्म और धर्म ग्रंथ. इन कीटाणुओं की रक्षा करते हुए सतीप्रथा के विरुद्ध नारे लगाना निरर्थक और मानवतावाद का ढोंग मात्र है. जो लोग असल दोषी को बचाते फिरते हों, जो असल दोषी पर परदा डालते हों, वे कितने न्यायप्रिय हैं, कितने ईमानदार हैं और अपराधी को दंड दिलवा कर अपराध बंद करवाने के लिए कितने उत्सुक हैं, यह बताने की जरूरत नहीं.

अमानवीय एवं क्रूर विधान के खिलाफ नैतिक साहस आवश्यक

सती विषयक काले पृष्ठों पर परदा डाल कर सतीप्रथा के विरुद्ध लफ्फाजी करने वाले भी उक्त श्रेणी में ही आते हैं. यदि हम में जरा भी नैतिक साहस है, तो हमें बेझिझक हो कर यह स्वीकार करना चाहिए कि यद्यपि हमारा धर्म सतीप्रथा का प्रवर्तक, समर्थक और प्रचारक है, तथापि हम इस अमानवीय एवं क्रूर विधान को नितांत निंदनीय एवं त्याज्य समझते हैं तथा ऐसे जंगली विधान करने वाले ग्रंथों को भी प्रशंसनीय, स्वीकरणीय और गर्व योग्य नहीं मानते हैं; क्योंकि यह उस मानवता के प्रति घोर अपराध है जो सर्वोपरि है.

धर्म के बर्बरतापूर्ण आदेशों को नकारना चाहिए

जो धर्म मानवतावाद के विरुद्ध जाता है, वह धर्म न हो कर वस्तुतः अधर्म है और त्याज्य है. उस के बर्बरतापूर्ण आदेशों के चंगुल से मुक्त हो कर ही हम मानवता की सेवा और संविधान में प्रतिपादित मौलिक कर्त्तव्यों का पालन कर सकेंगे.

इस दिशा में कानून सख्त भी होना चाहिए और उसका अनुपालन भी सख्ती से होना चाहिए. यह खेदजनक कटुतथ्य है कि यद्यपि अंगरेज सरकार ने राजा राममोहनराय के आंदोलन से प्रभावित होकर 1829 में सतीप्रथा पर रोक लगा दी थी तथापि स्वतंत्र भारत में सती प्रथा को रोकने के लिए कोई लिखित कानून वर्ष 1986 तक उपलब्ध नहीं था. 1987 में रूपकंवर के सती होने के बाद सती प्रथा उन्मूलन कानून बना कर उस के बाद भी औरतें सती होती रहीं तो यही साबित होता है कि कानून से बड़ा धर्म है जो लोगों को पाखंड के लिए उकसाता है. 1995 में भंवरीदेवी सती हुई थी. 1998 में उत्तर प्रदेश के महोबा जिले में 55 वर्षीय दलित महिला चरणशाह सती हो गई. वर्ष 2002 में मध्य प्रदेश के पन्ना जिले के पटना तिमोली में 65 वर्षीय कुटुबाई के सती होने की घटना भी काफी चर्चा में रही थी. अब बिहार

के गया जिले में 20 अप्रैल, 2006 को 77 वर्षीय सीता का अपने 82 वर्षीय पति सुग्रीव की चिता में कूदकर तथा 95 वर्षीय कुरिया देवी 20 सितंबर 2006 का सौ वर्षीय अपने पति सियाराम राजपूत की चिता में कूदकर सती हो जाना एक झटके की तरह है.

राजस्थान में ही करीब 100 से अधिक सती मंदिर हैं और इन के इतनी संख्या में बनने का श्रेय जाता है झुंझुनू राजस्थान के रानी सती मंदिर की सफलता को. बताया जाता है झुंझुनू में लगने वाले सती मंदिर के वार्षिक मेले से हर वर्ष लगभग 4 करोड़ रुपए की कमाई मंदिर को होती है. इसी धर्म और धन के लिए तो 1 अक्तूबर, 1987 को जारी किए गए राजस्थान सती निरोधक अध्यादेश 1987 के विरुद्ध सती प्रथा का गुणगान करने वालों ने रैलियां निकाली थीं.

अमानवीय कुप्रथा को बढ़ावा न दें

1987 में बने सतीनिरोधक कानून को भी लगभग उसी तरह 'सती' किया जाता रहा है जिस प्रकार औरतों को किया जाता था उसके बने रहने के बावजूद राजस्थान में सती मंदिरों द्वारा आयोजित मेलों में अफसर, मंत्री, विधायक, सांसद आदि शिरकत करते रहे हैं और इन अमानवीय कुप्रथा को बढ़ावा देते रहे हैं. आज भी सती महिला के प्रचार के लिए आडियो, वीडियो, सीडियां धड़ल्ले से बिक रही हैं और पुलिस इससे अनभिज्ञ बनी हुई है. बने भी क्यों न! खुद राजस्थान सरकार ने कुछ समय पहले सरकारी पुस्तिका जारी की थी, जिस में सती महिला का प्रचार किया गया था. यह अलग बात है कि देश भर में उठे विरोध के कारण मजबूर होकर सरकार को उसे वापस लेना पड़ा था.

सती निरोधक कानून 1987 को एकदूसरे तरीके से भी 'सती' किया जाता रहा है. अनेक मामलों में पुलिस वाले मामला 1987 के इस सतीनिरोधक कानून के तहत दर्ज करने के स्थान पर अन्य धाराओं के तहत दर्ज करते रहे हैं. कारण चाहे भ्रष्टाचार रहा हो या अन्य. 1987 के कानून में सती होने में मदद करने वालों को मौत या उम्रकैद की सजा का प्रावधान है. यदि इस के तहत मामला दर्ज हो तो बहुत से लोग फंसते हैं. वे यदि मुट्ठी गर्म कर दें तो दूसरी धाराओं के तहत मामला दर्ज होने की स्थिति में किसी का बाल भी बांका नहीं होगा. ऊपर से पुलिस को भी 'लाभ-वृद्धि' होगी.

यही अच्छी बात है कि इस कानून की त्रुटियों को दूर करने व इसे और सख्त बनाने के लिए नया कानून बनाया जा रहा है. इस प्रस्तावित कानून में 1987 के कानून की तरह सती होने वाली महिला पर आत्महत्या का मामला दर्ज नहीं होगा, बल्कि उसके परिवार व गांव के लोग इस अपराध के लिए दंडित किए जाएंगे. ऐसे में जिम्मेदारी परिवार और गांव पर आमद होगी. इससे वे अपने बचाव के लिए सती होने को रोकेंगे.

इस प्रस्तावित कानून को गृह व विधि मंत्रालय अपनी मंजूरी दे चुके हैं. कैबिनेट की सहमति के बाद संसद में इसे कानून बनाया जा सकेगा.

इसमें सती मंदिरों में सतियों की पूजा बंद करने का, उन के मेले लगवाने व उनमें

शामिल होने को अपराध घोषित करने का और आडियो, वीडियो कैसेट या सीडी अथवा लिखित व मौखिक प्रचार द्वारा सती विशेष अथवा सतीप्रथा को महिमामंडित करने को अपराध घोषित करने का प्रावधान अवश्य होना चाहिए. सतीपूजा, सतीमेला और सती महिमामंडन इन अपराधों के लिए सख्त सजा का प्रावधान होना चाहिए. साथ ही, उन पुलिस अधिकारियों को भी दंडित किया जाना चाहिए जिनके इलाकों में सती की घटनाएं हों.

इसके साथ ही लोगों में वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार होना चाहिए. स्त्रीशक्तीकरण वालों और नारी मुक्तिवालियों को भी इस दिशा में ध्यान देना चाहिए. असली मुक्ति और सशक्तीकरण यही है कि नारी धर्म के नकारात्मक रूप, अज्ञान और तंग मर्दवादी सोच के चंगुल से मुक्त हो तथा मानवीय गरिमा के अनुकूल अपना जीवन जीने को स्वतंत्र हो.

हिंदू धर्म : सामाजिक विघटन का मूल

दुनिया के धर्मों के इतिहास पर यदि सरसरी तौर पर भी दृष्टिपात करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिंदू धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिस में सामाजिक विघटन के बीज शुरू से ही विद्यमान रहे हैं.

ऐसा नहीं है कि दूसरे धर्मों के लोगों में संगठन ही हो. उन में भी विघटन दृष्टिगोचर होता है, लेकिन वह उन धर्मों द्वारा अनुमोदित नहीं. वह कहीं न कहीं उन धर्मों की मूलभावना के विपरीत ही है.

धर्म का प्रारंभ विघटन के पाठ से

लेकिन हमारा सामाजिक विघटन न केवल धर्म द्वारा अनुमोदित है, बल्कि हमारा धर्म प्रारंभ ही विघटन के पाठ से होता है और विघटन में ही इस की चरम परिणति है.

हिंदू धर्म ने शुरू से ही मानव मानव के बीच भेद किया. ऋग्वेद के पुरुषसूक्त ने विघटन का दैवी बीज बोते हुए कहा कि ब्राह्मण परमात्मा के मुख से, क्षत्रिय उस की भुजाओं से, वैश्य उस की जंघाओं से और शूद्र उस के पैरों से पैदा हुए:

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः,
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत.

–ऋग्वेद 10/90/12

भेदभाव की घातक धार्मिक बीमारी

जब एक बार मनुष्य और मनुष्य में भेदभाव की घातक धार्मिक बीमारी शुरू हो ही गई, तब वह रुक कैसे सकती थी? पहले चार भेद किए गए. फिर छोटेछोटे बचकाने आधारों पर आगे भेद बढ़ते गए. पहले वर्णसंकर (दो जातियों के मिश्रण से उपजने वाली संतान) के कारण भेद हुए, फिर एक ही जाति के अंदर अनेक भेद होने लगे.

जो ब्राह्मण पहले तीन जातियों से भेदभावपूर्ण व्यवहार करता था, अब वह खुद ब्राह्मणों से ऊंचनीच का व्यवहार करने लगा.

'ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तंड' (पृ. 7-8) में कहा गया है:

आभीरकंका यवनाश्च भृंगा नाटास्तथा मालवदेशविप्रा:,
श्राद्धे विवाहे खलु यज्ञकर्मणि ते वर्जिता यद्यपि शंभुतुल्या:
नर्मदायाश्च कृष्णाया: देशो मध्य: प्रकीर्तित:
तत्रैव वासकारी च भूदेवो देववद् भवेत्
प्रतिष्ठां हि द्विज: कुर्यान्मध्यदेशादिसंभव:,
न कच्छदेशसंभूत: कावेरी कोंकणोद्भव:
कामरूपकलिंगोत्थकांचिकाश्मीरकोशला:

–ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तंड 58, 60–61,68–69

अर्थात अभीर ब्राह्मण, कंक ब्राह्मण, यवन, हुसेनी ब्राह्मण, नाटा ब्राह्मण–ये यद्यपि शिव सरीखे हों, तथापि इन्हें विवाह, यज्ञ, श्राद्ध आदि में नहीं लेना चाहिए. अर्थात इन से विवाह संबंध न करे और न इन्हें यज्ञ, श्राद्ध आदि में बुलाए. नर्मदा और कृष्णा नदी के बीच के ब्राह्मण देव सरीखे हैं. कच्छ, कश्मीर, केरल, कर्नाटक, कांबोज, कामरूप, कलिंग, सौराष्ट्र आदि में लोग अभक्त, निर्दय हैं एवं राक्षस तुल्य हैं. इन ब्राह्मणों से देवप्रतिष्ठा, यज्ञयाग नहीं करवाना चाहिए. (देखें, ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तंड, भाषाटीका समेत, पृ. 7-8)

जिस तरह तथाकथित सर्वोच्च जाति में अनेक ऊंचीनीची उपजातियां जन्मीं, उसी तरह तथाकथित निम्नतम जाति में भी अनेक ऊंचीनीची उपजातियां जन्मीं, यथा:

शिल्पिन: कारवो वैद्या हेमकारा: नृपध्वजा:,
भृतका कूटसंयुक्ता सर्वे ते नारका: स्मृता:.

–वायुसंहिता, 31–39

अर्थात शिल्पी, कारीगर, वैद्य, सुनार, राजा का ध्वजवाहक, नौकर और मक्कार–ये सब नरक को जाते हैं.

वर्द्धिको नापितो गोप आशाप: कुंभकारक:,
वणिक्किरातकायस्थमालाकारकुटुंबिन:
चर्मकारो भटो भिल्लो रजक: पुष्करो नट:,
वराटो मेदचांडालौ दाश:श्वपचकोलिका:
एतेऽन्त्यजा: समाख्याता ये चान्ये च गवाशना:,
एषां संभाषणात् स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम्

–व्यासस्मृति, 1/11–13

अर्थात बढ़ई, नाई, ग्वाला, आशाप, कुम्हार, वणिक, किरात, कायस्थ, माली, कुटुंबी, चर्मकार, भट, भिल्ल, धोबी, पुष्कर, नट, बुरुड़, मेद, चांडाल, दाश (कैवर्त), श्वपच, कोल–ये और गोमांस खाने वाले अन्य 'अंत्यज' कहलाते हैं. इन में से एक पर भी दृष्टि पड़ जाए तो सूर्य की ओर देखना चाहिए. इन से बातचीत हो जाए तो स्नान करना चाहिए. तब द्विज (ऊंची जातियों का व्यक्ति) शुद्ध होता है. शैलू

कर्मारस्य निषादस्य रंगावतारकस्य च,
सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा
चैलनिर्णेजकस्य च, रंजकस्य
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तितः
कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च
पूयं चिकित्सकस्यान्नम्

–मनुस्मृतिः 4/214-216,218-220

अर्थात नट, दरजी, लोहार, मल्लाह, रंगसाज, सुनार, बंसफोर, शस्त्र बेचने वाले, धोबी और रंगरेज का अन्न न खाए. सुनार का अन्न आयु को और चमार का अन्न यश को हर लेता है. बढ़ई का अन्न संतान को तथा रंगरेज का अन्न बल को नष्ट करता है. चिकित्सक का अन्न पीव के समान होता है.

वेदों की जातियां : विघटनकारी बीज

जिन वेदों ने जाति का विघटनकारी दैवी बीज बोया था, वे खुद भी इस विघटन का शिकार हुए. तैत्तिरीय ब्राह्मण का कहना है:

ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः,
यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्,
सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः.

–तै. ब्रा. 3/12/9

अर्थात वैश्य ऋग्वेद से जन्मे, क्षत्रिय यजुर्वेद से और ब्राह्मण सामवेद से. अर्थात वैश्यों का ऋग्वेद है, क्षत्रियों का यजुर्वेद है और ब्राह्मणों का सामवेद.

आज यह जाति विभाजन बहुत आगे जा चुका है. आज यह सैकड़ों में नहीं हजारों में है. आज एक ही तथाकथित निम्न जाति की एक उपजाति के डाकू दूसरी उपजाति के दरजनों लोगों का खून बहाते हैं.

सवर्ण लोग शूद्रों पर अत्याचार ढाते हैं. कहीं कोई अछूतस्तान की मांग करता है तो कहीं कोई खालिस्तान की. कहीं द्रविड़स्तान की मांग है तो कहीं तमिलदेशम की. कहीं अलग असम की बात है तो कहीं अलग नागालैंड की. कहीं ब्राह्मण सभा की खबरें छपती हैं तो कहीं क्षत्रिय सभा की, कहीं राजपूत सभा की छपती हैं तो कहीं गुर्जरों की. ये सब विघटन के उसी दैवी बीज के विषमय फल हैं.

हिंदू धर्म ने जीवन के हर पल, हर शिरा, हर क्षेत्र और हर विचार में विघटन को कूटकूट कर उतारा और भरा है. हर छोटी से छोटी और हर बड़ी से बड़ी बात में विघटन का पारा उतारा गया. यदि हम धर्मशास्त्रों पर एक उड़ती हुई नजर भी डालें तो यह कटु तथ्य बिलकुल स्पष्ट हो जाएगा.

हिंदू बच्चे के जन्म के साथ ही विघटन का दूषित जीवाणु उस से जुड़ जाता है जो उस के मरने के बाद भी उस का पिंड नहीं छोड़ता.

जन्म के दूसरे सप्ताह बच्चे के नामकरण का आदेश है. नाम रखते ही उसे विघटन की घुट्टी भी पिला दी जाती है.

मांगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्,
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्.

–मनु. 2/31

अर्थात ब्राह्मण का नाम मंगलसूचक शब्द से युक्त हो, क्षत्रिय का बलसूचक शब्द से युक्त हो, वैश्य का धनवाचक शब्द से युक्त हो और शूद्र का निंदित शब्द से युक्त हो.

दशाम्यामतीतायां विप्र:,
द्वादश्यामतीतायां क्षत्रिय:,
वैश्य: षोडशे, शूद्र: एकत्रिंशे.

–निर्णयसिंधु, पृ. 398

अर्थात ब्राह्मण का नामकरण 10 दिनों के बाद करें, क्षत्रिय का 12 दिनों के बाद, वैश्य का 16वें दिन और शूद्र का 31वें दिन.

शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद् राज्ञो रक्षासमन्वितम्,
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्.

–मनु. 2/32

अर्थात ब्राह्मण के नाम के साथ 'शर्मा,' क्षत्रिय के साथ रक्षायुक्त शब्द 'वर्मा' आदि, वैश्य के नाम के साथ पुष्टि शब्द से युक्त 'गुप्त' आदि तथा शूद्र के नाम के साथ 'दास' शब्द लगाना चाहिए.

यानी नाम रखने का दिन, बच्चे का नाम, उस के नामांत का शब्द–सब से यह स्पष्ट ध्वनित हो कि वह किस जाति का है. बड़ा होने पर बच्चे को अपने नाम से सदा अपनी जाति का एहसास होता रहे और उसे पुकारने व बुलाने वाले को भी सदा यह ज्ञात रहे कि वह किस जाति के आदमी से बात कर रहा है. विघटन के विषबीज की कहीं उन्हें विस्मृति न हो जाए.

हिंदू बच्चे के विद्यार्थी जीवन (जिसे धर्मशास्त्र ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश या यज्ञोपवीत संस्कार कहते हैं) का आरंभ करते समय फिर विघटन के पौधे को खाद डालने का आदेश है, जाति के विघटनकारी लेबल लगाने का धर्मशास्त्रीय विधान है और ये हजारों वर्षों से लगते भी रहे हैं:

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्,
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विश:
ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे,
राज्ञो बलार्थिन: षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे

–मनु. 2/36-37

अर्थात सामान्यत: ब्राह्मण का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का 11 वें और वैश्य का 12वें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार (जनेऊ) करें. वेदाध्ययन और अधिक ज्ञान के लिए ब्राह्मण बालक का गर्भ से पांचवें वर्ष में, हाथी, घोड़ा और पराक्रम आदि की प्राप्ति के लिए क्षत्रिय बालक का गर्भ से छठे वर्ष में और अधिक धन व धान्य की प्राप्ति के लिए वैश्य बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार करना व कराना चाहिए:

हर हालत में, ब्राह्मण का 16वें वर्ष तक, क्षत्रिय का 22वें वर्ष तक और वैश्य का 24 वें वर्ष तक यज्ञोपवीत हो जाना चाहिए:

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते,
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विश:

–मनु. 2/38

जनेऊ जातिसूचक

ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास का, क्षत्रिय का सन का और वैश्य का भेड़ के बालों (ऊन) का होना चाहिए:

कार्पासमुपवीतं स्याद् विप्रस्य, शणसूत्रमयं राज्ञो, वैश्यस्याविजसौत्रिकम्.

–मनु. 2/44

मतलब यह कि नहाते हुए व्यक्ति को देख कर, लघुशंका के बाद कान पर टंगे जनेऊ को देख कर या वैसे ही जनेऊ पर नजर पड़ने से व्यक्ति की जाति स्पष्ट हो जाए, विघटन का डिमडिम घोष हो जाए!

मेखला जातिसूचक

विद्यार्थी अर्थात ब्रह्मचारी की वेशभूषा भी उस की जाति की सूचक हो, ऐसा धर्मशास्त्र कहते हैं. ब्राह्मण का पुत्र ब्रह्मचर्यावस्था में मूंज की मेखला पहने, क्षत्रिय जातीय ब्रह्मचारी मूर्वा नामक तृणों की और वैश्य जातीय ब्रह्मचारी सन की रस्सी की बनी मेखला धारण करे. मूंज न मिलने पर ब्राह्मण कुशा घास की, मूर्वा न मिलने पर क्षत्रिय अश्मंतक या मल्लिका की और सन न मिलने पर वैश्य बल्वज (बबई नामक घास) की मेखला पहने.

मौंजी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला,
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतांतवी
मुंजालाभे तु कर्तव्या: कुशाश्मंतकबल्वजै:,
त्रिवृता ग्रंथिनैकेन त्रिभि: पंचभिरेव वा

–मनु. 2/42-43

भीख मांगने का ढंग

ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) को अपनी व अपने गुरु की पेटपूजा के लिए भिक्षा मांगने

का आदेश है. लेकिन भीख मांगते समय भी प्रत्येक जाति का व्यक्ति अपनी जाति के लिए निश्चित तरीके से, प्रत्येक जाति के लिए निश्चित शब्दों के द्वारा ही भीख मांगे ताकि बिना पूछे ही उस की जाति का लोगों को ज्ञान हो जाए. धर्मशास्त्रीय वचन है:

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः,
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्.

–मनु. 2/49

अर्थात भिक्षा मांगते समय ब्राह्मण जातीय ब्रह्मचारी "भवति, भिक्षां देहि" **(भद्रे, भिक्षा दो) कहे, क्षत्रिय जातीय ब्रह्मचारी** "भिक्षां भवति देहि" **(भिक्षा, भद्रे, दो) कहे और वैश्य जातीय ब्रह्मचारी** "भिक्षां देहि भवति" **(भिक्षा दो, भद्रे) कहे.**

डंडा जातिसूचक

विद्यार्थियों के हाथों में डंडा रहता था. धर्मशास्त्रों का कहना है कि विद्यार्थी के हाथ का डंडा भी उस की जाति का सूचक होना चाहिए. ब्राह्मण ब्रह्मचारी के हाथ का डंडा बेल या पलाश (ढाक) का होना चाहिए, क्षत्रिय ब्रह्मचारी का वट या खैर का और वैश्य ब्रह्मचारी का पीलु या गूलर का. डंडे की ऊंचाई भी जाति की सूचना दे. जाति के अनुसार वह छोटा या बड़ा हो. ब्राह्मण का डंडा केशों तक ऊंचा हो, क्षत्रिय का ललाट तक और वैश्य का नाक तक:

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ,
पैलवौदुंबरौ वैश्यो दंडानर्हन्ति धर्मतः
केशान्तिको ब्राह्मणस्य दंडः कार्यः प्रमाणतः,
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासांतिको विशः

–मनु. 2/45-46

आचमन जाति के अनुसार

पूजापाठ आदि में आचमन (जलपान) भी जाति के अनुसार हो:

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कंठगाभिस्तु भूमिपः,
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरंततः.

–मनु. 2/62

अर्थात आचमन काल में ब्राह्मण हृदय तक, क्षत्रिय कंठ तक और वैश्य मुख तक पहुंचे हुए जल से शुद्ध होता है. शूद्र जल के होंठों से स्पर्श करने मात्र से शुद्ध हो जाता है.

मुंडनों का समय

मुंडन संस्कार प्रत्येक जाति के लिए निश्चित समय पर हो. ब्राह्मण का गर्भ से

16वें वर्ष में, क्षत्रिय का 22वें वर्ष में और वैश्य का 24वें वर्ष में केशांत (मुंडन) संस्कार हो जाना चाहिए.

केशांतः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते,
राजन्यबंधोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः.

–मनु. 2/65

हर जाति का अलग विवाह

हर जाति के लिए विवाह का रूप भी अलगअलग हो, ऐसा धर्मशास्त्रीय आदेश है. कहा है:

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः,
गांधर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चष्टामेऽधम
षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान्,
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद् धर्म्मानराक्षरान्
चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः,
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः

–मनु. 3/21,23–24

अर्थात ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच– ये आठ प्रकार के विवाह हैं. ब्राह्मण के लिए पहले छः–ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर (धन से लड़की खरीदना) और गांधर्व (अपने तौर पर छिप कर यौन संबंध स्थापित करना); क्षत्रिय के लिए अंतिम चार–आसुर, गांधर्व, पैशाच (सोई हुई या बेहोश लड़की से मैथुन करना) और राक्षस (लड़की के घर वालों पर हमला कर के लड़की उठा लाना) तथा वैश्य और शूद्र के लिए 'राक्षस' रहित आसुर, गांधर्व और पैशाच इन तीन विवाहों का विधान है, ब्राह्मण के लिए पहले चार, क्षत्रिय के लिए 'राक्षस', वैश्य और शूद्र के लिए 'आसुर' विवाह श्रेष्ठ हैं.

वैवाहिक स्थायित्व और जाति

पति के विदेश चले जाने पर किस जाति की पत्नी (स्त्री) उस का कितने समय तक इंतजार करे, इस पर वसिष्ठ धर्मसूत्र (8/78) का कहना है कि यदि पति घर छोड़ कर चला जाए तो ब्राह्मण या क्षत्रिय की संतान-संपन्न पत्नी पांच वर्ष तक प्रतीक्षा करे, वैश्य की चार वर्ष तक और शूद्र की तीन वर्ष तक. यदि वह संतान-संपन्न न हो तो ब्राह्मण की पत्नी चार वर्ष, क्षत्रिय की तीन वर्ष, वैश्य की दो वर्ष और शूद्र की एक वर्ष तक प्रतीक्षा करे.

पत्नियों की संख्या

धर्मसूत्रकारों ने विभिन्न वर्गों को अलगअलग संख्या में पत्नियां रखने के

अधिकार दिए हैं. वसिष्ठ धर्मसूत्र (1/24) और बौधायन धर्मसूत्र (1/8/16-1-4) ने ब्राह्मण को प्रत्येक वर्ण से एक अर्थात चार पत्नियां रखने की अनुमति दी है. क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः तीन, दो और एक पत्नी रख सकते हैं.

यही बात प्रकारांतर से मनु ने कही है जब उस ने कहा है कि शूद्र की पत्नी शूद्र वर्ण की स्त्री ही हो सकती है. वैश्य की पत्नियां शूद्र और वैश्य वर्णों की स्त्रियां हो सकती हैं. क्षत्रिय की पत्नियां वैश्य, शूद्र और क्षत्रिय वर्णों की स्त्रियां हो सकती हैं. ब्राह्मण की पत्नियां चारों वर्णों से हो सकती हैं:

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य, सा च स्वा च विशः स्मृते,
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः.

–मनु. 3/13

व्यभिचार बनाम जाति

व्यभिचार करने पर प्रत्येक जाति के व्यक्ति के लिए उस की जाति के अनुसार सजा का विधान करते हुए धर्मशास्त्रों ने कहा है कि पति या अभिभावक के द्वारा असुरक्षित द्विज स्त्री (सवर्ण स्त्री) के साथ संभोग करने पर शूद्र का लिंग कटवा दे और धन जब्त कर ले तथा सुरक्षित द्विज स्त्री के साथ संभोग करने पर उस की संपत्ति को जब्त कर के उसे प्राणदंड दे:

शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्,
अगुप्तमंगसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते.

–मनु. 8/374

यदि पति आदि से सुरक्षित ब्राह्मणी से वैश्य संभोग करे तो उसे एक वर्ष तक कैद में रखे तथा बाद में उस की सारी संपत्ति छीन ली जाए. यदि वही अपराध क्षत्रिय करे तो उसे एक हजार पण (प्राचीन मुद्रा) का अर्थदंड दे एवं उस का सिर गधे के मुत्र से मुंडवा दे. यदि वैश्य असुरक्षिता एवं गुणहीन ब्राह्मणी से संभोग करे तो राजा उसे 500 पण का अर्थदंड दे. यदि क्षत्रिय ऐसा करे तो 1,000 पण का दंड दे. परंतु यदि वैश्य या क्षत्रिय गुणवती ब्राह्मणी से संभोग करे तो वह शूद्र के समान दंडनीय है अर्थात संपत्ति छीन कर मृत्युदंड दे अथवा जीवित को घासफूस की आग में जला दे:

वैश्यः सर्वस्वदंडः स्यात् संवत्सरनिरोधतः,
सहस्रं क्षत्रियो दंड्यो मौंड्यं मूत्रेण चार्हति
ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ,
वैश्यं पंचशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रिणम्
उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह,
विप्लुतौ शूद्रवद्दंड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना

–मनु. 8/375-377

इस के विपरीत, यदि पति व अभिभावक आदि से सुरक्षित ब्राह्मणी से ब्राह्मण बलात्कार करे तो एक हजार पण से दंडनीय है. यदि वह उस ब्राह्मणी की सहमति से व्यभिचार करे तो केवल 500 पण से दंडनीय है. ब्राह्मण यदि सुरक्षित क्षत्रिय या वैश्य जातीय स्त्री से संभोग करे तो एक हजार पण से दंडनीय है. असुरक्षित क्षत्रिय या वैश्य जातीय स्त्री से संभोग करे तो एक हजार पण से दंडनीय है. असुरक्षित क्षत्रिया, वैश्यवर्णीया अथवा शूद्रा से संभोग करने पर वह केवल 500 पणों से दंडनीय है:

सहस्रं ब्राह्मणो दंड्यो गुप्तां विप्रां बलाद् व्रजन्,
शतानि पंच दंड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः
सहस्रं ब्राह्मणो दंडं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन्
अगुप्ते या क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन्,
शतानि पंच दंड्यः स्यात् सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम्

–मनु. 8/378, 383, 385

संतान को हिस्सा

व्यक्ति को भिन्नभिन्न जाति की अपनी पत्नियों से उन की जाति के अनुसार भेदभावपूर्ण व्यवहार करने का धर्मशास्त्रीय आदेश है. इतना ही नहीं, उन की संतानों में जब संपत्ति का बंटवारा हो, तब उन के हिस्से का निर्णय भी जाति के आधार पर होना चाहिए.

बौधायन धर्मसूत्र (2/2/3/10) का कहना है कि यदि किसी व्यक्ति की चारों वर्णों की पत्नियां हों तो उन की संतानों को संपत्ति आदि निम्नलिखित अनुपात में बांटनी चाहिए. ब्राह्मणी की संतान को चार भाग, क्षत्रिया की संतान को तीन, वैश्य वर्ण की पत्नी की संतान को दो और शूद्रा की संतान को एक भाग.

मनु का कहना है कि सारी संपत्ति में से जो श्रेष्ठ चीज या भाग हो, वह ब्राह्मणी के बेटे को दे कर शेष संपत्ति के दस भाग किए जाएं. उन में से चार भाग ब्राह्मणी के पुत्र को, तीन भाग क्षत्रिया के पुत्र को, दो भाग वैश्यापुत्र को और एक भाग शूद्रा के पुत्र को देना चाहिए:

सर्वं वा रिक्थजातं तद् दशधा परिकल्प्य च,
धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनानेन धर्मवित्
चतुरोंशान् हरेद् विप्रस्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः,
वैश्यापुत्रो हरेद् द्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत्

–मनु. 9/152-153

सूतक जाति के अनुसार

बच्चे का जन्म हिंदू धर्म के अनुसार एक प्रकार की अपवित्रता माना जाता है

जिसे 'सूतक' कहते हैं. इस अपवित्रता की अवधि वर्णानुसार अलगअलग घोषित की गई है.

दिनत्रयेण शुद्ध्यन्ति ब्राह्मणा जन्मसूतके
क्षणियो द्वादशाहेन वैश्यः पंचदशाहकैः,
शूद्रः शुद्ध्यति मासेन पाराशरवचो यथा.

–पराशरस्मृति 3/1-2

अर्थात शिशु का जन्म होने पर ब्राह्मण तीन दिनों में, क्षत्रिय 12 दिनों में, वैश्य 15 दिनों में और शूद्र एक महीने में शुद्ध होता है. यही बात याज्ञवल्क्य स्मृति (3/22) में भी कही गई है. इस आदेश का पालन ग्रामों व छोटे शहरों में आज तक बदस्तूर हो रहा है.

शोक जाति के अनुसार

जिस तरह जन्म का अशौच (अपवित्रता) जातियों के अनुसार भिन्नभिन्न अवधि का कहा गया है, उसी तरह मरने पर शोक की अवधि (मृतक अशौच) भी जाति के अनुसार कम व अधिक बताई गई है:

प्रेते विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः,
वैश्यः पंचदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति.

–पराशरस्मृति 3/4

अर्थात मृतक अशौच (पातक) से ब्राह्मण दस दिनों में, क्षत्रिय बारह दिनों में, वैश्य पंद्रह दिनों में और शूद्र एक महीने में शुद्धि को प्राप्त होता है.

हालचाल पूछें, जाति न भूलें

जब कोई कहीं मिले तो उस से कुशल प्रश्न जाति के अनुसार भिन्नभिन्न ढंग से पूछें. यानी हालचाल पूछते समय भी अपनी और दूसरे की जाति के प्रति सचेत रहें:

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबंधुमनामयम्,
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च.

–पद्मपुराण, स्वर्गखंड तथा मनु. 2/127

अर्थात अभिवादन (नमस्कार आदि) करने पर, यदि नमस्कारकर्ता ब्राह्मण हो तो उस से 'कुशल' पूछे, यदि वह क्षत्रिय हो तो 'अनामय' (तंदरुस्ती) पूछे, यदि वह वैश्य हो तो 'क्षेम' (ठीकठाक) पूछे और यदि वह शूद्र हो तो उस से 'आरोग्य' (स्वस्थता) पूछे. आपस्तंब धर्मसूत्र (1/4/14/20) में कहा गया है कि स्त्री, क्षत्रिय अथवा वैश्य का अभिवादन करते हुए केवल सर्वनाम का प्रयोग करना चाहिए :

सर्वनाम्ना स्त्रियो राजन्यवैश्यौ च न नाम्ना.

नमस्कार करते हुए किस जाति के व्यक्ति को हाथ कितना ऊंचा उठाना चाहिए,

इस विषय में आपस्तंब धर्मसूत्र (1/2/5/16) का आदेश है कि अभिवादन करते हुए ब्राह्मण अपनी दाहिनी भुजा को अपने कान के समानांतर, क्षत्रिय उसे अपनी छाती के स्तर तक, वैश्य अपनी कमर तक और शूद्र उसे अपने पांव की सीध में रखे :

दक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसार्य ब्राह्मणोऽभिवादयीतोरस्समं
राजन्यो मध्यसमं वैश्यो नीचैश्शूद्रः प्रांजलि.

धरती बनाम जाति

किस जाति के व्यक्ति को किस तरह की धरती पर घर बसाना चाहिए, इस विषय में धर्मशास्त्रों का कहना है:

श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णा चैवानुपूर्वशः.

–मत्स्यपुराण 253/11

अर्थात ब्राह्मण के लिए गृहनिर्माणार्थ श्वेत रंग की, क्षत्रिय के लिए लाल रंग की, वैश्य के लिए पीले रंग की और शूद्र के लिए काले रंग की भूमि उपयुक्त होती है.

विप्राणां मधुरास्वादा कटुका क्षत्रियस्य तु,
तिक्ता कषाया च तथा वैश्यशूद्रेषु, शस्यते.

–मत्स्यपुराण 253/12–13

अर्थात मधुर स्वाद वाली भूमि ब्राह्मण के लिए, कटु स्वाद वाली क्षत्रिय के लिए, तिक्त स्वाद वाली वैश्य के लिए और कसैले स्वाद वाली शूद्र के लिए शुभ है.

शुभाशुभ भी जाति अनुसार

घर शुभ रहेगा या अशुभ, इस के लिए जो कहा गया है, वह भी अलगअलग जाति के लिए अलगअलग परिणाम बताता है. मत्स्यपुराण का कहना है कि भूमि की परीक्षा के बाद एक गड्ढा खोद कर और भलीभांति लीप कर उस में एक कच्चे पात्र में घी और चार बत्तियां जलाएं जिन के मुंह एकएक दिशा की ओर हों.

यदि पूर्व दिशा की बत्ती अधिक देर तक जलती रहे तो इस का अर्थ है कि वह स्थान ब्राह्मण के लिए शुभ है. यदि दक्षिण की बत्ती देर तक जले तो वह स्थान क्षत्रिय के लिए शुभ है. पश्चिम की बत्ती का देर तक जलना वैश्य के लिए और उत्तर की बत्ती का देर तक जलना शूद्र के लिए शुभ स्थान का सूचक है:

अरत्निमात्रे वै गर्ते स्वनुलिप्ते च सर्वशः,
घृतमामशरावस्थं कृत्वा वर्तिचतुष्टयं ज्वलेद् भूमिपरीक्षार्थं
तत्पूर्णं सर्वदिङ्मुखम्,
दीप्तौ पूर्वादि गृहणीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः.

–मत्स्यपुराण 253/13–14

कमरे जातियों के अनुसार

वराहमिहिर (पांचवीं शताब्दी) ने गृहनिर्माण के बारे में विधान किया है कि ब्राह्मण के घर में पांच, क्षत्रिय के घर में चार, वैश्य के घर में तीन, और शूद्र के घर में दो कमरे होने चाहिए तथा कमरों की लंबाईचौड़ाई चारों वर्णों की हैसियत के अनुसार भिन्नभिन्न होनी चाहिए, जो निम्नलिखित है, ताकि बिना कहे व पूछे ही कमरों की संख्या व लंबाईचौड़ाई मात्र से जाति प्रतीत हो जाए :

चातुर्वर्ण्यव्यासो द्वात्रिंशत् सा चतुश्चतुर्हीना,
आषोडशादिति परं न्यूनतरमतीवहीनानाम्
सदशांशं विप्राणां क्षत्रस्याष्टांशसंयुतं दैर्घ्यम्,
षड्भागयुतं वैश्यस्य भवति शूद्रस्य पादयुतम्

—बृहत्संहिता 53/12-13

अर्थात ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के गृहों का विस्तार क्रम से 32 हाथ (हाथ = डेढ़ फुट) में से चारचार हाथ कम कर के 16 हाथ पर्यंत होना चाहिए. ब्राह्मणों के गृह का दैर्घ्य (लंबाई) विस्तार (चौड़ाई) से दशमांश अधिक, क्षत्रिय के गृह का अष्टमांश, वैश्यों के घर का षडांश और शूद्रों के घर का चतुर्थांश अधिक हो. अर्थात ब्राह्मण के कमरे 32, 28, 24, 20 और 16 हाथ के हों, क्षत्रिय के 28, 24, 20 और 16 हाथ के हों, वैश्य के 24, 20 और 16 हाथ के तथा शूद्रों के 20 या 16 हाथ के हों, इस से कम विस्तार के गृह शूद्रों से भी नीच जातियों के हों.

मंजिलें जातिसूचक हों

'मयमत' ग्रंथ के अनुसार यह विभाजन निम्नलिखित ढंग से होना चाहिए: सम्राट का निवास स्थान 11 मंजिलों का हो, ब्राह्मण का नौ मंजिलों का, सामान्य राजा का सात मंजिलों का, वैश्य तथा सामान्य सेनानायक का चार मंजिलों का और शूद्र का एक से तीन मंजिल का. (मयमत 29/80-82, रामशरण शर्मा, भारतीय सामंतवाद, पृ. 212 पर उद्धृत)

दंड जाति के अनुसार

धर्मशास्त्रों में एक ही अपराध का दंड जाति के अनुसार भिन्नभिन्न देने का विधान है. मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा के पुत्र मनु ने क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के विषय में दंड के दस स्थान (लिंग, पेट, जीभ, हाथ, पैर, नेत्र, कान, नाक, धन और देह) कहे हैं. लेकिन ब्राह्मण के लिए केवल पीड़ारहित अर्थात बिना किसी प्रकार पीड़ित किए, राज्य से निकालने का विधान है:

दश स्थानानि दंडस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्,
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत्

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पंचमम्,
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च

–मनु. 8/124-125

ब्राह्मण को प्राणदंड देने की स्थिति में उसे फांसी पर न लटकाया जाए. उस के केवल सिर के केश काट दिए जाएं, यही उस के लिए प्राणदंड है. क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के यथार्थ में प्राण हरने चाहिए. ब्राह्मण चाहे समस्त पाप कर ले, तथापि राजा उस का वध न करे:

मौण्ड्यं प्राणान्तिको दंडो ब्राह्मणस्य विधीयते,
इतरेषां तु वर्णाना दंडः प्राणांतिको भवेत्.

–मनु. 8/379

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्.

–मनु. 8/380

यदि क्षत्रिय किसी ब्राह्मण को कटु वचन कहे तो वह एक सौ पण से दंडनीय होता है. यदि वैश्य कहे तो 150 या 200 पणों से दंडनीय है. यदि शूद्र कहे तो वह वध के योग्य है:

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दंडमर्हति.
वैश्योप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति.

–मनु. 8/267

यदि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय को कटु वचन कहे तो वह 50 पण से दंडनीय होता है. यदि वह वैश्य को कहे तो 25 पण से और यदि शूद्र को कहे तो 12 पण से दंडनीय होता है:

पंचाशद् ब्राह्मणो दंड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने,
वैश्ये स्यादर्धपंचाशच्छूद्रे द्वादशको दमः.

–मनु. 8/268)

हरजाना जाति के अनुसार

हिंदू धर्मशास्त्रकारों ने किसी व्यक्ति को मारने पर उस के निकट संबंधियों को दिए जाने वाले हरजाने के लिए 'वैरदेय' शब्द का प्रयोग किया है. यह हरजाना जाति के ऊंचे होने पर अधिक और जाति के नीची होने पर कम हो जाता है.

धर्मसूत्रकारों (बौधायन धर्मसूत्र 1/10/19/1-2 तथा आपस्तंब धर्मसूत्र 1/9/24/1-4) ने हत्या के बदले दिए जाने वाले हरजाने की दरें भी जातियों के अनुसार निश्चित की हैं. क्षत्रिय का वध करने पर अपराधी को एक हजार गौएं देनी होंगी और शूद्र का वध करने पर केवल दस.

गौतमधर्मसूत्र का कहना है कि क्षत्रिय की हत्या करने का अपराधी छः वर्षों तक इंद्रिय संयम रखे तथा एक बैल और एक हजार एक गौएं दे अर्थात दान करे. वैश्य की हत्या का अपराधी तीन वर्षों तक इंद्रिय संयम रखे और एक बैल व एक सौ एक गौएं दे तथा शूद्र की हत्या का अपराधी एक वर्ष तक इंद्रिय संयम रखे और एक बैल एवं 11 गौएं दे.

राजन्यवधे षड्वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यमृषभैकसहस्राश्च गा दद्यात्
वैश्ये तु त्रैवार्षिकमृषभैकशताश्च गा दद्यात्
शूद्रे संवत्सरमृषभैकादशाश्च गा दद्यात्.

–गौतमधर्मसूत्र 3/4/14-16

वसिष्ठधर्मसूत्र ने क्षत्रिय हत्या के अपराधी को आठ, वैश्य की हत्या के अपराधी को छः और शूद्रहत्या के अपराधी को तीन वर्षों तक इंद्रिय संयम का आदेश दिया है: (20/31-33)

दैवीसाधन जाति अनुसार

दैवी साधनों से दोष का पता करने को 'दिव्य' कहा गया है. जैसे यदि व्यक्ति सच्चा होगा तो गरम लोहे को छूने पर भी उस का हाथ नहीं जलेगा, विषपान करने पर भी वह नहीं मरेगा और पानी में एक निश्चित अवधि तक सांस बंद कर के डुबकी लगाने पर भी उस का दम नहीं घुटेगा. इस विषय में भी भिन्नभिन्न जातियों के लिए भिन्नभिन्न दैवी साधन हैं.

याज्ञवल्क्य ने कहा है कि अग्नि, जल और विष का दिव्य केवल शूद्र से कराया जाए और ब्राह्मण से तुला (तराजू) दिव्य कराया जाए:

तुला स्त्रीबालवृद्धान्धपंगुब्राह्मणरोगिणाम्
अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा.

–2/98

अर्थात स्त्री, बालक, वृद्ध, अंधे, पंगु, ब्राह्मण और रोगी से तुला (तराजू) दिव्य ही कराए. शूद्र से अग्नि, जल और विष का दिव्य कराए:

पितामह ने कहा है कि ब्राह्मण से धट अर्थात तुला, क्षत्रिय से अग्नि, वैश्य से जल और शूद्र से विष का दिव्य करवाए:

ब्राह्मणस्य धटो देयः, क्षत्रियस्य हुताशनः,
वैश्यस्य सलिलं प्रोक्तं विषं शूद्रस्य दापयेत्.

–मिताक्षरा से उद्धृत

गवाही देने का नियम

स्त्रियों के मुकदमे में स्त्रियों को, द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों) के मुकदमों

में द्विजों को, शूद्रों के मुकदमे में शूद्रों को और चांडालों के मुकदमे में चांडालों को ही गवाह बनाना चाहिए:

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युः द्विजानां सदृशा द्विजाः,
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यजानामन्त्यजयोनयः.

–मनु.8/68

शपथ

गवाहों को न्यायालय में शपथ भी जाति के अनुसार दिलाई जाए. प्रत्येक जाति के लिए भिन्नभिन्न शब्दावली निश्चित की गई है:

'ब्रूहीति' ब्राह्मणं पृच्छेत् 'सत्यं ब्रूहि' रिति पार्थिवम्,
गोबीजकांचनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः.

–मनु. 8/88

अर्थात न्यायधीश ब्राह्मण जातीय गवाह से 'कहो', कहे, क्षत्रिय गवाहों से 'सत्य कहो' कहे, वैश्यों से 'गौ, बीज और सोना चुराना पाप है. वह पाप तुम्हें अवश्य लगेगा, यदि तुम असत्य गवाही दोगे' ऐसा कहे तथा शूद्रों से 'तुम्हें सब पाप लगेंगे, यदि तुम असत्य गवाही दोगे' ऐसा कह कर गवाही ले.

सत्येन शापयेद् विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः,
गोबीजकाश्च नैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः.

–मनु 8/113

अर्थात न्यायाधीश शपथ कराते समय ब्राह्मण से 'यदि झूठ बोलूं तो मेरे अब तक किए हुए संपूर्ण पुण्य नष्ट हो जाएं' ऐसा कहलवाए; क्षत्रिय से 'यदि मैं झूठी शपथ लूं तो मेरे वाहन (घोड़े, बैल आदि मर जाएं तथा मेरे हथियार निष्क्रिय हो जाएं' ऐसा कहलवाए; वैश्य से 'यदि मैं झूठी शपथ लूं तो मेरे गौ आदि पशु, बीज अर्थात खेती और सुवर्ण आदि धन नष्ट हो जाएं' ऐसा कहलवाए तथा शूद्र से 'यदि में झूठी शपथ लूं तो मुझे सब पाप लगें' ऐसा कहलवाए.

ब्याज की दर

भिन्नभिन्न जातियों से ब्याज दर उन के सामाजिक स्तर के अनुसार ज्यादा व कम लेने का आदेश है. मनु ने कहा है:

द्विकं त्रिकं चतुष्कं व पंचमं च शतं समम्,
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः.

–मनु 8/142

अर्थात ब्राह्मण से दो रुपए सैकड़ा, क्षत्रिय से तीन रुपए सैकड़ा, वैश्य से चार और शूद्र से पांच रुपए सैकड़ा सूद ले.

कर निर्धारण

राजा को कर भी जाति के अनुसार कमोबेश लेना चाहिए, न कि लाभ के कमोबेश होने के आधार पर.

बृहस्पति (13/16) का आदेश है कि सम्मिलित व्यापार में यदि शूद्र साझीदार हो तो राजा लाभ का छठा हिस्सा, क्षत्रिय साझीदार हो तो 10 वां हिस्सा और ब्राह्मण साझीदार हो तो 20वां हिस्सा ले.

खजाना

यदि कहीं से गड़ा हुआ गुप्त खजाना मिले तो उस के साथ निम्नलिखित विधि से जाति के आधार पर व्यवहार करे. यदि खुद राजा को (जो प्रायः क्षत्रिय होगा) खजाना मिले तो आधा ब्राह्मणों को दे और आधा कोष में रखे, परंतु यदि ब्राह्मण को मिले तो वह सारे का सारा खुद रख ले. यदि क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र को मिले तो राजा उन से छठा भाग ले ले. इन में यदि कोई चुपचाप अपने पास सारा खजाना रख ले तो पता चलने पर राजा उस की सारी संपत्ति जब्त कर ले और उस व्यक्ति को उचित दंड दे:

राजा लब्ध्वा निधिं दद्यात् द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः,
विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः
इतरेण निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमाहरेत्,
अनिवेदितविज्ञातो दाप्यस्तं दण्डमेव च

–याज्ञवल्क्य स्मृति 2/34-35

विष्णुस्मृति का कहना है कि राजा खजाना प्राप्त करे तो उस का आधा भाग ब्राह्मणों को दे देना चाहिए और आधा कोष में रखे. ब्राह्मण को मिले तो वह सारा धन खुद की रख ले. क्षत्रिय को मिले तो वह एक चौथाई राजा को दे और एक चौथाई ब्राह्मणों को. वह केवल आधा अपने पास रखे. वैश्य को मिले तो एक चौथाई राजा को दे, आधा ब्राह्मणों को दे और केवल एक चौथाई अपने पास रखे. शूद्र को खजाना मिले तो उसे वह 12 भागों में बांटे–पांचपांच भाग ब्राह्मणों और राजा को दे. दो भाग स्वयं रखे:

निधिं लब्ध्वा तदर्द्धं ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्,
द्वितीयमर्द्धं कोशे प्रवेशयेत् निधिं ब्राह्मणो लब्ध्वा सर्वमादद्यात्.
क्षत्रियश्चतुर्थमंशं राज्ञेऽपरं,
चतुर्थमंशं ब्राह्मणेभ्योऽर्द्धमादद्यात्.
वैश्यश्चतुर्थमंशं राज्ञे दद्यात् ब्राह्मणेभ्योऽर्द्धमंशमादद्यात्.
शूद्रश्चावाप्तं द्वादशधा विभज्य पंचांशान् राज्ञे दद्यात्,
पंचांशान् ब्राह्मणेभ्योंऽशद्वयमादद्यात्.

–विष्णुस्मृति, 20 स्मृतियां, खंड एक, पृ. 447

जातिपांति के विघटनकारी विष ने त्योहारों को भी जाति के आधार पर विभाजित करने से नहीं बख्शा. 'आर्यपर्व पद्धति' में लिखा है, "आर्यों के पर्वों में भी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पाई जाती है. श्रावणी उपाकर्म (आजकल रक्षाबंधन) का स्वाध्याय से संबंध होने के कारण ब्राह्मण पर्व है. लोक में भी श्रावणी (सलूनो) ब्राह्मणों का पर्व कहलाती है. विजयादशमी क्षत्रियों की दिग्विजय यात्रा और क्षात्र धर्म के विकास से संबंध रखने के कारण क्षत्रिय पर्व है और जनसाधारण भी उस को 'क्षत्रियों का पर्व' कहते हैं. शारदीय नवसस्येष्टि व दीवाली के पर्व का विशेष संबंध वैश्य कर्म (कृषि, वाणिज्य और उन की अधिष्ठात्री समृद्धि की देवी लक्ष्मी) से है. इसलिए दीवाली वैश्य पर्व है और लोग इस को वैश्यों का पर्व मानते हैं. शूद्र पर्व होली..." (पृ. 148,1924 ई.)

ऋतुएं भी बंटीं

डा. पांडुरंग वामन काणे ने लिखा है कि ब्राह्मण वसंत ऋतु है, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु है एवं विश् (वैश्य) वर्षा ऋतु है. (धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द 1, पृ. 114)

जाति के आधार पर हाथ का बंटवारा

हाथ में पांच उंगलियां होती हैं, लेकिन जाति ने एक हाथ को पांच जगह बांट दिया. इस से ज्यादा विघटन क्या हो सकता है? धर्मशास्त्र का कहना है:

ब्राह्मणस्य विशेषेण कल्पिताऽनामिका स्मृता,
अंगुष्ठमेव राज्ञश्च तर्जनी विश एव च.
शूद्रस्य मध्यमा प्रोक्ता, तर्जनी भिक्षुकस्यैव,
वनस्थस्य तु मध्यमा,
अनामिका गृहस्थस्य अंगुष्ठाग्रमथापि वा.
अंगुष्ठेन ब्रह्मचारी सर्वेषां स्यादनामिका

–पारमेष्ठ्यसंहिता, स्वामी भगवदाचार्य, भाग सात, पृ. 410–11 पर उद्धृत.

अर्थात ब्राह्मण अनामिका (सब से छोटी के साथ की) उंगली से तिलक लगाए, क्षत्रिय अंगूठे से, वैश्य तर्जनी (अंगूठे के साथ की) से, शूद्र मध्यमा (सब से बड़ी, मध्य की) से, भिक्षुक (भिखारी) तर्जनी से, वानप्रस्थी मध्यमा से, गृहस्थी अनामिका या अंगूठे से या दोनों से और ब्रह्मचारी अंगूठे से तिलक लगाए. अनामिका से सब लगा सकते हैं.

लकड़ी की जाति

लकड़ियों को भी जाति के अनुसार बांटा गया:

लघु यत् कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्,
दृढांगलघु यत्काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत्.

कोमलं गुरु यत् काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते.
दृढांगं गुरु यत्काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते.
–अग्निपुराण, वृक्षायुर्वेद प्रकरण

अर्थात जो लकड़ी हलकी, नरम और सुविधा से गढ़ी जा सकने योग्य हो, वह ब्राह्मण जाति की है. जो हलकी, मजबूत और आसानी से गढ़ी जाने योग्य न हो, वह क्षत्रिय जातीय है. जो लकड़ी नरम और भारी हो, वह वैश्य जाति की है और जो मजबूत तथा भारी हो, वह शूद्र जातीय है.

रंग की जातियां

रंग के आधार पर लकड़ी और पत्थर तक का वर्ण (जाति) घोषित किया गया. विष्णुधर्मोत्तर महापुराण (3/89/12) में बताया गया है कि किस वर्ण के लिए कौन से रंग की लकड़ी शुभ है. इस में कहा गया है कि मंदिर और मूर्ति बनाने के लिए ब्राह्मण के वास्ते श्वेत, क्षत्रिय के लिए लाल, वैश्यों के लिए पीली और शूद्रों के लिए काली लकड़ी शुभ है:

शुक्ला शस्ता द्विजातीनां क्षत्रियाणां च लोहिता,
विशां पीता हिता कृष्णा शूद्राणां च हितप्रदा.

पत्थरों की जातियां

पत्थरों के विषय में भी यही बात कही गई है. जिस रंग की लकड़ी जिस वर्ण के लिए शुभ है, उसी रंग का पत्थर उस वर्ण के लिए शुभ है. –विष्णुधर्मोत्तर महापुराण, 3.90.2

पशुओं की जातियां

जाति के विघटन एवं विषैले तत्त्व ने धर्मशास्त्रकारों की अक्ल पर ऐसा परदा डाला कि वे लकड़ियों, पत्थरों और पशुओं में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि ढूंढ़ते हैं:

ब्राह्मणो मनुष्याणां, अजः पशूनाम् राजन्यो मनुष्याणां,
अविः पशूनाम्. वैश्यो मनुष्याणां, गावः पशूनाम्.
शूद्रो मनुष्याणां अश्वः पशूनाम्.
–तैत्तिरीयसंहिता 7/1/1/4-6

अर्थात जैसे मनुष्यों में ब्राह्मण है, वैसे पशुओं में बकरा है. यानी पशुओं में बकरा ब्राह्मण है. जैसे मनुष्यों में क्षत्रिय है वैसे ही पशुओं में मेढ़ा है. जैसे मनुष्यों में वैश्य है, वैसे ही पशुओं में गाय है और जैसे मनुष्यों में शूद्र है, वैसे ही पशुओं में घोड़ा है.

इस पर भाष्य करते हुए पंडित माधवाचार्य शास्त्री ने लिखा है: "पशुओं में अज (बकरे) के उपलक्षण से सत्त्व गुणप्रधान चमरी आदि समस्त पशु ब्राह्मण कोटि के, मेढ़ा के उपलक्षण से सत्त्व रजस्क (सत्त्व और रजो गुण वाले) सिंह, व्याघ्र आदि

वीर पशु क्षत्रिय कोटि के हैं. गाय, भैंस आदि पशु वैश्य स्थानीय हैं और घोड़ा, ऊंट आदि पशु शूद्र स्थानीय हैं. कुत्ता, गर्दभ, शृगाल, ग्राम्य सूकर आदि अस्पृश्य पशु चांडाल कोटि के हैं.

"पक्षियों में भी हंस, सारस, तोता, मैना, बुलबुल, श्यामा, कबूतर और चकवा आदि ब्राह्मण; बाज, सिकरा, श्येन और नीलकंठ आदि क्षत्रिय; मोर, तीतर, बटेर, झांपल आदि वैश्य; चील, कंक आदि शूद्र तथा काक, बगला और गीध आदि चांडाल कोटि के पक्षी हैं.

"वृक्षों में शमी, पलाश, अपामार्ग, पीपल, सिरस, देवदारु, चंदन, बेल, तुलसी आदि ब्राह्मण; शाल, सागवान, लाल चंदन, सीसम आदि क्षत्रिय; आम, अनार, खैर, कटहल आदि वैश्य; बांस, बबूल आदि शूद्र और नागफनी, थोहर, बिच्छबूटी आदि चांडाल कोटि के वृक्ष हैं.

"पृथ्वी में खड़िया, पांडू और मकोल आदि सफेद मिट्टी ब्राह्मण, गेरू हिरमजी आदि लाल मिट्टी क्षत्रिय; गजनी, पीली मिट्टी आदि वैश्य; दक्षिण भारत तथा अफ्रीका आदि की काली मिट्टी शूद्र और ऊसर, रेह आदि कही जाने वाली मिट्टी अस्पृश्य चांडाल स्थानीय है.

"इसी प्रकार स्फटिक, मर्मर, मानसिला, मकराना और सलेटी आदि पत्थर; हीरा, लाल पुखराज, लहसुनिया और कोला आदि रत्न समूह; चांदी, तांबा, लोहा और सीसा आदि धातुएं भी क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अंत्यज स्थानीय हैं." (क्यों? भाग दो, पृ. 189-190)

देवता भी जाति के आधार पर

जाति के आधार पर देवता तक बांटे गए, यथाः

एतानि देवता क्षत्राणि इन्द्रो वरुणः
सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशानः इति
विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते
वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति
शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै
ब्रह्माभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु

–बृहदारण्यकोपनिषद् 1/4/11–13,15

अर्थात ये देवता क्षत्रिय हैं–इंद्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान. ये देवता वैश्य हैं–वसु, ग्यारह रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत. पूषा देवता शूद्र है. ब्रह्मा ही ब्राह्मण बना अर्थात ब्रह्मा ब्राह्मण है.

महाभारत में 'देवताओं के चिकित्सक' अश्विनीकुमारों को भी शूद्र माना गया है. (देखें, हपकिंस–एपिक माइथोलोजी, पृ. 168). तैत्तिरीय ब्राह्मण (2/7/2/1-2) में विश्वेदेवों के साथ पूषा को भी वैश्य कहा है, क्योंकि अनुष्टुभ् छंद शूद्रों और विश्वेदेवों का छंद माना गया है. (तैत्तिरीय ब्राह्मण 7/1/1/ 4-5, पंचविंश

ब्राह्मण (6/1/6-11), तैत्तिरीय ब्राह्मण (2/101) और शांखायन श्रौतसूत्र (15/10/1-4). अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'विश्वेदेव' भी शूद्र हैं.

'वसिष्ठ स्मृति' में कहा गया है कि ब्राह्मणों का देवता 'नारायण' है, क्षत्रियों और वैश्यों के देवता सोम, सूर्य, आदि हैं. शूद्रों के देवता रुद्र आदि हैं:

नारायणं परं ब्रह्म ब्राह्मणानां हि दैवतम्,
सोमसूर्यादयो देवा: क्षत्रियाणां विशामपि.
शूद्रादीनां तु रुद्रायोऽर्चनीया प्रयत्नतः

–वसिष्ठ स्मृति

डा. पांडुरंग वामन काणे ने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (जिल्द 1, पृ. 114) में लिखा है: "अग्नि देवताओं में ब्राह्मण थे; इंद्र, वरुण और यम क्षत्रिय थे; वसु, रुद्र, विश्वेदेव एवं मरुत विश (वैश्य) थे, तथा पूषा शूद्र था."

मृत्यु बनाम जाति

मृत्यु के कारण जो अपवित्रता (मरणाशौच) मानी गई है, वह भी कमोवेश जाति के अनुसार है. ब्राह्मण के घर में यदि कोई मृत्यु हो जाए तो उस का अशौच 10 दिन का होता है अर्थात 10 दिन के बाद 'उठाला' हो जाना चाहिए. क्षत्रिय का अशौच 12 दिन का, वैश्य का 15 दिन का और शूद्र का एक मास का.

विप्रस्यैतद् द्वादशाहं राजन्यस्याप्यशौचकम्,
अर्धमासं तु वैश्यस्य मासं शूद्रस्य शुद्धये.

–विष्णुस्मृति 3/13/19

ब्रह्मांड पुराण ने कहा है कि जन्म और मृत्यु (सूतक और पातक) के कारण अशुद्ध हुआ ब्राह्मण 10 दिनों के बाद, क्षत्रिय 12 दिनों के बाद, वैश्य 15 दिनों के बाद और शूद्र एक मास के बाद शुद्ध होता है.

दशरात्रमशौचं तु प्रोक्तं मृतकसूतके ब्राह्मणस्य,
द्वादशाहं क्षत्रियस्य विधीयत
अर्द्धमासं तु वैश्यस्य मासं शूद्रस्य चैव ह

–ब्रह्मांड पुराण 3/14/86–87

मृतशिशु जन्म बनाम जाति

बृहस्पति ने कहा है कि मरे हुए बच्चे का जन्म होने पर ब्राह्मण 10 दिनों में शुद्ध होता है, क्षत्रिय सात दिनों में, वैश्य पांच दिनों में और शूद्र तीन दिनों में. (बृहस्पति, अशौच 34-35. रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 253 पर उद्धृत)

श्मशान में जाति

जातिपांति का भेदभाव जीवित अवस्था में ही नहीं, मृत्यु के बाद श्मशान में भी

अक्षुण्ण रहना चाहिए. शतपथ ब्राह्मण (13/8/3/11) का कहना है कि क्षत्रियों की समाधि सब से ऊंची हो और उस से कम ब्राह्मणों की तथा शूद्र के लिए समाधि या टीला घुटने तक ही ऊंचा हो.

परलोक में जाति

तथाकथित परलोक में भी जाति है और वहां जब पुण्य कर्मों के सुफल बांटे जाते हैं तो वे भी जाति के अनुसार भिन्नभिन्न होते हैं. कर्मानुष्ठान करने वाले ब्राह्मण को मरने पर प्राजापत्य लोक, रण से न भागने वाले क्षत्रिय को ऐंद्र लोक, अपने कर्त्तव्यों का पालन करने वाले वैश्यों को मारुत लोक और सेवा में रत रहने वाले शूद्रों को गांधर्व लोक मिलता है:

प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं क्रियावताम्,
स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां संग्रामेष्वनिवर्तिनाम्
वैश्यानां मारुतं स्थानं स्वधर्ममनुवर्तिनाम्,
गान्धर्वं शूद्रजातीनां परिचर्यानुवर्तिनाम्

–विष्णुपुराण 1/6/34-35

व्याकरण तक विघटक

धर्मशास्त्रों का तो लोगों के जीवन में दखल रहा ही, लेकिन व्याकरण और नाट्यशास्त्र (रंगमंच) जैसे धर्मनिरपेक्ष क्षेत्रों ने भी इस विघटन की शिक्षा देने में, इस प्रक्रिया को तीव्र करने में कहीं चूक नहीं की.

पाणिनि (700-800 ई.पू.) ने अपनी पुस्तक अष्टाध्यायी में, जो संस्कृत का सब से पुराना और प्रामाणिक व्याकरण है और जिस के आधार पर आज भी सर्वत्र संस्कृत व्याकरण के नियम बताए जाते हैं, लिखा है:

प्रत्यभिवादेऽशूद्रे

–8/2/83

अर्थात बड़ा व्यक्ति शूद्र के प्रणाम को स्वीकारते हुए जब आशीर्वादात्मक वाक्य बोले तो अधिक उत्साह का प्रदर्शन न करे अर्थात न तो अंतिम स्वर को प्लुत (त्रिमात्रिक) करे और न उदात्त बनाए; जबकि द्विजातियों के संदर्भ में ऐसा अवश्य करे.

पाणिनि ने इसी पुस्तक में अन्यत्र लिखा है: शूद्राणां निरवसितानाम् **(2/4/10). इस पर भाष्य करते हुए पंतजलि (150 ई.पू.) ने लिखा है:**

यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति तेऽनिरवसिताः,
यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण नापि शुध्यति
ते निरवसिता बहिष्कृता इति व्याचख्यौ.

अर्थात शूद्र दो प्रकार के हैं. जिन के भोजन किए जाने के पश्चात पात्र अग्नि में डालने से शुद्ध हो जाते हैं, उन्हें 'अनिरवसित शूद्र' कहते हैं और जिन के जूठे बरतन अग्नि में डालने पर भी शुद्ध नहीं होते वे 'निरवसित शूद्र' कहलाते हैं.

रंगशाला में जाति

नाट्यशास्त्रीय विधान है कि रंगशाला के उत्तरपूर्व में शूद्रों के बैठने के लिए पृथक स्थान हो. वे वहीं बैठें (देखें, संस्कृतनाटक, पृ. 386). शूद्र पात्र रंगमंच पर श्याम रंग में आएं (वही, पृ. 394-95). नायक कुलीन होना चाहिए (साहित्य दर्पण 3/30). नाटक में कुलीन पुरुषों की भाषा संस्कृत हो और अधम जाति के पात्रों की प्राकृत. अत्यंत अधम पात्रों, जैसे चांडाल आदि की भाषा पैशाची या मागधी हो. (देखें, दशरूपकम् 2/64-65)

रंगशाला में न केवल शूद्रों के, बल्कि सब जातियों के बैठने के स्थान पृथकपृथक निश्चित हैं. हर जाति के लिए स्थान विशेष रंग के स्तंभ द्वारा सूचित करने का विधान है. श्वेत स्तंभ के सामने ब्राह्मण बैठें. उस के बाद लाल स्तंभ क्षत्रियों के लिए हों, पश्चिम उत्तर भाग में पीले स्तंभ के पास वैश्य बैठें. उत्तर पूर्व में नीले अथवा श्याम स्तंभ के पास शूद्र बैठें. (नाट्यशास्त्र 2/49-52).

ब्राह्मणों के स्तंभ के तल भाग में सोने और कान के आभूषण डाले जाएं; क्षत्रियों के स्तंभ के तल भाग में ताम्र के, वैश्यों के स्तंभ के तल भाग में चांदी के और शूद्रों के स्तंभ के तल भाग में लोहे के. (नाट्यशास्त्र 2/55).

रंगों की भी जातियां हैं. सफेद, लाल, पीला और काला रंग क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से जोड़ा जाता है. (देखें, शांतिपर्व, कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायुपुराण, पृ. 304 भी). इसीलिए नाट्यशास्त्र का कहना है: नाटक में गौर अथवा श्याम वर्ण राजाओं के अनुरूप है. किरातों, बर्बरों, आंध्रों, द्रविड़ों, काशी और कोसल के वासियों, पुलिंदों और दाक्षिणात्यों का रंग काला होना चाहिए. पांचाल, शूरसेन, माहिष, उड्र, मागध, अंग, वंग और कलिंग के लोगों का रंग श्याम और ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों का गौर (डॉ. ए.बी. कीथ, संस्कृत नाटक, अनु. डा. उदयभानुसिंह, पृष्ठ 394-95) अर्थात इनइन वर्णों के पात्रों के येये रंग हों.

नाट्यशास्त्र ने ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए लाल परिधान का विधान किया है और वैश्य व शूद्र के लिए काले या श्याम का.

कहावतें जातीय जहर से भरपूर

जीवन के हर क्षेत्र में जाति के विघटनकारी एवं घातक रोगाणुओं को जबरदस्ती घुसेड़ने का परिणाम यह हुआ कि हर जाति अपने से भिन्न जाति को अपनी शत्रु मानने लगी. 'नीची' जातियों वाले 'ऊंची' जातियों को बुरा मानने लगे और ऊंची जातियों वाले नीची जातियों को कोसने लगे. आज तक ऐसी कहावतें चली आ रही हैं जो इस जातिमूलक द्वेष को उभार कर सामने लाती हैं. नीचे कुछ ऐसी ही कहावतें प्रस्तुत हैं.

ब्राह्मण दंभ करेगा

बांभन की प्रतीति सों सुख सोया न कोय,
बलिराज हरिचंद का दिया राज इन खोय,
कह गिरिधर कविराय जगत के ये ही थम्मन,
कोटि करो उपाय दंभ नहीं चूके बांभन.

कायस्थ

कायस्थ बच्चे, कभी न सच्चे.

दरजी–सुनार

वेश्या, बंदर, अग्नि, जल, कूरी, कटक, कलार,
ये दस नाहीं आपने सूजी (दरजी), सुआ, सुनार.

खत्री

खत्रीपुत्रम, कभी न मित्रम, जब मित्रम, तब दगम दगा.

बनिया

क. तुलसी कभी न कीजिए वणिकपुत्र विश्वास,
प्रीतिवचन और धनहरण फिर दास का दास.
ख. जिस का बनिया यार, उस को दुश्मन क्या दरकार?

जाट, जुलाहे

क. जाट, जुलाहा, जोगना, जागाती और जोय,
पांचों जज्जे छोड़ कर प्रीति करो सब कोय.
ख. और जात शत्रु भली, मित्र भला ना जाट.

कुम्हार और नाई

छोड़ा छोलन (खाती) बूंट उखाड़न
(माली) थपथाड़िया (कुम्हार) और नाई.
इन से प्रीति कभू न करियो, दबाबाज हैं भाई.

ऐसी निंदात्मक और द्वेषमूलक कहावतें हिंदी में ही नहीं, बल्कि भारत की प्रायः सब भाषाओं में मिलती हैं.

पंजाबी की दोएक कहावतें प्रस्तुत हैं:

कां, कलाल, कुत्ते दा,
बसाह न करिए सुत्ते दा.

अर्थात कौआ, कलवार और कुत्ता यदि सोए हुए हों तो भी इन से सावधान रहना चाहिए.

आसा पासा अगन जल
कूंडी कुत्त कराल,
दसों किसे दे मित्त नहीं,
सींह, सप्प, सनियार.

अर्थात आशा, पासे, आग, जल, कूंडी, कुत्ता, कलवार, शेर, सांप और सुनार–ये दस किसी के मित्र नहीं बनते.

मराठी में

सोनार, शिंपी, कुलकर्णी अप्पा,
ला तियांची संगत नको रे बापा.

अर्थात सुनार, छींपा और कुलकर्णी– इन तीन जातियों के लोगों के साथ रहने का मौका परमात्मा न दे.

संस्कृत में

नाग–नागरयोर्मध्ये वरं नागो न नागरः, नागो दशत्येकवारं नागरस्तु पदे पदे.

अर्थात नाग तथा नागर (गुजरात का एक विशिष्ट ब्राह्मण वर्ग) की तुलना करने पर नाग अच्छा है, नागर नहीं, क्योंकि नाग एक बार ही डंसता है, परंतु नागर तो पगपग पर डसता है. (देखें सूक्तिमंजरी, पृ. 239)

अंगानि मोटयति वारि करोत्यपेयं शुष्कान्यपि व्यथयति व्रणमण्डलानि,
यद् देशजः पवन एव करोति बाधां तद्देशजाः किमु नराः सुखदा भवन्ति.

अर्थात पुरवैया हवा अंगों को मरोड़ती है, पानी को पीने के अयोग्य बनाती है और सूखे हुए घावों को भी सरस (ताजा) बना कर दुखाती है. ऐसी करतूत जिस देश की वायु की हो, वहां के रहने वाले अर्थात बंगाली व पुरविए क्या सुख देने वाले होंगे? (सूक्तिमंजरी, पृ. 269)

जाति बनाम विधर्मी

जब खुद हिंदू भी जाति के आधार पर ऊंचा और नीचा है, स्पृश्य और अस्पृश्य है, तब किसी गैर हिंदू को इनसान के नाते अपने समान और स्पृश्य कैसे माना जा सकता था? जातिपांति के रूप में बोया पेड़ बबूल का, तब आम कहां से खाए? इतिहास में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिन से सहज में व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि अगर यह विष बीज हिंदू धर्म में न होता तो ग्रामों के ग्राम पलभर में मुसलमान

न बनते. खुद हिंदू मांबाप अपने जिगर के टुकड़ों, अपनी लड़कियों, को घरों से न दुतकारते.

14वीं शताब्दी में कश्मीर में जब हिंदूराज्य का पतन हुआ तब रेंचेन नामक एक लद्दाखी बौद्ध ने सिंहासन पर कब्जा कर लिया. वह हिंदू धर्म अपनाना चाहता था, लेकिन खुद हिंदुओं के एक वर्ग को अस्पृश्य मानने वाले धर्मगुरु ब्राह्मण विधर्मी को स्वीकार करने के लिए तैयार न हुए. हिंदुओं से अपमानित रेंचेन को मुसलमान फकीर बुलबुलशाह ने इसलाम स्वीकार करने के लिए तैयार कर लिया और इस तरह वह कश्मीर का प्रथम मुसलमान शासक हुआ जिस ने उस इलाके में इसलाम के प्रचार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई (देखें, प्रेमनाथ बजाज, द शैडो आफ रामराज्य ओवर इंडिया, पृ. 225.)

15वीं शताब्दी के आरंभ में (1421 ई. में) गुजरात के शासक अहमदशाह ने मातूर के रावल छत्रसाल की लड़की रानीबाई से शादी कर ली. एक बार रानीबाई ने अपने दोनों भाइयों–भानजी और भोजजी–को जब भोजन परोसा तो उन्होंने उसे खाने से यह कह कर इनकार कर दिया कि यदि हम ने विधर्मी की पत्नी के हाथ का खाना खा लिया तो हमें जाति से बहिष्कृत होना पड़ेगा.

अहमदशाह को इस पर बहुत आश्चर्य और क्रोध हुआ. उस ने अपने मुसलमान सैनिकों को राजपूतों को पकड़ कर लाने का आदेश दिया. 52 ग्रामों के हजारों राजपूतों को भानजी के साथ पंक्तियों में बैठा कर अहमदशाह ने खाना खिलाया. इस पर हिंदू धर्म के ठेकेदारों ने उन सब को जातिच्युत कर दिया और उन्हें 'महल सलाम' नाम दे दिया, क्योंकि उन्होंने महल में जा कर सलाम बजाया था.

हिंदू धर्म से निष्कासन

खाना खाने मात्र से हजारों लोग मुसलमान बना दिए गए, यद्यपि उन्हें इसलाम में कोई रुचि न थी. आज भी गुजरात में यह संप्रदाय मौजूद है. ये लोग नमाज पढ़ते हैं और मृतकों को दबाते हैं (देखें, महलसलाम, सरिता, अप्रैल (द्वितीय) 1982).

कहा जाता है टीपू सुलतान ने हजारों हिंदुओं के जबरदस्ती खतना कर दिए और उन के मुंह में गोमांस डाल दिया. बस, वे सब जातिच्युत कर दिए गए और उन्हें मुसलमान बना दिया गया.

1947 में भारत विभाजन के समय हजारों हिंदू स्त्रियों को मुसलमान ले उड़े या वे उन के हाथ पड़ गईं. इस के लिए उन्हें बुरा कहा जाता है. परंतु उन स्त्रियों में से बहुत सी जैसेतैसे जब मुसलमानों के पास से भाग कर वापस अपने मातापिता व भाईबंधुओं के पास पहुंचीं तो हिंदू मातापिताओं और राखी बंधवाने वाले भाइयों ने उन्हें घर की दहलीज तक न लांघने दी, क्योंकि हिंदू धर्म के अनुसार वे अस्पृश्य हो गई थीं और उन्हें विवश हो कर या तो इसलाम कबूलना पड़ा या वेश्याएं बनना पड़ा. यशपाल के 'झूठा सच' नामक महाकाव्यात्मक उपन्यास में इस तथ्य को बहुत मर्मस्पर्शी ढंग से चित्रित किया गया है.

ये सब हिंदू धर्म ग्रंथों के आदेश रूपी पानी से सिंचित जातिवाद के विषवृक्ष के घातक फल थे.

जातिवादी संगठन और प्रचार पर रोक लगे

हिंदू धर्म के जातिवादी व धार्मिक आदेशों के कारण आज भी जाति के आधार पर मंदिर, गुरुद्वारे बन रहे हैं, जाति के आधार पर शिक्षा संस्थाएं चल रही हैं और जाति के आधार पर भिन्नभिन्न महल्ले, गलियां, बस्तियां और श्मशान हैं. कई जगहों पर एक ही कुएं पर जाति के आधार पर भिन्नभिन्न पुलियां हैं.

हमारी पहचान देश से है जाति या धर्म से नहीं

आज भी जब किसी आम हिंदू से यह पूछा जाए कि तुम कौन हो, तो वह मानव या भारतीय कहने की जगह अपनी जाति या उपजाति बताता है. देहातों में आज भी बिना जाति के किसी की पहचान या पता पूरा नहीं समझा जाता. यहां तक कि कई बड़ेबड़े हिंदी समाचारपत्र अपनी खबरों में संबद्ध व्यक्ति की जाति का उल्लेख करना बहुत जरूरी समझते हैं.

भारत सदियों से विघटन के ज्वालामुखी पर बैठा है. यह एक दिन अवश्य फूटेगा, क्योंकि लावा बहुत वेग से उबल रहा है. उस के न फूटने में ही इस देश का भला है, लेकिन हमारे चाहने मात्र से कुछ नहीं होगा. इस लावे का तापमान गिराना होगा ताकि यह चट्टान के रूप में परिवर्तित हो जाए. इस के लिए ऊपरी लीपापोती बेकार है. कहावत है–चोर को नहीं, उस की मां को मारें. हमें जातिपांति के विघटनकारी चोर की मां से दोदो हाथ करने होंगे, तभी अभीष्ट सिद्धि हो सकती है.

व्यवस्था बदलने की शर्तें

> इसीलिए भारतीय संविधान के मुख्य रचनाकार डा. अंबेडकर ने कहा है:
> "यदि तुम इस व्यवस्था को तोड़ना चाहते हो तो तुम्हें यह बात सदा याद रहे कि तुम्हें इसे तोड़ने के लिए वेदों और दूसरे धर्मशास्त्रों को बारूद से उड़ाना होगा. तुम्हें वेदों और धर्मशास्त्रों पर आधारित धर्म को नष्ट करना होगा और कोई रास्ता नहीं है. यह मेरा सुविचारित मत है. हर स्त्री और पुरुष को शास्त्रों की दासता से मुक्त करो, शास्त्रों की घातक शिक्षाओं से दूषित मनों को साफ करो, वे स्वयमेव, बिना किसी के कहे अंतर्जातीय भोज और अंतर्जातीय विवाह करने लगेंगे. तुम्हें वह दृष्टिकोण अपनाना चाहिए जो बुद्ध ने अपनाया. तुम्हें वह रवैया अपनाना चाहिए जो गुरु नानक ने अपनाया. तुम्हें न केवल शास्त्रों को उठा कर फेंकना चाहिए, बल्कि उन के आदेशों को मानने से भी उसी प्रकार इनकार कर देना चाहिए जैसे बुद्ध और नानक ने किया. हिंदुओं को यह बताने की जरूरत है कि गलती उन के धर्म में है, जिस ने जाति को पवित्र मानने के विचार लोगों के दिमागों

में भरे हैं." (देखें, डा. बाबा साहब अंबेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचिज जिल्द 1, पृ. 74-75 एवं 68-69, प्रकाशकः शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र सरकार, 1979).

शास्त्रों की मानसिक गुलामी मिटनी चाहिए

स्पष्ट है, जब तक शास्त्रों की मानसिक गुलामी समाप्त नहीं होती, जब तक जातिपांति और ऊंचनीच की भावनाएं खत्म नहीं होतीं तब तक हमारी राष्ट्रीय एकता व अखंडता की बातें और सामाजिक एकात्मकता के यज्ञ न केवल निरर्थक हैं, बल्कि अपने से खुद ही धोखा करने के समान हैं.

मानवीय समानता आवश्यक

दूसरे, राष्ट्रीय व सामाजिक एकता के लिए धार्मिक धंधेबाजों, उन के द्वारा कब्जे में किए हुए धर्मस्थानों और धर्म ग्रंथों की सहायता पर निर्भर होना वैसा ही है, जैसा, पंजाबी की एक कहावत का प्रयोग करूं तो, अनाज की रखवाली के लिए बकरे को उस के पास बैठाना. ये दोनों उद्देश्य मानवीय समानता और विश्वबंधुत्व की वैज्ञानिक एवं धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के प्रचारप्रसार द्वारा ही सिद्ध हो सकते हैं, जैसा कि विश्व के अनेक विकसित देशों ने किया है.

दहेज और हिंदू धर्म

दहेज की समस्या ज्वलंत होने के साथसाथ देशव्यापी है. देश के इस या उस भाग में दहेज की बलिवेदी पर बलि चढ़ने वाली लड़कियों के रोंगटे खड़े कर देने वाले दुखद समाचार आए दिन प्रकाशित होते रहते हैं. बहुत सी घटनाएं समाचारपत्रों में छपने से रह भी जाती हैं.

इस समस्या को हल करने के लिए जो प्रयास किए जा रहे हैं, वे इस विषवृक्ष के सिर्फ पत्तों को काटने के समान हैं. इस की जड़ें बहुत गहरी पैठी हुई हैं, जिन्हें हिंदू धर्म ग्रंथों से खाद और पानी मिल रहा है.

वेदों में दहेज का बखान

हिंदू धर्म ग्रंथों में सब से प्राचीन वेद माने जाते हैं. उन में दहेज देने के वर्णन आते हैं. उदाहरण के लिए निम्नलिखित स्थल देखे जा सकते हैं:

(क) अपश्रं हि भूरिदावत्तरा वां वा घा स्यालात्.

–ऋग्वेद 1/109/2

अर्थात इंद्र और अग्नि, सुना है तुम साले (कन्या का भाई) की अपेक्षा भी अधिक और बहुविधि धन देते हो,

(ख) एतं वां स्तोममश्विनवकर्मातक्षाम भृगवो न रथम्,
न्यमृक्षाम योषणां न मर्ये नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः.

–ऋ. 10/39/14

अर्थात हे अश्विनीकुमारो, दामाद को कन्या देने के समय जैसे लोग उसे वस्त्राभूषण से अलंकृत कर के देते हैं, वैसे ही हम ने इस स्तोत्र को अलंकृत किया है. हमारे पुत्रपौत्र सदा प्रतिष्ठित रहें.

(ग) सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्.
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते.

–ऋ. 10/85/13

अर्थात पतिगृह को जाते समय सूर्य ने सूर्या को जो चादर दी थी, वह आगेआगे

चली. मघा नक्षत्र के उदयकाल में चादर (उपढौकन) के अंग स्वरूप विदाई में दी गई गायों को डंडे से हांका जाता है और अर्जुनी अर्थात पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में उस चादर को रथ से ले जाया जाता था.

(घ) सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्.
मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते

–अथर्व. 14/1/13

अर्थात सविता ने सूर्या को दहेज दिया. फाल्गुनी नक्षत्र में वृषभों से रथ को खींचा जाता और मघा नक्षत्र में उन्हें चलाया जाता है. (आचार्य गोपालप्रसाद, अथर्ववेद, खंड दो, पृ. 182 तथा पं. 716)

ऋग्वेद (प्रथम मंडल, सूक्त 125) में आता है कि राजा स्वनय ने अपनी पुत्री के विवाह के अवसर पर अपने दामाद कक्षिवत को आभूषणों से अलंकृत 10 कन्याएं, 10 रथ, चारचार के दल में चलने वाले सुदृढ़ शरीर के घोड़े, धन, धातु के बरतन, बकरियां, भेड़ें, 100 निष्क (कंठाभूषण/स्वर्णमुद्रा), 1,060 गौएं और एक सौ बैल दिए. (देखें, ऋग्वेद 1/125/1 और 1/126/2-3 पर सायणभाष्य, तथा शौनक ऋषि कृत बृहत् देवता 3/146-150.)

दहेज कम व दोषपूर्ण होने पर उस की क्षतिपूर्ति करने का भी अथर्ववेद में उल्लेख आता है. अथर्ववेद (14/2/66) में लिखा है कि कैसे एक विशेष प्रकार का कंबल दे कर क्षतिपूर्ति की गईः

यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत्.
तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम्.

–अथर्व 14/2/66

अर्थात विवाह के समय या दहेज में जो दोष बना है, इसे हम मधुर बोलने वाले के कंबल में स्थित करते हैं. (आचार्य गोपाल प्रसाद कौशिक, अथर्ववेद, खंड दो, पृ. 206 तथा पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, पृ. 735)

वैदिक काल से दहेज देने की यह परंपरा अक्षुण्ण चली आ रही है. बौद्ध साहित्य में भी इस के प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं.

वड्ढसूकर जातक (283) से पता चलता है कि जातक युग का गृहस्थ भी दहेज देता था. प्रसेनजित राजा के पिता महाकोसल ने बिंबसार राजा को दहेज में एक लाख की आय के गांव अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर दिए थे.

धनंजय सेठ ने अपनी कन्या के विवाह में जो दहेज दिया था, वह अपरिमित था. इस दहेज की सूची इस प्रकार हैः नौ करोड़ रुपए मूल्य के आभूषण, 5,400 गाड़ियों पर लदा धन, 500 गुलाम स्त्रियां और एक सौ सुंदर रथ. (देखेंः बुद्धचर्या, विशाखाचरित, चतुर्थ खंड, पृ. 325)

हिंदू धर्मशास्त्रों में दहेज 'स्त्रीधन' शब्द से अभिहित किया गया है. स्त्रीधन एक पारिभाषिक शब्द है. मनु ने इस की परिभाषा देते हुए लिखा हैः

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि.
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्..

–मनु. 9/194

अर्थात विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो कुछ दिया जाए, पिता के घर से पति के घर लाई जा रही कन्या को जो कुछ दिया जाए, स्नेहवश जो कुछ दिया जाए तथा जो कुछ भ्राता, माता या पिता से उपहारस्वरूप प्राप्त हुआ हो, वह छः प्रकार का स्त्रीधन है.

यह स्त्रीधन 'दहेज निषेध अधिनियम, 1961' की धारा (2) में परिभाषित दहेज का लगभग पर्याय है. इस अधिनियम में "दहेज से तात्पर्य ऐसी किसी भी संपत्ति या मूल्यवान प्रतिभूति (सिक्योरिटी) से है जो:

(क) किसी विवाह में एक पक्ष द्वारा उस विवाह में दूसरे पक्ष को, या

(ख) किसी विवाह में एक पक्ष के मातापिता द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उस विवाह में दूसरे पक्ष को या अन्य को दी गई हो."

दहेज की ये वस्तुएं विवाह के प्रतिफल के रूप में उस विवाह के समय या उस से पूर्व या उस के पश्चात प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दी जाती हैं या उन के दिए जाने के लिए करार किया जाता है." (देखें: श्रीमोहनजी लिखित 'हिंदू विधि,' पृ. 477)

चौथीपांचवीं सदी में हुए एक धर्मशास्त्रकार कात्यायन ने लिखा है कि माता, पिता, पति, भ्राता एवं दूसरे संबंधियों को चाहिए कि वे यथाशक्ति 2,000 पण (तत्कालीन सिक्का) तक स्त्री को स्त्रीधन दें. हां, अचल संपत्ति न दें:

पितृमातृपतिभ्रातृज्ञातिभिः स्त्रीधनं स्त्रियै.
यथाशक्त्या द्विसहस्राद् दातव्यं स्थावरादृते.

–कात्यायन

कात्यायन के इस मत को 19वीं शताब्दी तक रचे जाते रहे धर्मशास्त्रों में उद्धृत किया गया है. देखें: [दायभाग, 4/1/10 (1100-1150 ई.), स्मृति चंद्रिका 2, पृ. 281. (1200-1225 ई.), पराशर माधवीय 3, पृ. 548 (1300-1380 ई.), व्यवहार मयूख, पृ. 154 (1610-1645 ई.), बालंभट्टी (1730-1820 ई.]

इस की व्याख्या करते हुए 'स्मृतिचंद्रिका' एवं 'व्यवहारमयूख' में कहा गया है कि दो हजार पणों की सीमा वार्षिक भेंट तक ही है. यदि भेंट एक ही बार दी जाए तो अधिक भी दिया जा सकता है और अचल संपत्ति भी दी जा सकती है.

शंख स्मृति (600 से 900 ई. के मध्य कहीं) का मत है कि धर्मशास्त्रों में कहे आठ प्रकार के विवाहों में से विवाह चाहे किसी भी प्रकार का किया गया हो, स्त्री को आभूषण और स्त्रीधन अवश्य देना चाहिए. (संस्कार प्रकाश, पृ. 851)

एक ओर वेदों से चली आ रही दहेज देने की परंपरा है तो दूसरी ओर धर्मशास्त्रों के उपर्युक्त प्रकार के आदेश हैं. इस से भी बढ़ कर वे 'धर्म ग्रंथ' है जिन की कहानियां हिंदू प्रायः पढ़ते व सुनते हैं. 'सत्संगों' में उन की कथाएं होती हैं, वे धर्म ग्रंथ हैं–महाभारत, वाल्मीकीय व तुलसी रामायण और भागवत पुराण. पांडव, राम और कृष्ण इन ग्रंथों के नायक हैं जो आम हिंदुओं के आदर्श हैं. इन के विवाहों के प्रसंगों में दहेज देने के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन उक्त ग्रंथों में पाए जाते हैं.

पांडवों और द्रौपदी के विवाह के प्रसंग में महाभारत में आता है कि द्रुपदराज ने बहुत सा धन और गुलाम स्त्रीपुरुष दहेज में दिए थे:

कृते विवाहे द्रुपदो धनं ददौ महारथेभ्यो बहुरूपमुत्तमम्.
शतं रथानां वरहेममालिनां चतुर्युजां हेमखलीनमालिनाम्

शतं गजानामपि पद्मिनां तथा शतं गिरीणामिव हेमशृंगिणाम्.
तथैव दासीशतमग्र्ययौवनं महार्हवेषाभरणाम्बरस्रजम्

पृथक् पृथक् दिव्यदृशां पुनर्ददौ तदा धनं सौमकिरग्निसाक्षिकम्
तथैव वस्त्राणि विभूषणानि प्रभावयुक्तानि महानुभावः

कृते विवाहे च ततस्तु पाण्डवाः प्रभूतरत्नामुपलभ्य तां श्रियम्.
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमा महाबलाः पुरे पांचालनृपस्य तस्य ह

–आदिपर्व, 197/15–18

अर्थात विवाह के अनंतर राजा द्रुपद ने दहेज में बहुत सा धन और नाना प्रकार की उत्तम वस्तुएं दीं. सुंदर सुवर्ण की मालाओं और सुवर्णजटित जुओं से सुशोभित सौ रथ प्रदान किए, जिन में चारचार घोड़े जुते हुए थे. पद्म आदि उत्तम लक्षणों से युक्त सौ हाथी तथा पर्वतों के समान ऊंचे और सुनहरे हौदों से सुशोभित सौ हाथी और साथ ही बहुमूल्य शृंगार सामग्री, वस्त्राभूषण एवं हार धारण करने वाली एक सौ नवयौवना दासियां भी भेंट कीं. सोमकवंश के राजा द्रुपद ने इस अग्नि को साक्षी बना कर प्रत्येक सुंदर दृष्टिवाले पांडव के लिए अलगअलग प्रचुर धन तथा प्रभुत्व सूचक बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण अर्पित किए. इस प्रकार अपार संपत्ति और स्त्रीरत्न द्रौपदी को प्राप्त कर के पांचों पांडव राजा द्रुपद के पास ही सुख से रहने लगे, विहार करने लगे.

महाभारत में ही पुनः अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु और राजा विराट् की पुत्री उत्तरा के विवाह प्रसंग में आता है:

तस्मै सप्त सहस्राणि हयानां वातरंहसाम्.
द्वे च नागशते मुख्ये प्रादाद् बहुधनं तदा
राज्यं बलं कोशं च सर्वमात्मानमेव च

–विराट् पर्व, 72/36–37

अर्थात राजा विराट ने दहेज में वायु के समान शीघ्र चलने वाले सात हजार घोड़े, दो सौ मतवाले हाथी और बहुत सा धन दिया. उस ने अपना राज, सेना, धन और अपना–आप भी दे दिया.

कृष्ण और बलराम ने अपनी बहन सुभद्रा के दहेज में जो कुछ दिया, उस का वर्णन करते हुए महाभारत (आदि पर्व, अ. 220) में लिखा है:

अर्थात कृष्ण ने सोने के मढ़े हुए और कुशल रथवानों से युक्त एक हजार रथ, माथुर देश की 10 हजार दुधारू गौएं, सोने से विभूषित और चांद की किरणों जैसी सफेद एक हजार घोड़ियां, पांच सौ काले खच्चर, पांच सौ सफेद खच्चर, स्वर्ण आभूषणों से युक्त और सेवा में कुशल एक हजार गौरवर्ण गुलाम स्त्रियां, बाह्लीक देश के एक लाख घोड़े और 10 मनुष्यों के भार के बराबर सोना दहेज में दिया. बलराम ने युद्धकुशल, पर्वताकार तथा महावतों से युक्त और सोने की घंटियों वाले एक हजार हाथी दहेज में दिए.

तेषां ददौ हृषीकेशो जन्यार्थे धनमुत्तमम्,
हरणं वै सुभद्राया ज्ञातिदेयं महायशाः

रथानां कांचनांगानां किंकणीजालमालिनाम्.
चतुर्युजामुपेतानां सूतैः कुशलशिक्षितैः

सहस्रं प्रददौ कृष्णो गवायमयुतमेव च.
श्रीमान् माथुरदेश्यानां दोग्ध्रीणां पुण्यवर्चसाम्

वडवानां च शुद्धानां चन्द्रांशुसमवर्चसाम्.
ददौ जनार्दनः प्रीत्या सहस्रं हेमभूषितम्

तथैवाश्वतरीणां च दान्तानां वातरंहसाम्.
शतान्यंजनकेशीनां श्वेतानां पंच पंच च

स्नानपानोत्सवे चैव प्रयुक्तं वयसान्वितम्.
स्त्रीणां सहस्रं गौरीणां सुवेषाणां सुवर्चसाम्

सुवर्णशतकंठीनामरोमाणां स्वलंकृताम्.
परिचर्यासु दक्षाणां प्रददौ पुष्करेक्षणः

पृष्ठ्यानामपि चाश्वानां बाह्लिकानां जनार्दनः.
ददौ शतसहस्राख्यं कन्याधनमुत्तमम्

कृताकृतस्य मुख्यस्य कनकस्याग्निवर्चसः.
मनुष्यभारान् दाशार्हो ददौ दश जनार्दनः

गजानां तु प्रभिन्नानां त्रिधा प्रस्रवतां मदम्
चारूणां हेममालिनाम्.

हस्त्यारोहैरुपेतानां सहस्रं साहसप्रियः
राम: पाणिग्रहणिकं ददौ पार्थाय लांगली

–आदिपर्व, 220/44–55

अर्थात महायशस्वी भगवान श्रीकृष्ण ने वधू तथा वरपक्ष के लोगों के लिए उत्तम धन अर्पित किया. वर के कुटुंबीजनों को देने योग्य दहेज पहले नहीं दिया गया, उसी की पूर्ति उन्होंने इस समय की (44). किंकिणी और झालरों से सुशोभित सुवर्णखचित एक हजार रथ, जिन में से प्रत्येक में चारचार घोड़े जुते हुए थे और प्रत्येक में पूर्ण शिक्षित चतुर सारथि बैठा हुआ था, श्रीमान कृष्ण ने समर्पित किए तथा मथुरामंडल की पवित्र तेजवाली दस हजार दुधारू गौएं दीं (45-46). चंद्रमा के समान श्वेत कांतिवाली विशुद्ध जाति की एक हजार सुवर्णभूषित घोड़ियां भी जनार्दन ने प्रेमपूर्वक भेंट कीं (47). इसी प्रकार पांच सौ काले अयाल वाली और पांच सौ सफेद रंगवाली खच्चरियां समर्पित कीं, जो सभी वश में की हुई तथा वायु के समान वेग वाली थीं (48). स्नानपान और उत्सव में जिन का उपयोग किया गया था, जो वयः प्राप्त थीं, जिन के वेष सुंदर और कांति मनोहर थी, जिन्होंने सोने की सौसौ मणियों की कंठियां पहन रखी थीं, जिन के शरीर में रोमावलियां नहीं प्रकट हुई थीं, जो वस्त्राभूषणों से अलंकृत तथा सेवा के काम में पूर्ण दक्ष थीं, ऐसी एक हजार गौरवर्णा कन्याएं भी कमलनयन भगवान श्रीकृष्ण ने भेंट कीं (49-50). जनार्दन ने उत्तम दहेज के रूप में बाह्लीक देश के एक लाख घोड़े दिए, जो पीठ पर सवारी ढोने वाले थे (51). दशार्ह वंश के रत्न भगवान श्रीकृष्ण ने अग्नि के समान देदीप्यमान कृत्रिम (मोहर) और अकृत्रिम विशुद्ध सुवर्ण के (डले) दस भार उपहार में दिए (52). जिन्हें साहस का काम प्रिय है और जो हाथ में हल धारण करते हैं, उन बलराम ने प्रसन्न हो कर इस नूतन संबंध का आदर करते हुए अर्जुन को पाणिग्रहण के दहेज के रूप में एक हजार मतवाले हाथी भेंट किए, जो तीन अंगों से मद की धारा में नहाने वाले थे. जिन के गले में सोने के हार शोभा दे रहे थे और उन सब के साथ महावत थे (53-54).

[महाभारत, प्रथम खंड, हिंदी अनुवादसहित, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. 628-29]

राम व उन के भाइयों और सीता व उस की बहनों के विवाह में राजा जनक ने जो कुछ दहेज में दिया, उस का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने लिखा है:

अथ राजा विदेहानां ददौ कन्याधनं बहु.
गवां शतसहस्राणि बहूनि मिथिलेश्वर:
कम्बलानां च मुख्यानां क्षौमकोट्यम्बराणि च.
हस्त्यश्वरथपादातं दिव्यरूपं स्वलंकृतम्
ददौ कन्याशतं तासां दासीदासमनुत्तमम्.
हिरण्यस्य सुवर्णस्य मुक्तानां विद्रुमस्य च
ददौ राजा सुसंहृष्टः कन्या धनमनुत्तमम्

–वा.रा.,बालकांड, सर्ग 74/3–6

अर्थात उस समय विदेहराज जनक ने अपनी कन्याओं के निमित्त दहेज में बहुत अधिक धन दिया. मिथिला नरेश ने कई लाख गौएं, कितनी ही अच्छीअच्छी कालीनों तथा करोड़ों की संख्या में रेशमी और सूती वस्त्र दिए, भांतिभांति के गहनों से सजे हुए बहुत से दिव्य हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिक भेंट किए. उन्होंने सौसौ कन्याएं तथा उत्तम दासदासियां अर्पित कीं. इन सब के अतिरिक्त राजा ने उन सब के लिए एक करोड़ स्वर्णमुद्रा, रजत (चांदी) मुद्रा, मोती तथा मूंगे भी दिए. इस प्रकार मिथिलापति राजा जनक ने बहुत हर्ष के साथ उत्तम से उत्तम कन्याधन (दहेज) दिया. [श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, हिंदी अनु. गीताप्रेस, गोरखपुर) पृ. 112]

भागवत पुराण में कृष्ण और सत्या के विवाह में दिए गए दहेज का इस प्रकार उल्लेख आता है:

दशधेनुसहस्राणि पारिबर्हमदाद् विभुः
युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससाम्
नवनागसहस्राणि नागाच्छतगुणान् रथान्.
रथाच्छतगुणानश्वानश्वाच्छतगुणान् नरान्

–श्रीमद्भागवत, 10/58/50–51

अर्थात राजा ने कंठाभूषणों को धारण करने वाली और सुंदर वेशवाली तीन हजार सुंदरी युवतियां, भलीभांति सजी हुई 10 हजार गौएं, नौ हजार हाथी, नौ लाख रथ, नौ करोड़ घोड़े और घोड़ों से सौ गुना अर्थात नौ अरब दास दहेज में दिए.

तुलसीरामायण यद्यपि बहुत अर्वाचीन रचना है तथापि अब आम हिंदू के लिए यही सर्वोपरि धर्म ग्रंथ सा बन गई है. इस की साप्ताहिक कथाएं प्रायः चलती रहती हैं. इस में रामसीता के विवाह के प्रसंग में तुलसी ने लिखा है:

जसि रघुबीर ब्याह बिधि बरनी, सकल कुंवर ब्याहे तेहिं करनी.
कहि न जाइ कछु दाइज भूरी, रहा कनक मनि मंडपु पूरी.
कंबल बसन बिचित्र पटोरे, भांतिभांति बहु मोल न थोरे.
गज रथ तुरग दास अरु दासी, धेनु अलंकृत कामदुहा सी.
बस्तु अनेक करिअ किमि लेखा, कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा.
लोकपाल अवलोकि सिहाने, लीन्ह अवधपति सबु सुखु माने.

–रामचरितमानस–बालकांड, पृ. 302–3

अर्थात जैसी रामचंद्र के विवाह की विधि कही गई है, वैसी ही विधि से सब राजकुमारों का विवाह हुआ. दहेज इतना अधिक था कि कुछ कहते नहीं बनता, सारा मंडप सोने और मणियों से भरा हुआ था. ऊनी कपड़े और तरहतरह के रेशमी कपड़े भी कम नहीं थे. हाथी, रथ, घोड़े, दासदासियां, खूब सजी हुई व कामधेनु के समान अच्छीअच्छी गौएं तथा और भी अनेक वस्तुएं थीं. कहां तक उन की गिनती करें. कुछ कहते नहीं बनता. जिन्होंने उन्हें देखा, वे ही उन्हें जानते हैं. दहेज देख कर तो लोकपाल

भी सिहर गए. अवधराज दशरथ ने सुख मान कर, प्रसन्न मन से सारा दहेज ग्रहण किया.

जब बरात जनक के यहां से विदा हुई, तब फिर उस ने बहुत सा दहेज दिया:

भरि भरि बसहं अपार कहारा, पठईं जनक अनेक सुसारा
तुरग लाख रथ सहस पचीसा, सकल संवारे नख अरु सीसा
मत्त सहस दस सिंधुर साजे, जिनहिं देखि दिसिकुंजर लाजे
कनक बसन मनि भरि भरि जाना, महिषी धेनु बस्तु बिधि नाना
दाइज अमित न सकिअ कहि, दीन्ह बिदेहं बहोरि.
जो अवलोकत लोकपति, लोकसंपदा थोरि
सबु समाज एहि भांति बनाई, जनक अवधपुर दीन्ह पठाई..

–रामचरितमानस, बालकांड, पृ. 310

अर्थात अनगिनत बैलों और कहारों पर लादलाद कर खाने की सारी सामग्री भेजी गई. साथ ही जनक ने अनेक सुंदर शय्याएं (पलंग) भेजीं. एक लाख घोड़े, पूरी तरह सजे हुए 25000 रथ और दसों दिशाओं के हाथियों को भी लजाने वाले 10,000 मतवाले हाथी दिए. गाड़ियों में भरभर कर सोना, वस्त्र, हीरेजवाहरात एवं भैंसेंगौएं तथा नाना प्रकार की चीजें दी गईं. इस प्रकार जनक ने फिर से अपरिमित दहेज दिया. इस दहेज का वर्णन नहीं किया जा सकता. इसे देख कर लोकपालों की संपदा भी थोड़ी जान पड़ती है. इस तरह से सारा सामान सजा कर जनक ने उन्हें अयोध्यापुरी के लिए विदा किया.

तुलसी की रामायण में शिव और पार्वती के विवाह का भी वर्णन है. ये दोनों लोकप्रिय देवता हैं. इन के विवाह में पार्वती के पिता ने बहुत दहेज दिया. फिर भी उसे दामाद के आगे दीनतापूर्वक गिड़गिड़ाना पड़ा. इस का वर्णन करते हुए तुलसीरामायण में लिखा है:

दासी दास तुरग रथ नागा, धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा.
अन्न कनकभाजन भरि जाना, दाइज दीन्ह न जाइ बखाना..
दाइज दियो बहुभांति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यो.
का देउं पूरनकाम संकर चरन पंकज गहि रह्यो.

–रामचरितमानस, बालकांड, पृ. 121

अर्थात दासदासियां, घोड़े, रथ, हाथी, गौएं, वस्त्र, मणि तथा और भी अनेक पदार्थ, छकड़ों में भर कर अन्न और सोने के पात्र–इतना दहेज दिया कि उस का वर्णन नहीं किया जा सकता. बहुभांति का दहेज दिया. फिर हाथ जोड़ कर पार्वती के पिता हिमवान ने कहा, "हे शंकर, आप पूर्णकाम हैं मैं आप को क्या दे सकता हूं?" इस प्रकार कह कर उस ने अपने दामाद शिवजी के चरण पकड़ लिए.

इन अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों से लोग बहुत प्रभावित होते हैं. वे सोचते हैं (और तर्क भी देते हैं) कि जब भगवान तक ने इतना दहेज दिया और लिया, तब हमें भी

अधिकाधिक दहेज देना व लेना चाहिए. उस में बुराई ही क्या है? यह तो भारतीय संस्कृति का व्यावहारिक पहलू है. क्या हमारे पूर्वज मूर्ख थे? उन्होंने कुछ सोचसमझ कर ही दहेज की प्रथा शुरू की होगी. यही कारण है कि जब कई बार लड़के बिना दहेज लिए विवाह करने के लिए तैयार हो जाते हैं, तब उन की धार्मिक माताएं इसी प्रकार के कथाप्रसंगों का उल्लेख करती हैं और बिना दहेज के विवाह को अपूर्ण व धार्मिक दृष्टि से दोषपूर्ण मानती हैं.

स्त्रियां अधिक पुराणपंथी

लड़की को जब दहेज देने की बात आती है, तब भी बात यहीं पहुंचती है: जनक ने सीता को दहेज दिया, कृष्ण ने अपनी बहन सुभद्रा को दहेज दिया, हिमवान ने पार्वती को दहेज दिया आदि. प्रायः स्त्रियां पुरुषों की उपेक्षा धर्म ग्रंथों का पारायण ज्यादा करती हैं व उन से ज्यादा धार्मिक होने का दम भरती हैं. अतः वे इस मामले में ज्यादा हठी और पुराणपंथी हैं.

हमारी विवाह पद्धतियां (विवाह की विधि बताने वाली पुस्तकें) खुद दहेज की उमर बढ़ाती हैं. वे वर और उस की माता आदि के लिए गृहस्थी का सामान, गाय, सोना आदि देने को विवाह का अविभाज्य व अटूट अंग बताती हैं.

हमारे सामने पांच पुस्तकें पड़ी हैं. एक है–स्वामी दयानंद कृत 'संस्कार विधि' रामगोपाल विद्यालंकार के संस्कारप्रकाश भाष्य सहित, दूसरी है–दयानंद के पूर्व शिष्य पं. भीमसेन शर्मा, वेद व्याख्याता कृत 'षोडश संस्कार विधि,' तीसरी है–पं. रामनाथ बौद्धेय लिखित 'विवाह पद्धतिः' (संस्कृतहिंदी व्याख्या सहित), चौथी है–चतुर्थी लाल शर्मा कृत 'विवाह पद्धतिः' (हिंदी टीका सहित) और पांचवीं है–'विवाह पद्धतिः' भाषा टीका सहित, पं. देवीदयालु ज्योतिषी एंड संस द्वारा प्रकाशित.

स्वामी दयानंद ने लिखा है:

'ओ गौर्गोर्गोः प्रतिगृह्यताम्' (यह गाय है, लीजिए, गाय लीजिए). इस वाक्य से वर की विनती कर के अपनी शक्ति के योग्य वर को गोदानादि द्रव्य, जो वर के योग्य हों, अर्पण करे और वर–'ओं प्रतिगृह्यतामि.' पार. कां. 1/कं 3 (लाओ लेता हूं) इस वाक्य से उस को ग्रहण करे.

(संस्कार प्रकाश अर्थात स्वामी दयानंद सरस्वती रचित, संस्कार विधि का भाष्य, पृ. 128)

यहां साफ तौर पर 'वर के योग्य' गाय आदि पदार्थ वर को देने के लिए विवाहसंस्कार के अंग के तौर पर प्रस्तुत किया गया है.

पं. भीमसेन रचित 'षोडश संस्कार विधिः' में विवाह संस्कार के प्रारंभ में ही कन्यादान करने वाले पिता व भाई से जो वाक्य संकल्प के समय कहलवाए गए हैं, उन में कहा गया है:

(क) 'यथाशक्त्यलंकृतामुपकल्पितोपस्कारसहितामिमां कन्यां....पत्नीत्वेन तुभ्यमहं संप्रददे.' –पृष्ठ 260

अर्थात मैं यथाशक्ति आभूषणों से सजाई हुई और अन्य गृहोपयोगी द्रव्यों के साथ अपनी कन्या आप (वर) को पत्नी के रूप में देता हूं.

लगभग यही बात देवीदयालु की 'विवाहपद्धतिः' के पृष्ठ 74 और 76 पर लिखी हुई है.

(ख) ततः कन्याप्रदः–ओं अद्य कृतैतत्कन्यादानप्रतिष्ठार्थमिदं यथाशक्ति सुवर्णमग्निदैवतममुकगोत्राय वराय दक्षिणां तुभ्यमहं संप्रददे इति दक्षिणां दद्यात्. ओं स्वस्तीति प्रतिवचनम्. गोमिथुनं वा दद्यात्. ओं कोदात्. इति वरः पठेत्. (वही, पृ. 260-60)

अर्थात तदनंतर कन्यादाता संकल्पपूर्वक यथाशक्ति सुवर्ण व एक गौ, एक बैल वर को कन्यादान की दक्षिणा में दे और वर (ओं कोदत्.) इत्यादि मंत्र पढ़ कर स्वीकार करे. (वही, पृ. 260-61).

यही बात रामनाथ बौद्धेय ने अपनी 'विवाह पद्धति' के पृ. 111 और 112 पर, चतुर्थीलाल शर्मा ने अपनी 'विवाह पद्धति' के पृ. 44 पर और पं. देवीदयालु ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ 82 पर लिखी है.

'षोडश संस्कार विधि' के पृ. 262 पर तथा देवीदयालु ज्योतिषी की 'विवाह पद्धति' के पृष्ठ 7 पर बताया गया है कि कन्यादान के समय क्याक्या वस्तु दानदक्षिणा के रूप में दहेज में वर को दी जानी चाहिए:

कन्यार्थे कनकं धेनुर्दासीरथमहीगृहाः.
महिष्यश्वगजाः शय्या महादानानि वै दश..

अर्थात कन्यादान के समय वर को सोना, गाय, दासी, रथ, जमीन, गृह, भैंस, घोड़ा, हाथी और शय्या (पलंग आदि) देनी चाहिए.

लगभग ऐसा ही चतुर्थीलाल शर्मा ने 'विवाह पद्धति' में पृ. 44-45 पर लिखा है.

'षोडश संस्कार विधि' में पृ. 264 पर लिखा है कि तांबा, चांदी, कांसा, तांबूल (पान) और दीप भी दान दिए जाने चाहिए. प्रत्येक वस्तु के दान के लिए अलगअलग मंत्र भी लिखे गए हैं. (देखें, षोडश संस्कार विधि, पृ. 264, विवाह पद्धति (देवीदयालु की) पृ. 79-82.)

वर की माता के लिए भी

वर को दी जाने वाली चीजों की सूची यहीं समाप्त नहीं होती. वर की मां के लिए भी बहुमूल्य वस्तुएं देने का धार्मिक विधान है, जिसे वैवाहिक शब्दावली में 'सौभाग्य पिटक' (सुहाग पिटारी) कहा जाता है. इसे अनिवार्य बनाए रखने के लिए सौभाग्य पिटक संबंधी श्लोकों में, जिन्हें पं. भीमसेन शर्मा ने उद्धृत किया है, कहा गया है कि इस के देने से शिव और पार्वती प्रसन्न होते हैं. कौन धर्मभीरु हिंदू इन की प्रसन्नता प्राप्त न करना चाहेगा?

पं. भीमसेन शर्मा ने जिन श्लोकों को उद्धृत किया है, वे इस प्रकार हैं:

वंशपात्रमिहैकं च शूर्पैः षोडशभिर्युतम्.
करकै रुद्रसंख्याकैः सुवर्णपरिपूरितैः..
शतछिद्रीं शुभामेकां गोधूमेन प्रपूरिताम्.
सवस्त्रं च सदीपं च सौभाग्यद्रव्यसंयुतम्..
नानापक्वान्नसंयुक्तं फलताम्बूलसंयुतम्.
एतावदैरिणीरूपं कर्त्तव्यं प्रीतिवर्धनम्..
उमाशंकरयोः प्रीत्यै ऐरिणीदानमुत्तमम्.
वरमात्रे प्रदास्यामि कन्यादानस्य सिद्धये..

–षोडश संस्कार विधि, पृ. 295–96

अर्थात ऐरिणी देवतावाली बांस की एक पिटारी, 16 सूप, 11 करवे, सुवर्ण, गेहूं, वस्त्र, दीप, सौभाग्यचिह्न, सिंदूरादि, अनेक पक्वान, फल, तांबूल इत्यादि समान से भर कर शिव और पार्वती की प्रसन्नता के लिए वर की माता के लिए मैं (कन्या का पिता) देता हूं.

हिंदू विवाहों में वर को दिए जाने वाले सामान के अतिरिक्त उस की माता के लिए यह सुहागपिटारी भी दी जाती है.

आज दहेज बना शक्ति प्रदर्शन

इन सूचियों के पदार्थों में समय के मुताबिक कुछ हेरफेर हुआ है; लेकिन कुछ नगण्य अपवादों को छोड़ कर इन की उपेक्षा करने को कोई तैयार नहीं. शहरों में अब गाय, भैंस, घोड़े, रथ आदि का स्थान स्कूटर, मोटर साइकिल, कार, फ्रिज, एयर कंडीशनर और टेलीविजन आदि ने ले लिया है, यद्यपि कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में गायभैंस अभी भी दिए जाते हैं. मकान के लिए प्लाट आदि आज भी दहेज के अंग रूप में खरीद कर दिए जाते हैं. दासदासियों का स्थान चैकों ने ले लिया है. शेष गृहोपयोगी चीजें भी आधुनिक उपयोग और स्तर की दृष्टि से ही चुनी जाती हैं और चुननी पड़ती हैं.

हमारी विवाह पद्धतियां दहेज मिलने को विवाह का खास लाभ बताती हैं. विवाह में सात भांवरें ली जाती हैं, जिन्हें 'सप्तपदी' कहते हैं. इन में तीसरे पद के लिए कहा गया है: "ओं रायस्पोषाय त्रिषदी भव. **(पति कहता है) कि तू तीसरा पग धन की वृद्धि व पुष्टि के लिए रख." (स्वामी दयानंद कृत 'संस्कार विधि' का संस्कार प्रकाश, भाष्य, पृ. 147)**

सनातनधर्मियों की विवाह पद्धति में भी यही बात कही गई है:–

ओं त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वानयतु.'

अर्थात वर का तीसरा कथन–

"त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वानयतु"

इस मंत्र को पढ़ कर तीसरे मंडल में कन्या का पग रखे.

मंत्रार्थ–तृतीय पद तुझे विष्णु रूप मैं धन की वृद्धि के लिए ले जाता हूं. (रामनाथ बौद्धेय, विवाह पद्धति, (1926 ई.) पृ. 207)

यही बात पं. देवीदयालु ने अपनी 'विवाह पद्धति' (वि.सं. 2027, सन 1970) के पृष्ठ 31 पर लिखी है. स्पष्ट है कि इस तीसरी भांवर का उद्देश्य वर को यह बताना है कि पत्नी मिलने के साथसाथ धन भी मिलेगा.

दहेज समाप्ति का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

धर्म ग्रंथों द्वारा समर्थित और खून में रची हुई प्रथाएं तब तक पीछा नहीं छोड़तीं जब तक आदमी इस योग्य न हो जाए कि वह उन ग्रंथों का बुद्धिवादी विश्लेषण कर सके. जब तक लोगों को धर्म ग्रंथों की मानसिक दासता से छुटकारा नहीं दिलाया जाता, तब तक दहेज विरोधी कानून इसे जड़ से उखाड़ नहीं सकेंगे. अतः आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति भारतीय संविधान में प्रतिपादित मूल कर्त्तव्यों (अनुच्छेद 51 क) का पालन करते हुए खुद वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाए और दूसरों को इसे अपनाने में मदद दे. इस प्रक्रिया में जो भी धर्मवचन, धार्मिक प्रथा, पुरानी चीज और धर्म ग्रंथ कसौटी पर पूरा न उतरे, उसे निर्ममतापूर्वक सदा के लिए तिलांजलि दे दी जाए.

यदि सचमुच हम दहेज की लानत से पिंड छुड़ाना चाहते हैं तो हमें यह सब अवश्य करना होगा ताकि इस का धार्मिक और परंपरागत दृढ़ आधारस्तंभ गिर जाए, जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में हमें दहेज देने और लेने के लिए प्रेरित करता है. इस के ध्वस्त होने के बाद ही हिंदू समाज की विचारधारा को कोई नया धनात्मक मोड़ दे पाना संभव होगा.

प्राचीन भारतीय सेनाओं का मनोबल और हिंदू धर्म

जब हम भारत के प्राचीन इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालते हैं तब पाते हैं कि यह पराजयों, घुटने टेकने, निराशा और विवशता की एक लंबी मगर दुखदायी दास्तान है, जिस के लिए काफी हद तक खुद भारतीय ही दोषी थे.

दरअसल असली दोषी था उन का धर्म, जिस ने उन्हें पहले तो एक (मानव) से चार (वर्ण) बनाया, फिर हजारों उपजातियों में विभक्त किया तथा सब को अपनेअपने दायरों में रहने के लिए धार्मिक आदेशों और आज्ञाओं से विवश किया. शस्त्र उठाने का काम केवल एक वर्ण के जिम्मे सौंपा, उस वर्ण के भी केवल युवाओं के, जो बहुत ज्यादा नहीं हो सकते थे. इस जाति विभाजन ने परस्पर फूट और एकदूसरे के प्रति उदासीनता के विषबीज बोए तथा क्षुद्र स्वार्थों से हर एक को अभिभूत किया.

जो क्षत्रिय वर्ण शस्त्र उठाने का अधिकारी था भी, वह भी धर्म और धर्मशास्त्रों के कारण पैदा हुई व पुष्ट की गई रूढ़िवादिता के कारण कदमकदम पर पिटता रहा, मगर उस सारे आत्मघाती धार्मिक तानेबाने से मुक्त होने के लिए कभी मानसिक तौर पर पूरी तरह तैयार नहीं हुआ.

यही कारण है कि चतुरंगिणी सेना के नाम पर यह वर्ण हाथियों से चिपटा रहा, जो अनेक बार विजय को पराजय में बदलते रहे और जो शत्रु सेना का मुकाबला करने के स्थान पर अपने ही सैनिकों को पैरों तले रौंदते रहे. यह क्रम तब तक बराबर चलता रहा जब तक हिंदू धर्म के अनुयायी 1565 ईसवी में अंतिम युद्ध में हार कर विदेशियों के पूर्णतया दास नहीं बन गए.

यदि हम पिछले एक हजार वर्ष की अवधि के युद्धों का जरा बारीकी से अध्ययन करें तो पता चलता है कि उपर्युक्त सब कमियों के बावजूद हिंदुओं का इतिहास और ही होता, यदि हिंदू योद्धा का, हिंदू सेना का मनोबल बरकरार रहता.

मनोबल का अभाव

मनोबल का अभाव, अन्य बलों की उपस्थिति के बावजूद, पराजय लाता है और व्यक्तिगत वीरता के बावजूद हिंदू सेना में यह मनोबल सब से कम होता था.

पिछले एक हजार वर्ष के युद्धों के दौरान हिंदुओं के व्यवहार पर समयसमय पर टिप्पणियां करते हुए तत्कालीन मुसलिम इतिहासकारों ने लिखा है कि हिंदू सैनिकों को जब यह लगता था कि मुसलिम सेना अब विजय की ओर बढ़ रही है तो वे मैदान से भाग खड़े होते थे. ऐसे ही जब कोई महत्त्वपूर्ण चौकी रौंद दी जाती, जब प्रतिरक्षा का घेरा टूट जाता या राजा गंभीर रूप से घायल हो जाता या मर जाता, तो सेना अव्यवस्थित हो कर भाग खड़ी होती थी.

इस के साथ ही मुसलिम इतिहासकारों ने यह भी लिखा है कि युद्ध में बंदी बनाया गया प्रायः हर राजा अपनी रानियों एवं दासियों सहित इसलाम कबूलने के लिए सदा तत्पर दिखाई देता था.

इस तरह की टिप्पणियों के पीछे काम कर रहे उन इतिहासकारों के पूर्वाग्रहों की संभावनाओं से इनकार नहीं किया जा सकता. लेकिन यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है कि ऐसा सब कुछ होता रहा है.

991 ईसवी में सुबुक्तगीन ने हिंदू राजा जयपाल पर हमला किया, जिस का पंजाब के एक बड़े भाग के अलावा अफगानिस्तान के कुछ भाग पर भी राज था. लंघम नामक स्थान पर दोनों सेनाओं में टक्कर हुई. शुरू में ही सुबुक्तगीन का पलड़ा भारी हो गया.

इस पर हिंदू सैनिक मैदान छोड़ कर भाग खड़े हुए और अपने शस्त्र, रसद, यहां तक कि वाहन भी छोड़ भागे ताकि विजेता विधर्मी तुर्कों से वे कहीं छू न जाएं.

इस युद्ध का वर्णन करते हुए इतिहासकार अलउत्बी ने लिखा है: "हिंदू भयभीत कुत्तों की तरह दुम दबा कर भाग खड़े हुए और उन के राजा ने अपने दूरदराज तक फैले सर्वोत्तम प्रदेशों को विजेता को भेंट किया और कहा कि हमारे सिरों से केशों को न मुंड़ाया जाए. इस तरह आसपास का इलाका सुबुक्तगीन के सामने खुला और साफ था. उस ने वहां जी भर कर धन लूटा." (देखें, सर एच. एम. एलिअट और जान डासन, द हिस्ट्री आफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियंस, पृ. 23)

मुसलिम विजयी हुए

यह बात सर्वविदित है कि जयपाल ने सुबुक्तगीन से दो बार मुंह की खाई और दोनों बार बहुत सा धन एवं हाथी दे कर अपनी जान बचाई थी. तीसरी बार जयपाल ने सुबुक्तगीन के पुत्र महमूद गजनवी के हाथों हार खा कर अग्नि में कूद कर आत्महत्या कर ली थी. महमूद गजनवी लगभग पांच लाख भारतीय नरनारियों को गुलाम बना कर गजनी ले गया था.

इस से 28 वर्ष बाद के एक अन्य युद्ध को लें. 1018 ईसवी में महमूद गजनवी ने मथुरा के राजा कुलचंद पर हमला किया. वह बहुत शक्तिशाली राजा था, जिस ने इस हमले से पहले के वर्षों में अनेक हिंदू राजाओं को पराजित किया था. उस की राजधानी बहुत सशक्त, धनधान्यपूर्ण, अनेक वीर योद्धाओं से सज्जित थी. उस में मजबूत किले और बहुत से हाथी थे.

यह हर दृष्टि से शत्रु की पहुंच से बाहर थी. परंतु जब युद्ध हुआ तो वही कुछ

दोहराया गया जो पहले लंघम में घटित हुआ था. शहर के बाहरी दरवाज़े पर दोनों ओर की छोटीछोटी टुकड़ियों में झड़पें हुईं, जिन में मुसलिम विजयी हुए.

हिंदू सेना ने घुटने टेके

अब भी बहुसंख्यक हिंदू सैनिक किले को संभाल कर बचाव का ही तरीका अपना रहे थे. कुलचंद ने मार खा रहे सैनिकों की मदद और आक्रमणकारियों पर प्रत्याक्रमण के लिए सेना से नहीं कहा होगा, इस की जरा भी संभावना नहीं; परंतु परिणाम कुछ नहीं निकला. बाहर शहर के किनारों पर हुई झड़पों में उखड़ जाने के बाद शीघ्र ही सारी हिंदू सेना ने घुटने टेक दिए.

इतिहासंकार अलउत्बी ने लिखा है: "हिंदुओं ने जब देखा कि उन के प्रयत्न असफल हो रहे हैं तो वे किले को छोड़ कर भागे और किले की एक ओर बह रहे दरिया को पार करने का यत्न करने लगे, शायद यह सोचते हुए कि इसे पार करने के बाद कोई भय नहीं रहेगा. परंतु उन में से अनेक कत्ल कर दिए गए. पकड़ लिए गए या डूब गए, लगभग 50 हजार आदमी मरे, डूबे और पशुओं एवं मगरमच्छों के शिकार हुए. उधर कुलचंद ने कटार से पहले अपनी पत्नी को कत्ल किया और बाद में आत्महत्या कर ली." (देखें, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 43)

300 साल बाद जब मुगल सेना को ले कर बाबर ने उत्तर भारत पर हमला किया, तब भी हिंदू सेना ने उसी तरह का आचरण किया जैसा उन के पूर्ववर्ती कर चुके थे. मार्च 1527 ईसवी में मेवाड़ के राणा सांगा की पराजय के बाद केवल एक राजपूत शक्ति बची थी–चंदेरी का मेदिनीराव.

बाबर ने उस पर भी आक्रमण किया. 28 जनवरी, 1528 ईसवी को दोनों सेनाओं में मुठभेड़ हुई. घेराबंदी के दूसरे ही दिन राजा मेदिनीराव इस निर्णय पर पहुंच गया कि मुगलों का मुकाबला करना बेकार है. अतः उस ने लड़ाई बंद करने का फैसला किया.

किले के अंदर की सब स्त्रियों को मेदिनीराव के कहने पर उस के आदमियों ने कत्ल कर दिया. खुद मेदिनीराव और उस के सब सैनिक अपने वस्त्र उतार कर नंगे हो गए तथा बाबर के रक्तपिपासु सैनिकों की पंक्तियों की ओर दौड़ पड़े, क्योंकि इन धर्मभीरु हिंदू सैनिकों की नजरों में बंदी बन कर मुसलमानों के हाथों धर्मभ्रष्ट होने की अपेक्षा मृत्यु श्रेष्ठतर थी. बाबर को अनायास विजयश्री प्राप्त हो गई. बाबर ने अपने संस्मरणों में लिखा है: "मैं ने बिना अपना झंडा उठाए, बिना रणभेरी बजाए और बिना अपने संपूर्ण शस्त्रों का प्रयोग किए यह प्रसिद्ध दुर्ग जीत लिया."

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि हिंदू सैनिक मुसलमानों का पलड़ा जरा सा भी भारी होते देख कर सिर पर पैर रख कर भाग जाते थे या मुकाबला करने की अपेक्षा वे अपने अंधेरे भविष्य को अपनी ओर सरकता महसूस कर के निराशा में भर कर आत्मघात पर उतारू हो जाते थे.

स्त्रियों आदि को खुद ही कत्ल कर देते थे अथवा उन्हें आग में कूद कर

आत्महत्या के लिए उकसाते थे. (आज तक इस रीति का उल्लेख 'जौहर' के सम्मानित शब्दों के साथ किया जाता है.) बाद में या तो वे आत्महत्या कर लेते थे या फिर आक्रमणकारियों के हाथों गाजरमूलियों की तरह कट मरते थे. उन की भरसक कोशिश होती थी कि बंदी बनने से जैसे भी हो, बच जाएं; चाहे मैदान से भाग कर या आत्मघाती कदम उठा कर.

जो हिंदू सैनिक या राजा बंदी हो जाते थे, वे छूट कर वापस हिंदुओं में आने के स्थान पर इसलाम कबूल कर लेना बेहतर समझते थे. 1018 में जब महमूद गजनवी ने 12वां हमला किया, तब की एक घटना है. बरन शहर पर हरदत्त नामक हिंदू राजा का राज्य था. महमूद गजनवी ने उस पर हमला किया और विजयी रहा. राजा ने हथियार डाल दिए.

जब उससे इसलाम कबूलने के लिए कहा गया तो उस ने न केवल खुद उसे कबूल कर लिया, बल्कि अपने 10 हजार आदमियों से भी ऐसा ही करवाया. अलउत्बी लिखता है कि हरदत्त को इसी में अपना और अपने आदमियों का भला दिखाई दिया.

जैसे उदाहरण ऊपर दिए गए हैं, वैसे शायद इतिहास के पृष्ठों से और भी इकट्ठे किए जा सकें, लेकिन सारे इतिहास में शायद ऐसा उदाहरण एक भी न मिले जिस में किसी युद्ध में बंदी बने राजा ने मुसलिम विजेताओं की कैद से छूटने के बाद फिर से शक्ति संग्रह कर के आक्रमण किया हो या ऐसे राजा को हिंदुओं ने फिर से अपना नायक माना हो, हिंदू धर्म ने उसे पुनः स्वीकार किया हो.

इस के विपरीत ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते हैं कि किसी हिंदू राजा ने मुसलिम विजेताओं की कैद से निकल कर जब पुनः शक्ति संग्रह करना चाहा, उसे पगपग पर अपमानित किया गया, क्योंकि वह 'धर्मभ्रष्ट' हो चुका था.

997 ईसवी में महमूद गजनवी ने जयपाल को पराजित कर कैद कर लिया और बाद में उसे इस शर्त पर छोड़ दिया कि जयपाल महमूद को वार्षिक कर दिया करेगा एवं उसे अपना मालिक समझेगा. लेकिन 'विधर्मी संपर्क से दूषित' जयपाल को इस कदर जलील किया गया कि उसे तंग आ कर अंत में आग में कूद कर आत्महत्या करनी पड़ी.

उत्साही प्रेरणा का अभाव

इस का क्या कारण है? कारण है धर्म. कहा जा सकता है कि धर्म तो मुसलमानों के भी साथ था, फिर हिंदुओं की शोचनीय स्थिति के लिए उन के धर्म को उत्तरदायी ठहराना कैसे उचित है? इस पर हमारा निवेदन है कि दोनों धर्मों के स्वभाव एकदूसरे से भिन्न हैं. इसी कारण दोनों के अनुयायियों के इतिहास भी भिन्नभिन्न दिशाओं में गए.

इसलाम धर्म ने अपने अनुयायियों को प्रेरित किया, उत्साहित किया और उन के हौसले बुलंद रखे. जब हम मुसलिम इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं, तो पाते हैं कि हजरत मुहम्मद की मृत्यु के केवल 10 साल बाद के समय में कबायली मुसलमानों ने अरब में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था और हजरत मुहम्मद साहब की मृत्यु

के 100 साल बाद की अवधि में स्पेन, सिसिली, उत्तरी अफ्रीका, मिस्र, फिलस्तीन, सीरिया, इराक, ईरान, खुरासान और सिंध तक उस की सीमाएं फैल गई थीं.

इतने थोड़े समय में जीत पर जीत का क्या कारण था? इस का उत्तर देते हुए एक मुसलिम इतिहासकार ने लिखा है: "मुसलमानों की फारस (वर्तमान ईरान) और रोम पर विजय का मुख्य कारण उन का धार्मिक साहस और दृढ़ता थी. वे अपनी पूरी शक्ति से अपने धर्म अर्थात इसलाम के लिए लड़े और इस के लिए वे मर मिटने को सदा तैयार रहते थे. उन का विश्वास था कि इसलाम के लिए मरना एक विशेष योग्यता है. यह पुण्य हर एक को प्राप्त नहीं होता. जो मुसलमान इसलाम के लिए मरता है, अगली दुनिया में पुरस्कृत होता है. अतः वे शत्रु के हाथों पड़ने की अपेक्षा इसलाम के लिए मरने को प्राथमिकता देते थे, जब कि उन के शत्रुओं के पास भविष्य के विषय में इस तरह के उत्साहदायी विचार नहीं थे." (प्रो. के. अली, ए स्टडी आफ इसलामिक हिस्ट्री, तीसरा संशोधित संस्करण 1974, पृष्ठ 101)

विपरीत भूमिका

1527 ईसवी में जब राणा सांगा की शक्ति के विषय में तरहतरह की कहानियां और मुसलमानों की पराजय के विषय में मुहम्मद शरीफ नामक ज्योतिषी की भविष्यवाणी सुन कर बाबर की सेना का मनोबल गिर गया था, तब हिम्मत तोड़ चुकी सेना ने इसलाम से प्रेरणा पा कर 10 घंटे की लड़ाई में ही राणा सांगा को मैदान से भाग कर जान बचाने को मजबूर कर दिया था और विजय प्राप्त की थी.

बाबर ने अपने सैनिकों से कहा था: "खुदा का शुक्र है कि यदि इस युद्ध में हम लोग मृत्यु को प्राप्त होंगे तो हम शहीद कहलाएंगे और यदि जीवित रहेंगे तो इस संसार का उपभोग करेंगे. आइए, हम सब कुरान की शपथ ले कर प्रतिज्ञा करें कि हम उस समय तक युद्ध करते रहेंगे जिस समय तक हमारे शरीर में प्राण हैं."

इस पर सेना ने कुरान की शपथ खा कर कहा था, "आलीजाह, जब तक हमारे शरीर में जान है, हम किसी प्रकार के बलिदान से मुंह नहीं मोड़ेंगे." (देखें बाबर नामा, अंगरेजी अनुवाद एनेट सुसनाह बेवरिज, पृ. 556-57,)

लेकिन हिंदुओं के धर्म ने इस के बिलकुल विपरीत भूमिका निभाई. जब हिंदू सैनिक मुसलिम सेना के विरुद्ध लड़ता था तो उसे सदा यही चिंता लगी रहती थी कि कहीं वह बंदी न हो जाए. उसे जब यह लगता कि अब विपक्षी सेना का पलड़ा भारी हो रहा है तो वह भाग खड़ा होता था ताकि वह कहीं बंदी न बन जाए. ऐसे में उस ने जम कर लड़ने की तो कभी सोची ही नहीं. मुसलिम सैनिक को युद्ध के दौरान संतोष होता था कि वह इसलाम के लिए कुछ कर रहा है, लेकिन हिंदू सैनिक को चिंता रहती थी कि कहीं वह बंदी बन कर हिंदू धर्म से भ्रष्ट न हो जाए.

मुसलिम सैनिक जान हथेली पर रख कर इसलिए लड़ता था कि इसलाम के लिए शहीद होने पर उसे जन्नत मिलेगी, वह पुरस्कृत होगा. हिंदू सैनिक अपने को इसलिए मरवाकटवा लेता था कि कहीं वह बंदी न बन जाए और अपने हिंदू धर्म में अछूत जैसा निंदनीय व नारकीय जीवन जीने से बच जाए.

तथ्य पर परदा

मुसलिम सैनिक लड़ता था तो उत्साह से और मरता था तो आशा और संतोष के साथ. लेकिन हिंदू सैनिक लड़ता था चिंताग्रस्त हो कर और मरता था मजबूर हो कर, अछूत जैसा निंदित जीवन जीने की यातना से बचने के प्रयास में.

ऐसे में हिंदू लोग मुसलमानों के मुकाबले में टिक ही कैसे सकते थे? आज इस कटु तथ्य पर परदा डालने के प्रयास में कई लोग इस अप्रिय घटनाचक्र पर मुलम्मा चढ़ा कर यह बताना चाह रहे हैं कि हिंदुओं ने कभी कोई कमी उठा न रखी थी, वे बड़ी बहादुरी से लड़ते रहे और बाकी सब कुछ ठीक था.

लेकिन यह दूसरों को धोखा देने के साथसाथ अपने से भी धोखा करना है. और तो और, हमारे यहां हिंदू धर्म में शहीद के समकक्ष कोई शब्द तक नहीं है.

असल में हिंदू सैनिक मुसलिम आक्रमणकारियों के विरुद्ध कभी जी जान से लड़ा ही नहीं, पूरे मन से कभी डटा ही नहीं. वह सदा चिंतित मन से और अंधे भविष्य की मनहूस छाया से ग्रस्त और त्रस्त हो कर यंत्रचालित सा ही लड़ा.

इस का कारण क्या था? मुसलिम इतिहासकारों ने इस के दो कारण लिखे हैं. या तो वे जिंदगी से इतने ज्यादा चिपटे हुए थे कि शहीद की मौत मरने की उन में इच्छा ही नहीं थी, या फिर उन्हें यह ज्ञात हो जाता था कि हिंदू धर्म झूठा और पतनकारी है. हमारा कहना है कि ये दोनों कारण एकदम गलत हैं. हिंदू को न तो जीवन की ललक थी और न ही हिंदू धर्म पर अविश्वास.

आत्मा को अजर, अमर मानने वाले और धर्म के लिए, स्वर्गप्राप्ति के लिए काशी आदि में आत्महत्या करने वाले हिंदू को जीवन के मोह ने मैदान से भागने के लिए नहीं उकसाया. उस के धर्म के प्रति अविश्वास की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती. उसे यदि किसी ने मैदान से भागने के लिए विवश किया तो वह था उस का हिंदू धर्म पर दृढ़ विश्वास.

बात कुछ अटपटी सी लग सकती है, लेकिन है बिलकुल सच्ची कि हिंदू सैनिक हिंदू धर्म के प्रति अटूट विश्वास के कारण टूटा.

दुनिया में सब जगह जब युद्धबंदी शत्रु के यहां से वापस आता है तो उस देश के लोग, उस के वंश और कबीले के लोग, उस के मित्र और परिचित लोग, यहां तक कि अपरिचित भी, उस का स्वागत करते हैं, प्रसन्न होते हैं और बांहें फैला कर उसे गले से लगाते हैं. लेकिन हिंदू धर्म का कहना है कि जो भी विधर्मियों अर्थात मुसलमानों की कैद में रह ले, वह अपवित्र हो जाता है.

न उस के हाथ से कोई खाएगा, न उस से कोई रोटीबेटी का संबंध रखेगा. उसे जातिच्युत और जाति बहिष्कृत हो कर उपेक्षित, घृणित एवं निंदनीय जीवन जीना होगा. इस रोमहर्षक अंधे भविष्य की कल्पनामात्र से हिंदू सैनिक के पसीने छूट जाते थे और वह या तो मैदान से भाग खड़ा होता था या अपने को गाजरमूली की तरह कटवा कर छुटकारा पा लेता था.

जो इन दोनों में असफल हो जाने के बाद बंदी बना लिया जाता था, वह जानता

था कि यदि कभी वह छूट भी गया तो समाज का उस के साथ कैसा व्यवहार होगा. इसलिए वह हिंदू समाज की ओर वापस आने की अपेक्षा इसलाम को ही कबूल करना अच्छा समझता था.

अलबेरूनी ने हिंदू धर्म के इस छुईमुई रूप पर टिप्पणी करते हुए 11वीं शताब्दी में लिखा था: "जो वस्तु किसी विदेशी के जल या अग्नि से छू जाए, उसे भी वे (हिंदू) भ्रष्ट समझते हैं... इस के अतिरिक्त उन्हें कभी इस बात की इच्छा ही नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई है, उसे शुद्ध कर के पुनः ग्रहण कर लें, जैसा कि सामान्य अवस्था में जब कोई पदार्थ अपवित्र हो जाता है तो वह फिर पवित्र अवस्था को प्राप्त करने की चेष्टा करता है. जो मनुष्य उन में से नहीं (अर्थात जन्मजात हिंदू नहीं), चाहे वह उन के धर्म की ओर कितना ही झुका हुआ क्यों न हो, और उस की अभिलाषा कितनी ही प्रबल क्यों न हो, उसे उन्हें अपने में मिलाने की आज्ञा नहीं है. " (अलबेरूनी का भारत, अनुवादक संतराम बी.ए. द्वितीय संस्करण 1926. भाग पहला, पृ. 24-25.)

कठोर प्रायश्चित्त

अलबेरूनी अपने यात्रा विवरणों में अन्यत्र लिखता है: "मैं ने कई बार सुना है कि जब मुसलिम देशों से हिंदू दास भाग कर अपने देश और धर्म में वापस जाते हैं, तब हिंदू उन्हें प्रायश्चित्त के रूप में उपवास करने का आदेश देते हैं, फिर वे उन्हें गायों के गोबर, मूत्र और दूध में दिनों की नियत संख्या तक दबाए रखते हैं, यहां तक कि उन का खमीर उठ आता है. तब वे उन को खींच कर उस मैल में से बाहर निकाल लेते हैं और वैसा ही मैल खाने को देते हैं.

"मैं ने ब्राह्मणों से पूछा है कि क्या यह सत्य है. परंतु वे इस से इनकार करते हैं और कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिए कोई भी प्रायश्चित्त संभव नहीं, और उस को जीवन की उन स्थितियों में लौट आने की कभी आज्ञा नहीं दी जाती जिन में वह बंदी के रूप में ले जाने से पहले था और यह कैसे संभव है? यदि ब्राह्मण शूद्र के घर में कई दिन तक खाता है तो वह अपने वर्ण से निकाल दिया जाता है और फिर कभी उसे प्राप्त नहीं कर सकता." (वही, भाग 3, प्रथम संस्करण 1928, पृ. 208)

अलबेरूनी ने ये बातें न तो कल्पना के सहारे लिखी हैं और न किसी दुराग्रहवश.

हिंदी के प्रतिष्ठित लेखक और भूतपूर्व क्रांतिकारी यशपाल ने अपने उपन्यास 'झूठा सच' में यही दर्शाया है. उसे पढ़ने पर पता चलता है कि 1947 के काले और सांप्रदायिकता के घातक विष से भरे दिनों में अपहृत युवतियों को कैसे उन के हिंदू मातापिताओं ने अपने घरों की तब देहरियां तक नहीं लांघने दी थीं जब वे अपहरणकर्ता विधर्मियों के चंगुल से जैसेतैसे छूट कर वापस आई थीं.

न अलबेरूनी झूठा है और न यशपाल. न हिंदू समाज की बंदी बन चुके सैनिक से शत्रुता थी, न उन मातापिताओं में संतान के प्रति प्रेम का अभाव था. यह सारा क्रूर खेल था धर्म और धर्म ग्रंथों का. नीचे इस विषय में धर्मशास्त्रों के कुछ कथन प्रस्तुत हैं:

देवल स्मृति (रचनाकाल 600 ईसवी से 900 ईसवी में कहीं) का कहना है:

गृहीतो यो बलान् म्लेच्छैः पंच षट् सप्त वा समाः,
दशादि विंशतिं यावत्तस्य शुद्धिर्विधीयते.
प्राजापत्यद्वयं तस्य शुद्धिरेषा विधीयते,
अतः परं नास्ति शुद्धि कृच्छ्रमेव सहोषिते.
म्लेच्छैः सहोषितो यस्तु पंचप्रभृति विंशतिः,
वर्षाणि शुद्धिरेषोक्ता तस्य चान्द्रायणद्वयम्.
कक्षागुह्यशिरःश्मश्रूभ्रूलोमपरिकृन्तनम्,
प्राहृत्य पाणिपादानां नखलोम ततः शुचिः.

–देवल स्मृति, 53–56

अर्थात जो व्यक्ति म्लेच्छों द्वारा बलपूर्वक पकड़ा गया हो और पांच, छः या सात वर्षों तक या 10 से 20 वर्षों तक उन के पास रहा हो, लेकिन वह वर्जित व्यवहार, आचारविचार और खानपान में उन से अलग रहा हो, वह शुद्ध हो सकता है (53). इस से ज्यादा समय बीत जाने पर किसी भी प्रकार से वह शुद्ध नहीं हो सकता. वह व्यक्ति दो बार प्राजापत्य व्रत कर के शुद्ध होता है.

[विधिः वशिष्ठ स्मृति (23/43) ने इस प्राजापत्यव्रत का विधान ऐसे किया है: पहले दिन केवल दिन में भोजन, दूसरे दिन केवल रात में, तीसरे दिन बिना मांगे मिल जाए तो खाना अन्यथा भूखे रहना, चौथे दिन पूर्ण व्रत. इसी क्रम के मुताबिक तीन बार चलना.]

शुद्धि की साधना

यदि बिना विवश किए अथवा सहमति से व्यक्ति म्लेच्छों के साथ रहता हुआ भी वर्जित आचार और खानपान के मामले में उन से अलग रहा हो तो वह कृच्छ्र व्रत करे.

[कृच्छ्र व्रत की विधिः प्रथम तीन दिनों में दिन में एक बार भोजन करना, अगले तीन दिनों में केवल रात्रि में भोजन करना, आगे के तीन दिनों में बिना मांगे खाना अर्थात मिल जाए तो खाना, नहीं तो भूखे रहना और आगे के तीन दिनों में पूरी तरह भूखे रहना.] (54)

यदि पूर्वोक्त व्यक्ति म्लेच्छों के साथ पांच से 20 वर्ष तक रहा हो, तो वह दो चांद्रायण व्रत करे.

[विधिः इस 30 दिन के व्रत के चांद्रायण पांच भेद मिलते हैं. इस का यवमध्य नामक भेद ज्यादा प्रचलित है जो इस प्रकार है: मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन एक ग्रास भोजन किया जाता है. इस के बाद कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन 14 ग्रास, दूसरे दिन 13 ग्रास और 15वें दिन अमावस्या को पूर्ण उपवास] (55).

इस के साथ ही उस व्यक्ति की बगलों, गुप्तेंद्रिय, सिर, मूंछों, दाढ़ी, भौंहों तथा

शरीर के रोओं को काट दिया जाए. उस के पैरों और हाथों के नखों को काफी बीच तक काट दिया जाए. तभी वह शुद्ध होगा. (56)

म्लैच्छैर्हृतानां चौरैर्वा कान्तारेषु प्रवासिनाम्
भुक्त्वा भक्ष्यमभक्ष्यं वा क्षुधार्तेन भयेन वा
पुनः प्राप्य स्वकं देशं चातुर्वर्ण्यस्य निष्कृतिः,
कृच्छ्रमेव चरेद् विप्रः तदर्धं क्षत्रियः
चरेत् पादोनं च चरेद् वैश्यः शूद्रः पादेन शुध्यति.

–देवल स्मृति, 45–46

अर्थात जब म्लेच्छों या आक्रमणकारियों, चोरों या जंगलियों द्वारा अपहृत व्यक्ति वहां भूख या भय के कारण वर्जित भोजन करने के बाद अपने देश को लौटे तो उसे अपनी जाति के अनुसार प्रायश्चित्त करना पड़ेगा. ब्राह्मण पूरा कृच्छ्र व्रत करे, क्षत्रिय आधा कृच्छ्र, वैश्य पौना कृच्छ्र और शूद्र एक चौथाई कृच्छ्र व्रत करे.

म्लेच्छैर्हृतानां चौरैर्वा कान्तारे वा प्रवासिनाम्,
भक्ष्याभक्ष्यविशुद्ध्यर्थ तेषां वक्ष्यामि निष्कृतिम्.
पुनः प्राप्य स्वदेशं च वर्णानामनुपूर्वशः,
कृच्छ्रस्यार्धे ब्राह्मणस्तु पुनः संस्कारमर्हति.
पदोनांते क्षत्रियस्तु अर्धोर्धे वैश्य एव च.
पादं कृत्वा तथा शूद्रो दानं दत्वा विशुध्यति.

–विष्णुधर्मोत्तर पुराण 2/73/203–206

शुद्धि भी जाति के अनुसार

अर्थात म्लेच्छों, चोरों और जंगलियों द्वारा अपहृत एवं वर्जित भोजन करने वाला व्यक्ति जब वापस अपने देश में आए तो निम्नलिखित के अनुसार प्रायश्चित्त करे यथा, ब्राह्मण आधा कृच्छ्र एवं फिर से यज्ञोपवीत करे. क्षत्रिय तीन चौथाई कृच्छ्र और फिर से यज्ञोपवित करे, वैश्य चौथाई कृच्छ्र करे एवं शूद्र चौथाई कृच्छ्र करे तथा दान दे.

चाण्डालानां सहस्रैस्तु सूरिभिस्तत्त्वदर्शिभिः,
एको हि यवनः प्रोक्तो न नीचो यवनात्परः.

–पं. शिवदत्त सत्ती शर्मा रचित "शुद्धि विवेचन" 1914 ई. पृ. 10 से उद्धृत

अर्थात तत्त्वों को जानने वाले विद्वानों ने कहा है कि यवन 1000 चांडालों के समान होता है. यवन से नीचे और कोई हो ही नहीं सकता.

बलाद् दासीकृता ये च म्लेच्छचाण्डालदस्युभिः,
अशुभं कारिताः कर्म गवादिप्राणिहिंसनम्.
उच्छिष्टमार्जनं चैव तथा तस्यैव भोजनम्,

खरोष्ट्रविड्वराहाणामामिषस्य च भक्षणम्.
तत्स्त्रीणां च तथा संगं ताभिश्च सह भोजनम्,
मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम्
चान्द्रायणं त्वाहिताग्नेः पराकस्त्वथ वा भवेत्,
चान्द्रायणं पराकं च चरेत् संवत्सरोषितः.
संवत्सरोषितः शूद्रो मासार्धं यावकं पिबेत्,
मासमात्रोषितः शूद्रः कृच्छ्रपादेन शुध्यति.
ऊर्ध्वं संवत्सरात् कल्प्यं प्रायश्चित्त द्विजोत्तमैः,
संवत्सरैश्चतुर्भिश्च तद् भावमधिगच्छति.

–देवल स्मृति, 17-22

अर्थात जब लोग म्लेच्छों, चांडालों एवं दस्युओं (डाकुओं) द्वारा बलात दास बना लिए जाएं और उन से गंदे काम कराए जाएं यथा गो आदि पशुओं की हत्या, म्लेच्छों द्वारा छोड़ी गई जूठन को साफ करना, उन का जूठा खाना, गधे, ऊंट एवं गांवों में मिलने वाले सूअर का मांस खाना, म्लेच्छों की स्त्रियों से संभोग या उन के साथ भोजन करना आदि तो इस अवस्था में एक मास तक रहने वाले द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए प्रायश्चित्त केवल प्राजापत्य व्रत है.

वैदिक अग्नि में हवन करने वालों का, यदि वे एक मास या कुछ समय तक इस स्थिति में रहे हों, चांद्रायण अथवा पराक व्रत (इस में 12 दिनों तक बिना भोजन किए रहना पड़ता है) करने से प्रायश्चित्त होता है. एक वर्ष उक्त स्थिति में रह जाने वाला चांद्रायण एवं पराक दोनों व्रत करे. एक मास तक रहने वाला शूद्र कृच्छ्रपाद व्रत करे (इस में व्यक्ति पहले दिन केवल एक बार, अगले दिन केवल रात में, तीसरे दिन बिन मांगे मिल जाए तो भोजन कर ले, अन्यथा नहीं और चौथे दिन पूर्ण व्रत रखे).

इस स्थिति में एक वर्ष तक रहने वाला शूद्र यावक पान (गोबर में से जौं ढूंढ़ कर, उन्हें उबाल कर सात या 15 या 30 दिन खाना) व्रत करे. यदि उपर्युक्त स्थितियों में म्लेच्छों के साथ रहते एक वर्ष से ज्यादा समय बीत जाए तो विद्वान ब्राह्मण ही निर्णय दे सकते हैं. यदि उन के साथ रहते चार वर्ष हो जाएं तो वह उन जैसा ही हो जाता है.

पराजय का कारण केवल धर्म

प्रायश्चित्त विवेक (लेखक का समय 1375/1440 ईसवी) में कहा गया है: चार वर्ष बीत जाने पर मृत्यु ही पवित्र कर सकती है (पृ. 456)

यहां यह बताने की जरूरत नहीं कि हर हिंदू को यह पूरी तरह स्पष्ट था कि आक्रमणकारी मुसलमान उसे पकड़े जाने पर बुरी तरह जलील करेंगे, उसे दास बनाएंगे या आगे बेच देंगे, उस से अपनी जूठन उठवाएंगे और उसे खिलवाएंगे भी. इस बात का तो कोई पागलपन की सीमा तक आशावादी भी स्वप्न नहीं देख सकता था कि उस के लिए गोबर का चौका लगा कर, साफ धोती और जनेऊ पहन कर

रसोईया शुद्ध हिंदू भोजन बनाएगा और वह धार्मिक नखरों से उसे खा कर अपने 'धर्म' की रक्षा कर सकेगा.

अतः हर हिंदू युद्धबंदी बनने की अपेक्षा मृत्यु को प्राथमिकता देता था और युद्ध में बंदी बन कर हिंदू वापसी पर, यदि वह कभी संभव हो, हिंदू धर्म और हिंदू समाज के हाथों जलील होता था; क्योंकि उपर्युक्त प्रायश्चित्तों के बावजूद उस का; सामाजिक बहिष्कार यथापूर्व बना रहता था. न उस के साथ किसी हिंदू का रोटीबेटी का संबंध रहता था, न कोई उस के दुख का साथी बनता था, न सुख का; क्योंकि निम्नलिखित प्रकार की धर्मशास्त्रीय उक्तियां सदा हिंदुओं का मार्गदर्शन करती रहीं:

कृतेऽपि प्रायश्चित्ते न व्यवहार्यता.

–पं. कालूराम शास्त्री रचित 'शुद्धि निर्णय,' 1926 ईसवी, पृ. 7 से उद्धृत

अर्थात प्रायश्चित्त कर लेने पर भी व्यवहार बंद रहेगा.

विशुद्धानपि धर्मतः न संवसेत्

–मनु 11/190

अर्थात जिन्होंने प्रायश्चित्त कर लिया हो, उन से भी किसी प्रकार का संपर्क न रखें.

संवसेन्न तु, चीर्णव्रतानपि

–याज्ञवल्क्य स्मृति 3/298

अर्थात प्रायश्चित्त कर लेने से जिन के पाप कमजोर पड़ गए हों, उन लोगों से भी सामाजिक संबंध न रखें.

गैरवाजिब धार्मिक प्रतिबंध समाप्त किए जाएं

धार्मिक प्रतिबंधों के कारण जिस देश की आबादी का केवल एक वर्ग ही शस्त्रों को छू सकता हो (केवल क्षत्रिय, उन में से भी केवल युवा लड़ेंगे, वृद्ध, बच्चे और स्त्रियां नहीं.) और ऊपर से उस की भी टांग धर्म बराबर पीछे को खींच रहा हो, उस का कदमकदम पर मनोबल गिरा रहा हो, उस देश की विदेशी आक्रमणकारियों से रक्षा हो ही कैसे सकती है? ऐसे में उन आक्रमणकारियों द्वारा उस धर्म के न अपनाने व विनाश को ले कर हायतोबा मचाने का अर्थ ही क्या रह जाता है? होना तो चाहिए इस के बिलकुल विपरीत. ऐसे धर्म के 'स्वर्ग सिधारने' पर होना चाहिए हर्ष, न कि शोक; क्योंकि उस की मृत्यु में ही उस के अनुयायियों का नवजीवन निहित है.

हिंदू धर्म और भारतीय कानून

कई बार ऐसे समाचार पढ़ने को मिलते हैं कि अमुक व्यक्ति पर भारतीय दंड संहिता के मुताबिक मुकदमा चलाया जा रहा है, क्योंकि उस ने ऐसा लेख लिखा है जिस से हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंची है. ऐसे समाचार प्रायः हिंदू धर्म और भारतीय कानून के आपसी संबंधों के विषय में सोचने के लिए विवश कर देते हैं और यह प्रश्न दिमाग में प्रायः चक्कर काटने लगता है कि कानून तो खुद हिंदू धर्म के उलट है, फिर हिंदू धर्म को ठेस पहुंचाने के नाम पर मुकदमा कैसा?

इस स्थिति को निम्नलिखित कुछ उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है:

हिंदू धर्मशास्त्रों में बालविवाह के बहुत गुण गाए गए हैं. संवर्त स्मृति में कहा गया है:

अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी.
दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च.
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्
तस्माद्विवाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्.
विवाहो ह्यष्टवर्षाया: कन्यायास्तु प्रशस्यते

–संवर्त स्मृति, 66-68

अर्थात आठ वर्ष की कन्या 'गौरी' तथा नौ वर्ष की 'रोहिणी' और 10 वर्ष की अवस्था में इस की संज्ञा 'कन्या' होती है. इस के पश्चात कन्या रजस्वला (मासिक धर्म वाली) कहलाती है. जिस के घर में बिना विवाहिता रजस्वला कन्या मौजूद है, वह घर मानो कलंकित है. उस कन्या के माता, पिता और भाई ये तीनों ही अविवाहित रजस्वला कन्या को देख कर नरक को जाते हैं. इस कारण कन्या के ऋतुमती होने अर्थात उस का मासिकधर्म शुरू होने से पहले ही उस का विवाह कर देना चाहिए. अष्टम वर्ष में कन्या का विवाह होना प्रशंसनीय है.

एक दूसरे धर्मशास्त्र 'पराशर स्मृति' में कहा गया है:

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे य: कन्यां न प्रयच्छति.
मासि मासि रजस्तस्या: पिबन्ति पितर: स्वयम्

–पराशर स्मृति, 7/7

अर्थात कन्या की आयु 12 वर्ष की होने पर भी जो पिता उस का विवाह नहीं करता, वह प्रतिमास उस के मासिक धर्म का रक्त पीता है.

एक और धर्मशास्त्र 'वसिष्ठ स्मृति' के 17वें अध्याय में कहा गया है:

पितुः प्रमादात्तु यदीह कन्या,
वयः प्रमाणं समतीत्य दीयते.
सा हन्ति दातारमुदीक्षमाणा,
कालाऽतिरिक्ता गुरुदक्षिणेव
प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयात्पिता
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति
यावच्च कन्यामृतवः स्पृशन्ति–
तुल्यैः सकामामभियाच्यमानाम्.
भ्रूणानि तावन्ति हतानि ताभ्यां–
मातापितृभ्यामिति धर्मवादः

–वसिष्ठ स्मृति, 17/61–63

अर्थात पिता द्वारा कन्यादान होने से पहले यदि कन्याकाल अतीत हो जाए यानी कन्या रजस्वला हो जाए तो ऐसी कन्या कालातिरिक्त गुरुदक्षिणा की तरह दृष्टिमात्र से ही दाता (कन्यादान करने वाले को) को पापग्रस्त करती है. रजस्वला होने के भय से पिता मासिक धर्म शुरू होने से पहले ही कन्यादान करे, क्योंकि ऋतुमती कन्या के अविवाहित रहने से पिता को दोष लगता है. सकाम कन्या के लिए योग्य वर भी मिल रहा है तो भी यदि ऋतुकाल के पहले कन्यादान न किया जाए तो उस कन्या को जितनी बार मासिक धर्म होगा, उतनी बार मातापिता को गर्भपात का पाप लगेगा.

याज्ञवल्क्य स्मृति कहती है:

अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ

–याज्ञवल्क्य स्मृति, 64

अर्थात् जो मनुष्य अपनी कन्या का ऋतुकाल से पहले दान नहीं करता, वह कन्या के प्रत्येक मासिक धर्म होने पर भ्रूणहत्या (गर्भपात) के पाप को प्राप्त होता है.

ऐसे और बहुत से प्रमाण धर्मशास्त्रों से जुटाए जा सकते हैं, जिन से यह सिद्ध होता है कि हिंदू धर्म शास्त्र बालविवाह का अनुल्लंघनीय विधान करते हैं, जबकि वर्तमान कानून 18 वर्ष से छोटी लड़की और 21 वर्ष से छोटे लड़के के विवाह को अपराध घोषित करता है. दूसरे यह धार्मिक विधान भारतीय संविधान की प्रस्तावना में अंकित 'मानवीय अथवा वैयक्तिक गरिमा' के सिद्धांत का बुरी तरह उल्लंघन करता है.

भारतीय संविधान के मुताबिक छुआछूत का विचार अपराध है (अनु. 17). किसी के साथ जाति के आधार पर भेदभावपूर्ण व्यवहार भी कानूनन मना है (देखें, भारतीय संविधान, अनुच्छेद 15 (2)). लेकिन हिंदू धर्मशास्त्रों में छुआछूत और जाति के आधार पर भेदभावपूर्ण व्यवहार करने का विधान है. 8 जनवरी, 1979 को ज्योतिर्मठ के शंकराचार्य ने इस जातिभेद (वर्णाश्रम धर्म) का समर्थन किया था. पुरी के शंकराचार्य तो बहुत बार इस की वकालत कर चुके हैं. धर्मशास्त्रों में लिखा है:

चाण्डालं पतितं स्पृष्ट्वा शवमन्त्यजमेव च.
उदक्यां सूतिकानारीं सवासः स्नानमाचरेत्..

–संवर्त स्मृति, श्लोक 184

अर्थात चांडाल (भंगी ?), पतित, मुरदा, अछूत, रजस्वला और दस दिन के भीतर सूतिका स्त्री का स्पर्श करने वाला वस्त्रों सहित स्नान करे.

असंस्पृष्टेन संस्पृष्टः स्नानं तेन विधीयते..

–अत्रि स्मृति, श्लोक 73

अर्थात अस्पृश्य चांडालादि जातियों से स्पर्श करने वाले मनुष्य को स्नान का विधान है.

चाण्डालश्वपचैः स्पृष्टे निशि स्नानं विधीयते.

–यम स्मृति, श्लोक 64

अर्थात चांडाल तथा श्वपच (कुत्ते का मांस पकाने वाली) जाति का आदमी यदि रात में भी छू ले तो द्विजातियों (शूद्रों को छोड़ कर शेष सब लोग) को स्नान करना चाहिए.

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा.
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति..

–मनुस्मृति, 6/85

अर्थात चांडाल, रजस्वला, पतित, प्रसूता स्त्री और शव को छूने वाले की स्नान करने से शुद्धि होती है.

चाण्डालश्वपचानान्तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः.
–अपपात्राश्च कर्तव्याः

–मनु. 10/51

अर्थात चांडाल और श्वपच, इन का वास गांव से बाहर हो. इन के पात्र स्पर्श न किए जाएं.

रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च..

–मनु. 10/54

अर्थात उपर्युक्त जातियों के लोग रात्रि में गांव और नगर में न घूमें.

दिवाचरेयु: कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः..

–मनु. 10/55

अर्थात दिन में भी राजकीय चिह्नों से चिह्नित हो कर अपने कार्य के लिए जाएं.

चाण्डालदर्शने सद्य आदित्यमवलोकयेत्.
चाण्डालस्पर्शने चैव सचैलं स्नानमाचरेत्..

–पराशर स्मृति, 6/24

अर्थात चांडाल के दर्शन कर के सूर्य के दर्शन करे, तब शुद्धि होती है. और चांडाल का स्पर्श कर के वस्त्रों सहित स्नान करने से शुद्धि होती है.

ये धार्मिक विधान न केवल संविधान के अनुच्छेद 15 (2) के नितांत विपरीत हैं, बल्कि संविधान की मूलभूत इनसानी गरिमा के भी बिलकुल उलट हैं.

पति के मर जाने पर स्त्री विधवा हो जाती है. भारतीय कानून विधवा को पुनर्विवाह से नहीं रोकता. यदि कोई विधवा विवाह करना चाहे तो कर सकती है. परंतु हिंदू धर्म के मुताबिक विधवा को विवाह का कोई अधिकार नहीं. उस के लिए धर्मशास्त्रों में स्पष्ट आदेश हैं:

न विवाहविधावुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः.

–मनुस्मृति, 9

अर्थात विवाह विधि में विधवा का पुनः विवाह करना कहीं नहीं बताया गया.

सकृत्कन्या प्रदीयते.

–मनु. 9

अर्थात कन्या का दान अर्थात विवाह एक ही बार किया जाता है, दो बार नहीं.

कामन्तु क्षपयेद् देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः.
न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु..

–मनु. 5

अर्थात पति की मृत्यु के अनंतर स्त्री पुष्प, मूल और फल खा कर ही जीवन धारण करे. अपने पति के सिवा अन्य पुरुष का कभी नाम तक न ले.

मानवीय गरिमा के विरोधी इस आदेश के विरुद्ध ईश्वरचंद्र विद्यासागर आदि के अनथक प्रयासों के परिणामस्वरूप विधवा-विवाह का प्रचलन हुआ, लेकिन आज़ तक धार्मिक आदेशों के कारण इसे घटिया समझा जाता है.

भेदभावपूर्ण व्यवहार

भारत के कानून के मुताबिक किसी व्यक्ति को सिर्फ जाति के आधार पर किसी काम के अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता. (अनुच्छेद 15 (2 क)) परंतु हिंदू धर्मशास्त्र इस के बिलकुल विपरीत आदेश देते हैं. अनुसूचित जातियों व जनजातियों या पिछड़ी जातियों के लोगों के बारे में, जिन्हें धर्मशास्त्रों में शूद्र कहा गया है, धर्मशास्त्रों के आदेश हैं:

अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे
जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद:.

–गौतम धर्मसूत्र 2/3/4

अर्थात यदि शूद्र किसी को वेद पढ़ते सुन ले तो उस के कानों में पिघला हुआ रांगा/सीसा और लाख डाल देनी चाहिए. यदि शूद्र वेदमंत्र का उच्चारण करे तो उस की जीभ कटवा देनी चाहिए. यदि शूद्र वेद को याद कर ले तो उस का शरीर चीर डालना चाहिए.

यहां जाति के आधार पर पुस्तक विशेष को पढ़ने से रोकने का सख्त विधान है. किसी व्यक्ति को जाति के आधार पर विशेषाधिकार देना और किसी दूसरे व्यक्ति को उस की जाति के आधार पर किसी अधिकार से वंचित करना भारतीय संविधान के सर्वथा विपरीत है (15 (2 क)), अतः अपराध है. लेकिन हिंदू धर्मग्रंथ इस का विधान करते हैं:

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुव:.
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्र: कथंचन..

–मनुस्मृति 8/20

अर्थात ब्राह्मण चाहे अयोग्य ही हो, सिर्फ वही धर्म का प्रवक्ता अर्थात न्यायाधीश बन सकता है. शूद्र चाहे योग्य ही क्यों न हो, न्यायाधीश बनने का अधिकारी नहीं है.

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्.
तस्य सीदति तद् राष्ट्रं पंके गौरिव पश्यत:

–मनुस्मृति 8/21

अर्थात जिस राजा के राज्य में शूद्र न्यायाधीश होता है, उस का राज्य मुसीबत में फंस कर ऐसे दुखी होता है, जैसे कीचड़ में धंसी हुई गाय.

भारतीय संविधान में सब के लिए, वे चाहे किसी जाति के हों, समान अपराध के लिए समान दंड का विधान है (देखें, अनुच्छेद 14), लेकिन हिंदू धर्म ग्रंथों का मत है:

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्ड: कार्यो विजानता.
ब्राह्मणे साहस: पूर्व: क्षत्रिये त्वेव मध्यम:..

–मनु. 8/276

अर्थात ब्राह्मण और क्षत्रिय यदि एकदूसरे की निंदा करें तो राजा ब्राह्मण को 250 पण (पुराने समय का सिक्का) से और क्षत्रिय को 500 पण से दंडित करे.

भारतीय संविधान के मुताबिक किसी भी व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति की संपत्ति छीनने का अधिकार नहीं है. अनुच्छेद 31 (1) में हर व्यक्ति को संपत्ति का कानूनी अधिकार प्राप्त है; लेकिन हिंदू धर्म ग्रंथों का निर्देश है:

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनांगेन यज्वनः.
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि..
यो वैश्य स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः.
कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद् यज्ञसिद्धये..

–मनुस्मृति 11/11-12

अर्थात यज्ञ करते हुए ब्राह्मण का यदि धनाभाव के कारण एक अंग से यज्ञ पूरा न हो रहा हो तो राजा के धर्मात्मा होने पर, वह यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण वैश्य के घर से आवश्यक चीजें ला सकता है. यदि वह मांगने पर न दे तो बलात्कार व चोरी द्वारा ब्राह्मण उन्हें प्राप्त करे. धर्मात्मा राजा ऐसे काम के लिए ब्राह्मण को दंडित न करे. (देखें, मनुस्मृति, मणिप्रभाटीका, पृ. 596)

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः.
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः..

–मनुस्मृति 11/13

अर्थात यदि यज्ञ दो या तीन अंगों से, धनाभाव के कारण, पूरा न हो रहा हो तो उस की पूर्णता के लिए वैश्य के यहां से धन न मिलने पर ब्राह्मण बलात्कार या चोरी से धनवान शूद्र के यहां से धन लाए. (मणिप्रभाटीका, पृ. 596)

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्, द्रव्योपादानमाचरेत्..

–मनु. 8/417

अर्थात ब्राह्मण के लिए उचित है कि वह शूद्र का धन बिना किसी भय व संकोच के ले ले, क्योंकि शूद्र का अपना कुछ भी नहीं है.

ये और ऐसे ही दूसरे धर्मशास्त्रीय आदेश देश के कानून के सर्वथा विपरीत हैं.

नियोग के नाम पर व्यभिचार

सभ्य संसार के दूसरे लोगों की तरह भारत के लोग और भारत का कानून व्यभिचार को घृणित अपराध मानते हैं. व्यभिचार का अर्थ है पति या पत्नी के जीवित व मृत होने की स्थिति में किसी अन्य स्त्री या पुरुष से अवैध रूप में यौनसंबंध स्थापित करना. लेकिन हिंदू धर्मशास्त्रों में इस व्यभिचार को 'नियोग' के नाम पर वैध करार दिया गया है. स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपनी पुस्तक 'सत्यार्थप्रकाश' (चतुर्थ समुल्लास) में इस प्रथा का विस्तार पूर्वक पूर्ण समर्थन

किया है. उन्होंने वेदों और मनुस्मृति के प्रमाण उपस्थित कर के इस की वैधता प्रतिपादित की है.

'गौतम धर्मसूत्र' में लिखा है:

अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात्

–गौतम धर्मसूत्र 2/9/4

अर्थात विधवा नारी यदि संतान प्राप्त करना चाहे तो देवर से संभोग कर के प्राप्त कर सकती है.

पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा

–गौतम धर्मसूत्र 2/9/6

अर्थात यदि देवर न हो या उस से संतान प्राप्त करने की इच्छा न हो तो इन में से किसी से प्राप्त कर ले: सपिंड (अपनी सात पीढ़ियों का कोई व्यक्ति), सगोत्र (जिन का गोत्र समान हो), सप्रवर (एक ही ऋषि को मानने वाले व एक ही ऋषि के वंशज) या अपनी जाति का कोई भी व्यक्ति.

वसिष्ठ धर्मसूत्र (7/56-65) में लिखा है:

विधवा के साथ नियुक्त व्यक्ति को, जो प्रायः उस के मृत पति का भाई होता है, सूर्योदय से 45 मिनट पूर्व अर्थात प्रजापति वाले मंगल मुहूर्त में संभोग करने के लिए जाना चाहिए.

मनुस्मृति (9/59-61) में कहा गया है कि संतानहीन स्त्री अपने देवर या पति के सपिंड से पुत्र उत्पन्न कर सकती है. पुत्रोत्पादक पुरुष को एक (कुछ के मत से दो) पुत्र उत्पन्न करना चाहिए. उस पुरुष के शरीर पर घृत का लेप होना चाहिए:

देवराद् वा सपिण्डाद् वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया.
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये
विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि.
एकमुत्पादयेत्पुत्रं
द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः

–मनुस्मृति 9/59-61

यही बात बौधायन धर्मसूत्र (2/2/68-70) याज्ञवल्क्य (1/68-69) एवं नारद (स्त्रीपुंस, 80-83) में भी पाई जाती है.

इन्हीं आदेशों को मानते हुए कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कानून बनाए. उस का कथन है कि बूढ़े एवं असाध्य रोग से पीड़ित राजा को चाहिए कि वह अपनी रानी का किसी मातृबंधु या अपने किसी सामंत से नियोग करवा कर पुत्र उत्पन्न करा ले. (अर्थशास्त्र 1/17.)

एक अन्य स्थान पर कौटिल्य का कहना है कि यदि कोई ब्राह्मण बिना सन्निकट उत्तराधिकारी के मर जाए तो उस की पत्नी का किसी सगोत्र या मातृबंधु (मां की

तरफ से जो रिश्तेदार हो यथा मामा आदि) से नियोग करवाना चाहिए. उस से उत्पन्न पुत्र उक्त ब्राह्मण की जायदाद प्राप्त करेगा. (अर्थशास्त्र 3/6).

नियोग की यह व्यभिचारनुमा धार्मिक रस्म इनसानी गरिमा के सिद्धांत का भी हनन करती है, क्योंकि इस में स्त्री को बच्चे पैदा करने की मशीन मात्र बना दिया गया है.

सती प्रथा

सती प्रथा एक क्रूर प्रथा रही है, जिसे धर्म के नाम पर सदियों से बनाए रखा गया. राजा राममोहन राय जैसे सुधारकों के अनथक प्रयासों के परिणामस्वरूप इसे कानूनन अपराध घोषित किया गया था. यह प्रथा मनुष्य हत्या करने के समान है. यह इनसानी गरिमा के विरुद्ध जाती है तथा लिंग के आधार पर भेदभाव करती है (देखें भारतीय संविधान अनुच्छेद 15-21 और प्रस्तावना). लेकिन हिंदू धर्म ग्रंथों में इस का शिकार बनने वाली स्त्रियों को बहुत से सब्जबाग दिखाए गए हैं, ताकि वे धार्मिक उन्माद और मिथ्या महत्त्वाकांक्षा के वशीभूत हो कर अपने को जीवित जलाए जाने के लिए पेश करें. यह भारतीय दंड संहिता की धारा 108 (2) तथा धारा 120 (क और ख) के अधीन अपराध है. आज भी धार्मिक आदेशों के असर के अधीन सती करने व होने की खबरें समाचारपत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं.

इस संदर्भ में विष्णु स्मृति में कहा गया है:

नारी भर्तारमासाद्य यावन्न दहते तनुम्.
तावन्न मुच्यते सा हि स्त्रीशरीरात् कथंचन..

अर्थात पति को पकड़ कर जब तक स्त्री उस के साथ अपने को आग में नहीं जलाती, तब तक उस का न स्त्री शरीर से छुटकारा होता है और न उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है.

एक अन्य धर्मशास्त्र में सती प्रथा के नाम पर आत्महत्या करने के लिए स्त्रियों को बहकाते हुए लिखा है:

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे.
तावत्कालं वसेत्स्वर्गं भर्तारं यानुगच्छति..
व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात्.
तद्वदुद्धृत्य सा नारी सह तेनैव मोदते..
–पराशर स्मृति 4/32-33, ब्रह्मपुराण एवं गौतमी माहात्म्य (10/76,74)

तत्र सा भर्तृपरमा स्तूयमनाप्सरोगणैः.
क्रीडते पतिना सार्धं यावदिन्द्राश्चतुर्दश..
ब्रह्मघ्नो वा कृतघ्नो वा मित्रघ्नो वा भवेत्पतिः.
पुनात्यविधवा नारी तमादाय मृता तु या..
मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्हुताशनम्.

सारुन्धतीसमाचारा स्वर्गलोके महीयते..
यावच्चाग्नौ मृते पत्यौ स्त्री नात्मानं प्रदाहयेत्..
तावन्न मुच्यते सा हि स्त्रीशरीरात्कथंचन..

–याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/86, पर मिताक्षरा, अपरार्क, पृ. 110, शुद्धितत्त्व, पृ. 234

अर्थात जो नारी पति की मृत्यु का अनुसरण करती है, उस के साथ ही चिता में जल जाती है, वह मनुष्य के शरीर पर जितने रोम होते हैं, उतने वर्षों तक यानी साढ़े तीन करोड़ वर्षों तक स्वर्ग में विराजती है. जिस प्रकार सपेरा सांप को उस के बिल में से खींच लेता है, उसी प्रकार सती होने वाली स्त्री अपने पति का उद्धार करती है और उस के साथसाथ कल्याण पाती है. वहां अर्थात स्वर्ग में वह पति के साथ तब तक खेलती है, जब तक 14 इंद्र रहते हैं. वहां अप्सराएं उस की प्रशंसा करती हैं. पति चाहे ब्रह्मचारी हो, चाहे कृतघ्न हो, चाहे मित्रघाती हो, यदि उस की पत्नी उस के साथ जीवित जल मरे तो वह पति को पवित्र बना देती है. मृत पति के साथ जो नारी अग्नि में प्रवेश करती है, वह अरुंधती के समान स्वर्ग में यश पाती है. जब तक नारी मृत पति के साथ नहीं जलती, तब तक उस का स्त्री शरीर से छुटकारा नहीं अर्थात स्त्री के रूप में अपने दोबारा जन्मने को रोकने के लिए स्त्री को सती होना ही चाहिए.

एक अन्य धर्मशास्त्र में लिखा है:

मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता
या स्त्री मृतं परिष्वज्य दग्धा चेद्धव्यवाहने.
सा भर्तृलोकमाप्नोति हरिणा कमला यथा
साध्वीनामिह नारीणामग्निप्रपतनादृते.
नान्यो धर्मोऽस्ति विज्ञेयो मृते भर्तरि कुत्रचित्

–वृद्धारीत स्मृतिः 11/199-200,202

अर्थात जो स्त्री मृत पति के साथ मर जाती है, उसे पतिव्रता समझना चाहिए. जो स्त्री मृत पति का आलिंगन कर अग्नि में प्रवेश करती है, वह पतिलोक को प्राप्त करती है, जैसे विष्णु के साथ लक्ष्मी. भली स्त्रियों के पास इस के सिवा और कोई चारा नहीं कि वे मृत पति के साथ आग में कूद पड़ें.

स्पष्ट है कि हिंदू धर्म ग्रंथ स्त्रियों को सती निरोधक कानून के विरुद्ध एक तरह से बहकाते हैं. जब सती प्रथा कानूनन बंद कर दी गई है और उसे अपराध घोषित कर दिया गया है तब सती प्रथा को फैलाने और प्रोत्साहित करने वाले ग्रंथों को धर्मशास्त्र किस प्रकार माना जा सकता है?

नर हत्या

मनुष्य हत्या कानूनन अपराध है (भारतीय दंड संहिता, धारा 300). किसी भी

मनुष्य को मारने का किसी को अधिकार नहीं. संविधान की प्रस्तावना में व्यक्ति की गरिमा बनाए रखने की बात कही गई है. लेकिन हिंदू धर्म ग्रंथों में लिखा है:

ब्राह्मणराजन्ययोरतिष्ठाकामयो:
पुरुषमेधसंज्ञको यज्ञो भवति.

–यजु. 30/2 पर महीधर भाष्य

अर्थात जो ब्राह्मण या क्षत्रिय देवताओं से भी ऊंचे रुतबे तक पहुंचना चाहते हों, उन्हें पुरुषमेध (ऐसा यज्ञ जिस में पुरुष की बलि दी जाती है) यज्ञ करना चाहिए.

इसी तरह एक दूसरे धर्मग्रंथ 'देवी भागवत' में कहा गया है:

प्रार्थनीयस्त्वया पुत्र कस्यचिद्विजवादिन:.
द्रव्येन देहि यज्ञार्थं कर्त्तव्योऽसौ पशु: किल..

–देवी भागवत 6/3

अर्थात द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का पुत्र यज्ञ में पशु की तरह मेरे लिए बलि चढ़ाने से तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा.

ब्रह्मवैवर्त पुराण में तो इस पैशाचिक लीला का अथ से इति तक विधिविधान भी लिखा मिलता है. काफी हद तक यह विधान आज भी नरबलियों के लिए अपनाया जाता है.

पितृमातृविहीनं च युवकं व्याधिवर्जितम्.
विवाहितं दीक्षितं च परदारविहीनकम्..
अजारजं विशुद्धं च सच्छूद्रमूलकं वरम्.
तद्बंधुभ्यो धनं दत्वा क्रीतं मूल्यातिरेक्त:..
स्नापयित्वा च तं धर्मी सम्पूज्य वस्त्रचन्दनै:
माल्यैर्धूपैश्च सिन्दूरैर्दधिगोरोचनादिभि:..
तं च वर्षं भ्रामयित्वा चरद्वारेण यत्नत:.
वर्षान्ते च समुत्सृज्य दुर्गायै तं निवेदयेत्..
अष्टमीनवमीसन्धौ दद्यान्मायातिमेव च.
इत्येवं कथितं सर्वं बलिदानं प्रसंगत:..
बलिं दत्वा च स्तुत्वा च धृत्वा च कवचं बुध:.
प्राणम्य दंडवद् भूमौ दद्यात् विप्राय दक्षिणाम्..

–ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृति खंड 2/64/101–106

अर्थात बलिदान देने वाले को चाहिए कि वह एक ऐसा युवक लाए जिस के मां बाप न हों, उसे कोई शारीरिक रोग न हो, वह विवाहित हो, उस का परनारी से संबंध न हो अर्थात वह सदाचारी हो, व्यभिचार से उस का जन्म न हुआ हो. उस के बंधुओं को विशेष धन दे कर उस युवक को खरीद ले. उस बलि दिए जाने वाले युवक को स्नान कराए तथा वस्त्र, चंदन, सिंदूर, दही, गोरोचन आदि से उस की पूजा करे. अपने

नौकर द्वारा उसे एक साल तक बाहर इधरउधर घुमाए. वर्ष के अंत में अष्टमी व नवमी की संधि में उस युवक की दुर्गा देवी को बलि चढ़ा दे. इस प्रकार बलिदान का उल्लेख किया गया है. बुद्धिमान पुरुष बलि दे कर, दुर्गा की स्तुति कर के, दुर्गा कवच धारण करे तथा भूमि पर लेट कर दंडवत करे. तत्पश्चात बलिदान करवाने वाले ब्राह्मण को दक्षिणा दे.

इस प्रकार के क्रूर कृत्यों से कहीं मानव विमुख न हो जाए, इसे ध्यान में रखते हुए धर्माचार्यों ने स्पष्ट किया है:

शास्त्रहेतुत्वाद् धर्माधर्मविज्ञानस्य शास्त्राच्च
हिंसानुग्रहात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारित:

—ब्रह्मसूत्र 3/1/25 पर शंकरभाष्य

अर्थात धर्मअधर्म का निर्णय शास्त्रों में किया गया है और उन में हिंसामय यज्ञों को धर्म कहा गया है. अतः यह कृत्य पापरहित है.

इसी ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते हुए भक्ति मार्ग के आचार्य रामानुज का कथन है:

पशोर्हि संज्ञपननिमित्तां स्वर्गलोकप्राप्तिं वदन्तं शब्दमामनन्ति— 'हिरण्यशरीर ऊर्ध्वं स्वर्गं लोकमेति' इत्यादिकम्. अतिशयाभ्युदयसाधनभूतो व्यापार अल्पदु:खदोऽपि न हिंसा, प्रत्युत रक्षणमेव.

अर्थात प्रामाणिक ग्रंथों में कहा है कि जिस पशु आदि की यज्ञ में मुंह नाक बंद कर के हत्या (संज्ञापन) की जाती है, वह सोने का शरीर धारण कर के स्वर्ग को जाता है. इस तरह यज्ञ में मारा जाने वाला थोड़ा कष्ट सह कर बहुत लाभ प्राप्त करता है. अत: उस का इस में भला ही है.

क्या ऐसी मानव हिंसा की प्रचारक धर्मपुस्तकें और धर्म के आदेश भारतीय कानून के सरासर विरोधी नहीं?

आत्महत्या की चेष्टा भारतीय कानून के मुताबिक एक दंडनीय अपराध है (भारतीय दंड संहिता, धारा 309). इस अपराध में किसी भी तरह सहायक होने वाले लोग भी अपराधी माने गए हैं. (धारा 108 (2)). परंतु हिंदू धर्म ग्रंथों में धर्म के नाम पर आत्महत्या सराहनीय रूप में पेश की गई है. अति प्राचीन काल से इस का प्रचलन दिखाई पड़ता है. सर्वप्रथम ऋग्वेद में इस का स्वर्ग और धन प्राप्त करने के साधन के तौर पर उल्लेख मिलता है:

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता न:.
स आशिषा द्रविणमिच्छेमान: प्रथमच्छदवरां आ विवेश..

—ऋग्वेद 10/81/1

अर्थात हमारे पिता और होता (हवन करने वाला पुरोहित) विश्वकर्मा प्रथम सारे संसार का हवन कर के स्वयं भी अग्नि में पैठ गए. स्तोत्रादि के द्वारा स्वर्ग व धन की

कामना करते हुए वे प्रथम सारे जगत में अग्नि का आच्छादन कर के तत्पश्चात समीप के भूतों के साथ स्वयं भी हुत हो गए व अग्नि में पैठ गए.

यहां स्पष्ट तौर पर आत्मदाह करने का फल स्वर्ग और धन की प्राप्ति कहा गया है.

वाल्मीकि रामायण में ऐसी ही एक और धार्मिक आत्महत्या का जिक्र है जिस के परिणामस्वरूप आत्मघाती का सर्वोच्च पद को प्राप्त करना बताया गया है और इस आत्महत्या में खुद भगवान (?) राम की भी सहमति है:

एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम्.
यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः.
ततोऽग्निं सुसमाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवित्..
शरभंगो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम्..
स लोकानाहिताग्नीनामृषीणां भावितात्मनाम्.
देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहत्..

–अरण्यकाण्ड, 5/38-40,43

अर्थात 'हे राम, कृपया मेरी ओर तब तक देखते रहो, जब तक कि मैं अपने शरीर को इस तरह त्याग नहीं देता, जिस तरह सांप अपनी केंचुल त्यागता है. तब शरभंग ऋषि ने अग्नि जलाई. उस में विधिवत हवन किया और खुद अग्नि में प्रविष्ट हो गया. वह उन लोकों को लांघ गया जो हवन करने वालों, ऋषियों और महात्माओं को मिलते हैं. वह देवलोक को भी लांघ गया और ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ.

श्रीशैल, प्रयाग और वाराणसी में शिला या आरे पर गिर कर धार्मिक आत्महत्या का प्रचलन भी हिंदू धर्म में शताब्दियों जारी रहा. इन तीर्थों में धर्म के ठेकेदार पंडों द्वारा ये धार्मिक आत्मघातशालाएं खोली हुई थीं. पूजापाठ के पश्चात पूर्ण दक्षिणा ले कर पंडा आत्महत्या के इच्छुक को आरे या शिला पर गिरा देता था. यह आत्महत्या परलोक (?) में स्वर्गप्राप्ति की इच्छा से की जाती थी. यह आत्महत्या 'करवत व्रत' या 'क्रकच व्रत' के नाम से जानी जाती है.

लिंग पुराण (पूर्वार्ध, 92/168-169) तथा कूर्म पुराण (2/37/13-14) का कथन है: 'यदि कोई ब्राह्मण श्रीशैल पर अपनेआप को मार डालता है तो वह अपने पापों को काट डालता है और मोक्ष पाता है, जैसे अविमुक्त (वाराणसी) में ऐसा करने से प्राप्त करता है. इस में कोई संदेह नहीं है.'

आत्महत्या का उपदेश

प्रयाग में गंगायमुना के संगम पर आत्महत्या का तो प्रायः सभी हिंदू धर्म ग्रंथों में उपदेश मिलता है:

न वेदवचनात्तात न लोकवचनादपि.
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति..

(वनपर्व (85/83); नारदीय पुराण (उत्तर, 63/129); पद्म पुराण (आदि, 39/76); अग्नि पुराण (111/8); मत्स्य पुराण (106/22) कूर्म पुराण (1.37.14); पद्म पुराण (33/64).

अर्थात चाहे वेदवचन और लोकवचन निषेध करें तो भी प्रयाग में प्राण त्याग के विचार से टलना नहीं चाहिए, इस का त्याग नहीं करना चाहिए.

इन्हीं वचनों का अनुसरण करते हुए कई इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तियों जैसे यशःकर्णदेव, चंदेल धंगदेव एवं चालुक्य सोमेश्वर ने प्रयाग में आत्महत्याएं की. मगध के राजा कुमारगुप्त और प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट ने गोबर के उपलों की अग्नि में प्रवेश कर आत्महत्या की थी. इसी तरह राजा शूद्रक ने आत्महत्या की थी. ह्वेनसांग (629-645 ईसवी) ने भी धार्मिक आत्महत्याओं का उल्लेख किया है.

कूर्म पुराण में आता है: "वह लक्ष्य जो योगियों या संन्यासियों को प्राप्त होता है, वह उन लोगों को भी प्राप्त होता है जो गंगायमुना के संगम पर प्राण त्यागते हैं. जो भी कोई जानबूझ कर या अनजाने में गंगा में मरता है, वह स्वर्ग में जन्म लेता है और नरक नहीं देखता."

यही बात पद्म पुराण (सृष्टि खंड 60/65) में कही गई है. स्कंद पुराण में वाराणसी में आत्महत्या करने पर मनोवांछित फल प्राप्त होने की बात कही गई है (देखें–काशी खंड, 32/76)

कूर्म पुराण (1/38/3-12) ने चार प्रकार की आत्महत्याओं का उल्लेख किया है और उस से सहस्रों वर्षों तक स्वर्ग लोक में रहने एवं उत्तम फलों की प्राप्ति का आश्वासन दिया है. वे आत्महत्याएं इस प्रकार हैं:

- सूखे उपलों की धीमी अग्नि में अपने को जलाना.
- गंगायमुना के संगम में डूब मरना.
- गंगा की धारा में सिर नीचे कर जल पीतेपीते मर जाना.
- अपने शरीर के मांस को काट काट कर पक्षियों को देना.

आईन ए अकबरी (ग्लैडविन द्वारा अनूदित एवं प्रकाशित, 1800 ई.) में पांच प्रकार की धार्मिक व पुण्यदायिनी आत्महत्याओं का वर्णन है. यथा:

- उपवास कर के मर जाना.
- अपने को करीषों (उपलों) से ढक कर आग लगा कर मर जाना.
- हिम में गड़ कर मर जाना.
- गंगासागर संगम में डूबे रह कर अपने पापों को तब तक गिनते रहना जब तक कि ग्राह (मगरमच्छ) आ कर निगल न जाए.
- गंगायमुना के संगम पर प्रयाग में अपना गला काट कर मर जाना.

कई अर्वाचीन ग्रंथों, यथा गंगा वाक्यावली (पृ. 304-310), तीर्थ चिंतामणि (पृ. 47-52) एवं तीर्थ प्रकाश (346-355), में भी प्रयाग में धार्मिक आत्महत्या करने का विधान है.

प्रयाग या काशी में आत्महत्या कर के मर जाने की भावना धीरेधीरे अन्य तीर्थों

तक फैलती गई. वन पर्व (83/146-147) में पृथूदक (हरियाणा के करनाल जिले में पिहोवा) में आत्महत्या की बात कही गई है. ब्रह्मपुराण (177/25) ने मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले द्विजों को पुरुषोत्तमक्षेत्र में आत्महत्या करने के लिए कहा है. पद्मपुराण (आदि 16/14-15) में नर्मदा एवं कावेरी (एक छोटी नदी, दक्षिण वाली बड़ी नदी नहीं) के संगम पर अग्नि या उपवास से मर जाने पर इसी प्रकार के फल की घोषणा की है.

पढ़ने पर प्रतिबंध

भारत के संविधान में स्त्रियों और सब जातियों के पुरुषों को पढ़ने की आजादी है. किसी को उस के लिंग व उस की जाति के आधार पर पढ़ने से रोका नहीं जा सकता. (अनुच्छेद 15). परंतु हिंदू धर्म ग्रंथों में आता है:

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः.

अर्थात स्त्रियां और शूद्र न पढ़ें, ऐसा वेद वचन है.

इसी तरह के वचनों के परिणाम स्वरूप अभी कल तक लड़कियों को पढ़ाया नहीं जाता था. यह वचन भारतीय संविधान के साक्षात विपरीत है.

अमानवीय प्रतिबंध

भारतीय संविधान (अनु. 15 (2 ख)) के मुताबिक किसी व्यक्ति को सिर्फ जाति के आधार पर सार्वजनिक मेलों, कुओं तथा सार्वजनिक उपयोग की दूसरी चीजों के प्रयोग के अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता. उसे उन के उपयोग के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता. लेकिन हिंदू धर्मशास्त्रों में विभिन्न वर्णसंकर जातियों (अंतर्जातीय विवाहों की संतानों) को सार्वजनिक स्थानों के उपयोग से वंचित रखने के प्रत्यक्षअप्रत्यक्ष आदेश हैं. उदाहरणार्थ, चांडाल और रजस्वला (मासिक धर्म के दिनों नारी) स्त्री को देवमूर्तियों के चरण छूने के अयोग्य करार दिया गया है:

चौरचाण्डालपतितश्वोदक्या स्पर्शने तथा
शवाद्युपहते चैव प्रतिष्ठां पुनराचरेत्..

–सिद्धांतशेखर

अर्थात चोर, चांडाल (शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता की संतान), पतित, रजस्वला स्त्री–इन का स्पर्श होने पर और मंदिर में किसी मनुष्य के मर जाने पर देवमूर्तियों की प्राण प्रतिष्ठा फिर से करें, क्योंकि इन के स्पर्श से वे भ्रष्ट हो जाती हैं.

चाण्डालैरन्त्यजैश्चैव तथान्यप्रतिलोमजैः.
म्लेच्छैश्च नीचपतितैर्गुरुनिन्दादिदूषितैः..
इत्येवमादिभिः स्पृष्टे देवागारे विशेषतः.
स्पृष्टे प्रवेशने बाधा पूजनेऽप्यथदर्शने..

–भृगुसंहिता

अर्थात चांडालों, अंत्यज जातियों, अंतर्जातीय विवाहों की संतानों, म्लेच्छों, नीचों और पतितों के लिए मंदिर को छूने, उस में प्रविष्ट होने, उस में पूजा करने, यहां तक कि उसे देखने का भी निषेध है.

कारिकावृत्ति, (प्रायश्चित्त कांड) में रजस्वला स्त्री और चांडाल का न सिर्फ मंदिर की चारदीवारी में प्रवेश निषिद्ध किया गया है, बल्कि उन्हें मंदिर के मेले में भी न जाने देने का आदेश है. उन्हें रोकने के लिए जनता को तैयार करने के उद्देश्य से कई विपत्तियों के पहाड़ टूट पड़ने का काल्पनिक भय दर्शाया गया है:

रुद्रस्य वाथ विष्णोर्वा प्राकाराभ्यन्तरे यदि:.
रजस्वलावधूश्चैव चाण्डालश्च समागत:..
ततो ग्रामोत्सवे हस्तशताभ्यन्तरतो यदि.
तद्देवस्य कलाहानि: राज्ञो मरणमेव च.
तद्ग्रामस्य क्षय: प्रोक्त: सस्यानां नाशनं ध्रुवम्..

–कारिकावृत्ति

अर्थात यदि चांडाल आदि मंदिर और गांव के उत्सव में जाएंगे तो देवता की शक्ति क्षीण हो जाएगी. राजा की मृत्यु हो जाएगी, फसल तबाह होगी और ग्राम का नाश होगा.

इसी प्रकार कुछ जातियों को सार्वजनिक कुओं से पानी लेने से रोकने के लिए अप्रत्यक्ष तौर पर निषेध करते हुए धर्मशास्त्र का कथन है:

चाण्डालभांडसंस्पृष्टं पीत्वा कूपगतं जलम्.
गोमूत्रयावकाहारस्त्रिरात्राच्छुद्धिमाप्नुयात्..

–पराशर स्मृति 6/25

अर्थात, चांडाल (शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता की संतान) के बरतन का जिस कुएं से स्पर्श हो जाए, उस कुएं का जल यदि कोई पी ले तो वह तीन दिन और तीन रात गोमूत्र पी कर और उस में भीगे हुए जौ खा कर शुद्ध होता है.

यह चांडालों को सार्वजनिक कुओं के उपयोग से वंचित करने का मार्ग है. कौन धार्मिक व्यक्ति उन के स्पर्श से दूषित कुएं का पानी पी कर इतना कठिन प्रायश्चित्त अपने सिर लेगा? यह धार्मिक विधान भारतीय संविधान का ही विरोधी नहीं, बल्कि मानवीय गरिमा के भी प्रतिकूल है.

तलाक का विरोध

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार विशेष स्थितियों में, यथा दुष्ट स्वभाव, मूर्ख, व्यभिचारी, नामर्द होने पर स्त्री अपने पति को तलाक दे सकती है. लेकिन हिंदू धर्म ग्रंथों का आदेश है:

दु:शीलो दुर्भगो, वृद्धो, जड़ो रोग्यधनोऽपि वा. पति: स्त्रीभिर्न हातव्यो..

–भागवत पुराण 10/19/25

अर्थात दुष्ट स्वभाव वाला, वृद्ध, मूर्ख और रोगी पति भी स्त्री को नहीं छोड़ना चाहिए.

ब्रह्मवैवर्त पुराण ने तो अति ही कर दी है. उस में शैव्या अपने कोढ़ी पति को वेश्या के यहां उठा कर ले जाती है, ताकि वह प्रसन्न रहे; क्योंकि पति जैसा भी हो, स्त्री को उस की सेवा करनी ही चाहिए–

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया.

–भागवत 10/29/24

हिंदू विवाह अधिनियम तलाक के बाद स्त्री को नए विवाह की अनुमति देता है, जो मानवीय गरिमा के मद्देनजर एक सराहनीय व्यवस्था है, लेकिन हिंदू धर्मशास्त्रों का आदेश है कि अविवाहिता का ही विवाह हो सकता है. एक बार जिस का विवाह हो चुका है, उस का विवाह दोबारा हो ही नहीं सकता:

पाणिग्रहणिका: मंत्रा: कन्यास्वेव प्रतिष्ठिता:.
नाकन्यासु क्वचित्..

–मनु. 8/226

अर्थात विवाह संबंधी मंत्र कन्याओं के लिए हैं, अकन्याओं (=विवाहिताओं) के लिए नहीं.

सकृत्कन्या प्रदीयते

–मनु. 9/47

अर्थात कन्या का दान एक ही बार होता है, दोबारा नहीं.

अमानवीय धार्मिक विधानों के खिलाफ सख्ती से निबटा जाए

इस तरह के कानून-विरोधी धार्मिक विधानों का प्रचार करने वाले धर्म ग्रंथों, उन के प्रचारकों और प्रसारकों को देश का कानून भंग करने के अपराध में दंडित किया जाना चाहिए. यह धर्म नहीं, अपराध है. भारतीय संविधान के मुख्य शिल्पी डा. अंबेडकर ने शायद इसीलिए कहा था, "हिंदू सभ्यता सभ्यता नहीं, इस का उचित नाम होगा कलंक." (देखें, शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र सरकार, 1990 द्वारा प्रकाशित डा. बाबा साहब अंबेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचेज, जिल्द 7, भाग-2, पृ. 239)

आचार्य आर्यभट्ट

आर्यभट्ट का नाम कुछ अर्से से सुनाई पड़ रहा है. यह नाम अधिक लोगों के लिए भारत द्वारा छोड़े गए उपग्रह का वाचक है. अल्पतर लोग ही यह जानते हैं कि इस उपग्रह का नामकरण भारत के प्राचीनतम खगोलशास्त्री आर्यभट्ट के स्मारक के रूप में किया गया है. आर्यभट्ट पिछले 1,500 वर्षों में भारत में उत्पन्न हुए खगोलविदों में सब से ज्यादा क्रांतिकारी और स्वतंत्र चिंतक था. यह एक दुखद सच्चाई है कि हिंदू रूढ़िवादिता ने इस की इसी स्वतंत्र चेतना और क्रांतिकारिता के कारण इसे विस्मृति के गर्त में फेंकने की कोशिश की. इस के नाम पर जाली पुस्तकें रच कर इस के बारे में भ्रम उत्पन्न करने के प्रयास किए गए.

आचार्य आर्यभट्ट भारत के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है, यद्यपि भारत ने इस का महत्त्व कम करने की हर संभव कोशिश की. इस का जन्म 477 ई. में कुसुमपुर नामक स्थान में हुआ था. इस कुसुमपुर की भौगोलिक स्थिति के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं. कुछ इस से वर्तमान पटना का अर्थ लेते हैं, तो कुछ इसे दक्षिण भारत का शहर बताते हैं.

आर्यभट्ट के दो ग्रंथ कहे जाते हैं–'आर्यभटीय' और 'आर्यभटकरण'. इन में से द्वितीय ग्रंथ आज अनुपलब्ध है. प्रथम ग्रंथ खगोलविद्या-विषयक उपलब्ध ग्रंथों में प्राचीनतम है. यह 120 पद्यों की रचना है, जिसे 23 वर्ष की अल्पवय में रचा गया था. इस में कुल चार पाद (अध्याय) हैं–दशगीतिक, गणित, कालक्रिया और गोल. दशगीतिक में ग्रह, भगण आदि मान हैं. गणित में अंकगणित, बीजगणित, भूमिति और त्रिकोणमिति संबंधी कुछ विषय हैं. इस के अतिरिक्त, इस में संख्याओं के नाम, वर्ग, घनवर्गमूल, घनमूल, त्रिभुज, वृत्त और उन के क्षेत्रफल, घन, गोल और उन के क्षेत्रफल, भुजज्या साधन और भुजज्या संबंधी कुछ विचार, श्रेढी, भिन्नकर्म (अपूर्णांक), त्रैराशिक अथवा बीजगणित संबंधी चामत्कारिक उदाहरण और कुट्टक आदि हैं.

आर्यभट्ट ने अपने समय तक प्राप्त तथ्यों के आलोक में कई नवीन उद्भावनाएं कीं, अपने बारे में आर्यभट्ट का कथन है–

"स्वबुद्धि द्वारा मैं ने शुभअशुभ ज्ञान के समुद्र में डूबा हुआ सत्यज्ञानरूपी रत्न निकाला."

परंतु आर्यभट्ट की ये नवीन उद्‌भावनाएं ही उस के व्यक्तित्व के लिए अभिशाप बन गईं. आर्यभट्ट के समय तक वेद 'ब्रह्मवाक्य' बन चुके थे. कोई भी चीज वेद के अनुमोदन के बिना प्रमाणित नहीं मानी जाती थी. वेदों में पृथ्वी को अचला और स्थिर तथा सूर्य को गतिशील बताया गया है. उन में यह जगहजगह लिखा मिलता है :

य: पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्... स जनास इंद्र

–ऋग्वेद, 2/12/2

अर्थात, हे मनुष्यो, इंद्र ने सृष्टि के आरंभ में कांपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया.

पृथिवी च दृढा येन

–यजुर्वेद, 32/6

अर्थात, जिस देवता ने पृथ्वी को स्थिर किया.

विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्

–अथर्ववेद, 12/1/11

अर्थात, अनेक वर्ण वाली, अचल भूमि की इंद्र रक्षा करता है.

ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्...चरेम

–अथर्ववेद, 12/1/17

अर्थात, अचल भूमि पर हम सर्वदा विचरण करें.

इस तरह के अनेक प्रमाण वेदों से उपस्थित किए जा सकते हैं जिन में पृथ्वी को अचला बताया गया है.

अब देखिए, सूर्य को चल (गतिशील) बताने वाली वेदोक्तियां :–

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्.
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय.

–ऋग्वेद, 1/50/11

अर्थात, हे अनुकूलतेज सूर्य, तू परम उच्च द्युलोक पर चढ़ कर मेरा हृद्रोग दूर कर.

आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च.
हिरण्ययेन सविता रथेना देवा याति भुवनानि पश्यन्.

–यजुर्वेद, 33/43

अर्थात, सूर्यदेव स्वर्णमय रथ पर चढ़ कर देवताओं और मनुष्यों को अपने कार्य में लगाते हुए संपूर्ण लोकों को देखते हुए आते हैं.

ऐसे मंत्र पर्याप्त संख्या में एकत्र किए जा सकते हैं जिन में उपरिलिखित मंत्रों की ही तरह सूर्य को गतिशील कहा गया है.

इस तरह के वेदवाक्यों की विद्यमानता में आर्यभट्ट ने पृथ्वी की गतिशीलता का प्रतिपादन करते हुए लिखा :

प्राणेनैति कला भूः

–आर्यभटीय, आर्या 4

अर्थात, पृथ्वी प्राण नामक काल परिमाण (पल का षष्ठांश) में एक कला चलती है.

आर्यभट्ट की यह उद्‌भावना "उस समय के ज्योतिषियों के लिए एकदम नई थी. इसीलिए उस के बाद ब्रह्मगुप्त (598–660) और लल्ल (लगभग 748 ई.) ने उस का काफी विरोध किया." (देखे, कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, जिल्द 3, पृष्ठ 362).

वेदों की महिमा के लिए सच्चाई दफन

यहां यह स्मर्तव्य है कि 'एकदम नई' होने मात्र से ही आर्यभट्ट की खोज को नहीं दबाया गया, प्रत्युत इसलिए ज्यादा दबाया गया कि वह ब्रह्मवाक्य (?) स्वरूप वेदों के विपरीत थी. भारतीय खगोलज्ञ सभी ब्राह्मण थे. उन की खोज वेद तक सीमित थी. वेदों में कही गई ठीक या गलत बात को सही सिद्ध करना ही उन का उद्‌देश्य रह गया था. अतः प्रायः सभी प्रसिद्ध खगोलज्ञ ब्राह्मणों ने अपनी पूरी शक्ति ऐसी युक्तियां ढूंढ़ने में लगा दी जिन से पृथ्वी को अचला सिद्ध किया जा सके और वेदों की महिमा (?) को बचाया जा सके.

आर्यभट्ट के तुरंत बाद ब्रह्मगुप्त हुआ. उस ने अपनी पुस्तक 'ब्रह्मसिद्धांत' (अध्याय 11) में आर्यभट्ट के शब्दों को ले कर आक्षेप किया और उस पर व्यंग्यबाण छोड़ते हुए लिखा :

'प्राणेनैति कला भूर्यदि तर्हि कुतो वज्रेत् कमध्वानम्.'

अर्थात, यदि आर्यभट्ट का कथन मान लिया जाए कि पृथ्वी एक 'प्राण' में एक कला चलती है, तो वह बताए कि वह कहां से कहां को ज़ाती है?

आर्यभट्ट पर आक्षेप

इस के बाद आर्यभट्ट पर आक्षेपों की झड़ी लगा दी गई. ब्रह्मगुप्त के बाद वराहमिहिर ने कहा : "आर्यभट्ट का यह कथन कि पृथ्वी घूमती है, गलत है, क्योंकि यदि वह घूमती होती तो कोई भी पक्षी अपने घोंसले में न जा पाता." तत्पश्चात लल्लाचार्य नामक प्रसिद्ध खगोलशास्त्री हुआ. उस ने वराहमिहिर की दलीलों में अपनी तरफ से और दलीलें मिला कर आर्यभट्ट पर आक्षेप करते हुए कहा: "यदि पृथ्वी पूर्वाभिमुख घूमती होती तो बादल हमेशा पश्चिम की ओर ही जाते." (वृद्धितंत्र, गोलाध्याय, श्लोक 43).

लल्लाचार्य के बाद भास्कराचार्य उल्लेखनीय खगोलविद् हुआ. उस ने सिद्धांत

रूप में दृढ़तापूर्वक लिखा : "पृथ्वी में गति होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता. जिस प्रकार अग्नि में ज्वलनशीलता और पाषाण में कठिनता स्वाभाविक है, उसी प्रकार पृथ्वी भी स्वभाव से अचल है":

भूरचला स्वभावतो

–सिद्धांत शिरोमणि, गोलाध्याय, श्लोक 5

तात्पर्य यह कि आर्यभट्ट के बाद जितने भी ब्राह्मण खगोलशास्त्री हुए, उन्होंने आर्यभट्ट पर कई आक्षेप किए. जिन में से कई तो स्पष्ट रूप से उन के पीछे काम कर रही दुर्भावना के परिचायक हैं, उन के तर्क तर्क न हो कर कुतर्क हैं.

नई खोज का घोर उपहास

वेद का नाम ले कर आर्यभट्ट की प्रतिभा को बदनाम किया गया, लोगों में उस की खोज का उपहास किया गया. उस के व्यक्तित्व को घोर विस्मृति के तर्क में डाल देने की निंदनीय कोशिशें की गईं.

यदि ये 'ब्रह्मवाक्य' बाधक न बनते, यदि तथाकथित धर्म विज्ञान की राह में रोड़े न अटकाता और आर्यभट्ट के परवर्ती खगोलविद् उसे कोसने के स्थान पर उस के द्वारा प्रदर्शित पथ पर आगे बढ़ते, तो भारत खगोलविद्या के क्षेत्र में आशातीत उपलब्धियों तक पहुंच सकता था; लेकिन 'ब्रह्मवाक्यों' को अंतिम सच्चाई कहने वालों के लिए विज्ञान के तथ्यों का क्या महत्त्व!

कुतर्कों की रक्षा के लिए छलकपट का सहारा

आर्यभट्ट के सिद्धांत को कुछ लोगों ने स्वीकार भी किया. शुरू में उन की संख्या नगण्य थी. लेकिन बाद में यह संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई होगी, ऐसा प्रतीत होता है. ऐसे लोगों को जब आर्यभट्ट के विरोधी तथाकथित तर्कों द्वारा संतुष्ट न कर सके, तो उन्होंने 'धर्म की रक्षा' (?) हेतु छलकपट का आश्रय लिया.

दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (देखें, भारतीय ज्योतिष, पृ. 323) 'आर्यभट्टीय सिद्धांत' नाम का ग्रंथ कुछ ब्राह्मणों ने रचा और यह प्रचार शुरू कर दिया कि आर्यभट्ट का वास्तविक ग्रंथ यही है, न कि 'आर्यभटीय'.

अज्ञानता ने विज्ञान और विद्वान का गला घोंटा

यहां यह स्मर्तव्य है कि इस कपोलकल्पित ग्रंथ में पृथ्वी को 'अचला' सिद्ध किया गया है (देखें, पुराणवर्म, पृ. 304-5). इस प्रकार आगामी पीढ़ियों को आर्यभट्ट के सिद्धांतों से दूर रखने के उद्देश्य से जालसाजी की गई और धोखे से 'धर्म की रक्षा' की गई. हां, विज्ञान और विद्वान का गला घोंट दिया गया.

अज्ञानता साबित हुई तो वेदमंत्रों के अर्थ बदलने लगे

जब पश्चिमी विद्वानों ने पृथ्वी के घूमने का सिद्धांत प्रतिपादित किया और सारे संसार ने उसे स्वीकार भी कर लिया, तब 'ब्रह्मवाक्यों' पर एक बार फिर आफत आई. अतीत में इस्तेमाल किए गए सभी प्रतिरक्षात्मक पग अपर्याप्त सिद्ध हो गए. तब एक नया मार्ग ढूंढ़ा गया. वह यह कि वेदों के अर्थ बदलते चलो और दुनिया में जो नई खोज हो, उसे वेदों में पहले से ही लिखा हुआ सिद्ध कर के वेदों की ब्रह्मवाक्यता को बचाओ.

यह क्रम स्वामी दयानंद से शुरू होता है. जिन दिनों स्वामी दयानंद ने वेदों के अर्थ लिखना शुरू किया, उन दिनों पृथ्वी का घूमना एक सार्वभौम सत्य बन चुका था. ऐसी स्थिति में वेदों की इज्जत तब बचती यदि वे भी पृथ्वी को गतिशील बताते. अतः अर्थपरिवर्तन की प्रक्रिया में स्वामी दयानंद ने यजुर्वेद के एक मंत्र (3/6) का अर्थ करते हुए यह सिद्ध करने की कोशिश की कि वेद पृथ्वी को गतिशील मानते हैं (देखें, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृ. 139); जब कि वेद का उपरिलिखित मंत्र अति स्पष्ट रूप से पृथ्वी को 'ध्रुवा', और 'दृढ़ा' कह कर सूर्य को 'आता है', 'जाता है' कहता है.

यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि वेदों में पृथ्वी के लिए 'निऋतिः' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है. यह नि उपसर्ग पूर्वक ऋच्छ् धातु से बना है और इस का शब्दार्थ ही पृथ्वी को निश्चल बताता है–नि (नहीं) ऋच्छ् (गति). (देखें, निरुक्त 2/7). अतः वेद के अन्य मंत्रों के अर्थों के विपरीत होने के कारण स्वामी दयानंद कृत अर्थ को सही नहीं माना जा सकता. यह अर्थपरिवर्तन तो वेद की डूबती नाव बचाने में सिर्फ तिनके के सहारे की तरह है. मंत्र के वास्तविक अर्थ का तो पृथ्वी के गतिशील होने से दूर का भी संबंध नहीं. यह मंत्र तो अग्नि की स्तुति के विषय में है (देखें पुराणवर्म, पृ. 306).

हिंदू मनोवृत्ति

पिछली शताब्दी से चली आ रही अतीतवादी हिंदू मनोवृत्ति से परिचित कुछ लोग आर्यभट्ट के 'पृथ्वी की गति' के सिद्धांत के प्रति संदेहशील हैं. उन का कहना है कि "जैसे वेदों के मंत्रों का गला दबा कर उन से अणुबम और राकेट निकाले जाते हैं, वैसे ही 'आर्यभटीय' की आर्यायों (छंदों) से बलात्कार कर के 'पृथ्वी चलती है' सिद्ध किया जाता है." ऐसे लोगों से निवेदन है कि वे ऊपर उद्धृत आर्या नं. 4 के शब्दों को देखें–प्राणेन (प्राण नामक काल में) एति (चलती है) कला (एक कला तक) भूः (पृथ्वी). इन्हीं शब्दों को ले कर ब्रह्मगुप्त आदि ने आक्षेप किया है:

"प्राणेनैति कला भूर्यदि तर्हि कुतो व्रजेत् कमध्वानम्?"

अर्थात, यदि प्राण नामक कालपरिमाण में पृथ्वी एक कला तक चलती है तो बताओ वह कहां से कहां को जाती है?

साधारण संस्कृत जानने वाला भी देख सकता है कि इस में हर शब्द का ठीक अनुवाद किया गया है, अपनी ओर से कोई शब्द अध्याहृत नहीं किया गया है. ऐसे में यह कहना नितांत अनुचित है कि 'आर्यभटीय' से बलात्कार कर के 'पृथ्वी चलती है' सिद्ध किया जा रहा है.

धार्मिक गफलत का एक और नमूना

आर्यभट्ट ने 'पृथ्वी की गति' के अतिरिक्त भुजज्या (ज्यार्ध) को भी स्पष्ट किया था. लेकिन उसे चूंकि विस्मृति के गर्भ में डाल दिया गया था, अतः उस का भुजज्या का सिद्धांत भारतीयों ने ग्रहण नहीं किया, उसे जानने की कोशिश तक नहीं की. अब जब यूरोपीय विद्वानों ने 'आर्यभटीय' का अध्ययन किया तो वे यह देख कर हैरान रह गए कि 'भुजज्या' के जिस सिद्धांत का जन्मदाता वे नौवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए अरबी विद्वान अलबटाबी को समझते थे, वह सिद्धांत उस से शताब्दियों पूर्व 'आर्यभट्ट' को ज्ञात था.

आर्यभट्ट: एक व्यक्तित्व

भारत के सांस्कृतिक इतिहास के ज्ञाता ही जानते हैं कि 'आर्यभट्ट' नामक कोई व्यक्तित्व हुआ है. अन्य लोग इस से नितांत अपरिचित हैं. 'आर्यभट्ट' उपग्रह के छोड़े जाने पर पहली बार उन्होंने यह नाम सुना और वह भी सिर्फ उपग्रह के नाम के रूप में, न कि अतीत के उस उपेक्षित परंतु क्रांतिकारी खगोलशास्त्री के नाम के रूप में.

भारत ने अपने प्रथम उपग्रह का नाम 'आर्यभट्ट' रख कर उसे अब सम्मानित किया है, लेकिन उस के प्रति किए गए अत्याचारों, अन्यायपूर्ण कुकृत्यों, छलछद्मों और धर्मयुद्धों (?) का यह अपर्याप्त प्रायश्चित है.

कबीर : क्रांति की चिनगारियां

कुछ वर्ष पूर्व जब दूरदर्शन पर 'कबीर' धारावाहिक का प्रदर्शन/प्रसारण हुआ तो कुछ मठाधीशों ने अदालत का दरवाजा खटखटाते हुए दुहाई दी कि कबीर को केवल एक बुद्धिवादी इनसान के रूप में दर्शाना सरासर गलत है, क्योंकि वह एक चमत्कारी पुरुष, एक अवतार तथा योगशक्ति के मालिक थे.

मार्गदर्शन के प्रकाश पर छाई घनी धुंध

जीवन भर अपने क्रांतिकारी विचारों से समकालीन मठाधीशों की नींद हराम करने वाले कबीर की आधुनिक मठाधीशों द्वारा इस प्रकार 'प्रतिरक्षा' करना कुछ अजीब व इतिहास का एक क्रूर व्यंग्य प्रतीत हो सकता है. परंतु जब हम लेनिन की निम्नलिखित उक्ति को पढ़ते हैं तो सारी बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है:

> लेनिन ने 1917 में 'स्टेट एंड रेवेल्यूशन' पुस्तक में लिखा था, "जो कुछ मार्क्सवाद के साथ हो रहा है, वह क्रांतिकारी विचारकों और संघर्षरत दलित वर्गों के नेताओं के सिद्धांतों के साथ इतिहास में बारबार हुआ है. जब वे क्रांतिकारी जीवित थे, तब शोषक वर्ग ने लगातार उन का पीछा किया, जैसे शिकारी अपने शिकार का करता है. उन के सिद्धांतों के प्रति असभ्यतापूर्ण ढंग से विद्वेष प्रकट किया, उन का मजाक उड़ाया. उन के विरुद्ध तीव्र घृणा, घोर निंदा और झूठ का घटिया अभियान चलाया."
>
> "परंतु जब वे मर गए, तब उन की मूर्तियां बनाई गईं. उन्हें सम्मान दिया गया, ताकि शोषितों को कुछ संतुष्ट किया जा सके, जिस से वे शोषकों के झांसे में आ जाएं. लेकिन ऐसा करते समय उन क्रांतिकारियों के सिद्धांतों व सार तत्त्व को, उन के क्रांतिकारित्व को, भौंड़ा बना दिया जाता है. उन की तेजी को मंद कर दिया जाता है. यानी, नाम लेतेलेते उन्हें नामशेष कर दिया जाता है."

इस में संदेह नहीं कि किसी महापुरुष के नाम पर रोजीरोटी चलाने वाले लोग, जब अपने स्वार्थ के लिए उस के नाम का उपयोग करते हैं तब उस की सारी क्रांतिकारिता को नष्ट कर के उस के सिद्धांतों को वे ऐसा रूप दे देते हैं, जिस के विरुद्ध वह (महापुरुष) सारा जीवन संघर्ष करता रहा होता है.

एक विद्वान ने तो यहां तक कहा है, "जब कुदरत किसी महापुरुष से बदला लेती है तो वह उस के अनुयायी पैदा कर देती है!" यानी इन तथाकथित अनुयायियों के

हाथों ही मार्गदर्शक का सारा प्रकाश घनी धुंध में परिवर्तित हो जाता है. इस से उन के निहित स्वार्थ तो बेरोकटोक पूरे होते रहते हैं, परंतु महापुरुष के विचार जीएं या मरें, इस से उन्हें कोई सरोकार नहीं होता.

मुंह से वे तोते की तरह उस महापुरुष का नाम रटते हैं, ताकि लोग पीछे लगे रहें और लुटने वालों का कारवां बढ़ता रहे. कबीर के संदर्भ में चर्चा करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रवृत्ति को 'घर जोड़ने की माया' नाम दिया है.

कबीर की जो 'वाणी' आज उपलब्ध है, उस में निस्संदेह अनेक ऐसे स्थल हैं, जिन का समर्थन आज के युग का बुद्धिवादी व्यक्ति नहीं कर सकता. उस में बहुत कुछ तो ऐसा है जिसे उन का समकालीन ज्ञान (या अज्ञान) कहा जा सकता है. उस तरह की बातें लगभग सभी संत कवियों ने की हैं. वे ऐतिहासिक महत्त्व की बातें तो हैं, परंतु कबीर के विचारों का महत्त्व केवल उन्हीं बातों के आधार पर नहीं आंका जा सकता.

कबीर की राय में

उन के नाम पर छपी कुछ रचनाओं में ऐसी भी कुछ बातें मिलती हैं, जो निस्संदेह उन की नहीं. कुछ धूर्त लोगों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए कबीर के नाम पर उन्हें प्रचारित किया, ताकि कबीर की प्रतिभा से प्रभावित जनसामान्य उन बातों को स्वीकार कर ले और उन के चंगुल में फंस जाए.

कबीर अपने हाथों से काम कर के अपना पेट भरते थे. अतः उन्हें तो लोगों को अंधेरे में रख कर किसी प्रकार का लाभ नहीं उठाना था. यही कारण है कि उन्होंने अपने विचारों में स्पष्ट बयानी का सहारा लिया.

मानव आदिकाल से परमात्मा (?) का नाम लेता चला आया है. कई लोगों ने उस का दलाल होने का दावा किया. आज भारत में लगभग 200 'प्रथम श्रेणी' के ईश्वरीय दलाल मिलते हैं. लेकिन कबीर ने घोषणा की कि मैं किसी परमात्मा के बारे में कुछ नहीं जानता, क्योंकि वह मुझे कभी दिखाई नहीं दिया. अतः मैं न उसे 'भारी' कह सकता हूं, न 'हलका'.

कबीर के समकालीन दो ही प्रमुख मत थे, हिंदू धर्म और इसलाम. हिंदू तीर्थों व मूर्तियों में और मुसलमान मसजिद में परमात्मा का निवास मानते हैं. परंतु कबीर कहते हैं, "जिस जगह तुम उस के होने की बात करते हो, वहां आज तक उसे देखा तो किसी ने नहीं है. यदि खुदा मसजिद में रहता है तो बाकी जगहें किस की हैं? वहां कौन है? यदि वहां न 'खुदा' है और न 'राम' तो फिर वहां किसी और को ही मानना पड़ेगा."

चक्कर 'आत्मा' और 'परमात्मा' का

कुछ लोग कहा करते हैं कि मरने के बाद जब आदमी स्वर्ग में पहुंचता है तब उसे परमात्मा की प्राप्ति होती है.

कबीर ने कहा, "जो परमात्मा मरने के बाद मिलता है, वह हमारे किस काम का? जब लोहा ही नहीं रहा, तब पारसमणि का क्या लाभ?" (कहा जाता है कि

पारस के छूने से लोहा सोना बन जाता है) परंतु जब लोहा नहीं रहेगा, तब पारस व्यर्थ हो जाएगा.

परमात्मा के बाद 'परलोक' मानव के लिए एक रहस्यमय कल्पना है. इस के विषय में हर धर्म और धर्मगुरु ने अपनेअपने काल्पनिक विचार व्यक्त किए हैं. किसी एक ने उस का लुभावना वर्णन कर के लोगों को प्रलोभन दे कर, अपने पीछे लगाया तो किसी दूसरे ने उस का डरावना वर्णन कर के लोगों को भय दिखा कर, अपने पीछे लगाया.

परंतु कबीर स्पष्ट तौर पर बुद्धिवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं. वह कहते हैं, "इस दुनिया से उस तथाकथित 'दूसरी दुनिया' (परलोक) की ओर सब जाते तो दिखाई देते हैं, परंतु वहां से आजतक कोई भी व्यक्ति इधर नहीं आया, जिस से उस दुनिया के विषय में कुछ पूछ सकूं."

अर्थात परलोक संबंधी बातें उन लोगों की काल्पनिक कहानियां हैं जिन्होंने स्वयं परलोक को कभी देखा तक नहीं.

पाखंडियों पर करारी चोट

कबीर ने अपने समय के पाखंडियों की खबर लेते हुए कहा, "तुम लोग सिर पर उस्तुरा फिरवा कर यह समझते हो कि हम ने बहुत बड़ा काम किया है, हमें बहुत बड़ी प्राप्ति हुई है और हम परमात्मा (?) के निकट पहुंच गए हैं. लेकिन यह तुम्हारा भ्रम है. यदि ऐसा होता तो भेड़ सीधे स्वर्ग पहुंच जाती, जिसे बारबार मूंड़ा जाता है. केशों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो उन्हें ही सदा मूंड़ते रहते हो. केशों को काटने के स्थान पर मानसिक विकारों के जंगल को काटो."

आज कबीर के जो चित्र उन के तथाकथित अनुयायियों ने प्रकाशित करा रखे हैं, उन में एक माला उन के गले में होती है और एक सिर के गिर्द. उन के हाथों में भी एक माला दिखाई देती है या फिर उन्हें हाथों के पोरों की गिनती करते दिखाया जाता है, जबकि कबीर इस तरह के ढोंग के प्रबल विरोधी थे.

यह उन्होंने ही कहा थाः

"माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर.
कर का मनका डारि दे, मन का मनका फेर."

कबीर ने उन लोगों की खूब खबर ली जो सिर पर जटाएं रख कर, शरीर पर राख मल कर या जंगलों में आश्रम बना कर यह समझते हैं कि हम बहुत ऊंचे हो गए. हम ने बहुत बड़ा काम कर लिया. आज भी जटाओं वाले, राख मलने वाले या गेरुए रंग के वस्त्रों वाले लाखों की तादाद में भीख मांगते फिरते हैं. मानसिक तौर पर वे सब ऊंचे स्तर के नहीं होते. एक आम गृहस्थ आदमी रोटी कमाने या धन संग्रह करने के लिए जो कुछ करने को तैयार हो जाता है, कई बार ये उस से भी नीचे के स्तर तक गिर जाते हैं.

ऐसा कबीर के समय में भी था. इसलिए उन्होंने कहा, "जटा रखने, राख मलने

और गुफा में रहने से क्या होता है? अपने मन को जीतना ही जग को जीतना है. भिखारी सदा उदास रहते हैं."

तोता रटंत और मुर्गे की बांग दोनों ही झूठे स्वांग

कबीर के समय में भी आज की ही तरह, हिंदू अपने धर्मग्रंथों को और मुसलमान अपनी धर्म पुस्तकों को तोते की तरह रटने या मुर्गे की तरह ऊंचे स्वर में उन का पाठ करने को, बहुत बड़ी चीज समझते थे. कबीर ने इस का भी प्रबल विरोध किया.

उन्होंने कहा, "वेदपुराण को पढ़ने से कोई लाभ नहीं, जिस तरह गधे को चंदन का गट्ठर ढोने से कोई लाभ नहीं होता."

इसी प्रकार उन्होंने कुरान के विषय में कहा, "काजी पता नहीं कब से कुरान पढ़ रहे हैं. परंतु इस से उन्हें कोई ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ"

धर्म के नाम पर होती हत्याएं

हिंदू और मुसलमान दोनों धर्म के नाम पर हत्याएं करते रहे हैं, उन हत्याओं को धर्म की क्रूर शब्दावली में 'बलि' कहा जाता है.

कबीर ने हिंदुओं से पूछा, "यदि यज्ञों में या देवीदेवताओं की मूर्तियों के आगे जीवित प्राणियों की हत्या में धर्म निहित है, तो फिर अधर्म क्या होता है?"

मुसलमानों से उन्होंने कहा, "तुम एक तरफ तो धर्म के नाम पर दिन भर रोजा रखते हो और दूसरी ओर रात को गाय काटते हो, फिर भी अपने को 'मिस्कीन' (निरीह) कहलाना चाहते हो. यह क्या तमाशा है?"

अर्थहीन महत्त्व

कबीर ने मूर्तिपूजा का मजाक उड़ाते हुए कहा, "यदि छोटे से पत्थर के टुकड़े की पूजा करने से परमात्मा (?) मिलता है, फिर तो मैं हिमालय को पूजना ज्यादा पसंद करूंगा." कबीर के अनुसार "पूजे जाने वाले पत्थर की अपेक्षा तो चक्की का पत्थर ज्यादा महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारी है. उस की सहायता से लोग अनाज को पीस कर अपना निर्वाह तो कर लेते हैं. यह पूजा जाने वाला पत्थर तो किसी भी काम का नहीं."

जो महत्त्व हिंदू 'पत्थर के भगवान' को देता आ रहा है, वही महत्त्व मुसलमान ईंटपत्थर की बनी मसजिद को देता आ रहा है.

मुसलमानों की इस अंधभक्ति पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा,

"कांकर पाथर जोरि के, मसजिद लई चुनाय,
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, बहिरा हुआ खुदाय."

औचित्य तीर्थस्थलों का

आज भी ऐसे बहुत से लोग मिल जाएंगे जो यह मानते हैं कि तीर्थस्थानों की

यात्रा करने से बहुत कल्याण होता है. अगर किसी तीर्थ स्थान में किसी की मृत्यु हो जाए तब तो उसे सीधे 'स्वर्ग' की प्राप्ति होती है. लोगों की इस भावना का लाभ पंडेपुरोहित खूब उठाते हैं.

कबीर ने कहा, "यह पागलपन है, तुम्हारी बुद्धि का भ्रम है. यदि मैं काशी में मरता हूं, तो मैं परमात्मा (?) पर क्या एहसान करता हूं जो वह मुझे 'स्वर्ग' देने को तैयार हो जाएगा? असल बात मन की पवित्रता की है. यदि व्यक्ति मानसिक तौर पर शुद्ध है, यदि उस के विचार ऊंचे हैं तो वह चाहे काशी में मरे, या मगहर (एक गांव का नाम) में, कोई अंतर नहीं पड़ता."

इसी तरह जो लोग तीर्थ स्थानों में जा कर स्नान करने को बहुत बड़ा पुण्य कार्य समझते थे, वे भी कबीर के व्यंग्य बाणों से नहीं बचे.

"नहाय धोय क्या भया, जब मन मैल न जाय,
मीन सदा जल में रहे, धोए बास न जाय."

जिस तरह कबीर ने हिंदुओं की तीर्थयात्रा की निरर्थकता को दर्शाया, उसी प्रकार उन्होंने मुसलमानों की हजयात्रा पर व्यंग्य करते हुए कहा, "चाहे कितनी बार हज करने जाओ, वहां का पीर मुंह से कभी किसी को नहीं बताएगा कि तुम में यह दोष है. फिर स्वयं को परिष्कृत कैसे किया जा सकता है?"

कीर्तन व जागरण करने वालों को कबीर ने 'सिर ऊंचा कर के शोर मचाने वाले अज्ञानी' बताया.

जो लोग स्वयं को 'वैष्णव' कहलाना बड़े सम्मान की बात समझते थे, उन की निंदा करते हुए कबीर ने कहा:

"बैसनौं भया तौ का भया, बूझा नहीं विवेक,
छापा तिलक बनाइ करि, दग्ध्या लोक अनेक."

कबीर ने धर्म के धंधेबाज साधुओं की कलई खोलते हुए कहा, "ये वेशभूषा से साधु दिखाई पड़ते हैं, परंतु इन की करतूतें अपराधियों के समान हैं, इसलिए किसी साधु की शकलसूरत आदि देख कर या उस की मीठी वाणी सुन कर उस के झांसे में नहीं आना चाहिए. बगुला भी तो ऊपर से सफेद और भोलाभाला ही दिखाई देता है. परंतु उस की करनी सब जानते हैं."

कबीर के समय में धर्मांध तुर्क व मुगल हिंदुओं को बलात मुसलमान बना रहे थे. कबीर ने इस का प्रबल विरोध किया.

कबीर ने दो परस्पर विरोधी फिरकों, हिंदुओं और मुसलमानों, को बुद्धिवादी दृष्टिकोण और मानवतावादी पद्धति से यह समझाने की कोशिश की कि आपस में इनसानों की तरह रहो.

इनसानों से प्यार करो

उन का कहना था कि हिंदू और मुसलमान इनसान के तौर पर एक समान हैं.

दोनों में यदि कोई अंतर है तो केवल यह है कि एक परमात्मा (?) को 'राम' कहता है, जबकि दूसरा उसे 'खुदा' कहता है.

कबीर ने किसी स्वर्ग या जन्नत की कल्पना नहीं की. उन्होंने बुद्ध की तरह स्पष्ट कहा कि हम मृत्यु के बाद 'शून्य' में समा जाएंगे.

उन्होंने मानव मात्र को संदेश देते हुए कहा, "कुल आदि का थोथा अभिमान तज कर सब को निर्वाण प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए. जब तक आदमी की 'करनी' (आचार) ऊंची नहीं, तब तक ऊंचे कुल में जन्म का कोई अर्थ नहीं. घड़ा चाहे सोने का हो, परंतु यदि सुरा से भरा होगा तो साधु (सज्जन) उस की निंदा ही करेंगे."

कबीर की महत्ता

शताब्दियां बीत जाने पर भी कबीर की वाणी आज भी उतनी ही युगानुरूप, सार्थक और उपयोगी है जितनी उन के समय में थी.

यद्यपि हम 21 वीं शताब्दी में हैं और सुपर कंप्यूटरों के युग में जी रहे हैं, तथापि आज भी धर्मांधता का बाजार बहुत गरम है. आज बेशुमार कथित खुदाई दलाल, योगी एवं स्वामी और सैकड़ों 'भगवान' हैं जो परलोक, भविष्यवाणियों, तांत्रिक शक्तियों, योगशक्ति, विभूति आदि के नाम पर लफ्फाजी कर के लोगों को ठग रहे हैं.

कुछ ऐसे भी वैज्ञानिक (?) हैं जो इन पर प्रामाणिकता की मुहर लगा रहे हैं. कैसेट व सीडी कल्चर, प्रेस और जनसंचार माध्यम इन्हें हवा दे कर एक ही समय में न केवल दूरदूर तक फैला रहे हैं, बल्कि इन्हें 'विश्वसनीय' बनाने में भी अपनी घातक भूमिका निभा रहे हैं. कबीर के समय में धर्म के इन व्यापारियों को इस प्रकार की सुविधाएं प्राप्त नहीं थीं, इसलिए दूरदूर तक धर्मांधता व अवैज्ञानिकता का प्रचार उन के लिए आसान नहीं था.

आवश्यकता है कबीर के स्पष्ट बुद्धिवादी दृष्टिकोण को अपनाने की

आज सांप्रदायिक दंगे हैं, दंगों की राजनीति है, जिस का मध्ययुग में अभाव था. इस के साथ ही धर्म परिवर्तन कराने की राजनीतिक साजिशें भी चलती रहती हैं.

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम कबीर को 'चमत्कारों' के आधार पर तमाशा बनाने और उन्हें 'अवतार' घोषित करने के स्थान पर, उन के स्पष्ट बुद्धिवादी दृष्टिकोण को अपनाएं और अपना तथा भावी पीढ़ियों का पथ प्रशस्त करें.

संतराम बी.ए. और उन का जाति तोड़क आंदोलन

''जो बुराइयां दूसरे देशों में हैं, वे सब तो हम में हैं ही, परंतु उन के अतिरिक्त और उन सब से बढ़ कर एक और बुराई भी है, और वह है हमारा जातिभेद. इस ने हमारे सभी गुणों को मिट्टी में मिला दिया है.'' ये शब्द हैं संतराम बी.ए. के, जो लगभग एक शताब्दी तक हिंदू समाज के जन्मजात राजरोग–जातिपांति–को मिटाने के लिए संघर्षशील रहे हैं.

यथार्थवादी दृष्टिकोण के मालिक

संतराम का जन्म 14 फरवरी, 1887 को पंजाब के एक गांव 'पुरानी बसी' (होशियारपुर) में. और निधन 31 मई, 1988 को नई दिल्ली में हुआ. इस प्रकार उन्होंने 101 वर्ष का लंबा जीवन पाया. जब आप ने होश संभाला तो देखा कि जातिपांति का विष समाज के लिए प्राणलेवा सिद्ध हो रहा है. अतः आप इस का मूलोच्छेद करने में जुट गए.

समाज में अन्य अनेक बुराइयां तब भी थीं और आज भी हैं. लेकिन संतराम केवल एक पर केंद्रित हुए; क्योंकि वह यथार्थवादी दृष्टिकोण के मालिक थे. उन्हें अपनी साधनसंपत्ति की सीमाएं ज्ञात थीं और वह शेखचिल्ली की तरह रातोंरात समाज को सुधार कर रख देने के सपने संजोने वाले भी न थे.

उन का कहना है–

> ''प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति सीमित रहती है. वह सभी काम सुचारु रूप में नहीं कर सकता. एक बुराई को दूर करने का काम मैं ने हाथ में ले रखा है तो दूसरी बुराइयों को दूर करने का काम करने के लिए दूसरे लोगों की भी कोई कमी नहीं. मैं तो समझता हूं, 'एकै साधे सब सधै, सब साधै सब जाय' जो लोग एक ही समय में बहुत से काम हाथ में ले लेते हैं, बहुधा देखा गया है, वे एक भी काम पूरा नहीं कर पाते.''

जातिपांति रक्त कैंसर के समान

जातिपांति हिंदू समाज की रगरग में रचीबसी हुई होने के कारण रक्त कैंसर के

समान है. अतः ऐसे लोग भी इस से अपना पिंड नहीं छुड़ा सके, जो अपने को प्रगतिवादी, वैज्ञानिक विचार धारा वाले और न जाने क्याक्या कहते हैं. संतराम ने लिखा है, ''मैं ने देखा है, कोई हिंदू आर्यसमाजी बन जाए, सिख बन जाए, कम्युनिस्ट बन जाए या कांग्रेसी बन जाए, उस के लिए जातिपांति की बला से छुटकारा पाना आसान नहीं.'' (संतराम बी.ए, मेरे जीवन के अनुभव, पृ. 232)

जातिपांति एक मानसिक मरोड़ी

स्पष्ट है कि जातिपांति की भावना कपड़ों के समान नहीं है कि जब चाहे उतार दिया और जब चाहे पहन लिया. डा. भीमराव अंबेडकर ने इसे मानसिक मरोड़ी कहा है. लोगों के दिमागों में बनी इस गांठ को खोलना ही जातिपांति से छुटकारा पाना है.

परंतु यह मरोड़ी बहुत फिसलनदार है. जल रहे कोयले को तो चिमटे से सब पकड़ते हैं, परंतु ऐसा चिमटा किसी ने शायद ही देखा हो जो उलट कर पकड़ने वाले के हाथ को पकड़ लेता है. जातिपांति की यह मानसिक मरोड़ी ऐसा ही चिमटा है.

इस चिमटे ने भलेचंगे लोगों को पकड़ लिया. ऐसी कई संस्थाएं जो जातिपांति को मिटाने का दम भरती थीं, जो जातिपांतिरहित समाज के नवनिर्माण का प्रंशसनीय उद्देश्य ले कर चली थीं, अंत में खुद जातिवादी संगठन मात्र बन कर रह गईं. इस में कसूर चाहे उन छुटभैए नेताओं का हो, जो जाति के नाम पर सस्ती नेतागीरी चमकाने के चक्कर में थे, या चोर दरवाजे से जाति को स्थापित किए जाते वक्त दिमाग व दृढ़ता से काम न लेने वाले सदस्यों का; एक बात बिलकुल स्पष्ट है कि वे जातिपांति रूपी शत्रु द्वारा बुरी तरह पछाड़े गए.

अभी पिछले दिनों जातिवाद के परमशत्रु डा. अंबेडकर के कुछ तथाकथित अनुयायियों ने डा. अंबेडकर द्वारा स्थापित एक दल के संविधान में परिवर्तन कर के यह निर्णय लिया है कि इस दल की सदस्यता केवल उन लोगों को दी जाएगी जो अनुसूचित जातियों में जनमे हैं और उन्हीं बौद्धों को मिलेगी, जो बौद्ध बनने से पहले अनुसूचित जातियों में जनमे थे. यानी बौद्ध बनने पर भी जाति का लेबल उतरने नहीं दिया जाएगा, यद्यपि डा. अंबेडकर ने हिंदुओं की जातिपांति से छुटकारा पाने के लिए बुद्धमत अपनाया था.

जातितोड़क मंडल की स्थापना

जातिपांति के इस पिशाच को खत्म करने के लिए 1922 में कुछ आर्यसमाजी सज्जनों ने 'जातपांत तोड़क मंडल' की स्थापना की. भाई परमानंद इस के प्रथम प्रधान थे और संतराम संस्थापक सदस्यों में से एक, परंतु बाद के घटनाक्रम ने सारी स्थिति उलट दी. भाई परमानंद त्यागपत्र दे कर हिंदूमहासभाई बन गए और संतराम का जीवन इस मंडल से एकाकार सा हो गया. उन्होंने जिस धुन और दृढ़ता से उम्र भर काम किया, उस से 'जातपांत तोड़क मंडल' का नाम लेते ही संतराम का स्मरण हो उठता है. मैं ने अनेक बुजुर्गों से सुना है, ''अच्छा, वह संतराम बी. ए. 'जातपांत तोड़क मंडल' वाले.''

संतराम इस मंडल की मासिक पत्रिका 'जातपात तोड़क' (हिंदी) का संपादन करते रहे. 1924 में यह बंद हो गई थी. 1927 में यही पत्रिका उर्दू में प्रकाशित होनी शुरू हुई. तब भी आप ने ही इसे संपादित किया और 1947 तक इसे चलाते रहे. 1928 से इस का नाम 'क्रांति' रख दिया गया था.

विभाजन के पश्चात भी संतराम ने 'क्रांति' के कुछ अंक निकाले, परंतु दोनों आंखों में मोतियाबिंद उतर आने और काफी घाटा पड़ जाने के कारण उसे सदा के लिए बंद कर देना पड़ा.

फिर भी उन्होंने जातिपांति के महा पत्थर पर हथौड़े चलाने बंद नहीं किए. मंडल द्वारा तैयार की गई डाइरेक्टरी के आधार पर कहा जा सकता है कि मंडल तब तक कई सौ जातितोड़क विवाह, जिन्हें अंतरजातीय विवाह कहते हैं, करा चुका था.

मंडल ने जातितोड़क विवाहों के साथसाथ इस बात पर भी बल दिया कि लोग अपनी जाति किसी को न बताएं, ताकि धीरेधीरे इस का व्यवहार बंद हो जाए. परिणामस्वरूप 1931 की जनगणना के फार्मों में से 'जाति' का स्तंभ निकालने की मांग को ले कर एक आंदोलन चला और करीब चार हजार लोगों ने जनगणना में अपनी जाति नहीं लिखाई थी.

आर्यसमाज द्वारा विरोध

मंडल के कार्य का शीघ्र ही अनेक शिविरों से विरोध होने लगा. जैसा कि मैं ने पहले लिखा है, जातिपांति का चिमटा कई बार उलट कर पकड़ने वाले को पकड़ लेता है. मंडल के संस्थापकों में अधिकतर आर्यसमाजी थे, जो जातिपांति को बुरा कह कर भी उस की मां वर्णव्यवस्था को बचाए रखने के पक्षधर थे. वे चोर को मार कर उस की मां को बचाए रख कर और चोर पैदा करने की व्यवस्था नष्ट नहीं होने देना चाहते थे.

वर्णव्यवस्था हिंदुओं की मरण व्यवस्था

लेकिन संतराम ने कहा कि चोर को तो मारो, उस की मां को भी मारो, ताकि और चोर पैदा ही न हों. उन्होंने वर्णव्यवस्था को हिंदुओं की मरणव्यवस्था कहा. उन्होंने गुणकर्मस्वभाव पर आधारित आर्यसमाजी वर्णव्यवस्था का विरोध करते हुए कहा कि हर एक के लिए शिक्षा की जरूरत है, न कि केवल ब्राह्मण के लिए. सैनिक, व्यापारी आदि के लिए भी वह उतनी ही जरूरी है.

दूसरे, यदि यह कहा जाए कि जो विद्या पढ़ेपढ़ाए वह ब्राह्मण, और जो चमड़े का काम करे वह चमार तो भी ब्राह्मण को विशेषाधिकार तथा चमार को अधिकारहीनता तो प्राप्त रहेगी ही, फर्क केवल इतना पड़ेगा कि तब चमड़े का काम करने वाला व्यक्ति अधिकतर हीन होगा, न कि जन्म से चमार और तब पढ़ालिखा ब्राह्मण कहलाने वाला विशेषाधिकार संपन्न होगा, न कि जन्म से ब्राह्मण. उस से भी जातिगत ऊंचनीच तो बनी ही रहेगी.

वर्णव्यवस्था व्यक्ति व समाज की दृष्टि से अपराध

संतराम पूछते हैं कि श्रम विभाजन के साथसाथ जाति या वर्ण के नाम पर श्रमिक के स्थायी और अस्थायी विभाजन की जरूरत ही क्या है, जो चतुर्वर्ण व्यवस्था पर इतना बल देते हो ? वह लिखते हैं, ''जातिपांति चातुर्वर्ण्य का ही भ्रष्ट रूप है. इस चातुर्वर्ण्य को हम लोग आदर्श समझते हैं. पर क्या जन्मसिद्ध भोंदू के सिवा कोई दूसरा मनुष्य भी कभी चातुर्वर्ण्य को समाज का आदर्श रूप स्वीकार कर सकता है ? व्यक्ति एवं समाज दोनों की दृष्टि से यह मूर्खता और अपराध है.'' (संतराम बी.ए., हमारा समाज, पृ. 249)

उन्होंने जातिपांति को हिंदुओं की गुलामी, कायरता और देशभक्तिशून्यता के लिए दोषी ठहराया. जातिपांति के बंधनों के कारण मानव के पूर्ण विकास के लिए उपयोगी गुण अलगअलग जातियों में बिखरे पड़े रहे और निरर्थक सिद्ध हुए. यदि रक्त का सम्मिश्रण होता तो उन गुणों को दूसरे सहायक तत्त्व मिलते, जिस से वे एकदूसरे के पूरक बन कर सार्थक इनसानों की रचना करते. वह लिखते हैं, ''जातिपांति से मनुष्य का सर्वांगीण विकास नहीं होता. इस से ऐसे मनुष्य उत्पन्न हो गए हैं, जिन का सिर कद्दू के बराबर बड़ा है तो पैर सींक की तरह पतले हैं, पेट कुप्पे की भांति बाहर को निकला हुआ है तो भुजाएं तिनका तोड़ने में भी असमर्थ हैं...

जातिबिरादरी मानवी प्रतिष्ठा पर कुठाराघात

''अपनीअपनी संकुचित जातिबिरादरी के भीतर ही विवाह करते रहने का कुफल यह हुआ कि मनुष्य को पूर्ण मनुष्य बनाने वाले सद्गुण अलगअलग जातियों में पूंजीभूत हो गए हैं. ब्राह्मण बुद्धिमान तो है, पर साथ ही वृथाभिमानी भी है. क्षत्रिय वीर तो है, पर साथ ही अदूरदर्शी भी. वैश्य व्यापारकुशल तो है, पर साथ ही कायरता की सजीव प्रतिमा भी. शूद्र परिश्रमी तो है, पर साथ ही उस की आत्मा इतनी कुचली हुई है, उस की उमंग इतनी दबी हुई है कि उस में वह मानवी प्रतिष्ठा ही नहीं रह गई, जिस के बिना यह जीवन दूभर मालूम होने लगता है.'' (हमारा समाज, पृ. 208-211)

इसे और स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं कि राजपूत केवल लड़नामारना जानते थे. लड़ाई जीतने की कला उन को नहीं आती थी. यदि जातिभेद न होता तो ब्राह्मण की दूरदर्शिता और राजपूत की वीरता के मिलाप से योग्य सेनापति पैदा हो सकते थे, जो विजय के लिए अत्यावश्यक थे. वह लिखते हैं, ''देखिए, पहले अंगरेजों ने उत्तर प्रदेश के लोगों की सेना से पंजाब के सिखों को जीता, फिर जब सन 1857 में उत्तर प्रदेश की सेनाओं ने विद्रोह किया, तो अंगरेजों ने उन्हीं सिखों की सेना से विद्रोही सेना को नष्ट कर दिया. कहने का अभिप्राय यह है कि जिस सेना का सेनापति अंगरेज होता था वही जीत जाती थी.'' (वही पृ. 209)

स्पष्ट है कि जातिभेद के कारण अकेली वीरता लिए हिंदू क्षत्रिय वीरता और

दूरदर्शितासंपन्न अंगरेजों के हाथों कठपुतलियों की तरह चलाए जाने पर अपने से अधिक शक्तिशाली लोगों को भी दबाने में समर्थ हुए और जातिभेद ने हमें एकांगी व्यक्तित्व ही प्रदान किया. संतराम लिखते हैं, ''जातिपांति में फंसा हुआ हिंदुओं जैसा समाज महात्मा गांधी, राजगोपालाचार्य और मोतीलाल नेहरू तो उत्पन्न कर सकता है, पर स्टालिन, चर्चिल और माउंटबेटन नहीं, जो सफल राज्यप्रबंधकर्ता होने के साथसाथ विजयी सेनानायक भी हैं.'' (वही, पृ. 211)

कायरता का निदान

हिंदुओं में विद्यमान कायरता का निदान भी उन्होंने जातिपांति को माना है. उन्होंने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि जो जातियां शताब्दियों से दुकानदारी, नौकरी या दूसरे असैनिक काम करती आई हों, उन का लड़ना भूल कर भीरु बन जाना बिलकुल स्वाभाविक है. इसी प्रकार, जो जाति सदा बौद्धिक व्यवसायों में ही लगी रहे, उस का डरपोक बन जाना भी स्वाभाविक है, क्योंकि 'वीरता और कायरता' का संबंध उतना जनम से नहीं जितना कि प्रतिदिन के उन कार्यों से है जो हमारे स्वभाव को बनाते हैं. जो काम हम नहीं करते, उस से हमें डर लगता है और जो काम हम करने लगते हैं, उस के हम अभ्यस्त हो जाते हैं. वीरता और कायरता का यही तत्त्वज्ञान है. (हमारा समाज पृ. 206).

एक क्षत्रिय व्यापार करते हुए डरता है तो एक व्यापारी उस के साधारण से बांस के मचान पर चढ़ने से डरता है. इसी तरह केवल एक जाति के सदा युद्ध करने के कारण कई जातियां ऐसी हैं जो शताब्दियों से कभी युद्ध में नहीं गईं या जिन्होंने कोई ऐसा काम नहीं किया, जिस में लड़नेभिड़ने या दूसरे से टक्कर लेने की आवश्यकता हो. इसी के परिणामस्वरूप वे जातियां या जनसमुदाय कायर हो गए हैं.'' (वही, पृ. 205)

जातिभेद के ही कारण देशप्रेम का अभाव

जातिभेद के ही कारण हिंदुओं में देशप्रेम का अभाव रहा है. इस का विश्लेषण करते हुए वह लिखते हैं, ''भारत के हिंदू के प्रेम का पात्र पहले तो उस के भाईभतीजे होते हैं. उन से जो प्रेम बचता है, उसे वह अपने गोत्र और उपजाति वालों को देता है. उन के बाद उस की जाति वालों की बारी आती है. इस के बाद जो प्रेम बचता है, वह उस के संप्रदाय और प्रांत वालों के लिए होता है. यहां तक पहुंचतेपहुंचते प्रायः उस का सारा प्रेम शेष हो जाता है. अब जो थोड़ाबहुत बचता है, वही देश के भाग में आता है. हमारे देश में राष्ट्रप्रेम की कमी का कारण यही है.''

यहां के तथाकथित राष्ट्रवादी हिंदुओं के राष्ट्रप्रेम पर टिप्पणी करते हुए वह कहते हैं, ''कोई हिंदू राष्ट्रवादी होने की चाहे कितनी ही डींग क्यों न हांके, यदि आप उसे थोड़ा खुरच कर देखेंगे तो वह आप को भीतर से ब्राह्मण, बनिया या कायस्थ ही मिलेगा.'' (वही पृ. 223)

विघटनकारी प्रवृत्तियों का कारण भी जातिभेद

देश में कार्यरत अनेक विघटनकारी प्रवृत्तियों की चर्चा करते हुए वह इसी जातिपांति की भावना को ही उन के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं; क्योंकि इस के कारण हिंदू सही अर्थों में हिंदू भी नहीं रहा. यदि वह सही अर्थों में हिंदू ही होता तो भी गनीमत थी. तब वह कम से कम संपूर्ण हिंदूजाति के विषय में तो सोचता. लेकिन ऐसा कुछ भी उस में दिखाई नहीं देता. ऐसे में उस के हिंदुस्तानी (भारतीय) होने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती. संतराम लिखते हैं, ''इस देश में इस समय (1957 में) जो गुप्त रूप से जाटस्थान, राजपूतस्थान, आदिवासियों का झारखंड आदि बनाने की चेष्टाएं हो रही हैं, ये सब जातिभेद का ही स्वाभाविक परिणाम हैं.

जातिभेद को मानने वाला हिंदू बेशक डींग मारे कि मैं पहले हिंदुस्तानी और बाद में हिंदू हूं, पर सच्चाई यह है कि वह पहले तो कहां बाद में भी हिंदुस्तानी नहीं, हिंदुस्तानी तो दूर वह हिंदू भी नहीं. वह तो ब्राह्मण, अग्रवाल या जाट है.'' (हमारा समाज, पृ. 213)

गतिशील समाज की स्थापना हो

इस के विपरीत, गतिशील समाज की स्थापना पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि, ''समाज वही उत्तम कहला सकता है, जिस के सदस्यों के सब अंग उन्नत और सुदृढ़ हों. आवश्यकता पड़ने पर जो सब के सब सिपाही, दूसरे अवसर पर सब के सब अध्यापक बन सकते हों. यह नहीं कि यदि सैनिकों की आवश्यकता हो तो केवल राजपूतों में से भरती हों, व्यापारियों की आवश्यकता हो तो केवल बनियों में से और जब अध्यापकों की आवश्यकता हो तो केवल ब्राह्मणों में से भरती करनी पड़े. काम करने वालों की इस प्रकार की बांट जहां भी होगी, वहां सारी जाति दुर्बल हो जाएगी. ''

समाज सुधारक को बनाया विलेन

इन बुद्धिवादी विचारों पर विवाद हुए, शास्त्रार्थ हुए. आर्यसमाजी पंडितों ने कहा कि संतराम नास्तिक हैं क्योंकि वह शास्त्रों को नहीं मानते.

संतराम ने उत्तर में पूछा, ''तुम क्या सब शास्त्रों को मानते हो ?''

उत्तर मिला, ''हां.''

संतराम बोले, ''क्या तुम कोकशास्त्र को मानते हो ?''

सभा में होहल्ला हो गया. परिणामस्वरूप मंडल को आर्यसमाज (लाहौर) और गुरुकुल (कांगड़ी) के वार्षिकोत्सवों पर अपना प्रचार करने की अनुमति भविष्य के लिए बंद हो गई. मंडल की पत्रिका 'क्रांति' के 50 के लगभग आर्यसमाजी ग्राहकों ने उस का बहिष्कार कर दिया. मंडल के उन सदस्यों को चोट पहुंचाने का प्रयत्न किया गया जो बच्छोवाली (लाहौर) के आर्यसमाज के भी सदस्य थे. संतराम पर भी आरोप

लगा कि वह आर्यसमाजी नहीं हैं, इसलिए उन्हें समाज का सदस्य नहीं बनाया जा सकता.

उन्हीं दिनों मंडल के एक सम्मेलन में स्वामी श्रद्धानंदजी ने बड़े खेद के साथ कहा, ''यदि मुझे पता होता कि आर्यसमाजी लोग जातिपांति तोड़ने से इतना डरते हैं तो मैं गुरुकुल (कांगड़ी) न बना कर 'जातपांत तोड़क मंडल' ही बनाता.''

झूठे आरोप

लेकिन आर्यसमाजियों की ओर से मंडल और संतराम पर हमले जारी रहे. झूठे आरोपों की बौछारें की गईं. एक उदाहरण प्रस्तुत है.

निजाम के हैदराबाद में उन दिनों कुछ अछूतों ने हिंदू धर्म का त्याग कर इसलाम को स्वीकार कर लिया था. इस से हिंदू नेता बहुत तिलमिलाए, जैसे मीनाक्षीपुरम में हुए धर्म परिवर्तन पर पिछले दिनों तिलमिलाए थे. इस पर संतराम ने 'क्रांति' में लिखा कि इस हिंदू धर्म त्याग के लिए न निजाम दोषी हैं और न अछूत. दोषी हैं तो खुद हिंदू, जो छुआछूत को पाले हुए हैं और उसे खत्म करने का नाम ही नहीं लेते.

इस पर कुछ आर्यसमाजियों ने यह प्रचार शुरू कर दिया कि ''संतराम को निजाम हैदराबाद से पैसा मिलता है और कृष्णानगर में उस ने जो मकान बनवाया है, वह निजाम के पैसे से ही बना है.''

संतराम ने बड़ी दृढ़ता और निर्भीकता से इस का मुकाबला किया. उन्होंने जो उत्तर दिया, वह इस का मुंह बोलता प्रमाण है. उन्होंने कहा, ''मुझे निजाम से रुपया मिला तो नहीं. किंतु यदि मिल जाए तो मैं छोड़ूंगा नहीं. मैं उसे जातिपांति मिटाने के आंदोलन में लगा दूंगा.'' (मेरे जीवन के अनुभव, पृ. 234)

लाला लाजपतराय ने भी संतराम के विरुद्ध प्रचार करने में कोई कसर बाकी नहीं रहने दी. उन्होंने 'वंदेमातरम्' (उर्दू दैनिक) पत्र में लिखा कि, ''संतराम अछूतों को उकसाता है.''

इस का संतराम ने उचित उत्तर दिया तो लाजपतराय चुप हो गए. लाजपतराय की भूमिका पर टिप्पणी करते हुए संतराम लिखते हैं : ''आज दशा यह है कि लालाजी के तो अछूतोद्धारक होने का ढोल पीटा जाता है और मैं किसी गिनती में नहीं.''

इनक़लाबे गर्दिशे दौरां को देखिए,
मंजिल उन्हें मिली जो शरीके सफर न थे''

– मेरे जीवन के अनुभव पृ. 235

डा. भीमराव अंबेडकर

1936 में संतराम ने डा. भीमराव अंबेडकर को मंडल के वार्षिक अधिवेशन पर अध्यक्षीय भाषण के लिए आमंत्रित किया. भाषण की लिखित प्रति पढ़ कर मंडल के बहुत से सहयोगी बिदक गए. उन्होंने काले झंडों से डा. अंबेडकर का स्वागत करने

की धमकी दी. अतः सदा के लिए उस अधिवेशन को स्थगित करना पड़ा. इस विवाद में गांधीजी की भी काफी भूमिका रही.

परंतु बुद्धिवादी संतराम ने गांधीजी को स्पष्ट लिखा जो 'हरिजन', (गांधीजी का पत्र) में छपा, ''मैं डा. अंबेडकर के अभिभाषण की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता. जहां तक मेरा ज्ञान है, वह इस विषय पर सर्वाधिक विद्वत्तापूर्ण निबंध है और भारत की प्रत्येक भाषा में इस का अनुवाद होना चाहिए.'' इस के आगे उन्होंने जो लिखा वह चिरस्मरणीय रहेगा, "अस्पृश्यता और जातिभेद को दूर करने के लिए शास्त्रों की सहायता ढूंढ़ना कीचड़ को कीचड़ से धोने के समान है.'' (देखें, 'हरिजन', 15 अगस्त, 1936)

विरोध सह कर भी कल्याणकारी कदम नहीं रुके

मंडल की गतिविधियों के कारण आर्यसमाजियों के अतिरिक्त सनातनी हिंदू यहां तक कि मुसलमान भी संतराम के विरोधी रहे. 'हिंदू' पत्र ने लिखा, ''श्री संतरामजी के आजकल के लेखों पर यदि उन का नाम न लिखा हो तो ऐसा मालूम देने लगता है कि ये किसी हिंदूप्रेमी के लिखे हुए नहीं, वरन् मिस मेओ के किसी भाई के हैं.'' (हिंदू, 6 अक्तूबर, 1943)

गांव में "हिंदुओं ने ही नहीं, हमारे मुसलमान नौकरों ने भी हमारे घर का बहिष्कार कर दिया. मुसलमान नहीं चाहते थे कि हिंदू अछूतों को इस प्रकार अपने साथ मिला लें और हमारा शिकार हमारे हाथ से निकल जाए. हिंदू स्त्रियां मुझे गाली देने लगीं कि तेरे जैसे नालायक की जगह यदि पत्थर जन्म ले लेता तो अच्छा होता.'' (मेरे जीवन के अनुभव, पृ. 45)

कई जातिवादी लोग भद्दी गालियां लिख कर पत्र डालते. दूसरे बकवास भर कर इश्तिहार छपवा कर बांटते. उन के सड़क पर चलते समय व्यंग्यपूर्वक आवाजें कसते कि यह है वह संतराम जो जातियां तोड़ता है. परंतु वह सब का निडरता और दृढ़ता से सामना करते रहे क्योंकि उन्हें इस बात का गहरा एहसास था कि वह एक कल्याणकारी काम कर रहे हैं.

संतराम चाहते तो 1909 में बी.ए. करने के पश्चात नौकरी प्राप्त कर के आनंदपूर्वक जीवन बिता सकते थे. उन्हें यह तो स्पष्ट ही था कि जातिपांति को खत्म करने से किसी को कुछ मिलने वाला नहीं. मिलेगी तो केवल निंदा: एक ओर से तथाकथित उच्च जातियां इसे मुक्त हाथों बांटेगी और दूसरी ओर से तथाकथित निम्न जातियों के वे स्वयंभू नेता, जो जाति की लीडरी पर जीते हैं तथा जिन्हें शायद सही या गलत यह एहसास है कि जातिविहीन समाज में जब सब लोग एकसमान हो जाएंगे, तब अन्य योग्य लोगों के मुकाबले वे नेतागीरी के योग्य न रह पाएंगे. जातिवाद का शिकार हुए उन बेचारे दलित लोगों से किस समर्थन की आशा की जा सकती थी जो खुद शताब्दियों से मानवीय अधिकारों से वंचित चले आ रहे थे? फिर भी संतराम एक शताब्दी तक डटे रहे अपने मार्ग पर.

देश में बहुसंख्या हिंदुओं की रही है और 'हिंदू' डा. अंबेडकर के शब्दों में,

''भारत के बीमार लोग हैं और इन की बीमारी संपूर्ण भारतीयों के स्वास्थ्य और हर्ष के लिए खतरा है.'' (डा. बाबा साहब अंबेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचिज, जिल्द 1. पृ. 26)

देश के कल्याण में लगातार प्रयत्नशील

इन बीमारों को ठीक करने के लिए, इस देश का कल्याण करने के लिए, संतराम लगातार प्रयत्नशील रहे. एक सच्चे जनसेवक व हितैषी की तरह उन्होंने न तो इस सेवा का किसी पर एहसान जताया, न इस सेवा को भुनाया और न कृतघ्न राजनेताओं ने उस सेवा को उचित मान्यता प्रदान की. लाख कोशिशों के बावजूद उन पर एक डाक टिकट तक नहीं जारी किया गया, उन की शताब्दी के वर्ष में.

उन्होंने लिखा है, ''मुझे कोई अच्छा कहे या बुरा, मैं जिस बात में कथित अछूतों की भलाई समझता हूं, उसे कहने में संकोच करना पाप मानता हूं. द्विज (सवर्ण) हिंदुओं का पक्ष लेने से मुझे कई प्रकार के लाभ हो सकते थे. अछूत बेचारों के पास तो है ही क्या जो वे मुझे दें. फिर भी मेरी आत्मा को संतोष है कि लाला लाजपतराय, भाई परमानंद और महात्मा गांधी के रोष को सहन कर के भी मैं ने अछूतों का पक्ष समर्थन नहीं छोड़ा, कारण यह है कि मेरा दृढ़ विश्वास है कि इसी में सारी हिंदू जाति का कल्याण है.'' (मेरे जीवन के अनुभव, पृ. 245)

घर में जाति तोड़ो

दूसरों को उपेदश देना, घर के बाहर मंचों पर बांहें उछालउछाल कर शेखचिल्ली की तरह डींगें मारना एक बात है, लेकिन अपने विचारों को अपने परिवार वालों को समझाना और उन्हें उस रास्ते पर चलाने का ईमानदारी से प्रयत्न करना और बात है. अकसर देखने में आता है कि दहेज के विरुद्ध प्रचार करने वालों में से कई अपने बेटों की शादियों में चुपचाप माल हड़प जाते हैं. अपने को जातिपांति के विरोधी कहने वाले कई लोग जातिवादी संगठनों के अध्यक्ष बन जाते हैं और कई ऐसे हैं जो जातिपांतिविरोधी संगठनों को बेशरमी से जातिवादी बना देने का प्रयास करने लगते हैं. ऐसे भी लोग हैं जो सारे देश के गम में घुलते जा रहे हैं, लेकिन अपने घर के दोचार सदस्यों को भी अपने विचार नहीं समझा पाए, उन पर चलाने की तो बात ही छोड़ें. वे नपुंसकों की तरह कह उठते हैं, ''भई, घर के सदस्यों को क्या समझाएं? औरतें तो मानती ही नहीं. आजकल के बच्चे किसी की सुनते ही नहीं.'' इत्यादि.

प्रश्न उठता है, यदि घर के नहीं सुनते तो बाहर के बोर होने के लिए क्यों तैयार होंगे? यदि तुम्हारा माल और तुम्हारी हितेच्छा घर वालों को अपनी लाभकारिता और सद्भावना का विश्वास दिलाने में असमर्थ है तो दूसरों को कैसे विश्वास दिला सकती है?

परंतु जिन में दृढ़ता और ईमानदारी होती है, वे तो, अंगरेजी की कहावत के अनुसार, उदारता को घर से ही शुरू करते हैं. वे समाज सुधार का थैला उठा कर माल विक्रेता या सेल्समैन की तरह दूसरों को अपने माल की खूबियां बताने से पहले अपने

घर के सदस्यों को भी उस की खूबियां बता कर, उसे प्रयोग करवाते हैं. यह काम कठिन अवश्य है, लेकिन इन के बिना और चारा भी तो नहीं. फिर यदि कठिनाई से डर लगता है तो इस रास्ते पर चलने के लिए तुम्हें मजबूर किस ने किया था? यह रास्ता किसी राजनीतिक दल के चुनाव अभियान के दौरान किराए के प्रचारक का नहीं है.

कथनी और करनी की एकता

संतराम लिखते हैं, ''मुझे इस बात का संतोष है कि मेरे अपने ही परिवार में मेरे भाई, भतीजों और भतीजियों ने जातिपांति तोड़कर विवाह किए हैं. मेरे परिवार में ब्राह्मण, खत्री, सूद, कायस्थ और अरोड़ा जाति की बहुएं हैं. मेरे अनेक मित्रों और परिचितों की संतानों ने भी जातिपांति तोड़ कर विवाह किए हैं. यह देख कर मुझे हर्ष होना स्वाभाविक है.'' (मेरे जीवन के अनुभव, पृ. 221)

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि संतराम ने पहली पत्नी की मृत्यु के बाद 1929 में जब खुद पुनर्विवाह किया (उन का पहला विवाह 12 वर्ष की आयु में हुआ था), तो वह अंतरजातीय और अंतरप्रांतीय विवाह था. यहीं बस नहीं, उन्होंने अपनी एकमात्र संतान गार्गी का विवाह भी जाति तोड़ कर किया. इसे कहते हैं कथनी और करनी की एकता.

जीवनदर्शन

संतराम के जीवनदर्शन पर कुछ वाक्य लिखे बिना उन के बुद्धिवादी व्यक्तित्व की झांकी अधूरी रहेगी.

उन का कहना है कि कष्ट और विपत्ति को रोकने के लिए जो कुछ हम से हो सके, उसे करने के उपरांत, अपने को किसी काम में व्यस्त रखना और फिर जो कुछ बुरे से बुरा आए, उसे सहन करने के लिए तैयार रहना ही जीवन बिताने की ठीक रीति है.

पूजापाठ के विषय में उन का मत है, ''बहुत अधिक पूजापाठ या ईश्वरभक्ति करने वाले लोग बहुधा आचरण की दृष्टि से बहुत घटिया पाए जाते हैं. जैसे, पुलिस से अपराधी डरता है, वैसे परमेश्वर से पापी डरते हैं.''

वह महापुरुष की परिभाषा देते हुए कहते हैं, ''किसी व्यक्ति के महान या 'पहुंचा हुआ' होने की मेरी कसौटी यह है कि वह मानव समाज की कितनी सेवा करता है, वह दीनदुखियों को सुखी बनाने के लिए कितना कुछ करता है, न कि यह कि वह कितने घंटे की समाधि लगाता है या वह अन्न न खा कर केवल दुग्धाहारी या पावनहारी है.''

ईश्वर के विषय में उन का कथन है, ''ईश्वर नाम की कोई वस्तु है या नहीं, इस संबंध में मैं निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकता; कारण यह है कि ईश्वर कभी मुझे मिला नहीं. ईश्वर को सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान कल्पित कर लेना एक वहम है. मेरा मत यह है कि परमेश्वर नाम की यदि कोई अलग सत्ता है भी तो वह न तो किसी

पर कृपा कर के उसे बचाता है और न क्रोध में आ कर उसे हानि ही पहुंचाता है. उस के न हाथ हैं, न पैर, और न आंखकान हैं.''

धर्म के विषय में संतराम का कहना है, ''धर्म मनुष्य के लिए है, मनुष्य धर्म के लिए नहीं, ठीक उसी प्रकार जैसे कपड़ा शरीर के लिए होता है, शरीर कपड़े के लिए नहीं. कपड़ा शरीर पर फिट न आए तो कपड़े में काटछांट की जाती है, उसे फिट करने के लिए शरीर को नहीं छीला जाता.''

देशवासियों के लिए संदेश

देशवासियों, विशेषतः नवयुवाओं के लिए उन का संदेश है, ''आरंभ में कठिनाई और विफलता को देख कर हतोत्साह हो जाने से काम नहीं बनता. मेरा मत है कि देश के लिए मरने की अपेक्षा देश के लिए जीना अत्यधिक कठिन और महान कार्य है.''

जातिपांति का विषैला महावट आज भी हराभरा है. इसे समूल नष्ट करने में ही, इसे जड़ से उखाड़ कर वहां खट्टी लस्सी डालने में ही राष्ट्रीय एकता और अखंडता की सुरक्षा निहित है और इसी में निहित है हिंदू समाज के विघटन और विनाश को रोकने वाला औषधराज.

आओ, मानवीय एकता का पथ प्रशस्त करें

संतराम जैसे कर्मठ व्यक्तियों के योगदान का यदि हमें जरा भी खयाल है, यदि उन के प्रति तनिक भी हम में कृतज्ञता के भाव हैं, तो आओ हम भी उन के द्वारा प्रवर्तित आत्मकल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए जातिपांति के पथराए हुए, घोंघे के से खोलों से बाहर आएं और मानवीय एकता का पथ प्रशस्त करें.

अंधविश्वासों के बापू

आधुनिक तकनीक व विज्ञान का सहारा ले कर कई पेशेवर कथावाचक फिल्मी अभिनेताओं की तरह मंच पर व्यवहार करते हैं. कथा बांचने से पहले वे ब्यूटी पार्लरों में जा कर चेहरों का मेकअप करवाते हैं, फैशन डिजाइनरों की सेवाएं लेते हैं और विदेशी परफ्यूम से ले कर आधुनिकतम वस्तु तक का उपयोग करते हैं. लेकिन जब कथा बांचते हैं तब इन्हीं सब चीजों को विलासिता की वस्तु बता कर, इन का त्याग करने की नसीहत देते हैं और धर्म के नाम पर अंधविश्वासों को खूब हवा देते हैं.

ईसाई पादरियों को हिंदू धर्म व समाज के लिए खतरा बताने वाले कुछ कथावाचक खुद को उन्हीं ईसाई फादरों की तरह 'बापू' कहलवाते हैं. वे 'विधर्मी फादर' को 'बापू' बना कर उस की 'शुद्धि' कर लेते हैं!

पिछले दिनों एक ऐसे ही तथाकथित 'बापू' ने कथा सुनाने के अंतिम दिन श्रद्धालुओं को संदेश दिया कि वे अपनेअपने घर जा कर एक पीपल का पेड़ जरूर लगाएं.

किस्सा पीपल का

भारत में पीपल के प्रति प्राचीनकाल से ही श्रद्धा और लगाव रहा है. यह पेड़ बिना खाद पानी डाले ही बढ़ता रहता है और बड़ा होने पर घनी शीतल छाया प्रदान करता है. यह सदाबहार बारहमासी वृक्ष है और प्राचीनकाल से इस की उपयोगिता के कारण बनी श्रद्धा के चलते इसे लोग कम ही काटते हैं. चूंकि पीपल एक दीर्घजीवी पेड़ है, अतः एक बार रोप देने के बाद कई पीढ़ियां इस की छाया में बैठ सकती हैं. कथावाचक 'बापू' द्वारा पीपल लगाने की बात तो ठीक थी परंतु उस 'बापू' ने यह सब न बता कर अपना वैज्ञानिक ज्ञान बघारते हुए कहा कि पीपल का पेड़ लगाना चाहिए क्योंकि यह चौबीसों घंटे आक्सीजन छोड़ता है.

विज्ञान के नाम पर अंधविश्वासों का अंधकार फैलाने का इस से बढ़िया उदाहरण और क्या हो सकता है? चौबीसों घंटे आक्सीजन छोड़ने की बात इसलिए कही गई ताकि पीपल पूजा का 'वैज्ञानिक' रहस्य बताया जा सके और कोई इसे रूढ़िवादिता कह कर नकार न सके.

पीपल की पूजा करने वाले पहले भी इस तरह की मनगढ़ंत वैज्ञानिकता को

उछालते रहे हैं कि इस से हर वक्त आक्सीजन निकलती है, और जब हम इस की पूजा करते हुए पानी चढ़ाते हैं, परिक्रमा करते हैं, तब पर्याप्त मात्रा में इस से निकली आक्सीजन हमारे अंदर प्रवेश करती है जिस से श्वास की बीमारी दूरी होती है.

कई तो इस से भी आगे बढ़ कर 'गूढ़ ज्ञान' बांटते हुए कहते हैं कि पीपल से रविवार को कार्बनडाईआक्साइड निकलती है, इसलिए उस दिन हम पीपल को जल नहीं चढ़ाते और उस की छाया तक से दूर रहते हैं. साइंस वाले यह सब नहीं समझ सकते. यही तो हमारे धर्म व हमारी संस्कृति की महानता है.

वैज्ञानिक तथ्य

तमाम श्रद्धा के बावजूद पीपल एक पेड़ है. वनस्पति विज्ञान ने पेड़पौधों की बाबत छोटीबड़ी सभी सूचनाएं जमा की हैं और अनेक प्रयोगों के द्वारा उन्हें सत्यापित भी किया है. वनस्पति विज्ञान बताता है कि कोई भी वृक्ष आक्सीजन नहीं छोड़ता और न ही किसी वृक्ष के पास छोड़ने के लिए वह गैस होती है.

वृक्ष अपना भोजन प्रकाश संश्लेषण (फोटोसिंथिसिस) द्वारा तैयार करते हैं. उन की पत्तियों में क्लोरोफिल नामक हरे रंग का एक पदार्थ होता है जिस की खोज वैज्ञानिकों ने 1818 ई. में की थी. सूर्य के प्रकाश में यह हरा पदार्थ पानी और कार्बनडाईआक्साइड को आक्सीजन और शक्कर में बदल देता है. इस प्रक्रिया में फालतू बनी आक्सीजन हवा में चली जाती है, क्योंकि वह वृक्ष के किसी काम की नहीं होती. शक्कर वृक्ष के लिए उपयोगी व आवश्यक होती है, क्योंकि वह उसे भोजन के रूप में इस्तेमाल करता है. अतः वह उसे व्यर्थ नहीं जाने देता.

जाहिर है, प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया प्रकाश के अभाव में संभव नहीं. सूरज निकलने से पहले और उस के अस्त होने के बाद के 12-14 घंटों में कोई भी वृक्ष प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया से नहीं गुजर सकता. जब तक क्लोरोफिल पर सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ता तब तक पानी और कार्बनडाईआक्साइड, आक्सीजन और शक्कर में नहीं बदल सकते.

अतः पीपल या कोई भी अन्य पेड़ चौबीसों घंटे आक्सीजन नहीं छोड़ सकता. ऐसे में पीपल के साथ यह जोड़ना कि यह चौबीसों घंटे आक्सीजन छोड़ता.है इसलिए इसे रोपना चाहिए, एक अंधविश्वास को हवा देता है.

कुछ लोग कहते हैं, ''24 घंटे आक्सीजन छोड़ने वाली बात हमारे ऋषिमुनि कह गए हैं और हमारे ग्रंथों में भी ऐसा कहा गया है.''

ये सब सुनीसुनाई व झूठी बातें हैं. मेरी इन लोगों से प्रार्थना है कि ये यह बताने की कृपा करें कि उन ऋषियों, मुनियों व ग्रंथों ने आक्सीजन के लिए कौन सा शब्द इस्तेमाल किया है. मुझे तो किसी प्राचीन ग्रंथ व किसी प्राचीन शब्दकोश में आक्सीजन के लिए कोई शब्द नहीं मिला है. ये लोग यह भी बताने की कृपा करें कि 1774 ई. में जे.बी. प्रीस्टले द्वारा इसे खोज निकालने से पहले हमारे किसी आदरणीय ऋषिमुनि या ग्रंथ को आक्सीजन का नाम, स्वरूप, गुण आदि पता था?

आजकल कुछ कथावाचकों ने आक्सीजन के लिए 'प्राणवायु' शब्द गढ़ा है, जो कामचलाऊ भर है क्योंकि आक्सीजन केवल सांस लेने के काम ही नहीं आती, बल्कि इस के बिना पानी और आग का अस्तित्व भी असंभव है. पानी के बनने और आग के जलने के लिए अपेक्षित गैस को केवल 'प्राणवायु' कहना इन तथ्यों से अनजान होने का प्रमाण देना है.

यह कहना गलत न होगा कि जो लोग ऋषियों, मुनियों के नाम पर अपनी अवैज्ञानिक व मनगढ़ंत बातों का प्रचार करते हैं वे किसी भी तरह उन का सम्मान नहीं बढ़ाते हैं, बल्कि उन की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न ही लगवाते हैं.

यदि रविवार को पीपल पर जल नहीं चढ़ाया जाता तो उस का कारण कोई पौराणिक कथा ही रही होगी. आज की आरोपित व्याख्याएं उस का कारण नहीं बता सकतीं. उथले व सतही विज्ञान द्वारा न धर्म का भला होगा और न ही विज्ञान का सही दिशा में विकास होगा. आज की जरूरत धर्म व विज्ञान का तर्कहीन गठबंधन नहीं, बल्कि स्वस्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास है, जैसा कि भारतीय संविधान की धारा 51ए में प्रतिपादित किया गया है.

यह कहना कि पीपल रविवार को कार्बनडाईआक्साइड छोड़ता है, इसलिए उस दिन उसे पानी नहीं चढ़ाते, बिलकुल बचकानी और झूठी बात है. किसी भी हिंदू ग्रंथ में ऐसा न तो कहा गया है और न ही किसी ऋषिमुनि या ग्रंथ ने कार्बनडाईआक्साइड शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि यह शब्द तो उन्हें ज्ञात ही नहीं था.

दूसरे, आक्सीजन या कार्बनडाईआक्साइड पेड़ के पत्ते छोड़ा करते हैं जो जमीन से 10-20 फुट की ऊंचाई पर होते हैं. पेड़ की जड़ में बैठे व्यक्ति का न तो उस द्वारा छोड़ी आक्सीजन भला कर सकती है और न ही कार्बनडाईआक्साइड उस का कुछ बुरा कर सकती है.

तीसरे, वृक्षों के लिए हर दिन एक जैसा है. उन के लिए साप्ताहिक छुट्टी वाली बात हास्यास्पद है. जब भी सूर्य का प्रकाश पीपल के पत्तों पर पड़ेगा तभी प्रकाशसंश्लेषण की प्रक्रिया पूरी होगी, चाहे दिन कोई भी हो.

ऐसा हो ही नहीं सकता कि सूर्य के प्रकाश से संपन्न हो रही प्रकाशसंश्लेषण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप रविवार को आक्सीजन न बने और पीपल का पेड़ कार्बनडाईआक्साइड इसलिए छोड़ने लगे कि आज रविवार है.

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पीपल पूजा के कारण पौराणिक हैं, न कि वैज्ञानिक. आक्सीजन, कार्बनडाईआक्साइड आदि गैस को पीपल पूजा से किसी भी तरह जोड़ना तर्कहीन और मनगढ़ंत बात है. किसी भी ऋषिमुनि या प्राचीन ग्रंथ ने पीपल पूजा के साथ किसी भी गैस का नाम न जोड़ा है और न वे कभी जोड़ सकने की स्थिति में ही थे, क्योंकि उक्त गैसों की खोजें 17-18वीं शताब्दी में हुईं, जबकि उन ऋषियों-मुनियों का काल शताब्दियोंसहस्त्राब्दियों पूर्व बीत चुका था.

पौराणिक बातों पर वैज्ञानिक पैबंद न लगाएं

पौराणिक बातों पर वैज्ञानिक व्याख्याओं के अनमेल व अनचाहे पैबंद

अंधविश्वासों की उम्र ही लंबी करते हैं, समाज का कोई भला नहीं करते. हमारे कथावाचक पेड़ों से 24 घंटे आक्सीजन निकलवा कर और रविवार को उन से कार्बनडाईआक्साइड निकलवा कर विज्ञान पर कटाक्ष करने के दंभ में वस्तुतः हिंदू धर्म, धर्मग्रंथों, ऋषियोंमुनियों व खुद अपने जैसों की खामखाह जगहंसाई ही करवाते हैं. इन्हें जितनी जल्दी सद्बुद्धि आए, उतना ही अच्छा होगा!

ये आयुर्वेदिक औषधियां

पिछले दिनों जब एक आयुर्वेदिक फार्मेसी की दवाइयों में जानवरों व इनसानों की हड्डियों की मिलावट की बात प्रकाश में आई तो काफी होहल्ला मचा. यह नहीं होना चाहिए था क्योंकि चरक और सुश्रुत संहिता में कई तरह के मांस, अंडकोष, चरबी, जानवरों की खाल की राख, लीद की राख आदि का दवाई के तौर पर प्रयोग देखने को मिलता है.

मेरे पिताजी जब दवाइयां बनाया करते थे, तब वे बारहसिंगे के सींग, शंख, सीपी आदि को जला कर उन की भस्म तैयार किया करते थे. यही नहीं वे अनेक धातुओं से भी भस्म तैयार किया करते थे. 1988 में उन का देहांत हो गया और उन की वैद्यक की दुकान बंद हो गई.

मैं बचपन से ही आयुर्वेदिक दवाइयों को घर पर बनते देखता रहा हूं, अतः मुझे उस बावेले की कोई सार्थकता समझ में नहीं आई. वृंदा करात को तो शायद आयुर्वेदिक दवाइयों की निर्माण विधि का पता न होने के कारण, यह सबकुछ उन के लिए नया व चौंकाने वाला था. पर स्वामी रामदेवजी इस पर क्यों आग बबूला हो रहे थे, जब उन्हें आयुर्वेदिक दवाइयों की सामग्री का भलीभांति ज्ञान था ?

इस मामले में काफी माथापच्ची करने के बाद इस विवाद का रहस्य प्रकट हुआ. बात यह है कि अनेक लोग आयुर्वेदिक दवाइयों के प्रयोग को 'देव संस्कृति' बताते हैं. कई आयुर्वेदिक वैद्यों (जो अपने को विदेशी भाषा में अब डाक्टर कहलवाने को प्राथमिकता देते हैं) के विज्ञापनों में इन दवाइयों के द्वारा किए जाने वाले इलाज को 'पवित्र' इलाज लिखा होता है. अब जब 'देव संस्कृति', 'पवित्र इलाज', 'दिव्य चिकित्सा' आदि शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है तो लोग शुद्ध शाकाहारी भावना के अनुसार हड्डी, लीद, जानवरों के अंगों की भस्म को पचा नहीं पाते. वे मान कर चलते हैं कि इन देसी दवाइयों में केवल जड़ीबूटी का इस्तेमाल होता है, जैसा कि इन दवाइयों के लेबलों पर लिखा होता है. इन में हड्डी, लीद का क्या काम? इस प्रकार की 'अपवित्र', 'आसुरी' व 'तामसिक' चीजों वाली दवाइयां बेचने वाले लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ करते हैं.

इस भावनात्मक संकट की स्थिति में जब लोगों के आगे ये दो विकल्प उपस्थित होते हैं तो वे अपने उस विश्वास को बचाने के लिए जो किसी सोचविचार के बाद नहीं बनाया गया होता, बावेला मचाते हैं.

यदि आयुर्वेदिक दवाइयों का व्यापार चलाने वालों ने आम लोगों को यह बुद्धिवादी बात अच्छी तरह से समझाई होती कि दवाई वह होती है जो लाभ पहुंचाए, उस की सामग्री चाहे कुछ भी हो तो स्वामी रामदेव की फार्मेसी के उन मजदूरों के बयान एकदम निरर्थक समझे जाते जिन्हें वृंदा करात प्रेस कानफ्रेंसों में पेश करती थीं. उन मजदूरों के बयान लोगों को इसीलिए चौंकाते थे क्योंकि उन की पहले से यह पक्की धारणा बना दी गई थी कि आयुर्वेदिक दवाइयां एकदम पवित्र होती हैं.

इस विवाद में कई लोग तो यह कह रहे थे कि आयुर्वेदिक दवाइयों के खिलाफ दोषारोपण बहुराष्ट्रीय कंपनियों के निर्देश पर है. पर यह बात निरी हास्यास्पद है क्योंकि सरकारी आंकड़ों के अनुसार 40 कंपनियां आयुर्वेदिक दवाइयां बनाती हैं, उन में 17 बड़ी कंपनियां हैं जिन में 17वीं कंपनी स्वामी रामदेव की फार्मेसी है. अब गुरुकुल कांगड़ी, वैद्यनाथ जैसी बड़ी देसी कंपनियों के खिलाफ बहुराष्ट्रीय कंपनियों का कुछ न कहना और 1995 के आसपास स्थापित स्वामी रामदेव की कंपनी के खिलाफ षड्यंत्र रचना, बात समझ से परे है. इसी तरह इस फार्मेसी का अपने को आयुर्वेद की दवाइयों की एकमेव प्रतिनिधि खुद ही रटते फिरना समझ में नहीं आता.

दूसरे, यदि कोई आयुर्वेदिक दवाइयों की सामग्री लोगों के सामने पेश करता है तो इस से उन्हीं आयुर्वेदिक दवा वालों को कोई भय हो सकता है जो वास्तविक सामग्री पर परदा डाल कर कोई तथाकथित पवित्र या तथाकथित देव संस्कृति वाली सामग्री उन में होने का अपने ग्राहकों को विश्वास दिलाते हैं और दुकानदारी चमकाते हैं. उन्हें ऐसा कोई भय नहीं हो सकता जो आयुर्वेदीय ग्रंथों में लिखी सामग्री का ही प्रयोग करते हैं और वही सामग्री लोगों को बताते हैं.

आयुर्वेद के प्राचीनतम और प्रामाणिक ग्रंथों का अवलोकन करें तो कई तथ्य सामने आते हैं. ऐसे ही कुछ तथ्य प्रमाण सहित नीचे अंकित हैं.

(लेख में सुश्रुतसंहिता, अनु. अत्रिदेव (1975 में छपे 5वें संस्करण के 2002 में छपे 5 वें पुनर्मुद्रण का) तथा काशीनाथ शास्त्री की हिंदी व्याख्या सहित चरकसंहिता (2004 में छपे 8 वें संस्करण का, जिस में 11 वीं शताब्दी के चक्रपाणिदत्त की संस्कृत व्याख्या भी है) का सर्वत्र प्रयोग किया गया है)

प्रमेह रोग

इस रोग में मूत्र के साथ धातु या शक्कर गिरती है. इस के रोगी को दिए जाने वाले आहार का निर्देश करते हुए चरक संहिता में कहा गया है:

> ये विष्किरा से प्रतुदा विहंगास्तेषां रसैर्जांगलजैर्मनौज्ञैः,
> यवौदनं रूक्षमथापि वाट्यन्मद्यात् ससक्तूनपि चाप्यपूपान्.
>
> – चरक संहिता, चिकित्सा स्थानम् 6/19

अर्थात प्रमेह से पीड़ित रोगियों को विष्किर (तीतर की जाति का एक पक्षी) और प्रतुद (चोंच मारने वाले बाज, तोता, कौआ आदि) पक्षियों का मांसरस तथा

जंगली पशु के मांस रस (शोरबा) के साथ यव का भात अथवा सूखा वाट्य, सत्तू और अपूप का आहार करना चाहिए.

यक्ष्मा रोग (क्षय रोग)

इस रोग से पीड़ित व्यक्ति को तीतर, मुरगा आदि पक्षियों का घी में पकाया गया मांस खाने को देने का चरक ने विधान किया है :

लवणाम्लकटूष्णांश्च रसान्, स्नेहोपबृंहितान्.
लवातित्तिरिदक्षाणां वर्तकानाञ्च कल्पयेत्.
– चरकसंहिता चिकित्सा स्थानम् 8/66.

अर्थात लवा, तीतर, मुरगा और बटेर के मांस को घृत में पका कर लवण, अम्ल, कटुरस से युक्त कर उन का गरमगरम रस यक्ष्मा के रोगियों को पीने को दें. अर्थात् लवा आदि पक्षियों के मांस को घी में पकाने के बाद सैंधव लवण, नीबू का रस, मिर्च मिला कर गरम मांसरस पीने के लिए देना चाहिए.

सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम्.
दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजं रसं पिबेत्.
तेन षड् विनिवर्तन्ते विकाराः पीनसादयः
– चरकसंहिता, चिकिसा स्थानम् 8/67-68.

अर्थात पीपर, जौ, कुत्थी, सौंठ, खट्टे अनारदाने का रस, आंवला–इन द्रव्यों के साथ प्रचुर मात्रा में घृत द्वारा साधित बकरे का मांसरस (शोरबा) पीना चाहिए. इस मांसरस के सेवन से पीनस आदि यक्ष्मा के 6 विकार शांत होते हैं.

चरक संहिता के इसी अध्याय में आगे चल कर यक्ष्मा के रोगियों को उन पशुपक्षियों का मांस खाने को देने का विधान है, जो खुद मांस खाते हैं, जैसे गिद्ध, कौआ आदि. साथ ही वह मोर के मांस का भी विधान करती है, हालांकि आज मोर को मारना कानूनन अपराध है, क्योंकि उसे हमारा राष्ट्रीय पक्षी घोषित किया गया है. चरक ने लोमड़ी, गीदड़, भालू, सांप आदि का मांस भी खाने को देने का विधान किया है. जिन मांसों को खाने में रोगी को अंदर से घृणा, भय आदि अनुभव हो, उन का नाम बदल कर रोगी को बताना चाहिए. कौए के मांस को तीतर और सांप के मांस को मछली का मांस बता कर खिला दे :

शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित्.,
दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः.
शोषिणे बार्हिणं दद्याद्बर्हिशब्देन चापरान्.
गृध्रानुलूकांश्चाषांश्च विधिवत् सूपकल्पितान्
काकांस्तित्तिरिशब्देन वर्मिशब्देन चोरगान्
भृष्टान् मत्स्यान्त्रशब्देन दद्याद् गण्डूपदानपि.

लोपाकान् स्थूलनकुलान्
बिडालांश्चोपकल्पितान् श्रृगालशावांश्च
भिषक् शशशब्देन दापयेत्.
सिंहानृक्षांस्तरक्षूंश्च व्याघ्रानेवंविधांस्तथा,
मांसादान् मृगशब्देन दद्यान्मांसाभिवृद्धये.
गजखड्गितुरंगाणां वेशवारीकृतं भिषक्,
दद्यान्महिषशब्देन मांसं मांसाभिवृद्धये.
मांसेनोपचितांगानां मांसं मांसकरं परम्,
तीक्ष्णोष्णलाघवाच्छस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम्

– चरक संहिता, चिकित्सास्थानम् 8/143–150.

अर्थात यक्ष्मा रोग से पीड़ित को मोर का मांस खाने को देना चाहिए. इस के अलावा कच्चा मांस खाने वाले गिद्ध, उल्लू और चाष (नीलकंठ) के मांस को विधिपूर्वक बना कर 'यह मोर का मांस है' ऐसा कह कर मरीज को देना चाहिए. कौए के मांस को तीतर का मांस बता कर, सांप के मांस को वर्मी मछली बतला कर, गंडूपद (केंचुआ) के मांस को 'मछली की भुनी हुई आंत' बता कर तथा इसी तरह लोमड़ी, बड़े नेवले, बिलार, गीदड़ के मांस को खरहे का मांस बता कर वैद्य खाने को दिलाए.

सिंह, भालू, तरक्षु और व्याघ्र का मांस और इन के अलावा मांस खाने वाले दूसरे पशुओं के भी मांस 'यह मृग का मांस है' ऐसा कह कर, रोगी के मांस की वृद्धि के लिए, उसे देना चाहिए. इसी तरह हाथी, गैंडा, घोड़ा–इन के मांस को पका कर, कूट कर पीठी के समान बना कर 'यह भैंसे का मांस है' यह कह कर उसे खाने को दे. जिन पशुओं व पक्षियों का मांस मांसाहार के कारण पुष्ट है, उन का मांस तीक्ष्ण, उष्ण, लघु होने के कारण यक्ष्मा के रोगियों के लिए उत्तम होता है.

यक्ष्मा के लिए उत्तम मांसों में चरक ने गोमांस भी गिनाया है:

बर्हितित्तिरिदक्षाणां हंसानां शूकरोष्ट्रयोः
खरगोमहिषाणां च मांसं मांसकरं परम्.

– चरकसंहिता चिकित्सा स्थानानम् 8/158.

अर्थात मोर, तीतर, मुरगा, हंस, सूअर, ऊंट, गधा, गाय और भैंस का मांस, रोगी के शरीर का मांस बढाने के लिए यक्ष्मा रोगी के लिए उत्तम है.

यहां गोमांस का भी यक्ष्मा रोगी के लिए किया गया विधान थोड़ा अजीब लगता है. पिछले दिनों आयुर्वेदीय दवाइयों को ले कर चले विवाद में यह बात किसी ने बारबार कही थी कि आयुर्वेद की संस्कृति 'देव संस्कृति' है. अब क्या गोमांस भक्षण भी 'देव संस्कृति' है?

ऐसा नहीं है कि चरक ने ही गोमांस भक्षण को रोगी के लिए उपयोगी बताया है, सुश्रुत भी कुछ ऐसा ही लिखते हैं.

सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि गाय आदि को ग्राम्य पशु कहते हैं और इन पशुओं के मांस वायु रोग नाशक और भूख लगाने वाले होते हैं:

अश्वाश्वतरगोखरोष्ट्रबस्तोरभ्रमेद:पुच्छकप्रभृतयो ग्राम्या:.
ग्राम्या वातहरा: सर्वे बृंहणा: कफपित्तला:,
मधुरा रसपाकाभ्यां दीपना बलवर्धना:

– सुश्रुतसंहिता, सूत्र स्थानम् 46/85-86.

अर्थात घोड़ा, खच्चर, गाय, गधा, ऊंट, बकरा, मेढ़ा, मेद:, दुंबा आदि गांवों में रहने के कारण ग्राम्य पशु कहलाते है.. इन के मांस वातनाशक, शरीरवर्धक और कफपित्त करते हैं. मधुर रस, मधुर विपाक, अग्निदीपक (भूख लगाने वाले) और बलवर्धक हैं.

इस के बाद सुश्रुत ने एकएक पशु के मांस की उपयोगिता और रोगनाशक क्षमता का वर्णन किया हैं. गाय की बाबत वह लिखता है:

श्वासकासप्रतिश्यायविषमज्वरनाशनम्
श्रमात्यग्निहितं गव्यं पवित्रमनिलापहम्.

– सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम् 46/89.

गव्य (गाय के) मांस का गुण

गाय का मांस श्वास रोग, कास (खांसी), प्रतिश्याय (जुकाम) और ज्वर का नाशक, श्रम (थकान) एवं अल्पाग्नि (भूख मंद होना) के लिए हितकारी, पवित्र और वायुनाशक है.

चरक के अनुसर गोमांस और भी कई रोगों में लाभकारी है:

गव्यं केवलवातेषु पीनसे विषमज्वरे,
शुष्ककासश्रमात्यग्निमांसक्षयहितं च तत्.

– चरक संहिता सूत्र स्थानम् 27/79-80

अर्थात गोमांस वातजन्य रोगों, पीनस रोग, विषम ज्वर, सूखी खांसी, थकान, भस्मक रोग और मांसक्षयजन्य रोगों में हितकारी होता है.

यह तथ्य उन तथाकथित सर्वज्ञों व धर्मज्ञों को मुंह चिढ़ाता है जो गोमांस भक्षण के निषेध का औचित्य प्रतिपादित करते हुए कहा करते हैं, 'क्योंकि गोमांस में तपेदिक के कीटाणु होते हैं, अत: उस को खाना वर्जित है.' यह उसी तरह का झूठ है जैसा कि कथावाचकों का यह कथन कि पीपल से 24 घंटे आक्सीजन निकला करती है.

यहां यह बात खास कर ध्यान देने की है कि चरक ने चिकित्सा स्थानम् अध्याय 8 में जहां कई जानवरों का मांस छद्म नाम से खिलाने का विधान किया है, वहीं गोमांस को किसी छद्म नाम से खिलाने का आदेश नहीं दिया है. इस से यही नतीजा निकलता है कि चरक की नजर में गोमांस भक्षण कोई ऐसा कृत्य नहीं था जो खाने

वाले के मन में घृणा पैदा करता हो, अन्यथा वह दूसरे कई मांसों की तरह इसे भी किसी अन्य जानवर का मांस बता कर खिलाने का विधान करता.

मांस के साथ मद्य का भी इस्तेमाल करना चाहिए. चरक का कहना है :

मांसमेवाश्नतः शोषे माध्वीकं पिबतोऽपि च,
नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति.

– चरक संहिता चिकित्सा स्थानम् 8/163

अर्थात मांस का आहार करते हुए (महुए के फूलों अथवा अंगूरों की बनी) माध्वीक नामक मद्य का सेवन करते हुए जो नियत (जितेंद्रिय) और उदार मन वाला होता है, उस व्यक्ति के शरीर में यक्ष्मारोग बहुत दिनों तक नहीं रहता, अर्थात शीघ्र ही छूट जाता हैं.

इतना ही नहीं, चरक ने सब प्रकार के मद्यों को पीने की छूट दी है. उस ने कहा है कि जो मद्य जिसे उचित हो, वही पी ले.

प्रसन्नां वारुणीं सीधमरिष्टानासवान्मधु,
यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन्.

– चरकसंहिता, चिकित्सास्थानम्, 8/165

अर्थात उपर्युक्त मांसों का भक्षण करते हुए प्रसन्ना, वारुणी, सीधु, अरिष्ट, आसव और मधु–इन में से जो मद्य उचित हो, मनुष्य उसी का अनुपान करे.

उन्माद रोग

उन्माद रोगी को भी भरपेट मांस खिलाने का चरकसंहिता में विधान है:

घृतमांसवितृप्तं वा निवाते स्थापयेत् सुखम्.
त्यक्त्वा मतिस्मृतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रमुच्यते.

– चरक संहिता, चिकित्सा स्थानम्, 9/78

अर्थात उन्माद के रोगी को पुराना घृत और मांस भरपेट खिला कर तेज हवा से रहित घर में सुखपूर्वक सुलाना चाहिए. ऐसा करने से बुद्धि और स्मरणशक्ति की विकृति नष्ट हो कर उसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है. ज्ञान होने से उन्माद रोग से उसे मुक्ति मिल जाती है.

उदर रोग

पेट के रोगों में जंगली पशुओं व पक्षियों के साथ 4-5 तरह की मद्य रोगी को पिलाने का विधान करते हुए चरक कहते हैं:

रक्तशालीन् यवान्मुद्गाञ् जांगलांश्च मृगद्विजान्.
पयोमूत्रासवारिष्टन्मधुसीधुं तथा सुराम्.

– चरक संहिता, चिकित्सा स्थानम् 13/97–98

अर्थात उदर रोग में सेवनीय आहार द्रव्यः रोगी को रक्तशाली धान, यव, मूंग, जंगली मृग और पक्षी का मांस, दूध, मूत्र, आसव, अरिष्ट, मधु, सीधु और सुरा देनी चाहिए.

रक्त अर्श

खूनी बवासीर को नष्ट करने के लिए जंगली मृग और पक्षियों के मांस का रस देना चाहिए.

धन्वविहंगमृगाणां रसो निरम्लः कदम्लो वा.

– चरक संहिता, चिकित्सास्थानम् 14/194

अर्थात जंगली मृग और पक्षियों के मांसरस में खट्टे अनार का रस मिला कर, कुछ अम्ल (खट्टा) बना कर या बिना खट्टा किए केवल मांसरस पिलाना चाहिए.

शशहरिणलावमांसैः कपिंजलैणेयकैः सुसिद्धैश्च,
भोजनमद्यादम्लैर्मधुरैरीषत् समरिचैर्वा.
दक्षशिखितित्तिरिरसैर्द्विककुद्लोपाकजैश्च मधुराम्लैः,
अद्यादसैरतिवहेष्वर्शःस्वनिलोल्बणशरीरः

– चरकसंहिता, चिकित्सा स्थानम् 14/206-07

अर्थात 1. खरहा, हरिण, लवा, कपिंजल (गौरैया), एण (मृग विशेष) इन के मांस को विधिपूर्वक बना कर उस में अम्लरस, कुछ मधुर रस और मरिच का चूर्ण मिला कर भात के साथ खाए.

2. अथवा मुरगा, मोर, तीतर के मांस के साथ भात खाए.

3. अथवा ऊंट और लोमड़ी के मांस के साथ अन्न का सेवन करना चाहिए. दूसरे और तीसरे योगों में भी मांसरस में खट्टा और मीठा मिला देना चाहिए. ये तीनों नुसखे (योग) उन के लिए हैं जिन के शरीर में वात की प्रधानता हो और रक्त अधिक मात्रा में निकलता हो.

श्वास रोग

वातिक रोगी को घी, मांसरस आदि से तृप्त कराने का विधान करते हुए चरक कहते हैं:

वातिकान् दुर्बलान् बालान् वृद्धांश्चानिलसूदनैः,
तर्पयेदेव शमनैः स्नेहयूषरसादिभिः

– चरक संहिता, चिकित्सा स्थानम् 17/90.

अर्थात हिक्का (हिचकी) श्वास रोग से पीड़ित वातिक (वातप्रधान), दुर्बल, बालक और वृद्ध पुरुष हो तो उसे वातनाशक औषधियों का प्रयोग कराते हुए हिक्का श्वास को शांत करने वाले स्नेह, यूष, मांसरस आदि से तर्पण कराना चाहिए.

बर्हितित्तिरिदक्षाश्च जांगलाश्च मृगद्विजा:,
दशमूलीरसे सिद्धा: कौलत्थे वा रसे हिता:.
– चरक संहिता, चिकित्सा स्थानम् 17/93.

अर्थात दुर्बल तथा वातप्रधान हिक्काश्वास के रोगियों को मजबूत करने के लिए मोर, तीतर, मुरगा, जंगली पशुपक्षियों के मांस को दशमूल या कुलथी के काढ़े में डाल कर पिलाना चाहिए.

खांसी में मांस रस

कास (खांसी) से यदि शरीर कमजोर हो गया हो तो लवा आदि पक्षियों के मांसरस का सेवन करें.

मांसोचितेभ्य: क्षामेभ्यो लावादीनां रसा हिता:
– चरक संहिता चिकित्सा स्थानम् 18/141.

गोबर व लीद

अनेक रोगों की चिकित्सा में गोबर व लीद का सुश्रुत ने विधान किया है: अश्मरी (पथरी) रोग का इलाज बताते हुए कहा गया है कि घृतों के लिए कहे वर्गों के द्रव्यों को ले कर तिलनालों से जला कर इन को भेड़ के मूत्र में घोल कर छान लें. उस में गायबकरी आदि पशुओं के गोबर, लीद आदि को जला कर बनाया क्षार मिला कर उसे धीरेधीरे पकाएं. पकाते समय उस में ऊषकादिगण और त्रिकटु मिला दें, यह क्षार अश्मरी, गुल्म (तिल्ली का बढ़ जाना) और शर्करा को नष्ट करता है:

द्रव्याणां तु घृतोक्तानां क्षारोऽविमूत्रगालित:,
ग्राम्यसत्त्वशकृत्क्षारै: संयुक्त: साधित: शनै:.
तत्रोषकादिरावाप: कार्यस्त्रिकटुकान्वित:
एष क्षारोऽश्मरीं गुल्मं शर्करां च भिनत्त्यपि.
– सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् 7/20-21

अर्थात श्वित्र (फुलबहरी) के इलाज के लिए हाथी की लीद को जला कर उसे उस हाथी के मूत्र में घोल कर दवाई बनाई जाती है:

क्षारे सुदग्धे गजगण्डजे तु गजस्य मूत्रेण बहुस्नुते च,
श्वित्रं प्रलिंपेदथ संप्रघृष्य तया व्रजेदाशु सवर्णभावम्.
– सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् 9/21-22

अर्थात हाथी की लीद को भली प्रकार जला कर बनाए क्षार को हाथी के मूत्र में घोल कर कई बार निथार लें... श्वित्र को घिस कर उस पर इन का लेप करें. इस से त्वचा के समान रंग आता है.

प्रमेह रोगी के विषय में 'सुश्रुत संहिता' का कहना है:

अंगारशूल्योपदशं वा माध्वीकमभीक्ष्णं,
क्षौद्रकपित्थमरिचानुविद्धानि, चास्मै पानभोजनान्युपहरेत्,
उष्ट्राश्वतरखर पुरीषचूर्णानि चास्मै दद्यादशनेषु.

– सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् 11/11

अर्थात उसे अंगारों पर सेंके हुए मांस के साथ माध्वीक (अंगूर अथवा महुए के फूलों से बनी) शराब बारबार दें. खाद्य और पेय चीजों में मधु (शहद), कैथ, मिर्च मिला कर दें. भोजन में ऊंट, खच्चर और गधे की लीद का चूर्ण मिला कर दें.

पशु की खाल की राख

त्वचा के एक रोग (पुंडरीक कुष्ठ/श्वित्र) में छालों के फूटने पर जो दवाई लगाई जाती है, उस में हाथी या चीते की खाल की राख डाली जाती है. सुश्रुत का कहना है:

द्वैपं दग्धं चर्म मातंगजं वा भिन्ने स्फोटे
तैलयुक्तं प्रलेपः

– सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा स्थानम् 9/16

अर्थात चीते या हाथी की खाल को जला कर उस की राख को आवर्त की जड़ से सिद्ध किए तेल में मिला कर छालों के फूटने पर लेप करें.

सांप की राख

फुलबहरी नष्ट करने के लिए सुश्रुत कहते हैं:

कृष्णस्य सर्पस्य मसी सुदग्धा बैभीतकं तैलमथ द्वितीयम्.
एतत्समस्तं मृदितं प्रलेपात् श्वित्राणि सर्वाण्यपहंति शीघ्रम्.

– सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा स्थानम् 9/17

अर्थात काले सांप को अच्छी तरह से जला कर बनाई राख को बहेड़े के तेल में मिला कर लेप करने से सब प्रकार के श्वित्र (फुलबहरी रोग) नष्ट होते हैं.

अस्थियों की राख

शर्करा नष्ट करने के लिए अस्थियों का चूरा सुरा (शराब) के साथ खाने का विधान करते हुए सुश्रुत संहिता में कहा गया है:

क्रौंचोष्ट्रासभास्थीनि श्वदंष्ट्रा तालमूलिका,
अजमोदा कदम्बस्य मूलं नागरमेव च.
पीतानि शर्करां भिन्द्युः सुरयोष्णोदकेन वा.

– सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् 7/18-19

अर्थात क्रौंच पक्षी, ऊंट और गधे की अस्थियों की भस्म, गोखरू, मूसली, अजवायन, कदंब का मूल, सौंठ आदि को सुरा या गरम पानी के साथ पीने पर शर्करा नष्ट होती है.

बकरे व ऊदबिलाव के अंडकोष व वीर्य

वाजीकरण (सेक्स पावर बढ़ाने) के लिए जो नुस्खे सुश्रुत संहिता में अंकित हैं उन में बकरे और शिशुमार (ऊदबिलाव) के अंडकोशों का इस्तेमाल होता है. जानवरों तथा इनसान के वीर्य को पीने का भी विधान किया गया है:

बस्ताण्डसिद्धे पयसि भावितानसकृत्तिलान्.
शिशुमारवसापक्वा शुष्कुल्यस्तैस्तिलैः कृताः,
यः खादेत् पुमान् गच्छेत् स्त्रीणां शतमपूर्ववत्.
– सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् 26/18-19

अर्थात बकरे के अंडकोष से सिद्ध किए दूध में तिलों को बहुत बार भावित कर के दूध के अनुपात से खाएं. इन्हीं तिलों की बनाई कचौरियों को शिशुमार (ऊदबिलाव) की वसा (चरबी) में पका कर खाएं. जो पुरुष इस प्रकार करता है वह एक सौ औरतों में प्रथम सुरत (पहले संभोग) की तरह रमण करता है.

पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे क्षीरसर्पिषि,
साधिते भक्षयेमद्यस्तु स गच्छेत् प्रमदाशतम्.
– सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् 26/20

अर्थात दूध से निकाले घी में पिप्पली और लवण के साथ बकरे के अंडकोशों को अंड सिद्ध कर के जो पुरुष खाता है वह एक सौ स्त्रियों से रमण कर सकता है.

पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे घृतसाधिते.
शिशुमारस्य वा खादेत्ते तु वाजीकरे भृशम्.
कुलारकूर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत्.
महिषर्षभबस्तानां पिबेच्छुक्राणि वा नरः.
– सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् 26/25-27.

अर्थात घी में तले हुए बकरे के या शिशुमार (ऊदबिलाव) नामक जंतु के अंडकोशों को पिप्पली और सैंधा नमक के साथ खाएं. ये अतिशय वाजीकर (सेक्स शक्ति बढ़ाने वाले) हैं. केकड़ा, कछुआ, नक्र (घड़ियाल) के अंडकोशों को भी इसी प्रकार खाएं अथवा भैंसे, बैल या बकरे के वीर्य को पीएं.

मांस की लपसी

लेप के लिए बनाई जाने वाली लपसी (उत्कारिका) भी मछली के मांस या दूसरे जानवरों के कीमे से बनाने का विधान सुश्रुतसंहिता (चि. स्था. 5/7) में उपलब्ध होता है :

जौ, गेंहू, तिल, मूंग और उड़द के आटे में मछली का मांस या कीमा किया हुआ मांस मिला कर (लेप के लिए) लपसी बनाएं.

केंद्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्री डा. अंबुमणि रामदास ने एक सवाल के जवाब में बताया है कि आयुर्वेद से संबंधित प्राचीन ग्रंथों में मानव अंगों के इस्तेमाल होने का भी जिक्र है, लेकिन अब इस की अनुमति नहीं है. उन्होंने यह भी कहा कि दिव्य योग फार्मेसी की एक दवा के नमूने में एक प्रयोगशाला ने मानव प्रजाति के डीएनए की पुष्टि की है, यद्यपि दूसरी ने नहीं की है. हां, उन्होंने यह भी कहा है कि आयुर्वेदिक दवाइयों में एलोपैथी दवा मिलाने की रिपोर्ट भी औषधि महानियंत्रक को मिली है.

स्वयं अध्ययन करें

ऐसे में हमें अपने उन आयुर्वेदीय ग्रंथों का स्वयं अध्ययन करना चाहिए जिन्हें बिना पढ़े ही हम ऐसे साधुओं, वैद्यों आदि के कहने पर कुछ का कुछ मान रहे हैं, जो स्वयं चिकित्सा करने के लिए सरकार से मान्यता प्राप्त नहीं हैं, क्योंकि योगासनों का प्रदर्शन करना एक बात है और विविध रोगों का इलाज करने के लिए उपयुक्त अधिकारी द्वारा सक्षम घोषित होना इस से बिलकुल अलग बात है. यही कारण है कि बहुत से साधु नीमहकीम और अनधिकृत चिकित्सक होते हैं.

जिन घृणित, 'तामसिक' और 'आसुरी' सामग्रियों को चरक एवं सुश्रुत के ग्रंथों से उद्धृत किया गया है, आज सरकार को आयुर्विज्ञान के विशेषज्ञों द्वारा उन का परीक्षण करवाना चाहिए तथा जनता को यह बताना चाहिए कि इन में कितनी सच्चाई अर्थात रोग दूर करने की क्षमता है और कितनी नीमहकीमी, ताकि लोगों के जीवन से खिलवाड़ न हो सके.

हमारी 'अलौकिक' चिकित्सा पद्धतियां

पिछले दिनों दिल्ली में मैनिंगोकाक्सीमिया (मस्तिष्क ज्वर) के कारण अनेक लोगों की जानें जा चुकी हैं. आगे और भी लोग शायद मौत के मुंह में जाएंगे. जब काफी लोग मर चुके होंगे और रोग की प्रभावकारी दवा खोज ली जाएगी, तब कुछ लोग अखबारों में बयान देंगे, ''आयुर्वेद में इस का इलाज बहुत पहले से उपलब्ध है... हमारे ग्रंथों में इस के उपचार के लिए फलांफलां जड़ीबूटियों का उल्लेख मिलता है,'' इत्यादि.

रोग के वक्त चुप्पी क्यों?

ऐसा पहले भी अनेक बार हुआ है. यदि वास्तव में कोई इलाज किसी कथित आयुर्वेदीय ग्रंथ में उपलब्ध है तो फिर उस के बारे में ये लोग उस वक्त चुप्पी क्यों साधे रहते हैं जब रोग महामारी का रूप धारण कर लोगों की जानें ले रहा होता है? यह चुप्पी तभी क्यों टूटती है जब आधुनिक आयुर्विज्ञान (एलोपैथी) रोग विशेष का तोड़ ढूंढ़ लेता है? क्या तब केवल झेंप छिपाने के लिए खाली बयान दागा जाता है या हर बार संयोगवशात् तभी उन्हें उन पुरानी किताबों में कोई तोड़ लिखा मिलता है जिन्हें वे पहले भी कई बार पढ़ चुके होते हैं?

देसी इलाज अलौकिक शक्तियों पर आधारित

हमारे देसी इलाज पराभौतिक ज्यादा होते हैं, जो दवा पर नहीं, अलौकिक शक्तियों के हस्तक्षेप पर आधारित होते हैं. प्रसिद्ध है कि गोस्वामी तुलसीदास की बाहु (बांह) में जब दर्द रहने लगा तो उन्होंने 'हनुमानबाहुक' नामक पुस्तिका लिख दी, जिस में हनुमानजी से दर्दनिवारण के लिए प्रार्थना की गई है. उधर पुस्तिका तैयार, इधर दर्द गायब.

यदि आधुनिक मेडिकल साइंस ने उन्नति न की होती तो आज भी बांह में दर्द रहने वाले हर व्यक्ति को व्रजभाषा में हनुमानजी को पद्यबद्ध प्रार्थनापत्र लिखना पड़ता. क्या यह आम आदमी के लिए संभव है कि इधर बाहुदर्द हो और उधर वह व्रजभाषा सीखे, फिर उस में पद्यबद्ध रचना करना सीखे और तब जा कर हनुमानजी के आगे प्रार्थनापत्र प्रस्तुत करे? दर्द से पीड़ित आदमी तो पहले से सीखी बातें भी भूल जाता है. नई बातें वह कहां से सीखेगा? फिर हनुमानजी के मूड का भी क्या भरोसा!

यह तो आज की वैज्ञानिक उन्नति का कमाल है कि 2-4 रुपयों की गोली से दर्दवर्द सब काफूर हो जाते हैं.

पंजाब विश्वविद्यालय में 'गद्यप्रवाह' नामक एक पुस्तक बी.ए. (अंतिम वर्ष) के हिंदी के कोर्स में कई वर्षों से पढ़ाई जा रही है. इस में एक निबंध है, जिसे मैं जब भी पढ़ाता हूं, सारी कक्षा उस में लिखित ज्वर की औषध पर हंस पड़ती है.

लेखक बीमार है और उसे शंकराचार्य (8वीं सदी) द्वारा लिखा ज्वर को दूर करने का नुस्खा याद आता है और वह बोल उठता है:

वसंते सानंदे कुसुमितलताभिः परिवृते
स्फुटनानापद्मे सरसि कलहंससुभगे.
सखीभिः खेलंतीं मलयपवनांदोलितजले
स्मरेद् यस्त्वां तस्य ज्वरजनितपीड़ापसरति.

– आनंदलहरी

अर्थात हे देवी, तुझे वसंत में फूलों से भरी लताओं से घिरे, नाना प्रकार के कमलों से सुशोभित और सुगंधित हवाओं से हिल रहे पानी वाले सरोवर में अपनी सखियों के साथ आनंदपूर्वक खेलती हुई को जो याद करता है, उस का ज्वर दूर हो जाता है.

मैं एक दिन बैठा शंकराचार्य की 'सौंदर्यलहरी' का अवलोकन कर रहा था कि उस में भी इसी तरह का एक पद्य देखने को मिला है:

किरंतीमंगेभ्यः किरणनिकुरुंबामृतरसं
हृदि त्वामाधत्ते हिमकरशिलामूर्तिमिव यः.
स सर्पाणां दर्पं शमयति शकुंताधिप इव
ज्वरप्लुष्टान् दृष्ट्या सुखयति सुधाधारसिरया.

– सौंदर्यलहरी, 20

अर्थात हे देवी, जो तुम्हारे उस रूप का ध्यान करता है जिस में तुम्हारे शरीर से आनंद की प्रकाशवती लहरें उसी प्रकार निकलती हैं जैसे चंद्रमणि से निकला करती हैं, वह अपनी दृष्टिमात्र से बड़ेबड़े सांपों के गर्व को गरुड़ की तरह चकनाचूर कर देता है, वह जिस को देखता है, अमृत बरसाने वाली नाड़ी की तरह उस की हर बीमारी को और हर तरह के ज्वर को शांत व दूर कर देता है.

'आनंदलहरी' में जहां सरोवर में नहा रही और सखियों से खेल रही देवी का ध्यान करने पर ज्वर के शांत होने की बात कही गई है, वहीं 'सौंदर्यलहरी' में उस व्यक्ति की नजरों में ही हर बीमारी और हर बुखार को दूर करने की शक्ति प्रतिपादित की गई है जो देवी के स्वरूपविशेष का ध्यान करता है.

ये दोनों पुस्तकें अद्वैत वेदांत के प्रवर्तक आदि शंकराचार्य द्वारा रचित बताई जाती हैं. उन के जीवनीकारों ने उन्हें भगंदर (फोड़े) से पीड़ित बताया है और लिखा है कि उस से बहने वाला रक्त उन की धोती पर सदैव लगा रहता था. उस के इलाज

के लिए तो उन्होंने ऐसा कोई नुस्खा नहीं लिखा है. वह तो केवल बुखार दूर करने की विधियां ही लिखते रहे, (यदि उपर्युक्त पुस्तकें निर्विवाद उन्हीं की कृतियां हैं.) और उन की नजर में बुखार एक ही किस्म का होता था.

ये एक तरह से मंत्र पढ़ कर बीमारी दूर करने वाले टोनेटोटके हैं, जिन का प्रयोग आज भी गांवों में ओझा, बाबा और पाखंडी करते हैं. वे इस तरह के मंत्रों को पढ़ने के बाद धागे, तावीज भी देते हैं. आप दुकानों और कई आधुनिक शोरूमों तक के बाहर इन्हें टंगे देख सकते हैं. हरी मिर्चों के साथ पिरो कर टंगे नीबू अकसर देखने में आते हैं.

ये धागे और तावीज न केवल बीमारी से बचाते हैं बल्कि दुकान पर ग्राहकों को भी खींच कर लाते हैं, गृहकलह को शांत करते हैं और रोजगार की गारंटी देते हैं.

हर मंगलवार को 'हनुमान चालीसा' का मंदिरों में लाउडस्पीकरों पर पाठ होता है. अब तो उस की वीडियो कैसेट और सीडी भी उपलब्ध हैं. हमारे यहां हर अंधविश्वासपूर्ण बात का विज्ञान द्वारा उत्पादित नवीनतम साधनों से प्रचार किया जाता है और कमाई बढ़ाई जाती है, पर खुद विज्ञान के अनुरूप नहीं बनते. उस पर पलने वाले परजीवी ही बने रहते हैं और छद्म विज्ञान बघारते हैं.

पहले हैदराबाद में मछली निगलवा कर अस्थमा (दमा) को ठीक किया जाता था और उस स्थान विशेष को 'दैवी वरदान प्राप्त' कह कर प्रचारित किया जाता था. अब उस के नाम पर विभिन्न शहरों में मछली निगलवाने के केंद्र खुल गए हैं. अखबारों में जो विज्ञापन छपते हैं उन में मछली मुफ्त निगलवाई जाती है. पर साथ ही पूरे कोर्स के कई रेट दिए होते हैं, बढ़िया और घटिया के हिसाब से.

यदि औषध का कोर्स बाद में भी कई सप्ताह व महीने चलना है तो फिर मछली का क्या माहात्म्य रह जाता है? वे छद्म विज्ञान बघारते हुए कहते हैं कि वह फेफड़ों से बलगम आदि साफ कर देती है. बात लोग सुनते हैं और संतुष्ट हो जाते हैं. लोग पल भर के लिए यह सोचने का कष्ट नहीं करते कि मछली तो आमाशय में जाती है, वहां से आगे उस का अवशेष शौच (मल) के रूप में बाहर आ जाता है. कोई भी वस्तु फेफड़ों में न जाती है, न जा सकती है. यदि किसी दुर्घटनावश वहां पहुंच भी जाए तो आदमी की मौत निश्चित है.

हर मंगलवार को (कई मंदिरों में तो प्रतिदिन) उच्च स्वर से होने वाले 'हनुमान चालीसा' के पाठ में कहा जाता है:

संकट हटे मिटे सब पीरा,
जो सुमिरै हनुमत बलवीरा.
या
को नहिं जानत है जग में
कपि संकटमोचन नाम तिहारो.

जब हनुमानजी के स्मरण मात्र से सारे संकट और सारी पीड़ाएं मिटने का धर्मस्थानों से प्रचार हो रहा हो तो धर्मभीरु आम आदमी उस से प्रभावित हुए बिना

कैसे रह सकता है? वह यह नहीं सोचता कि रामायण में जब लक्ष्मण मूर्च्छित हुए थे तो हनुमान लंका से सुषेण वैद्य को तथा किसी सुदूरपर्वत से संजीवनी बूटी लाए थे. वहां उन्होंने यह नहीं कहा था, ''दवा और वैद्य की क्या जरूरत? मैं हूं न.''

पाखंड की कमी नहीं

उधर कम्युनिस्ट चीन से नए किस्म के धागे और तावीज आ रहे हैं, जो चीनीमिट्टी व धातु के बने हैं. विदेशी चीज हो, फिर वह भी उस देश से आ रही हो जहां कम्युनिस्टों का राज है, तो लोग उस की तरफ आकृष्ट होंगे ही, यह सोच कर कि इन चीजों को तो कम्युनिस्ट तक भी मानते हैं, हालांकि वे कहते हैं कि परमात्मा नहीं होता. इसलिए इन में तो कोई शक्ति होगी ही! फेंगशुई एक आयातित अंधविश्वास है, जो हिंदू वास्तुशास्त्र का भी बाप बताया जाता है. इस से घर में आग नहीं लगती, शत्रु नष्ट होते हैं, कोई बीमार नहीं होता, धन और धान्य से घर भरा रहता है आदि न जाने कितने लाभ बताए जाते हैं.

पर यदि इस पाखंड में इतनी ही शक्ति है तो फिर वहां कम्युनिज्म की क्या जरूरत थी? आज भी वहां के कई इलाकों में किसान आत्महत्याएं क्यों कर रहे हैं? यदि इन मूर्तियों, घंटियों आदि के लटकाने मात्र से समृद्धि आती है तो फिर चीन स्वयं क्यों बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने यहां पूंजी लगाने के लिए मनाता फिर रहा है और उन पूंजीपतियों को तरहतरह की रियायतें दे कर अपने देश में पूंजीनिवेश के लिए राजी कर रहा है जिन्हें कम्युनिस्ट पानी पीपी कर कोसते थे?

अध्यात्मवाद के व्यापारी

हमारे अध्यात्मवाद के व्यापारी भी दूसरे देशों में इसी तरह मन की शांति बेचते हैं, जबकि खुद उन का देश अनेक समस्याओं से घिरा हुआ है. हमारे अधिकतर आयुर्वेदाचार्य, जो अपने को डाक्टर कहलवा कर खुश हैं, एलोपैथी की दवाइयां मरीजों को दे कर आयुर्वेद की महिमा का प्रचार करते है और पश्चिमी ढंग का जीवन जीते हैं.

आम आदमी समझता है कि यह सब आयुर्वेद का कमाल है, पर यदि इस के नाम पर दुकानदारी करने वालों पर सख्ती से यह पाबंदी आयद कर दी जाए कि वे केवल आयुर्वेदीय दवाइयां मरीज को पिला सकते हैं, तो सारी पोल खुल जाएगी.

नीमहकीमी अपने यौवन पर

सर्वोच्च न्यायालय ने 1996 में एक फैसले में कहा था कि जो व्यक्ति पढ़ाई किसी एक चिकित्सा पद्धति की करता है, पर दवाइयां किसी दूसरी पद्धति की देता है, वह 'नीमहकीम' होता है. आज नीमहकीमी अपने यौवन पर है. इंडियन मेडिकल एसोसिएशन की पंजाब इकाई के प्रधान ने अपने एक बयान में कहा है कि 90 प्रतिशत से अधिक आयुर्वेदाचार्य वैद्य और यूनानी हकीम एलोपैथी की दवाइयों का प्रयोग कर

रहे हैं और 10 प्रतिशत ऐसे डाक्टर हैं जिन्होंने पढ़ाई तो एलोपैथी की की है, पर वे बरतने लगे हैं आयुर्वेदीय व यूनानी दवाइयां. बयान में सरकार से मांग की गई है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 'नीमहकीम' करार दिए गए इस तरह के लोगों को जनता की जिंदगियों से खिलवाड़ करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए तथा इन के विरुद्ध सख्त काररवाई की जानी चाहिए.

यदि आयुर्वेदीय व यूनानी पद्धतियों में शिक्षित 90 प्रतिशत लोग एलोपैथी की दवाइयां देते हैं तो जरूर कहीं न कहीं गड़बड़ है. इस पर गंभीरता से विचार होना चाहिए तथा मेडिकल कानूनों को कठोरता से लागू किया जाना चाहिए.

योगा का धोखा

पिछले कुछ समय से योग का धुआंधार प्रचार हो रहा है और अपने को 'मौड' कहने वाले, उलटेसीधे व कम वस्त्र पहनने वाले तथा अजीबोगरीब ढंग के बालों को रखने के शौकीन लोग भी इस प्राचीन योग को 'योगा' कह कर अपना रहे हैं.

योग का प्राचीनतम ग्रंथ

योग का जो प्राचीनतम ग्रंथ उपलब्ध है वह है, पतंजलि का 'योगसूत्र' या 'योगदर्शन'. इस ग्रंथ में कुल 194 सूत्र हैं, जिन में से केवल एक सूत्र में 'आसन' शब्द का इस्तेमाल हुआ है : 'स्थिरसुखमासनम् (सूत्र 97), अर्थात जो स्थिर हो और सुखदायक हो उसे आसन कहते हैं.

इस सूत्र के अलावा योगसूत्रों में कहीं भी आसनों की चर्चा नहीं है. आज जो आसन 'योगा' के नाम पर प्रचारित किए जा रहे हैं वे पतंजलि के योगसूत्र/योग दर्शन में कहीं भी दिखाई नहीं देते. वे तो बहुत बाद की पुस्तकों में मिलते हैं, जिन के लेखक न तो चिकित्साशास्त्री थे और न ही मरीजों का इलाज करने का किसी तरह का अनुभव हासिल किए थे. यही कारण है कि वे आसन प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रंथों, (चरक संहिता, सुश्रुत आदि) में नहीं पाए जाते.

शारीरिक कष्टों द्वारा सिद्धि

इन आसनों का वर्णन करने वाले ग्रंथों के रचयिता एक खास तरह के लोग थे, जो सिद्धि को प्राप्त करने के लिए शरीर को तरहतरह के कष्ट देने में विश्वास करते थे. कोई सिर के बल खड़ा होता था तो कोई उलटा लटकता था. ऐसे लोगों का विश्वास था कि शरीर को कष्ट द्वारा तपा कर ही सिद्धि प्राप्त की जा सकती है. ये लोग 'हठयोगी' कहलाते थे.

इन का कहना है,

"हठाच्चेतसो जयम्, हठेन लभ्यते शांति:"

अर्थात हठ से मन को जीता जाता है, हठ से शांति प्राप्त होती है.

हठयोगियों का मत

हठयोगियों ने योग आसन इसलिए नहीं बनाए थे कि उन्हें औषधालय चलाने थे या लोगों के स्वास्थ्य की उन्हें चिंता थी, बल्कि ये आसन तो उन्होंने अपने मन को स्थिर करने के लिए बनाए थे :

अभ्यासाद्यस्य देहोऽयं योगोपयिकतां व्रजेत् !
मनश्च स्थिरतामेति प्रोच्यते तदिहासनम् !!

श्रीधर्मकल्पद्रुम, चतुर्थ खंड पृ. 12

अर्थात जिस के अभ्यास से शरीर योग के उपयुक्त तथा मन स्थिर हो जाता है, उस का नाम आसन है.

हठयोगशास्त्र का कहना है कि पुराने समय में महादेव (शिव) ने 84 लाख आसनों का वर्णन किया था. उन में से 84 आसन खास हैं और इस मृत्युलोक में 33 आसन मंगलजनक हैं.

हठयोगी इन्हीं 33 आसनों के द्वारा पहाड़ों, वनों आदि में योग साधना करते हुए शरीर को कष्टों से तपाते थे ताकि उन का मन स्थिर हो सके.

सहजमार्गियों का मत

बाद के सहजमार्गियों ने इस हठयोग को कृत्रिम और अनुपयोगी कह कर रद्द कर दिया. मन की स्थिरता के बारे में आधुनिक विज्ञान भी हठवाद को मानवीय मनोविज्ञान के विपरीत बताता है. यदि योगी की तरह कोई मन को स्थिर कर भी लेता है तो वह वैसे ही निरर्थक और अनुपयोगी है क्योंकि किसी बिंदु पर, नाक की नोक पर या शून्य में मन को स्थिर करने से कुछ भी हासिल नहीं होता. इसीलिए वर्षों साधना कर मन को स्थिर करने वाले हठयोगी न कोई खोज कर सके और न सामाजिक उपयोग की कोई वस्तु ही बना सके. वे केवल परोपजीवी बन कर रह गए.

यह धारणा भी भ्रम ही पैदा करती है कि जो शून्य में या नाक की नोक पर मन टिकाता है वह किसी भी विषय के बारे में एकाग्रचित्त हो सकता है. आज तक योगी किस दूसरे विषय पर एकाग्र चित्त हो सके हैं?

किसी भी विषय में एकाग्रचित्त होने के लिए योग की नहीं रुचि और बुनियादी जानकारी की जरूरत होती है. यदि 15-20 साल से हिमालय की गुफा में योगसाधना करने वाले किसी योगी को कंप्यूटर की कक्षा में ला कर बैठा दिया जाए तो वह इस से उस विषय के प्रति स्थिरचित्त नहीं हो सकेगा कि वह योगसाधना करता रहा है, यदि उसे पहले से संबद्ध विषय का न आधारभूत ज्ञान हो और न उसे सीखने की रुचि.

आसनों से इलाज के दावे

हठयोगियों के इन आसनों को जब से मंडी की वस्तु बनाया गया है तब से इन से तरहतरह के रोगों का इलाज करने के दावे किए जा रहे हैं. कोई आसन से मधुमेह का इलाज बताता है तो कोई ब्लड प्रेशर का; हालांकि किसी भी योगशास्त्रीय ग्रंथ में

तो क्या किसी आयुर्वेदीय ग्रंथ तक में भी न शूगर लेवल जांचने का कोई साधन है, न ब्लड प्रैशर मापने का. किसी योगर्षि द्वारा कैंसर का इलाज बताया जा रहा है तो कोई हृदय रोग के शर्तिया उपचार का दम भरता है. भाव यह कि जो बीमारियां आज ज्यादा चलन में हैं उन की चिकित्सा योगआसनों द्वारा करने के दावे देखेसुने जा सकते हैं.

कुछ लोगों ने तो उन ब्रह्मचारी योगियों के ईश्वर प्राप्ति के साधनभूत आसनों को 'सेक्स पावर' प्राप्त करने के लिए भी बेचना शुरू कर दिया है.

यहां दो बातें खासतौर पर ध्यान देने लायक हैं. पहली यह कि जब मध्यकाल में हठयोग की ये पुस्तकें लिखी गई थीं तब ब्लड प्रैशर, कैंसर, हार्ट अटैक, एड्स जैसी बीमारियां थीं ही नहीं और होंगी तो लोग जानते नहीं थे, क्योंकि संस्कृत के किसी भी ग्रंथ में इन के नाम तक नहीं मिलते. मेरे सामने दो ग्रंथ पड़े हैं–एक है 'श्रीधर्मकल्पद्रुम', जो पिछली शताब्दी के दूसरे दशक में लिखा गया था. उस के चतुर्थ खंड का चतुर्थ संस्करण 1963 में प्रकाशित हुआ था जिस में हठयोग की चर्चा है. दूसरा है 'पातंजलयोगप्रदीप'. इस का प्रथम संस्करण 1941 में छपा था. गीताप्रेस गोरखपुर से इस का नौवां संस्करण 1950 में छपा था.

दोनों आधुनिक ग्रंथों में योग आसनों की विस्तृत चर्चा है और इन के लाभ भी लिखे गए हैं. 'पातंजलयोगप्रदीप' में संस्कृत का मूलपाठ नहीं दिया गया है, लेकिन 'श्रीधर्मकल्पद्रुम' में संस्कृत का मूलपाठ भी उपलब्ध है.

इन ग्रंथों में मन की एकाग्रता के साथ इन आसनों के जो लाभ गिनाए गए हैं, वे इस तरह के हैं : कब्ज दूर होता है, भूख तेज होती है, पेट के सारे रोग दूर होते हैं, सब रोग दूर होते हैं. ये लाभ इतनी बार दुहराए गए हैं कि पढ़तेपढ़ते आदमी ऊब जाता है, क्योंकि ज्यादातर आसनों के यही लाभ बताए गए हैं.

कुछ अन्य लाभ भी वर्णित हैं. मसलन, रक्त संचार ठीक होता है. रक्त शुद्ध होता है, कमर, गरदन और घुटने का दर्द दूर होता है, फेफड़े मजबूत होते हैं, गरदन, बाहु, घुटने, जंघा आदि को लाभ पहुंचता है, रीढ़ की हड्डी मजबूत होती है, हृदय मजबूत होता है, थकान दूर होती है, वीर्यदोष दूर होता है, यकृत (जिगर) की बीमारी दूर होती है, पांडुरोग तथा अर्श (बवासीर) रोग हटते हैं.

परंतु आज जिन खास रोगों की अचूक दवा के रूप में योगासनों को प्रचारित किया जा रहा है, उन का प्राचीन हठयोग–शास्त्रीय ग्रंथों में कहीं नाम तक उपलब्ध नहीं. यही कारण है कि 1941 में लिखे गए 'पातंजलयोगप्रदीप' तक में न आधुनिक रोगों के नाम हैं और न उन के इलाज के रूप में इन प्राचीन आसनों को कहीं दर्शाया गया है.

दूसरी बात जो ध्यान देने लायक है वह यह है कि इन योगासनों से बीमारियां दूर करने वालों के पुराने और आधुनिक दावों को कभी सत्यापित नहीं किया गया.

भगवे वस्त्रों वाले योगी या योगप्रचारक बढ़ाचढ़ा कर आसनों के गुण गाते रहते हैं और जो लोग बीमारी से पीड़ित होते हैं और योगियों के प्रति परंपरा से श्रद्धाभाव रखते हैं, उन्हें सुन कर खुद भी अपनों के बीच उस सब को दोहराते रहते हैं.

एक पढ़ेलिखे महाशय मेरे पास आ कर योगा का गुणगान करते हुए कहने लगे, "आप नहीं जानते, योगी पूरी धोती निगल लेते हैं. उस के एक सिरे को मुंह की ओर से पकड़ कर तथा गुदा की तरफ से निकले दूसरे सिरे को नीचे से पकड़ कर ऐसे हिलाते हैं कि अंदर से सारा शरीर एकदम साफ हो जाता है."

मैं ने उन्हें समझाया कि यह एकदम असंभव है. बोले, "कैसे ?" मैं ने कहा, "पहले तो इस कारण कि हमारे शरीर की अंतड़ियां गले से ले कर गुदा तक 8 मीटर 25 सेंटीमीटर लंबी हैं. ऐसी सवा 8 मीटर लंबी नली से 5 मीटर की धोती को गुजारें तो दूसरा सिरा दूसरी ओर से बाहर निकल ही नहीं सकता.

"दूसरे, इनसान का शरीर ऐसा खाली पीपा नहीं है जिस में एक छेद ऊपर की ओर हो और दूसरा नीचे की ओर. ऊपर के छेद में पानी डाला और नीचे के छेद से निकल गया. मानव शरीर की रचना से बिलकुल अनभिज्ञ व्यक्ति ही ऐसी बेसिरपैर की बात कर सकता है.

"गले से जो खुराकनली आमाशय तक जाती है वह 25 सेंटीमीटर लंबी है. उस के बाद आमाशय आता है, जहां सारा खाद्य पदार्थ समाता है. यह एक तरह का डब्बा है, जिस के नीचे से छोटी आंत शुरू होती है. इस का व्यास ढाई सेंटीमीटर है और यह साढ़े छह मीटर लंबी है. पेट में यह टेढ़ेमेढ़े ढंग से पड़ी रहती है. इस का अंदरूनी भाग लेसदार सैलों और वाइली के कारण तौलिए के रोएं के समान है. इस के बाद डेढ़ मीटर लंबी बड़ी आंत शुरू हो जाती है, जो ऊपर को भी जाती है, समतल भी जाती है और नीचे को भी जाती है.

"धोती को यदि कोई निगले तो वह ज्यादा से ज्यादा आमाशय तक ही पहुंच सकती है. उस के आगे, किसी भी स्थिति में कपड़ा नहीं जा सकता. आमाशय से छोटी आंत में कपड़े के पहुंचने का सवाल ही नहीं पैदा हो सकता."

वह महाशय मेरी बातों का जब कोई जवाब नहीं दे पाए तो कहने लगे कि योग साधना से सबकुछ संभव है.

मैं ने कहा, "और सबकुछ तो शायद कभी संभव हो भी, लेकिन आप का धोती वाला योग कभी संभव नहीं. और योग का कोई भी ग्रंथ इस बात का समर्थन नहीं करता."

मैं ने जब उन्हें समझाते हुए बताया कि योग के ग्रंथों में धौतिकर्म का वर्णन आता है, धोती का नहीं, तो वह बोले, "वही तो धोतीकर्म है, जिस की मैं बात कर रहा हूं."

मैं ने कहा, "आप योग के ग्रंथों के मर्मज्ञ होने का दिखावा करते हैं, परंतु धौतिकर्म और धोतीकर्म को एक ही बात कहे जा रहे हैं."

फिर मैं ने उन्हें 'धर्मकल्पद्रुम' के खंड 4 में धौतिकर्म से संबंधित निम्नलिखित श्लोक दिखाया :

चतुरंगुलविस्तरं सूक्ष्मवस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।
पुनः प्रत्याहरेदेतत्प्रोच्यते धौतिकर्मकम् ।।

अर्थात चार अंगुल के सूक्ष्म वस्त्र को धीरेधीरे गले से नीचे उतारे. फिर उसे वापस बाहर निकाल लें. इस को धौतिकर्म कहते हैं.

यहां चार अंगुल फैलाव वाले सूक्ष्म वस्त्र को गले के नीचे उतार कर, निगल कर, पुनः वापस निकालने की बात है. इस में धोती वाली कोई बात नहीं कही गई है.

वह महाशय कहने लगे कि श्लोक में 'धोती' शब्द तो साफतौर पर प्रयुक्त हुआ है. उन के ऐसा कहने भर से एकदम मुझे सारी बात स्पष्ट हो गई. वे 'धौति' को 'धोती' समझ रहे थे. जिस ने उन्हें योग की महिमा समझाई थी या तो उस ने अपना अज्ञान उन में भर दिया था या फिर खुद उन्होंने अपनी अज्ञानता के आधार पर धोतीकर्म की कल्पना कर ली थी.

'धौति' संस्कृत का शब्द है जिस का अर्थ है, धोना, शुद्ध व साफ करना; जबकि धोती संस्कृत के शब्द 'धटी' का तद्भव रूप है और इस का अर्थ है कमर से घुटनों तक या सारे शरीर को ढकने के लिए कमर में लपेट कर पहना जाने वाला कपड़ा.

यह एक उदाहरण है सुनीसुनाई योग की महिमा को दूसरों के सामने दोहरा कर उन्हें गुमराह करने का.

इस बात में संदेह नहीं कि कुछ आसन अच्छे व्यायाम कहे जा सकते हैं, यद्यपि इन के जनकों के लिए वे व्यायाम के साधन कदापि नहीं थे. इस से ज्यादा इन का महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता. योग से न बवासीर दूर हो सकती है और न ही पांडुरोग व यकृत आदि की बीमारियां. इन के उपचार के लिए योगासन कभी काम नहीं आए. 'महाभारत' का पांडु–पांडवों का बाप–इस पांडु रोग से ही मरा था.

योगासन से हृदय की मजबूती

योगासन से हृदय की मजबूती की जो बात कही गई है वह भी वास्तविक नहीं लगती. योगी भजनसिंह प्रसिद्ध हठयोगी थे और उस के प्रचारक के साथसाथ शिक्षक भी थे. पिछले दिनों वह अमेरिका में हृदयरोग के कारण ही मृत्यु को प्राप्त हुए हैं. क़िसी आसन से न तो उन का हृदयरोग दूर हुआ, न गुर्दों को पुष्टि प्राप्त हुई. यह तो एक ताजा उदाहरण है.

कई मामलों में तो हठयोगशास्त्र में उपर्युक्त दावों से भी बढ़ कर दावे किए गए हैं. उन की जांच करने के लिए विशेष प्रयत्न अपेक्षित नहीं है. प्राणायाम को ही लें. हठयोग के अनुसार यह 8 प्रकार का है. इस का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है :

1. सहित प्राणायाम करने वाला आकाश में उड़ सकता है और उस के सब रोग नष्ट हो जाते हैं:

प्राणायामात्खेचरत्वं प्राणायामाद्रुजाक्षयः.

2. उज्जायी प्राणायाम से बुढ़ापे और मृत्यु का नाश होता है, अर्थात इस प्राणायाम

को करने वाला न बूढ़ा होता है न मृत्यु को प्राप्त होता है. उस के सब रोग नष्ट हो जाते हैं:

जरामृत्युविनाशाय, नश्यन्ति सकला रोगाः !

3. **शीतली प्राणायाम से सब रोग नष्ट हो जाते हैं :**

सर्वे रोग विनश्यंति !

4. **भस्त्रिका प्राणायाम से न रोग रहता है न क्लेश. प्रतिदिन आरोग्य बढ़ता है:**

न च रोगा न च क्लेश आरोग्यं च दिने दिने !

5. **केवली प्राणायाम से दैविक, मानसिक और शारीरिक बीमारियां नष्ट होती हैं :**

त्रिविधांस्तापान्नाशयति ध्रुवम् !

उपयुक्त 8 प्रकार के प्राणायामों में से 5 प्रकार के प्राणायाम 'सब रोगों को नष्ट' करने वाले कहे गए हैं. 'सब रोगों' में तो सारे रोग आ जाते हैं. यदि प्राणायाम से सारे रोग नष्ट होते हैं तो फिर और क्या चाहिए ? फिर तो आयुर्विज्ञान के बड़ेबड़े पोथों और इस क्षेत्र में नएनए अनुसंधानों की जरूरत ही नहीं है. पर क्या यह सत्य भी है? नहीं, क्योंकि प्राणायाम करने वाले भी डाक्टरों के पास जाते हैं, अस्पतालों में भरती होते हैं और आधुनिक दवाइयों का सेवन कर रोगमुक्त होते हैं.

यदि प्राणायाम से सब रोग दूर हो जाते तो फिर अस्पताल गिरा कर योगाश्रम ही बना दिए जाते और मेडिकल कालिजों के स्थान पर योग साधना केंद्र ही बनते.

जिस तरह प्राणायाम संबंधी दावे झूठे हैं उसी तरह आसनों की बाबत किए गए सारे दावे भी सच साबित नहीं होते.

यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि योग की जैन परंपरा ने प्राणायाम को रद्द करते हुए कहा है कि इस से आदमी का मन स्वस्थ और स्थिर नहीं रहता है, क्योंकि जब प्राणों को रोका जाता है, तब उस से मन में व्याकुलता पैदा होती है व मन विचलित हो जाता है. पूरक, कुंभक और रेचक प्राणायाम करने में परिश्रम करना पड़ता है, जिस से मन में संक्लेश पैदा होता है. इस तरह प्राणायाम मुक्ति के मार्ग की बहुत बड़ी बाधा है:

तन्नाप्रोति मनःस्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम्
प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः.
पूरणे कुंभने चैव रेचने च परिश्रमः,
चित्तसंक्लेशकरणान्मुक्तेः प्रत्यूहकारणम्.

– हेमचंद्रकृत योगशास्त्र 6/4-5

प्राचीन योगियों ने तो इस तरह के दावे अपने थोड़े से अनुयायियों को सम्मोहित

करने के लिए किए थे, पर आज के 'योगा' के व्यापारी तो बहुत विशाल स्तर पर लोगों को ऐसे दावों से गुमराह कर रहे हैं.

परंपरागत इलाज प्रणालियां विश्वास के लायक नहीं

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने परंपरागत इलाज प्रणालियों के प्रति दुनिया भर के देशों की सरकारों को चेतावनी देते हुए कहा है कि ये इलाज न तो विश्वास के लायक हैं और न सुरक्षित. इन के दुष्प्रभावों के कारण मौतों की खबरें बढ़ रही हैं. अतः जरूरी है कि परंपरागत इलाज विधियों के बारे में जानकारी जुटा कर उसे वैज्ञानिक कसौटी पर परखा जाए.

स्वास्थ्य बहुत महत्त्वपूर्ण चीज है. गलत हाथों में पड़ कर आदमी को प्राणों से भी हाथ धोना पड़ सकता है. अतः हम सब को नीमहकीमों से ही नहीं, 'योगा' वालों से भी बच कर चलना होगा. श्रद्धा और अंधविश्वास के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाना होगा.

इस बारे में जो भ्रामक धारणाएं जानबूझ कर निहित स्वार्थियों द्वारा फैलाई जा रही हैं, उन के प्रति भी हमें सचेत होना होगा, क्योंकि यह सच नहीं है कि जड़ीबूटी से बनी दवाइयां हानिकारक नहीं होतीं. वे हानिकारक भी हो सकती हैं और कम प्रभावकारी भी.

अपने अंधविश्वास के अधीन लोग 'योगा' भी करते हैं और उस के साथ डाक्टरों की दवाइयां भी खाते रहते हैं. यदि लाभ होता है तो श्रद्धावश उसे 'योगा' के खाने में डाल देते हैं और लाभ न हो तो डाक्टर को कोसते रहते हैं. इसी तरह यदि 'योग करने' के कारण दवा न लेने पर स्थिति बिगड़ जाए तो अस्पताल में दाखिल हो कर स्वास्थ्य–लाभ प्राप्त करने की कोशिश करते हैं, पर दोषी योग के बारे में चुप्प साध लेते हैं.

यह ऐसे ही है जैसे यदि किसी मंदिर/मजार पर मनौती मानने के बाद किन्हीं दूसरे कारणों से इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाए तो उसे उस देवीदेवता/पीर की शक्ति कह कर जोरशोर से प्रचारित करने लगते हैं, लेकिन जब असफल हो जाते हैं तो अपनी किस्मत को कोस कर संतोष कर लेते हैं.

योग : कमरतोड़ बोझ

योग के कई धंधेबाज आम आदमी को अपनी ओर खींचने के लिए कहा करते हैं कि यह हमारे ऋषियोंमुनियों का आविष्कार है, यह विश्व को हिंदुओं की बहुमूल्य देन है. पर क्या यह वास्तव में ऐसा है?

वेद, जो हिंदुओं के प्राचीनतम लिखित दस्तावेज हैं, में योग शब्द तो उपलब्ध होता है, परंतु वहां उस का अर्थ तो कुछ और ही है, न कि वह जो आज इस शब्द का अर्थ बताया जाता है. ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र को देखें:

'क्वत्री चक्रा त्रिवृतो रथस्य क्वत्रयो वन्धुरो ये सनीलाः
कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः.'

– ऋग्वेद, 1/34/9

अर्थात हे नासत्य [अश्विद्वय]! तुम्हारे त्रिकोण रथ के 3 चक्र कहां हैं? बंधनाधारभूत नीड़ या रथ के उपवेशनस्थान के तीनों काठ कहां हैं? कब बलवान गर्दभ तुम्हारे रथ में जोते जाते हैं, जिस के द्वारा हमारे यज्ञ में आते हो (पं. रामगोविंद त्रिवेदी, हिंदी ऋग्वेद) 1954, पृ. 45

यहां योग का अर्थ 'रथ में गधे आदि को जोतना' है. चारों वेदों के प्राचीन भाष्यकार सायणाचार्य ने लिखा है:

योगः रथे योजनम्

– ऋग्वेद 1/34/9 पर सायणभाष्य

अर्थात योग का अर्थ है:रथ में जोड़ना; जबकि योग वाले योग शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं कि, चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम योग है:

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

– पातंजलयोगसूत्र 1/2

स्पष्ट है, वेद में योगशास्त्र अथवा योगमार्ग के कहीं दर्शन नहीं होते.

योग आदिवासियों की आदिम प्रथाएं

वस्तुतः योग वेदों के रचे जाने से पहले ही यहां के आदिवासियों में प्रचलित कुछ आदिम प्रथाओं के रूप में मौजूद था. इसलिए देवीप्रसाद चटोपाध्याय लिखते हैं,

"जब हम इन (यौगिक) क्रियाओं, विशेषत: आसन, प्राणायाम आदि, के विस्तृत विवरण में उतरते हैं तो इन का प्रागितिहास आंख के सामने चमक जाता है; क्योंकि ये क्रियाएं हमें 'पीछे ले जाती हैं, आदिम युगों, वनचर जातियों के उन्मादपूर्ण कर्मकांडों में जहां भारीभरकम क्षमताएं प्राप्त करने के इरादे से अनेक प्रकार की ऐसी चेष्टाएं की जाती हैं जो वस्तुत: और कुछ नहीं जानबूझ कर अस्वस्थ, अस्वाभाविक मानसिक अवस्थाएं पैदा करने के सिरतोड़ तरीके हैं. गाउ, कीथ, वाले, पूसे, गार्बे आदि विद्वानों ने स्पष्ट दिखलाया है कि योग क्रियाओं का उद्‌गम इस प्रकार की आदिम कल्पनाओं और रस्मों में था." (देखें, भारतीय दर्शन, अंगरेजी से हिंदी अनु, पृ.152)

लक्ष्मणशास्त्री जोशी लिखते हैं कि योग वैदिककाल के पहले की संस्कृति से संबद्ध हैं. वह आगे लिखते हैं कि अवैदिक अर्थात वेदविरोधी मत धर्मनिरपेक्ष-विज्ञानों के साथसाथ विकसित हुआ. इन अवैदिक मतों में शामिल हैं : सांख्य, योग, वैशेषिक, लोकायत, बुद्ध, जैन और शैव. वह दूसरी जगह लिखते हैं, 'योगमार्ग वैदिक युग से पहले के काल में शुरू हुआ जब धार्मिक साधुसंन्यासी और जादूगर को समान रूप से समाज में सम्मान मिलता था. सिंधुघाटी के अवशेषों में शिव की मूर्ति मिली है, जो योग की प्राचीनकालिकता की ओर इशारा करती है.' (डिवेलपमेंट आफ इंडियन कल्चर, मराठी से अंगरेजी अनु., पृ. III, 163 तथा 176)

दामोदर धर्मानंद कोसंबी का मानना है कि कबीलाई ओझा या वैद्य के अनुष्ठानों ने तपस्वी के जीवन पर अपना प्रभाव दंडमूलक व्रतों के रूप में छोड़ा. लंबे समय तक भोजन व पानी का त्याग, प्राणायाम, बेहद कठिन आसनों में शरीर को साधना, यह तथा अन्य अनेक निरर्थक क्रियाएं दिव्य शक्तियां प्रदान करने वाली समझी जाती थीं. माना तो यह भी जाता था कि सच्चे साधक को अदृश्य होने अथवा इच्छानुसार हवा में उड़ने की सिद्धि प्राप्त हो जाती है, बाद की योगक्रियाएं और शरीरासन इसी से विकसित हुए. (प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, हिंदी अनु., पृ 137)

सिलसिला आदानप्रदान का

इन सब विद्वानों ने योग को वैदिक काल से पहले का माना है; पर वेदों में इस तथाकथित योग की कहीं गंध तक नहीं है. ऐसा क्यों? इस का उत्तर बिलकुल सरल है. जब वैदिक आर्य यहां आए या जब यहीं के आर्य दूसरे कबीलों से जूझ कर विजयी हुए तब वे अपने यज्ञों के कट्टर पक्षधर थे.

वे विजेता होने की धौंस में अपना मत–यज्ञवाद–दूसरों पर लादते थे और खुद भी व्यवहार में उस का कट्टरता से पालन करते थे. परंतु जब धीरेधीरे विजेता का अहंकार कम हुआ और एकदूसरे से कलह, क्लेश कुछ शांत हुआ, तब आपस में आदानप्रदान की प्रक्रिया शुरू हुई : कुछ तुम झुको, कुछ हम झुकें.

इसी दौर में वैदिक मत वालों ने योग को ग्रहण किया और योग वालों ने वैदिक देवताओं को पूजना शुरू किया. इस आदानप्रदान के दौरान योग वालों के दावे उसी

तरह, आंखें बंद कर के, स्वीकार कर लिए गए जैसे वे पेश किए गए थे. कौमों, कबीलों आदि के बीच उपजे सद्भाव के दौरान प्रायः ऐसा हो जाया करता है.

जैसा कि इस उदाहरण से स्पष्ट होता है : सिंधुघाटी के अवशेषों में शिव की मूर्ति मिली है. यह शिव प्रागितिहास काल का (वैदिक काल से पहले के युग का) देवता है, लेकिन आर्यों ने रुद्र नामक देवता से उस के मिलतेजुलते होने के कारण उसे अपना लिया. यह शिव योग वालों का था जो यज्ञ वालों के वैदिक रुद्र से एकाकार हो गया. इसी तरह यज्ञ वालों ने योग को अपना लिया और वे रुद्रविषयक वेद मंत्रों से शिव की पूजा करने लग गए.

डा. मंगलदेव शास्त्री लिखते हैं, शिव अपने मूल रूप में एक प्राग्वैदिक देवता था, जिस का पीछे से धीरेधीरे वैदिक रुद्र के साथ एकीभाव हो गया. ऋग्वेद का रुद्र केवल एक अंतरिक्ष स्थानीय देवता था. उस का यक्ष, राक्षस आदि के साथ कोई संबंध नहीं है, पर पौराणिक शिव की तो एक विशेषता यही है कि उस के गण भूत पिशाच आदि ही माने गए हैं. वह राक्षस और असुरों का खासतौर पर उपास्य है. (वैदिक संस्कृति के तत्त्व, पृ. 8)

वह आगे लिखते हैं कि 'पुराण' शब्द का अर्थ ही उपर्युक्त प्राग्वैदिक संस्कृति की ओर निर्देश करता है...परस्पर आदानप्रदान से दोनों धाराएं वैदिक और प्राग्वैदिक आगे बढ़ती हुई अंत में पौराणिक हिंदू धर्म के रूप में एक धारा में ही विकसित हुईं. (वैदिक संस्कृति के तत्त्व, पृ. 12)

जिस तरह प्राग्वैदिक शिव वैदिक रुद्र से एकाकार हुआ, उसी तरह कई अन्य प्राग्वैदिक देवता भी वैदिकों (हिंदुओं) ने आत्मसात कर लिए. भैरव एक ऐसा ही देवता है. वह योग वालों का पूज्य है जिसे वैदिकों (हिंदुओं) ने योग के साथ ही गले से लगा लिया, हालांकि वेदों या वैदिक परंपरा में भैरव का कोई स्थान नहीं है.

इन्हीं प्राग्वैदिकों से उन के योग आदि के साथ ही वैदिकों ने धूप, दीप, पुष्प, फल, पान, सुपारी आदि भी पूजा में बरतने शुरू कर दिए, जबकि वैदिक कर्मकांड में इन का कहीं कोई स्थान नहीं था.

पूजापाठ में कदली (केला), कर्पास (कपास की रुई की बत्ती), तांबूल (पान), अगुरु (अगर, जिस से अगरबत्ती बनी), अर्क (शिव के लिए आक के पत्ते), माला (फूलमाला) और पूजा कराने वाला 'पंडित' आदि मुंडा कबीलों और तमिलों की देन है क्योंकि ये शब्द उन्हीं की भाषाओं के हैं.

उपनिषद काल में योग के दर्शन

वेदों के बाद उपनिषदों का काल आता है. वेदों में यदि योग की कहीं गंध तक नहीं, तो उपनिषद उस की गंध से अच्छी तरह भरे पड़े हैं. इसीलिए प्राचीन उपनिषदों तक में 'अध्यात्मयोग' (कठ उप. 1/2/12), योगविधि (कठ उप. 2/3/18), ध्यानयोग (श्वेताश्वर उप. 1/3) आदि शब्द उपलब्ध होते हैं. कठ उपनिषद् में तो योग की लगभग उसी तरह की परिभाषा भी देखने को मिलती है, जैसी योगसूत्रों में उपलब्ध होती है:

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्

– कठ उप. 2/3/11

अर्थात इंद्रियों की स्थिर धारणा को योग कहते हैं.

लेकिन योग आसनों का प्राचीन उपनिषदों में भी कहीं कोई जिक्र नहीं मिलता, उन के अतिशयोक्तिपूर्ण लाभों की तो बात ही छोड़ें.

यही नहीं, भाषा तक में योग ने घुसपैठ कर ली. ऋग्वेद में युज् धातु, जिस से ऋग्वेद का योग शब्द बना है, का अर्थ 'रथ में गधे घोड़े आदि को जोतना' है, पर परवर्ती काल में पाणिनि ने धातुपाठ में युज् धातु को नया अर्थ प्रदान करते हुए लिखा : युज् समाधौ. **(युज् धातु का अर्थ है : ध्यान लगाना).**

इस तरह वैदिकों ने नए अपनाए योग को न केवल ग्रहण किया बल्कि उसे हथिया भी लिया. नएनए योगी बने थे न, अतः प्याज ज्यादा खाने लगे.

उन्होंने जहां देखा वहीं योग शब्द ठोक दिया : ज्ञानयोग, भक्तियोग, बुद्धियोग, कर्मयोग आदि कितने ही योग बना डाले, जब कि योग का यहां जरा भी दखल न था. इन सब शब्दों में योग केवल मार्ग का अर्थ देता प्रतीत होता है, न कि प्राणायाम, आसनों आदि का.

मनुस्मृति में कर्मयोग शब्द कर्मकांड के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है : कर्मयोगश्च वैदिक : (मनु 2/2) अर्थात 'वैदिक कर्मकांड'. परंतु गीता ने इसी कर्मयोग शब्द को अपना नया अर्थ प्रदान कर के एक और 'कर्मयोग' बना दिया. उस ने योग व योगी शब्द की भी कई नई परिभाषाएं गढ़ मारीं. यथा:

–समत्वं योग उच्यते

– गीता 2/48

अर्थात सफलताअसफलता को समान समझना योग कहलाता है.)

–योगः कर्मसु कौशलम्

– गीता 2/50

अर्थात कुशलतापूर्वक काम करना योग है.

–यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव.

– गीता 6/2

अर्थात हे अर्जुन, जिसे संन्यास कहते हैं, उसे ही योग समझो.

योग का योगासनों से संबंध नहीं

गीता की इन परिभाषाओं में भी उस योग की कहीं गंध तक नहीं जिस का आज योग के धंधेबाज प्रचार करते हैं. इतना ही नहीं, गीता ने कर्मयोग का अनुसरण करने को ही 'योग' और अनुसरण करने वाले को ही 'योगी' कहा है. इस का कथित योगासनों से कोई संबंध उस ने कहीं नहीं जोड़ा है:

–एषातेऽभिहिता सांख्ये
बुध्दिर्योगे त्विमां शृणु

– गीता 2/39

अर्थात पहले तुझे सांख्य का ज्ञान दिया है, अब तुम योग का ज्ञान सुनो.

यहां प्रयुक्त 'योग' शब्द का गीता के प्राचीनतम उपलब्ध भाष्य में अर्थ 'कर्मयोग' ही किया गया है. (देखें, 2/39 पर शंकर भाष्य)

इसी तरह योगी का अर्थ 'कर्मयोगी' ही किया गया है, न कि उलटेसीधे आसन लगाने वाला :

–कर्मयोगेण योगिनाम्

– गीता 3/3

अर्थात कर्मयोग से योगियों का ज्ञान व उन की स्थिति कही गई है.

शंकर ने अपने भाष्य में 'योगिनाम्' का अर्थ किया है : 'योगिनां कर्मिणां निष्ठा' = योगियों अर्थात कर्म करने वालों, कर्मयोगियों की स्थिति.

योगों की इस बाढ़ में यह साफ नहीं होता कि योग से अभिप्राय क्या है. वे इस के इतने दीवाने हुए कि हिंदुओं के तर्कशास्त्र (न्यायदर्शन) तक ने इस के आगे घुटने टेक दिए. योगियों ने या योग वालों ने कहा कि बहुत सी सूक्ष्म चीजें ऐसी हैं जिन्हें आम आदमी अपनी आंखों से नहीं देख सकता, लेकिन योगी लोग ध्यान की दशा में उन्हें देख सकते हैं, मानो उन के पास अतिसूक्ष्मदर्शी यंत्र (माइक्रोस्कोप) अथवा बहुत सशक्त दूरबीन हो. वैदिक तर्कशास्त्रियों ने इस दावे को आंखें मूंद कर स्वीकार कर लिया और लिख मारा:

प्रत्यक्ष ज्ञान 2 तरह का होता है. एक, सामान्य (लौकिक) और दूसरा असामान्य (अलौकिक). अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान 3 तरह का होता है : सामान्यलक्षणो, ज्ञानलक्षण और योगज अर्थात योगशक्ति से दिखाई देने वाला.

'अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविध: परिकीर्तित:,
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा.'

– भाषापरिच्छेद, 63

योगज ज्ञान को पुन: 2 भागों में बांट कर 'पहुंचे हुए' योगी के ज्ञान को श्रेष्ठतर घोषित कर दिया गया:

'योगजो द्विविध: प्रोक्तो युक्तयुंजानभेदत:,
युक्तस्य सर्वदा भानं, चिन्तासहकृतोऽपर:.'

– भाषापरिच्छेद, 65–66

अर्थात योगज प्रत्यक्ष ज्ञान 2 तरह का होता है. एक, पहुंचे हुए योगी का तथा दूसरा, जूझ रहे योगी का. जहां 'पहुंचे' हुए योगी को दुनिया की हर चीज (ईंथर, परमाणु आदि) का ज्ञान सदा अपनेआप बना रहता है, वहीं जूझ रहे योगी को यह ज्ञान विशेष तरह के ध्यान करने पर ही प्राप्त होता है.

योग के मामले में निर्मूल बातें

इस तरह की बातें लिखने वाले तर्कशास्त्री दूसरे सभी मामलों में तो बाल की खाल उतारते थे, पर योग के मामले में वे सब निर्मूल बातें आंखें बंद कर के मानते गए. यह वस्तुतः अवैदिकों, यज्ञविरोधियों के प्रति उपजी असंतुलित, विकृत और भावाकुल सद्भावना का ही दुष्परिणाम था.

इस से हिंदू समाज की बहुत हानि हुई. यहां विज्ञान के स्थान पर योग और वैज्ञानिक के स्थान पर योगी का आधिपत्य स्थापित हो गया. वे खाली दावे करते रहे और लोग श्रद्धावश उन्हें सच मान कर संतुष्ट होते रहे. देश पर हमले कर विदेशी हमलावर लूटमार करते रहे, यहां के शासक बन कर शताब्दियों तक हम पर राज्य करते रहे और हम गुलामों सा जीवन बिताते रहे व योग का गुणगान करते रहे.

योग ने आम लोगों को आंखें बंद करना सिखाया: अंदर की भी, बाहर की भी. जब आंख ही बंद कर ली तो फिर न हमलावर दिखाई देता है, न विदेशी शासक. तब न अत्याचार दिखता है, न अपनी दास जैसी स्थिति. एक व्यक्ति यदि ऐसा करे तो शायद चल जाए पर अपने यहां सारा समाज ही आंख मूंद कर योग की पिनक में मस्त रहने लगा था.

योग का खंडन

इस स्थिति को बदलने के लिए हिंदू समाज के शुभचिंतक समयसमय पर अपने ढंग से कोशिशें करते रहे हैं. बादरायण ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ ब्रह्मसूत्र अर्थात वेदांतदर्शन के एक सूत्र में कहा है:

एतेन योगः प्रत्युक्त :

– ब्रह्मसूत्र 2-1-3

अर्थात इस से हम योग का खंडन करते हैं, इस से योग रद्द समझा जाए.

इस ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में शंकराचार्य ने लिखा है कि योग क्योंकि वेदों की परवा नहीं करता, अतः उस का खंडन किया गया है, उसे रद्द किया गया है:

निराकरणं तु न वेदनिरपेक्षेण योगमार्गेण निःश्रेयसमधिगम्यत इति

– ब्रह्मसूत्र 2/1/3 पर शंकरभाष्य

अर्थात बिना वेदों के योगमार्ग का आश्रय लेने मात्र से, कल्याण नहीं होता; अतः इस का निराकरण (खंडन) किया गया है.

पंडितराज स्वामी भगवदाचार्य का कहना है कि योग का खंडन इसलिए किया गया है क्योंकि योगदर्शन ईश्वर के बारे में जैन मत का अनुसरण करता है. अतः योग भी त्याग देने योग्य है. (वेदांतदर्शनस्य श्रीरामानंदभाष्यम्, पृ.82)

योग ऋषिमुनियों की देन नहीं

यहां यह बात खासतौर से ध्यान देने योग्य है कि दोनों आचार्य योग को अवैदिक (वेदविरोधी) मानते हैं, अतः उसे त्यागने योग्य कहते हैं. यह इस मत की ही पुष्टि है

कि योग हमारे ऋषियोंमुनियों की देन नहीं है, बल्कि यह तो उन के विरोधियों की देन है. अतः जो लोग योग की ज्यादा से ज्यादा बिक्री करने के लिए यह प्रचार करते हैं कि यह हमारे ऋषियोंमुनियों की विश्व को देने हैं, वे जानबूझ कर या अनजाने में गलतबयानी करते हैं.

प्रसिद्ध नैयायिक भासर्वज्ञ ने 'न्यायभूषण' में कहा है, "यदि किसी योग या न्यायदर्शन आदि ग्रंथ में सूत्रकार ने कोई बात कह दी है तो इस का मतलब यह नहीं कि उन (सूत्रकार आदि) के भय से पदार्थ अपना स्वभाव, अपने गुण बदल लेंगे. पदार्थ जैसा है वह वैसा ही रहेगा, चाहे किसी प्राचीन ग्रंथकार ने कुछ भी क्यों न लिखा हो."

न खलु वै सूत्रकारनि-
योगभयात्पदार्थाः स्वधर्मं हातुमर्हंति.

– न्यायभूषण पृ. 98

कुछ विद्वानों का कहना है कि क्योंकि योग का सृष्टिनिर्माण के विषय में अपना कोई मत नहीं और उस ने सांख्य के मत का ही समर्थन किया है, अतः यह खंडन सांख्य का ही है. यही बात गीता में कही गई है: सांख्य और योग दो पृथक् चीजें हैं, यह मूर्खों का कहना है. विद्वान दोनों को एक ही समझते हैं. (गीता 5/4)

इस तरह तो ब्रह्मसूत्र सांख्य और योग दोनों का खंडन करता है. यदि ऐसा है तो भी हमें स्वीकार है. लेकिन इस से यह बात पूरी तरह साफ हो जाती है कि तथाकथित समाधि के द्वारा वास्तविक और प्रामाणिक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती. यदि वास्तव में समाधि द्वारा प्रामाणिक और पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता तो ब्रह्मसूत्र योग और सांख्य का नाम ले कर खंडन न करता.

समाधि की दशा में प्राप्त ज्ञान

ब्रह्मसूत्र के रचयिता को तथाकथित समाधि की दशा में जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उस के अनुसार सांख्य दर्शन और योगदर्शन के रचयिताओं को तथाकथित समाधि में प्राप्त हुआ ज्ञान सर्वथा गलत व निरस्त करने योग्य है.

इस से न केवल समाधि की मिथ मिट्टी में मिलती है बल्कि उन वैदिक विद्वानों का यह दावा भी धराशायी हो जाता है, जो कहते हैं कि सभी वैदिक दर्शनों में सब विषयों पर समान राय है.

इसी बात से विचलित हो कर 6 दर्शनों के भाष्यकार व प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान आचार्य उदयवीरशास्त्री अपने 'ब्रह्मसूत्र–विद्योदयभाष्यम्' (पृ. 350) में लिखते हैं कि ब्रह्मसूत्रों में योग का अर्थ है 'योगविरोध' अर्थात ब्रह्मसूत्रकार के कहने का मतलब है कि इस सूत्र द्वारा 'योग का नहीं बल्कि योग के विरोध का हम खंडन करते हैं.'

श्री शास्त्री ने 'योग' शब्द का अर्थ 'योगविरोध' कर के अपनी ओर से समाधि की मिथ को धराशायी होने से बचाने और वैदिक दर्शनों की एकता को

मिट्टी में मिलने से रोकने का प्रयास किया है. यही काम एक दूसरे आर्यसमाजी विद्वान स्वामी विद्यानंद सरस्वती ने ब्रह्मसूत्रों के अपने अंगरेजी भाष्य (पृ. 262) में किया है.

खेद है कि दोनों ही विद्वान भाष्यकार अपने ध्येय में बुरी तरह असफल हुए हैं. जब वे 'योग' का अर्थ 'योगविरोध' बताते हैं तब वे एक तरह से यही बात स्थापित कर रहे हैं कि ब्रह्मसूत्र अर्थात वेदांत दर्शन के रचयिता बादरायण को समाधि दशा में जो ज्ञान प्राप्त हुआ वह अधूरा होने के कारण उस से, 'योगविरोध' के स्थान पर केवल 'योग' शब्द ही लिखवा पाया. यदि उसे तथाकथित समाधिदशा में सही ज्ञान प्राप्त हो जाता तो वह सूत्र को इस तरह लिखताः

'एतेन योगविरोधः प्रत्युक्तः.'

परंतु उस ने ऐसा नहीं लिखा. अतः उस का समाधिजन्य ज्ञान न प्रामाणिक साबित होता है, न अंतिम. इसीलिए वैदिक दर्शनों की कथित एकता भी स्थापित नहीं हो पाती.

ये हमारे बेचारे पंडित हैं कि समाधिदशा में 'असली' सही ज्ञान ढूंढ़ कर लाए हैं और ब्रह्मसूत्र के लेखक बादरायण को सही ढंग से सूत्र लिखना सिखा रहे हैं! लेकिन इस से भी समाधिजन्य ज्ञान के प्रामाणिक होने की पुष्टि नहीं होती बल्कि उस का खंडन ही होता है, क्योंकि अब यह निर्णय करने के लिए कि बादरायण ने सही बात लिखी है या उसे संशोधित करने वाले पंडित सही हैं-एक तीसरे तथाकथित समाधिजन्य ज्ञान की जरूरत पड़ेगी.

जब एक 3 शब्दों के सूत्र के बारे में समाधिजन्य ज्ञान की प्रामाणिकता का यह हाल है तब और ज्यादा पेचीदा मामलों में इस की क्या स्थिति होगी, यह आसानी से समझा जा सकता है. ऐसी यौगिक नौका को कागज की नौका से ज्यादा विश्वसनीय नहीं माना जा सकता.

इसी तरह का एक दूसरा उदाहरण देखें. योगशास्त्रीय ग्रंथों के लेखकों ने कथित समाधिजन्य ज्ञान के आधार पर लिखा है कि गुदा और लिंग के मध्यभाग से 72 हजार नाड़ियां निकल कर शरीर में फैली हुई हैं:

'गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः
चतुरंगुलविस्तरं कन्दमूलं खगाण्डवत्
नाड्यस्तस्मात्समुत्पन्नाः सहस्त्रणां द्विसप्ततिः'

– श्रीधर्मकल्पद्रुम, खंड 4, पृ. 67

अर्थात गुदा से 2 अंगुलि ऊपर और लिंग से 2 अंगुलि नीचे जो 4 अंगुलि चौड़ी जगह है, वहां पक्षी के अंडे के समान एक कंद (गांठ सी) विद्यमान है. उस से 72 हजार नाड़ियां निकल कर सारे शरीर में व्याप्त हो गई हैं.

हम यहां 'नास्तिक' शरीरविज्ञान की बातों को बीच में नहीं लाना चाहते बल्कि एक ऐसे ऋषिमुनि को ही उद्धृत करना चाहते हैं जिस ने समाधिदशा में कथित तौर पर सही और प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त कर रखा है. बृहदारण्यक उपनिषद् का कहना है:

'हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति: सहस्त्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते'.

– बृहदारण्यक उपनिषद्, 2-1-19

अर्थात हिता नाम की 72 हजार नाड़ियां हृदय से निकल कर सारे शरीर में फैली हुई हैं.

एक ही चीज एक को समाधिदशा में कहीं (गुदा के पास) दिखाई पड़ती है, तो दूसरे को उसी दशा में कहीं और (हृदय के पास). यदि यह समाधिजन्य प्रामाणिक ज्ञान है तो फिर अप्रामाणिक अज्ञान किसे कहते हैं?

मीमांसाशास्त्र के विद्वान कुमारिल भट्ट ने योग वालों की इस बात को चुनौती दी थी कि उन्हें समाधि अवस्था में जो कथित ज्ञान प्राप्त होता है वह एकदम पूर्ण, ठीक और प्रामाणिक होता है तथा उस ज्ञान को अन्य साधनों से प्राप्त ही नहीं किया जा सकता.

कुमारिल ने कहा कि यदि तुम्हारे योगी ऐसी बातें करते हैं तो हम दूसरे योगी ले आएंगे जो इस के सर्वथा विपरीत बात करेंगे. इस से उन्होंने यह साबित किया कि योगियों का ज्ञान भिन्नभिन्न है. अत: किसी एक के ज्ञान को आंखें मूंद कर अंतिम व प्रामाणिक नहीं माना जा सकता. कुमारिलभट्ट के शब्द हैं :

'योगिनां चास्मदीयानां त्वदुक्तप्रतियोगिनी...94...
त्वदुक्तिप्रतियोगिनी वा बाधबुध्दिर्भविष्यति'...95...

– मीमांसाश्लोकवार्तिक, निरालम्बवाद:

योग का अर्थ छल

यही नहीं, लोगों को योग से विमुख कर के उन्हें अपने रोजमर्रा के कामों में अच्छी तरह लगाने के लिए हिंदू समाज के शुभचिंतकों ने योग को छल, धोखा आदि बताना भी शुरू किया, ताकि लोग सावधान हों. यह योग पर अब तक का शायद सब से बड़ा हमला था, जो हिंदुओं के हितैषियों ने अपने समाज को बचाने के लिए किया था.

मनुस्मृति में 'योग' शब्द को 'छलकपट' के अर्थ में इस्तेमाल किया गया है. उस में एक श्लोक आता है:

'योगाधमनविक्रीतम्'

– मनुस्मृति 8/165

इस श्लोक में आए 'योग' शब्द की व्याख्या करते हुए पुराने भाष्यकारों ने जो लिखा है, वह इस प्रकार से है:

मनुस्मृति के सब से पुराने भाष्यकार मेधातिथि ने लिखा है:

'योग: छद्म.'

– मनुस्मृति 8/165 पर मेधातिथि भाष्य

अर्थात योग का अर्थ है छद्म अर्थात धोखा, कपट, जालसाजी, बेईमानी, चालाकी

एक दूसरे भाष्यकार सर्वज्ञनारायण ने भी यही शब्द दोहराते हुए लिखा है:

योगः छद्म.

– मनुस्मृति 8/165 पर सर्वज्ञनारायण भाष्य

अर्थात योग, छद्म है

मनुस्मृति के अतिप्रसिद्ध व्याख्याकार कुल्लूक भट्ट ने योग शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है :

'योगशब्दश्छलवाची'

– मनुस्मृति 8/165 पर मन्वर्थमुक्तावली टीका

अर्थात योग शब्द का अर्थ है–छल.

भाष्यकार राघवानंद का कहना है कि योग शब्द 'छल' का पर्यायवाचक (समानार्थक) है:

'योगशब्दोयमत्र छलपर्यायः'

– मनुस्मृति 8/165 पर राघवानंद की टीका.

भाष्यकार रामचंद्र लिखता है:

योगः उपधिः

अर्थात योग का अर्थ है–उपधि अर्थात धोखादेही, बेईमानी.

योग का चित्रण मौत के साधन के रूप में

योग शब्द मूलतः युज् धातू से बना है, जिस का अर्थ जोड़ना या जोतना है, न कि धोखा देना. फिर भी यह शब्द यदि धोखादेही, बेईमानी, जालसाजी आदि का अर्थ देता है तो साफ है कि योग के नाम पर की जाने वाली चालाकियों, बेईमानियों आदि के कारण ही इस शब्द का अर्थ छल, छद्म और उपधि बना होगा.

ऐसे में योग के पीछे पागलों की तरह दौड़ना क्या उचित कहा जा सकता है?

शायद इसीलिए महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में रघुकुल की रीति का उल्लेख करते हुए योग को मौत के साधन के रूप में चित्रित किया है. वह रघुकुल के महापुरुषों, वीरों आदि का वर्णन करते हुए लिखता है:

वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्

–रघुवंश, 1/8

अर्थात रघुकुल के लोग बुढ़ापे में मुनियों की वृत्ति अपना लेते थे और अंत में योग से शरीर त्याग देते थे.

इस से तो यही जाहिर होता है कि रघुकुल वाले तो योग को बुढ़ापे में मरने का

एक साधन मात्र मानते थे, न कि बीमारियों को दूर कर के यौवन, चमक, सुंदरता व स्वास्थ्य लाभ कराने का साधन, जैसा योग के कई धंधेबाज प्रचार करते हैं. यह लगभग वैसा ही रहा होगा जैसा पिछले दिनों एक जैन साधु ने किया है : 10-20 दिन मृत्यु की प्रतीक्षा में भूखेप्यासे रह कर प्राण त्याग देना(संथारा).

देखा जाए तो यह एक तरह की धार्मिक आत्महत्या ही है. बेसहारा व असाध्य रोगों से पीड़ित कोई बूढ़ा व्यक्ति इस तरह के योग का अनुयायी बना जाए तो उस से शायद कोई हानि न हो, परंतु योग का जिस तरह चारों ओर भ्रमजाल फैलता जा रहा है, वह हिंदू समाज के भविष्य के लिए बहुत चिंताजनक है. हिंदू समाज को मरना नहीं, जीना है और चिरकाल तक जीना है. इस के लिए जरूरी है कि योग को तिलांजलि दी जाए.

योगासन बनाम रोग उपचार

पिछले कुछ समय से यानी जब से टीवी पर योग को 'योगा' बना कर उस का व्यापारीकरण किया जाना शुरू हुआ है, कुछ लोग योग को आसनों का पर्याय बता कर अपने लिए तो चाहे वाहवाही व लक्ष्मी बटोर रहे हैं, पर योग, वह जैसा भी है, के साथ घोर अन्याय कर रहे हैं. यद्यपि वे भारतीय संस्कृति का प्रचार करने के दावे कर रहे हैं, लेकिन हकीकत यह है कि वे योग की एकांगी व अधूरी तसवीर ही पेश कर रहे हैं.

योग की परंपरा

योग की परंपरा काफी प्राचीन है. ईसापूर्व छठी शताब्दी में जब बुद्ध और महावीर ज्ञानप्राप्ति के रास्ते पर आगे बढ़ रहे थे तब उन्होंने योग का भी सहारा लिया था. आज योग का जो सब से पुराना व सुव्यवस्थित ग्रंथ है, वह है पतंजलि का योगदर्शन/योगसूत्र. वैसे इस से पहले के बौद्ध और जैन साहित्य में योग के बारे में अनेक सूचनाएं उपलब्ध होती हैं. योग के संकेत यद्यपि कई प्राचीन उपनिषदों में भी मौजूद हैं, पर उन से इस विषय पर कोई खास प्रकाश नहीं पड़ता. अतः बौद्ध व जैन साहित्य का अवलोकन ही उपादेय प्रतीत होता है.

बौद्ध साहित्य में योग

बौद्ध साहित्य में योग के अंगों यानी चित्त को एकाग्र करने के उपायों को 'कर्मस्थान' कहा गया है, जो 40 हैं. इन में कहीं भी 'आसन' का उल्लेख नहीं है. यद्यपि आनापान (आश्वासप्रश्वास) का उल्लेख उन में अवश्य मिलता है, जो एक तरह का प्राणायाम ही है.

दीघनिकाय (भाग 1, पृ. 71) में कहा गया है:

पल्लकं आमुजित्वा उजुं कायं
पणिधाय परिमुखं सतिं उपट्ठमेत्वा

अर्थात योगी पल्लक आसन लगा कर, शरीर को सीधा कर के बैठे.

इस 'पल्लक आसन' को अट्ठकथा में 'पर्यंकासन' कहा गया है. इसी को

पद्मासन, बुद्धासन या वज्रासन भी कहते हैं. इस आसन में बाईं जांघ पर दाहिना पैर और दाहिनी जांघ पर बायां पैर रखा जाता है:

पल्लकंति समंततो उरुबद्धासनम्.

इस एक आसन के सिवा बौद्ध पालि साहित्य में अन्य किसी आसन की चर्चा नहीं है.

बौद्ध योग में आसन पर चर्चा करते हुए आचार्य नरेंद्र देव ने लिखा है: 'उसे (योगी/भिक्षु को) अपने चित्त का दमन करने के लिए विषयों से दूर किसी निर्जन स्थान में रहना चाहिए. वहां पर्यंकबद्ध हो कर सुखपूर्वक आसन पर बैठना चाहिए और शरीर के ऊपरी भाग को सीधा रखना चाहिए. इस से चित्तलीन और उद्धत भाव का परित्याग होता है. इस तरह का आसन स्थिर होता है और सुखपूर्वक आश्वास प्रश्वास का प्रवर्तन होता है.

'इस आसन में बैठने से चमड़ा, मांस और स्नायु नहीं नमते (अर्थात कमजोर नहीं होते) और जो पीड़ा इन के नमने (कमजोर होने) से क्षणक्षण पर उत्पन्न होती, वह नहीं होती है. इसलिए चित्त की एकाग्रता सुलभ (सहज) हो जाती है और कर्मस्थान वीथि का उल्लंघन न कर वृद्धि को प्राप्त होता है.' (आचार्य नरेंद्र देव, बौद्ध-धर्मदर्शन, प्रथम संस्करण 1955 ई., पृ.83)

बौद्ध पालि साहित्य में योग के आसनों का इस से ज्यादा न कहीं वर्णन है और न ही कहीं महत्त्व है. स्पष्ट है, प्राचीन योग में आसनों की वैसी महिमा कहीं दिखाई नहीं देती जैसी टीवी पर योग वाले दिनरात दिखाते हैं.

जैन साहित्य में योग

बौद्ध योग के समान ही जैन योग भी प्राचीन है. कहा जाता है कि महावीर व बुद्ध समकालीन थे. जैन आचार्य हेमचंद्र ने लिखा है:

जायते येन येनेह विहितेन स्थिरं मन:
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यानसाधनम्..

– योगशास्त्र, 4/134

अर्थात जिस आसन से मन स्थिर होता हो उसी आसन का उपयोग ध्यान साधना के लिए करना चाहिए.

यहां उन्होंने किसी आसन विशेष पर बल नहीं दिया है. दूसरे, उन्होंने साफ तौर पर बता दिया है कि आसन ध्यान लगाने का साधन मात्र है. इस में आसन को किसी रोग को दूर करने वाली दवा नहीं बताया गया है.

आचार्य हेमचंद्र ने 8 आसनों का उल्लेख किया है, जिन में से 3 तो वही हैं जिन के नामों की चर्चा बौद्ध साहित्य में मिलती है. जहां बौद्ध साहित्य में पर्यंकासन, वज्रासन, पद्मासन तीनों एक ही आसन हैं, वहीं हेमचंद्र ने इन्हें अलगअलग कर के देखा है:

पर्यंक वीर वज्राब्ज भद्र दण्डासनानि च.
उत्कटिकागोदोहिका कायोत्सर्गस्तथासनम्.

– योगशास्त्र4/124

अर्थात पर्यंक, वीर, वज्र, पद्म, भद्र, दंड, उत्कटिका-गोदाहिका तथा कायोत्सर्ग– ये 8 आसन हैं.

इन में से यदि एक ही आसन के विभिन्न नामों को निकाल दिया जाए, जैसा कि हम ने ऊपर बौद्ध योग के प्रसंग में देखा है, तो हेमचंद्र के 8 आसनों के स्थान पर 5 ही आसन बचते हैं.

आसन चाहे 8 मानें या 5; एक बात बिलकुल साफ है कि इन का एकमात्र उद्देश्य मन को स्थिर करने में सहायता पहुंचाना है, न कि रोगों की चिकित्सा करना.

पतंजलि का योग दर्शन

पतंजलि का योगदर्शन (योगसूत्र) हिंदू योग का प्रामाणिक ग्रंथ है और इसे योग का पहला व्यवस्थित ग्रंथ भी कह सकते हैं. इस पर व्यास भाष्य है, उस भाष्य की तत्त्ववैशारदी नामक संस्कृत टीका है और भाष्य पर विज्ञानभिक्षुकृत 'वार्तिक' है. इस तरह यह परिपूर्ण शास्त्र है. इस के अलावा योगसूत्रों पर 6 प्राचीन वृत्तियां (संक्षिप्त व्याख्याएं) भी मिलती हैं.

पतंजलि के योगसूत्रों की संख्या 195 है. इन में से केवल 2 सूत्रों में 'आसन' शब्द का प्रयोग मिलता है. योगदर्शन के दूसरे पाद (अध्याय) के 29वें सूत्र में आसन को योग का 8वां अंग कहा गया है:

यम–नियम–आसन–प्राणायाम–प्रत्याहार–धारणा–ध्यान–समाधयोष्टावंगानि

– योगदर्शन 2/29

अर्थात यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि–योग के ये 8 अंग हैं.

चूंकि आसन योग के 8 अंगों में से एक अंग है, इसलिए स्पष्ट है कि वह योग का 8वां हिस्सा है. बौद्ध योग की दृष्टि से तो आसन योग का 40वां अंग है.

इस 8वें और 40वें अंग/अंश को समूचे का पर्याय बताना योग के शेष अंगों को नजरअंदाज करने के समान है. इसे योग से प्रेम नहीं, बल्कि उस के प्रति द्रोह ही कहा जाएगा.

पतंजलि ने योगदर्शन के सूत्र 2/46 में आसन को स्पष्ट करते हुए कहा है:

स्थिरसुखम् आसनम्

– योगदर्शन 2/46

अर्थात सुखपूर्वक स्थिर बैठने का नाम आसन है.

स्पष्ट है कि आसन सुखपूर्वक स्थिर हो कर बैठने को कहते हैं, न कि विविध

तरह की कलाबाजियों को. आसन की पतंजलि द्वारा प्रदत्त यह परिभाषा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है.

पं. कृष्णमणि त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'योगदर्शन समीक्षा' (संवत् 2013, 1956 ई.) में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यहां पतंजलि ने उन आसनों का वर्णन नहीं किया है बल्कि बैठने का तरीका साधक की इच्छा पर छोड़ दिया है. मतलब यह है कि जो साधक अपनी ताकत के अनुसार जिस ढंग से सुखपूर्वक स्थिर भाव से, किसी प्रकार की पीड़ा के बिना, अधिक समय तक बैठ सके, वही आसन उस के लिए ठीक है. (पृ. 41)

इस एकमात्र सूत्र को छोड़ कर पतंजलि कहीं भी 'आसन' की व्याख्या नहीं करते. उन्होंने न कहीं उलटेसीधे आसनों का वर्णन किया है, न उन से सभी रोगों के दूर होने का अतिशयोक्तिपूर्ण बखान किया है.

वस्तुतः 'आसन' शब्द का अर्थ ही 'बैठना' है. बाद में उसे भी आसन कहा जाने लगा जिस पर बैठते थे. बैठने मात्र से किसी रोग का इलाज कैसे हो सकता है?

आगे सूत्र नंबर 47 में यद्यपि 'आसन' शब्द का प्रत्यक्ष प्रयोग नहीं हुआ है तथापि अप्रत्यक्ष रूप में उस में 'आसन' शब्द को विद्यमान मान कर व्याख्या करने वाले लिखते हैं:

प्रयत्नशैथिल्यानंतसमापत्तिभ्याम्

– योगदर्शन 2/47

अर्थात प्रयत्न की शिथिलता और अनंत परमात्मा में मन लगाने से आसन सिद्ध होता है.)

प्रयत्न की शिथिलता के बारे में पं. कृष्णमणि त्रिपाठी लिखते हैं कि शरीर को सीधा और निश्चल कर के सुखपूर्वक बैठ जाने के बाद शरीर संबंधी सब प्रकार की गतिविधियों का त्याग कर देना ही 'प्रयत्न की शिथिलता' है.

आसन की इस सिद्धि से साधक/योगी के समाधि लगाने में चित्त की अस्थिरता (विक्षेप) आड़े नहीं आती, क्योंकि उस में द्वंद्वों–सर्दीगरमी, सुखदुख, भूखप्यास–को सहने की दृढ़ता आ जाती है:

ततो द्वंद्वानभिघातः

– योगदर्शन 2/48

अगले सूत्र में कहा गया है कि आसन के सिद्ध हो जाने के बाद प्राणायाम की बारी आती है:

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः

– 2/49

अर्थात आसन सिद्ध हो जाने के बाद श्वासप्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है.

यहां तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं–

- पहली यह कि पतंजलि के अनुसार आसन का महत्त्व मन को स्थिर करने में है, न कि तरहतरह की बीमारियों का इलाज करने में है.
- दूसरी यह कि प्राणायाम तभी करना चाहिए जब आसन की सिद्धि हो जाए, न कि जब चाहा सांस खींचनी और निकालनी शुरू कर दी, जैसा कई तथाकथित योगगुरु करते व करवाते हैं.
- तीसरी यह कि केवल आसनों के करतब दिखाना योग की दृष्टि से एक ही पड़ाव पर रुक जाने के समान गतिहीनता का परिचायक है; न कि योगगुरु होने का.

योगासन का उद्देश्य

आसनों का उद्देश्य केवल मन को स्थिर करने में सहायता पहुंचाना है और मन को स्थिर करने का अंतिम उद्देश्य है: मोक्ष की प्राप्ति.

पतंजलि ने योग की परिभाषा देते हुए लिखा है:

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

– योगदर्शन 1/2

अर्थात चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम 'योग' है

योग का अर्थ तरहतरह के आसन नहीं है, जैसा टीवी पर योग के नाम पर दिखाते हैं. योग का उद्देश्य शरीर के रोग दूर करना भी नहीं है, जैसा कई तथाकथित योगगुरु दावा करते हैं; बल्कि इस का उद्देश्य है : कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति. इसीलिए पतंजलि तीसरे सूत्र में योग का फल बताते हुए कहते हैं:

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

– योगदर्शन 1/3

अर्थात तब चित्त में किसी प्रकार की कोई भी वृत्ति न रहने पर द्रष्टा (साधक/योगी) की शुद्ध परमात्मस्वरूप में अवस्थिति होती है, जैसी कैवल्य में होती है.

यही बात विभूतिपाद के सूत्र 56 में कही गई है:

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति.

– योगदर्शन 3/56

अर्थात जब मन और आत्मा शुद्ध हो जाती हैं, सारी वासनाएं, सारे संस्कार दूर हो जाते हैं, तब कैवल्य (मोक्ष) की स्थिति आ जाती है.

यह कैवल्य बौद्धों का निर्वाण है. इसे ही मोक्ष, मुक्ति आदि कहा जाता है. इसे प्राप्त करना ही योग का अंतिम उद्देश्य है. इसीलिए तो योगदर्शन के प्रसिद्ध विद्वान पंडित रामशंकर भट्टाचार्य अपने 'पातंजलयोगदर्शनम्' (1963 ई.) की विस्तृत संस्कृत भूमिका में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट करते हुए लिखते हैं: 'अभ्यासपूर्वक

स्वेच्छा से चित्तवृत्तियों के नियमन (निरोध) का नाम योग है. हठयोग से रक्त प्रवाह आदि को रोकना या सांस के आनेजाने को रोकना (प्राणायाम) सही अर्थों में योग नहीं है, क्योंकि इस से मन से वासना व संस्कार दूर नहीं होते. अतः योगशास्त्र में वर्णित तत्त्वज्ञान से राग, द्वेष आदि सब संस्कारों/वासनाओं को खत्म करते हुए शरीर व प्राण को संयम में रखना ही वह योग है जिस का आचार्यों ने प्रतिपादन किया है. यदि बिना तत्त्वज्ञान के प्राणायाम, आसन आदि किए जाएंगे तो वासनाएं व संस्कार चित्त से खत्म नहीं होंगे.' (भूमिका, पृ.9)

यहां श्रीभट्टाचार्य योगदर्शन के तत्त्वज्ञान (फलसफे) पर जोर देते हैं क्योंकि उस के अभाव में प्राणायाम, आसन आदि केवल ड्रिल मात्र हैं, जो बच्चों को स्कूलों में कराई जाती है. योग का उद्देश्य ड्रिल कराना नहीं है, इस का उद्देश्य अलगअलग रोगों की चिकित्सा करना भी नहीं है और न वह इस से हो ही सकती है. शरीर के रोगों का इलाज वैद्यक (आयुर्वेद) का काम है. यह बात व्यासभाष्य के व्याख्याता विज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक के शुरू में बड़े स्पष्ट शब्दों में कही है:

योगेन चित्तस्य, पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन.

यानी योग से चित्त (मन) के मल दूर होते हैं, व्याकरण महाभाष्य से वाणी (भाषा) के मल दूर होते हैं और वैद्यक से शरीर के मल (बीमारियां) दूर होते हैं.

चरक ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'चरकसंहिता' में शरीर की विभिन्न बीमारियों के लिए योग का या आसन का न केवल नुस्खा नहीं बताया है, बल्कि शरीर के रोगों से योग या योगासनों का किसी भी प्रकार का संबंध स्पष्ट शब्दों में रद्द करते हुए कहा है कि योग तो मोक्ष पाने का साधन है, न कि शरीर के रोगों की चिकित्सा करने का:

योगो मोक्षप्रवर्तक :

– चरक संहिता, शरीर 1/37

अर्थात योग मोक्षप्राप्ति का साधन है.

योग या उस के आसनों द्वारा अलगअलग रोगों को दूर करने के दावे करने वालों को क्या कहा जाए. वे तो योग की सारी परंपरा का ही सत्यानाश किए जा रहे हैं. वे चरक को झूठा किए जा रहे हैं, वे पतंजलि को अज्ञानी बनाए जा रहे हैं, वे सामान्य बुद्धि के विपरीत जा रहे हैं और जलती आग को घी से बुझाने का प्रयास कर रहे हैं.

रोगों के लिए योग नहीं

रोगों को ठीक करने में आसनों की असफलता के चलते ही कई योगगुरु आयुर्वेदिक दवाइयों की भी बिक्री करते हैं. यहां यह बात खासतौर पर ध्यान देने योग्य है कि बहुत से योगगुरु आयुर्विज्ञान के मामले में नीमहकीम ही होते हैं, क्योंकि उन्होंने न तो कोई आयुर्वेदीय परीक्षा पास की होती है और न वे सरकार से ही चिकित्सा करने के लिए मान्यता प्राप्त होते हैं. ऐसे योगगुरु नीमहकीमों की दवाइयों

के जब कई बार उलटे नतीजे निकलते हैं तब बदनाम बेचारा आयुर्वेद होता है. ये तो पल्ला झाड़ कर एक ओर हो जाते हैं : न इन से कोई पूछताछ करता है, न इन पर कोई काररवाई करता है. जो लोग आयुर्वेद की आवाज उठाते हैं उन्हें इस तरह के लोगों से, जिन्हें संस्कृत में 'गोवैद्य' कहते हैं, आयुर्वेद की रक्षा करनी होगी, यदि वे सचमुच उस का उत्थान करना चाहते हैं; क्योंकि हर रंगा सियार आयुर्वेदाचार्य नहीं होता.

संक्षेप में कह सकते हैं कि आसनों को योग का पर्याय मानना गलत है क्योंकि

(1) आसन योग का 8वां व 40वां भाग मात्र है.

(2) आसनों का उद्देश्य योग के ग्रंथों में मन को स्थिर करना ही माना गया है, न कि रोगों का इलाज करना.

(3) चरक जैसे आयुर्वेद के प्राचीन विद्वानों ने रोगों से छुटकारा पाने के लिए दवाइयों का विधान किया है, न कि आसनों का.

(4) आसन (और योग) शरीर की बीमारियों को दूर करने का शास्त्र नहीं है, बल्कि यह तो मोक्ष पाने का तरीका भर बताता है.

(5) प्राचीनकाल से रोगों की चिकित्सा के लिए आयुर्वेद को ही महत्त्व दिया गया है, न कि योग या आसनों को.

आसनों के मिथ्या दावे

व्यक्ति को रोगों के उपचार के लिए आधुनिक दवाइयों का ही प्रयोग करना चाहिए, न कि आसनों के मिथ्या दावों में उलझना चाहिए. कुछ आसन शारीरिक व्यायाम भर कहे जा सकते हैं, हालांकि यह भी योग की परंपरा के एकदम विपरीत ही होगा. वैसे भी शारीरिक व्यायाम किसी रोग का उपचार नहीं होता.

व्यायाम शरीर को स्वस्थ रख कर रोग के कीटाणुओं का मुकाबला करने में तो सहायता पहुंचा सकता है पर बीमार व्यक्ति को नीरोग नहीं बना सकता. यह तो संभव है कि शारीरिक व्यायाम से स्वस्थ व्यक्ति को टाइफाइड के कीटाणु जल्दी अपना शिकार न बना सकें, पर यह संभव नहीं कि टाइफाइड से पीड़ित व्यक्ति बिना उन (कीटाणुओं) का नाश करने वाली दवा के, केवल व्यायाम से रोगमुक्त हो जाए.

वास्तविकता तो यह भी है कि टाइफाइड के शिकार व्यक्ति को व्यायाम न करने और आराम करने की सलाह दी जाती है, क्योंकि थकान से रोग और गहराता है. साथ ही यह भी नहीं समझना चाहिए कि रोग-प्रतिरोधक क्षमता आसनों से किए गए व्यायाम से ही आती है. व्यायाम की आज अनेक वैज्ञानिक विधियां हैं. फिर सब के लिए कोई एक ही विधि जरूरी नहीं. व्यायाम के लिए आसन न अनिवार्य हैं, न ही वे एकमात्र व श्रेष्ठ विधि हैं.

यदि कोई सुबह सैर करता है, तैरता है, दौड़ लगाता है, फुटबाल आदि खेलता है तो वह बिना आसनों के स्वस्थ रह सकता है; उस की रोग-प्रतिरोधक

क्षमता बिना आसनों के बढ़ सकती है और वह रोगों से मुक्त रह सकता है; पर एक बार बीमार हो जाने पर योग्य चिकित्सक की दवा के बिना ठीक होने की कोई संभावना नहीं रहती. तब आसन की नहीं, औषधि की चलती है. योग और आयुर्वेद/आयुर्विज्ञान एक नहीं, दो चीजें हैं. ये परस्पर पूरक न हो कर एक दूसरे का विलोम हैं. एक असांसारिक आत्मा की मुक्ति से संबद्ध है, तो दूसरी सांसारिक शरीर के रोगों की चिकित्सा से. इन्हें घालमेल करना, गुड़ गोबर करना ही कहा जाएगा.

योगासनों की वास्तविकता

योग वाले अपने संभावित ग्राहक को अभिभूत करने के लिए आमतौर पर दो रास्तों का सहारा लेते हैं. एक तो वे इस की अति प्राचीनता की दुहाई देते हैं, दूसरे, इस के आसनों के परिमाण की बहुलता का भारी प्रचार करते हैं.

योगसूत्र और योग साहित्य पर एक नजर

यद्यपि पतंजलि ने अपने योगसूत्रों में स्थिर हो कर सूखपूर्वक बैठने को ही 'आसन' कहा है और किसी भी आसन विशेष का न उल्लेख किया है न वर्णन, फिर भी उस के प्राचीनतम भाष्य (व्यासभाष्य) में 11 आसनों का उल्लेख मिलता है.

> तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यकं,
> क्रौचनिषदनं, हस्तिनिषदनमुष्टनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यघासुखं चेत्येवमादीनि.
>
> –योगसूत्र 2/46 पर व्यासभाष्य

अर्थात पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, त्वस्तिक दंडासन, सोपाश्रय, पर्यंकासन, कौंचासन, हस्तिनिषदन (हाथी आसन) उष्ट्रनिषदन (ऊंट आसन) और समसंस्थान ये आसन स्थिर करने वाले तथा सुख देन वाले हैं.

वैसे यदि योगसूत्रों के अलावा विशाल योगसाहित्य पर एक नजर डालें तो पता चलेगा कि किसी ग्रंथ में एक आसन का वर्णन है तो किसी में 2 का. एक ग्रंथ में 32 आसनों का वर्णन है जैसे, त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् में एक आसन का; योगचूडामणि उपनिषद् में 2 आसनों का; योगकुंडल्यूपनिषद् में व अमृतनाद उपनिषद् में 3 आसनों का, ध्यानबिंदु उपनिषद्, योगतत्त्व उपनिषद् और शिवसंहिता 4 आसनों का, शाडिल्य उपनिषद् में 8 आसनों का, दर्शन उपनिषद् में 9 आसनों का; वाराह उपनिषद् में 11 आसनों का, हठयोगप्रदीपिका में 15 आसनों का त्रिशिख ब्राह्मण उपनिषद (मंत्रभाग) में 17 आसनों का और घेरंड संहिता में 32 आसनों का वर्णन है.

इस विवरण से स्पष्ट है कि व्यासभाष्य, वाराह उपनिषद् तक के 10 ग्रंथों के रचे जाने के बाद लिखा गया, तभी उस में 11 आसनों का उल्लेख है.

ध्यान रहे, ये 'उपनिषद्' ग्रंथ प्राचीन उपनिषदों की अपेक्षा अर्वाचीन ग्रंथ हैं. इन्हें प्राचीन दर्शाने के उद्देश्य से इन के पीछे 'उपनिषद्' शब्द जोड़ दिया गया है.

आसनों के बारे में अतिशयोक्तिपूर्ण बातें

इन ग्रंथों के बाद जो योग विषयक ग्रंथ रचे गए, उन में से कइयों ने न केवल आसनों को सीधे शिव से प्राप्त करने की बात की है बल्कि उन की संख्या भी चौरासी लाख बताई है:

आसनानि समस्तानि यावत्यो जीवयोनयः,
चतुरशीतिलक्षाणि शिवेन कथितानि तु.

–श्रीधर्मकल्पद्रुम, खंड 4, पृ. 13

अर्थात कुल आसन 84 लाख हैं, जितनी कि जीवों की योनियां हैं. उन सब आसनों का ज्ञान विश्व द्वारा दिया गया है.

यह अतिशयोक्तिपूर्ण संख्या निरा झूठ प्रतीत होती है, क्योंकि किसी प्राचीन ग्रंथ में जैसे जीवों की 84 लाख योनियों का विवरण नहीं मिलता, उसी तरह 84 लाख आसनों का भी कहीं विवरण उपलब्ध नहीं होता, न किसी प्राचीन ग्रंथ में, न किसी अर्वाचीन ग्रंथ में.

दूसरा यह प्रश्न भी पैदा होता है कि शिव ने 84 लाख आसन बताए थे तो बाकी कहां चले गए? स्पष्ट है कि 84 लाख की संख्या एक मिथ के तौर पर लोगों को अभिभूत करने के लिए गढ़ी गई है, जबकि वास्तविकता यह है कि पहले आसन एक था, फिर 2, 3, 4, 8, 9, 11, 15, 17 और 32 बने. इस वास्तविकता पर परदा डालने के लिए योग वालों ने फिर यह कहना शुरू कर दिया कि 84 लाख आसनों में 84 आसन विशेष हैं और मृत्युलोक में 33 आसन मंगलजनक हैं:

तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम्,
आसनानि त्रयस्विंशन्मर्त्यलाके शुभानि वै.

–श्रीधर्मकल्पद्रुम, खंड 4, पृ. 13

निरी गप

भावार्थ यह है कि 84 लाख की बात निरी गप है, तभी तो उन में से 84 को विशेष कहा गया है. यह 84 का आंकड़ा भी काल्पनिक प्रतीत होता है. तभी तो मृत्युलोक में 33 आसनों के मंगलजनक होने की बात कही गई है. घेरंड संहिता (2/2) में तो 33 के स्थान पर भी 32 आसनों के ही मंगलजनक होने की बात कही गई है: तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम् **(इन में भी 32 आसन मृत्युलोक के निवासियों के लिए शुभ अर्थात कल्याणदायक हैं.)**

इन दोनों ग्रंथों में एक आसन का अंतर है. बद्धपद्मासन नामक आसन श्रीधर्मकल्पद्रुम में अतिरिक्त है.

यहां कई बातें विचारणीय हैं. यदि मृत्युलोक के लिए 32/33 आसन ही मंगलजनक अथवा कल्याणकारक हैं, तब 84 या 84 लाख किस के लिए हैं? तब 8399968 फालतू आसनों का क्या औचित्य है? वे क्या किसी 'दूसरी' दुनिया के

लोगों के लिए हैं या निरर्थक हैं? उन निरर्थक आसनों को बनाने वाले की क्या महानता है?

यह एक विडंबना है कि 84 लाख आसनों की डींग हांकने वाले 32 आसनों के बाद के आसनों के नाम व विवरण देने में अपने को एकदम असमर्थ पाते हैं. इन 32 आसनों को जो शिव द्वारा सिखाए हुए नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन में से 2 आसन तो 13वीं शताब्दी के 2 योगियों द्वारा गढ़े हुए हैं. इसीलिए उन के नाम भी उन्हीं के नाम पर हैं.

पहला है, मत्स्येंद्र आसन मत्येंद्र नाथ कामरूप (असम) के एक मछुआरे मीनपा के पुत्र थे और 13वीं शताब्दी में हुए. इसी तरह दूसरा आसन है गोरक्षासन. गोरक्षनाथ तिब्बती जनश्रुति के अनुसार बौद्ध बाजीगर थे. विद्वान इन्हें 13वीं शताब्दी में मानते हैं. कुछ इन का समय संवत 1250 बताते हैं, तो कुछ 1257. गोरक्षनाथ मत्स्येंद्रनाथ का शिष्य था.

अब यदि 13वीं शताब्दी के मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ द्वारा पढ़े गए आसन मिला कर कुल 32 बनते हैं तो स्पष्ट है कि आसन अभी कल तक नए गढ़े जाते रहे हैं. इन का शिव से कुछ लेनादेना नहीं है. उस का नाम केवल तथाकथित अति प्राचीनता से लोगों को अभिभूत करने के लिए लिया जाता है.

आसनों का प्रयोजन क्या?

इन आसनों का प्रयोजन क्या है? क्यों वे विविध रोगों की चिकित्सा के उद्देश्य से गढ़े गए हैं? इन का उद्देश्य न तो कभी बीमारियों का इलाज करना रहा है और न किसी आयुर्वेदीय ग्रंथ ने ही इलाज के तौर पर कहीं इन का उल्लेख किया है. योगशास्त्रीय ग्रंथों ने भी इन्हें चिकित्साशास्त्रीय चीजें नहीं माना है. उन्होंने इन्हें मन की चंचलता को रोकने के लिए इस्तेमाल में लाने की ही बात का है.

कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगला धवम्.

–हठयोगप्रदीपिका 1/17

अर्थात आसन मन की स्थिरता व आरोग्य लाता है और शरीर के भारीपन को दर करता है.

अभ्यासाद्यस्य देहोऽयं योगौपयिकर्ता व्रजेत,
मनश्च स्थिरतामेति प्रोच्यते तदिहासनम्.

–श्रीधर्मकल्पद्रुम, खंड 4, पृ. 12

अर्थात जिस के अभ्यास से शरीर योग के उपयुक्त और मन स्थिर हो जाता है, उस का नाम आसन है.

योगेन चित्तस्य मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन.

–योगवार्तिक/योगसूत्रभोजवृत्ति

अर्थात योग से चित्त (मन) के मल दूर होते हैं और वैद्यक (आयुर्वेद) से शरीर के.

जायते येन येनेह विहितेन स्थिरं मनः,
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यानसाधनम्.

–योगशास्त्र 4/134

अर्थात जिस आसन के करने के मन स्थिर हो, वही आसन करना चाहिए, क्योंकि आसन ध्यान का साधन होता है.

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि योगासनों का उद्देश्य केवल मन को स्थिर व काबू में करना है. यदि किसी आसन से कोई अन्य लाभ होता है तो वह गौण है, उस का मुख्य उद्देश्य नहीं. यही कारण है कि जिन 32 आसनों का घेरंडसंहिता में वर्णन है, उन में से 22 आसनों का शारीरिक दृष्टि से कोई भी लाभ नहीं बताया गया है. उन के केवल लक्षण दिए गए हैं कि इस आसन को इस प्रकार करें, बस, मन को संयम में करने में मिलने वाली कथित सहायता ही इन का लाभ है.

जिन 10 आसनों के लाभ बताए गए हैं वे भी इस ढंग के हैं कि उन का चिकित्साशास्त्र दृष्टि से कोई विशेष अर्थ नहीं बनता. 5 आसनों के लाभ इस तरह बताए गए हैं:

एतद् व्याधिविनाशकारणपरं पद्मासनं प्रोच्यते.

–घेरंड संहिता 2/8

अर्थात यह सब व्याधियों का विनाशक कहा जाता है.

भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधि विनाशकम्.

–घेरंड संहिता 2/10

अर्थात भद्रासन नामक आसन सब व्याधियों का विनाशक है.

सिंहासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशकम्.

–घेरंड संहिता 2/15

अर्थात सिंहासन नामक आसन सब व्याधियों का विनाशक है.

मत्स्यासनं तु रोगहा.

–घेरंड संहिता 2/21

अर्थात मत्स्यासन रोगों को दूर करने वाला है.)

सर्वरोगविनाशनम् भुजंगासनम्.

–घेरंड संहिता 2/42

अर्थात भुजंगासन समस्त रोगों का नाश करता है.

यदि कभी चिकित्साशास्त्रीय दृष्टि से इन आसनों की प्रामाणिकता सिद्ध भी हो

जाए तो भी स्पष्ट है कि इन पांचों में से एक ही काफी होगा, शेष 4 एकदम व्यर्थ हैं; क्योंकि जब एक ही आसन 'सब रोगों का विनारक है' है तो फिर अलगअलग बीमारियों के लिए अलगअलग आसन बताने वाले क्या केवल दुकानदारी नहीं कर रहे हैं?

अगले एक आसन के बारे में कहा गया है कि इस से थकावट दूर होती है.

शवासनं श्रमहरम्.

–घेरंड संहिता 2/19

अर्थात शवासन थकावट को दूर करता है.

क्या पूर्वोक्त 'सर्वव्याधिहर आसन' थकावट को दूर करने में असमर्थ हैं, जो इसे विशेषतः श्रमहर बताया गया है?

इसी तरह अपने मकरासन के बारे में कहा गया है कि यह शरीर की अग्नि को प्रज्वलित करता है:

देहाग्निकरं मकरासनं तत्.

–घेरंड संहिता 2/39

क्या पहले कहे हुए 'सर्वव्याधि नाशक' आसन यह काम नहीं करते जो इस के लिए पृथक् से मकरासन की कल्पना की गई है? यदि वे नहीं करते तो फिर उन्हें 'सर्वव्याधि नाशक' कहने का क्या औचित्य है?

इसी तरह अगले 3 आसनों को सिद्धि देने वाले कहा गया है:

मुक्तासनं तु सिद्धिदम्.

–घेरंड संहिता 2/11

अर्थात मुक्तासन सिद्धियों को देने वाला है.

वज्रासनं भवेदेतत् योगिनां सिद्धिदायकम्.

–घेरंड संहिता 2/12

अर्थात वज्रासन योगियों के लिए सिद्धियां प्रदान करने वाला है.

गोरक्षासनमित्याहुः योगिनां सिद्धि कारणम्.

–घेरंड संहिता 2/26

अर्थात गोरक्षासन योगियों को सिद्धि प्रदान करने वाला है.

क्या इन 3 आसनों को छोड़ कर शेष 29 आसन सिद्धि देने में असमर्थ हैं. यदि वे असमर्थ हों तो इन 3 विशेष आसनों के अस्तित्व का क्या औचित्य है? तीनों एक ही काम करते हैं? कथित सिद्धियां प्रदान करने का यह काम तो एक ही आसन कर सकता है. ऐसे में 2 आसनों को तो बेकार ही घोषित करना होगा. साथ ही शेष 29 आसन भी निरर्थक सिद्ध होंगे, क्योंकि वे तो सिद्धि देने में असमर्थ ही रहेंगे. इस दृष्टि से तो केवल 1 आसन काफी है. जब वह सिद्धि प्रदान करने में समर्थ है, तब स्पष्ट

है कि वह सर्वव्याधियों को विनष्ट करने में भी समर्थ होगा. ऐसे में 32 आसनों का ही औचित्य सिद्ध करना कठिन हो जाएगा, 84 या 84 लाख की तो बात ही छोड़ो.

घेरंड संहिता ने मत्स्येंद्र आसन, पश्चिमतान आसन और मयूर आसन का कोई लाभ विशेष नहीं बताया है. परंतु हठयोगप्रदीपिका ने इन के भी लाभ गिना दिए हैं:

मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचंडरुग्मंडलखंडनाशास्त्रम्.

–हठयोग-प्रदीपिका 1/27

अर्थात मत्स्येंद्र आसन जठराग्नि (पाचनशक्ति) को तेज करता है और प्रचंड रोगों के समूह को नष्ट करता है.

इति पश्चिमतानमासनम्, उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम्.

–हठयोगप्रदीपिका 1/29

अर्थात पश्चिमतान आसन जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, उदर को मध्य से कृश करता है और रोगों से मुक्त करना है.

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीनभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम्,
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं जनयति जठराग्नि जारयेत्कालकूटम्.

–हठयोगप्रदीपिका 1/31

अर्थात मयूरासन गुल्म, जलोदर आदि सब रोगों को नष्ट करता है, खाए हुए ज्यादा या कुत्सित अन्न को पचाता है, जठराग्नि को बढ़ाता है और कालकूट (विष) के प्रभाव को भी खत्म करता है.

यहां यह विचारणीय है कि जो चीजें घेरंड संहिता को मालूम नहीं वे हठयोगप्रदीपिका को कैसे मालूम हो गईं? क्या 'शिव' इस के लेखक के कानों में फूंक मार कर गए थे या ऐसे ही मनमाने ढंग के इन 3 आसनों के गुण कल्पित कर लिए गए?

तीनों सब रोगों को दूर करते बनाए गए हैं, तीनों जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले कहे गए हैं. यदि तीनों को एक सा काम ही करना है तो फिर इन तीनों का औचित्य ही क्या रह जाता है?

दूसरे, मयूरासन को विष को भी पचा जाने वाला किस आधार पर कहा गया है? यह एक आम धारणा है कि मयूर (मोर) सांप को खा जाता है, विष को पचा लेता है. उसी आधार पर यह कल्पना की गई है कि मयूरासन से विष को पचाया जा सकता है. यह बहुत स्थूलबुद्धि की बात है. स्पष्ट है, मयूर के शरीर की नकल करने वाला आसन, मयूरासन, लगाने पर व्यक्ति के अंदर उस पक्षी के अंदरूनी सिस्टम सा कोई सिस्टम काम करना शुरू नहीं कर सकता.

आसनों के कथित लाभ

स्पष्टतः इन आसनों के कथित लाभ कपोलकल्पित हैं: जो बात एक ग्रंथ में थी, बाद के ग्रंथकार ने उसे और ज्यादा लुभावना व आकर्षक बनाने के लिए अपने ग्रंथ

में अपनी ओर से और मिर्चमसाला लगा कर प्रस्तुत कर दिया. जिन आसनों के कथित लाभों की बाबत योगीराज घेरंड चुप थे, हठयोगप्रदीपिका के लेखक ने उन में से कइयों के लाभ अपनी ओर से जोड़ कर अपने ग्रंथ को ज्यादा लोकप्रिय बना लिया और अपना योगीराजत्व ज्यादा श्रेष्ठ करवा लिया.

यहां यह भी विचारणीय है कि क्या किसी योगी ने इन योगासानों से कभी पाचन शक्ति बढ़ाई है? क्या किसी ने विष खा कर इन की सहायता से कभी अपनी जान बचाई है? क्या इन के कारण कोई रोग से मुक्त हुआ है? क्या इन के कोई प्रामाणिक उदाहण हैं?

मेरा खयाल है, हम आधुनिक योगियों के उदाहरण न ले कर प्राचीन व प्रामाणिक उदाहरण ही लें. 1883 ई. से आर्यसमाज के संस्थापक योगीराज स्वामी दयानंद सरस्वती को विष दे दिया गया था. वे योगाभ्यास व योगासन किया करते बताए जाते हैं. परंतु कोई भी आसन उन्हें विष के घातक प्रभाव से नहीं बचा सका.

गौतम बुद्ध को भी योगीराज बताया जाता है. इसीलिए कई लोग तो बुद्धधर्म का अर्थ ही योग/विपश्यना बताते हैं. पालि त्रिपिटक में आता है कि पावा नगरी में बुद्ध ने शूकरमार्दव खाया था और फलतः उन्हें खून गिरने की बीमारी लग गई थी. इस (शूकरमार्दव) के लोगों ने भिन्नभिन्न अर्थ किए हैं. पहला और प्रसिद्ध अर्थ तो 'एक वर्ष के सूअर का मांस' है.

दूसरे इस का अर्थ 'नर्म चावल को 5 गोरस से पकाने पर बना खाद्य पदार्थ' बताते हैं और तीसरे इसे ऐसा रसायन बताते हैं जिस से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है. पहला अर्थ कई लोगों को इसलिए नहीं पचता कि इस से बुद्ध के मांसाहारी होने की बात सिद्ध होती है. दूसरा अर्थ उन्हें मांसाहारी के स्थान पर शाकाहारी सिद्ध करने के लिए किया जाता है. यहां हमारा उद्‌देश्य इस विवाद में पड़ना नहीं है कि वे मांसाहारी थे या शाकाहारी, बल्कि यह बताना मात्र है कि उन की पाचनशक्ति गड़बड़ा गई, वह बीमार पड़ गए.

तीसरा अर्थ आत्मविरोधी है, क्योंकि जो रसायन मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के उद्‌देश्य से आयुर्वेद व रसायन शास्त्र के अनुसार तैयार किया व करवाया गया था, वही बुद्ध की मृत्यु का कारण बना. यह अर्थ तो आयुर्वेद व रसायनशास्त्र के ढोल की पोल ही खोलता दिखाई देता है.

बुद्ध की यह बीमारी किसी भी योगासन से ठीक नहीं हो पाई. यदि वह योगी थे तो उन्होंने इन का आश्रय अवश्य लिया होगा. फलतः इसी बीमारी के कारण उन की मृत्यु हो गई.

इसी प्रकार महावीर स्वामी के बारे में भगवतीसूत्र के 15वें शतक में आता है कि उन्हें गोशाल के शाप के कारण अत्यंत पीड़ाकारी पित्त ज्वर का दाह उत्पन्न हो गया था व खूनी दस्त आने लगे थे. इस पर उन्होंने योगासन नहीं किए, कोई योगाभ्यास नहीं किया, बल्कि उन्होंने 'कुक्कुट मांस' का प्रयोग किया. 'जैन धर्मदर्शन' (1999) नामक पुस्तक में, जो राजस्थान और उत्तर प्रदेश की सरकारों द्वारा पुरस्कृत है, डा. मोहनलाल मेहता लिखते हैं, ''सिंह अनगार के आने पर महावीर ने उन्हें आश्वासन

देते हुए कहा, 'मैं अभी नहीं मरूंगा, किंतु 16 वर्ष तक और 'जिन' के रूप में विचरण करूंगा. अतः तू मेंढिक ग्राम में रेवती गृहपत्नी के यहां जा.

उस ने मेरे लिए 2 कपोतशरीर (कबूतर) उपस्कृत कर, तैयार कर रखे हैं, किंतु उन का मुझे प्रयोजन नहीं है. उस के यहां बासी (कल का) मार्जारकृत कुक्कुट मांस बिल्ली द्वारा मारे गए मुर्गे का मांस) है, वह ले आ. उस का मुझे प्रयोजन है.' सिंह अनगार रेवती गृहपत्नी के यहां गए एवं महावीर की आज्ञानुसार कुक्कुट मांस लाए. महावीर ने उस का सेवन किया, जिस से उन का पीड़ाकारी रोग शांत हुआ."

–जैन धर्मदर्शन, पृष्ठ 39–40

यहां भी 'कुक्कुट मांस' शब्द के अर्थ बदल कर शाकाहारी बनाने के यत्न किए गए हैं परंतु डा. मेहता लिखते हैं, "मांसाहारपरक शब्दों का शाकाहारपरक अर्थ कर के इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है किंतु इस से चिंतक को संतोषप्रद समाधान प्राप्त नहीं होता. जिन अमुक शब्दों का प्रयोग इस शतक में किया गया है, जिन का कि शाकाहारपरक अर्थ किया जाता है, उन शब्दों का प्रयोग आगमिक साहित्य में अन्यत्र जहां कहीं हुआ है, साधारण प्रचलित अर्थ में ही हुआ है, अर्थात उन का झुकाव मांसाहारपरक अर्थ की ओर ही है. (पृष्ठ 31-32)

हम यहां इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते कि कुक्कुट मांस का मांसाहारी अर्थ ठीक है या शाकाहारी, हमारा उद्देश्य केवल यह बताना है कि वह जब बीमार पड़े, तब उन्होंने योगासन नहीं किए, योगाभ्यास नहीं किया, बल्कि उस बीमारी को शांत करने में समर्थ वस्तुओं/औषधियों का प्रयोग किया और फलतः 16 वर्ष जीवित रहे.

ये तीनों उदाहरण प्रसिद्ध व मान्य योगियों के हैं. इन से योगासनों के दावों की पोल ही खुलती नजर आती है. स्वामी दयानंद योगी होने के बावजूद मृत्यु को प्राप्त हुए; कोई योगासन काम नहीं आया; कोई विष के प्रभाव को नष्ट नहीं कर सका. गौतम बुद्ध की भी योगासनों से न बीमारी ठीक हुई, न पाचनशक्ति बढ़ पाई और वह मृत्यु को प्राप्त हुए. महावीर की बीमारी भी ठीक हो जाती है और वह 16 वर्ष तक बाद में जीते भी हैं; क्योंकि वे रोगनाशक औषधि का प्रयोग करते हैं, न कि योगासनों का, योगाभ्यास का.

आसनों के यौगिक मकड़जाल

इन उदाहरणों में बहुत कुछ छिपा है. हमें इन से शिक्षा ग्रहण करनी होगी और आसनों के यौगिक मकड़जाल से निकल कर औषधि की शरण ग्रहण करनी होगी.

हठयोग प्रदीपिका ने 84 आसनों का सार केवल 4 आसन बताए हैं:

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च,
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम्.
सिद्ध पद्म तथा सिंह भद्रं चेति चतुष्टयम्.

–हठयोगप्रदीपिका 1/33–34

अर्थात शिव ने जो 84 आसन कहे हैं, उन के सारभूत 4 आसन हैं–सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन.

हठयोगप्रदीपिका में इन में से 2 पद्मासन और भद्रासन को ही सर्वव्याधि विनाशक कहा गया है. सिंहासन को उस ने सर्वव्यधि विनाशक के पद से च्युत कर दिया है, हालांकि घेरंड संहिता इसे भी सर्वव्याधि विनाशक घोषित करती है. (देखें, घेरंड संहिता 2/15.) लेकिन हठयोगप्रदीपिका इसे योगियों द्वारा पूज्य और सब आसनों में उत्तम बताती है:

सिंहासन भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः,
बंधत्रितवसंधानं कुरुते चासनोत्तमम्.

–हठयोगप्रदीपिका 1/52

अर्थात सिंहासन श्रेष्ठ योगियों द्वारा पूजित, मूलबंध आदि तीनों बंधों को संनिधान करने वाला और सब आसनों में उत्तम है.

अब यदि यह सब में उत्तम है, तो यह सर्वव्याधि विनाशक क्यों नहीं हो सकता? जब दूसरे सर्वव्याधि विनाशक आसन विद्यमान हैं; तब यह उस गुण से रहित हुए भी सब में उत्तम कैसे हो सकता है? लगता है, अपना श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करने के लिए घेरंड की कुछ बातों को तोड़नामरोड़ना या बदलना जरूरी समझा गया. यह ईर्ष्याजनित मनमानापन क्या वैज्ञानिकता है?

इस चक्कर में विभिन्न योगीराजों को यह भी दिखाई नहीं देता कि वे परस्पर विरोधी बातें कर रहे हैं और अपनी ही बातों को कांटे जा रहे हैं.

हठयोगप्रदीपिका के लेखक स्वात्माराम योगींद्र सिद्धासन को भी सब से उत्तम आसन घोषित करते हुए कहते हैं:

नासनं सिद्धसदृशम्.

–हठयोगप्रदीपिका 1/43

अर्थात सिद्धासन के समान अन्य कोई आसन नहीं है.

अब यदि सिंहासन सब में उत्तम है, तो सिद्धासन लासानी (अनुपम) कैसे हो सकता है?

जो उत्तम है, वह अनुपम (लासानी, अद्वितीय) क्यों नहीं और जो लासानी (अनुपम) है, वह उत्तम क्यों नहीं? क्या योगीराज ने झोंक में लिखा है या होश में? होश में तो ऐसा लिखना संभव नहीं, फिर झोंक के लिखे को कोई होश वाला व्यक्ति कैसे प्रामाणिक व सत्य बात के रूप में स्वीकार कर सकता है?

योगीराज इसी सिद्धासन की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं:

किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति,
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके.

–हठयोगप्रदीपिका 1/41

अर्थात सिद्धासन के सिद्ध होने पर दूसरे बहुत से आसनों का क्या लाभ? इस सिद्धासन से केवलकुंभक प्राणायाम बंधने पर दूसरे सब आसन तथा समझने चाहिए.

यहां स्वात्माराम योगींद्र ने केवल एक आसन पर आ कर शेष को व्यर्थ घोषित कर दिया है. यह वही निष्कर्ष है जिसे हम पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं, 'इस दृष्टि से तो केवल एक आसन काफी है. ऐसे में 32 आसनों का ही औचित्य सिद्ध करना कठिन है, 84 या 84 लाख की तो बात ही छोड़ो.'

जब स्वयं योग के ग्रंथ ही एक आसन को छोड़ कर सब को वृथा घोषित करते हैं, जब विभिन्न ग्रंथों के माहात्म्यों पर तार्किक दृष्टि से विचार करने के बाद आम आदमी भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचता है कि एक के सिवा शेष सब आसन व्यर्थ हैं, तब योग वालों का बीसियों योगासनों को भिन्नभिन्न रोगों, दर्दों, विकृतियों आदि के इलाज के लिए मनमाने रूप में, बिना किसी वैज्ञानिक व प्रामाणिक आधार के, परोसते फिरना क्या अर्थ रखता है? इन की बड़ीबड़ी सजी दुकानों, इन के बड़ेबड़े कारोबारों को देख कर मनुस्मृति में प्रयुक्त 'योग' शब्द का स्मरण हो आता है, जिस का अर्थ सभी भाष्यकारों के अनुसार 'छल' है.

सचाई को अपनाएं

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यदि योगासनों का चिकित्सा शास्त्रीय दृष्टि से कोई महत्त्व है, यदि इन से वास्तव में रोग दूर होते हैं तो इस काम के लिए एक ही 'सर्वव्याधि विनाशक' आसन पर्याप्त है. शेष सारी उठापटक एकदम फालतू है. विडंबना यही है कि इस एक आसन का भी कोई संतोषजनक व प्रामाणिक चिकित्साशास्त्रीय आधार उपलब्ध नहीं है. अतः योगा वालों के जंजाल से बचने में ही भला है.

यह रामसेतु कहां से टपका?

जब से सेतुसमुद्रम् परियोजना विवादों में घिरी है तब से 'सेतु' भी चर्चा का विषय बन गया है. यह बड़ी हैरानी की बात है कि जिस सेतु को बचाने के लिए हिंदू संगठन आंदोलन चला रहे हैं, उसे वे 'रामसेतु' कह रहे हैं; जबकि महर्षि वाल्मीकि अपनी रामायण में कहीं भी किसी सेतु को 'रामसेतु' नहीं लिखते. जिस एकमात्र 'सेतु' की वह बात करते हैं उसे वह 'नलसेतु' लिखते हैं क्योंकि उसे नल ने बनाया था. (देखें, वाल्मीकीय रामायण, 6-22-76).

रामसेतु नहीं नलसेतु

यदि हम रामायण के पहले कांड में दी गई उस सूची को देखें, जिस में संक्षेप में सारे भावी कथानक का उल्लेख है तो पाते हैं कि वडोदरा व पश्चिमोत्तरीय संस्करणों में निम्न वाक्य अंकित हैं:

संगमं च समुद्रस्य नलसेतोश्च दर्शनम्.

–वा.रा., 1/3/34

इस का अर्थ है कि राम वहां समुद्रतट पर पहुंच कर समुद्र के संगम और नलसेतु के दर्शन करते हैं.

इसी के दूसरे संस्करणों में लिखा है कि राम वहां पहुंच कर समुद्र के संगम का दर्शन करते हैं और नलसेतु बनवाते हैं :

संगमं च समुद्रस्य नलसेतोश्च बंधनम्.

–वा.रा., 1/3/34

यदि पहले पाठ को स्वीकार करें तो साफ होता है कि राम के वहां पहुंचने से पहले ही नलसेतु वहां विद्यमान था. इसीलिए डा. फादर कामिल बुल्के ने अपनी पुस्तक 'रामकथा', जो 19560 में प्रयाग (इलाहाबाद) विश्वविद्यालय द्वारा हिंदी में डी. फिल. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध है, में लिखा है: 'इन सब पाठभेदों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि लंका के पास कोई नलसेतु (डमरू-मध्य?) पहले से विद्यमान था, जहां वानर सेना पुल बना कर लंका पहुंच गई थी.' -रामकथा, पृ. 542

बहुत संभव है कि पहले से विद्यमान यह नलसेतु वही हो जो आज 30 किलोमीटर लंबा सेतु सा दिखाई पड़ता है और इसी पर पुल बना कर वानर सेना लंका पहुंची हो.

वैसे आज के समय में प्रचलित वाल्मीकीय रामायण में नलसेतु उस पुल को दर्शाया गया है जिसे राम के कहने पर नल नामक वानर ने बनाया था.

रामायण में आता है कि जब नल ने सेतु का निर्माण शुरू किया तब बड़ेबड़े वानर सामग्री जुटाने में जुट गए, वे पर्वत के समान विशालकाय वान पवर्त शिखरों और वृक्षों को तोड़ कर उन्हें समुद्र तक खींच लाते तथा उन से समुद्र को पाटने लगते:

ते नगान् नगसंकाशाः शाखामृगगणर्षभा,
बभुंजः पादपांस्तत्र प्रचकर्षुश्च सागरम्,
सागरं समपूरयन्

–वा. रा., 6/22/55,57

वे वानर जब शिलाखंडों को समुद्र में फेंकते, तक उस का पानी आकाश तक उठ जाता और बाद में नीचे गिर जाता:

प्रक्षिप्यमाणैरचलैः सहसा जलसमुद्धृतम्
समुत्ससर्प चाकाशमवार्सर्पत् ततः पुनः.

–वा. रा., 6/22/61

यह पुल 100 योजन लंबा था. यही कारण है कि कुछ वानर योजन लंबा सूत पकड़े हुए थे. जब नल समुद्र के बीच में महान् सेतु का निर्माण कर रहा था तब दूसरे वानर भी मिलजुल कर सेतुनिर्माण के काम में लगे हुए थे.

वाल्मीकि लिखते हैं कि कुछ नापने के लिए दंड पकड़ते थे तो कुछ सामग्री जुटाते थे. कुछ तिनकों और काष्ठों (लकड़ियों) द्वारा भिन्नभिन्न स्थानों में पुल बांध रहे थे. ऐसे वृक्षों द्वारा भी वे वानर सेतु बांध रहे थे जिन के अग्रभाग फूलों से लदे थे:

दंडानन्ये प्रगृह्णन्ति विचिन्वन्ति तथापरे,
तृणैः काष्ठैर्बबन्धिरे, पुष्पिताग्रैश्च तरुभिः सेतुं बध्नन्ति वानराः.

वा. रा. 6/22/64/65

वानरों ने पहले दिन 14 योजन, दूसरे दिन 20 योजन, तीसरे दिन 21 योजन, चौथे दिन 22 योजन और 5वें दिन 23 योजन लंबा पुल बांधा. इस तरह नल ने 100 योजन अर्थात 1288 किलोमीटर लंबा पुल तैयार किया. पुल 10 योजन अर्थात 128 किलोमीटर चौड़ा था. इस नल द्वारा निर्मित 'नलसेतु' को देखने के लिए देवता और गंधर्व आए:

दश्योजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम्,
दद्टशुर्देवरांधर्वाः नलसेतुं सुदुष्करम्.

–वा. रा. 6/22/76

इस 'नलसेतु' को रामसेतु कहना महर्षि वाल्मीकि का अपमान करना है क्योंकि यदि यह किसी तरह रामसेतु होता तो क्या महर्षि उस का उल्लेख अपनी रामायण में न करते? यह किसी भी तरह रामसेतु नहीं था, बल्कि हर तरह से नलसेतु था; अतः महर्षि इसे नलसेतु ही कहते हैं. जो भारतीय या हिंदू संस्कृति के स्वयंभू ठेकेदार हैं उन्हें अपने ग्रंथों का गंभीरता से अध्ययन करना चाहिए और संस्कृत भाषा का ज्ञान अर्जित करना चाहिए. तभी वे यह समझ सकेंगे कि नलसेतु को रामसेतु कहना अपने अज्ञान का ढिंढोरा पीटना है और अपने महर्षियों को मुंह चिढ़ाना है.

अंधविश्वास से भरी अनेक बातें

इस पुल के बारे में कथावाचकों व अन्य स्वार्थी तत्वों ने अनेक अंधविश्वासों से भरी ऐसी बातें फैला रखी हैं जो महर्षि वाल्मीकि की रामायण में कहीं भी दिखाई नहीं देतीं.

कहा जाता है कि जब पुल बन रहा था तब नल जो भी पत्थर पानी पर रखता वह तैरने लगता था. यह असंभव बात महर्षि ने कहीं भी नहीं लिखी है.

इसी तरह, कई लोग कहते हैं कि इस पुल के निर्माण में गिलहरी जैसे छोटेछोटे प्राणी भी जुटे थे और दूसरे भालू, रीछ आदि भी. यह बात भी सरासर काल्पनिक है. वाल्मीकि कहीं भी किसी भालू, रीछ या गिलहरी का नाम तक नहीं लेते. वह केवल बड़ेबड़े वानरों की बात करते हैं.

रामायण के अनुसार यह नलसेतु 100 योजन अर्थात 1288 किलोमीटर लंबा था. (संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी के अनुसार 1 योजन 8-9 मील का होता है. यहां हम ने 8 मील मान कर यह 1288 का आंकडा दिया है. यदि 9 मील का योजन मानें तो 100 योजन 1468 किलोमीटर होगा.) पर अब जो पुल है वह तो केवल 30 किलोमीटर है, शेष 1258 अथवा 1438 किलोमीटर है कहां है? इसी तरह, इस पुल में लकड़ी, वे वृक्ष आदि कहां हैं, जिन का प्रयोग रामायण में इस के निर्माण में हुआ बताया गया है?

रामायण के अनुसार यह पुल समुद्र को भर कर, ठीक उसी तरह बनाया था जैसे आज किसी पानी वाले स्थान में भराव कर, उसे पाट कर रास्त बनाया जाता है. इसीलिए महर्षि वाल्मीकि कहते हैं :

सागरं समपूरयन्

–वा. रा., 6-22-57

लोगों की आस्था व धार्मिक भावना से खिलवाड़

ऐसे में आज का पुल वह सिद्ध नहीं होता जिस की चर्चा महर्षि वाल्मीकि ने की है. इसलिए इस को बचाने के लिए रामायण या महर्षि वाल्मीकि के नाम का दुरुयोग करना सरासर राजनीतिक खेल है और लोगों की आस्था व धार्मिक भावनाओं से खिलवाड़ करना है.

इसे 'रामसेतु' कहना ही हास्यास्पद और आपत्तिजनक है क्योंकि वाल्मीकिय

रामायण में रामसेतु नाम की कहीं कोई चीज ही नहीं है. वहां जो सेतु है, उस को महर्षि 'नलसेतु' कहते हैं. जब रामसेतु नामक कोई चीज कभी कहीं थी ही नहीं तो आज के 'सेतु' को 'रामसेतु' किस आधार पर कहा जा सकता है? यह 'रामसेतु' नाम कहां से टपक पड़ा? जब रामायण के आदिकर्ता (प्रथम लेखक, तक किसी रामसेतु की बात नहीं करते तब राजनीतिबाज किस आधार पर रामसेतु की बात करते हैं?

स्पष्ट है, उन की कल्पना का यह रामसेतु न राम से संबद्ध हो सकता है, न महर्षि वाल्मीकि की रामायण से. जो लोग महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण के प्रति आस्था रखते हैं उन्हें उस के एकदम विपरीत जाने वाली 'रामसेतु' की बातें करने वालों से दूर ही रहना चाहिए. इसी में देश का भला है.

राष्ट्रीय आवश्यकता सर्वोपरि

यदि कोई महर्षि वाल्मीकि और उन की रामायण की अवमानना करते हुए पुल जैसे दिखाई देने वाले प्राकृतिक ढांचे को रामसेतु कहने का हठ करता है तो भी इस ढांचे के उतने हिस्से को तोड़ दिया जाना चाहिए जितने हिस्से का तोड़ा जाना अपनी राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनिवार्य और अपरिहार्य है.

अनेक मुसलिम देशों में विकास के मार्ग में बाधक बनने वाली मसजिदों को या गिरा दिया गया था या उन्हें स्थानांतरित किया गया है. यही नहीं, जब तक बाबरी मसजिद को धराशायी नहीं किया गया था, यही स्वयंभू हिंदू संगठन उन मसजिदों के नाम गिनाते नहीं अघाते थे; पर आज वही लोग एक प्राकृतिक ढांचे को काल्पनिक नाम दे कर अपने वोट पक्के करने की छिपी इच्छा के मोह में फंस कर, अपने ही देश की प्रगति के रास्ते में रोड़ा अटका रहे हैं. ये धर्म के नाम पर राजनीति की रोटियां ही सेंकने वाले हैं; वैसे धर्म से इन का कोई सरोकार नहीं है.

वोटों के लिए करते हैं भावनाओं का दोहन

राम मंदिर के नाम से वोट मिलने की संभावना हो तो उस का ढोल पीटेंगे, यदि वही संभावना रामसेतु से हो तो उसी गले क हार बनाएंगे. इस के लिए यदि रामायण को विकृत करना पड़े तो भी इन्हें कोई आपत्ति नहीं. ये निर्विकार भाव से नलसेतु को रामसेतु कह सकते हैं और 1288 किलोमीटर लंबे रामायण के पुल के स्थान पर 30 किलोमीटर लंबे पत्थर के ढांचे को भी सिर पर उठा सकते हैं. यदि यह धर्म है तो अधर्म किसे कहते हैं?

उपसंहार

पूर्वगामी पृष्ठों में मेरे वे लेख हैं जो समयसमय पर 'सरिता' में छपते रहे हैं. इस संग्रह को मेरे दो तरह के मित्रों ने पढ़ा है–एक तो उन्होंने जो इन्हें हिंदुत्व विरोधी कहते हैं. स्पष्टतः ये वे लोग हैं जो छद्म हिंदुत्व के ध्वजवाहक हैं. दूसरे उन्होंने जो इन्हें हिंदुत्ववादी बताते हैं. स्पष्टतः ये वे लोग हैं जो यथार्थ हिंदुत्व के संकल्प को पूरी तरह समझते हैं और वास्तव में हिंदू समाज के हितचिंतक हैं. इन दोनों तरह की प्रतिक्रियाओं को सुन कर मुझे उर्दू का एक शेर बरबस याद हो आया हैः

जाहिदे-तंगनज़र ने मुझे काफिर जाना,
काफिर ये जानता है कि मुसलमां हूं मैं.

अर्थात तंगनजर वाले धर्मोपदेशक ने मुझे 'काफिर' माना है और काफिर यह समझता है कि असली धर्मपरायण मुसलमान तो यही आदमी है.

यह उस के अपने तंग नजरिए की विडंबना है कि जाहिद को हिंदू धर्म के कुछ नकारात्मक पक्षों की समालोचना खुद हिंदू धर्म की आलोचना प्रतीत हो रही है, यानि उस की तंगनजर को हिंदू धर्म और उस के कुछ नकारात्मक पक्ष–दोनों एक ही चीज प्रतीत हो रहे हैं. इस से बढ़ कर भी क्या कोई शोचनीय स्थिति हो सकती है?

कबीर एक जगह कहते हैं–

'तुम जनि जानहु गीत हैं ये तो ब्रह्म बिचार.'

अर्थात इन्हें गीत न समझो, यह तो ब्रह्मविषयक मेरी फिलासफी है. इसी तर्ज पर कहूं तो कह सकता हूं कि इन्हें हिदुत्व-विरोधी मत कहो, यह तो यथार्थ हिंदुत्व है.

हिंदुत्व मेरी भी बपौती है. इस पर किसी एक स्वयंभू गिरोह परिषद/दल/संगठन/संघ का कॉपी राइट नहीं है. मैं दो पीढ़ियों से इस से जुड़ा हूं. जो लोग हिंदुत्व के स्वयंभू एकाधिकारी बने इतराते नहीं अघाते, उन्हें हिंदुत्व के पुरोधा वीर सावरकर को एक बार जरूर पढ़ना चाहिए, यदि उन की समझ में मेरे विचार न आएं.

सावरकर ने मुसलमानों को कोसने के स्थान पर असली हिंदुत्व की दुखती रग पर उंगली धरते हुए कहा है–'वर्णव्यवस्था से संबंधित हिंदुओं की हास्यास्पद रूढ़ियां, खानपान पर लगे अनेक प्रतिबंध, विजातियों की शुद्धि आदिआदि, जिस की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं और जिस ने मुसलमानों की धार्मिक-राजनीतिक

आक्रमण की दुधारी नीति से कहीं अधिक क्षति पहुंचाई, उस के अलावा हिंदू जेहन पर एक और आत्मघाती विकृति का पूर्ण कब्जा था. इस विकृति ने उन की घातप्रतिघात की क्षमता को कुंद कर दिया था. विकृत सदाचारी हिंदुओं के कारण हुई हार की चोट मुसलमानों द्वारा किए गए प्रयासों से कहीं अधिक थी. अगर इस मोह के लिए एक अपेक्षाकृत नरम शब्द का प्रयोग किया जाए, तो हिंदुओं को ही करारी हार पहुंचाने वाले इस मानसिक असंतुलन को हिंदू की 'सद्‌गुण विकृति' कहेंगे'.

(विनायक दामोदर, द सिक्स ग्लोरियस एपिक्स आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ. 167.)

क्या ये आत्मालोचनपरक बातें हिंदुत्व-विरोधी कही जाएंगी? क्या छद्‌म हिंदुत्ववादियों से हिंदुत्व के पितामह वीर सावरकर अब यह सीखेंगे कि हिंदुत्व का समर्थन कैसे करना चाहिए? स्पष्ट है, छद्‌म हिंदुत्ववादियों को यथार्थ हिंदुत्व का संकल्प समझने में गंभीरता से जुटना होगा, तभी वे हिंदू समाज के लिए कुछ रचनात्मक काम करने की स्थिति में हो सकते हैं.

छोटे बच्चे जब देशभक्ति का गीत गाने के लिए मंच पर खड़े होते हैं, तब उन के मुंह खोलने से पहले ही हर समझदार व्यक्ति को पता होता है कि अब पाकिस्तान आदि पड़ोसियों को गालियां दी जाएंगी और अपनी पीठ खुद ही थपथपाई जाएगी. यही हाल छद्‌म हिंदुत्ववादियों का है. वे अल्पसंख्यकों, विशेषतः मुसलमानों को बुरी तरह कोसते हैं और अपने को खुद ही 'जगद्‌गुरु' कह कर अपनी पीठ थपथपाते हैं. परंतु क्या इस से हिंदू समाज का जरा भी भला हो सकता है?

हिंदू समाज चिरयुवा है. यह एकसाथ पुराना भी है और नया भी. इस के बारे में बच्चे नहीं, वयस्क बात करें तो शायद कुछ सार्थक काम हो सके. छद्‌म हिंदुत्व तो इस के लिए ज्यादा हानिकारक ही सिद्ध हुआ है और होगा.

छद्‌म धर्मनिरपेक्षता और छद्‌म हिंदुत्व—मुझे लगता है एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जो सत्ताप्राप्ति की ललक पर टू-इन-वन मुखौटे पहने हुए हैं. किसी राज्य में राजनीतिक रणनीति के तहत एक समुदाय के वोट हथियाने के लिए दंगों को इस्तेमाल करना हिंदुत्व नहीं, विचारधाराशून्य राजनीतिक गतिविधि है. श्रीकांत तलगेरी ने कितनी सटीक टिप्पणी की है, जब उस ने लिखा है—'धर्म निरपेक्ष ब्रिगेड की हिंदू विरोधी लफ्फाजी और सरगर्मियां 'भगवा-ब्रिगेड' के लिए सर्वोत्तम बीमा पालिसी के समान है जिस से वह अपने झुंड को बनाए रखता है और बढ़ाता रहता है.' (देखें, कोइनराड इल्स्ट (सं.) इंडियाज ओनली कम्यूनलिस्ट, पृ. 334)

शंकरशरण ने इस तथाकथित हिंदुत्ववादी विचारधारा को रद्‌द करते हुए लिखा है कि ओसामा बिन लादेन की विचारधारा को स्वीकार करना असंभव है; उसी तरह, उस से हर तरह अतुलनीय, वीएचपी के विचारक प्रवीण तोगड़िया की विचारधारा को. एक पश्चिमी जगत और गैर इस्लामी पूर्वी जगत में महान आतंक पैदा कर रहा है, जब कि दूसरा कुछ भी नहीं (पैदा कर रहा है), वह सिर्फ आम हिंदू की हताशा को अभिव्यक्त करता है. एक क्रुद्ध हिंदू अकल्पनीय हिंसामय इस्लामी भाईचारे में

ज्यादा से ज्यादा उपेक्षापूर्ण व तिरस्कार भरी हंसी ही पैदा कर सकता है. (देखें, कोइनराड इल्स्ट (सं.) इंडियाज ओनली कम्यूनलिस्ट, पृ. 218)

ये दोनों ही लेखक हिंदुत्ववादी हैं और छद्म हिंदुत्व पर टिप्पणी कर रहे हैं. इस का अर्थ है कि छद्म धर्मनिरपेक्षतावादी शक्तियां, अल्पसंख्यकों के सांप्रदायिक तत्त्व और हमारे छद्म हिंदुत्ववादी–से तीनों एकदूसरे से लाभान्वित होते हैं, आक्सीजन प्राप्त करते हैं. इस से इन के नेताओं का, इन की राजनीति करने वालों का तो शायद भला हो रहा है, परंतु इस से न आम हिंदू का कुछ भला होता है, न किसी अल्पसंख्यक का. ऐसा छद्म हिंदुत्व हिंदू समाज के किस काम का?

यथार्थ व प्रबुद्ध हिंदुत्व की अवधारणा बहुत स्पष्ट और जनवादी है. वह किसी एक गिरोह, दल, संगठन आदि को एकाधिकार संपन्न करने में विश्वास नहीं रखती; बल्कि सभी हिंदुओं को अपने समाज के भले के लिए यथाशक्ति योगदान करने के लिए प्रेरित करती है, क्योंकि वह यह नहीं मानती कि एक गिरोह/दल/संगठन आदि को छोड़कर शेष सारे हिंदू बुद्धू हैं, जो अपने दिमाग से काम नहीं ले सकते. यह अवधारणा उधार के दिमाग से काम लेने –सरोगेट ब्रेन– की भर्त्सना करती है और हर हिंदू के अपना दीपक आप बनने पर बल देती है. हर हिंदू को सोचना होगा, हर हिंदू को निर्णय लेना होगा.

हिंदू धर्म क्या है? इस का उत्तर अतिसरलीकृत रूप में नहीं दिया जा सकता. मैं ने 35 वर्षों में जो कुछ हिंदू ग्रंथों में पढ़ा है, उस के आधार पर विगत पृष्ठों में लिखा है. वह सब लिखने के बाद भी मुझे हेमचंद्र के शब्द नम्रतापूर्वक दुहराने के सिवा और कोई चारा दिखाई नहीं देता :

प्रमाणसिद्धांतविरुद्धमत्र यत्किंचिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात्,
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाधाय विशोधयंतु.

अर्थात यदि अपनी मंदमति के कारण मैं ने यहां प्रमाण और सिद्धांत के विरुद्ध कुछ कह दिया हो तो उस पर बुरा मानने की बजाय उदारचेता विद्वान उस का शोधन करने की कृपा करें.

मुझे पता है कि हिंदू धर्म रूपी अब्धि (सागर) की गहराई कोई यथार्थ हिंदुत्ववादी ही जान सकता है, जैसे जलधि की गहराई को नीचे तक पानी में डूबे मंदराचल ने ही जाना था. जब सागर पर पुल बन गया था तब तो हर बंदर भालू उसे लांघ गया था, जैसे हर छद्म हिंदूत्ववादी दो चार नारे लगा कर और रामलीला या दूरदर्शन के धारावाहिकों से हिंदू धर्म का 'असली' और 'सर्वांगीण' ज्ञान प्राप्त कर के अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है. अनर्घराघव में मुरारिमिश्र ने कहा है :

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गंभीरताम्,
आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मंथाचलः.

अर्थात बंदरों ने महासागर को पार भले ही किया हो, किंतु उस की असली गहराई का पता तो पाताल तक डूबने वाले विपुलकाय मंदराचल (पर्वत) को ही है.

हमारा यह प्रयास हर उस हिंदू के लिए है, जो चाहे मंदराचल का सहोदर न भी हो, परंतु जो यथार्थ हिंदुत्व के प्रति ईमानदारी से जिज्ञासाशील हो और हिंदू समाज के अभ्युदय के लक्ष्य से सहमत हो.

भवभूति ने अपने समकालीनों के प्रति टिप्पणी करते हुए कहा था :

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानंति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः,
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी.

–भवभूति, मालतीमाधवनाटकम्, प्रस्तावना

अर्थात जो कोई मेरी अवज्ञा किया करते हैं, उन मूर्खों के प्रति यह मेरा यत्न नहीं है. समय का अंत नहीं और पृथ्वी भी बड़ी लंबीचौड़ी है. इस में जो कोई मेरा समानधर्मा इस समय है या आगे पैदा होगा, मेरा यह यत्न उस के लिए समझना चाहिए.

भवभूति का यह श्लोक उन समकालीनों के संदर्भ में आज भी सार्थक कहा जा सकता है, जो हिंदुत्व के नाम पर दुकानदारी करते हैं, जो धर्म ग्रंथों के अध्ययन के मामले में अंगूठाछाप हैं, जो चरित्र के संदर्भ में रावण के ज्यादा निकट हैं, जो संस्कृतज्ञान से शून्य हैं, जो कथित संस्कृतज्ञ संस्कृत ज्ञान की धौंस तो देते फिरते हैं परंतु एक पृष्ठ संस्कृत में लिखने की नौबत आ जाने पर पसीने से तरबतर हो जाते हैं, जो ज्यादा से ज्यादा तुलसी रामायण तक ही पढ़े हुए हैं, जो पूजापाठ या दूसरा कर्मकांड करवाते हुए अशुद्ध मंत्र बुदबुदाते हैं, जो 'दिग्गज' प्रदर्शन के लिए भीड़ तो इकट्ठी कर सकते हैं, परंतु जो 'ब्रह्नाय नमः' (अशुद्ध) के स्थान पर 'ब्रह्मणे नमः' (शुद्ध) या 'गुरुयाय नमः' (अशुद्ध) के स्थान पर 'गुरवे नमः' (शुद्ध) तक नहीं लिख/बोल सकते हैं; वे हिंदुत्व का क्या भला करेंगे?

वे नहीं जानते कि किसी बात के विरुद्ध शोर मचाकर क्षणिक तौर पर ही उसे दबाया जा सकता है; परंतु इस से वह बात अपनी जगह उसी तरह बनी रहती है. शोर मचाने से वास्तविकता नहीं बदल सकती. उस के बारे में कुछ करने की उन की स्थिति नहीं होती.

क्या विद्वानों का काम अब वाचाल करेंगे? क्या तब किसी आंदोलन या समाज के पतन की पराकाष्ठा नहीं होती जब शास्त्रों की बातों का निर्णय शस्त्रों से हो? या जब 'वाद' या 'संवाद' का जवाब विवाद या बकवास से दिया जाए?

छद्म हिंदुत्व का एकसूत्रीय एजेंडा है– हिंदुओं की संख्या कम हो रही है, ईसाई/मुसलमान उन का धर्म परिवर्तन कर के उन्हें अपने में मिला रहे हैं.'

यथार्थ हिदुत्व के पास इस का पक्का इलाज है–जातिपांति का भेदभावपूर्ण और अज्ञानतावादी व्यवहार खत्म करो, कोई तुम से दूर नहीं जाएगा. परंतु वे इसे बनाए रखना चाहते हैं और यह भी चाहते है कि इस भेदभाव के शिकार लोग चुपचाप पहले की तरह सेवाधर्म निभाते रहें और शूद्र व अछूत बने रहें अर्थात रोटी चुपड़ी हुई भी हो और दोदो भी मिलें.

छद्म हिंदुत्व को यह बात समझ नहीं आती कि आज कोई जातिगत धौंस क्यों

सहेगा, जब कि वह स्वतंत्र भी हो सकता है और अपनी कीमत भी प्राप्त कर सकता है? क्या कारण है कि अल्पसंख्यक समुदाय हिंदू के घर में कथित सेंध लगाने में सफल होते हैं? स्पष्ट है, अल्पसंख्यक समुदाय की सामाजिक व्यवस्था ऐसा ईश्वरीय कारागार –चातुर्वर्ण्य– नहीं है, जहां पर तथाकथित उच्च जातियों का हर सदस्य एक घृणित दारोगा हो. जातिपांति की कारा की चारों दीवारों को गिराए बिना और कोई चारा नहीं.

छद्म हिंदुत्व क्योंकि उच्च जातियों का संगठन है, अतः इसे निम्न जातियों को अपने यहां दास मजदूर बनाए रखने की चिंता है; न कि इन के विकास या कल्याण की. यदि अब भी लोग ईसाई बनते हैं तो यह छद्म हिंदुत्व की दोहरी पराजय है–उस की सर्वरोग औषध फेल है. उस ने कुछ पादरियों को मारकर समझा था कि इस औषध से हिंदुओं का ईसाई बनना सदा के लिए रुक जाएगा. जब आप अपने दुर्व्यवहार से लोगों को सदा यहां से भगाने की पक्की व्यवस्था किए बैठे हैं, तब लोग जाएंगे ही; चाहे पादरी जीवित हो या मार दिया गया हो. यह महाभिनिष्क्रमण पादरी के मरने से न रुका है, न रुक सकता है. यह रुकेगा तो सिर्फ जातिवाद के विषवृक्ष के मूलोत्पाटन से. हमारे यहां चोरी नहीं हो रही है, सही अर्थों में सेंध नहीं लग रही है; बल्कि तंग आए हुए लोग खुद निकल कर भाग रहे हैं. छद्म हिंदुत्व वादियों ने आंकड़े दिए हैं और कहा है कि पंजाब में तीन दशकों में बारह हजार परिवार ईसाई बन चुके हैं (अमर उजाला, 22-12-05). ये आंकड़े सरासर गलत हैं, क्योंकि ये उन सब लोगों के आंकड़े नहीं हैं जो हिंदू समाज से बाहर गए हैं: जो हिंदू धर्म को छोड़ कर बौद्ध बने हैं, जो सिक्ख बने हैं, जो मुसलमान बने हैं–उन के आंकड़े कहां हैं?

छद्म हिंदुत्ववादी कह देते हैं कि सिक्ख तो हिंदू ही है. यह सरासर गलत है. ज्यों ही कोई छद्म हिंदुत्ववादी सार्वजनिक तौर पर सिक्खों के हिंदू होने की बात कहता है, सिक्ख नेतृत्व बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करता है. वे पिछली शताब्दी से कारण और आधार प्रस्तुत कर के बताते आ रहे हैं कि 'हम हिंदू नहीं.'

यही स्थिति बौद्धों की है. वे बारबार लिखित रूप में कह रहे हैं कि 'बौद्ध हिंदू नहीं.' ऐसे में छद्म हिंदुत्ववादियों की स्थिति कितनी हास्यास्पद है, यह आसानी से समझा जा सकता है.

यह छद्म हिंदुत्व का छद्म ही है कि जो अपने को हिंदू कहने के लिए तैयार नहीं, उन की वह चापलूसी करता फिरता है और जो हिंदू हैं, उन के प्रति उस का व्यवहार संतोषजनक नहीं.

अब वे कहते हैं कि ईसाई मिशनरी लोगों को चमत्कार दिखाकर प्रभावित कर लेते हैं और उन्हें ईसाई बना लेते हैं. इस पर हमारा कहना है कि इस के लिए भी खुद छद्म हिंदुत्ववादी ही दोषी हैं, क्योंकि वे न केवल जातिवाद के विषवृक्ष को सींचते हैं, बल्कि लोगों के वैज्ञानिक विचारधारा अपनाने के मार्ग में भी रुकावटें खड़ी करते हैं. यथार्थ हिंदुत्व पहले दिन से ही यह दुहाई दे रहा है कि लोगों को अंधविश्वासों की दलदल से निकालो; परंतु छद्म हिंदुत्व तो सत्ता के

आसन तक साधुओं, संतों की सीढ़ी से पहुंचने के लिए सदा तत्पर रहा है, जो हर वैज्ञानिक विचार को अध्यात्म और अंधविश्वास से नकारा करने में सिद्धहस्त हैं.

यदि ईसाई मिशनरी हिंदुओं को चमत्कार दिखा कर उन्हें प्रभावित कर के ईसाई बनाते हैं, तो तुम्हारे चमत्कारों वाले बाबा अब कहां हैं? क्या तुम्हारे चमत्कार वालों की इस असफलता से उन के झूठ की पोल नहीं खुलती है? उन की झूठी महिमा का चौराहे में भंडा नहीं फूटता है?

छद्म हिंदुत्ववादी इस मोर्चे पर भी पराजित हो कर नया बहाना ले कर आए हैं कि सुवर्ण भी ईसाई हो रहे हैं और इस का कारण उन की आर्थिक सहायता करना है. समाचार पत्र में दिए बयान में कहा गया है–'अगर उन को रोकने के लिए संघ परिवार और अन्य हिंदू संगठन आगे आते हैं तो उन को जनता की फजीहत झेलनी पड़ती है. लोग कहते हैं कि वहां से हमें आर्थिक मदद मिलती है, आप के यहां से क्या मिलेगा? इस का जवाब उन के पास नहीं होता.' (अमर उजाला, जालंधर, 22-12-05)

जनता सही कहती है और आगे भी कहेगी. यथार्थ हिंदुत्व मानता है कि यदि हिंदू अपने ही समाज के लोगों की मदद करने के लिए आगे नहीं आता, तो वे लोग हिंदू समाज को अपना मातृ या पितृ संगठन क्योंकर मानेंगे? समाज का अर्थ ही है एक उद्देश्य से प्रेरित लोग. यदि एक हिंदू को दूसरे हिंदू के सुखदुख से कोई लेनादेना नहीं है, यदि वह पशुविशेष को हिंदू इनसान से ज्यादा महत्त्व देता है, यदि वह ईंटोंपत्थरों की संरचना को हिंदू भाई से अधिक मानता है तो वह हिंदू भाई अपने को 'हिंदू भाई' क्योंकर मानेगा? क्या वह उसे भाई नहीं मानेगा जो उस का गाढ़े का साथी हो–चाहे वह 'ईसाई भाई' हो या 'मुस्लिम भाई'?

सुवर्ण का धर्मांतरण हमारे इस मत का खंडन नहीं है कि जातिवाद धर्मपरिवर्तन का आधार तैयार करता है, बल्कि उस का अनुमोदन ही है. निम्नजातियों की समस्या यदि जातिगत धौंस और आर्थिक शोषण का शिकार होना है तो उच्च जातीय लोगों की समस्या आर्थिक है.

जो व्यक्ति हिंदू समाज का अंग है, उस की मदद यदि कोई हिंदू नहीं करता, उस की मदद यदि हिंदुओं के स्वयंभू ठेकेदार नहीं करते, परंतु कोई विधर्मी –कोई ईसाई या मुसलमान–यदि उस की मदद करता है तो इस पर आपत्ति कैसी? तुम यह चाहते हो कि हम उस की मदद करें नहीं, दूसरा भी कोई नहीं करे. बस, वह निस्सहाय मर जाए, क्योंकि वह हिंदू है! अब यदि कोई आप को प्रसन्न करने के लिए इस तरह मरना नहीं चाहता और दूसरे की मदद स्वीकार कर के उसी समाज का अंग बन जाता है तो आप बजाए इस के कि अपने समाज में मौजूद सहायता योग्य लोगों की मदद के लिए कुछ करें, दूसरे को कोसते हैं कि वह हमारे समाज के सदस्य की मदद कर रहा है! उसे मरने से बचा रहा है!!

यथार्थ हिंदुत्व हिंदू के एकदूसरे को हिंदू भाई समझने पर बल देता है, उस से बराबरी का सद्व्यवहार करने की बात करता है और सुखदुख में एक हिंदू को दूसरे

हिंदू का साथ देने की जरूरत को रेखांकित करता है. यदि ऐसा हो जाता है तो फिर कोई दूसरे समाज का अंग बनने क्योंकर जाएगा?

यथार्थ हिंदुत्व का यह भी कहना है कि सब धर्म एक समान नहीं हैं. कोई उदार है, कोई अपेक्षाकृत अनुदार; कोई जातिवादी है, कोई गैरजातिवादी, कोई सामाजिक समानता में विश्वास करता है, कोई सामाजिक विषमता व ऊंचनीच में, किसी को अपनाने से सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और राष्ट्रीयता प्रभावित होती है और किसी को अपनाने से नहीं. लेकिन छद्म हिंदुत्व 'सब धर्म समान है', का नारा लगाता है और इस का औचित्य सिद्ध करने के लिए कहा करता है कि सब धर्म परमात्मा तक पहुंचने के भिन्नभिन्न मार्ग है; लक्ष्य सब का एक ही है, मात्र रास्ते अलग हैं.

अब प्रश्न पैदा होता है कि यदि सब धर्म एक समान हैं, यदि सब एक ही लक्ष्य तक पहुंचने के भिन्नभिन्न मार्ग मात्र हैं तो फिर किसी के हिंदू धर्म को छोड़ कर ईसाई या मुस्लिम बन जाने में आपत्ति कैसे हो सकती है? छद्म हिंदुत्ववादी कहते हैं कि आपत्ति इस लिए है कि वे प्रलोभन दे कर, पैसा आदि दे कर धर्मपरिवर्तन करते हैं. हमारा कहना है कि प्रलोभन दे कर क्या आप बच्चे को स्कूल नहीं भेजते? क्या उसे पैसे, खाद्य पदार्थ आदि दे कर, उन से उसे प्रसन्न कर के ट्युशन पर नहीं भेजते? अब यदि उन पैसों आदि के प्रलोभन से भी बच्चा स्कूल जाता है और मन लगा कर विद्या अर्जन करता है तो किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? इसी तरह यदि किसी को प्रलोभन दे कर, पैसा दे कर उसे हिंदू से ईसाई बनाया जा रहा है तो क्या हुआ? एक समान धर्म से दूसरे समान धर्म में ही तो वह गया है. आपत्ति तो तब हो यदि प्रलोभन दे कर या पैसा आदि दे कर उसे धर्म में नहीं, किसी बुरे गिरोह में, डाकुओं तस्करों आदि के संगठन (अधर्म) में मिलाया जा रहा हो. जब हिंदू धर्म और ईसाईधर्म एक समान धर्म हैं, जब ये परमात्मा तक पहुंचने के भिन्नभिन्न मार्ग मात्र हैं तो इस बात पर हायतोबा का क्या अर्थ है कि वह हिंदू रास्ते से न जा कर ईसाई रास्ते से परमात्मा के पास गया है?

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि हमारी सारी पूजापद्धति प्रलोभन पर आधारित है. हम देवताओं को जो चढ़ावा चढ़ाते हैं, जो मन्नतें मानते हैं, जो जागरण, यज्ञ, तीर्थयात्राएं आदि करते हैं, क्या ये सब प्रलोभन नहीं? भगवान को या देवीदेवताओं से काम निकलवाने के लिए जब मन्नत मानी जाती है कि मेरा यह काम हो जाए, 'मैं यज्ञ करूंगा', 'जागरण करवाऊंगा', 'तुम्हारे मंदिर की यात्रा पर जाऊंगा', 'इतना दान करूंगा' आदि तो यह निरा प्रलोभन उन्हें देते हैं. यदि प्रलोभन इतना ही बुरा है, जैसा छद्महिंदुत्व वाले दिखावा किया करते हैं, तो फिर वे इसे देवीदेवताओं, भगवान आदि को मुक्तहस्त से क्यों परोसते हैं?

हमारे तो हर ग्रंथ में प्रलोभन है. किसी ग्रंथ को उठाओ, उस के अंत में लिखा मिलेगा, जो इसे पढ़ेगा, उसे 'यह' पुण्य प्राप्त होगा, उसे 'वह' पुण्य प्राप्त होगा.

किसी फल की इच्छा किए बगैर कर्म करने का उपदेश देने वाली 'गीता' भी अपने अंतिम अध्याय में पाठक को प्रलोभित करती हुई कहती है:

श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नर:,
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्.

– गीता 18/71

अर्थात जो मनुष्य इस ग्रंथ को श्रद्धा से युक्त और दोष दृष्टि से रहित हो कर केवल सुनता ही है, वह भी पापों से मुक्त हो कर, पुण्यकर्ताओं के शुभ लोकों को प्राप्त होता है.

'रामचरितमानस' के अंतिम श्लोक में तुलसीदास लिखते हैं:

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभम्,
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवा:.

– रामचरितमानस, उत्तरकांड

अर्थात यह श्रीरामचरितमानस पुण्यरूप, पापों को दूर करने वाला, सदा कल्याणकारी, विज्ञान व भक्ति देने वाला, मायामोह आदि का नाश करने वाला और परम निर्मल प्रेम रूपी जल से परिपूर्ण है. जो मनुष्य भक्ति से इस मानस सरोवर में गोता लगाते हैं, वे संसार रूपी सूर्य की अति प्रचंड किरणों से नहीं जलते हैं.

यह तो हुई ग्रंथों की बात. हमारे तो एकएक, दोदो पृष्ठ के स्तोत्रों के अंत में भी आधेआधे, एकएक पृष्ठ पर प्रलोभन अंकित किए गए हैं. मेरे सामने 'स्तोत्ररत्नावली' (गीता प्रेस गोरखपुर) नामक पुस्तक पड़ी है. इस में पृ. 11 पर स्तोत्र नंबर 2 है. कुल सात श्लोकों के इस स्तोत्र में तीन श्लोक प्रलोभनपरक हैं:

अनंतं कृष्णगोपालं जपतो नास्ति पातकम्,
गवां कोटिप्रदानस्य अश्वमेधशतस्य च
कन्यादानसहस्राणां फलं प्राप्नोति मानव:
अमायां वा पौर्णमास्यामेकादश्यां तथैव च.
संध्याकाले स्मरेन्नित्यं प्रात: काले तथैव च,
मध्याह्ने च जपन्नित्यं सर्वपापै: प्रमुच्यते.

–स्तोत्ररत्नावली, 5-7

अर्थात अनंत और कृष्ण गोपाल–इन नामों का जप करने वाले मनुष्य के भीतर पाप नहीं रहता. वह एक करोड़ गोदान, एक सौ अश्वमेध यज्ञ और एक हजार कन्यादान का फल प्राप्त करता है, अमावस्या, पूर्णिमा तथा एकादशी तिथि को और प्रतिदिन सायंप्रात: एवं दोपहर में इन नामों को जपने वाला व्यक्ति सब पापों से मुक्त हो जाता है.

इस 316 पृष्ठों की पुस्तक में हर तरह के स्तोत्र के प्रलोभन हर दूसरे पृष्ठ पर मिल जाएंगे.

ये प्रलोभन हमारे धार्मिक साहित्य का एक अनिवार्य व अभिन्न अंग हैं. स्पष्ट है ये प्रलोभन दिखा कर ही लोगों को इस साहित्य को पढ़ने के लिए सदियों से प्रेरित किया जाता रहा है. इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म और प्रलोभन का हमारे यहां चोलीदामन का साथ है.

यदि हम प्रलोभन दिखा कर लोगों को अपने धर्म में लगाने को श्रेयस्कर समझते हैं तो दूसरों द्वारा प्रलोभन दिखा कर हमारे लोगों को अपने धर्म में लगाने पर हाय तोबा क्यों मचाते हैं? जब छद्म हिंदुत्व की दृष्टि में सब धर्म समान हैं, तब स्पष्ट है कि धर्मों के संदर्भ में प्रलोभन भी एक समान है. यदि लोग हमारे प्रलोभनों की उपेक्षा कर के दूसरों के प्रलोभनों के प्रति आकृष्ट होते हैं तो इस से उन के प्रलोभनों की श्रेष्ठता व गुणवत्ता ही जगजाहिर होती है और हमारा उन की सफलता से जलना हमारी हताश, निराश और पराजित मानसिकता को ही दर्शाता है.

बात जब धर्म पर आती है तो धर्म के धंधेबाज कई तरह की पैंतरेबाजी करने लगते हैं, जो आपातरमणीय होते हुए भी वास्तव में झूठ का पुलिंदा मात्र होती है. वे कहते हैं कि दोष धर्म में नहीं, हिंदू समाज में है. उसे अर्थात समाज को छुआछूत आदि को छोड़ कर गरीब हिंदुओं को गले लगाना चाहिए. इस से धर्मपरिवर्तन रुक जाएगा.

हिंदू समाज में भी दोष हैं, यह सही है; परंतु धर्म में भी हैं—यह भी मानना होगा. कोई आदमी यदि गरीब है, यदि नीची जाति में जन्मा है तो यह उस के पिछले जन्म के कर्मों का उसे दंड मिला है, यह बात हिंदू को कौन सिखाता है? क्या समाज सिखाता है? नहीं, यह और ऐसी बातें धर्म व धर्म ग्रंथ सिखाते हैं. छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है :

> तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चंडालयोनिं वा.
>
> —छांदोग्य उपनिषद् 5/10/7

अर्थात जीवों में जो अच्छे आचरण वाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनि को प्राप्त होते हैं. वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि को प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरण वाले होते हैं अर्थात बुरे काम करते हैं, वे तत्काल अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं. वे कुत्ते की योनि, सूअर योनि अथवा चांडाल योनि को प्राप्त करते हैं.

यहां धर्म व धर्म ग्रंथ ने स्पष्ट कर दिया कि ऊंची जाति में जन्म—ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य जाति में जन्म—पिछले जन्म के अच्छे कर्मों का फल है. इस के अतिरिक्त जो चांडाल आदि निम्न जातियां हैं, उन में जन्म पिछले जन्म के बुरे कर्मों के फलस्वरूप मिलता है. अब कौन धर्मभीरु हिंदू उन बुरे कर्मों के फलस्वरूप निम्नजातियों में जन्मे व्यक्ति की स्थिति सुधारने के बारे में सोच सकता है? कौन भला हिंदू भगवान द्वारा अभिशप्त व दंडित की मदद कर के, उस की स्थिति बदलने का कार्यक्रम बना कर, खुद को अगले जन्म में नरक में गिराने का आत्महत्यात्मक कदम उठाने का दुःसाहस कर सकता है?

यदि हिंदू के दोष दूर करने हैं तो उस के धर्म को ओवरहाल करें, उस का कायाकल्प करें. जब वह हो जाएगा तो हिंदू समाज बिना किसी के कहे ही रूपांतरित हो जाएगा. वृक्ष के पत्तों में न उलझो; यदि कुछ करना है तो उस की जड़ की सुध लो.

यथार्थ हिंदुत्व के अनुसार धर्म समाज का एक अंग है और वह अपने आप में न प्रमुख है, न सर्वस्व. धर्म को समाज की आवश्यकताओं का, उस की सुरक्षाअसुरक्षा का ध्यान रखना होगा. यदि वह अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करता है तो समाज को उस के पर कतरने होंगे. यदि धर्म समाज को हानि पहुंचा सकने की स्थिति में हो जाता है तो उसे नियंत्रित करना होगा. यदि भारत के हिंदू-बहुल समाज को विदेशी धर्मों के माध्यम से प्रतिकूल विदेशी शक्तियों से खतरा पैदा होने की आशंका हो तो इस ओर भी ध्यान केंद्रित करना होगा. परंतु यह काम वह छद्म हिंदुत्व नहीं कर सकता जो सब धर्मों को एक समान भी मानता हो और सब धर्मों को परमात्मा तक पहुंचने के मात्र विभिन्न मार्ग भी बताता हो. हवाई आध्यात्मिकता बघारते हुए नितांत भौतिक समस्याओं का समाधान, 'आधा तीतर, आधा बटेर' से ज्यादा स्वस्थ नहीं हो सकता. खेद है, छद्म हिंदुत्व इस दुविधाग्रस्त मानसिकता से कभी मुक्त नहीं हो पाया. वह भौतिकता में आध्यात्मिकता और आध्यात्मिकता में भौतिकता का कांजी डालकर सदैव गुड़ गोबर करता रहा है.

जिस दृढ़ बुद्धिवाद का यथार्थ हिंदुत्व प्रतिपादन करता है, छद्म हिंदुत्व सदैव उस से भागता है–कभी अध्यात्म के नाम पर, कभी यौगिक स्वानुभूति के नाम पर कभी रहस्यमय अनुभवों के नाम पर.

यदि रामकृष्ण परमहंस ईसाई और मुस्लिम साधना भी करते थे और यह उन की महिमा है तो फिर उस महिमा के भावुकतापूर्ण गायकों को किसी के ईसाई या मुस्लिम बन जाने पर चिंता कैसी? उन्हें तो प्रसन्न होना चाहिए कि वह उन के एक आदर्श परमहंस के मार्ग पर आगे बढ़ा है! रामकृष्ण मिशन वाले तो इसीलिए सर्वोच्च न्यायालय तक गुहार लगा चुके हैं कि वे हिंदू नहीं हैं, उन्हें हिंदू न माना जाए! इस के बावजूद छद्म हिंदुत्ववादी लोग स्वामी विवेकानंद और रामकृष्ण परमहंस के सहारे हिंदुत्व की रक्षा करना चाह रहे हैं!

छद्म हिंदुत्ववादी संख्या में, गिनती में, विश्वास रखते हैं; जबकि यथार्थ हिंदुत्ववाद गिनती के स्थान पर गुणवत्ता का पक्षधर है. छद्म हिंदुत्व हिंदुओं को भीड़ बढ़ाने के लिए समयसमय पर उकसाता रहता है–'बच्चे ज्यादा पैदा करो, हिंदुओं की संख्या कम हो रही है.' इन्होंने यह कभी नहीं कहा कि बच्चों को अच्छी शिक्षा दो, उन्हें वैज्ञानिक विचारधारा-संपन्न बनाओ, उन्हें अच्छे नागरिक बनाओ, उन्हें भविष्योन्मुख बनाओ, उन्हें अपने पैरों पर खड़े होना सिखाओ, आदि. वे केवल हिंदुओं की भीड़ चाहते हैं, ऐसी भीड़ जो उन के हर थोथे नारे पर उन्हें सत्ता दिलाने के लिए मरने मारने को तैयार हो, वह चाहे पढ़ीलिखी हो या अनपढ़; रोजगार वाली हो या बेरोजगार; उस का भविष्य चाहे उज्ज्वल हो या अंधकारमय–इस से इन्हें कोई मतलब नहीं. वैसे वे प्राथमिकता ऐसों को ही देते हैं जो अनपढ़ या अधपढ़ हों, बेरोजगार हों

और भविष्य के प्रति सोचने के योग्य न हों, क्योंकि उन्हें रोबोट की तरह, बिना ज्यादा मेहनत के, हर स्वार्थसिद्धि के लिए कहीं भी झोंका जा सकता है.

ये भीड़वादी छद्म हिंदुत्वी तत्त्व इतिहास से कोई भी सीख लेना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं. इतिहास हमें बताता है कि बड़ीबड़ी भीड़ों के कारण ही हिंदू इतिहास के विभिन्न कालों में मुंह की खाने को विवश होते रहे हैं, क्योंकि अर्थ गुणवत्ता का होता है, गिनती का नहीं. अनुशासनहीन और योग्य प्रशिक्षण से रहित बड़ी भीड़ को भी थोड़े से अनुशासनबद्ध और गुणवत्ता वाले लोग आसानी से धूल चटा सकते हैं.

तालीकोटा की लड़ाई, जिस में विजयनगर का अंतिम हिंदू राज्य नष्ट हुआ, में मुसलमान सेना में 50,000 घुड़सवार तथा 3000 पैदल सैनिक होने का एक पुर्तगाली लेखक ने उल्लेख किया है; जबकि भारतीय लेखकों ने हिंदू सेना में दस लाख सैनिकों के होने की बात कही है. यह दस लाख की भीड़ 53000 लोगों से बुरी तरह हार गई. इस युद्ध में एक लाख हिंदू सैनिक मारे गए. यदि जाड़े की शाम जल्दी न ढल आती तो शायद मृतकों की यह संख्या और बढ़ जाती.

1527 में जब राणा सांगा की खानवा के मैदान में बाबर से मुठभेड़ हुई तो उस की सेना बाबर से दुगुनी थी, परंतु जीत फिर भी बाबर की हुई. सिकंदर ने जब हमला किया था तब उस की सेना 15000 से ज्यादा नहीं थी; जब कि हिंदू सेना 33000 थी. इस पर भी पोरस हार गया. ऐसे कितने उदाहरण बताएं?

आज हमें बताया जाता है कि भारत भूमि की भौगोलिक रेखाओं की पूजा करने से ही देश बच सकता है. अब तक इस के 14 टुकड़े–तिब्बत, भूटान, श्रीलंका, नेपाल, पाकिस्तान, बंगलादेश, इंडोनेशिया, म्यांमार (बर्मा), अफगानिस्तान आदि–हो चुके हैं तथा और टुकड़े होने की आशंका है. निहित स्वार्थी तत्त्व कहते हैं कि अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, त्रिपुरा, मेघालय, मणिपुर आदि टुकड़े टूट सकते हैं.

इस पर हमारा कहना है कि ये तथाकथित टुकड़े जब हुए थे, तब हिंदू कभी भी अल्पसंख्या में नहीं थे. पाकिस्तान जब बना था, क्या तब हिंदू अल्पसंख्यक थे? बंगलादेश का अलग टुकड़ा इसलिए नहीं हुआ कि हिंदू अल्पसंख्यक थे, बल्कि उस का टूटना इसलिए संभव हुआ कि भारत में हिंदू बहुसंख्यक थे. यदि भारत में वे अल्पसंख्यक होते तो वे बंगलादेश कदापि न बना पाते. यदि कभी पूर्वोत्तर के राज्य अलग होंगे, जैसी की आशंका प्रकट की जा रही है; तो वे भारत में हिंदुओं के बहुमत के बावजूद अलग होंगे; न कि उन की अल्पसंख्या के कारण.

गिनतीवाद का पक्षधर छद्म हिंदुत्व आज फिर हिंदुओं को मुंह की खिलाने जा रहा है. विश्वीकरण के इस दौर में जब सर्वत्र गुणवत्ता की प्रतियोगिता है, वे हिंदुओं की भीड़ मात्र बढ़ाने के लिए ज्यादा बच्चे पैदा करने का उपदेश दे रहे हैं; ऐसी भीड़ जो दरमियानों, फिसड्डियों और मूढ़ों की ही हो सकती है.

यथार्थ हिंदुत्व यह मानता है कि भविष्य तगड़े, ज्ञानसंपन्न, अंतर्दृष्टिपूर्ण, विवेकी, बुद्धिवादी और जिज्ञासा व युयुत्सा संपन्न हिंदू का है; निकम्मे, नकारा और भीड़ मार्का हिंदू का नहीं.

ऐसा हिंदू सहजविश्वासी, अंधविश्वासी, आंखें बंद कर के सब बातों को स्वीकार करने वाला नहीं हो सकता. वह आलोचनात्मक अंतर्दृष्टि-संपन्न और समुचित सूचनाओं से लैस तथा रचनाधर्मी होगा. कुछ लोगों ने इसे 'बौद्धिक क्षत्रिय' का नाम दिया है. लेकिन हम यह मानते हैं कि अच्छी चीज को बुरा नाम देना बुद्धिमत्ता नहीं. जिस हिंदू के संकल्प की ऊपर हम ने रूपरेखा सी प्रस्तुत की है, उस के साथ 'क्षत्रिय' को लगाना जातिवादी रोगाणुओं को पुनर्जीवित करना है. इस के साथ ही, यह उच्चजातिवादी अहंकार को हवा देने के समान होगा. जिस महाशय ने यह नामकरण किया है, वह यद्यपि 'डेविड फ्राले' से हिंदू नाम धारण कर के 'वामदेव शास्त्री' बन गए हैं; परंतु वह मूलतः अमेरिकनइज्म के प्रतिनिधि हैं. अतः वे हिंदू को जातिवादी दलदल से उबरने में सहायता कर पाने की स्थिति में नहीं हैं.

यथार्थ हिंदुत्व हिंदू के लिए जैसे आदर्श की कल्पना करता है, उसे 'युयुत्सु हिंदू', 'सन्नद्ध हिंदू', 'बौद्धिक युयुत्सु' जैसे शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है.

हिंदू समाज को चंदामामा (एक बालपत्रिका) में छपने वाली धार्मिक कहानियों से आगे बढ़ना होगा, उसे वयस्क की तरह व्यवहार करना होगा और समालोचनात्मक (न कि तंग नुक्ताचीनी वाली) दृष्टि विकसित करनी होगी. प्राचीन हिंदू साहित्य में किसी भी वयस्क ग्रंथ को उठा कर देखो, उस में निर्विवाद रूप में एक समालोचनात्मक दृष्टि सर्वत्र कार्यरत दिखाई देती है, जिसे पारिभाषिक शब्दावली में 'शास्त्रार्थ' कहा जाता है.

शास्त्रार्थ, शास्त्रों के अर्थों की समीक्षात्मक विवेचना है; जो राधाकृष्ण की प्रेम कहानियों की दुनिया नहीं है. शास्त्रार्थ हिंदू की मौलिकता है, जिसे वह भूल चुका है; जैसे भेड़ों में रहने वाला सिंह शावक आत्मविस्मृति के आलम में खुद को भूल चुका था. हिंदू को जागरित होना होगा, सिंह शावक को दहाड़ मारनी होगी और समीक्षात्मक विवेचनपद्धति को अपनाना होगा. तभी सही अर्थों में हम ऋषि-ऋण से उऋण हो सकते हैं.

यह संग्रह ऋषि ऋण से उऋण होने का तुच्छ सा प्रयास है. इस के द्वारा न केवल शास्त्रार्थ को जीवित करने का यत्न किया गया है, बल्कि साथी हिंदुओं को भी इस में शामिल होने का निमंत्रण दिया गया है, ताकि यथार्थ हिंदुत्व को सबल बनाने की दिशा में एक छोटा सा पर सार्थक एवं दृढ़ कदम उठाया जा सके.

छद्म हिंदुत्व को डर है कि इस संग्रह का विधर्मी इस अर्थ में दुरुपयोग करेंगे कि वे इस में से ऐसे उद्धरण उठाकर हमें चिढ़ाएंगे, जिन्हें आज हमें अपने धर्म का हिस्सा मानते हुए शर्म आती है. पहले तो ऐसे उद्धरणों के संदर्भ में हम या तो यह कह दिया करते थे कि ये शब्द हमारे किसी ग्रंथ में हैं ही नहीं, या यह कह दिया करते थे कि ये शब्द विधर्मियों ने हमारे ग्रंथों में मिलाए हैं, या यह कह कर कि इन के अर्थ और हैं, अर्थ बदलने का प्रयास किया करते थे. अब इस संग्रह से उन के हाथ एक मजबूत हथियार लग जाएगा, जिस का प्रयोग वे हमारे उलट किया करेंगे.

यह डर परिप्रेक्ष्य के गलत होने का परिणाम है. सुदूर अतीत में यदि हमारे पूर्वज ऐसा कुछ करते या कहते हैं जो आज के समय के अनुरूप नहीं हैं तो इस में हमें

शर्मसार होने की क्या जरूरत है? हर युग अपनी समकालीन परिस्थितियों, विवशताओं और जरूरतों से परिचालित होता है. उस में कई आकस्मिकताओं का भी हाथ होता है. फिर उस युग के परिवेश, ज्ञान के क्षितिजों, सूचनाओं व तद्‌युगीन लोगों के अतिरिक्त विश्वासों, सौंदर्यबोध, सद्‌असद् बोध, उपयोगितावाद-विषयक विचारों आदि की भी अपनी भूमिका होती है. जैसे हमारे आज के आचरण व विश्वासों के लिए, आज हम उत्तरदायी हैं, उसी तरह हर युग के लोग अपने आचरण व विश्वासों के लिए खुद उत्तरदायी होते हैं. परवर्ती पीढ़ियों को उस के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता.

दूसरे, हम हर विगत युग की हर बात को, चाहे वह भली हो या बुरी, आज आदर्श के सिंहासन पर नहीं बैठा सकते. शर्मसार होने आदि की समस्या भी तभी पैदा होती है, जब हम बिना सोचे समझे हर पुरानी चीज को आदर्श कहने की जल्दबाजी कर जाते हैं; जब हर चमकती चीज को सोना मानने की भ्रांति के शिकार हो जाते हैं. कालिदास ने डेढ़दो हजार वर्ष पूर्व जो कुछ कहा था, वह आज भी उतना ही सही व प्रासंगिक है जितना तब था, जब उसे पहली बार कहा गया था:

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्,
संतः परिक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः.

–मालविकाग्निमित्रम् 1/2

अर्थात पुरानी होने मात्र से हर चीज अच्छी नहीं होती और न नई होने से हर चीज बुरी होती है. बुद्धिमान लोग तो दोनों की परीक्षा कर के एक को (जो अच्छी लगे) ग्रहण करते हैं, जबकि मूर्ख लोग दूसरों की कहीसुनी बातों के पीछे चलते हैं–उन की बुद्धि खुद काम नहीं करती, बल्कि दूसरों (की बुद्धि) के पीछे चलती है.

यदि हम प्राचीन की परीक्षा कर के केवल अच्छी और जीवंत चीजों को ही ग्रहण करेंगे और उन में से भी आदर्श घोषित की जाने वाली बात/चीज को भलीभांति जांचपरख लेंगे तब हमें किसी चीज के लिए शर्मसार नहीं होना पड़ेगा. आज कौन बुद्धिमान छुआछूत को आदर्श कह सकता है? कौन शूद्र के कानों में सीसा व लाख पिघलाकर डालने को आदर्श बता सकता है? कौन एकलव्य के अंगूठे को काटने वाले द्रोण का समर्थन कर सकता है? कौन शूद्र ऋषि शंबूक की हत्या का औचित्य प्रतिपादित कर सकता है? कौन मृत पति के साथ जीवित पत्नी को जलाने की हिमाकत कर सकता है? कौन लड़कियों की शिक्षा बंद करवाने की 'बुद्धिमत्ता' कर सकता है?

ये सब प्राचीन धर्म ग्रंथों द्वारा वर्णित चीजें हैं, पर क्या हम उन के आदेशों के अनुसार चले हैं या अपने युग के अनुरूप अपने विवेक के सहारे चले हैं? क्या आज हमें कोई इस बात के लिए चिढ़ाता है कि हमारे पूर्वज छुआछूत मानते थे, पति के शव के साथ जीवित पत्नी को जला देते थे, शूद्रों के कानों में सीसा व लाख डालते थे, लड़कियों को पढ़ने नहीं देते थे, आठ वर्ष की बच्ची की शादी को पुण्य मानते थे, आदि? क्या आज इन मामलों में किसी को अर्थबदली का सहारा लेने की जरूरत

पड़ती है? क्या किसी श्लोक या आदेश को 'प्रक्षेप' कह कर झूठी बहानेबाजी करनी पड़ती है? क्या किसी श्लोक विशेष के ग्रंथों में होने को ले कर झूठी बयानबाजी करनी पड़ती है कि यह श्लोक तो हमारे किसी ग्रंथ में मौजूद ही नहीं है?

जो बात इन मामलों के संदर्भ में सत्य है, वही अन्य मामलों में भी सत्य है. बस, हर चमकती चीज को सोना मानने, संस्कृत में लिखी हर बात को ईश्वरीय आदेश कहने व हर पुरानी चीज को आदर्श समझने की गलत आदत को ठीक करने की जरूरत है. फिर न हमारे हर पोथे की हर बात के नीचे दबने की नौबत आएगी और न पूर्वजों की करतूतों के लिए हमारे शर्मसार होने की. फिर विधर्मी हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं?

विधर्मियों के संभावित मजाक से डरने वाले छद्म हिंदुत्ववादी बौद्धिक रूप में कछुआ धर्म के अनुयायी हैं. वे अपने में सिकुड़ कर बैठ जाते हैं और विधर्मी रूपी विभीषिका से भयभीत होते रहते हैं. संभवतः इस में इन्हें मजा आता है, क्योंकि यह इन की पुरानी आदत है. यदि कछुआ धर्म को छोड़ कर आप अपने बनाए हुए तंग जगत से बाहर निकलें, यदि कूपमंडूकता को छोड़ें और विधर्मी ग्रंथों का भी स्वाध्याय करें तो आप के पास ऐसा कुछ पर्याप्त मात्रा में होगा, जिस के चलते विधर्मी कोई गलती करने से पहले सौ बार सोचेगा. जो खुद कांच के घरों में रहते हैं, वे दूसरे पर पत्थर फेंकने की हिमाकत नहीं किया करते.

आप हर ऋषि/मुनि की हर बात को सही और आज के संदर्भ में सार्थक नहीं मान सकते. यह बात मैं नहीं कहता, स्वयं ऋषियोंमुनियों ने कही है. मनुस्मृति ने हर युग के लिए अलग धर्म की बात कही है. ऐसा नहीं है कि एक युग के धर्म दूसरे युग के लिए भी वैध हों:

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे,
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः.

–मनुस्मृति 1/85

अर्थात सतयुग में दूसरे धर्म हैं तथा त्रेता, द्वापर और कलियुग में दूसरेदूसरे धर्म हैं. इस प्रकार युग के ह्रास के अनुसार धर्म भिन्नभिन्न हैं.

पराशर ऋषि का कहना है :

कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः,
द्वापरे शंखलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः.

–पराशरस्मृतिः 1/24

अर्थात कृत (सत) युग में मनु-प्रोक्त धर्मशास्त्र की प्रधानता होती है व त्रेता में गौतम-प्रणीत धर्मशास्त्र की; द्वापर में शंख व लिखित का धर्मशास्त्र और कलियुग में पराशरकृत धर्मशास्त्र प्रधान होता है.

इस तरह के ऋषियों मुनियों के कथन स्वयं घोषणा कर रहे हैं कि हर ऋषि/मुनि का हर वाक्य हर युग में न सार्थक है और न वैध. फिर छद्म हिंदुत्व का

गायगधा सब को एक समान बना देना या सब को अबुद्धिवादी ढंग से मिला कर सतनजा बना देना, क्या उचित कहा जा सकता है? महाभारत ने तो यहां तक कहा है:

श्रुतयो भिन्ना:, नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्.

–महाभारत

अर्थात हर श्रुति एक दूसरी से भिन्न है, हर मुनि का मत दूसरे से अलग है.

ऐसे में यदि स्वयं ऋषियों/मुनियों द्वारा सावधान किए जाने के बावजूद हम सब युगों के सब कुछ को अपने लिए मान्य मान कर चलेंगे तो पागलखाने पहुंच जाएंगे, क्योंकि सब कुछ की सब कुछ के साथ तर्कसंगत संगति ही नहीं लग सकती. जब ऋषि/मुनि ऐसा न करने का आदेश भी देते हैं, तब हमारे मूढतापूर्ण हठ का औचित्य ही क्या रह जाता है? कवि ने क्या ठीक कहा है:

युगयुग में बदलते धर्मों को कैसे आदर्श बनाओगे?

मानवता का भला करने वाले, हर अच्छे व्यक्ति/ऋषि/मुनि को हमें धन्यवाद देना चाहिए जिस ने अपने समय में यथाशक्ति नए रास्ते खोजे, नई विधियां खोजीं, नए आविष्कार किए और नए मार्ग पर अपने पदचिह्न अंकित किए. ऋग्वेद का ऋषि यम कहता है:

इदं नम ऋषिभ्य: पूर्वजेभ्य: पूर्वेभ्य: पथिकृद्भ्य:.

–ऋग्वेद, 10/14/15

अर्थात उन ऋषियों को नमस्कार है जिन्होंने नए पथों का निर्माण किया, जो हमारे पूर्वज थे, जो पूर्वज न होते हुए भी हम से पहले हो चुके हैं.

यथार्थ हिंदुत्व इसी भावना से देशविदेश के हर ऐसे महापुरुष के प्रति उचित सम्मान प्रकट करता है, जिस ने मानवता के कल्याण की दिशा में अपना योगदान दिया है. कोई भी सच्चा महापुरुष इस से कम का अधिकारी नहीं हैं.

परंतु स्मरण रहे, सम्मान का अर्थ न दासता है, न अपने दिमाग से काम लेना बंद करना है और न अपने विवेक को ताक पर रखकर गलदश्रु भावुकता बिखेरना है. इसीलिए तो महाभारत युद्ध में भीष्म पितामह और गुरु द्रोण के प्रति सम्मान व्यक्त करने के बावजूद पांडवों (पोतों व शिष्यों) ने पितामह और गुरु दोनों को कुरुक्षेत्र के मैदान में धराशायी कर दिया था और उधर मार दिए जाने के बावजूद श्रीरामचंद्र जी ने रावण के बारे में विभीषण से कहा था :

नैवं विनष्टा: शोच्यंते क्षत्रधर्मव्यवस्थिता:,
वृद्धिमाशंसमाना ये निपतंति रणाजिरे.
इयं हि पूर्वै: संदिष्टा गति: क्षत्रियसम्मता,
क्षत्रियो निहत: संख्ये न शोच्य इति निश्चय:.
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव

– वाल्मीकीय रामायण, युद्ध कांड, सर्ग 109/15,18,25

अर्थात जो लोग अपने अभ्युदय की इच्छा से क्षत्रियधर्म में स्थित हो रणक्षेत्र में मारे जाते हैं, उन के विषय में शोक नहीं करना चाहिए. आज रावण को जो गति प्राप्त हुई है, वह पूर्व काल के महापुरुषों द्वारा बताई गई उत्तम गति है. क्षत्रियवृत्ति का आश्रय लेने वाले वीरों के लिए तो यह बड़े आदर की वस्तु है. क्षत्रियवृत्ति से रहने वाला वीर पुरुष यदि युद्ध में मारा गया हो तो वह शोक के योग्य नहीं है; यही शास्त्र का सिद्धांत है. अब तुम, हे विभीषण, इस का संस्कार करो. इस समय यह जैसे तुम्हारे स्नेह का पात्र है, उसी तरह मेरा भी स्नेहभाजन है.

छद्म हिंदुत्व का यह निराधार दावा है कि प्राचीन हिंदू संस्कृति सारी की सारी आदर्श थी और आज भी है.

यथार्थ हिंदुत्व इस से सहमत नहीं हो सकता, क्योंकि प्राचीन और वर्तमान दो ऐसे कालखंड हैं जो समकालीन नहीं हो सकते. दूसरे, संस्कृति सदा विकसित होती है, बनाई या गढ़ी नहीं जाती. इसीलिए तो कवि ने कहा है:

कल की गलती
आज की संस्कृति.

कल आदमी जिस गलती को करता था, आज उस पर काबू पा चुका है और वह संस्कृति बन गई है.

यहां यह उल्लेखनीय है कि संस्कृति शब्द उस अर्थ में अपने यहां प्राचीनकाल में कदापि नहीं रहा है, जिस अर्थ में यह आज समझा जाता है. वैदिक काल में 'संस्कृति' शब्द तो मिलता है, परंतु उस का अर्थ कुछ और ही था. छद्म हिंदुत्व प्रायः एक पंक्ति उद्धृत किया करता है:

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा.

अर्थात यह संस्कृति विश्व की प्रथमा संस्कृति है.

यह पंक्ति क्योंकि संदर्भ से तोड़ कर और बिना पता बताए उद्धृत की जाती है, अतः इस से जनसामान्य को ही नहीं, ऐसे विद्वानों को भी चकमा दिया जाता है जो वैदिक साहित्य के ज्ञाता नहीं हैं.

वस्तुतः यह पंक्ति वाजसनेयी संहिता (7,14,15) के एक मंत्र में आती है, जिसे शतपथ ब्राह्मण (4/1/6/27) में भी उद्धृत किया गया है.

पूरा मंत्र, जिस का अंगच्छेद कर के यह पंक्ति संदर्भ रहित प्रस्तुत की जाती है, इस प्रकार है:

स जुहोति. सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा. स प्रथमो वरुणो मित्रोऽगि :.
स बृहस्पतिश्चिकित्वान्. तस्मा इंद्राय सुतमाजुहोत स्वाहा.

यह हर्ष की बात है कि इस पर सायण का प्राचीन भाष्य उपलब्ध है और हम इस के वास्तविक अर्थ को निर्विवाद रूप में जान सकने की स्थिति में हैं. सायण ने इस का अर्थ करते हुए लिखा है:

स जुहोति इत्यादिना मंत्रेण सोमस्य क्रयरूपा या संस्कृतिः क्रियते 'सा' 'प्रथमा' अभिषवादिसंस्काराणां तदनंतरभावित्वात्. 'विश्ववारा' विश्वैः समस्तैर्ऋत्विग्भिर्वरणीया. 'स' एव प्रथमसंस्कृतः सोमः वरुणादयो देवाः. 'स' एव 'चिकित्वान्' अभिज्ञो बृहस्पतिरपि, इति सर्वदेवात्मना सोमः स्तूयते. हे अध्वर्यवः! 'तस्मा इंद्राय' 'सुतम्' अभिषुतं इमं सोमं स्वाहाकारेण 'आजुहोत' होममाहारयत.

–शतपथ ब्राह्मण, सायणभाष्य, भाग 2, पृ. 58–59

अर्थात 'स जुहोति' इस मंत्र से सोम को खरीदने के रूप में जो संस्कृति (तैयारी) की जाती है, वह पहली है, क्योंकि अभिषव (रस के लिए पत्थर से कूटना) आदि संस्कार इस के बाद ही किए जाते हैं. विश्ववारा अर्थात यह समस्त ऋत्विजों (यज्ञ करवाने वाले पुरोहितों) द्वारा वरणीय है. वह इस तरह पहले तैयार किया हुआ सोम वरुणादि देवता है. वही (सोम) चिकित्वान्, अभिज्ञ बृहस्पति है. इस तरह सब देवताओं के प्रतिनिधि के तौर पर सोम की स्तुति की जाती है. हे यज्ञकर्ता पुरोहितो, उस इंद्र के लिए 'सुतं' निचोड़ा गया यह सोमरस स्वाहा कह कर होम करो.

इस मंत्र में संस्कृति शब्द उस अर्थ में नहीं है, जिस में इस का आज प्रयोग होता है. इस का सीधा अर्थ है–तैयारी. मोनिअर विलियमस के प्रसिद्ध संस्कृत-अंगरेजी कोश में इसीलिए वाजसनेयी संहिता में प्रयुक्त संस्कृति शब्द के अर्थ इस प्रकार दिए गए हैं– Making ready, preparation, perfection. VS (वाजसनेयी संहिता). पृ. 1121

यह शब्द क्योंकि वैदिक है और आम भाषा का नहीं है, अतः आप्टे ने अपने संस्कृत-अंगरेजी कोश में, जो 1890 में तैयार किया था, इस शब्द को शामिल ही नहीं किया है.

संस्कृति संस्थान, बरेली से छपे शतपथ ब्राह्मण में उपर्युक्त स्थल का अनुवाद करते हुए डा. चमनलाल ने लिखा है : मंत्र के द्वारा सोम की क्रय स्वरूप वाली जो संस्कृति की जाती है–वह प्रथमा है, क्योंकि अभिषवादि संस्कारों का उस के अनंतर भावित्व होता है. समस्त ऋत्विजों के द्वारा वरण करने के योग्य है. वह प्रथम संस्कृत सोम ही वरुणादि देव है. वह ही अभिज्ञ बृहस्पति भी है–इस तरह से सर्वदेवात्मा से होम का स्तवन किया जाता है. हे अध्वर्युओ! उस इंद्र के लिए अभिषुत इस सोम का स्वाहाकार से होम का आहरण करो.

–शतपथब्राह्मण, डा. चमनलाल, पृ. 466–67

इस तरह जब हम देखते हैं कि हमारे यहां 'संस्कृति' थी ही नहीं, तब भारतीय या हिंदू संस्कृति शब्द का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता!

जिसे अंगरेजी में 'कलचर' कहते हैं, उस के लिए संस्कृति शब्द अभी कल गढ़ा गया है. 'कलचर' का समकक्ष कोई शब्द हमारे हजारों सालों के इतिहास में कहीं नहीं मिलता. जब 20वीं शताब्दी में कलचर के लिए संस्कृति शब्द गढ़ा गया था, तब इस का अनेक विद्वानों ने विरोध किया था. 1955 में प्रसिद्ध हिंदू इतिहासकार जयचंद्र विद्यालंकार ने लिखा था–'संस्कृति शब्द हम जिस अर्थ में

बरत रहे हैं उस अर्थ में वह बहुत उपयुक्त नहीं है. जनता की समूची जीवन शैली से हमारा अभिप्राय होता है, पर किसी भी जनता के किसी भी युग के जीवन में संस्कृति के साथ न्यूनाधिक विकृति भी मिली रहती है. हमारे बंगाली साथी अपनी भाषा में इस अर्थ में पुराने वैदिक शब्द कृष्टि का प्रयोग कर रहे हैं. मुझे भी वही उपयुक्त लगता है.

–भारतीय कृष्टि का क ख, पृ. ञ

श्री विद्यालंकार का यह तर्क ध्यान देने योग्य है कि जनता की समूची जीवन शैली में संस्कृति (= परिष्कृति) ही नहीं होती, उस में विकृति भी होती है. इसलिए जनता की समूची जीवनशैली को परिष्कृति के अर्थ में संस्कृति कहना, यथार्थ के एकदम विपरीत है. जीवन की अधूरी व एकांगी तसवीर है, जो एकदम कृत्रिम है!

छद्म हिंदुत्ववादी तत्त्व जब संस्कृति की बात करते हैं, तब वे भी इसी पद्धति का अनुसरण करते हैं–मीठामीठा हड़प, कड़वा कड़वा थू. यदि आप की तथाकथित प्राचीन संस्कृति सारी की सारी मानवतावादी है, तो फिर शूद्रों के कानों में सीसा व लाख डालने वाले, शंबूक की हत्या करने वाले, एकलव्य का अंगूठा काटने वाले, नियोग रूपी पशुधर्म को व्यवहार में लाने वाले, जीवित पत्नी को पति के शव के साथ जलाने वाले किस 'संस्कृति' के लोग हैं? यदि आप की तथाकथित संस्कृति राम को जन्म देती है तो रावण किस संस्कृति की उपज है? यदि पांडव आप की संस्कृति के प्रतिनिधि हैं तो कौरव किस संस्कृति की देन हैं? द्रौपदी के पांच पतियों वाली संस्कृति किस की है? जूए में पत्नी का दांव लगाने वाले किस संस्कृति के हैं? पितामह (भीष्म) को मारने वाले और गुरु (द्रोणाचार्य) के कातिल किस संस्कृति के हैं? सुभद्रा को निकाल कर ले भागने वाला अर्जुन किस संस्कृति की उपज है? बड़े भाई के शत्रु से मिल कर उसे मरवाने वाला और अपने देश से द्रोह करने वाला विभीषण किस संस्कृति का है? बड़े भाई बाली को राम के हाथों मरवाने वाला तथा माता समान कही गई बड़े भाई की पत्नी को अपनी पत्नी बनाने वाला सुग्रीव किस संस्कृति की पैदाइश है? अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण पत्नी को बहाना बना कर त्यागने वालों की कौन सी संस्कृति है? नियोग से जनमे धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर तथा पांचों पांडव; अनब्याही मां कुंती और पांच पतियों की साझी पत्नी द्रौपदी–ये किस संस्कृति से संबद्ध हैं?

विमल सूरि के पउम चरिय (पर्व 97-100) में आता है कि लव (लवण) और कुश (अंकुश) को जब नारद उन की माता के श्रीराम द्वारा परित्याग का वृत्तांत सुनाते हैं तो वे दोनों बदला लेने के लिए सेना ले कर अयोध्या पर आक्रमण कर देते हैं. लव राम से युद्ध करता है और कुश लक्ष्मण से, युद्ध का परिणाम अनिश्चित रहता है. रविषेण-कृत पद्मचरित (पर्व 102) के अनुसार हनुमान भी सीता के पुत्रों का पक्ष ले कर राम के विरुद्ध लड़ते हैं.

आनंद रामायण (जन्म कांड, सर्ग 6-8) में आता है कि वाल्मीकि, राम द्वारा

त्यागी हुई सीता, लव और कुश–ये सब यज्ञभूमि से दो कोस की दूरी पर डेरा डालते हैं. जब राम के अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा वहां पहुंचता है तो लव उसे पकड़ कर बांध लेता है और सेना को पराजित कर भगा देता है. कुश काफी देर तक राम से युद्ध करता है, हालांकि किसी की भी जीत नहीं होती.

जैमिनीय अश्वमेध (अ. 29-36) का कहना है कि लव राम के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े को बांध कर, बहुत से सैनिकों का वध करता है. बाद में लव और कुश दोनों लक्ष्मण, हनुमान तथा भरत पर विजय प्राप्त करते हैं. वे राम को भी आहत कर देते हैं.

यहां पितापुत्र के संबंधों का जो चित्र मिलता है, श्रीकृष्ण के मामाश्री कंस का वृत्तांत इससे भी आगे की बात करता है. कंस अपने पिता उग्रसेन को कैद में डाल कर राजसिंहासन हथिया लेता है, जिस तरह सदियों बाद औरंगजेब ने अपने बाप शाहजहां को कैद कर के तख्त हथिया लिया था.

महाभारत युद्ध चचेरे भाइयों में ही हुआ था, जिसमें बहुत बड़े पैमाने पर नरसंहार हुआ था.

ये पितापुत्र व भाईभाई के संबंध किस संस्कृति के अभिन्न अंग हैं?

क्या आज ये हमारे आदर्श हो सकते हैं? यदि 'हां' तो इन्हें आदर्श मानने वाले खुद या उन के बच्चे इस पर कितना चलते हैं या अपने बच्चों को वे इन्हें अपनाने के लिए कितना प्रेरित करते हैं? इन के आदर्शत्व को किस तरह प्रतिपादित करते हैं?

यदि 'नहीं', तो इन्हें संस्कृति के अंग क्यों बनाते व बताते हो? इन के किस्सों कहानियों को, रामायण और महाभारत को, संस्कृति से किस मुंह से जोड़ते हो? पितामह, गुरु व निहत्थे लोगों (यथा कर्ण) के हत्यारे व सुभद्रा जैसी लड़कियों को निकाल भगाने वाले के नाम पर फिर अवार्ड कैसा? एकलव्य का अंगूठा काटने वाले के नाम पर अवार्ड का क्या औचित्य है? यदि देशद्रोही दंडनीय और निंदनीय हैं तो विभीषण को आदर्श व पूज्य (भक्त) कैसे कहा जा सकता है?

संक्षेप में कह सकते हैं कि हर संस्कृति विकृति से संपृक्त होती है. एक पूरे युग की जनता की समूची जीवनशैली को संस्कृति अर्थात सारी की सारी दूध धुली या चूनापुती बताना या वैसी बनाकर पेश करना नितांत अवैज्ञानिक, अयथार्थ और कृत्रिम है, जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता.

संसार के किसी भी युग की किसी भी जनता की समूची जीवनशैली सदैव गंगाजमनी, अर्थात ब्लैक एंड ह्वाइट . जिसे ह्वाइट (ज्योति) का श्रेय है, ब्लैक (तमस) के लिए भी वही उत्तरदायी है. इस में कुछ लोगों की आत्मपरक राय, सनक या मन की तरंग को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता. प्राचीन हिंदू संस्कृति जितनी आदर्श है, उतनी ही अनादर्श है. वह ब्लैक व ह्वाइट दोनों है. हमें उस के प्रति भावुक पूर्ण दृष्टि न अपना कर यथार्थवादी नजरिया अपनाना चाहिए और उस का समुचित मूल्यांकन करना चाहिए. यही खुद हिंदू कलचर की मंशा है. इसीलिए तो ऋषि ने यह शाश्वत उपदेश दिया है:

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि,
यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि.

–तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11

अर्थात हमारे जो निर्दोष कर्म हैं, तुम्हें उन्हीं का सेवन/अनुसरण व अनुकरण करना चाहिए, दूसरों अर्थात दोषयुक्त कर्मों का कभी अनुसरण नहीं करना चाहिए. हमारे आचरणों में जो अच्छे हैं, तुम्हें उन का ही सेवन करना चाहिए, दूसरों का कदापि नहीं.

इसीलिए तो 'पथिकृद्भ्यः' **(रास्ता बनाने वाले अर्थात जगद् के उपकारक) ऋषियों को ही हमारे यहां वेद ने नमस्कार किया है, सब को नहीं–**

इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः

–ऋ. 10/14/15

अर्थात पथप्रदर्शक, पूर्वज और पहले के (चाहे वे पूर्वज न भी हों) ऋषियों को नमस्कार हो.

यथार्थ हिंदुत्व इस बात में विश्वास करता है कि गलती को चुनौती न देना, बौद्धिक अनैतिकता को उत्साहित करना है. इस का अर्थ यह नहीं कि हम दूसरे को अपने विचारों को अभिव्यक्त करने से रोकना चाहते हैं. हम तो इस के विपरीत संवाद को प्रोत्साहित करना चाहते हैं. अतः उस प्रसिद्ध उक्ति को यहां दुहराना चाहते हैं कि मैं आप के विचारों से पूरी तरह असहमत हूं, परंतु आप के अभिव्यक्ति के अधिकार के लिए मैं अंत तक लड़ूंगा!

यथार्थ हिंदुत्व का मानना है कि सही चिंतन का वास्तविक शत्रु स्वस्थ मतभेद नहीं, बल्कि बांझ मतांधता व बंजर हठधर्मिता है; क्योंकि यह काम विद्वान नहीं बल्कि बौद्धिक रूप से बांझ तत्त्व किया करते हैं. वे शोर मचा सकते हैं, तोड़फोड़ कर सकते हैं, किताबें जब्त करवा सकते हैं, लेखक को गिरफ्तार करने के लिए मुंह से झाग बहा सकते हैं, परंतु वे किसी बौद्धिक चुनौती का जवाब नहीं दे सकते, क्योंकि उन बौद्धिक बांझों के पास बौद्धिक संपदा का एकदम अभाव होता है. वे इस स्थिति में होते ही नहीं कि लेखक की बात को गलत सिद्ध कर के, उस के पक्ष का खंडन कर के, अपने पक्ष का मंडन कर सकें. इन का यही दुःखांत है. अपनी मूढ़ता के आलम में जैसे नालायक बच्चा मास्टरजी के पास बस शिकायत ले जा कर फटकार खाता है, ऐसे ही ये बौद्धिक बौने अदालतों में गुहार ले जा कर वहां झाड़ खाते हैं और अपने लक्ष्य से विचलित हो जाते हैं. जिन के पास ऐसे मित्र हों, उन्हें शत्रु की क्या जरूरत? इन्हें तो श्रीमद्भगवद्गीता ने भी निंदित करार दिया है:

मूढग्राहेण यत् क्रियते तपः परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्

–गीता 17/19

अर्थात मूढमति लोग दूसरे को कष्ट पहुंचाने व उसे नष्ट करने के लिए धर्म

के नाम पर जो काम (तपः) करते हैं, वह सब तामसिक अर्थात बहुत घटिया होता है.

यही बात गणेश शंकर विद्यार्थी ने अपने निबंध 'धर्म की आड़' में कही है–'शुद्धाचरण और सदाचार ही धर्म के स्पष्ट चिह्न हैं. दो घंटे तक बैठकर पूजा कीजिए और पांच वक्त नमाज भी अदा कीजिए, परंतु ईश्वर को इस प्रकार की रिश्वत दे चुकने के पश्चात यदि आप अपने को दिन भर बेईमानी करने और दूसरों को तकलीफ पहुंचाने के लिए आजाद समझते हैं तो इस धर्म को अब आगे आने वाला समय कदापि नहीं टिकने देगा.'

यहां एक ऐसे वर्ग, जिस में आम गृहस्थों के साथसाथ भगवा वस्त्रधारी भी शामिल हैं, की भी बात कर लें जो धर्म और संस्कृति के मंचों से, जहां धर्म और संस्कृति की बात होनी चाहिए, प्रायः पश्चिमी विज्ञान की निंदा करता रहता है, हालांकि वे लोग जिन साधनों का उपयोग करते हैं, यथा लाउड स्पीकर, माइक, कैमरा, बिजली, बैटरी, टेपरिकार्डर आदि उन में से एक भी उस धर्म और संस्कृति का बनाया नहीं होता, जिस का नाम ले कर वे इन व ऐसे अन्य आविष्कारों को देने वाले विज्ञान को कोसते हैं. विज्ञान के मामले में परजीवी बन कर उस का उपयोग भी करना और उस की निंदा भी करते जाने का ही यह परिणाम है कि भारत इस क्षेत्र में पिछड़ रहा है.

इस विषय में यह बात विशेषतः ध्यान देने योग्य है कि जिस दौर में छद्म हिंदुत्व का ज्यादा दौरदौरा रहा, उसी में विज्ञान को बैकबर्नर पर रखा गया.

जहां और जिस पर छद्म हिंदुत्व का जितना जोर है, वह उतना ही द्विमार्गी है, ठीक उसी तरह जैसे महाभारत युद्ध में एक ओर कृष्णजी महाराज खुद हो गए थे और दूसरी ओर अपनी सेना कर दी थी. विज्ञान का अध्यापक स्कूलकालिज में जब पैंटशर्ट पहन कर और बूटसूट कस कर जाता है तो बच्चों को सूर्यग्रहण व चंद्रग्रहण का वास्तविक वैज्ञानिक कारण समझाता है; परंतु जब घर में आ कर वह उन सब चीजों को उतार कर परंपरागत रूप धारण कर लेता है, तब विज्ञान का वही अध्यापक ग्रहण लगने पर नदीनाले में डुबकी लगाने चल देता है. भले ही वहां पानी अत्यंत प्रदूषित हो.

एक दूसरा वर्ग है जो योग से रक्तचाप कम होने का दावा करने लगता है, भले ही रक्तचाप मापने के लिए वह डाक्टर के पास ही जाता है; क्योंकि न योग के पास ऐसा कोई यंत्र है, न आयुर्वेद के पास, जिस से रक्तचाप मापा जा सके. वह रुद्राक्ष का दाना/मनका पहन कर रक्तचाप को नियंत्रित करने का वहम पालता है और बताता है कि हमारे ऋषिमुनि इसीलिए इसे पहना करते थे. ऐसा ज्ञान बघारते हुए वह अनजाने में ही क्या यह सिद्ध करना चाहता है कि हमारे सब ऋषिमुनि हजारों सालों से रक्तचाप पीड़ित थे?

यदि कहो कि वे इस रुद्राक्षधारण के कारण रक्तचापमुक्त रहते थे तो हमारा पूछना होगा कि वे किस यंत्र से रक्तचाप मापते थे? तब इस बीमारी का नाम क्या था, क्योंकि 'रक्तचाप' शब्द तो किसी प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रंथ में मिलता नहीं. रक्तचाप

नाम की बीमारी से अपरिचित व रक्तचाप मापने के यंत्र से रहित योग यदि आज रक्तचाप का इलाज करता है तो स्पष्ट है कि किन्नर पुत्र ब्याहने चला है!

एक अन्य वर्ग है जो इस देश का मुंह से गुणगान करता है, परंतु व्यवहार में इस से भाग रहा है : भारत से भागा भारती (एन आर आई). उस दिन एक ऐसे ही भारती ने घर वालों को 20,000 रु. भेजे थे कि पाठ करवा देना. पाठ के भोग के उपरांत ईश्वर को धन्यवाद दिया गया कि 'वह' अमेरिका पहुंच गया है, यानी आप का बहुतबहुत धन्यवाद कि आप ने 'ऋषियों, मुनियों, पीरों, फकीरों, संतों, महंतों, गुरुओं, अवतारों' आदि न जाने किनकिन के चरणों के स्पर्श से पवित्र हुई इस धरती से उसे दूर पहुंचा दिया है!

कल उस की ओर से जगराता करवाया जा रहा था, जिस को अमेरिका जाने का वीजा मिल गया है, यानी देवीदेवताओं की इस पवित्र धरती से बच निकलने की खुशी में धन्यवाद देने के लिए!

ऐसा नहीं है कि मैं यह सब किसी संकुचित दृष्टिकोणवश कह रहा हूं. मेरा केवल यह कहना है कि जो लोग इस देश व समाज की मुंह से महिमा गाते नहीं अघाते वे फिर इसे तज कर जाने को इतने उतावले क्यों हैं? यदि यह देश उन्हें वास्तव में प्रिय है तो वे इसे तजते समय इतने खुश क्यों नजर आते हैं? विदेश में पहुंच कर भी उस 'भगवान' को धन्यवाद देना क्यों नहीं भूलते जिस ने उन्हें देश से बाहर पहुंचाया है?

मैं ने भारत से भागे ऐसे कई भारतीयों से बात की तो उन्होंने कहा कि हम यहां से इसलिए भागते हैं क्योंकि यहां रोटी नहीं मिलती. विदेश में हम रोटी की तलाश में ही तो जाते हैं. यहां भूखे मरने की अपेक्षा विदेश में रहना ज्यादा श्रेयस्कर है, क्योंकि वहां रोटी तो कमा सकते हैं.

यह बात दुःखदायी भी है, महत्त्वपूर्ण भी. एक अरब से भी ज्यादा जनसंख्या वाले भारत, जिस में हिंदुओं का बाहुल्य है, के युवा रोटी की तलाश में विदेशों को भागने के लिए क्यों विवश हैं? क्यों ऐसे देश रोटी ही नहीं मक्खन भी उपलब्ध कराने में समर्थ हैं जिन की धरती को 'ऋषियों, मुनियों, गुरुओं, पीरों, फकीरों, संतों, महंतों, अवतारों' आदि के चरण स्पर्श का कथित गौरव प्राप्त नहीं हुआ है? ये प्रश्न बेचैन करने वाले हैं; परंतु हल भी मांगते हैं. हिंदू या भारतीय मनीषा को इधर ध्यान देना ही होगा.

द्रुपद के राज्य से भाग कर द्रोण धृतराष्ट्र के दरबार में इसलिए पहुंचा था क्योंकि उस के एकमात्र पुत्र अश्वत्थामा को दूध का एक चुल्लू तक नहीं मिलता था और विवश ब्राह्मणी अपने इकलौते बेटे को पानी में आटा घोल कर पिलाया व बहलाया करती थी. यह सब यहां दूध की नदियों के कथित तौर पर बहने के बावजूद है. यह द्रोण उस द्रुपद के दामादों के लिए मौत बन कर महाभारत के युद्ध में कूदा और अश्वत्थामा ने उन के बेटों को सोते में ही नष्ट कर दिया.

भूख सब कुछ करवा देती है – बुभुक्षितः किं न करोति पापम्? भूखा आदमी करुणारहित हो जाता है – क्षीणा जना निष्करुणा भवंति. क्या कारण है कि देवी देवताओं, धर्मगुरुओं, पीरोंफकीरों, ऋषियोंमुनियों, संतोंमहंतों, अवतारों, तीर्थों,

धर्मस्थानों आदि की बहुतायत के बावजूद आम आदमी यहां विवश है? क्या ऐसे हालात में परलोक सुधारने के पीछे भागने के स्थान पर हमें इहलोक को सुधारने की ओर दत्तचित्त नहीं होना चाहिए?

हमें उस सब को तिलांजलि देनी होगी जो हमें भाग्यवादी और आलसी बनाता है, निठल्लों की फौजों को पालने की प्रेरणा देता है, हमारे समय और बल का अपव्यय करता है, जो हमें इस योग्य नहीं होने देता कि हम अपने पेट के लिए रोटी मुहैया करवा सकें. थोथे अध्यात्म ने न हमें पहले कहीं का छोड़ा है और न भविष्य में ही छोड़ेगा. क्यों चीन हम से बाद में स्वतंत्र हो कर एक विश्वशक्ति बन गया है? हमारे यहां किसान भी आत्महत्या पर आत्महत्या कर रहा है और युवा लोग भी रोजगार प्राप्त करने में अक्षम सिद्ध हो रहे हैं. फलतः काम करने वाले हाथों का भी पलायन हो रहा है और प्रतिभा का भी.

हमारे अध्यात्म और योग के सौदागर विदेश में मालामाल हो रहे हैं, इसलिए नहीं कि इन के उत्पादों से उन्हें लाभ हो रहा है; बल्कि अधिकांश में इसलिए कि वहां के भरपेट खाने वालों और खाखा कर ऊबे हुओं का इन से जरा स्वाद बदल जाता है और कुतूहल भी शांत हो जाता है. वे वहां शांति के सौदागरों के रूप में जाते हैं, मानो अपने जन्मस्थान भारत में वे सब समस्याएं हल कर चुके हैं. विदेश में शांति फैला सकने के दावे भारत को इतना अशांत क्यों छोड़ जाते हैं? क्यों चारों ओर मारकाट, अपहरणफिरौती, बम विस्फोट और आतंकवाद है? क्या अनेक सौदागर इसीलिए विदेशों को नहीं जाते कि अपने ऊपर 'विदेश से लौटे' हुए का 'सम्मानजनक' ठप्पा लगा कर देशी लोगों को और ज्यादा बढ़िया ढंग से भरमा सकें?

यदि अध्यात्म, योग, शांति आदि के सौदागर सचमुच कुछ करने में समर्थ होते तो देश की किसी समस्या का समाधान अवश्य करते. यहां की आपाधापी को रोकते. परंतु ये तो संपन्न विदेशों में जा कर रुपया ऐंठते हैं और देश के लोगों को दुनियादारी, मोहमाया, धनसंपत्ति आदि से विमुख होने का, उन के प्रति आकर्षित न होने का, उपदेश झाड़ देते हैं, क्योंकि वे यह भलीभांति जानते हैं कि वे देश की भूख व रोजगार जैसी किसी भी समस्या का समाधान करने में एकदम असमर्थ हैं.

वे लफ्फाजी कर सकते हैं, शरीर को जिमनास्ट की तरह उलटासीधा कर सकते हैं और ऊंचीऊंची हवाई बातें बघार सकते हैं; परंतु न अन्न का दाना पैदा कर सकते हैं, न कोई छोटामोटा रोजगार. अतः वे हमें दिग्भ्रांत करते हुए उस बच्चे को भुलाने में लगे हैं जिसे टब में नहलाया गया है और पानी को फेंकने का इस तरह ऊंचे से ढोलकीचिमटा बजा कर भजन गा रहे हैं कि हम पानी के साथ बच्चे को फेंक भी दें, साथ ही यह कभी जान भी न पाएं कि उसे फेंक दिया गया है!

हमारे अध्यात्म ने शुरू से ले कर आज तक यही किया है. यह तो लोगों की स्वाभाविक जिजीविषा थी कि वे यह सब सुनते भी रहे, इस के आगे विवश हो कर नतमस्तक भी होते रहे और व्यवहार में इस के सर्वथा विपरीत कदम उठाते रहे; अन्यथा यह देश कभी का 'उपमहाद्वीपीय श्मशान' बन गया होता. हमें इस खंडित मानसिकता के भंवर से अपने को उबारना होगा, नहीं तो वह नाटक चलता ही रहेगा

जिस के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब कुछ असत्य है; हां, परंतु शूद्र सत्य है, अतः उस के कानों में लाख और रांगा डालना चाहिए. एक हाथ में अद्वैत वेदांत और दूसरे हाथ में मनु. अब यह आगे नहीं चलेगा, यदि हिंदू समाज अपनी जिजीविषा से हाथ नहीं धो देना चाहता.

एक हिंदुत्ववादी लेखक ने कहा है कि हमें राष्ट्रीय गलतियों की एक सूची तैयार करनी चाहिए और उस से बच्चों को भली प्रकार परिचित कराना चाहिए ताकि जो गलतियां हम इतिहास में करते आए हैं, अब भविष्य में उन की पुनरावृत्ति न हो. वह इतिहास वस्तुतः इतिहास नहीं है जो हमें हमारी कमजोरियों और गलतियों की बाबत अंतर्दृष्टि उपलब्ध नहीं कराता और जो सिर्फ थोथे अभिमान के द्वारा अस्पष्ट व रहस्यमय से अतीत को महिमामंडित करता है.

यही बात धर्म और संस्कृति पर भी चरितार्थ होती है. हमें चाहिए कि बजाय इस के कि 'धर्म को ठेस' की दुहाई दे कर वातावरण को प्रदूषित करें, ऐसी सब बातों की सूची ('सूचीग्रंथ' कहना चाहिए) बनानी चाहिए जो हमारे संस्कृत के ग्रंथों, उन की टीकाओं और उन के भाष्यों में मौजूद है, जिन से हमारी धार्मिक भावना को कथित तौर पर ठेस पहुंचती है और दुनिया को बताना चाहिए कि ये चीजें हमारे धर्म ग्रंथों में हैं, परंतु इन से हमारी धार्मिक भावना को ठेस पहुंचती है! उन में से जिसजिस के अर्थ बदलने हमें अभीष्ट हों, उसउस के दोनों तरह के अर्थ–जो किए जाते हैं या सीधेसीधे बनते हैं और बदले हुए – भी उस सूचीग्रंथ में अंकित कर देने चाहिए. जिन पंक्तियों/श्लोकों/अध्यायों आदि को हम 'प्रक्षिप्त' कह कर उन से पीछा छुड़ाना चाहते हों, उन्हें भी उक्त सूचीग्रंथ में अंकित कर दिया जाना चाहिए. इस से हमारे बच्चों के समक्ष सारा चित्र भलीभांति स्पष्ट हो जाएगा और वैसे भी बहुत सारी विवाद की सामग्री एकबारगी घूरे पर पहुंच जाएगी. इस से हिंदू धर्म व हिंदू समाज का विरेचन (कैथारसिस) भी हो जाएगा. परंतु यह काम व्यक्तिगत पसंद नापसंद के आधार पर मनमाने ढंग से नहीं, बल्कि ठोस वैज्ञानिक ढंग से संपन्न होना चाहिए. यह सागर मंथन होना ही चाहिए ताकि सारा कालकूट निकल जाए. भारत सरकार का अनुसूचित जाति आयोग भी पिछले दिनों में कई बार इस तरह की मांग रख चुका है. यदि एक बार सब कुछ चलनी में से गुजार दिया जाए तो शायद शेष स्वस्थ चीजें ही बचें.

परंतु तब शायद हमारे पास गीता 700 श्लोकों की न रह जाएगी. कइयों ने उस के केवल 60 श्लोक असली माने हैं. तब मनुस्मृति भी आधी से कम ही हमारे पास बचेगी, जैसा 'विशुद्ध मनुस्मृति' में दिखाई पड़ता है. ऐसा ही हाल अन्य ग्रंथों का भी हो सकता है. महाभारत के एक लाख श्लोकों के स्थान पर केवल सोलह हजार श्लोक ही हमारे पास बचेंगे जैसा स्वामी जगदीश्वरानंद के महाभारत से स्पष्ट है. इन सब बड़ेबड़े घाटों को भी हमें ध्यान में रखना होगा, क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि टब के पानी को बाहर फेंकते हुए हम शिशु को भी साथ ही फेंक दें. यदि हम अपने परिप्रेक्ष्य को सीधा कर लें, अपने दृष्टिकोण को यथार्थवादी ढंग से मोड़ दें, जिस की चर्चा पहले की जा चुकी है, तो इस अनभीष्ट स्थिति से भलीभांति बचा जा सकता है–हमारा सारा साहित्य भी सुरक्षित रह जाएगा और हम भी जलालत से बच

जाएंगे.

हिंदू फलसफा अधिकांश में परलोकवादी, पलायनवादी, मुक्तिपरक और जन्ममरण के चक्र से छुटकारा पाने का ही रहा है. सारी स्वाभाविक सरगर्मियों के बावजूद इसीलिए पालथी मार कर समाधि की अर्धजागरित अवस्था ही इस का आदर्श रही है. परंतु मानवीय जिजीविषा हिंदू या गैर हिंदू का अंतर नहीं करती. अतः वह फलसफे को पछाड़ती रही है. परंतु फलसफा सदा उसे पछाड़ने की ताक में रहा है. इसीलिए राजेरजबाडे भी यहां सब कुछ करते रहने के बावजूद अध्यात्म के तालाब में गोता अवश्य लगाते थे.

लेकिन कोई राष्ट्र इस तरह सदा खंडित मानसिकता ले कर आज के विश्व में टिक नहीं सकता, उस के विश्व शक्ति बनने की तो बात ही छोड़िए. इस खंडित मानसिकता ने, इस अर्धजागरित अवस्था वाली समाधि को आदर्श मानने वाली मनोवृत्ति ने, हमारे यहां वह चीज कदापि नहीं पैदा होने दी जिसे काम करने की संस्कृति (वर्क कल्चर) कहते हैं.

गीता ने कर्म की बात की, परंतु उसी सांस में अकर्म और विकर्म की बात भी शुरू कर दी और उस कर्म को श्रेष्ठ घोषित कर दिया जिस में फल की इच्छा न हो, परिणाम की चिंता न हो. यानी अंधी पीसे, कुत्ता चाटे. अंधे की तरह बस पीसते जाओ, फल की इच्छा व चिंता मत करो. यह मत देखो कि पीसे गए आटे का क्या बन रहा है या बनेगा.

अतः तथाकथित 'कर्मवादी' फलसफा होने के बावजूद गीता भी 'वर्क कल्चर' को पैदा करने की स्थिति में कभी नहीं रही है. यह अकारण नहीं है कि वह संन्यासियों, साधुओं, गृहत्यागियों, मरणासन्न व्यक्तियों आदि के ही ज्यादा काम आई है.

हिंदू समाज को आज 21वीं शताब्दी के इस दोराहे पर यह निश्चय करना होगा कि वह जीवन जीना चाहता है, या गंवाना. यदि खंडित मानसिकता ले कर चलते रहे तो इस तरह जिया नहीं जाएगा. सांस लेते रहना, किसी तरह वक्त काटते रहना, बिल में छिपे रहना, भीड़ में भी एकांतसेवी की तरह खोए सा रहना, अर्धजागरित अवस्था में निठल्ले बैठे ऊंघते रहना—यह जीना भी क्या जीना है? बात एक व्यक्ति की नहीं, सारे समाज के स्वास्थ्य की है, सारे समाज के जीवन व मरण की है:

यात्रा
पुकार नहीं होती प्रिये!
और न ही पुकारते हुए
यात्राएं की जाती हैं.
जब यात्रा
अपने ही भीतर समाप्त हो जाती है
तब कैसे ही
बाहरी वर्चस्व को पुकारना
कोई अर्थ नहीं रखता भीम!

कोई अर्थ नहीं रखता

– 'महाप्रस्थान' से

हमें जीना है तो उस तरह से जीना चाहिए जिसे जीना कहते हैं. इस के लिए हमें अपने को पूरी तरह इहलौकिक बनाना होगा. हर जीता हुआ आदमी इहलौकिक ही होता है, परंतु हमारी त्रासदी यह रही है कि हम इहलौकिक बन कर भी समझते यही रहे हैं कि यह गलत हैं, कि हम असली चीज–पारलौकिकता–से भटक गए हैं. हमारी स्थिति सदा उस आदमी सी रही है जो दूसरे को नीचे गिरा कर पीट भी रहा है और उस के ऊपर बैठा यह सोच कर रो भी रहा है कि जब यह नीचे से निकल कर आजाद होगा तो मेरी पिटाई करेगा. राष्ट्र इस तरह की मानसिकता से प्रगति पथ पर आरूढ़ नहीं हुआ करते.

हिंदू समाज को अब इस दोहरी मानसिकता से मुक्त होना होगा. हजारों वर्षों तक इस को अपनाए रख कर हम ने देख लिया है और अब इसे तिलांजलि देनी होगी. एकाग्रता के बिना कुछ संभव नहीं. एक मन से हमें इहलौकिकता के प्रति समर्पित होना होगा. तभी यहां रोटी होगी, रोजगार के अवसर होंगे और तभी हम विश्व में अपना सम्मानजनक स्थान प्राप्त कर सकेंगे.

हमें मुक्ति की नहीं, क्रांति की जरूरत है. हजारों सालों से हम मुक्ति की मृगमरीचिका के पीछे मूढ़ों की भांति भागे जा रहे हैं और रोटी से भी हाथ धोए जा रहे हैं. आज तो कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की पंक्तियों को पुनः दुहराने की आवश्यकता है:

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिस से उथलपुथल मच जाए,
एक हिलोर उधर से आए, एक हिलोर इधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएं, त्राहित्राहि रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का धुआंधार जग में छा जाए.

या फिर कवि पंत की पंक्तियों को :

गा कोकिल बरसा पावककण
नष्टभ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बंधन
हो पल्लवित नवल मानव मन,

यह 'नवल मानव मन' ही हिंदू समाज की जिजीविषा का संबल होगा. यह 'मन' कभी हमारा मन रहा है, जब वेद के कवि परवर्ती वैचारिक धुंध के जाल में नहीं फंसे थे. तभी तो वे सौ वर्ष जीने की, सौ से भी ज्यादा वर्ष जीने की और सतत कर्मरत, न कि समाधिरत, रहने की बात किया करते थे :

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्,
पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतम्,
शृणुयाम शरदः शतं, प्र ब्रवाम शरदः शतम्,

अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्.

– यजुर्वेद 36/24

अर्थात वह देखो देवताओं द्वारा स्थापित सूर्य रूपी चमकती हुई आंख सामने क्षितिज से ऊपर चढ़ आई है. हम इसे देखने की शक्ति से सौ वर्ष तक युक्त रहें. हम सौ वर्ष तक जीते रहें. हम सौ वर्ष तक सुनने की शक्ति से युक्त रहें. हम सौ वर्ष तक अदीन हो कर, बिना गिड़गिड़ाए, रहें. हम सौ वर्ष से ऊपर भी इसी प्रकार बने रहें.

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः

– यजुर्वेद 41/2

अर्थात काम करता हुआ ही आदमी सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे.

यहां कर्म करते हुए और दुनिया के आनंदों को भोगते हुए 100 वर्ष और उस से ज्यादा समय तक जीने की बात की गई है. परंतु खेद है कि इस के बाद ही वैदिक ऋषि भी 'कर्मों के आदमी से चिपटने' की बातें करने लगे और आज तक वे उस से उसी तरह चिपटे चले आ रहे हैं.

अब चक्र पूरा हो गया है. आओ, अब उसी एकाग्र मन से फिर सौ वर्ष तक काम करने के संकल्प को अपना जीवनमंत्र बनाएं. हिंदू समाज इस दोराहे पर इस से ज्यादा सही और कोई निर्णय नहीं ले सकता...

अंत में, यही कहूंगा कि ग्राह्य और अग्राह्य का निर्णय कठिन नहीं है. समझदार व्यक्ति ग्राह्य को ग्रहण कर के, अग्राह्य को त्याग देता है; जबकि मूर्ख अपनी बेवकूफी के कारण गायगधा सब को बराबर समझता है. परंतु संकट उपस्थित होने पर अग्राह्य को त्यागने के बराबर रक्षा का कोई उपाय नहीं बचता. मैं ने अप्रिय बातें भी हित की कामना से प्रेरित हो कर लिख दी हैं, क्योंकि संकट के समय सब को सचेत करना मेरा कर्त्तव्य था. समाज में समानतामूलक जागृति फैले और भारत देश कर्म की आभा से संसार में जगमगाए, यही मेरी मनःकामना है.

किं ग्राह्यमग्राह्यमिति कवयो नात्र मोहिताः,
अज्ञस्तु मूढमतित्वात्सतृणमभ्यवहारी. 1
अग्राह्यं त्याज्यं सदा स्वकल्याणाकांक्षिभिर्जनैः,
नान्यत्समर्थमिह त्रातुं यतो महतो भयात्. 2
भूतार्थः कथितो हितकाम्ययाऽप्रियमपि,
कर्तव्यमेवमापतत्येव महाभयोदिते. 3
समाजे जागरतिर्भवतु समतामूला च,
कर्मणा देशोऽयं भुवि भारतो भारतो भवेत्. 4
इतिश्री सुरेंद्र कुमार शर्मणोऽज्ञातस्य कृतिरियम्
'क्या बालू की भीत पर खड़ा है हिंदू धर्म' पूर्तिमगात्. 5

●

सहायक ग्रंथ सूची

अंबेडकर आन इस्लाम, डा. सुरेंद्र अज्ञात, जालंधर.

अनर्घराघव, मुरारिमिश्र, प्रकाश संस्कृत-हिंदी व्याख्योपेतम्, वाराणसी.

अभिज्ञानशाकुंतलम्, कालिदास, वाराणसी.

अमरकोश, प्रभा-टीका सहित, वाराणसी.

अरली हिस्ट्री आफ इंडिया, एन.एन. घोष, इलाहाबाद.

अलबेरूनी का भारत, हिंदी अनुवाद, संतराम बी.ए., इलाहाबाद.

आनंद रामायण, ज्योत्स्ना टीका सहित

आनंदलहरी, शंकराचार्य, चेन्नई.

आर्य पर्वपद्धति, भवानीप्रसाद, बरेली.

आर्यसमाज का इतिहास, नरदेवशास्त्री, प्रयाग.

आश्वमेधिकमंत्र मीमांसा, पं. भीमसेन शर्मा, इटावा.

इंडियन फिलास्फी, डा. राधाकृष्णन्, दिल्ली.

इंडियाज ओनली कम्यूनलिस्ट, सं. कोइनराड इल्स्ट, नई दिल्ली.

इंडो आर्यन् एंड हिंदी, डा. सुनीति कुमार चैटर्जी, कलकत्ता.

इंडोलॉजिकल स्टडीज इन इंडिया, डा. वी. राघवन, दिल्ली.

उत्तररामचरितम्, शेषराजशर्मा रेग्मी-कृत चंद्रकला-विद्योतिनी टीका द्वयोपेतम्, वाराणसी.

उपनिषद् चिंतन, देवदत्तशास्त्री, इलाहाबाद.

ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, विश्वेश्वरनाथ रेऊ, दिल्ली.

ऋग्वेद सूक्त विकास, हा.रा. दिवाकर, दिल्ली.

ऋग्वैदिक आर्य, राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद.

एडवान्सड हिस्ट्री ऑफ द पंजाब, जी.एस. छाबड़ा, लुधियाना.

एनाइहिलेशन आफ कास्ट, डा. बी.आर. अंबेडकर, जालंधर.

एंशेंट इंडिया, रमेश चंद्र मजूमदार, दिल्ली.

ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, विंटरनित्स, जर्मन से अंगरेजी अनुवाद कलकत्ता.

ए स्टडी आफ इसलामिक हिस्ट्री, प्रो. के. अली.

ए हिस्ट्री आफ एंशंट संस्कृत लिटरेचर, मैक्समूलर, वाराणसी.

ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, ए.ए. मैकडानल, दिल्ली.
ए हिस्ट्री आफ सिक्खस खुशवंत सिंह, नई दिल्ली.
ओल्ड टेस्टामेंट आफ इंडियन एथिज्म, डा. सुरेंद्र अज्ञात, जालंधर
कनटेंपररी इंडियन फिलास्फी, बसंतकुमार लाल, दिल्ली
कल्किपुराणम्, अशोक चटर्जी शास्त्री, वाराणसी
काव्यप्रकाश, पं. रघुनाथचतुर्वेद कृत 'सरला' टीका, वाराणसी
काशमीरेतिहास; (संस्कृत) लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली
कुर्आन शरीफ, (देवनागरी लिपि), हिंदी अनु. पद्मश्री नंदकुमार अवस्थी, लखनऊ
कौटिल्य का अनर्थशास्त्र, डॉ. सुरेंद्र कुमार शर्मा 'अज्ञात', नई दिल्ली.
कौषीतकि ब्राह्मणपर्यालोचनम्, डा. मंगलदेवशास्त्री, वाराणसी
क्यों (दो भाग), पं. माधवाचार्य शास्त्री, नई दिल्ली.
क्रांतिकारी आंदोलन का वैचारिक इतिहास, मन्मथनाथ गुप्त, नई दिल्ली.
क्रांतिदूत भगतसिंह और उन का युग, मन्मथनाथ गुप्त, नई दिल्ली.
क्वेस्ट फार ओरिजिनल गीता, डा. गजानन श्रीपाद खैर, मुंबई
गणित का इतिहास, डा. बृजमोहन, लखनऊ
गीता की शवपरीक्षा, डा. सुरेंद्र अज्ञात, जालंधर
गीता विवेचन, श्रीराम आर्य, कासगंज
गुरुनानक रचनावली, भाषाविभाग पंजाब, पटियाला
गोभिलगृह्यसूत्रम्, मुकुंद झा बक्शी कृत संस्कृत टीका, वाराणसी
ग्लोरी दैट वाज गुर्जरदेश, के.एम. मुंशी, मुंबई
घाटेज लेक्चरस आन ऋग्वेद, पूना
चतुर्विंशतिमतसंग्रहः, भट्टोजि दीक्षित, वाराणसी
चतुर्वेदि-संस्कृत-रचनावली, संपादक शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी, वाराणसी
चाणक्य नीति दर्पण, हिंदी टीका सहित. दिल्ली
जयसिंहकल्पद्रुम, रत्नाकर, मुंबई
जातककालीन भारतीय संस्कृति, मोहनलाल महतो वियोगी, पटना
जैमिनीयमश्वमेध, मूलमात्रम्
डा. बाबा साहब अंबेडकर राइटिंग्स एंड स्पीसिज, सत्रह खंड, महाराष्ट्र सरकार
तंत्रवार्तिक, कुमारिल भट्ट, वाराणसी
तत्त्वसंग्रहः, शांतरक्षित विरचित, कमलशीलकृत पंजिका सहित, वाराणसी
ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्, सायणभाष्य सहित, वाराणसी
थर्ड न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी, वेबस्टर, न्यूयार्क
द अनटचेबल्स, डा. बी.आर. अंबेडकर, जालंधर
द आटोबायोग्राफी आफ एन अननोन इंडियन, नीरद चौधरी, मुंबई

द कंपलीट वर्कस ऑफ स्वामी विवेकानंद (नौ खंड), कोलकाता
द कुरान एंड द काफिर, ए. घोष, हाउसटन, यू.एस.ए.
द गायत्री मंत्रः इट्स ग्रामैटिकल प्राब्लेम, डा. विश्वबंधु, होशियारपुर
द प्रैक्टीकल संस्कृत-इंग्लिश कोश, आप्टे, दिल्ली
द बुद्ध एंड हिज धम्म, डा. बी.आर. अंबेडकर, मुंबई
द बृहदारण्यक उपनिषद् विद द कमेंटरी आफ शंकराचार्य अंगरेजी अनुवाद स्वामी माधवानंद, कोलकाता
द भगवद्गीता, डा. राधाकृष्णन (हिंदी संस्करण) दिल्ली
द मैनेस आफ हिंदू इंपीरिअलिज्म, स्वामी धर्मतीर्थजी महाराज, लाहौर
दयानंदभाव चित्रावली, पं. शंभूदयाल त्रिशूल, लाहौर.
दर्शनदिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद.
द वैदिक एज, सं. आर. सी. मजूमदार, मुंबई.
दशरूपकम्, धनिक कृत, संस्कृत टीका, वाराणसी.
द शैडो आफ रामराज्य ओवर इंडिया, प्रेमनाथ बजाज, नई दिल्ली.
दशोपनिषदः, संस्कारभाष्य स्वामी भगवदाचार्य, अहमदाबाद.
द सिक्स ग्लोरिअस एपिक्स आफ इंडियन हिस्ट्री, विनायक दामोदर सावरकर, नई दिल्ली
द हिस्ट्री आफ इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरिअनस, सर एच.एच. इलिअट एंड जान डाउसन, नई दिल्ली.
देवीभागवतपुराण, ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत हिंदी टीका, मुंबई.
धम्मपद, स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी.
धर्मकल्पद्रुमः (आठभाग), स्वामी दयानंद, बनारस कैंट.
धर्मदर्शन की मूल समस्याएं, डॉ. वेदप्रकाश वर्मा, दिल्ली
धर्मविज्ञान, स्वामी दयानंद, बनारस कैंट.
धर्मशास्त्र का इतिहास, भारत रत्न डा. पांडुरंग वामन काणे, हिंदी अनुवाद, लखनऊ.
नरमेधयज्ञ-मीमांसा, पंडित भीमसेन शर्मा, इटावा.
नाटयशास्त्र, बाबूलाल शुक्ल शास्त्री कृत प्रदीप हिंदी टीका, वाराणसी.
नारदस्मृति, तिलोत्तमा संस्कृत एवं हिंदी टीका, वाराणसी.
नैषधचरितम्, मल्लिनाथ कृत संस्कृत टीकोपेतं, वाराणसी.
न्यायभूषण, भासर्वज्ञ, वाराणसी.
पंचतंत्र; श्यामचरण पांडेय कृत संस्कृत हिंदी व्याख्यां, दिल्ली.
पतंजलिकालीन भारत, डा. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पटना.
पउमचरिउ, स्वयंभू, नई दिल्ली
परिभाषाप्रकाश, महामहोपाध्याय मित्र मिश्रः, वाराणसी.
पालि जातक, भदंत आनंद कौसल्यायन कृत हिंदी अनुवाद सहित, प्रयाग.
पालि हिंदी कोश, भदंत आनंद कौसल्यायन, दिल्ली.

पिंगलच्छन्दःसूत्रम्, हलायुधभट्ट कृत संस्कृत व्याख्या, वाराणसी.
पुराणमतपर्यालोचन, आचार्य रामदेव तथा जयदेव विद्यालंकार, कांगडी.
प्राचीन भारत का कला विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिल्ली.
प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, डा. हेमचंद्र रामचौधरी, हिंदी अनुवाद, इलाहाबाद.
प्राचीन भारत की सांग्रामिकता, रामदीन पांडेय, पटना.
प्रायश्चित्तप्रकाश, पं. चतुर्थीलाल शर्मा, मुंबई.
प्रैक्टिकल संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, वी.एस. आप्टे, दिल्ली.
बर्थ कंट्रोल, डा. लक्ष्मीनारायण शर्मा, दिल्ली.
बीगान गाडमैन, डा. इब्राहिम कोबूर, मुंबई.
बीस स्मृतियां, श्रीरामशर्मा, बरेली.
बुद्धइज़्म बनाम हिंदूइज़्म, डा. सुरेंद्र अज्ञात, जालंधर.
बुद्धकालीन समाज और धर्म, डा. मदन मोहन, पटना.
बुद्ध, धम्मपद और अंबेडकर, डा. सुरेंद्र अज्ञात, जालंधर.
बृहद्देवता, रामकुमार राय कृत हिंदी टीका, वाराणसी.
ब्रह्मसूत्र, रामानुज कृत श्रीभाष्यम्.
ब्रह्मसूत्र, शंकर कृत भाष्य, दिल्ली.
ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तंड, हरिकृष्ण शर्मा, हिंदी टीका सहित, मुंबई.
भगवद्गीता की बुद्धिवादी समीक्षा, भदंत आनंद कौसल्यायन, इलाहाबाद.
भर्तृहरिशतकत्रयम्, हिंदी गद्य-पद्य अनुवाद, वाराणसी.
भारत का सैन्य इतिहास, जदुनाथ सरकार, अनुवाद सुशील कुमार त्रिवेदी भोपाल.
भारत को किस ने कमजोर किया: हिंदूइज्म ने या बुद्धइज्म ने? डा. सुरेंद्र अज्ञात, जालंधर.
भारत में आर्य बाहर से नहीं आए, गीताप्रेस, गोरखपुर.
भारतीय इतिहास का उन्मूलन, जयचंद्र विद्यालंकार, इलाहाबाद.
भारतीय दृष्टि का क ख, जयचंद्र विद्यालंकार, इलाहाबाद.
भारतीय ज्योतिष, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, मराठी से हिंदी अनुवाद, लखनऊ.
भारतीय ज्योतिष का इतिहास, गोरख प्रसाद, लखनऊ.
भारतीय दर्शन, डा. उमेश मिश्र, लखनऊ.
भारतीय दर्शन का इतिहास (5 भाग), हिंदी अनुवाद, डा. सुरेंद्रनाथ दासगुप्त, जयपुर.
भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, नई दिल्ली.
भारतीय युद्धकला, मेजर ऐल्फ्रेड डेविड, अनुवाद एस.सी. चोपड़ा, भोपाल.
भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा, डा. मंगल देव शास्त्री, नई दिल्ली.
भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, भगवतशरण उपाध्याय, नई दिल्ली.
भारतीय सामंतवाद, रामशरण शर्मा, दिल्ली.

भारतीय साहित्य का इतिहास, (हिंदी अनुवाद) विंटरनित्स, नई दिल्ली.

भाषाविज्ञान, डा. भोलानाथ तिवारी, इलाहाबाद.

भोजप्रबंधः, संस्कृत-हिंदी-अंगरेजी टीका, जगदीशलाल शास्त्री, दिल्ली.

मंदिरों की लूट, पं. देवप्रकाश, गाजियाबाद.

महाभारतः ए क्रिटिसिज्म, सी.वी. वैद, दिल्ली.

माई आटोबायोग्राफी, मैक्स मूलर, दिल्ली.

माधवीयधातुवृत्तिः, सायणाचार्य, वाराणसी.

मानवधर्मशास्त्रस्य-मनुस्मृतेः, मानवार्षभाष्यम्, इंदिरारमण शास्त्री, काशी.

मालतीमाधवम्, भवभूति, हिंदी टीका सहित, दिल्ली.

मालविकाग्निमित्रम्, कालिदास, हिंदी टीका सहित, दिल्ली.

मृच्छकटिकम्, प्रबोधिनी-प्रकाश, व्याख्योपेतम्, वाराणसी.

मेघदूतम्, मल्लिनाथ कृत संस्कृत व्याख्या, वाराणसी.

मोहम्मद एंड द राइज आफ इस्लाम, डी. एस. मर्गोलिऊथ, नई दिल्ली.

योगवसिष्ठः, तात्पर्य प्रकाश व्याख्या, दिल्ली.

रघुवंशमहाकाव्यम्, मल्लिनाथ कृत संजीवनी टीका, वाराणसी.

राजतरंगिणी, कल्हण, रामतेज पांडेय कृत हिंदी अनुवाद, वाराणसी.

राम और कृष्ण की पहेली, डा. बी.आर. अंबेडकर, हिंदी अनुवाद, डा. सुरेंद्र अज्ञात, जालंधर.

रामायण की शवपरीक्षा, डा. सुरेंद्र अज्ञात, जालंधर.

लीडरी पर प्लेग, पं. कालूराम् शास्त्री, कानपुर.

लोकायत, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, नई दिल्ली.

वाई आई एम नॉट ए क्रिश्चियन, बरट्रेंड रसेल.

वाल्मीकि जयंती और भंगीजाति, भगवानदास, जालंधर.

विधवा विवाह मीमांसा, गंगाप्रसाद उपाध्याय, इलाहाबाद.

विवाह पद्धतिः, चतुर्थी लाल शर्मा, मुंबई.

विवाह पद्धति, देवीदयालु ज्योतिषी एंड संज

विवाह पद्धति, रामनाथबौद्धेय, पद्दीमठ.

विविधार्थ, भारतरत्न डा. भगवानदास, वाराणसी.

विवेकानंदः ए बायोग्राफी, स्वामी निखिलानंद, कोलकाता.

वेदत्रयीसमालोचन, पं. अखिलानंद शर्मा, चंद्रनगर, जि. बदायूं.

वेदजःद क्विंटेसेंस आफ वेदिक एंथालोजीज, डा. सुरेंद्र कुमार शर्मा 'अज्ञात', नई दिल्ली.

वेदसार, पद्मभूषण डा. विश्वबंधु, होशियारपुर.

वेदांग, कुंदनलाल शर्मा, होशियारपुर.

वेदांतसार, रामशरण त्रिपाठी, वाराणसी.

वेदामृत, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, किल्ला पारड़ी.

वेदार्थपारिजात, स्वामी करपात्री, कोलकाता.

वेदार्थ भूमिका, स्वामी विद्यानंद सरस्वती, मुंबई.
वेदों में विज्ञान, पं. शिवशंकर काव्यतीर्थ, वाराणसी.
वैज्ञानिक भौतिकवाद, राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद
वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा, डा. सत्यप्रकाश, पटना.
वैदिक इंडैक्स, ए.बी. कीथ, हिंदी अनुवाद, वाराणसी.
वैदिक कोश, डा. सूर्यकांत, वाराणसी.
वैदिक गणित, भारती कृष्णतीर्थ, हिंदी अनुवाद, दिल्ली.
वैदिक गाड्स, रैने.
वैदिक छंदोमीमांसा, युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ़, सोनीपत.
वैदिक संपत्ति, रघुनंदन शर्मा, मुंबई.
वैदिक साहित्य, रामगोविंद त्रिवेदी, वाराणसी.
व्याकरण चंद्रोदय, चारुदेव शास्त्री, दिल्ली.
व्रतोत्सव चंद्रिका, पं. श्रवणलाल, बनारस कैंट.
शब्दकल्पद्रुमः, नई दिल्ली.
शिवपुराण, पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत हिंदी टीका, मुंबई.
शुद्धिविवेचन, पं. शिवदत्तसत्ती शर्मा, अमरौधा, कानपुर.
शूद्रों का प्राचीन इतिहास, रामशरण शर्मा, दिल्ली.
श्रीभागवतसुधासागर, गीता प्रेस, गोरखपुर.
श्रीसनातनधर्मालोक, दस खंड, पं. दीनानाथ शर्मा सारस्वत, नई दिल्ली.
श्रौत यज्ञ मीमांसा, युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ़, सोनीपत.
षड्दर्शनसमुच्चय, हरिभद्र सूरि, नई दिल्ली.
षोडश संस्कार विधि, पं. भीमसेन शर्मा, इटावा.
संस्कार प्रकाश, रामगोपाल विद्यालंकार, कोलकाता.
संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, मोनियर विलियमस, दिल्ली.
संस्कृत नाटक, हिंदी अनुवाद, ए.बी. कीथ, दिल्ली.
संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, द्वारिकाप्रसाद शर्मा तथा तरणीश झा, इलाहाबाद.
संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, इलाहाबाद.
सत्यार्थप्रकाश, स्वामी दयानंद सरस्वती, बहालगढ़.
सम आस्पैक्टस ऑफ एंशेंट कल्चर, बी.आर. भंडारकर.
सर्वदर्शनसंग्रहः, उमाशंकर ऋषि कृत हिंदी व्याख्या, वाराणसी.
सांइस इन द वेदज, हंसराज अग्रवाल, लुधियाना.
सिद्धांतशिरोमणि, वासनाभाष्य सहित, वाराणसी.
सुभाषित रत्न भाण्डागार, स. नारायणराम आचार्य काव्यतीर्थ, नई दिल्ली.
सौंदर्यलहरी, शंकराचार्य, चेन्नई.
स्तोत्ररत्नावली, सानुवाद, गोरखपुर.
स्मृति चंद्रिका, देवण भट्टोपाध्याय, तीन भाग.
स्याद्वादमंजरी, मल्लिषेण सूरि, अगास (गुजरात).

स्लैक्टिड वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, नई दिल्ली.

स्वामी भगवदाचार्य (सात खंड), अहमदाबाद.

हठयोगप्रदीपिका, संस्कृत-हिंदी टीका सहित, मुंबई.

हिंदी भाषा का इतिहास, डा. धीरेंद्र वर्मा, इलाहाबाद.

हिंट्स फार सैल्फ कलचर, डॉ. हरदयाल, मुंबई.

हितोपदेश:, किरणावली संस्कृत-हिंदी टीका, वाराणसी.

हिंदूइज्मः धर्म या कलंक, ल.र. बाली, जालंधर.

हिंदू इतिहास : हारों की दास्तान, डा. सुरेंद्र कुमार शर्मा 'अज्ञात', नई दिल्ली.

हिंदू एपिक्स : हिस्टौरिक आर इमैजिनरी? डा. सुरेंद्र अज्ञात, जालंधर.

हिंदू टैंपल्स : वट हैपंड टु दैम, खंड-1, अरुण शौरी आदि, नई दिल्ली.

हिंदू मैनर्स, कस्टम्स एंड सेरेमनिज, एब्बे जे. ए. डुबि, नई दिल्ली.

हिस्ट्री आफ हिंदूज : ए सागा आफ डिफीटस्, डा. सुरेंद्र कुमार शर्मा 'अज्ञात', नई दिल्ली.

हू वर द शूद्रस, डा. बी.आर. अंबेडकर, मुंबई.

हू वीकेंड इंडियाः हिंदूइज़्म आर बुद्धइज़्म?, डा. सुरेंद्र अज्ञात, जालंधर.

हैरिटेज आफ इंडिया, मैक्समूलर.

आधारभूत ग्रंथसूची

वैदिक साहित्य

अथर्ववेद, आचार्य गोपाल प्रसाद कौशिक, मथुरा.
अथर्ववेद, श्रीरामशर्मा आचार्य, बरेली.
अथर्ववेद, सायणभाष्य, साधु आश्रम, होशियारपुर.
ऋग्वेद, गोपाल प्रसाद कौशिक, मथुरा.
ऋग्वेदभाष्य, स्वामी दयानंद सरस्वती, स. युधिष्ठिर मीमांसक, रामलालकपूर ट्रस्ट, सोनीपत.
ऋग्वेद, श्रीरामशर्मा आचार्य, बरेली.
ऋग्वेद, सायणभाष्य, चारभाग, पूना.
ऋग्वेद, स्कंदभाष्य, मद्रास.
कृष्ण यजुर्वेद (काण्व संहिता), सायणभाष्य, सं. माधवशास्त्री, वाराणसी.
गोपथ ब्राह्मण, क्षेमकरणदास कृत हिंदीभाष्य, नई दिल्ली.
तैत्तिरीय ब्राह्मण, सायणभाष्य, तीन खंड, आनंदाश्रम पुणे.
तैत्तिरीय संहिता, सायणभाष्य, आठ खंड, आनंदाश्रम पुणे.
निरुक्त, पं. राजारामशास्त्री, लाहौर.
पिंगलच्छंदः सूत्र, वेणीराम गौड़, वाराणसी.
यजुर्वेद, गोपाल प्रसाद कौशिक, मथुरा.
यजुर्वेद, श्रीराम शर्मा आचार्य, बरेली.
यजुर्वेद, स्वामी दयानंद सरस्वती, भाषाभाष्य, दो भाग, अजमेर.
शतपथ ब्राह्मण, सायणभाष्य, नई दिल्ली.
शुक्ल यजुर्वेद संहिता, उवट एवं महीधर के भाष्य, दिल्ली.
सांख्यायन ब्राह्मण, आनंदाश्रम पुणे.
सामवेद, गोपाल प्रसाद कौशिक, मथुरा.
सामवेद, श्रीरामशर्मा आचार्य, बरेली.
सामवेद, स्वामी भगवादाचार्य कृत संस्कारभाष्य, दो भाग, अहमदाबाद.
हिंदी ऋग्वेद, अनुवाद रामगोविंद त्रिवेदी, इलाहाबाद.

सूत्र साहित्य

आपस्तंब गृह्यसूत्र, पं. भीमसेन शर्मा, इटावा.
आपस्तंब धर्मसूत्रम्, उज्ज्वला टीका सहित, वाराणसी.
आश्वलायन गृह्यसूत्र, गृह्यपरिशिष्ट, आनंदाश्रम पुणे.
आश्वलायन श्रौतसूत्र, नारायणभाष्य, आनंदाश्रम पुणे.
गौतमधर्मसूत्र, हरदत्तभाष्य, आनंदाश्रम पुणे.
पारस्कर गृह्यसूत्र, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली.
बौधायनधर्मसूत्रम्, 'विवरण' टीका व हिंदी टीका, वाराणसी.
बौधायनश्रौतसूत्रम्, भवस्वामी तथा सायण के भाष्यों सहित, रामलालकपूर ट्रस्ट, सोनीपत.
मानवगृह्यसूत्र, पं. भीमसेनशर्मा, इटावा.
संस्कारविधि, स्वामी दयानंद सरस्वती, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत.
सत्याषाढश्रौतसूत्र, वैजयंतीसहित, आनंदाश्रम पुणे.

उपनिषद्

ईशादि नौ उपनिषद्, हिंदी व्याख्या सहित, गीताप्रेस गोरखपुर.
ईशावास्योपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.
उपनिषदां समुच्चयः, दीपिका सहित, आनंदाश्रम पुणे.
ऐतरेयोपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.
कठोपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.
केनोपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.
छांदोग्य उपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.
तैत्तिरीयोपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.
प्रश्नोपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.
बृहदारण्यकोपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.
मांडूक्योपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.
मुंडकोपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.
श्वेताश्वतरोपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.

रामायण/महाभारत/गीता

अध्यात्मरामायण, सटीक, गीताप्रेस गोरखपुर.
कवितावली, सटीक, गीताप्रेस गोरखपुर.
गीता, रामानुजभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.
गीता, शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर.
महाभारत, हिंदी टीका सहित, छः खंड, गीताप्रेस गोरखपुर.

रामचरितमानस, हिंदी अनुवाद सहित, गीताप्रेस गोरखपुर.
श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, सटीक, दो खंड, गीताप्रेस गोरखपुर.

पुराण साहित्य

अग्निपुराणम्, सं. बलदेव उपाध्याय, वाराणसी.
आदिपुराण, पं. श्यामसुंदर लाल त्रिपाठी कृत हिंदी टीका, मुंबई.
कूर्मपुराण, सटीक, गीताप्रेस गोरखपुर.
गरुड़ पुराणम्, सं. रामशंकर भट्टाचार्य, वाराणसी.
गर्गसंहिता, गीताप्रेस गोरखपुर.
दुर्गासप्तशती, सानुवाद, गीताप्रेस गोरखपुर.
नरसिंह पुराण, सटीक, गीताप्रेस गोरखपुर.
पद्मपुराण, चार खंड, आनंदाश्रम पुणे.
बृहन्नारदपुराण, कोलकाता.
ब्रह्मपुराण, आनंदाश्रम पुणे.
ब्रह्मवैवर्तपुराण, दो भाग, आनंदाश्रम पुणे.
ब्रह्मांडपुराण, जगदीशलाल शास्त्री, दिल्ली.
भविष्य पुराण, श्रीराम शर्मा आचार्य कृत हिंदी टीका, बरेली.
मत्स्य महापुराण, सटीक, गीताप्रेस गोरखपुर.
मार्कण्डेय पुराण, श्रीरामशर्मा आचार्य, बरेली.
लिंगपुराण, जगदीशलाल शास्त्री, दिल्ली.
वायुपुराण (मूल), आनंदाश्रम पुणे.
श्रीमद्भागवतमहापुराण, सटीक, गीताप्रेस गोरखपुर.
श्रीविष्णुपुराण, सटीक, गीताप्रेस गोरखपुर.
सूतसंहिता (मूल), तीन भाग, आनंदाश्रम पुणे.
स्कंदपुराण, श्रीरामशर्मा आचार्य, बरेली.

दर्शन ग्रंथ

न्यायदर्शन, वात्स्यायन भाष्यसहित, वाराणसी.
पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर.
प्रमाणवार्तिक, धर्मकीर्ति, दिल्ली.
ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, वाराणसी.
मीमांसादर्शन, शाबरभाष्य, भाग सात, युधिष्ठिर मीमांसक-कृत हिंदी व्याख्या, रामलालकपूर ट्रस्ट, सोनीपत.
मीमांसाश्लोकवार्तिक, दुर्गाधर झा, दरभंगा.
योगदर्शनभाष्य, व्यासभाष्य, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली.
योगसूत्रम्, छः टीकाओं सहित, वाराणसी.

वैशेषिकदर्शनम्, प्रशस्तपादभाष्य, वाराणसी.
वैशेषिक सूत्रोपस्कार, ढुंढिराजशास्त्री, वाराणसी.
शंकरदिग्विजय, आनंदाश्रम पुणे.
सर्वदर्शनसंग्रह, डा. उमाशंकर 'ऋषि' कृत हिंदी व्याख्या, वाराणसी.
हिंदी सांख्यदर्शन, विज्ञानभिक्षुभाष्य सहित, वाराणसी.

व्याकरणशास्त्र

अष्टाध्यायी, काशिका सहित, दो भाग, वाराणसी.
महाभाष्य, पं. युधिष्ठिर मीमांसक, रामलालकपूर ट्रस्ट, सोनीपत.
सिद्धांतकौमुदी, बालमनोरमा टीका, वाराणसी.

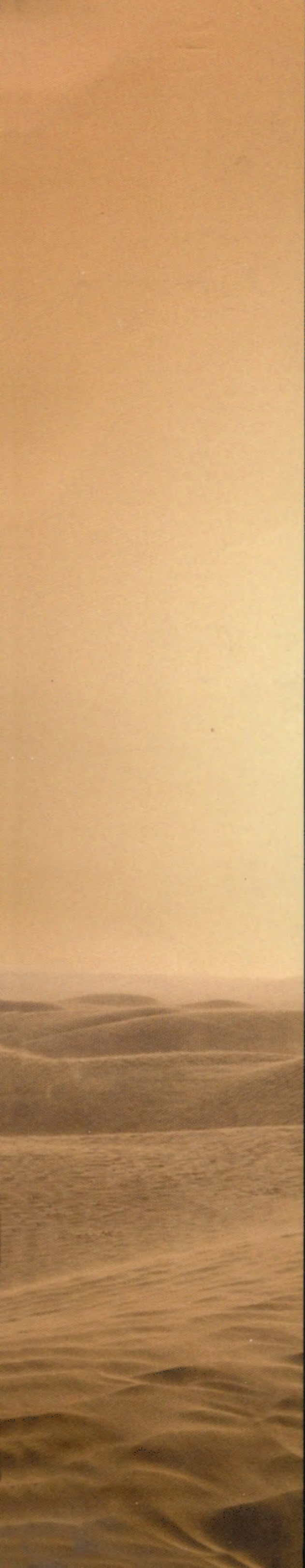
स्मृतियां

धर्मसिंधु, हिंदी टीका सहित, वाराणसी.
नारदस्मृति, संस्कृत हिंदी टीका सहित, वाराणसी.
पराशरस्मृति, हिंदी टीका सहित, वाराणसी.
मनुस्मृति, कुल्लूकभट्ट कृत मन्वर्थमुक्तावली एवं हरगोविंद शास्त्री कृत मणिप्रभा सहित, वाराणसी.
मनुस्मृति, नौ संस्कृत टीकाओं सहित, भारतीय विद्याभवन, मुंबई.
याज्ञवल्क्यस्मृति, मिताक्षरा संस्कृत टीका व प्रकाश हिंदी टीका, वाराणसी.
विष्णुस्मृति, जे. जाली, नंदपंडित कृत वैजयंती टीका, वाराणसी.
स्मृतीनां समुच्चयः, (27 स्मृतियां) आनंदाश्रम पुणे.

प्रकीर्ण ग्रंथ

कामंदकीय नीतिसार, दो टीकाओं सहित, आनंदाश्रम पुणे.
कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला कृत हिंदी टीका, वाराणसी.
चरकसंहिता, काशीनाथ शास्त्री कृत टीका, वाराणसी.
सुश्रुतसंहिता, अंबिकादत्त शास्त्री कृत हिंदी टीका, दो भाग, वाराणसी.
सूर्यसिद्धांत, सुधाकर द्विवेदी, वाराणसी.

×



क्या बालू की भीत पर खड़ा है

हिंदू धर्म ?

हिंदू धर्म दुनिया का सब से पुराना धर्म है. यह सभी धर्मों में श्रेष्ठ और अत्यंत सहिष्णु है. दुनिया का कोई भी धर्म इस की बराबरी नहीं कर सकता–ऐसी ही न जाने कितनी बातें हिंदू धर्म की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कही जाती हैं. किंतु यह देखने का प्रयास कभी नहीं किया जाता है कि जब हिंदू धर्म इतना उदार, महान और श्रेष्ठ है तो हिंदू सदियों से विदेशियों के आक्रमण से क्यों हारते रहे, लाखों की संख्या मे हिंदू राष्ट्र 'हिंदुस्तान' का बारबार विभाजन क्यों हुआ?

कहीं इसलिए तो नहीं कि ऊपरी चमकदमक वाले हिंदू धर्म का भव्य भवन बालू की भीत पर खड़ा है? कुछकुछ ऐसी ही जांचपड़ताल की गई है प्रस्तुत पुस्तक–'क्या बालू की भीत पर खड़ा है हिंदू धर्म?' में.

डा. सुरेंद्र कुमार शर्मा 'अज्ञात' की यह तथ्यपूर्ण पुस्तक सभी वर्ग के पाठकों के लिए रुचिकर, पठनीय एवं संग्रहणीय है.

Vishv Books

978-81-7987-466-0

₹ 300 VP: 998 II